

TATTWAPRADÎPIKÂ

(CHITSUKHI)

OF

PARAMAHAMSA CHITSUKHACHÂRYA

With the Commentary Nayanaprasâdini.



EDITED BY

PANDIT KÂSHINATH SHÂSTRÎ

OF

CHHATA, DISTRICT BALIA



PUBLISHED BY

TUKÂRÂM JÂVAJÎ,

PROPRIETOR, "NIRNAYA-SÂGAR" PRESS

Bombay:

1915.

Price 3 Rupees.

(All rights reserved by the publisher.)

Publisher —Tukaram Javaji, } the Nirnaya-sagar Press,
Printer.—Ramchandra Yesu Shedge, } 23, Kolbhat Lane, Bombay.

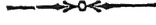


परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्चित्सुखाचार्यमुनिवरविरचिता

तत्त्वप्रदीपिका=चित्सुखी ।



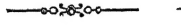
परमहंसप्रत्यग्रूपभगवत्प्रणीतया
नयनप्रसादिनीसमाख्यया व्याख्यया सहिता ।



साचेयम्

बलिआमण्डलान्तर्गत-छाताविषयनिवासिभिः
सर्वतन्त्रापरतन्त्र-पण्डितप्रवर-
श्रीकाशीनाथशास्त्रिभिः

परिष्कृत्य संशोधिता ।



मुम्बय्यां

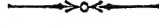
तुकाराम जावजी श्रेष्ठिभिः

स्वीये “निर्णयसागराख्य” मुद्रणयन्त्रालये स्वायसाक्षरैः
संमुद्र्य प्रकाशिता ।

शाकः १८३७, सन १९१५.

मूल्यं ३ रूप्यकाः ।

प्रस्तावना ।



अथ विदितमेव शोकौकोऽतितीव्रतरोच्चावचेष्टानिष्टाप्राप्तिप्राप्तिनिबन्धनोत्पत्तदनेकवि-
धबाधनलक्षणदुःखमालारिङ्गत्तरङ्गमालमम्बुमालीव कामक्रोधलोभादियादोभिरतिभी-
षणमविवेकिनाम्, निदाघसंतप्तानां कुपितफणफणच्छायोपमसुखखद्योतिकोद्योतितमिवै-
न्द्रियकोपनिपातातिपातवतां रम्यारम्यतरदर्शनम्, स्वजननीनैपुण्यानिर्वचनीयरूपम्, महे-
न्द्रजालोपमनयनलोभकारिदर्शनम्, वस्तुतः स्वप्ननिर्विशेषं जगद्रूपम्, अपरं च नि-
सर्गप्रतिकूलस्वभावं सर्वजनसंवेदनसिद्धं दुःखं जिहासवः नित्यनिरतिशयानन्दमभिला-
षुकाश्च प्राणिन इति । तदुपायमविद्वांसोऽनुसरन्तश्च श्रुत्युदितयागदानादिजनितक्षया-
तिशययोगिसुखेभ्यो विरजन्तः सर्वाध्यात्मविदेकवाक्यतया “तमेव विदित्वातिमृत्यु-
मेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाये”ति श्रुत्या साधनान्तरस्य निराकृततया चात्मत-
त्त्वज्ञानमेव तदुपायमाकर्णयन्ति इति । तच्चात्मतत्त्वम् समस्तोपाध्यनवच्छिन्नानन्तचैतन्यै-
करसमुदासीनमेकमद्वितीयं ब्रह्मैव एतादृशात्मतत्त्वसाक्षात्कारेण सविलासाविद्यानिवृत्तिपू-
र्वकनित्यनिरतिशयानन्दप्राप्तिरतिभीरो रज्जुज्ञानेन भीषणतरदर्शनमहाकायरज्जुसर्पनिवृत्त्ये-
वेति । तच्च रूपं लक्षणप्रमाणशून्यं जगतः सत्यत्वेऽसंभवि अनुपपत्तिमच्च, नह्यागमाः स-
हस्रमपि बलवत्तरप्रत्यक्षादिप्रमाणप्रमाणितपरस्परभिन्नस्वाप्रविलक्षणसद्भूतमर्थजातमन्यथ-
यितुमीशते । तस्मात्प्रपञ्चप्रतिषेधका अभेदप्रतिपादका अपि उपनिषद् उपचरितार्था एवे-
त्यसंभावनाविपरीतभावनोपस्थापितान्यथार्थज्ञानग्रहिलानामसंभावनादीनां निवृत्तिः मी-
मांसासृते न संभवतीति मीमांसा समारम्भ । तस्यामपि द्वैतवादिभिः प्राचीनैरर्वाचीनै-
रुपक्रमोपसंहारादिषड्विधैः धूलि प्रक्षिपद्भिः श्रुतिमुख्यतात्पर्यार्थं तिरोदधद्भिः तथा
तदनुयायिभिर्वागाडम्बरमातन्वद्भिर्दुस्तरदुस्तरकान्धतमसाच्छन्ना मीमांसाऽसंभावनादिनि-
वृत्तिभ्यो नालमिति श्रुतिपरमतात्पर्यविद्विर्वेदोद्धारधुरीणैर्जगद्गुरुभिः श्रीभगवत्पादैः
शारीरकमीमांसाभाष्यमभाषि । तमाक्षिपद्भिर्वाचीनैरुत्थापितकुतर्कान्धकारनिगूहिता
नीहारच्छन्ना सवितुः प्रमेव यथाश्रुतप्रतिपत्तृणां तमोनोदायापर्याप्तेति अज्ञानान्ध्यचिकि-
त्सकैर्भेदिकुञ्जरघटासिहैः परमगुरुभिः श्रीश्रीहर्षमिश्रैः खण्डनिकमार्गाश्रान्तपथिकैः
अनिर्वचनीयतासाम्राज्यरक्षणपरैः रचितमपि खण्डनम्, वेदान्तप्रक्रियाऽप्रकाशकत्वाभ्यून-
मिवेति तन्नूनतामाधुनिकोत्थापितविप्रतिपत्तिं च परिजिहीर्षता श्रीचित्सुखमुनिना
सर्वाशपरिपूर्णः ‘तत्त्वप्रदीपिका’ नामा संदर्भोऽग्रन्थि । अस्मिन् ग्रन्थे चतुर्भिः परिच्छेदैः
सर्वे विषयाः निरूपिताः ते च विषयानुक्रमणिकायामेकत्रोद्धृताः, तेषां दर्शनेनास्य ग्रन्थस्य
उपादेयत्वं विदुषां स्वयमेव न्यक्तीभविष्यतीयलमतिशयसितार्थप्रस्तावनयेति ।

तदित्थमयं ग्रन्थोऽद्वैतसिद्धान्तरक्षकोऽपि अद्वैतसिद्धान्तप्रकाशको व्युत्पादकश्च शास्त्रीयार्थजातेष्विति प्रसिद्धमेवैतद्ग्रन्थविषयद्रष्टव्यम् । सोऽयं पूर्वं शिलाक्षरैः काश्यां मुद्रितोऽपि अशुद्धिवहुलतया विदुषां अरुन्तुद् एवासीदित्यालोच्य बहुभिः प्रार्थितेन प्राचीनदुर्लभतरनिबन्धोद्धरणपरेण श्रेष्ठिवरतुकाराम जावजीतिनाम्ना प्रथितेन निर्णयसागराधिपतिनाभ्यर्थितैरखिलागमनिष्ठातैः श्रीगुरुभिः श्रीपं० काशीनाथशास्त्रिभिः संस्कार्य स्वकीये निर्णयसागरयन्त्रालये प्राकाश्यं नीतः । तस्य च काशीशिलामुद्रितपुस्तकमात्रेण कृतेऽपि बहुना आयासेन संशोधने निर्णयसागराक्षरमुद्राणां सूक्ष्मसूक्ष्मतरत्वेन अस्फुटत्वेनाप्रतीयमानत्वात् तथाक्षरयोजकदृष्टिदोषेण संजाताश्च मात्रानुस्वारविसर्गाणां न्यूनत्वातिरेकजा अशुद्धीः यथा त्रयोदशे १३ पृष्ठे टीकायां १२ पङ्क्तौ गतमित्यत्रानुस्वारन्यूनत्वजा “गतवता प्रसिद्धिविशेषणतातप्रख्येति” ताः शोधयन्तु गुणैकपक्षपातिनो विद्वांसः क्षाम्यन्तश्च प्रमादान् सफलयन्तु च परिश्रममिति साज्जलिबन्धमर्थयते—

विदुषामनुचरः

बलिआमण्डलवास्तव्यपाण्डेय—

श्रीपण्डितहरिनाथशर्मा

तत्त्वप्रदीपिका=चित्सुखीस्थविषयाणामनुक्रमणिका ।

| विषयाः | पृ. | पं. |
|---|-----|-----|
| अथ प्रथमः परिच्छेदः । | | |
| समन्वयाख्यप्रथमपरिच्छेदविषयानुक्रमणिका ॥ | | |
| मङ्गलाचरणम् | १ | १ |
| स्वप्रकाशनिरूपणे पूर्व पक्ष | ३ | ७ |
| स्वप्रकाशनिरूपणे उत्तर पक्ष | ९ | १ |
| आत्मन संविद्रूपत्वनिरूपणम् | २१ | ५ |
| तमोनिरूपणे पूर्व पक्ष | २७ | ५ |
| तमोनिरूपणे उत्तर पक्ष | २८ | १३ |
| स्थित्यात्वनिरूपणे पूर्व पक्ष | ३२ | ८ |
| स्थित्यात्वनिरूपणे उत्तर पक्ष | ३९ | ३ |
| अध्ययनस्याध्ययनविधिप्रयुक्तत्वे पूर्वः | ४८ | ८ |
| अध्ययनस्याध्ययनविधिप्रयुक्तत्वे उत्तर पक्षः | ४९ | ७ |
| अद्वैते आगमस्य प्रमाणत्वस्थापनम् | ५१ | १० |
| भावरूपानिर्वचनीयाविद्यायां पूर्व पक्ष | ५४ | ५ |
| भावरूपानिर्वचनीयाविद्यायामुत्तर पक्ष | ५७ | ११ |
| सर्वप्रत्ययाना यथार्थत्वे पूर्व पक्षः | ६१ | ३ |
| सर्वप्रत्ययाना यथार्थत्वे उत्तर पक्ष | ६३ | १ |
| भ्रमज्ञाननिरूपणम् | ७० | २ |
| अनिर्वचनीयत्वे पूर्व पक्ष | ७५ | ४ |
| अनिर्वचनीयत्वे उत्तर पक्ष | ८२ | ५ |
| वेदान्तवाक्याना सिद्धार्थबोधकत्वे कार्यशक्तिवादिन पूर्व पक्ष | ८४ | ९ |
| तद्युक्तनिराकरणपूर्वकमुत्तर पक्ष | ९१ | ३ |
| कार्यताबोधस्य प्रवृत्ति प्रतिहेतुता- निराकरणपुर सर हितसाधनताज्ञा- नस्यैव तां प्रति हेतुतास्थापनम् | ९५ | १ |
| वेदान्तवाक्यानामखण्डार्थत्वे पूर्व | १०५ | १५ |
| तद्युक्तिखण्डनपूर्वकमुत्तर पक्ष | १०९ | २ |
| अखण्डार्थत्वे प्रमाणनिरूपणम् | ११४ | १ |
| तत्रैव प्रसङ्गात्प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वनिरु- | ११५ | १ |
| खतस्त्वनिरुक्ति | १२२ | ७ |
| उत्पत्तौ परतत्त्वं निरस्य ज्ञप्तावपि पर- तस्त्वनिरास | १२८ | १३ |
| अतिरिक्तशक्तौ पूर्वः पक्ष | १२९ | ४ |
| तत्समर्थनम् | १३५ | ८ |
| पदार्थाना लक्षणयाऽन्योन्यान्वयप्रति- पत्तिजनकत्वे पूर्व पक्ष | १४५ | १ |

| विषयाः | पृ. | पं. |
|--|-----|-----|
| तत्रैवाभिहितान्वयवादिन प्रत्यवस्था | १४९ | ४ |
| वेदान्तानामपौरुषेयत्वे पूर्व पक्षः | १५६ | १ |
| वेदान्तानामपौरुषेयत्वे उत्तर पक्ष | १५९ | ४ |
| अथ द्वितीयः परिच्छेदः । | | |
| अविरोधाख्यद्वितीयपरिच्छेदविषयानुक्रमणिका ॥ | | |
| भेदस्वरूपसाधनम् | १६४ | १ |
| तत्खण्डनम् | १६६ | १३ |
| धर्मभेदं विकल्प्यान्योन्याभावात्मकस्य तस्य खण्डनम् | १६८ | ११ |
| वैधर्म्यात्मकस्य तस्य खण्डनम् | १७२ | १० |
| पृथक्त्वात्मकस्य तस्य खण्डनम्, पृथ- क्त्वखण्डनं च | १७३ | २ |
| भिन्नलक्षणयोगित्वभेदखण्डनाय द्र- व्यलक्षणादिखण्डनम् | १७५ | ९ |
| गुणलक्षणादिखण्डनम् | १८१ | १ |
| कर्मलक्षणादिखण्डनम् | १८३ | ५ |
| सर्वजातिघटितलक्षणादिखण्डनाय जातिलक्षणादिखण्डनम् | १९० | ४ |
| विशेषलक्षणादिखण्डनम् | १९३ | १० |
| समवायलक्षणादिखण्डनम् | १९८ | ७ |
| स्वरूपभेदखण्डनाय क्षणिकत्वनिरासः | २०६ | १ |
| प्रत्यभिज्ञानस्यैकत्वसमर्थनम् | २१४ | १२ |
| प्रत्यक्षादिवदागमादीनामपि भेदे प्रा- माण्यनिरासः | २१६ | ३ |
| प्रत्यक्षलक्षणखण्डनम् | २१७ | ३ |
| विकल्प्य सशयलक्षणखण्डनम् | २२२ | ७ |
| विपर्ययलक्षणखण्डनम् | २२४ | १० |
| स्मृतिलक्षणखण्डनम् | २२६ | ९ |
| साक्षात्त्वस्य जातित्वखण्डनम् | २२९ | ११ |
| अनुमानलक्षणखण्डनम् | २३१ | ५ |
| लिङ्गलक्षणखण्डनाय व्याप्तिखण्डन- खण्डनम् | २३२ | १८ |
| अविनाभावलक्षणखण्डनम् | २३५ | ६ |
| व्याप्तिग्रहखण्डनम् | २३८ | २ |
| पक्षधर्मत्वखण्डनम् | २४१ | ३ |
| अनुमानलक्षणान्तरखण्डनम् | २४३ | ८ |

| विषयाः | पृ. | पं. |
|---|-----|-----|
| परार्थानुमानं खण्डयितुं प्रतिज्ञालक्षण- खण्डनम् | २४४ | ५ |
| हेतुलक्षणखण्डनम् | २४५ | ५ |
| उदाहरणलक्षणखण्डनम् | २४५ | ११ |
| उपनयलक्षणखण्डनम् | २४६ | ६ |
| निगमनलक्षणखण्डनम् | २४६ | १४ |
| परार्थानुमाने पञ्चावयवत्वखण्डनम् | २४७ | १ |
| उपमानलक्षणखण्डनम् | २५० | ४ |
| नैयायिकोदीरितोपमानलक्षणखण्डनम् | २५३ | ८ |
| शाब्दप्रमाणखण्डनम् | २५६ | ५ |
| वाक्यनिरुक्तिखण्डनम् | २५७ | ४ |
| पदलक्षणखण्डनम् | २६० | ४ |
| प्रकारान्तरेण शब्दस्य प्रामाण्यखण्ड० | २६२ | ३ |
| शब्दस्यार्थेन सह सवन्धखण्डनम् | २६३ | ४ |
| नैयायिकोक्तशब्दप्रमाणलक्षणखण्डनम् | २६५ | ६ |
| अर्थापत्तिलक्षणखण्डनम् | २६६ | ७ |
| अनुपलब्धिलक्षणखण्डनम् | २६९ | १२ |
| प्रकारान्तरेणानुपलब्धिलक्षणखण्डनम् | २७२ | ५ |
| अभावलक्षणखण्डनम् | २७२ | ९ |
| भावलक्षणखण्डनम् | २७४ | ३ |
| ध्वंसलक्षणखण्डनम् | २७६ | ४ |
| अन्योन्याभावलक्षणखण्डनम् | २७६ | ७ |
| अत्यन्ताभावलक्षणखण्डनम् | २७७ | ९ |
| लक्ष्यस्याभावस्य खण्डनम् | २७७ | १३ |
| प्रमाणखण्डनाय करणस्वरूपखण्डनम् | २७९ | ६ |
| प्रमाणलक्षणान्तरखण्डनाय कर्तृत्वसा- र्वत्रिकत्वकारकत्वलक्षणखण्डनम् | २८१ | ४ |
| ब्रह्मणो जगत्कारणत्वे पूर्व. पक्ष | २८३ | ३ |
| आरम्भवादनिरासपुरःसरं ब्रह्मणस्त- त्कारणत्वसमर्थनम् | २८८ | ८ |
| आरम्भवादखण्डनाय संयोगादिस्वरू- पानिरुक्तिः | २९४ | १ |
| विभागखण्डनम् | २९६ | ९ |
| द्वित्वखण्डनम् | ३०० | १ |
| जातिखण्डनम् | ३०३ | ८ |
| परिमाणखण्डनम् | ३०९ | ६ |
| कारणत्वनिर्वचनम् | ३१३ | १२ |
| कार्यलक्षणखण्डनम् | ३१९ | ९ |

| विषया | पृ | पं. |
|-------------|-----|-----|
| कालखण्डनम् | ३२० | ९ |
| दिक्खण्डनम् | ३२३ | ९ |

अथ तृतीयः परिच्छेदः ।

| | | |
|---|-----|----|
| अथ साधनाख्यतृतीयपरिच्छेदविषयानुक्रमणिका । | | |
| शब्दस्यापरोक्षज्ञानजनकताया पूर्व प० ३३३ | १ | |
| शब्दस्यापरोक्षज्ञानजनकतायामुत्तरप० ३३४ | ९ | |
| मनसो ब्रह्मसाक्षात्कारे हेतुत्वखण्डनम् ३३५ | ८ | |
| ज्ञानान्मोक्षे पूर्व पक्ष ३३८ | ३ | |
| ज्ञानान्मोक्षे उत्तर पक्ष ३३९ | १ | |
| ज्ञानकर्मसमुच्चयस्य मुक्तिसाधनता- निरास. | ३४० | ११ |

अथ चतुर्थः परिच्छेदः ।

| | | |
|--|-----|----|
| अथ फलाख्यचतुर्थपरिच्छेदविषयानुक्रमणिका । | | |
| तत्र तावद्विषयाकारोपप्लुतविज्ञानसन्ता- | | |
| नोपरमरूपमुक्तिखण्डनम् | ३४९ | १ |
| दुःखात्यन्ताभावरूपमुक्तिसमर्थनम् | ३५० | ७ |
| आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिरूपमुक्तिसम० | ३५२ | ३ |
| एतज्जीवनिष्ठदुःखसमानकालीनदुःख- | | |
| ध्वंसातिरिक्तैतन्निष्ठदुःखध्वंसोऽस्य | | |
| मुक्तिरित्येतत्तल्लक्षणसमर्थनम् | ३५३ | १ |
| तत्खण्डनम् | ३५४ | ९ |
| आत्मन प्रेमास्पदत्वसाधनपुरःसरं सु- | | |
| खस्वरूपतासाधनम् | ३५८ | १३ |
| साख्यमताभिमतमुक्तिखण्डनम् | ३६० | ८ |
| अनतिशयानन्दस्वभावस्यात्मनोऽवि- | | |
| द्यातिरोधानरूपोबन्धः | ३६१ | ८ |
| विद्यानिमित्ततदस्तमयो मोक्ष इ- | • | |
| त्युपसंहारः | ३६१ | ९ |
| अविद्याश्रयविषयावाक्षिप्यतत्समाधा० | ३६१ | ९ |
| साक्षिसाधनम् | ३७३ | ५ |
| एकजीववादमुपसहृत्य नानाजीवपक्षे- | | |
| ऽपि दोषोद्धारः | ३७५ | ४ |
| अनेकाविद्यासमर्थनम् | ३७७ | १९ |
| ज्ञातत्वेनोपलक्षितात्मनो मोहनिवृत्ति- | | |
| रूपतासाधनम् | ३८२ | ९ |
| जीवन्मुक्त्युपपादनम् | ३८३ | १५ |

श्रीः ।
श्रीमच्चित्सुखाचार्यमुनिवरविरचिता

तत्त्वप्रदीपिका ।

परमहंसप्रत्यग्रूपभगवत्प्रणीतया
नयनप्रसादिनीसमाख्यव्याख्यया युता ।

प्रथमः परिच्छेदः ।

स्तम्भाभ्यन्तरगर्भभावनिगदव्याख्याततद्वैभवो

यः पाञ्चाननपाञ्चजन्यवपुषा व्यादिष्टविश्वात्मतः ।

श्रीः । यन्नित्यं निरवग्रहस्वमहिमाऽमेयस्वभाव महा-

मायावेशवशाद्भवर्तत विद्यद्वाग्विभ्यवुर्वीमुखै ।

भावैस्तत्तदनन्तविभ्रममयैर्विन्वस्तमेदोद्रवं

निर्धूतावधिवोधमोदजलधि वन्दे महीयो मह ॥ १ ॥

उन्निद्रशुभ्रसरसीरुहसनपिण्णा निर्गच्छदच्छरुचिनिर्जितचन्द्रकान्तिम् ।

हारोज्ज्वला लिपितुं स्फटिकाक्षकुम्भमुद्राक्षपुस्तककरा प्रणमामि वाणीम् ॥ २ ॥

अविरलविगलितमदजलविलुलितमत्तालिमाल्यमनुलम्ब ।

सुविपुलकपोलफलको दलयतु लम्बोदरो दुरितम् ॥ ३ ॥

यद्विद्याधवलैर्विभर्ति विबुधै सर्वा दिवापीन्दुमु-

न्मीलत्कैरवकोरकाकुलरुचि विश्वंभरेयं श्रुता ।

घोराज्ञानदुरन्तपङ्कनिकरप्रोत्सारिविद्यानदी-

मूल नौमि मुनीन्द्रमन्वहमहं विद्यागिरि तं गुरुम् ॥ ४ ॥

यत्पादपावनसरोजरज परागैरेते विनेयनिवहा विरजस्त्वमापु ।

सत्यप्रकाशपरिशुद्धनिजानुभावं प्रत्यक्प्रकाशमभिनौमि गुरुं यतीन्द्रम् ॥ ५ ॥

उद्यद्विद्यासुरसरिदियं नि श्रुता यन्सकाशात् ।

यत्पादाब्जं सकलविबुधोत्तंसलीला विभर्ति ।

हंसानां यद्विमलबहुवाग्जीवनं जीवनं तं

वन्दे विद्यागुरुमविरतं मानसं तीर्थमार्थम् ॥ ६ ॥

अविनश्वररचिततत्त्वप्रदीपिकालोकनार्थिना कियते ।

अज्ञानतिमिरजेत्री मानसनयनप्रसादिनी टीका ॥ ७ ॥

दोषत्वमुज्ज्वलगुणा अपि यान्ति येषु तैर्हृतं किमयवेह तिरस्कृतं किम् ।

दोषोऽपि येषु गुणतामुपयाति भूयास्तेभ्यो नमोस्तु सततं भुवि सज्जनेभ्यः ॥ ८ ॥

प्रारिणितस्य प्रकरणस्य निरन्तरायपरिसमाप्तिपरिपन्थिदुरितपरम्परानिवारणाय शिष्योपशिष्यद्वारा प्रचय-
प्रचाराय शिष्टानुष्ठानप्रतिष्ठापनेन शिष्टपरिग्रहाय च प्रवरगुणगणोपवर्णनपूर्वकं परमेश्वरं परिपूजयन् आशीर्ल-
क्षणमङ्गलमविगीतशिष्टाचारानुमितस्मृतिपरिकल्पितश्रुतिप्रमाणकमाचरित शिष्यशिक्षार्थं मन्थतो निवध्नाति—
स्तम्भाभ्यन्तरेति । स हरिज्ञानतत्कार्यहर्ता व युष्मानव्याद्वक्षतात् । तस्यैव हरेर्विशेषणानि स्तम्भाभ्य-

प्रह्लादाभिहितार्थतत्क्षणमिलदृष्टप्रमाणं हरिः

मोऽव्याद्वः शरदिन्दुसुन्दरतनुः सिहाद्रिचूडामणिः ॥ १ ॥

न्तरेत्यादीनि । स्तम्भस्याभ्यन्तर स्तम्भाभ्यन्तर तत्र गर्भभाव स्तम्भाभ्यन्तरगर्भभाव । गर्भत्वं चेदमन-
भिष्यक्ततया वृत्तित्वं ननु गृहान्तरावस्थितदेवदत्तवत्प्रकटतया । सर्वान्तरभावोऽनेन विवक्ष्यते । मुकुलपुटकुटी-
कोटरक्रोडलीनामिति वत् । तेन न पौनरुक्त्यम् । तेन निगदव्याख्यातं निगदमात्रेण व्याख्यातम् । उपायान्तरनिर-
पेक्षतया स्पष्टीकृतमिति यावत् । तद्वैभवं तस्य स्वरूपस्य, तत्तादृगनुपममिति वा वैभवं विशुत्वं येन, यस्येति
वा । असौ स्तम्भाभ्यन्तरगर्भभावनिगदव्याख्याततद्वैभव । तदनेन सर्वगतत्वमुक्तं भवति । सर्वगतमपि
नैयायिकादेरिव वस्तुतः परिच्छिन्नं स्यादिति तन्निवृत्तये सर्वात्मतामाह—**यः पाञ्चाननपाञ्चजन्यवपुषा
व्यादिष्टविश्वात्मत इति ।** पाञ्चाननसंबन्धि पाञ्चाननं पाञ्चाननं सिंह पञ्चसु दिक्ष्वाननमस्य विपरिवर्तत
इति व्युत्पत्त्या विस्तृतास्यत्वाद्वा ‘पचि विस्तार’ इत्यस्मात्पञ्चशब्दव्युत्पत्तेः, ‘सिहो मृगेन्द्रः पञ्चास्य’ इत्यमरसिहो-
क्तेश्च । पञ्चजना मनुष्या, ‘स्यु पुमास पञ्चजना’ इति तेनैवोक्तत्वात्, ‘दिवसख्ये संज्ञाया’ मिति समासाभिधा-
नाच्च । तत्संबन्धि पाञ्चजन्यं । पाञ्चाननं च तत्पाञ्चजन्यं चेति पाञ्चाननपाञ्चजन्यं तादृशं वपुः पाञ्चाननपाञ्च-
जन्यवपुः नरसिहात्मकमित्यर्थः । तेन वपुषा व्यादिष्टा विशेषेणोक्ता विश्वात्मता विश्वस्वरूपता येन, यस्येति
—**धा स तथोक्तः ।** नच सर्वात्मकत्वकथनेनैव सर्वगतत्वसिद्धेर्वृथा पृथक्कथनमिति वाच्यं, अतत्परत्वात् यदेतद्वा-
दिश्रुत्यादिप्रसिद्धं सर्वगतत्वं, सर्वात्मकत्वं तन्नूनं मया प्रकटितमित्युत्प्रेक्षाया विवक्षितत्वात् । तदेवं सर्वगतत्वं
सर्वात्मकत्वं चोक्त्वा परमकारुणिकस्य भक्तानुग्रहीतृतामाह—**प्रह्लादेति ।** प्रह्लादेनाभिहितोऽर्थः प्रह्लादाभि-
हितार्थस्तस्मिन्तत्क्षणं समसमयमेव मिलद्वटमानं दृष्टं प्रत्यक्षं प्रत्यक्षवत्साक्षात्कारसावकत्वात्प्रमाणं य स
तथोक्तः । प्रमाणशब्दस्य नित्यनपुंसकत्वात्प्रतिपिपादयिषिततया तत्पुरुषसमासतया स्वप्रधानत्वाच्च सगच्छत
एव प्रमाणं हरिरिति सामानाधिकरण्यम् । सर्वात्मकस्य परमेश्वरस्य स्तम्भादिसर्ववस्तुगतत्वं हि प्रह्लादेन प्रत्य-
ज्ञायि । तत्र चागमोऽनुमानं वा यत्तेन वक्तव्यं प्रमाणं तत्परोक्षमेवाहं तु साक्षात्कारयिष्यामीत्यभिमानेन
स्तम्भोदरान्निरगादित्यर्थः । शरदिन्दुसुन्दरतनुः शरदिन्दुवत्सुन्दरा धवला तनुर्यस्य स तथोक्तः सिहाद्रेश्चूडा-
मणिः सिहाद्रिचूडामणिः सिंहगिर्यलंकारः सिंहगिरिनिवासीत्यर्थः । य एवंविधः स हरिरित्यन्वयः । यद्ययत्र
वैभवस्यार्थात्मकतया निगदव्याख्यानं न समवति तस्य ग्रन्थधर्मत्वात्तथापि समाधिप्रदर्शनार्थमयमन्यधर्मो-
ऽन्यत्र निवेदितः । समाधिर्नाम काव्यविशेषस्य प्राणविशेषः । काव्यविशेषस्य हि दश प्राणा कविभिः परिग-
णिता । यथाहुः—‘श्लेष प्रसाद समता माधुर्यं सुकुमारता । अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोज कान्तिसमाधय ।
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणा स्मृता’ इति । तथा—‘अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना ।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतो यथा ॥ कुमुदानि निमीलन्ति कमलान्युन्मिषन्ति चे’त्यत्र हि नेत्रकि-
यारूपयोर्निमीलनोन्मीलनयोः कुमुदकमलयोरनेत्रयोरध्यारोपणं समाधिस्तथेहापि ग्रन्थधर्मस्यार्थं निवेदनात्स-
माध्यलंकारो दर्शितो भवति । पाञ्चालीवैदर्भीरीत्योश्चाजसैव वैषम्यात् । अस्य च वेदान्तशास्त्रप्रकरणत्वात्तद्विषयादि-
भिस्तद्वत्त्वमस्तीति दर्शयितुं लेशतस्तदपि सूचितम् । तथाहि, हरिरित्यनेनाज्ञानतत्कार्यहारीत्वदर्शनान्निर्धृतो-
पाधिव्याधिपरिशुद्धं प्रत्यग्रूपं ब्रह्म प्रयोजनं सूचितम् । व्यादिष्टविश्वात्मत इत्यनेनारोपितमायतयाज्ञातं प्रत्य-
ग्रभूतं च ब्रह्म विषयो दर्शितः । प्रह्लादशब्देन तादृगधिकार्यशब्दसूचितोऽपि सूचितः । अर्थाच्च शास्त्रफल-
योर्हेतुहेतुमद्भावरूपं शास्त्रतत्त्वज्ञानयोस्तत्त्वज्ञानफलयोश्च कार्यकारणभावरूपौ तत्फलज्ञानतत्त्वयोश्च विषयवि-
षयिभावरूपं शास्त्रतत्त्वयोश्च प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावरूप इति पञ्चविधं सबन्धो दर्शित इत्यनेनैव प्रकरणा-
रम्भेऽपि समर्थितः ॥ १ ॥

ज्योतिर्यद्दक्षिणामूर्तिव्यासशंकरशब्दितम् ।

ज्ञानोत्तमाख्यं तद्वन्दे सत्यानन्दपदोदितम् ॥ २ ॥

विप्रतिपत्तिव्रातध्वान्तध्वंसप्रगल्भवाचाला ।

क्रियते चित्तुखमुनिना प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिका विदुषा ॥ ३ ॥

प्रमाणनखनिर्भिन्नमहामोहामरारये ।

नमस्कुर्मो नृसिहाय स्वप्रकाशचिदात्मने ॥ ४ ॥

अथ कोऽयं स्वप्रकाशशब्दार्थः । किं स्वश्चासौ प्रकाशश्च स्वप्रकाशः १, स्वस्य स्वयमेव प्रकाश इति वा २, सजातीयप्रकाशाप्रकाश्यत्वं वा ३, स्वसत्तायां प्रकाशव्यतिरे-

तदेवमाशीर्वादेन परदेवता पूजिता । गुरुपूजयापि भवितव्यं 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ' । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः इति देवताभक्तिबहुभक्तेरपि विद्यावगतावन्तरङ्गतावगमात्तदर्थं गुहं नमस्करोति—ज्योतिर्यदित्यादिना । सत्यानन्देति सत्यानन्दपदाम्ब्या प्रकाशितं, अथवा सत्यानन्दात्मकं यत्पदं पद्यते इति पदं तेनोदितं स्फुरितम् । इत्थंभावे तृतीया । अनेन च गुरुदेवतयोरैक्यमुक्तम् । वेदान्तवेद्यवस्तुस्वरूपप्रतिपादकवेदान्तापेक्षितन्यायसूत्रणाय व्यामपदवीमवाप । पुनस्तदर्थविष्करणाय शंकराचार्यता तद्वाक्यार्थविवरणाय च ज्ञानोत्तमासुपागमदिति भावः ॥ २ ॥

यद्यपि शारीरकविषयादिनास्यापि परमविषयादिमत्त्वं सिद्ध्यति तथाप्यसाधारणान्यपराण्यपि वक्तव्यान्वेव अन्यथा पृथगारम्भवैयर्थ्यादित्यसाधारणान्याह—विप्रतिपत्तिव्रातेति । विप्रतिपत्तीनां व्रात समूहस्तदेव ध्वान्तं तस्य ध्वंसं प्रगल्भा दृढतरन्यायोपेता वाचाला बहुभाषिणी 'आलजाटचौ बहुभाषिणी'ति पाणिनिस्मरणात्, 'स्याज्जत्पाकस्तु वाचालो वाचाटो बहुगर्धवागि'त्यभिधानाच्च । अनेनासपूर्णांक्तिः परिहृता । प्रतीचो जीवस्य तत्त्वं पारमार्थिकं रूपं निरतिशयानन्दनिरस्तानर्थव्रातं ब्रह्म तस्य प्रदीपिकेव प्रदीपिका प्रकाशकत्वात् । एतदुक्तं भवति—यद्यपि शारीरकादितत्तद्गन्धैः प्रत्यक्तत्त्वप्रकाशने करणभूतवेदान्तानां विप्रतिपत्तिनिरसनरूपोपकरणेति कर्तव्यताकृत्यमपि कृतं तथापि तत्तदभिनवविप्रतिपत्तिव्रातनिवारणे तदेवास्यापि प्रयोजनं भवति । विप्रतिपत्तिविरोहितं तु विषयः । तत्काम्यधिकारी । तथाविधश्च सबन्ध इत्यस्त्येवासाधारणमस्य विषयादि । अतएव चारम्भणीयमिति । केचिद्विप्रतिपत्तीत्यादिना अवान्तरप्रयोजनस्य निर्देशः प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिकेति प्रधानस्यैवेति वदन्ति ॥ ३ ॥

अनन्तरवर्तिष्यमाणवादार्थं नरसिंहनमस्कारच्छलेन दर्शयति—प्रमाणेति । प्रमाणं तत्त्वमस्यादिवाक्यजनिता जीवब्रह्मैक्याकारा चित्प्रतिबिम्बधारिणी बुद्धिवृत्तिस्तत्प्रतिबिम्बितं वा चैतन्यं । वाक्यापेक्षया च बहुत्वं । प्रमाणमयैर्नखैर्विभिन्नो महामोहाह्वयोऽमरारिरसुरो येन तस्मै । अथ किमिति तत्कर्मकानुभवाजनकत्वं प्रमाणा नामिति तद्वाह—स्वप्रकाशेति । स्वप्रकाशा चित्सैवात्मा यस्य । अथवा स्वप्रकाशश्चिद्रूपश्चासावात्मा चेति विग्रहः । एतेन स्वप्रकाशरूपेऽतिशयानाधायकत्वेऽपि मोहनिवृत्तिलक्षणातिशयाधायकतया वेदान्तानां स्वप्रकाशे ब्रह्मणि प्रामाण्यं प्रमाणकृत्यं चोपपादितं भवति । तदनेन सविदात्मनो स्वप्रकाशत्वं प्रतिज्ञातं तदेतद्व्यमुत्तरत्र यथाक्रमं समर्थयिष्यते ॥ ४ ॥

अथ कोऽयमिति । अथशब्दोऽयमानन्तर्यार्थः । विषयादिसिद्ध्यनन्तरमित्यर्थः । अधिकारार्थो वा । स्वप्रकाशत्वस्य स्वयमनङ्गीकारादङ्गीकृतशब्दद्वारा विप्रतिपत्त्यधिकरणनिर्देशः कोऽयमिति । किलक्षणक इत्यर्थः । स्वश्चेति । स्वत्वे सति प्रकाशत्वमित्यर्थः । घटादावतिव्याप्तिनिवृत्त्यै प्रकाशग्रहणम् । स्वस्येति । स्वविषयत्वे सति प्रकाशत्वं वेत्यर्थः । अर्थान्तरतानिवृत्त्यै प्रथमं विशेषणम् । शब्दशब्दादावुपनिवृत्त्यै प्रकाशग्रहणम् । द्वयमिहोक्तं भवति स्वस्य स्वस्मिन्प्रकाशत्वविधानं, अर्थात्प्रकाशान्तरव्यावृत्तिश्चेति । इदानीमुत्तरे विशेषं शङ्कते—सजातीयेति । अर्थान्तरतानिवृत्त्यै सजातीयग्रहणम् । एतच्च प्रदीपादेरपि स्वप्रकाशत्वं वाञ्छतो लक्षणम् । स्वसत्तायामिति । यावदस्य सत्ता तावत्प्रकाशेनावियोगः । वेद्यत्वे हि निम्नीनुताया

कविरहितत्वं वा ४, स्वव्यवहारहेतुप्रकाशत्वं वा ५, ज्ञानाविषयत्वं वा ६, ज्ञानाविषय-
त्वे सत्यपरोक्षत्वं वा ७, व्यवहारविषयत्वे सति ज्ञानाविषयत्वं वा ८, स्वप्रतिबद्धव्यवहारे
सजातीयपरानपेक्षत्वं वा ९, अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारविषयत्वं वा १०, तद्योग्यत्वं वा
११ । नाद्यः । वेद्यस्यापि ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वाभ्युपगमात् । न द्वितीयः । कर्मकर्तृभाववि-
रोधेन लक्षणस्यासंभवात् । न तृतीयः । प्रदीपादेः सजातीयप्रकाशाप्रकाशस्य स्वयंप्रका-
शत्वेन लक्षणस्यातिव्याप्तेः । घटादेरपि सजातीयप्रकाशाप्रकाशस्य स्वप्रकाशत्वप्रसङ्गाच्च ।
नहि प्रदीपादौ ज्ञाने वा घटत्वादिजातिरस्ति येन घटादयः सजातीयप्रकाशप्रकाशा भ-
वेयुः । सत्तया सजातीयत्वं तत्राप्यस्तीति चेन्न, विशेषणवैयर्थ्यात्सत्ताविरहिणः प्रकाश-
स्यैवासंभवात्प्रकाशाप्रकाशत्वमित्येतावतैव चरितार्थत्वात् । नापि चतुर्थः । सुखादावति-
व्याप्तेः सुखादेरपि स्वसत्तायां प्रकाशाव्यभिचारात् । न पञ्चमः । प्रदीपादावतिव्याप्तेः
प्रदीपादेरपि स्वव्यवहारे हेतुत्वात्प्रकाशत्वाच्च । अथ ज्ञानव्यवहारहेतुप्रकाशत्वं विवक्षितं

अपि संभवात्प्रकाशव्यतिरेकोऽनवस्था वा स्यादित्यर्थः । **स्वव्यवहारेति** । अविज्ञाते व्यवहारायोगादवश्यं
ज्ञानेन स्वव्यवहारहेतुभूतेन भवितव्यं । तद्रूपत्वं च तस्य स्वप्रकाशत्वं विवक्षितमित्यर्थः । यद्यपि न पूर्वपूर्वप-
क्षदोषपरिजिहीर्षया सर्वत्रोत्तरोत्तरपक्षपरिग्रहस्तथापि सभाव्यमानत्वाद्विभिन्नकूपणत्वाच्च विनेयमतिविकासायो-
पन्यस्यन्ते । ज्ञानाविषयत्वं शशविषाणादेरायस्ति तच्छब्दजनितबुद्धेर्विकल्पमात्रतयार्थासंस्पर्शात्, यथाहु-
पतञ्जलय 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्प' इतीत्यपरितोषात्पक्षान्तर शङ्कते—**ज्ञानाविषयत्वे स-**
तीति । नच तृतीयषष्ठयो संकरः । तथाभूतस्यापि प्रदीपस्य ज्ञानविषयत्वात् । अथ ब्रूयात्किमिदमपरो-
क्षत्वं किमपरोक्षज्ञानविषयत्वं किवाऽपरोक्षज्ञानत्वम् । नाद्यः । ज्ञानाविषयत्वज्ञानविषयत्वयोर्व्याघातात् । न
द्वितीयः । सर्वस्यैव ज्ञानस्य स्वप्रकाशताश्रयणेन व्यर्थविशेषणत्वापातात्, अनपरोक्षज्ञानाभावाच्च । भवन्मते
'यत्साक्षादपरोक्षाद्भेदे'ति श्रुते' वृत्तिरूपस्य ज्ञानस्य च ज्ञानत्वं नेष्यते भवतेत्यतः पक्षान्तर शङ्कते—
व्यवहारेति । अस्यातिवादिना व्यवहारविषयत्वं सति ज्ञानाविषयत्वं शुक्तिरजतादिसर्गैऽयस्तीत्यतिव्या-
प्तिमालक्ष्य पक्षान्तर कक्षीकरोति—**स्वप्रतिबद्धेति** । असंभवनिवृत्त्यै सजातीयप्रहणम् । ज्ञानाविषयत्वे
सत्यपरोक्षत्वं पूर्वमुक्तमिदं तद्व्यवहारविषयत्वमिति न सप्तमदशमसंकरावसरः । मुक्तिदशाया व्यवहारानङ्गी-
करणादव्याप्तिः स्यादत उक्तं **तद्योग्यत्वं वेति** । अथवार्थान्तरतानि वृत्त्यै द्वितीयोत्थानं विरोधपरिहाराय
तृतीयोत्थानं, घटादावतिव्याप्तिपरिहाराय चतुर्थं, सुखादावतिव्याप्तिनिवृत्त्यै पञ्चमं, प्रदीपेऽतिव्याप्तिपरिहाराय
षष्ठं, सप्ताष्टमनवमेषु चोक्तमेव । प्रदीपेऽतिव्याप्तिनिवृत्त्यै दशमं, एकादशेऽयुक्तमिति संभवत्येव सर्वत्र पूर्वपूर्वा-
नुपपत्तिपरिहारायोत्तरोत्तरोपन्यासः । **वेद्यस्यापीति** । नहि तदस्वयम् (स्वम् ?) । नाप्यप्रकाश ज्ञानताङ्गीकारा-
दित्यर्थः । **कर्मकर्तृभावेति** । यद्यपीयं स्वस्येऽति षष्ठी संबन्धमात्रेण सभवति तथायविवक्षितविशेषे व्यव-
हारायोगाद्विशेषस्य च संनिहितप्रकाशनक्रियानुरोधेन कर्मणि व्यवस्थापनात्प्रसज्येतैव कर्मकर्तृभाव इत्यर्थः ।
प्रदीपादेरिति । नहि तदालोकान्तरेण प्रकाशयते । यच्च ज्ञानं प्रकाशकं तद्विजातीयमित्यर्थः । नच प्रदी-
पस्यापि स्वप्रकाशत्वादनतिव्याप्तिरिति शङ्कनीयं भौतिकस्य स्वप्रकाशताव्याघातादिति । न, **विशेषणवै-**
यर्थ्यादिति । एवं हि विशेषणस्य सार्थक्यं यदि कयापि जाल्या साजाल्यहीन कश्चित्प्रकाशः स्यात् ।
नचैवमस्ति जातिमतः सर्वस्यापि अन्ततः सत्तया साजाल्यादित्यर्थः । **प्रकाशाव्यभिचारात्** साक्षिणेश्वरज्ञानेन
वा मानसप्रत्यक्षेण वेत्यर्थः । घटादावपि तुल्यमेतत् । **स्वव्यवहारे हेतुत्वादिति** । व्यवहारो ह्येतद्विषयो-
ऽभिज्ञाभिषेदनं वा हानादिर्वा कर्मकारकप्रदोपजन्य इत्यर्थः । **अथ ज्ञानेति** । स्वव्यवहारेत्यत्र प्रस्तुतं ज्ञान-
मेव स्वशब्देनाभिधीयते न विषयमात्रम् । तद्व्यवहारहेतुत्वं च न दीपादेरस्ति, प्रदीपादेर्ज्ञानाप्रकाशत्वात् । अतो

तदपि न । अनुव्यवसायेऽतिव्याप्तेः । तस्य वेद्यत्वेऽपि व्यवसायज्ञानव्यवहारहेतुप्रकाश-
त्वात् । प्रदीपज्ञानमिदमिति व्यवहारहेतौ प्रदीपप्रकाशेऽतिव्याप्तेश्च । किञ्च व्यवहारहेतुत्वं
विशेषणमुपलक्षणं वा । नाद्यः । मुक्तिप्रलयादावप्राप्तेः । न द्वितीयः । उपलक्षितत्वस्यापि
विशेषणत्वे प्रागुक्तदोषानुषङ्गात् । स्वरूपमात्रत्वे तु ज्ञानं प्रकाश इत्येव स्यात् तथा सति न
लक्षणसिद्धिः । नापि षष्ठः । स्वयंप्रकाशत्वसाधकानुमानागमादिजन्यज्ञानविषयत्वेन लक्ष-
णस्यासंभवित्वात्तस्याप्यविषयत्वे कथाप्रवृत्त्यनुपपत्तेः । नापि सप्तमः । अविषयत्वस्यैवासं-
भवेन निरस्तत्वाद्विषयत्वशब्देन कर्मत्वविवक्षायां गुरुमतानुसारिणामात्मन्यतिव्याप्तेश्च तस्य
प्राहकतया सिद्धस्याविषयत्वेऽप्यपरोक्षतायास्तैरङ्गीकारात् । नाप्यष्टमः । प्राचीनदोषानुष-
ङ्गात् । शुक्तिरजतादिसंसर्गेऽख्यातिवादिनामतिव्याप्तेश्च । तस्य व्यवहारविषयत्वेऽपि तैर्ज्ञा-
नविषयतानङ्गीकारात् । नापि नवमः । स्वप्रतिबद्धव्यवहारे सजातीयपरानपेक्षत्वस्य प्रदीपादौ
घटादौ च भावेनातिव्याप्तेः । सत्तया सजातीयत्वविवक्षायां तु तद्व्यवहारस्यापि सत्तया
सजातीयादृष्टादिजन्यतया तदपेक्षत्वेन लक्षणस्यासंभवित्वप्रसङ्गात् । नापि दशमः । अवे-
द्यत्वेऽनुमानाद्यगोचरतया कथानवतारप्रसङ्गस्य दर्शितत्वात् अपरोक्षव्यवहारविषयत्व-
मिति शब्देन प्रत्यक्षज्ञानविषयत्वस्य कण्ठोक्तत्वात् तद्विपरीतावेद्यत्वाभिधाने मे माता व-
न्द्येतिवद्व्याघाताच्च सुषुप्तिप्रलयमोक्षेष्वव्याप्तेश्च तदा व्यवहारस्यैवासंभवेन तद्विषयताभा-
वात् । नायेकादशः । उक्तव्यवहारयोग्यताया धर्मत्वेऽद्वैतवादिनामपसिद्धान्तापातात्स्वरू-

नातिव्याप्तिरिति भावः । अनुव्यवसायेति श्वरज्ञानस्याप्युपलक्षणम् । अथानुव्यवसायज्ञानमेव स्वप्रकाशवादे न
संप्रतिपन्नं, यत्रातिव्याप्तिरुच्येत संप्रतिपन्नत्वे वा तस्यापि व्यवसायवदेव पक्षतेति तत्राह—**प्रदीपज्ञानमिति ।**
विशिष्टवेदनस्य विशेषणालम्बनत्वनियमात् विषयजन्यत्वाच्च तज्ज्ञानस्य प्रदीपज्ञानमिदमित्यनुव्यवसायस्याभिज्ञा-
रूपव्यवहारस्य स्वविषयज्ञानविशेषणीभूतप्रदीपजन्यत्वमस्तीति ज्ञानव्यवहारहेतौ प्रदीपेऽतिव्याप्तिः स्यादेवेत्यर्थः ।
अभिवदनं वा व्यवहारस्तस्यापि परम्परया व्यावर्तकप्रदीपजन्यत्वाद्यवहारहेतुत्वमिति । **व्यवहारहेतुत्वमिति ।**
स्वव्यवहारहेतुप्रकाशत्वमित्यत्र व्यवहारहेतुत्वं प्रकाशस्य विशेषणमुपलक्षणं वेत्यर्थः । उपलक्षितत्वमप्युप-
लक्षिते नाम तस्य धर्म स्वरूपं वा । आद्ये तदप्युपलक्षणं विशेषणं वा । नाद्यः । अनवस्थापातात् । द्वितीयं
निरस्य द्वितीयद्वितीयं शङ्कते—**स्वरूपमात्रत्वे त्विति । न लक्षणसिद्धिरिति ।** लक्ष्यस्वरूपमात्रत्वा-
त्तस्य जडज्ञानवादिभिरपि तावन्मात्राङ्गीकाराच्चेत्यर्थः । ज्ञानविषयत्वे सतीत्यत्र यदिदं ज्ञानविषयत्वं प्रतिषिध्यते
तत्किं वेद्यत्वं ज्ञानकर्मत्वं वा । नाद्यः । तन्निषेधासम्भवस्य दर्शितत्वादित्याह—**अविषयत्वस्येति ।** द्वितीयं नि-
षेधति—**विषयत्वेति ।** प्राभाकराणां मते सविदाश्रयतया सिद्धस्यात्मनो ज्ञानाकर्मत्वेनापरोक्षतास्तीत्यङ्गी-
कारादतिव्याप्तिरित्यर्थः । ईश्वरवादिना तज्ज्ञानाकर्मतयाऽपरोक्षे जगति भ्रमविषयसंसर्गे च वेदान्तिनां च
साक्षिवेद्यसुखादावतिव्याप्तिरित्यपि द्रष्टव्यम् । **प्राचीनदोषानुषङ्गादिति ।** व्यवहारविषयत्वस्य मुक्तिदशा-
यामसम्भवाज्ज्ञानविषयत्वनिरासाच्चेत्यर्थः । अतिव्याप्तिं चाह—**शुक्तीति ।** शुक्तिरुच्यसंसर्गस्य ज्ञानविषयत्वं
तेषामनभिमतं तथा सत्ययथार्थज्ञानाङ्गीकारापातादिति भावः । साजात्यं किमत्यन्तं यथाकथंचन वा । आद्ये
प्रदीपे प्रसक्तिकृत्ता, द्वितीयेऽप्यनपेक्षामात्रं घटादेरप्यस्ति । अपेक्षावत्त्वानधिकरणत्वविवक्षायामाह—**सत्ते-
येति ।** अदृष्टदे सर्वोत्पत्तिमन्निमित्ततया सत्तावत्तया च तज्जन्यव्यवहारस्य सजातीयपरसापेक्षतया लक्षणा-
संभवादित्यर्थः । पूर्वोक्तव्यर्थविशेषणत्वमपि द्रष्टव्यम् । **अपरोक्षेति ।** अपरोक्षज्ञानमात्रपरोक्षव्यवहारो भव-
त्येवाभिज्ञारूपत्वात्ततश्च व्याघात इत्यर्थः । अभिवदनविवक्षाया तु तस्य स्वविषयज्ञानप्रयोज्यत्वाद्वाधात् ।

पक्षे च ज्ञानस्वभावस्यासन्नो व्यवहारनिरूपणीयत्वात्सप्रतियोगिकत्वप्रसङ्गात् । तदेवं न स्वप्रकाशलक्षणं पश्यामः । नापि प्रमाणम् ।

अथानुभूतिरनुभूतिव्यवहारहेतुप्रकाशोऽनुभूतित्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा घट इत्यनुमानं प्रमाणम् । नचाप्रसिद्धविशेषणः पक्षः । अनुभूतिव्यवहारस्य हेतुभूतः प्रकाशः परेषामपि हि प्रसिद्धस्ततोऽनुभूतेस्तत्स्वरूपत्वप्रतिज्ञोपपद्यते । नचानुव्यवसायज्ञाने साध्यस्य सिद्धत्वाद्वागे सिद्धसाधनता । तत्स्वरूपस्यैवासंमतत्वेन तस्य धर्मिभागतानङ्गीकारादिति चेन्नैवम् । अनुभूतिव्यवहारस्य हेतुभूतः प्रकाशो यत्र सिद्धस्तत्र हेतोर्वृत्तौ केवलव्यतिरेकित्वव्याकोपात् । अवृत्तौ सपक्षाप्रवेशिनोऽसाधारणानैकान्तिकत्वापातात् । वृत्तावपि भागे सिद्धसाधनताया दुष्परिहरत्वात् । नच स्वस्यासिद्धतामात्रेण परसिद्धे साध्यवति धर्मिणि सिद्धसाधनतायाः परिहारः । अन्यथाऽन्यथाख्यातिवादिभिः केनचिद्धेतुना रजत-

ननु प्रमाणबलात्स्वप्रकाशत्वे सिद्धे तदनुगुणं यत्किञ्चिद्व्यवहारमपि भविष्यति यतो लक्षणमपि प्रमाणान्तरसिद्धस्येतेरेभ्यो व्यावर्तकं व्यवहारहेतुर्वा भवेदित्यत आह—**नापि प्रमाणमिति ॥**

न्यायरत्नदीपावलीकृतमनुमानमुपन्यस्यति—**अथानुभूतिरित्यादिना** । प्रकाशत्वस्य यत्किञ्चिद्व्यवहारहेतुत्वस्य च परैरप्यङ्गीकारात्सिद्धसाधनता स्यादित्यनुभूतिग्रहणम् । नचाप्रसिद्धविशेषणत्वात् । अनुभूतिव्यवहारस्योभयसिद्धतया तद्धेतुभूतप्रकाशस्यापि समतत्वात्केवलं व्यतिरेकाव्यतिरेकयोर्विप्रतिपत्तेः ; तथाचानुभूतिव्यवहारहेतुत्वात्प्रसिद्धिरलंकार एव । बहिमत्त्वादीनामपि महीधरादिसम्बन्धस्यानुमानगम्यत्वादितरथा सिद्धसाधनतापातादिति । तदिदमाह—**नचाप्रसिद्धविशेषणः पक्ष इत्यादिना** । तदेतदूषयति—**मैवमिति** । अयमभिसंधि—न तावदनुभूतिव्यवहारहेतुरविवक्षितस्थलविशेष प्रकाश सिध्यतीति शक्याङ्गीकारं, नह्यस्ति संभवः, सप्रतिपन्नमुभयो केति न ज्ञायत इति कस्य चायमविवक्षितस्थलविशेष सिध्यतीति विवेचनीयम् । न तावत्त्वपक्षे । तस्य सविद्रूपतया निर्णीतत्वादपरथा पर प्रति प्रसाधनायोगात् । यदाह ‘निश्चितौ हि वादं कुरुत’ इति । नापि परस्य । तस्याप्यनुव्यवसायेन निर्णीतत्वात् । अतएव नोभयो । तस्मादविवक्षितस्थलविशेष सिध्यतीत्यस्य न कंचनार्थं पश्याम । नच केवलव्यतिरेकिण्यप्रसिद्धविशेषणता नाम न दूषणमिति मन्तव्यं, तथा सति वसुधा शशविषाणोल्लिखिता वसुधात्वादित्यादिना शशविषाणादेरपि सिद्धिप्रसङ्गात् । अथ तत्र प्रमाणान्तरबाध्यतया दुष्टता नाप्रसिद्धविशेषणतयेति ब्रूषे । तत्र । बाधकासिद्धे । नहि शशविषाणादीनामभावावेदकं प्रमाणमस्ति । तस्य प्रमाणान्तरयोग्यतायोग्यतयोरभावासिद्धे । अथ नियमेन प्रमाणानुपलम्भो बाधक ततोतिरिक्ता तर्हि का नामाप्रसिद्धविशेषणतेति घट्टकुटीप्रभातायितम् । अथ विपक्षे बाधकतर्काभावात्स किं विपक्षे बाधकस्तर्कं प्रमाणानुज्ञाद्वारोपयोगी स्वातन्त्र्येण वा । नान्त्य । तर्कस्य प्रमाणानुज्ञाव्यापारमन्तरेणोपयोगाभावात् । प्रथमे तु तर्काभावात्प्रमाणाभावएव सिध्यति सैव चाप्रसिद्धविशेषणतेति सिद्धं न समीहितम् । किञ्च केवलव्यतिरेकित्वादेव केवलव्यतिरेकिणि न दूषणमप्रसिद्धविशेषणता केवलान्वयिन्यन्वयव्यतिरेकिणि च सपक्षवत्यप्रसिद्धविशेषणताशङ्कैव नास्तीति हता बतेयमप्रसिद्धविशेषणताकथातपस्विनी । तस्माद्यत्रायं प्रसिद्ध स सपक्षस्वीकर्तव्यस्तथाचोच्यमानदूषणगणप्राप्तो दुर्निरसन इति । सपक्षवृत्त्यवृत्त्यो केवलव्यतिरेकिताहानिरसाधारणा नैकान्तिकता चेति दूषणद्वयमुक्तं, तत्र मा नामायं भूत्केवलव्यतिरेक्यन्वयव्यतिरेक्येव भवत्विति शङ्कमानं प्रत्याह—**वृत्तावपीति** । यत्तुक्तं स्वप्रकाशवादिनो नानुव्यवसायो नाम ज्ञानग्राहकं ज्ञानमस्ति तत्कथं तस्य धर्मिता कथंतरा तत्र सिद्धता कथंतां सिद्धसाधनतेति तत्राह—**नच स्वस्यासिद्धतामात्रेणेति** । विपक्षे बाधिकां प्रतिबन्दीं गृह्णाति—**अन्यथान्यथेति** । केनचिद्धेतुनेति । रजतार्थिनो नियमेन पुरो-

ज्ञानस्य पुरोवर्तिविषयत्वे साधिते वेदान्तिना चानिवर्चनीयपुरोवर्तिरजतविषयत्वेन सिद्ध-
साधनत्वेनास्माकं तत्सिद्धमिति वचनमात्रेणान्यथाख्यातिवादिनश्चरितार्था भवेयुः । अथ
नानिवर्चनीयवादिनं प्रति अयं प्रयोगस्तस्य सिद्धसाधनतापत्तेः । तर्ह्यनुव्यवसायवादिनं
प्रत्यध्ययं प्रयोगो न स्याद्भागे सिद्धसाधनत्वप्रसङ्गात् । स्वप्रकाशवादिनं प्रति सिद्धसाधन-
त्वादप्रयोग इति मूकीभाव एव स्यात् । अथ विवादपदेनानुव्यवसायस्य व्यवच्छेदान्नास्य
धर्मभागतेति मतिस्तथापि तस्य साध्यविशेषणप्रसिद्धिस्थलत्वेनाभ्युपगमाद्धेतोः केवलव्य-
तिरेकित्वाभावस्तदवस्थः तदनङ्गीकारे च न विशेषणप्रसिद्ध्युपपत्तिः । अथ परं प्रत्येव तस्य
प्रसिद्धिस्थलता तर्हि तं प्रति केवलव्यतिरेकिप्रयोगायोगः । किंच व्यवहारहेतुत्वस्य प्रका-
शविशेषणतायां कैवल्ये तदभावात्स्वयंप्रकाशताभावः । व्यवहारहेतुत्वयोग्यतायां च स्वरू-
पातिरिक्तायां स एव दोषः । अथ तदुपलक्षितप्रकाशात्मत्वमेव साध्यं तथाप्युपलक्षित-
त्वस्य साध्यान्तर्भावे स एव दोषः । अनन्तर्भावे च प्रकाशस्वरूपताया एव साध्यत्वात्
तस्याश्चान्यत्रापि सिद्धत्वात् न केवलव्यतिरेक्यनुमानावकाशः । एतेनानुभूतिरनुभाव्या
न भवत्यनुभूतित्वादित्यादिप्रयोगोऽपि परास्तः । तत्राप्यप्रसिद्धविशेषणताया दुष्परिहरत्वात् ।
ज्ञानं वेद्यं वस्तुत्वाद्वद्वदिति प्रतिप्रयोगसंभवाच्च । नच हेत्वसिद्धिः सत्ताधिकरणत्वलक्ष-

वर्तिप्रवृत्तिहेतुत्वाद्भजतेच्छाधीनपुरोवर्तिप्रवृत्तिहेतुत्वादित्यादिनेत्यर्थः । अस्त्वनुव्यवसायवादिनं प्रत्येप्रयोग-
स्य तु तत्रास्ति तं प्रति निरुपसर्गं प्रयोग इत्यत आह—**स्वप्रकाशवादिनमिति** । ननु विवादपदमित्य-
नुभूतेर्विशेषणं प्रक्षिप्यते तथाचानुव्यवसायस्य परसप्रतिपन्नसायस्य व्यावर्तनमिति तदाह—**अथेति** ।
तत्रेदं वक्तव्यं—किमनुव्यवसायज्ञानं स्वमतसमतं नवा । न यदि, तदा व्यर्थविशेषणता । अथ संमतं, तदा
कथं स्वप्रकाशता, कथं वा केवलव्यतिरेकेति । तदेतदपिना सूचयन्मङ्गल्यन्तरेण पुरोदितं केवलव्यतिरेकि-
ताकोपमाह—**तथापीति । साध्यविशेषणेति** । साध्यमेव विशेषणं, पक्षं प्रति विशेषणत्वात्तस्य । नच
व्यवसायं पक्षीकृत्यानुव्यवसायवदनुभूतिव्यवहारहेतुप्रकाशत्वसाधनादन्वयव्यतिरेकितास्तु । अनुव्यवसायाङ्गीका-
रानङ्गीकारयोर्व्याहतिदृष्टान्ताभावयोः प्रसङ्गात् । यानि च स्वव्यवहारहेतुप्रकाशत्वमिति पञ्चमे पक्षे व्यवहारहेतु-
त्वस्य विशेषणोपलक्षणपक्षविकल्पेन दूषणान्युक्तानि तान्यत्र प्रसरन्तीत्याह—**किंच व्यवहारहेतुत्वस्येति** ।
ननु व्यवहारहेतुत्वयोग्यता विवक्षिता । सा च तदानीमप्यस्ति योग्यताया यावद्वस्तुभाषित्वादित्याशङ्क्य, तर्हि
सा स्वरूपातिरिक्ता तदनतिरिक्ता वा । अतिरिक्तापि विशेषणमुपलक्षणं वेति विकल्प्य, विशेषणपक्षं दूषयति
—**व्यवहारेति** । स्वरूपातिरिक्ताया विशेषणताया चेत्यभ्याहर्तव्यम् । उपलक्षणपक्षद्वयं शङ्कते—**अथेति** ।
तथा योग्यताया, तेन व्यवहारहेतुत्वेन वोपलक्षितं यत्प्रकाशात्मकत्वं तदेव साध्यमित्यर्थः । तदापि वक्तव्यं
यत्तदुपलक्षितत्वं तद्विशेषणमुपलक्षणं वा । आद्यं दूषयति—**तथापीति । स एव दोष इति** । कैवल्यावस्थायां
तदभावादस्वयंप्रकाशत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः । उपलक्षितत्वस्योपलक्षणत्वपक्षं दूषयति—**अनन्तर्भावे चेति** ।
तस्याश्चान्यत्रापि । अनुव्यवसायादिष्वपीत्यर्थः । एतेनानतिरिक्तपक्षोऽपि निरस्तो वेदितव्यः । उक्तदू-
षणजातं प्राचीनाचार्योदीरितानुमानेऽयतिदिशति—**एतेनेति** । एतेनेत्येतदेव विवृणोति—**तत्रापि** ।
तदेवं स्वप्रकाशत्वे सभाष्यमानानुमानानि दूषयित्वा वेद्यत्वेऽयनुमानमाह—**ज्ञानमित्यादिना । प्रतिप्रयो-**
गेति । प्रतिपक्षसाधकेत्यर्थः सत्प्रतिपक्षता वा । **ननु** किमिदं वस्तुत्वं हेतूक्तं किं काल्पनिकसत्त्वमाहो-
स्विद्वास्तवसत्त्वमिति । नाय । उभयासिद्धे । नोत्तरः । अद्वैतवादिनः साधनविकलत्वादित्यत आह—**नच**
हेत्वसिद्धिरिति । साधनवैकल्यस्याप्युपलक्षणमेतत् । अथवा किं वस्तुत्वं नाम काल्पनिको धर्मः उताकाल्प-
निकः । नायः । तवासिद्धे । नोत्तरः । ममासिद्धेरित्याशङ्क्याविवक्षितविशेषमादायायं परिहारः । **सत्ताधिकर-**

णवस्तुत्वस्यावधीरितकल्पिताकल्पितविशेषस्यानुभूतित्वादिवद्वेतुत्वोपपत्तेः ।

ननु किमिदं साध्यमानं वेद्यत्वं वास्तवमुतावास्तवमाहोस्विद्यावहारिकमथवा साधारणम् । आद्ये साध्यविकलं निदर्शनमितरेषु सिद्धसाधनत्वमिति चेन्मैवम् । घटादेरिव व्यावहारिकप्रमाणसिद्धवेद्यतापादनेऽपि स्वप्रकाशत्वासिद्धेः । किंचानुभूतिपदं स्वगोचरगोचरज्ञानजन्यं पदत्वात्कुम्भपदवत् । ननु किमत्र गोचरशब्देन विषयमात्रमुच्यते किंवा वाच्योऽर्थः अथ लक्ष्यो वा । न तावत्प्रथमद्वितीयौ । सिद्धसाधनतापत्तेः । अभ्युपेयते हि अनुभूतिशब्दवाच्यस्यान्तःकरणवृत्तिविशिष्टस्य ज्ञानस्य ज्ञानगोचरता । तृतीये तु मुख्यार्थविवक्षया प्रयुक्तगङ्गादिपदैर्व्यभिचार इति चेन्मैवम् । लक्षकपदं पक्षीकृत्य लक्षकपदत्वेन लक्षकगङ्गादिपदवलक्ष्यज्ञानजन्यत्वानुमानात् । किंचानुभूतिपदाभिधेयस्य स्वप्रकाशत्वमभिधीयते भवद्विरुत लक्ष्यस्य । नाद्यः । अपसिद्धान्तापातात् । न द्वितीयः । प्रतिवादिनं प्रत्याश्रयासिद्धेः । सकलधर्मातीतस्याद्वितीयस्यानुभूतिपदलक्ष्यस्य परैरनङ्गीकारात् ।

किंच स्वप्रकाशतायां सति प्रमाणे तद्वेद्यत्वमसति च साधकाभावादेव न तत्सिद्धिरिति

णत्वेति । स्वरूपसत्ता विवक्षिता । अनुभूतित्वादिवदिति । यथाह्यनुभूतित्वादिति स्वप्रकाशत्वादिहेतौ कोऽयमनुभूतित्वं नाम धर्मः किं कल्पित उताकल्पित । नाद्यः । परस्यासिद्धेः । न द्वितीयः । स्वस्यासिद्धेरिति विकल्पिते साधारण्येनैव परिहारस्तद्वदित्यर्थः ।

अत्र गङ्गापुरीभट्टारकोदीरितदूषणमनुवदति—ननु किमिदमित्यादिना । मैवम् । घटादेरिवेति । नहि घटादेरिवानुभूतेरपि वेद्यत्वं प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धमिति मन्तुमुचितम् । तथा सति नैयायिकादेरिव जडयापि सविदाऽर्थप्रथनसिद्धौ घटादिप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्युपन्यासानवसरात्तदूषणानां स्वमतेऽयनुषङ्गप्रसङ्गाच्च । नच नैयायिकाद्युपगतजडतायां समारोपितत्वाङ्गीकारादस्त्येवानुभूतेरपि व्यावहारिकवेद्यतेति सांप्रतं, तस्या शुक्तिरजतादेरिव व्यवहाराक्षमत्वात् । अतो व्यावहारिकवेद्यत्वसाधनमपि विरुण्ण्येव राद्धान्तमिति भावः । वेद्यत्वेनुमानान्तरमाह—किंचानुभूतिपदमित्यादिना । स्वगोचर एव गोचरो यस्य तज्ज्ञानं स्वगोचरगोचरज्ञानं तज्जन्यं, शब्दनित्यत्ववादिना प्रयोगस्य तज्जन्यत्वाच्छब्दोपि तज्जन्य इत्युच्यते । सिद्धसाधनतानिवृत्त्यै स्वगोचरग्रहणम् । अत्रापि तैरुद्भावितदूषणमनुवदति—ननु किमत्रेति । सिद्धसाधनतामेव विवृणोति—अभ्युपेयते हीति । अन्तःकरणवृत्तिविशिष्टस्य हेतुगर्भं विशेषणम् । यस्मादन्तःकरणवृत्तिविशिष्टमतो ज्ञानगोचरतेत्यर्थः । मुख्यार्थविवक्षयेति । एवं हि तदा प्रयोगः स्यात्—विवादपदं स्वलक्ष्यविषयज्ञानजन्यं पदत्वात्सप्रतिपन्नवदिति । एतच्चानैकान्तिकं, मुख्यार्थविवक्षया प्रयुक्तगङ्गादिपदानां तल्लक्ष्यतीरादिज्ञानजन्यत्वाभावात्तेषां मुख्यार्थज्ञानमात्रजन्यत्वादित्यर्थः । तदेतदूषयति—मैवमिति । लक्षकपदत्वं हेतुस्तत्राच्च नानैकान्तिकमित्यर्थः । पदमात्रं पक्षीकृत्य लक्षकपदत्वादित्युक्ते भागासिद्धिबाधौ स्यातामिति लक्षकपदमित्युक्तम् । उभयवादिसंप्रतिपन्नानुभाव्यवाचकानुभूतिलक्षकपदं चात्र विवक्षितं, तेन नाश्रयासिद्धिसिद्धसाधने । किंच यावत्किंचित्स्वप्रकाशत्वानुमानमुपन्यस्यते तस्य सर्वस्य धर्म्येव तावन्न निरूपणपद्धतिमभ्यास्ते इत्याह—किंचानुभूतीति । अपसिद्धान्तेति । अन्तःकरणवृत्तिविशिष्टस्य स्वप्रकाशत्वानाश्रयणादित्यर्थः । प्रतिवादिनं प्रतीति । न तावदनुभूतिपदलक्ष्यस्य यस्यकस्यचित्प्रमातुर्वा प्रमेयस्य वा स्वप्रकाशता सिसाधयिषिता, येनाश्रयासिद्धिर्न भवेत्, किंत्वद्वितीयानादिनिधनात्मभूतज्ञानस्य, तस्य परं प्रत्यसिद्धेराविशत्येवाश्रयासिद्धिपिशाचिकेति भावः ।

किंच स्वप्रकाशतायां प्रमाणसद्भावासद्भावयोः प्रमेयासिद्धिरिति व्याघातलक्षणतर्कयुगलविरोध इत्याह—किंच स्वप्रकाशतायामिति । एवं स्वप्रकाशत्वे प्रमाणलक्षणे समाक्षिप्य समाधानमुपक्रमते—

सैषौपनिषदानामुभयतः पाशा रज्जुरित्यलमतिविस्तरेण । अत्रोच्यते—‘अपरोक्षव्यवहृतेष्वं-
ग्यस्याधीपदस्य नः । संभवे स्वप्रकाशस्य लक्षणासंभवः कुतः ॥ १ ॥’ न तावत्स्वयंप्रकाशे
लक्षणासंभवः । अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यतायास्तल्लक्षणत्वात् । नच योग्यतालक्षण-
धर्माङ्गीकारेऽव्याप्तिर्मोक्षदशायां तदसंभवादपसिद्धान्तापत्तिश्चेति शङ्कनीयं, योग्यत्वात्यन्ता-
भावानधिकरणत्वस्य तत्त्वात् गुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणस्य द्रव्यत्ववत्, तेन नाव्याप्तिः ।
नाप्यपसिद्धान्तः, काल्पनिकधर्माणां संसारदशायामभ्युपगमात् । ‘अक्षमा भवतः केयं सा-
धकत्वप्रकल्पने । किं न पश्यसि संसारं तत्रैवाज्ञानकल्पित’मिति सुरेश्वराचार्यवचनात् ।
‘आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्मा’ इति पञ्चपादिकाचार्यवचनाच्च । मो-
क्षदशायां च विवक्षितधर्माभावेऽपि कदाचित्सत्त्वेन तदत्यन्ताभावानधिकरणत्वस्य गुणा-
श्रयो द्रव्यमिति वत्सिद्धेरपरोक्षव्यवहारयोग्यघटादावतिव्याप्तिपरिहारार्थमवेद्यत्वे सतीति

अत्रोच्यते इत्यादिना । तत्र लक्षणं तावच्छ्लोकेन गृह्णाति—अपरोक्षेत्यादिना । न अस्माकं पक्षे अपरो-
क्षव्यवहृतेर्व्यवहारस्य योग्यस्य । व्यधिकरणे षष्ठ्यौ । तथाऽधीपदस्य सविदविषयस्य स्वप्रकाशस्य संभवे सति,
स्वप्रकाशस्येति पदमुपर्यपि संबध्यते द्वारमन्यस्थमणिवत् । अतस्तस्य स्वप्रकाशस्य लक्षणासंभवः कुतः, न
कुतोपीति योजना । संगृहीतलक्षणं विवृणोति—न तावदित्यादिना । अपसिद्धान्तापत्तिश्चाद्वैतवादिना
इतरदशायामपीति शेषः । नच शङ्कनीयमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—योग्यत्वात्यन्तेति । कदाचिदपि योग्य-
ताधिकरणं तदत्यन्ताभावानधिकरणमेव । अनुत्पत्तिविनाशवन्तं हि ससर्गाभावविशेषमत्यन्ताभावमुपगच्छन्ति
तार्किका । तथाच यदि कदाचिदपि तत्प्रतियोगी स्यात्तदा तत्पूर्वं वा तदुत्तरकालं वा तदभावो मन्तव्यः न
समसमयं विरोधात् । नचान्योन्याभावतत्प्रतियोगिघटयोश्च समसमयं वर्तमानत्वान्न विरोध इति वचनीयम् ।
तस्य तादात्म्यप्रतियोगित्वात्तस्य कदाचिदयभावात् । इतरथा घटससर्गाभावघटान्योन्याभावयोः सकरप्रस-
ङ्गान् । अथ घटप्रतियोगित्वे समानेऽपि ससर्गतादात्म्यरूपविशेषणभेदादसकरस्तयोरेवं तर्हि प्राप्ताप्राप्तविवेकेन
ससर्गतादात्म्ययोरेवोभयत्र प्रतियोगित्वं न घटस्येति मूकीभावः तदितराभावेषु वायं नियमः । विस्तरेण
चैतदुपरिगृह्यदुपपादयिष्यते । ततश्च प्रतियोगिपूर्वकालीनत्वे विनाशित्वमुत्तरकालीनत्वे तूत्पत्तिमत्त्वं स्यात्ततश्च
प्रागभावप्रवृत्तसंयोरन्यतरत्वं प्रसज्येत । तस्मात्कदाचिदपि योग्यताधिकरणं तदत्यन्ताभावानधिकरणमेवेति
सिद्धम् । ततश्चैतदङ्गीकर्तव्यम् । इतरथा गुणवद्द्रव्यमिति कणादोक्तगुणवत्त्वस्य द्रव्यलक्षणत्वभङ्गप्रसङ्गात् । प्रथमक्षणे
हि गुणवत्त्वाभावेनाव्याप्ते । यथा चैतत्तथा द्वितीयपरिच्छेदे द्रव्यलक्षणखण्डनप्रस्तावे विस्तरेण निवेदयिष्यते ।
तस्मात्तदत्यन्ताभावानधिकरणत्वमेव तत्र शरणं, तदत्रापि समानमभिव्यक्तिपदपहायेत्यभिसंधेराह—गुण-
वत्त्वात्यन्तेति । यद्यप्यपरोक्षव्यवहारविषयत्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वमेव लक्षणं भवति तथाप्यामुक्तैर्विद्यमा-
नयोग्यताख्यागायेदमुक्तम् । भवत्वेवमव्याप्तिपरिहारोऽपसिद्धान्तव्याधेः किमौषधमित्यत आह—नाप्यपसि-
द्धान्त इति । क खत्वेवं वदेत्संसारदशायामपि काल्पनिकधर्मा न सन्तीति किं परं किं वा स्वयूथ्य-
कश्चित् । परश्चेद्विषयदाहारोपसमर्थनेन समर्थनीयः । उत्तरमाप्तवाक्येन संमतयति—अक्षमा भवत इत्या-
दिना । अद्वितीयात्मन साधकत्वकल्पनायां केयमक्षमा असहिष्णुता भवतः । किं तत्रैव समस्तप्रपञ्चकल्पितं
न पश्यसि ततोऽत्यन्तमिदमित्यर्थः । ‘विषयिणस्तद्धर्माणां चेत्यध्यासभाष्यावयवं व्याचक्षाणैः पञ्चपादिका-
कृद्भिः—ननु विषयिणश्चिदेकरसस्य कुतो वर्मा ये विषयेऽभ्यस्येरन्नित्याक्षिप्य समाहितं—‘आनन्दो विषया-
नुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्मा । अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात्पृथगिवावभासन्त’ इति । ननु संसारदशायामप्य-
नासंभवो मोक्षदशायां तु तदभावादव्याप्तिरित्यत आह—मोक्षदशायामिति । यद्यप्ययमपि कश्चन धर्म-
स्तथापि परैस्तदभावरूपत्वेनाङ्गीकृतत्वात् अभावभावयोरेवंविधस्थलेष्वनतिरेकस्वीकाराच्च न दोषः । एतच्च
पूर्वोक्तस्यैवं विवरणम् । इदानीं लक्षणविशेषणानां कृत्यमाह—अपरोक्षेत्यादिना ।

विशेषणम् । नचैतावदस्तु लक्षणमिति वाच्यम् । तथा सत्यतीतानागतयोर्नित्यानुमेयेषु च धर्मादिष्वतिव्याप्तेः ।

ननु तेषामप्यागमवेद्यत्वान्नावेद्यत्वमिति चेन्मैवम् । फलव्याप्यतालक्षणवेद्यत्वस्य तत्राभावात् । तत्र विशिष्टशब्दप्रमाणबलात्तदाकारधीवृत्तिसमुल्लासमात्रादेव तद्व्यवहार इति वेदवादिनां प्रक्रिया । नच योगिप्रत्यक्षगम्यतया अपरोक्षत्वं धर्मादीनां, चोदनैकप्रमाणवेद्यत्वान्तेषाम् । नचैतावता सर्वदर्शित्वाभावो योगिनाम्, सर्वदर्शित्वशब्देन योग्यसर्वद्रष्टृत्वस्य विवक्षितत्वात् । 'यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात् । दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्थानरूपे श्रोत्रवृत्तिता' इति न्यायात् । अतो धर्मादिव्यवच्छेदार्थमपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सतीति विशेषणम् । नन्वज्ञानान्तःकरणतद्वर्मेच्छादिषु शुक्तिरजतादिषु च लक्षणातिव्याप्तिस्तदवस्था तेषामपि फलव्याप्यत्वाभावेनावेद्यत्वात् अहमज्ञ इत्याद्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वाच्चेति चेत् । सत्यम् । अवेद्यत्वेऽपि नापरोक्षव्यवहारयोग्यता तेषाम्, अध्यस्ततयैव तेषां सिद्धेः । ननु तथाप्यपरोक्षमिति व्यवहारदर्शनात्तद्योग्यता तत्र कल्पनीयेति चे-

अवेद्यत्वशब्देन ज्ञानाविषयत्वमभिमतमिति भ्रान्त शङ्कते—**नन्विति । फलव्याप्यतेति ।** विषयावच्छिन्नं चैतन्यमभिव्यक्तं फलमिति वेदान्तवादिना मतम् । अभिव्यक्तिश्चेन्द्रियद्वारा अर्थसनिवृत्तमनपरिणामविशेष । नचैवंविध परिणामविशेषोऽदृष्टादिषु सभवति, तेषामिन्द्रियायोग्यत्वात् । एतेनातीतादि व्याख्यातम् । तस्मान्न धर्मादीनां फलावच्छेदकतया वेद्यत्वमित्यर्थः । 'यथानयैव व्यवहारसिद्धिरुद्धा भवेत्कल्पनयान्यथा न । तथोचितं तत्तदगाधधीभिरतो वयं विस्तरतो विभीता ॥' ननु यदि न वेद्यत्वं तेषां कथं तर्हि तेषु विज्ञानमनुष्ठानमित्यादिव्यवहार इत्यत आह—**तत्रेति ।** विशिष्टशब्दप्रमाणं विधिवाक्यादि । धीवृत्तिरन्तःकरणपरिणामस्तस्य समुल्लास उदयस्तन्मात्रादित्यर्थः । ननु यद्यपि धर्मादीनां नास्मादिप्रत्यक्षगम्यत्वं तथापि योगिना भवति तत्प्रत्यक्षमतएव वेद्यत्वमित्यत आह—**नचेति ।** अयमभिसंधि—न तावद्धर्मादीनां बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वं रूपादिहीनतया तदुपहितमर्यादविषयाणामिन्द्रियाणां तत्राप्रवृत्ते । मानसत्वं तु तेषामात्मगुणत्वेऽपि संस्कारवद्योग्यत्वेन दूरनिरस्तम् । अथ विशिष्टादृष्टसामर्थ्यानिषा तेषु विषयेषु सामर्थ्यमिति मत, तर्हि तदेव हि विशिष्टादृष्टज्ञानं कथंकारमेपासुदेति । अज्ञातेषु तेषामनुष्ठानायोगात् । अथ योग्यन्तरवचनादन्धपरम्परा । अथ नित्यसिद्धेश्वरवचनात् । स्यादेवं यदि नित्यसिद्ध ईश्वर सिद्ध्येत । आगमबलादीश्वरसिद्धिरितिचेत्स किमीश्वरवचनतया प्रमाणमपौरुषेयतया वा । प्रथमे त्वितरेतराश्रयं तद्विरचनात्तत्प्रामाण्यं तत्प्रामाण्याच्च तत्सिद्धिरिति । उत्तरे त्वपरादान्तः । यथा चानुमानजातमपि न पराभिमतेश्वरे वर्तते, यथा चापौरुषेयत्वं वेदस्य, तत्सर्वमव्यग्रमग्रे निवेदयिष्यते अथागमाज्जातेष्वनुष्ठानमिति । अस्तु तर्हि स एवागमस्तत्र प्रमाणम्, अवस्थापेक्षणीयत्वात्कृतं तदुपजीविभिर्योगिभिरिति । ननु यदि न योगिनामयोग्यविषयेषु सामर्थ्यं, कृतं तर्हि तेषां सर्वदर्शित्वप्रदर्शकशास्त्राणि । अत आह—**नचैतावतेति ।** प्रमाणान्तरबलात्सर्वशब्द सकोचनीय इत्यर्थः । यत्रापि विषयेऽतिशयो दृष्ट पार्थसंपातिप्रवृत्तीनां विश्वरूपाशोकवनिकानिहितसीतादिषु, सोऽतिशय स्वार्थानतिलङ्घनादृष्टव्यः । अनतिलङ्घनमेवाह—**दूरसूक्ष्मादीति ।** योग्य एव विषये दूरवर्तिनि सूक्ष्मे वा दर्शनं तत्र, न पुना रूपादौ श्रोत्रादेर्वृत्तिरिति भट्टोक्तैरर्थः । **फलव्याप्यत्वाभावेनेति ।** प्रमाणाविषयत्वेन केवलसाक्षिवेद्यत्वादित्यर्थः । परिहरति—**सत्यम् । अवेद्यत्वेऽपीति ।** नाज्ञानादीनां साक्षादपरोक्षतावेद्यतया तेषां साक्ष्यापरोक्ष्याभ्यासादेवापरोक्ष्यादित्यर्थः । उत्तरौ चोद्यपरिहारौ स्पष्टार्थौ । ननु यदि स्वतोऽपरोक्षत्वं चैतन्यस्यैवाज्ञानादीनां तु तदभ्यासादापरोक्ष्यमग्रस्तमिति नापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वमिति ब्रूषे तर्हि तद्व्यादावपि तुल्यमिति न तेषामप्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वप्राप्तिरतस्तद्व्यवच्छेदा-

१ अपरोक्षता इत्येतदन्तस्यैव पूर्ववाक्यत्वे अवेद्यतयेति च्छेदः कार्यः ।

मैवम् । रजतादिव्यवहारायोग्येऽपि शुक्तिशकलादौ रजतादिव्यवहारदर्शनात् । नन्वेवं सत्यवेद्यत्वविशेषणस्य न व्यवच्छेद्यमस्ति । त्वन्मते घटादेरप्यध्यस्ततया अपरोक्ष-
व्यवहारयोग्यत्वाभावात् । मैवम् । व्यवहारदशायां तेषां प्रत्यक्षप्रमाणविषयाणामपरोक्ष-
व्यवहारयोग्यताङ्गीकारात् । तथाप्यवेद्यत्वे सत्यपरोक्षत्वमेव लक्षणमस्तु व्यभिचाराभावा-
दिति चेत् । सत्यम् । अपरोक्षज्ञानविषयत्वेनैव घटादेरपरोक्षत्वाङ्गीकाराद्, अत्रापि तथा-
त्वाद्याघात इति विभ्रमो माभूदिति तद्व्यवहारेणैव प्रतिवादिनामपि संप्रतिपन्नेन तदेव
स्फुटीक्रियत इति न कश्चिदोषः ।

कथं तर्हि अवेद्यस्य व्यवहारयोग्यत्वमिति चेत्किमिदमवेद्यत्वे व्यवहारविषयत्वं न
स्यादित्यनिष्ठप्रसञ्जनमुत व्यवहारविषयत्वाद्देद्यत्वानुमानम् । नाद्यः । आपाद्यापादकयोरु-
भयोरपि परेषामप्रसिद्धेः । नेतरः । तस्य सप्रतिसाधननिराससमये निराकुरिष्यमाण-
त्वात् । तस्मादनाविलं स्वप्रकाशलक्षणम् ।

* प्रमाणमपि । अनुभूतिः स्वयंप्रकाशा अनुभूतित्वाद्यन्नैवं तन्नैवं यथा घट इत्यनुमानम् ।
नचाप्रसिद्धविशेषणत्वम् । यतः 'सामान्यतोऽनुमानेन प्रसिद्धेऽपि विशेषणे । कथं कथय

र्थमवेद्यत्वविशेषणं व्यर्थमिति शङ्कते—**नन्वेवमिति । व्यवहारदशायामिति ।** यद्यपि वास्तवापरो-
क्ष्याभावो घटादेरज्ञानादेश्व समानस्तथाग्रथीक्रियाक्षममापरोक्ष्यं प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धं सत्त्वमिव घटादेरस्ति
अज्ञानादेस्तु तन्नास्ति प्रत्यक्षादिविषयताया अग्रथभावात् । अतः शुक्तिरजतादिसत्तावत्प्रातीतिकमित्यर्थः । ननु
तथापि व्यवहारयोग्यतापदस्य कृत्यं न पश्याम, अवेद्यतापदेन घटादिव्यावृत्तेरपरोक्षतापदेनाज्ञानादिव्यावृत्ते-
रिति शङ्कते—**तथापीति । परिहरति—सत्यमिति ।** अयमर्थः—अपरोक्षज्ञानविषयेऽपि तावदपरोक्ष-
शब्द प्रयुज्यते । तत्रापरोक्षमित्युक्ते व्याहृतिशङ्का स्यात्तन्निवृत्त्यर्थमवेद्यत्वेऽप्युपपद्यमानव्यवहारयोग्यतापद-
ग्रहणमिति । वस्तुतस्तु न प्रसरत्येव घटादिष्वपरोक्षत्वं, तस्य प्रमात्वावान्तरजातितयाऽप्रमाया घटादावभा-
वात् । नच मिथ्याज्ञानेऽपि भावात्प्रमात्वेन परापरभावाभावान्न जातिरिति वाच्यम् । तत्रारोपाङ्गीकाराच्छ-
ब्दप्रयोगस्यापि तन्मार्गत्वात् । अन्यथा घटत्वादेरप्यपलापप्रसङ्गात्सुवर्णनिर्मितेऽपि घटशब्दप्रयोगेण पृथिवी-
त्वादिना परापरभावाभावस्यापि शक्यवचनत्वात् । यद्यपि व्यवहारो ज्ञानमपि भवति तथाप्यवेद्यत्वविशेषणा-
सुरोधेन शब्दप्रयोग एव स्वीक्रियते । तेन न पूर्वपक्षावसरोक्तदूषणप्रसरः ।

यद्यपि योग्यताव्यतिरेकेणापि लक्षणं शक्यसमर्थनं तथापि सुषुप्तौ तदभावेऽपि योग्यत्वस्य मतोऽस्यागाय
तद्ग्रहणम् । व्यवहारविषयत्वादेव ज्ञानविषयत्वमपि सिद्धतीत्यभिप्रेत्य शङ्कते—**कथं तर्हीति ।** तदेतत्प्रसङ्गो
वा प्रसाधनं वेति विकल्प्य दूषयति—**किमिदमवेद्यत्वे व्यवहारविषयत्वमित्यादिना । आपाद्यापाद-
कयोरिति ।** क्वचित्प्रमितेन पक्षे, चाहार्यारोपितेन क्वचिद्व्यापकतया प्रमितं पक्षे चानभिमतमापाद्यत इति
हि स्थितिस्तदिहावेद्यत्वेनापादकेन प्रमितेन भवितव्यम् । नचैतत्सर्वं प्रत्यक्षमिति मन्यमानस्य सम्भवति ।
नापि व्यवहाराविषयत्वस्य प्रमितिरिति केन किमापाद्यत इत्यर्थः । **तस्य सप्रतिसाधननिराससमय
इति ।** लक्षणदूषणसमये, प्रत्यनुमानप्रयोगोऽनवसरनिरस्त इत्यर्थः ॥

तदेवं लक्षणं समर्थयित्वा प्रमाणं समर्थयितुमुपक्रमते—**प्रमाणमपीति ।** स्वप्रकाशलक्षणसंभवेऽपि
तादृश्रूपं साध्यं प्रसिद्धमप्रसिद्धं वा । आद्ये सिद्धसाधनता केवलव्यतिरेकिताव्याकोपश्च । द्वितीयेऽप्रसिद्धविशे-
षणता इत्यत आह—**नचेति ।** हेतुमवतारयति—**यत इति ।** श्लोकेन हेतुमाह—**सामान्यत इति ।**
सामान्यतोऽनुमानेन सामान्यतोऽदृष्टेन । प्रसिद्धेऽपि विशेषण इत्यत्रापि सामान्यत इत्यनुषङ्गनीयम् । अनिर्धा-
रितधर्मविशेषतयैत्यर्थः । अतएव सामान्यतो दृष्टानुमाने निर्धारितधर्मविशेषनिष्ठस्येति विवरणम् । अपिर्भि-
न्नकम् । सामान्यतोऽपि प्रसिद्धे विशिष्टेऽपि प्रसिद्धविशेषण, पक्ष कथमिति कथय । न कथमपीति योजना ।

पक्षोऽयमप्रसिद्धविशेषणः ॥ २ ॥' तथाहि वेद्यत्वं किञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, धर्म-
त्वात् शौक्यवदिति सामान्यतो दृष्टानुमानेनानिर्धारितधर्मविशेषनिष्ठस्यावेद्यत्वधर्मस्य प्र-
सिद्धत्वात् केवलव्यतिरेकिणश्चोभयवादिसंप्रतिपन्नापरोक्षव्यवहारयोग्यानुभूतिविशेषावल-
म्बताया एव समर्पणात् नाप्रसिद्धविशेषणता ।

यद्वा यद्विपर्यये असमीहितप्रसक्तिस्तत्कचिन्मानयोग्यमिति सामान्यव्याप्तिः । इह चा-
नुभूतिरनुभावा भवति नवेति वादिविप्रतिपत्तेः संशये सत्यनुभाव्यत्वे सत्यसमीहितप्र-
सक्तेस्तद्विपर्ययस्य सामान्यतो मानयोग्यत्वाधिगमात् विशेषप्रमाणपेक्षायां व्यतिरेकिण
उपन्यासात् नाप्रसिद्धविशेषणता । अन्यथा कथमिच्छादीनामष्टद्रव्यव्यतिरिक्तद्रव्याश्रि-
तत्वं नैयायिकादयोऽपि साधयेयुरष्टद्रव्यव्यतिरिक्तद्रव्यस्याप्रसिद्धावप्रसिद्धविशेषणता,
प्रसिद्धौ च हेतोस्तत्र वृत्तावन्वयव्यतिरेकितया केवलव्यतिरेकित्वासंभवः, अवृत्तौ चा-

अत्र च सामान्यत इति सिद्धसाधनतापि परिहृता वेदितव्या । सामान्यतोदृष्टमेवाह—तथाहि वेद्यत्वमि-
त्यादिना । अभावप्रतियोगीत्युक्ते अन्योन्याभावेन वेद्यत्वेऽयुपपद्यमाने नार्थान्तरता स्यात्तन्निवृत्त्यर्थमत्यन्ता-
भावग्रहणम् । नचास्तित्वेन व्यभिचारः, तस्य पक्षत्वात् पक्षतुल्यत्वाद्वा । अभिधेयत्वादिष्वपीयमेव गति ।
अन्ततः स्वस्मिन्नेवाभावादात्माश्रयप्रसङ्गात् उत्पत्तिज्ञप्तिप्रतिबन्धकस्यैव दोषत्वमिति प्रक्रियामात्रं, नियमेन
—प्रमाणानुपलब्धेरविशेषादिति । अत्र च वेद्यत्वप्रसिद्धैव यद्यपि तदनधिकरणत्वमपि प्रसिद्धं, प्रतियोगिप्रसिद्धै-
वाभावप्रसिद्धे तथापि सुहृद्भूत्वेदमाहेति द्रष्टव्यम् । अनिर्धारितेति । अनिर्धारितो यो धर्मविशेषस्तन्निष्ठ-
स्येत्यर्थः । ननु भवत्ववेद्यत्वसिद्धिरपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सत्यवेद्यत्वस्य कुत सिद्धिरित्यत आह—केवल-
व्यतिरेकिणश्चेति । अथवा मानान्तरेणावेद्यत्वसिद्धौ किमनेनानुमानेनेत्यत आह—केवलेति । केवल-
व्यतिरेकिण इति पञ्चमी । प्रथमपक्षे त्वयमर्थः । अपरोक्षव्यवहारविषयत्वं तावदनुभूतावैव तवापि संप्रतिपन्नं
तादृगनुभूतौ चावेद्यत्वमन्यत स्वरूपेण सिद्धं यदा साध्यते तदा किमपरमत्राप्रसिद्धं येनाप्रसिद्धविशेषणता
स्यादिति । द्वितीये तु सामान्यतः सिद्धस्यानुमानेन धर्मविशेषे साधनान्नानर्थक्यमित्यर्थः । एतेन केवलव्य-
तिरेकितापि रक्षिता अन्यत्र प्रसिद्धनभ्युपगमात् ।

एवमुदयनरीत्या केवलव्यतिरेकिण प्रामाण्यं समर्थितम्, संप्रति लीलावतीकाररीत्याह—यद्वेति । यस्य
वैपरीत्याङ्गीकारे प्रमाणान्तरबाधादिप्रसक्तिस्तत्प्रमाणयोग्यमिति सामान्याकारेण व्याप्तिः । व्याप्तहेतोः पक्षध-
र्मतामाह—इहचेति । तर्हि सर्वत्र विपक्षबाधात्प्रमाणोन्नयनम् । तथाच गतं घटादिप्रत्यक्षेणाविमर्शपूर्वके-
णेत्यत आह—संशये सतीति । कोटिद्वयाप्रसिद्ध्या साधारणधर्मदर्शनाभावाच्च सशयोत उक्तम्—विप्रति-
पत्तेरिति । इदं च प्रयोगशरीर—वेद्यत्वमनुभवनिष्ठप्रामाणिकाल्यन्ताभावप्रतियोगि तर्कादिबाधितत्वात् यदेवं
तदेवं यथा शुक्तिरजतादि यथा वा घटत्वादीति । तर्कमात्रं चेदमित्याशङ्क्य प्रस्तुतानुमानोपयोगमाह—विशेष-
प्रमाणपेक्षायामिति । अत्र सामान्यतोऽनुमानेनेति सामान्येन प्रमाणोन्नयनेनेति योजनीयम् । एतदेव
प्रतिबन्धा साधयति—अन्यथेति । अनुपपत्तिसाम्यं तावदाह—अष्टद्रव्यव्यतिरिक्तेति । तत्र वृत्ता-
विति । अत्र ह्यष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्यप्रसिद्धौ तदाश्रितगुणादीनां सपक्षत्वम् । तथाच तत्र हेतुवृत्त्यवृत्त्योर्दूषणद्वयं
स्यादित्यर्थः । एवमनुपपत्तौ समानायामस्मदुक्तविधामन्तरेण नापरा विधास्तीति भावः । तथाहि इच्छादयो
गुणा अनित्यत्वे सत्यस्मदाद्यचाक्षुषप्रत्यक्षत्वात् गन्धवदित्यादिना गुणत्वे स्थिते गुणत्वापरजातिमत्तया निय-
तैकद्रव्यव्यवच्छेदकतया विशेषगुणत्वं च सिद्धे सतीच्छादयः कचिदाश्रिता गुणत्वादूपवदिति सामान्यतो-
दृष्टानुमानेनानिर्धारितैः कस्मिंश्चिदाश्रये सिद्धे न तावत्स्पर्शवद्विशेषगुणा प्रत्यक्षत्वे सत्यकारणगुणपूर्वकत्वात्, प्र-
त्यक्षत्वे सत्ययावद्व्यभावित्वाद्वा । नाप्याकाशविशेषगुणा बाह्येन्द्रियाप्रत्यक्षत्वात् । नापि दिक्कालमनसा विशेषगु-

१ नियमेनेति—नियम इति पाठः साधुर्भाति.

साधारणानैकान्तिकतापत्तिः । नचैवं सत्यप्रसिद्धविशेषणताया अदूषणतापत्तिः, उक्तसामान्यतोद्घातानुमानगोचरत्वासंभवे शशविषाणोल्लिखिता भूरित्यादौ तस्याः सावकाशत्वात् । अथवा अयं घट एतद्वटान्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणान्यः पदार्थत्वात्पटवदित्यादिमहाविद्याप्रयोगैरप्यवेद्यत्वप्रसिद्धिरप्यहनीया । नाप्रसिद्धविशेष्यतापि, अनुभूतेः प्रसिद्धत्वात् । अतएव नाश्रयासिद्धिरपि हेतोः । नापि स्वरूपासिद्धिः, कल्पितव्यक्तिभेदनिष्ठस्य चन्द्रत्वसामान्यस्येवानुभूतित्वसामान्यस्याभ्युपगमे सिद्धान्ताविरोधात् । कल्पितस्यापि प्रतिबिम्बादिवत्साधकत्वसंभवात् । नच प्रतिवाद्यसिद्धिः, तेनाप्यनुभूतित्वसामान्यस्याभ्युपगमात् ।

नच कल्पिताकल्पितत्ववैषम्याद्धेतोरन्यतरासिद्धिराशङ्कनीया, अवधीरितकल्पिताकल्पितविशेषस्यानुभूतित्वमात्रस्योभयवासिद्धत्वात् । अन्यथा धूमवत्त्वादावपि तदेतद्देशनिष्ठत्वा-

णत्वादित्यादिनाऽऽद्यव्याश्रयत्वानुपपत्तौ सिद्धायामिच्छादयोऽष्टद्वयव्यतिरिक्तद्रव्याश्रया, तेष्वनुपपद्यमानत्वे सति गुणत्वाद्यत्रैवं तत्रैवं यथा गन्वादीति केवलव्यतिरेकिणैव सिद्धिरिति । नन्वेवविधपरिहारज्ञानस्य सर्वत्र सुलभत्वाद्वतवता^(१)प्रसिद्धविशेषणतातपस्विन्येत्यत आह—**नचैवंसतीति** । एतदुक्तं भवति—न सर्वत्रैवंविधः परिहार सुलभ असमाधेयाप्रसिद्धविशेषणत्वानामपि 'भूमि शशविषाणोल्लिखिता' इत्यादीनां संभवात् तेषु चास्या साम्राज्यमिति । तदेवमृजुरीत्याऽप्रसिद्धविशेषणता परिजहार । येतु वकरीति रोचयन्ते तान्प्रति महाविद्याभिरपि साध्यप्रसिद्धिः सुलभयति—**अथवेति** । अयं घट वेद्यत्वानधिकरणान्य इत्युक्तेऽप्रसिद्धविशेषणता सर्ववेद्यत्ववादिनोऽनुमानात्पुरस्तात्तदनधिकरणासिद्धेरत उक्तं—**घटान्यत्वेसतीति** । घटत्वानधिकरणत्वं इति यावत् । तथाच सर्वघटेषु सिद्धसाधनं, तत उक्तं—**एतदिति** । एतस्य च घटस्य वेद्यत्वाधिकरणत्वेऽपि स्वान्यत्वंप्रत्यनधिकरणत्वात्तथाविधघटान्यत्वस्य च पटादावेव प्रसिद्धेर्नाप्रसिद्धविशेषणतासिद्धसाधनते इत्यर्थः । घटमात्रं पक्षीकृत्यैतद्वटान्यत्वेसति वेद्यत्वानधिकरणान्य इत्युक्ते घटान्तरमादायार्थान्तरता, घटान्तरस्याप्येतद्वटान्यत्वेसति वेद्यत्वानधिकरणादेतस्मादन्यत्वात्तद्व्यवच्छेदार्थमयमितिपदम् । एतस्यैव घटस्य एतद्वटान्यत्वेसति वेद्यत्वानधिकरणान्यत्वं साध्यमाने घटान्तरमादायार्थान्तरताया अनवकाशात् । एतद्वटान्यत्वानधिकरणान्य इत्युक्ते व्याहृति स्यादेतद्वटस्यैतद्वटान्यत्वायोगात् तदर्थं वेद्यत्वपदम् । अत्र चैतद्वटान्यत्वेसति वेद्यत्वानधिकरणमयं घटस्तदन्यत्वमादाय पटादौ साध्यप्रसिद्धिः । पक्षे त्वेतद्वटस्यैतद्वटान्यत्वेसति वेद्यत्वानधिकरणान्यत्वमेतद्वटान्यत्वानधिकरणान्यत्वेन वा वेद्यत्वानधिकरणान्यत्वेन वा स्यात् । आद्ये व्याहृति । एतस्यैव घटस्यैतद्वटान्यत्वायोगात् । अत एतद्वटान्यत्वेसति वेद्यत्वानधिकरणमन्यत्किञ्चिदादाय तदन्यत्वसिद्धिरित्यवेद्यत्वसिद्धिः । आदिग्रहणेन वेद्यत्वं स्वस्वेतरवृत्तित्वानधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिवृत्तिवर्माधिकरणं मेयत्वादित्यादि संगृहीतम् । एतदपि सामान्यतोऽनुमानेनेति संगृहीतमेव । **नाप्रसिद्धविशेष्यतापीति** । विशेष्यं धर्मि । तदेवं पक्षदूषणान्यपाकृत्य हेतुदूषणान्यपाकरोति—**अतएवेत्यादि** । यत एवं विशेष्यरूपस्य धर्मिणः प्रसिद्धिस्तत एवेत्यर्थः । **ननु** किमिदमनुभूतित्वं नाम न तावज्जाति, अनुभूतेरेकत्वाङ्गीकारेण व्यक्त्यभेदस्य जातिबाधकत्वात् । यथाह—'व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सकरोऽथानवस्थिति । रूपहानिरसबन्धो जातिबाधकसंग्रह' इति । अतएव नोपाधिरपि । अनुगतो ह्युपाधिर्भवति अद्वैतविरोधश्चोभयत्रापि तुल्य इत्यसिद्धिरेव हेतोरित्यत आह—**नापीति** । यथाच कल्पितस्यापि साधकत्वं तथा मिथ्यात्ववादे व्युत्पादयिष्यते ।

ननु प्रतिवादिना पारमार्थिकी जातिराद्रियते, भवता तु काल्पनिकीत्यन्यतरासिद्धिरित्यत आह—**नच कल्पितेति** । अवधीरित कल्पिताकल्पितरूपो विशेषो येनानुभूतित्वमात्रेण तत्तथोक्तम् । उक्तपरिहारानङ्गीकारे स्वव्याहृति बाधकमाह—**अन्यथेति** । **तदेतद्देशेति** । धूमवत्त्वं किं महानसनिष्ठ हेतुरुत पर्वतनिष्ठम् । आद्येऽसिद्धि द्वितीये साधनविकलं निदर्शनमिति दूषणेनोदीरितपदवीव्यतिरेकेण परित्राणमस्तीत्यर्थः । अन्यथासिद्धि

दिविकल्पेनासिद्ध्यादेर्दुष्परिहरत्वात् । नच व्याप्यत्वासिद्धिः, सोपाधिकस्यैव तथात्वात्, केवलव्यतिरेकिणि चोपाधेरसंभवात् । उपाधिर्हि साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकः स चान्वयव्यतिरेकी कश्चिद्धर्मः स कथं केवलव्यतिरेकिणि पक्षव्यतिरिक्तभूमौ साध्ये-
नान्वयी स्यात् । नच पक्षे साध्येनान्वयः, तत्र साध्यस्याद्यापि संदिग्धत्वात् । निश्चये च सिद्धं नः समीहितमिति किमुपाधिः करिष्यति । पक्षे चोपाधिवृत्तौ साधनव्यापकता च दुर्बारा । नच साध्यसद्भावे माभूदुपाधिः, साध्याभावे पुनरुपाधिः कश्चिद्विषयतीति वाच्यम् । तथाहि यत्रोपाधिरस्ति तत्र साध्यं नास्तीति साध्याभावस्य गमकत्वेनोपाधिरे-
ष्टव्यः । अन्यथोपाधिसद्भावेऽपि साध्याभावो व्यापकतया न वर्तते चेदुपाधिसद्भावे

परिहरति—**नच व्याप्यत्वासिद्धिरिति** । एषा हि हेत्वाभासानां स्थितिर्याप्यत्वेसति पक्षधर्मतया प्रमितत्वं सिद्धत्वं तद्विपरीतमसिद्धत्वम् । तत्र व्याप्तेरसिद्धौ व्याप्यत्वासिद्धिरित्यभिधीयते । पक्षधर्मतासिद्धिरतु त्रिधा । तत्राश्रयस्वरूपासिद्ध्याश्रयासिद्धिस्तद्विशेषणपक्षत्वाप्रतीत्या तु सिद्धसाधनमिति । इमामपि द्विविधा केचिद-
भिदधति साध्याकाराप्रसिद्ध्या साध्यस्वरूपासिद्ध्या चेति, प्रथमा सिद्धसाधनताभिधाना द्वितीया त्वप्रसिद्ध-
विशेषणमिति । एतत्तु केवलपक्षदूषणतयैव वृद्धव्यवहारे प्रसिद्धं हेतुस्वरूपासिद्धौ तु स्वरूपासिद्धिरिति । तत्र
व्याप्यत्वासिद्धिर्नाम सोपाधिक संबन्ध, निरुपाधिकसंबन्धस्य व्याप्तित्वात्सोपाधिकत्वे च निरुपाधिकसंबन्ध-
वैधुर्यादिति । तदेतत्सर्वमभिसंधायाह—**सोपाधिकस्यैव तथात्वादिति** । भवतु तर्ह्युपाधिरपि किमे-
तावता इत्यत आह—**केवलव्यतिरेकिणि चेति** । केवलव्यतिरेकिण्युपाध्यभावं वक्तुमुपाधिलक्षणमनुव-
दति—**उपाधिर्हीति** । साधनाव्यापक उपाधिरित्युक्ते शब्दोऽनित्य कृतकत्वादित्यत्र सामान्यवत्त्वे सत्य-
स्मदादिबाह्येन्द्रियग्रहणार्हत्वमुपाधि स्यात्तदर्थं साध्यव्यापक इत्युक्तम्, तथेत्युक्ते सामान्यवत्त्वादिनाऽनित्यत्वसा-
धने कृतकत्वमुपाधि स्यात्तदर्थं साधनाव्यापक इत्युक्तम् । एतेन पक्षेतरत्वमपि व्याख्यातं, तस्यापि साध्य-
व्यापकत्वे उपाधित्वादितरथाऽनुपाधित्वादिति । भवत्वेवं तत किमायातमित्यत आह—**सचान्वयव्य-
तिरेकीति** । साध्यव्यापकत्वमन्वय, साधनाव्यापकत्वं व्यतिरेक, तदुभयवान्धर्म कश्चिदुपाधिरित्यर्थः ।
अस्वेतावतापि प्रस्तुते किमित्यत आह—**स कथमिति** । तत्र वक्तव्यं कि पक्षव्यतिरिक्तस्थले साध्यव्याप-
कत्वं किवा पक्ष एवाभिप्रेतमिति । नाद्य इत्याह—**स कथमिति** । केवलव्यतिरेकिणि प्रवर्तमान स उपाधि
पक्षव्यतिरिक्तभूमौ साध्ये न कथमन्वीयात् कथमपीति योजना । केवलव्यतिरेकिणीति हेतुगर्भ विशेषणम् ।
नहि केवलव्यतिरेकिणि पक्षव्यतिरिक्तस्थले साध्यं सम्भवति अविद्यमानसपक्षत्वादित्यर्थः । न द्वितीय इत्याह
—**नच पक्ष इति** । तत्र साध्यानिर्णयादित्याह—**तत्र साध्येति** । विपक्षे दण्डमाह—**निश्चये चेति** ।
साध्यापहारो ह्युपाधे कृत्यं, तत्र साध्यमेव चेन्निणीतं कि कुर्वन्नयमुपाधि स्यादित्यर्थः । दूषणान्तरमाह—
पक्षे चेति । साधनवन्निष्ठात्यन्ताभाववत्त्वं ह्युपाधे साधनाव्यापकत्वम् । तत्र पक्षेऽपि चेदुपाधिर्वर्तते कथं
तत्रैव तस्यात्यन्ताभाव स्यात् । नचान्यत्र, केवलव्यतिरेकिसाधनस्यान्यत्राभावादिति भावः । **ननु** न वयं
साध्यसद्भावे उपाधिं ब्रूम येन साध्यव्यापकता तु साध्या अपितु साध्याभाव इत्यत आह—**नच साध्य-
सद्भाव इति** । नच वाच्यमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—**तथाहि यत्रोपाधिरिति** । तथाहि तथासतीत्यर्थः ।
उपाधिना हि साध्याभावप्रसिति वाञ्छता साध्याभावप्रति गमकत्वेन व्याप्यत्वेनोपाधिरेष्टव्य इत्युक्तम् । व्याप-
कत्वे दक्षमाह—**अन्यथेति** । अन्यथा व्यापकत्वेनाङ्गीक्रियमाणे व्यापकतयोपाधेरिति संबन्धः । व्यापकस्य
चोपाधेरधिकवृत्तित्वसंभवात्, उपाधिसद्भावेऽपि साध्याभावो यदि न वर्तते, सम्भवति ह्यवर्तनं न्यूनवृत्ते
साध्याभावस्य । तत उपाधिसद्भावेऽपि साध्यसद्भाव स्यात्साध्याभावाभावस्य साध्यरूपत्वात्तन्नान्तरीयकत्वाद्दे-
त्यर्थः । १ व्यापकतयेति वा पदच्छेदः । साध्याभावस्य व्यापकत्वाभावेनेत्यर्थः । भवतुपाधिसद्भावेऽपि साध्य-

साध्यं स्यात्, तच्च न पक्षे, तत्रोपाधिसद्भावे तस्य साधनव्यापकत्वप्रसङ्गात् । तस्मादन्य-
त्रोपाधिसत्त्वे साध्यस्य सत्त्वं स्यादिति वाच्यम् । तथाच केवलव्यतिरेकित्वमङ्गप्रसङ्गः ।

प्रकृते चानुभूतिर्वेद्या वस्तुत्वाद्भवदिति केवलान्वयिनानुमानेन हि स्वयंप्रकाशत्व-
व्यतिरेको वक्तव्यः । तत्रच नोपाधिः संभवति साधनाव्यापकत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात् । तदेवं
नासिद्धो हेतुः । नापि विरुद्धः । वेद्येषु विपक्षेष्वनुभूतित्वहेतोरवृत्तेः । नाप्यनैकान्तिकः, विपक्षा-
व्यावृत्तेरेव । नाप्यसाधारणः, सपक्षाभावात् । विपक्षे बाधकतर्काभावात्संदिग्धानैकान्तिकतेति
चेत् । मैवम् । अनुभूतेरनुभाव्यत्वेऽनवस्थापातात् । नच वाच्यमवश्यवेद्यत्वाभावान्नानवस्था
व्यवहारस्य तत्स्वरूपसत्तामात्रेणाप्युपपत्तेरिति । तद्विषयप्रमाणानुदये तत्सत्ताया अप्यनि-
श्चयात् । तत एव व्यवहार इत्यप्यसिद्धेः । अथ यदा कदाचित्तत्सत्ताजिज्ञासोदये व्यव-
हारादिना केनचिद्विज्ञेन सापि प्रमीयत इति मतं, तन्न । घट इति घटमनुभवामीति

सद्भावं किमतस्तत्र वक्तव्यं कि पक्षे उत तद्व्यतिरेकस्थले । आद्यं प्रत्याह—न पक्ष इति । तत्र हेतुमाह
—तत्रोपाधिसद्भावे इति । यदत्र वक्तव्यं तत्पुरस्तादेवोक्तम् । द्वितीयं परिशेषयति—तस्मादिति ।
भवत्वेवं तत किमिति । केवलव्यतिरेकिताकोपमपहाय न किंचिद्विद्याह—तथाचेति ।

ननु माभूदुक्तदोषराशिक्लेगानुर्धितया साध्याभावंप्रति व्यापकत्वमुपाधे, व्याप्यत्वे का नामानुपपत्तिरिति
तत्राह—प्रकृते चेति । अनुमानेनेति । हेतुनेत्यर्थः । अत्रहि स्वप्रकाशत्वलक्षणसाध्याभावो वेद्यत्वम् । यत्रच
वस्तुत्वं तत्र च वेद्यत्वं गमकत्वेनाभिमतमिति तदेवोपाधिस्तस्य च केवलान्वयित्वेनाभिमततया सर्वनिष्ठस्य
साधनवत्यपि विद्यमानत्वात्साधनाव्यापकत्वं दुर्लभमित्यर्थः । अत्र च प्रकृतग्रहणं केवलान्वयिग्रहणं चोपल-
क्षणम् । सर्वकेवलव्यतिरेकिणि पक्षनिष्ठतयाशङ्क्यमानसर्वोपाधे साधनाव्यापकत्वात् । एतेन साध्याभावसम-
व्याप्त कश्चिदुपाधिरस्तीति पक्षोऽपि निरस्तः । किंच यदा साध्याभावंप्रति व्याप्य उपाधिरिष्यते, तदा साध्या-
भावव्यावृत्तानुपाधिव्यावृत्तिरयेष्टव्या, व्यापकाल्यन्ताभाववन्निष्ठाल्यन्ताभावप्रतियोगिनो व्याप्यत्वात्, सभवद्य-
तिरेकयोश्च व्यतिरेकव्यतिरेकयेष्टव्यत्वात् । तथाच साध्याभावव्यावृत्तानुपाधेरपि व्यावृत्तिः कि पक्षे उतान्यत्र ।
नाद्यः । पक्षे साध्याभावभावसमव्याप्यस्याद्याप्यनिर्णयात् । नाप्यन्यत्र । केवलव्यतिरेकिताकोपादिति । अत्र
कश्चित्—साध्याभावसाधनाभावसमव्यभिक्ततया विपक्षे एवोपाधि निद्व्यादिति, तत्तु साध्यशब्दार्थानवबोध-
विजृम्भितमिति न तदपराधः कश्चित् । एवं हि साध्याभावव्यापकत्वे सति साधनाभावव्यापक उपाधिरित्युक्तं
स्यात्तथाच कथं साध्यव्यापकत्वम्, नहि साधनाभावः साध्यम् । अविप्रतिपन्नत्वात् । कुत्र च साध्याभावव्यापकत्व-
मवसेयम् । न तावत्पक्षे । तत्र साध्याभावानिर्णयात् । नाप्यन्यत्र । तथासति साधनाभावव्यापकतया तत्पक्षव्य-
तिरेकस्य सर्वस्य केवलव्यतिरेकितासाधनाभाववत्त्वात् । बहु चात्र वक्तव्यमस्ति विस्तरमयात्तु नोच्यते । ननु
भवतु विपक्षवृत्त्यभावात्सपक्षेऽसति सपक्षाप्रवेशाभावाच्च विरुद्धानैकान्तिकतानव्यवसितानामभावः । विपक्षे
बाधकतर्काभावात्तु संदिग्धानैकान्तिकताकिवदन्त्या काऽपि प्रतिक्रियेति शङ्कते—विपक्षे बाधकेति । नन्व-
नुभूतिरनुभाव्यैवेति यदि नियमः स्यात्, स्यादनवस्था । नत्वयं नियम इति मतमाशङ्क्य निषेधति—नच वाच्य-
मित्यादिना । ननु यदि नानुभाव्यतानियमः अननुभूततया तर्हि कथमर्थव्यवहार इति शङ्का स एव परिहर-
ति—व्यवहारस्येति । तत्स्वरूपसत्तामात्रेण । अत्रातेनेत्यर्थः । नच वाच्यमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—त-
द्विषयेति । स्यादेवं, यदि तज्ज्ञानमन्तरेण तत्सत्तानिश्चीयेत, नत्वेतदस्ति प्रमाणाभावे दुरवधारणसत्तावत्त्वा-
दितरथाऽसत्त्वमेव कथं नाध्यवसीयते । यथोक्तं को द्रुते सती सा वित्तिरिति । तस्मात्सत्त्वमपि तस्य प्रमाणा-
देवाव गन्तव्यमित्यर्थः । यदत्र तात्पर्यपरिशुद्धावुदयनेनोक्तं तदागङ्कते—अथेति । अयमर्थः—नास्माभि-
सत्ताया प्रमाणमेव नास्तीत्युच्यते, अपितु जिज्ञासाया सत्या, ननु पुनः खोदयसमसमयमेवेति । तस्याश्चातीताया
प्रत्यक्षाविषयत्वात् व्यवहारादिना लिङ्गेनेत्युक्तम् । आदिशब्देन च स्मरणं गृह्यते । परिहरति—तन्नेति ।

चानुभूतिद्वयातिरिक्तायास्तत्तदनुभूतिपरम्परावगाहिकायाः कस्याश्चिदनुभूतेरनुभवागोचरत्वात् । अन्तरेण तदनुभवं तत्सत्ताभ्युपगमे प्रमेयसत्ताया अपि तथाभ्युपगमोपपत्तौ प्रमाणगवेषणावैयर्थ्यापातात् । तत्रापि च प्रमाणगवेषणायां पूर्वोक्तानवस्था तदवस्थैव स्यात् ।

अथ सा स्वविषयप्रमाणमन्तरेण स्वभावभेदादेव स्वविषयभेदव्यवहारं जनयेत्, जनयेत् सैव तर्हि तथा स्वव्यवहारमिति व्यर्थाऽनुभूतिपरम्पराभ्युपगतिः । तदेवमनुभूतेरनुभाव्यत्वेऽनुभूतिस्वरूपासिद्धिप्रसङ्गस्यैव विपक्षे बाधकतर्कत्वात् न संदिग्धानैकान्तिकता । किंचानुभूतिरर्थप्रकाशनसमये यदि न प्रकाशेत तथा सत्यनन्तरक्षणे जिज्ञासोस्तत्र संदेहो विपर्ययो वा विपरीतप्रमा वोदियात् । नच कश्चिदमुमद्राक्षीन्नो वा भवानिति प्रष्टोऽनन्तरक्षणे संदिग्धे विपर्यस्यति संविदभावं वा प्रमिणोति, किंतु निश्चिनोत्येव 'इदमहमद्राक्षम्' इति । तेन प्रकाशमानैवानुभूतिरर्थव्यवहारं जनयतीति युक्तम् । नच सुखादिवदन्याधीनप्रकाशत्वेऽपि संशयाद्यविपयत्वोपपत्तिः । सति धर्मिणि तद्वदेवावश्यवेद्यत्वेऽनवस्थादौस्थ्यत् ।

किंच येन मनःसंयोगेन घटानुभूतिर्जनिता तेनैवानुव्यवसायस्यापि जन्म उत संयो-

अयं भाव — भवेदेवं यदि काचिदेवविधा वित्ति स्यात्सैव त्वनुपलब्धिविरुद्धा । नहि ससारमण्डले कस्यचिद्वर्गादृशो व्यवसायानुव्यवसायातिरिक्ता तत्तद्वित्तिपरम्परावगाहिका काचिदपि वित्तिरनुभूयते । तेनोपलब्धियोग्यत्वे सत्यनुपलब्धेरभाव एवावसीयते । योगिप्रभृतीनां तु तदस्तित्वे न ते प्रमाणमस्तीति । अथ माभूदनुभवस्तथापि तत्कल्पयाम इत्यत आह—**अन्तरेणेति** । तदनुभवं तादृशवित्त्यनुभवमित्यर्थः । न वयमेवमेव कल्पयाम अपितु प्रमाणबलादिति चेत्तत्राह—**तत्रापीति** । तृतीयज्ञान इत्यर्थः ।

ननु तादृशी सवित् स्वरूपाप्रमाणमन्तरेणैव स्वरूपविशेषात्स्वविषये व्यवहारं प्रवर्तयतु, नह्येकस्य यादृगेव स्वभावस्तादृगेव सर्वस्येति शक्यनियमनं, जगद्वैचित्र्यभङ्गप्रसङ्गादिति शङ्कते—**अथ सेति** । **स्वभावभेदात्** । स्वभावविशेषादित्यर्थः । **स्वविषयभेदव्यवहारमिति** । स्वविषयविशेषव्यवहारमित्यर्थः । **परिहरति—सैव तर्हीति** । **स्वव्यवहारमिति** । स्वविषयव्यवहारमिति यावत् । अन्तिमाया यो न्यायः स प्रथमायामेवास्तु, प्रथमस्य तथाभावे प्रद्वेष किनिबन्धन इति न्यायादित्यर्थः । तृतीयज्ञानमेव वा तच्छब्दावमृष्टं तदा स्वविषयवत्त्वस्मिन्नपि तथाव्यवहारं प्रवर्तयेत्तन्मायेन चाद्यस्य स्वप्रकाशता सिद्ध्यतीति द्रष्टव्यम् । किंचानुभूतित्वं भवतु स्वप्रकाशत्वं च माभवत्विति वदन्प्रष्टव्यं किं अर्थप्रकाशनसमयेऽनुभूतिर्न प्रकाशतएव प्रकाशमाना वा परत इति । नाद्य इत्याह—**किंचानुभूतिरिति** । अप्रकाशमानेऽपि सर्वत्र सदेहादिर्नास्ति जिज्ञासाभावादपि तदभावोपपत्तेः । नहि हिमगिरिदरीविहारिकेसरिसटासंख्यासु संदिहते जना, असंदिहाना वा विपर्यस्यन्ति, अविपर्यस्यन्तो वाऽभावं प्रमिष्वन्ति, अप्रमिष्वन्तो वा तत्तत्त्वं विनिश्चिन्वन्तीत्यत उक्तं—**जिज्ञासोरिति** । जिज्ञासायां सत्यामपि सदेहादिर्नोदेति अभावनिर्णयादपि तेषामभावोपपत्तेरत उक्तं—**विपरीतप्रमा वोदियादिति** । एतदुक्तं भवति—यत्र विषये प्रमितिरेपि नास्ति जिज्ञासा च चकास्ति तस्या स्फुरणदशायां संदेहादिर्भवेदेवेति । नचैतदत्रास्तीत्याह—**नच कश्चिदिति** । निश्चयमेवाभिनयति—**इदमहमद्राक्षमिति** । इदानीं द्वितीयं निषेधति—**नच सुखादिवदिति** । हेतुमाह—**सति धर्मिणीति** । धर्मा अनुभवः । तद्वदेवेति सुखादिवदेवेत्यर्थः । अथवा **सति धर्मिणीति** द्वितीयज्ञाने सतीत्यर्थः । **तद्वदेवेति** प्रथमज्ञानवदित्यर्थः । तथासत्यनवस्था प्रसरत्येवेति भावः ।

नच सुखादिप्रतिबन्दी, तत्राप्यस्मन्मते तत्साधकसाक्षिणा स्वप्रकाशत्वेनानवस्थानवतारात्, भवतामेव तत्रापि दौस्थ्यत् । तदेवमर्थप्रतीतिसमये संविद स्फुरणमनवस्थाभयादन्यनिबन्धनं न भवतीत्युक्तम् । इदानीं तात्कालिकं ताद्विषयं ज्ञानमेव निरूपयितुं न शक्यते कारणाभावादित्याह—**किंच येनेति** । व्यवसायजन-

गान्तरेण । नाद्यः । अनुव्यवसायं प्रति कर्मकारकतया जनकस्य व्यवसायस्य तज्जन्यानु-
व्यवसायस्य च यौगपद्यायोगात् करणस्य प्रत्ययपर्याये सामर्थ्यानङ्गीकाराच्च । यतोऽस-
मवायिकारणभेद एव ज्ञानभेदहेतुरभ्युपेयते । अन्यथापेक्षणीयान्तरासंभवेन युगपदेव
घटानुभवस्मरणयोरनुभवान्तरस्य च तद्विषयस्योत्पत्तिप्रसङ्गात् । अक्रमाच्च कारणात्का-
र्यभेदक्रमायोगात् बाह्यसामर्थ्यवच्छेदकक्रमभेदेन कार्यक्रमभाभ्युपगमे युगपदेव संप्रयुक्तेषु
घटपटादिषु युगपदेवानेकज्ञानजन्मप्रसङ्गात् । न द्वितीयः । घटज्ञानोदयसमये मनसि
क्रिया ततो विभागस्ततः पूर्वसंयोगविनाशस्तत उत्तरसंयोगोत्पत्तिस्ततो ज्ञानान्तरमित्यने-
कक्षणविलम्बेनोत्पद्यमानस्य ज्ञानस्यापरोक्षतया पूर्वज्ञानग्राहकत्वानुपपत्तेः । किंच चक्षु-
रादिवदप्रकाशमानस्यैव ज्ञानस्य स्वातिरिक्तज्ञानजननेनार्थव्यवहारहेतुत्वाभावात् जडानां
च स्वतः परस्परं वा प्रकाशमानत्वायोगात् ज्ञानमपि न प्रकाशते चेत्किमपि न प्रकाशे-
तेति जगदान्ध्यप्रसङ्ग इत्यादिविपक्षबाधकस्तर्क उन्नेयः ॥

* ननु घटज्ञानवानहमस्मि ज्ञातो घट इति प्रत्यक्षेणैवानुभूतेर्वैद्यत्वप्रतीतिः कालात्ययाप-

कस्ययोगेनैवानुव्यवसायजन्मेत्याद्यं पक्षं निराचष्टे—**नाद्य इति** । तत्र किं युगपदेव ज्ञानद्वयं जनयति स
मनःसंयोग उत पर्यायेण । नाद्य । जन्यजनकयोः समसमयमेव जन्माभावादित्याह—**अनुव्यवसायं प्र-**
तीति । न द्वितीय इत्याह—**करणस्येति** । प्रत्ययपर्याय प्रत्ययपरम्परा । प्रत्ययपर्याये सामर्थ्याभावं
विवृणोति—**यत इति** । अस्यैव भेदकत्वानङ्गीकारे दण्डमाह—**अन्यथेति** । यत्र सत्कारसहितमिन्द्रियं
प्रत्यभिज्ञा जनयति तत्र घटविषययोरनुभवस्मरणयोस्तद्वद्विषयानुभवान्तरस्य चेति ज्ञानत्रयस्य युगपदुत्पत्तिप्रस-
ङ्गात् । तत्र हेतु अपेक्षणीयांतरासंभवेनेति । संयोगभेदस्यानङ्गीकारात्, विषयस्य चैकत्वादेव सपन्नत्वा-
त्संस्कारस्य संप्रयोगस्य च विद्यमानत्वादिति भावः । तदेवं कार्यभेदो दृश्यमानस्तदुपपादकासमवायिकारणभेदं
कल्पयतीत्युक्तम् । इदानीं कार्यक्रमोऽपि क्रमवत्कारणमन्तरेणानुपपद्यमानोऽसमवायिकारणक्रमं कल्पयति, ततश्च
तस्यानेकत्वमित्याह—**अक्रमाच्चेति** । ननु भवतु कारणक्रमः स त्वसमवायिकारणस्य न भवति । अपि तु
बाह्यसामग्री या विषयेन्द्रियसंप्रयोगादितदीय इत्याशङ्क्य तर्हि यत्र युगपदेव विषयेन्द्रियसंप्रयोगस्तत्र युगप-
देवानेकानि ज्ञानानि जायेरन् ननु तदस्ति, तस्मात्तत्रापि कार्यक्रमप्रयोजको बाह्यसामर्थ्यतिरिक्तस्यान्तरस्य
कारणस्य क्रमो वक्तव्यस्तत्र चात्ममनसोरेकत्वेन क्रमायोगात्परिशेषात्तयोः सयोगलक्षणासमवायिकारणक्रमएव
प्रयोजक इत्याह—**बाह्यसामग्रीति** । नचादृष्टमात्रभेदाद्, अतिप्रसङ्गात् । तदेवं प्रथमज्ञानजनकसंयोगादेव
द्वितीयज्ञानजन्मेत्ययं पक्षो निरस्तो वेदितव्यः । इदानीं संयोगान्तरादनुव्यवसायजन्मेति द्वितीयं पक्षं निरस्यति
—**न द्वितीय इति** । वर्तमानग्राहकप्रत्यक्षाभावादित्यर्थः । पूर्व संवित्स्फुरणानुपपत्तिर्बाधिकेत्युक्तमिदानीं
सर्वस्फुरणानुपपत्तिबाधकमाह—**किंचेति** । एवं हि तेषामभ्युपगमं ज्ञायमानमेव ज्ञानमर्थव्यवहारहेतुरिति
न नियमो निलीनस्यापि तस्य चक्षुरादिव्यवहारहेतुत्वसंभवादिति । नचैषोऽपि युक्तः । तथा सति चक्षुरादि-
वदेवार्थप्रकाशकत्वं स्यान्नतु प्रकाशत्वं, प्रकाशत्वं च सिद्धमतो न चक्षुरादिसाम्यमित्यर्थः । किंच तदपि ज्ञानं
पूर्वज्ञानवदेवेति न किंचिदपि ज्ञानमर्थप्रकाशं स्यात् । जडानां च जडत्वादेव न स्वयं परस्परेण वा प्रकाश-
संभव इति 'अन्धस्येवान्धलग्नस्य विनिपात पदेपदे' इत्याभाणिकभागितयैव घोरान्धकारनिकरूपोदरनिपा-
तापात इत्याह—**जडानां चेत्यादिना ॥**

प्रत्यक्षविरुद्धकालातीततामाशङ्कते—**नन्विति** । घटविशेषितज्ञानावगाहि वा ज्ञानविशेषितघटावगाहि
बोध्यथापि ज्ञानग्राह्यभेदेदमित्यर्थः । अत्र तावदेवंविधशब्दप्रयोगस्य विषयस्फुरणेन भवितव्यं, तत्तु यथायथं

१ प्रत्यक्षविरुद्धता प्रत्यक्षकालातीतता चेत्यर्थः ।

दिष्टतेतिचेत् । न । वेद्यत्वव्यतिरेकेण तस्याः स्वतःस्फुरणेनापि तादृग्व्यवहारोपपत्तेः । किंच विदितो घट इत्यत्रानुव्यवसायेन घटस्यैव विदितत्वमवसीयते नतु वित्तेः । विदितत्वस्य घटविशेषणत्वात् । अपिचानुभूतेः प्रत्यक्षतायामपि तत्प्रत्यक्षेणैव तदनुभाव्यत्वस्याप्रत्यक्षीकरणान्न प्रत्यक्षविरुद्धता । अन्यथानुव्यवसायेन व्यवसायस्य स्वविशेषितवेद्यत्वग्रहणे विशेषणतया स्वस्यापि स्वेन वेद्यत्वापातात् सौगतमतानुमतिप्रसङ्गः । नच वेद्यत्वापादकवस्तुत्वाद्यनुमानविरोधः, व्याप्तिग्रहणासिद्धेः । तथाहि वस्तुत्वाद्देद्यत्वं साधयता यद्यद्वस्तु तत्तद्वेद्यमिति व्याप्तिरभ्युपेया । तथासत्यस्या व्याप्तेर्ग्राहिका संविद्याप्तिग्रहणसमये स्फुरति न वा । आद्ये स्वेनैव स्फुरणे सौगतमतानुमतस्वप्रकाशतापत्तिः, तत्स्फुरणस्य स्वहेतुताया अप्यनङ्गीकारे वेदान्तसिद्धान्ताभिमतं स्वयंप्रकाशत्वं त्वयाभ्युपगतं स्यात् । द्वितीये तु संविद्वक्ष्यवस्तुविशेषस्यास्फुरणादेव सर्वोपसंहारवती व्याप्तिरेवास्तमियात्तत्र कुतोऽनुमानप्रसरः कुतस्तरां च प्रकृतस्य हेतोः सप्रतिसाधनता । अपिच भाट्टानां ज्ञाततायां व्यभिचारात् नैयायिकादेश्च वेद्यत्वस्यापि धर्मतयात्यन्ताभावप्रतियोगित्वादेव वेद्यस्यापि कस्यचित्संभवेन वस्तुत्वादेः केवलान्वयित्वेनाभिमतस्यापि हेतोः संभावितविपक्षतया विपक्षबाधकतर्कमन्तरेणाप्रयोजकत्वात् । नह्यनुभूतेरप्यवेद्यत्वे वस्तुत्वानुपपत्तिः, स्वतःसिद्धतायामपि तदुपपत्तेः । लक्ष्यत्वन्यायविषयत्वहेत्वोरपि यथोक्तमूहनीयम् ।

ज्ञानस्य स्वरूपस्फुरणेन घटस्य तु तेनैव स्फुरणेनेत्येवं स्फुरणेऽपि संभवत्येवायं व्यवहार इति नायं ज्ञानस्य वेद्यत्वापादनक्षम इत्याह—**न वेद्यत्वव्यतिरेकेणेति** । विदितो घट इत्यत्राधिकमाह—**किंचेति** । अथवा व्यवहारस्यानुभूतिविषयत्वमङ्गीकृत्यान्यथासिद्धिरभिहिता । इदानीं तु तदेव नास्तीत्याह—**किंचेति** । एवं हि वेदनस्यापि विदितत्वं व्यवहारविषयत्वं वा स्यात् । यदि विदित इति पदं वेदनेन समन्वियान्नत्वेतत्, घटेनैव तस्यान्वयादित्यर्थः । किंच भवतु वानेन ज्ञानेन स्फुरणं तथायेतज्ज्ञानवेद्यत्वमनेनैव गृह्यतेऽन्येन वा । न तावदन्येन, तदानीं प्रथमस्यातीततया तन्निष्ठवेद्यताया अप्रत्यक्षत्वात् । न द्वितीय अपराद्धान्तादित्याह—**अपिचानुभूतेरिति** । सौगतमतानुप्रवेशो ज्ञानस्यैव स्वग्राहकत्वेन क्रियाकर्मभावस्वीकारः । सत्प्रतिपक्षता परिहरति—**नचेति** । येयं व्याप्तिग्राहिणी सवित्समस्तं वस्तु तद्वत्वेद्यत्वं च गृह्णाति, सापि स्फुरति न वा । यदि स्फुरति तदा स्वेनान्येन वा । स्वेनेति तावन्न घटत इत्याह—**स्वेनेति** । न वयं क्रियाकर्मभावं ब्रूमो येन तथागतमतापात स्यात्किंतु सविद्रूपत्वमित्यत आह—**तत्स्फुरणस्येति** । अन्येनेति त्वनवस्थया दूषितप्रायमित्युपेक्षितम् । अस्फुरणं दूषयति—**द्वितीये त्विति** । सर्वोपसंहारवती सर्वक्रोडिका । सर्वव्यक्तिनिष्ठा इति यावत् । तदेवं साधारण्येन व्याप्त्यसिद्धिमभिधाय प्रतिदर्शनमपि दर्शयति—**अपिचेति** । भाट्टानां प्राक्ख्यं स्वप्रकाशमित्यर्थः । यस्य तु नैयायिकस्य स्वप्रकाशं न किञ्चिदप्यस्ति तस्य पूर्वोदितानुमानेन वेद्यत्वरहितं किञ्चित्साधयित्वा तत्र हेतोरवृत्त्यनिश्चयात्सदिग्धानैकान्तिकता वक्तव्या इत्याह—**नैयायिकादेश्चेति** । नन्वेतदेव विपक्षे बाधकं यद्वस्तुत्वहानिरित्यत आह—**नहीति** । वस्तुत्वं हि स्फुरणभावे निवर्तते अवेद्यस्यापि स्वतः स्फुरणोपपत्तेः । नान्तरेण वेद्यत्वमनुपपत्तिर्वस्तुत्वस्येत्यर्थः । एतेनेदमायपास्तं यदाह मानमनोहरकारः 'ज्ञानं प्रत्यक्षवेद्यं वस्तुत्वाद्धटव'दिति । यच्च तार्किकैरुत्प्रेक्ष्यते वेद्यत्वसाधनाय लक्ष्यत्वाभ्यायविषयत्वादिति च, तत्रापि यल्लक्ष्यं नैव न्यायविषयं तद्वेद्यमिति व्याप्तिग्राहिणि ज्ञाने लक्ष्ये न्यायविषये च स्फुरत्यस्फुरति च पूर्वोक्तविकल्पदोषाः समाना इत्याह—**लक्ष्यत्वेति** ।

नच लक्षकपदत्वेन लक्ष्यविषयज्ञानजन्यत्वमनुमेयं हेतोरसिद्धत्वात् । न ह्यनुभूतिपदमनुभूति लक्ष्यतीति तवाभिमतं, तद्वाचकत्वेनैव स्वीकारात् । किंच लक्ष्यज्ञानशब्देन लक्ष्यकर्मकं स्फुरणं किंवा तद्विषयमुत स्फुरणमात्रं किंवा तद्विषयान्तःकरणवृत्तिर्विवक्ष्यते । नाद्यः । अतीताद्यर्थलक्षकपदेषु व्यभिचारात् । नेतरे सिद्धसाधनत्वात् । अस्ति हि तत्स्वभावस्यापि स्फुरणस्य तद्व्यवहारजनकत्वेन तद्विषयत्वम् । अस्तिच स्फुरणमात्रमनुभूतेः स्फुरणरूपत्वात्तदाकाराया वृत्तेः स्वीकाराच्च । अनुभूतिपदवाच्यस्य लक्ष्यस्य वा स्वप्रकाशत्वमित्यपि विकल्पोऽनुपपन्नः, उभयवादिप्रतिपन्नस्फुरणमात्रस्य स्वप्रकाशत्वप्रतिपादनात् । अन्यथा वेद्यत्वसाधनेऽपि तवास्य विकल्पस्य दुष्परिहरत्वात् ॥

नन्वेवमपि घटः स्वयंप्रकाशो घटत्वाद्यन्नैवं तन्नैवं यथा पट इत्याभाससमानयोगक्षेमता हेतोरिति चेन्नैवम् । पृथुबुधोदराकारस्य घटशब्दवाच्यस्य स्पर्शरूपादिमतश्चक्षुःस्पर्शनप्रमाणसिद्धत्वेन संमतस्य स्वप्रकाशत्वसाधने प्रत्यक्षविरोधादतद्विषयस्य चाप्रसिद्धत्वेन धर्म्यसिद्धिः । नचात्राप्यवेद्यस्यानुभूतित्वमप्रसिद्धमिति वाच्यम् । तथा सति तस्या वेद्यत्वावेद्यत्वयोर्वादिनां विप्रतिपत्त्यभावप्रसङ्गात् । नचैवमुभयतः पाशा रज्जुः । अनुभूतेः प्रमाणजन्यस्फुरणाश्रयतया स्फुरणकर्मतया वा घटादिवद्विषयभावाभावेऽपि प्रमाणजनिता-

यत्तुक्तं लक्षकपदत्वादेव लक्षकपदं पक्षीकृत्य लक्ष्यविषयज्ञानजन्यत्वमनुमीयत इति तत्राह—**नचेति** । हेतुमाह—**नहीति** । अयमर्थः—नहि यस्य कस्यचिद्विषयकमनुभूतिपदं पक्षः । तथा सति प्रमात्रादिलक्षकानुभूतिपदस्य लक्ष्यविषयज्ञानजन्यत्वेन सिद्धसाधनताप्रसङ्गात् । तस्मादनुभूतिलक्षकमनुभूतिपदं पक्ष इति वक्तव्यम् । तथाच तादृशानङ्गीकाराङ्गीकारयोराश्रयासिद्धयपसिद्धान्तयोरन्यतरापात इति । अथानुभाव्यवाचकानुभूतिलक्षकपदं पक्षीकुर्यात्तं प्रति साध्यं विकल्पयति—**किंचेति** । लक्ष्यकर्मकस्फुरणजन्यत्वमतीतादिवस्तुलक्षकपदस्य नास्ति । अतीतादीनामिदानीमभावेनानुभाव्यच्छेदकत्वाभावात् । अतोऽनैकान्तिकमित्याह—**अतीताद्यर्थेति** । तद्विषयस्फुरणजन्यत्वसाधने सिद्धसाधनतामुपपादयति—**अस्ति हीति** । येन हि यस्य व्यवहारप्रवर्तते तस्य हि स विषयभेदं स्वतन्त्र इत्यभिप्रायः । तत्स्फुरणमात्रेण जन्यत्वसाधने तृतीयपक्षे सिद्धसाधनतामाह—**अस्तिचेति** । लक्ष्यस्वभावभूतस्फुरणस्यापि लक्ष्यस्फुरणत्वादित्यर्थः । चतुर्थे पक्षे सिद्धसाधनतां दर्शयति—**तदाकाराया इति** । **अन्यथेति** । अनुभूतिपदवाच्यस्य चेत्सिद्धसाधनं, लक्ष्यस्य चेत्तवासिद्धिरिति विकल्पय दूषणे साधारणाशग्रहणमेव शरणमित्यर्थः ।

उक्तानुमानस्य यद्यपि विशेषतो दूषणं न स्फुरति तथापि अस्याभाससमानयोगक्षेमत्वं, तथाच यदितरस्य दूषणं तदस्यापि समानमिति शङ्कते—**नन्वेवमिति** । अत्र किं रूपादिमान्धट पक्षीक्रियते उतालौकिक कश्चित् । नाद्यः । धर्मिग्राहकप्रमाणबाधादित्याह—**मैवमिति** । चक्षुःस्पर्शनप्रमाणसिद्धत्वे हेतु—**स्पर्शरूपादिमत इति** । द्वितीयं दूषयति—**अतदिति** । **नचात्रापि** । रूपादिहीनस्य यथा घटत्वमप्रसिद्धमेवमित्यर्थः । हेतुमाह—**तथा सतीति** । विप्रतिपत्तिरेव वेद्यावेद्यसाधारणानुभूतिप्रसिद्धौ प्रमाणमित्यर्थः । यच्च प्रमाणसद्भावे वेद्यत्वादस्वप्रकाशत्वमभावे च प्रमाणाभावादसिद्धिरित्युभयतः पाशा रज्जुरित्युक्तं तदपि नास्तीत्याह—**नचैवमिति** । स्फुरणाश्रयतयेति भाट्टाभिप्रायेणोक्तं, स्फुरणकर्मतयेतीतराभिप्रायेण । एतदुक्तं भवति—न प्रमाणप्रवृत्तिमात्रादनुभवकर्मत्वं येनास्वप्रकाशता स्यादपि तदाकारान्त करणवृत्तिरेव प्रमाणैर्जन्यते । नच वृत्तिविषयतामात्रादस्वप्रकाशता स्यात्प्रकाशप्रकाश्यत्वाभावात्स्वरूपप्रकाशाभिव्यञ्जकमात्रत्वाद्वाते । तेन न वेद्यत्वप्रसक्तिर्नाग्यप्रामाणिकमिति । **ननु** वृत्तिव्याप्यत्वमात्रात् प्रामाणिकत्वमपि स्फुरणव्याप्यतया

नूतःकरणवृत्तिव्याप्यत्वेन विषयताङ्गीकारेऽपि स्वप्रकाशत्वाव्याघातात्, उक्तवृत्तिव्याप्यत्वे-
ऽपि स्फुरणव्याप्यत्वाभावापराधेन नाप्रामाणिकतापि, केवलव्यतिरेकाभावादतीतानाग-
तयोः स्फुरणविरहिणोरुक्तवृत्तिव्याप्ययोर्भाट्टैः प्रामाणिकत्वाभ्युपगमात्, चेष्टादिलिङ्गका-
नुमानविषयस्यापि परज्ञानस्य स्वाश्रये स्वविषयापरोक्षव्यवहारजनने ज्ञानान्तरनिरपेक्ष-
तया स्वप्रकाशत्वोपपत्तेश्च ।

किंच त्वज्ज्ञानं तवापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सति वेद्यं न भवति ज्ञानत्वान्मदीयज्ञानवत् ।
नच मदसमवेतत्वं मदन्यसमवेतत्वं वोपाधिः । साध्याव्याप्तेः, त्वदीयधर्मादिषु त्वत्समवेते-
ष्वसमवेतेषु च परमाणुपूक्तसाध्यसद्भावेऽप्युपाधेरभावात् । नच ममापरोक्षव्यवहारायोग्य-
त्वमुपाधिः, ममापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वादिदं ममापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सत्यवेद्यं न भवति

घटादौ तथा दर्शनादित्यत आह—उक्तेति । कुत, केवलव्यतिरेकाभावात् । नहि सम्भवद्व्यतिरेकयोरन्वय-
मात्राद्धेतुहेतुमद्भावनिश्चयः, अतिप्रसङ्गात् । माभूत्तुरगखरवर्णयोर्हेतुहेतुमद्भावः सम्भवति ह्यन्वय इति भावः ।
किंच तौतान्तिकैस्तावदेवं वक्तुमयुक्तं प्राक्क्यानाधारयोरप्यतीतानागतयोः ज्ञानमात्रविषयतया प्रामाणिकत्वा-
ङ्गीकारादित्याह—अतीतेति । तार्किकाणां वृत्तिफलविभागएव नास्तीति न पर्यनुयोगावकाशः । तदेवं वृत्ति-
विषयत्वमात्रेणापि प्रामाणिकत्वमस्तीत्युपपादितम् । इदानीं वृत्तिविषयत्वेऽपि स्वप्रकाशत्वक्षतिर्नास्तीत्युपपाद-
यति—चेष्टादीति । स्वाश्रये स्वाधारे । नहि प्रमाणावेद्यत्वं स्वप्रकाशत्वं किंतु स्वविषयापरोक्षव्यवहारजनने
प्रकाशान्तरनिरपेक्षत्वं । तच्च स्वप्रकाशत्वसाधकप्रमाणगम्यत्वेपि न विरुद्ध्यते प्रमाणान्तरनिरपेक्षतयैव स्वाश्रये
स्वविषयापरोक्षव्यवहारजनकत्वादित्यर्थः ।

एवं व्यतिरेक्यनुमानेन स्वप्रकाशत्वं समर्थितम् । ये तु वक्रनयवर्तमानुसारिणस्तान्प्रत्यभिनवरीतिसुरभिम्ब-
यव्यतिरेकिप्रयोगमाह—किंच त्वज्ज्ञानमिति । त्वज्ज्ञानं वेद्यं न भवतीत्युक्ते अप्रसिद्धविशेषणता । तन्नि-
वृत्त्यर्थमपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सतीत्युक्तम् । वेद्यत्वाभावस्याप्रसिद्धत्वेऽप्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सति वेद्यत्वर-
हितस्य परमाण्वदृष्टादेः प्रसिद्धत्वेन नाप्रसिद्धविशेषणता । तावत्युक्तेऽर्थान्तरता तदीयज्ञानस्य परंप्रत्युक्तरूपत्वात्,
तदर्थं तवेत्युक्तम् । एवमपि परकीयज्ञानमादायार्थान्तरता तस्यैतं प्रति तथात्वादत उक्तं—त्वज्ज्ञानमिति ।
एतदीयस्य च ज्ञानस्यैतं प्रत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणत्वमपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वानधिकरण-
त्वाद्वा वेद्यत्वानधिकरणत्वाद्वा । नायं । व्याघातात् । उत्तरं तु सिद्ध्यदपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सत्यवेद्यत्वलक्षणं
स्वप्रकाशत्वमादाय सिद्ध्यतीति स्वप्रकाशत्वसिद्धिः, अन्यज्ञाने चैतदपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वानधिकरणत्वात् तद्वर्त-
वेद्यत्वानधिकरणत्वमिति साध्यप्रसिद्धिः । अन्यदीयज्ञानस्योक्तसाध्यवत्त्वे मदसमवेतत्वं मदन्यसमवेतत्वं
वोपाधिरित्याशङ्क्य निरस्यति—नचेति । कुत, साध्याव्यापकत्वात् । तदेव विवृणोति—त्वदीयेति ।
त्वददृष्टसंस्कारयोस्त्वदपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सति वेद्यत्वरहितयोस्त्वदसमवेतत्वत्वदन्यसमवेतत्वयोस्त्वाभ्योरभा-
वेन साध्याव्यापकत्वादित्यर्थः । उत्तरस्योपाधे साध्याव्याप्त्युदाहरणान्तरमाह—असमवेतेष्विति । पर-
माण्वाकाशादीनामसमवेतत्वेनान्यसमवेतत्वस्य सुतरामभावादित्यर्थः । उपाध्यन्तरमाशङ्क्य निराकरोति—
नचेति । प्रतिवादिज्ञानस्य तदपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणत्वे तदपरोक्षव्यवहारायोग्यत्वमु-
पाधिस्तथाच वादिज्ञानेऽयमुपाधिर्व्यावर्तमानः साध्यमपहरनीत्युपाधिवादिनोऽभिमतं तदूषयितुं हेतुमाह—
ममापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वादित्यादिनोपाधित्वादित्यन्तेन । उपाधि वदतोपाधिव्यतिरेकेण सा-
ध्यव्यतिरेकोऽनुमातव्यः, सर्वोपाधीनामैवंस्वाभाव्यात् । युक्तं चैतत्साध्योपाध्योर्व्याप्यव्यापकभावार्थं तदभाव-
योरपि व्याप्यव्यापकभावनियमात् । तत उपाध्यभावसाध्यभावयोरपि निरुपाधिसंबन्धो वक्तव्यः । तस्माद-
भावयोरप्युपाधिर्निविशमानो दूषयेदेव प्रथमोपाधिमित्यभिसंधाय तद्व्यतिरेकयोर्यमुपाधिरुपन्यस्तस्तत्र ममा-

घटवदिति व्यतिरेके ज्ञानेतरत्वस्यैवोपाधित्वात् । विवादपदानि ज्ञानानि घटज्ञानान्यत्वे-
सति वेद्यत्वानधिकरणानि ज्ञानत्वाद्वदज्ञानवत् ।

नच घटज्ञानत्वमुपाधिः शरीरिजन्यत्वोपाधाविव व्यर्थविशेषणत्वात् । तस्माद्विगलितसक-
लकलङ्कमनुभूतेः स्वप्रकाशत्वानुमानमिति सिद्धम् । एतेनात्मनोऽपि स्वप्रकाशत्वं व्याख्यातम् ।
तथाहि 'चिद्रूपत्वादकर्मत्वात्स्वयंज्योतिरिति श्रुतेः । आत्मनः स्वप्रकाशत्वं को निवार-

परोक्षव्यवहारयोग्यत्वादित्युपाधिव्यतिरेकनिर्देशः । शेष साध्यव्यतिरेकनिर्देशः । अनयोः सवन्धे ज्ञानेतरत्वमु-
पाधिरित्यर्थः । तदेवं व्यतिरेकानुन्नायकत्वात्साध्यव्यापकत्वाच्चानुपाधित्वे सिद्धे पूर्वोक्तेहेतुरप्रत्यूह इत्यभि-
प्रायः । ननु यथाज्ञानत्वव्यतिरेकस्य ज्ञानेतरत्वस्योपाधित्वं ब्रूषे एवं ममापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वादित्यस्य हेतो-
र्व्यतिरेकस्य ममापरोक्षव्यवहारायोग्यत्वस्योपाधित्वं परेणापि सुवचमिति षण्ढमैशुनायितं चक्रकापत्तिश्च—ज्ञाने-
तरत्वव्यतिरेकस्य ज्ञानत्वस्य प्रतिवादिसाध्यव्यतिरेकरूपत्वदीयसाध्योन्नायकत्वे सिद्धे ज्ञानेतरत्वस्योपाधित्वं,
तस्योपाधित्वे व्यतिरेकानुन्नायकत्वान्ममापरोक्षव्यवहारायोग्यत्वस्यानुपाधित्वं, तस्यानुपाधित्वं च ज्ञानत्वस्य
प्रथमसाध्यं प्रति हेतुत्वमिति । तस्मान्नेयं रीतिश्चतुरश्रेणीरीतिसरणिमहिरोहतीति । आकर्ण्यता तावदवहितहृदा
ग्रन्थकारहृदयं, ममापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वस्य प्रथमसाध्यव्यतिरेकोन्नायकत्वं तावदसंगतम् । वैद्यत्वं ह्यनेन
साधनीयम् । नच तदप्रसिद्धं येन ममापरोक्षेति विशेषणान्तरसार्थक्यं स्यात् । तस्मान्मद्वेद्यमिदं मद्यवहार-
योग्यत्वादित्येवात्ममिति व्यर्थविशेषणत्वाद्देहेतुरेवायम् । अतएव न तद्व्यतिरेकस्योपाधितेति । ननु एतदेवो-
च्यता किमनेनाजागलस्तनायमानेन, सत्यम्, इयमपि काचन रीतिस्तार्किकैररीकृतेति प्रदर्शनार्थम् । तथाहि
मानमनोहरकारेण वादिवागीश्वरेणात्मप्रकरणे—विवादाध्यासितं बोधाधारजन्यं कार्यत्वात् चेष्टादिवदित्यनुमा-
नम्, व्यर्थविशेषणेनापि शरीरिजन्यत्वव्यतिरेकेण 'विवादाध्यासितं बोधाधारजन्यं न भवति । शरीर्यजन्यत्वाद्,'
इति सत्प्रतिपक्ष्यते स्म । तथा, विवादाध्यासितमूर्तं प्रयत्नजं परमाणुव्यतिरिक्तत्वे सति मूर्तत्वात्, गन्ध प्रयत्नजः
गन्धत्वात्पटवत्तद्गन्धवच्चेति, ईश्वरानुमाने च, न शरीरिणाऽजन्यत्वादित्यनेन प्रकरणसमत्वम् । नापि तज्जन्य-
त्वमुपाधिरकार्यत्वस्योपाधेर्व्यतिरेकस्य व्यर्थविशेषणत्वाच्चेतिवत् । तस्मान्न कश्चिदपि कलङ्कशङ्कावकाशः । तथैव
रीत्यानुमानान्तरमाह—विवादपदानीति ॥

ज्ञानमात्रपक्षीकरणे घटज्ञानाशे सिद्धसाधनता, तदर्थं विवादपदमिति ग्रहणं, वेद्यत्वानधिकरणमित्युक्तेऽप्र-
सिद्धविशेषणता, तन्निवृत्त्यर्थं घटज्ञानान्यत्वे सतीति विशेषणं, वेद्यत्वानधिकरणत्वस्याप्रसिद्धत्वेऽपि घटज्ञानान्य-
त्वे सति वेद्यत्वानधिकरणत्वं घटज्ञाने प्रसिद्धं घटज्ञानस्य घटज्ञानान्यत्वान्तधिकरणत्वादेव, अन्यत्वं चात्र तत्त्वान-
धिकरणत्वं घटज्ञानान्यत्वान्तधिकरणानीत्युक्ते व्याहृतिस्तेषां घटज्ञानान्यत्वादेव, तदर्थं वेद्यत्वग्रहणं, घटज्ञाना-
न्यत्वेसति वेद्यत्वान्तधिकरणत्वं घटज्ञानान्यत्वान्तधिकरणत्वान्न सभवति व्याघातान् । तस्माद्वेद्यत्वान्तधिकरणत्व-
सिद्धिः । पूर्वानुमानं समग्रलक्षणवत् सद्भावे, इदं त्ववेद्यत्वमात्र इति विशेषः । घटज्ञानस्योक्तसाध्यवत्त्वे घट-
ज्ञानत्वमुपाधिमाशङ्क्य निषेधति—नचेति । तथाहि—विवादपदं सकर्तृकं कार्यत्वात्कुम्भवदित्यत्र शरीरिज-
न्यत्वं व्यर्थविशेषणत्वादन्युपाधि, जन्यत्वमात्रेण साध्यव्याप्तिसिद्धेरितरस्य पक्षमात्रव्यावर्तकत्वात्, एवं ज्ञानत्वमि-
त्यनेनैव ज्ञानव्यतिरिक्तव्यावृत्तौ सिद्धाया घटपदस्य पक्षीकृतघटज्ञानव्यतिरिक्तज्ञानव्यवच्छेदकत्वात्पक्षेतरतया-
ऽयमनुपाधिरित्याह—शरीरीति । अवीतपदमाचार्यैरकार्यन्वयगोचरा । महाविद्या पुनर्दिव्यादीव्यन्त्यत्रानि-
वारितम् ॥ तथाहि विमतं ज्ञानमेतज्ज्ञानविज्ञानविषयत्वे सति वेद्यत्वरहितज्ञानविषय पदविषयत्वात् घटवदि-
त्यादि महाविद्याभिरपि समर्थनीयं स्वप्रकाशत्वं, फलविषयत्वादिसाधनान्न व्याहृतिः । स्वप्रकाशसमर्थनमुप-
सहरति—तस्मादिति । विज्ञानस्वप्रकाशत्वमात्मस्वप्रकाशत्वेऽप्यतिदिशति—एतेनेति ॥

यद्यपि विज्ञानस्वप्रकाशतयैव तद्रूपस्यात्मनः स्वप्रकाशता सिद्धा तथापि तद्रूपतायामेव विवादात्तत्सम-
र्थनार्थमधिकयुक्तिप्रदर्शनार्थं च वादान्तरारम्भः । हेतून्प्रमाणानि सगृह्णाति श्लोकेन—चिद्रूपत्वादित्या-

यितुं क्षमः' ॥ ३ ॥ आत्मा संविद्रूपः संवित्कर्मतामन्तरेणापरोक्षत्वात्संवेदनवदिति प्राभा-
करं प्रत्यनुमानान्, घटतज्ज्ञानयोः संबन्धः आत्मनिष्ठः ज्ञाननिष्ठत्वात्पदविषयत्ववदिति
नैयायिकादीन्प्रत्यनुमानादात्मनश्चिद्रूपत्वसिद्धिः, विपक्षे चात्मनः संशयविपर्यासगोचरत्वाप-
त्तिर्वाधिका । नह्यात्मन्यहमनहं वेति कश्चित्संदिग्धे, नैवाहमिति वा विपर्यस्यति । नचैत-
त्स्वप्रकाशज्ञानरूपतामन्तरेणावकल्प्यते । नचान्तरेणापि ज्ञानरूपतां दुःखादिवदेतदुपप-
द्यत इति शङ्कनीयम् । तेषां स्वसत्तायां ज्ञानाव्यभिचारात्तदुपपत्तेः । नचात्मन्येवमभ्युपगम्यते
सुषुप्त्यभावप्रसङ्गात् । नच ज्ञानात्मनोः संबन्धोऽनात्मवृत्तिर्ज्ञानवृत्तित्वात् सत्तावदिति शङ्क-
नीयम् । ज्ञानमेवासेत्यभ्युपगच्छतां ज्ञानात्मनोः संबन्धस्यैवाभावादाश्रयासिद्धेः । 'नहि द्रष्टु-
र्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' इति द्रष्टृदृष्टयोः संबन्धः श्रुतित एवाधिगत इति मानमनोहरकारः
प्रातिष्ठिपदितिचेनैवम् । श्रुतेर्लोकप्रसिद्धसंबन्धानुवादेन दृष्टेर्विनाशित्वाभावमात्रप्रतिपा-
दनपरत्वात्, 'अप्राप्ते हि शास्त्रमर्थव'दिति न्यायात् मुख्यार्थेऽद्वैतश्रुतिविरोधात्, राहोः
शिर इतिवदुपचारेणापि संबन्धश्रुतेर्वृत्त्युपपत्तेश्च ।

नचानयोस्तुल्यबलतया विपर्ययः, तत्परत्वात्तत्परत्वविशेषोपपत्तेरुपक्रमोपसंहारादिप-

दिना । प्रथमं समर्थयते—आत्मा संविद्रूप इति । अपरोक्षव्यवहारविषयत्वं चापरोक्षत्वं नापरोक्षज्ञा-
नविषयत्वमपरोक्षज्ञानत्वं वा । तेन न साधनवैकल्यासिद्धौ घटादेरतीतादेश्च व्यवच्छेदाय विशेषणद्वयं घटत-
ज्ज्ञानेति । यद्यपि ज्ञानज्ञेययोर्विषयविषयिभावो नाम न भावरूप कश्चित्संबन्धस्तथाप्यभावरूपत्वादस्त्येवा-
धितत्वं, सिद्धान्ते त्वाभ्यासिक संबन्धोऽत्र, संबन्धस्य संबन्धिमात्रनिष्ठत्वात्, संबन्धिभूतज्ञानघटयोरन्यतरस्या-
त्मत्वमादायात्मनिष्ठत्वं पर्यवस्यति । तत्रापि घटस्यात्मत्वमुभयवाधनभिमतमिति विप्रतिपन्नज्ञानस्यात्मतामा-
पादयति । पदस्य विषयत्वं पदविषयत्वं । ज्ञानरूपत्वाभावे वाधकमाह—विपक्षेचेति । संशयाद्यविषयत्वं
स्वप्रकाशत्वव्याप्तं न भवति, दुःखादावदर्शनादित्याशङ्क्य निषेधति—नचान्तरेणेति । सुषुप्त्यभावप्रस-
ङ्गादिति । एतन्निष्ठजन्यज्ञानेनैतस्य प्रकाशाव्यभिचारेऽस्य न सुषुप्ति स्यात् । एतन्निष्ठकार्यज्ञानोपरमस्यैत-
त्सुषुप्तित्वादित्यर्थः । सत्प्रतिपक्षतामाशङ्क्य निषेधति—नचेति । अत्रापि संबन्धस्यानात्मवृत्तित्वमन्यतर-
स्यानात्मतामादाय पर्यवस्यति । तत्राप्यात्मनोऽनात्मता व्याहृतेति ज्ञानानात्मत्वसिद्धिः । ननु मानमनोहर-
कारेण, स च ज्ञानाश्रय 'नहि द्रष्टृदृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' इति श्रुतौ द्रष्टृदृष्टयोः संबन्धप्रतीतेरिति ज्ञानात्मनो
संबन्धं, तत्कथमाश्रयासिद्धिरिति शङ्कते—नहि द्रष्टुरिति । नेयं श्रुति संबन्धप्रतिपादिका अन्यपरत्वा-
दिति परिहरति—मैवमिति । तत्परत्वाभावे च कारणमाह—अप्राप्त इति । अप्राप्ते हि शास्त्रमर्थवत् ।
'अर्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाण'मिति तत्र जैमिनिनोक्तत्वादित्यर्थः । एवमनुवादकतया परिहारमुक्त्वा प्रकारान्तरेण
परिहरति—मुख्यार्थ इति । एतेन देवताधिकरणन्यायोऽयनवकाशीकृतः ।

नन्वद्वैतश्रुतिविरोधादन्यथाभावोऽस्या किमिति कल्प्यते विपरीतमेव वा किं न स्यात् श्रुत्योस्तुल्य-
बलत्वात् 'तुल्यं हि साप्रदायिक'मिति न्यायादित्याशङ्क्य तत्परत्वात्तत्परत्वविशेषान्नेत्याह—नचेति ।
तत्परत्वमेव तस्या कथमवगम्यतेऽतत्परत्वं चास्या इत्यत आह—उपक्रमेति । 'आत्मनोऽरे' 'यत्रत्वस्ये'ति
चाद्वैतेनोपक्रमोपसंहारौ । 'इदं सर्वं सलिल एक' इति चाभ्यासः । जीवब्रह्मैक्यं च प्रैमाणान्तरागोचरम् । 'एता-

१ 'अवकल्पते' दक्षि. पाठ. साधुर्भाति. २ संबन्ध इत्यस्यानन्तर प्रस्थापित इति साधित इति वा पाठ परिभ्रष्ट

इति प्रतिभाति ३ प्रमाणान्तरागोचरमित्यनेनापूर्वता दर्शिता । तदुक्तम्—'उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।
अर्थवादोपपत्ता च लिङ्ग तात्पर्यनिर्णये ॥'.

द्विधतात्पर्यलिङ्गोपेताद्वैतश्रुतिः कथं लोकप्रवादोपजीविनीं संबन्धश्रुतिं न बाधेत । देवदत्तस्य गन्तुरिति वद्वृष्टेरिति द्रष्टृरूपाया दृष्टेः, दृष्टिलक्षणो वा यो द्रष्टा तस्य, विपरिलोपो नास्तीति सामानाधिकरण्येन षष्ठ्योः संबन्धसंभवे वैयधिकरण्यस्य कल्पनायोगात् 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्ये'रित्यादाविव वैयधिकरण्येऽप्यन्तःकरणपरिणामरूपायाः दृष्टेर्यो द्रष्टेति वा परिणामिनोऽन्तःकरणस्य द्रष्टुः साक्षिभूता या दृष्टिस्तस्या विपरिलोपो नास्तीति वा, अद्वैतश्रुत्यनुगुणे संभवति संबन्धे गुणगुणिभावेन संबन्धकल्पना अविदितमीमांसावृत्तान्तस्यैव परं शोभते ।

किंच जीवेश्वरयोर्भेदमभ्युपगच्छता नित्यदृष्टिसंबन्धः कस्योच्यत इति विवेचनीयम् । न तावज्जीवस्य । तस्यानित्यज्ञानाभ्युपगमात् । नापीश्वरस्य । मैत्रेयीब्राह्मणे 'नवा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवती'त्यादिना पतिजायादिप्रियसंसूचितं जीवमुपक्रम्य 'तस्यैव चैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ती'त्यवस्थान्तरप्रतिपादनावसरे विनाशमाशङ्क्य 'अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा मात्रासंसर्गस्त्वस्य

वदर' इति फलश्रवणम् । 'अस्य महत एतेभ्यः' इति सृष्ट्यादिरर्थवादः । दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तरूपपादितं, तदेतदादिशब्देन गृहीतम् । लोकप्रवाद इत्यनेनानुवादकतया संबन्धश्रुतेरतत्परत्वमुक्तं, कथं न बाधेत, बाधेतैवेत्यर्थः । एवं च यदत्र तेनैव गर्जितं नवान्नायायप्रतीत आन्नातो भवितुमर्हतीत्यादि तत्राप्युपचारप्रवृत्ते सुलभत्वादित्यन्तं तत्सर्वं प्रमत्तप्रलपितायितम् । यत्तु न च प्रत्यक्षं, तस्य भेदग्राहकत्वादित्युक्तं तदपि भेदनिर्भर्तृनसमये सम्यगुपरिष्ठाद्भस्मसाद्भावविषयम् । तदेवं वैयधिकरण्यं पृष्ठोरङ्गीकृत्य पर्यहार्षात्, सप्रति वैयधिकरण्यमेव नास्ति सामानाधिकरण्येनाभ्युपगम्यतेति सनिदर्शनमाह—**देवदत्तस्येति** । ननु 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्ये'रित्यत्र यथा वैयधिकरण्यमेवमत्रापि किं न स्यादित्यत आह—**न दृष्टेरिति** । अन्तःकरणवृत्तिसाक्षिणौ वान्तःकरणसाक्षिणौ वा भिन्नौ संबन्धितया निर्दिश्येते ननु ज्ञानात्मानावित्यर्थः । अद्वैतश्रुत्यनुगुणे संबन्धे संभवतीत्यस्यायमर्थः—अद्वैतश्रुत्यविरुद्धानेकप्रकारे परिस्फुरत्यपि यत्तस्य विरुद्ध एव प्रकारः पर्यस्फुरत्तत्र तद्वैर्भाष्यमेव परं कारणमित्यभिप्रायः ।

इयं श्रुतिरेव तावत्त्वत्पक्षे नार्थवन्ती दूरेतरा त्वदभिमतसंबन्धे प्रामाण्यमित्याह—**किंचेति** । **नापीश्वरस्येति** । यद्यपीदं मैत्रेयीब्राह्मणं जीवानुवादेन तस्य ब्रह्मात्मताप्रतिपादनपरं ननु जीवपरं जीवब्रह्मभेदपरं वेति 'वाक्यान्वयाद्' इत्यत्र प्रतिपादितं, तथापि शोधितस्य ब्रह्मताप्रतिपादनमिति शोधनसमये जीवस्याप्येवंस्वभावता वक्तव्येतिभिरेत्य प्रियादिसंसूचितस्याविनाशितोपपादनादित्युक्तं, तेनात्रेश्वरज्ञानस्य कारणरहिततायामिमांश्रुतिः प्रमाणयन् वादिवागीश्वरोऽयुपहसितः । एतेभ्य इत्यादिश्रुतेरयमर्थः—यान्येतानि कार्यकरणविषयाकारपरिणतानि नामरूपात्मकानि पञ्चभूतानि, एतेभ्यो भूतेभ्यः । हेतौ पञ्चमी । समुत्थाय सम्यगुत्थाय पृथग्भूत्वा यथोदकेभ्यो हेतुभ्यश्चन्द्रात्प्रतिबिम्बचन्द्राणां पृथग्भावस्तद्वत्तान्येवानुविनश्यति तानि भूतानि ब्रह्मविद्यया समूलं विनश्यन्त्यनुविनश्यति, उपाविप्रलयात्तत्प्रयुक्तावच्छेदोऽपि निवर्तत इत्यर्थः । **न प्रेत्येति** । शरीरद्वयं परित्यज्य सज्ञाविशेषविज्ञानं नास्ति तदापादकानामुपाधीनामभावादित्यर्थः । **अवस्थान्तरेति** । मोक्षावस्थाप्रतिपादनावसर इत्यर्थः । **विनाशमिति** । सज्ञा नास्तीति ज्ञाननाश्याभिधानादित्यर्थः । प्रतिवचनमिदम् । अरे मैत्रेयि, अयमात्मा अविनाशीति । विनाशशब्देन विक्रिया विवक्ष्यते सास्य नास्तीत्यर्थः । तथानुच्छित्तिधर्मा, उच्छित्ति स्वरूपनाशः स धर्मोऽस्य नास्तीत्यनुच्छित्तिधर्मा । कस्तर्हि सज्ञा नास्तीत्यस्यार्थः इत्यत आह—**मात्रेति** । मात्राभिर्विषयेन्द्रियाद्याकारपरिणतैर्भूतैरसंसर्ग परमस्य भवति न

भवति । यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्नपश्यति । नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वा'दित्यविनाशितोपपादनात्, ज्योतिर्ब्राह्मणे च जागराद्यवस्थोपन्यासपुरःसरम् 'अथ यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यती'ति संप्रसादावस्थानमवतार्य 'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' इति विशेषविज्ञानाभावेऽपि स्वरूपविज्ञानस्य नित्यत्वप्रतिपादनात्, ईश्वरपक्षे च विशेषविज्ञानाभावस्य वक्तुमयुक्तत्वात्तस्य सर्वदा सर्वज्ञत्वात् सुषुप्त्याद्यवस्थाभावाच्च । तस्माज्ज्ञानात्मनोः संबन्धोऽनात्मनिष्ठ इत्यनुमानमाश्रयासिद्धमिति सिद्धम् । यत्तु गुणत्वादनित्यत्वाज्ज्ञानमात्रा न भवति रूपादिवदित्यनुमानं तत्सर्वमन्यतरासिद्धतयापास्तम् ।

अथ घटतज्ज्ञानयोः संबन्धः गुणनिष्ठः ज्ञाननिष्ठत्वात्सत्तावद्विपक्षे च जानामीति प्रत्ययस्य निरालम्बनत्वप्रसंगो बाधक इति चेन्मैवम् । रूपतज्ज्ञानयोः संबन्धो द्रव्यनिष्ठो ज्ञाननिष्ठत्वात्सत्तावदिति प्रतिप्रयोगसंभवात् जानामीति चानुभवस्यान्तःकरणवृत्त्याश्रय-प्रमातृविषयतयाप्युपपत्तेः 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' 'प्रज्ञानं ब्रह्म' 'ज्ञानघन एवे'त्यादिश्रुति-भ्यश्चात्मनश्चिद्रूपत्वसिद्धिः । नचाधिकरणपरतया ज्ञानशब्दो योज्यः अद्वैतश्रुतिविरोधात् । तस्मात्साधूक्तं चिद्रूपत्वादिति ।

स्वरूपविनाश । 'यद्वै तन्न पश्यती'ति वै इत्यवधारणे । यत्तन्न पश्यत्येवेति मन्यस इत्यर्थः । पश्यन्वै तन्न पश्यति । तत्र हेतु — नहीति । हि यस्माद्ब्रह्मरात्मनो दृष्टे स्वरूपभूताया इति वा पूर्वोक्तप्रकारेण वा विपरिलोपो विधातो न विद्यत इत्यन्वयः । तत्रापि हेतु — अविनाशित्वादिति । स्वरूपविनाशाभावात्, अथवा अविनाशित्वमपक्षयरहितत्वमित्येवं विशेषविज्ञानाभावेऽपि स्वरूपविज्ञानस्य नित्यत्वप्रतिपादनादित्यर्थः । जागरादीति । स वा एष इत्यादिना जागराद्यवस्थोपन्यासपूर्वकमित्यर्थः । यत्रेति । यत्र यस्मिन्ननन्ते सुप्तो जीव न कंचन कामं जाग्रत्स्वप्नयोर्ये कामास्तेषु न कमपि कामं कामयते तथा न कंचन स्वप्नम् । स्वप्नशब्देन तद्विषयाणि ज्ञानान्यभिधीयन्ते । जाग्रद्दर्शनमपि मिथ्याविषयत्वात्स्वप्नशब्देन निर्दिश्यते । न कंचनेत्यत्र चनशब्दोऽप्यर्थः । कमपि स्वप्नं न पश्यतीत्यर्थः । संप्रसादावस्थानमिति । संप्रसादः सुषुप्त्यवस्था सम्यक्प्रसीदत्यस्या जीवस्वरूपमिति व्युत्पत्त्या, तस्यामवस्थानं संप्रसादावस्थानं तदवतार्योत्तरत्रेति वाक्यशेषः । भवत्वेवं ततः किमित्यत आह—ईश्वरपक्ष इति । अनुपपत्त्यन्तरं चाह—सुषुप्त्यादीति । ननु ज्ञानमात्मा न भवति गुणत्वाद्व्यवस्थया ज्ञानमात्मा न भवत्यनित्यत्वादित्यादिप्रयोगविरोधात्कथमात्मनो ज्ञानात्मकत्वमित्यत आह—यत्त्विति । यस्य हि नित्यात्मस्वरूपताभिमतता विज्ञानस्य, तस्य कथं गुणत्वमनित्यत्वं वाभिमतमित्यर्थः ।

गुणत्वसाधकानुमानं शङ्कते—अथेति । अत्रापि संबन्धिमात्रनिष्ठस्य संबन्धस्य गुणनिष्ठत्वमन्यतरसंबन्धिनि गुणत्वमन्तरेण न घटते घटस्य च गुणत्वमुभयानभिमतमिति ज्ञानस्य गुणत्वसिद्धिः, यदि च ज्ञानस्य गुणत्वं न स्यात्तदा जानामीति ज्ञानाश्रयं विषयीकुर्वतः प्रत्ययस्य निर्विषयतापत्तेस्तत्स्वरूपत्वे तत्प्रत्याधारतायोगादिति बाधकमाह—विपक्षे चेति । इदं च प्रतिप्रयोगेण निरुध्ने—मैवं । रूपेति । अत्रापि रूपस्य द्रव्यत्वमुभयवादिविप्रतिषिद्धमिति ज्ञानस्य द्रव्यत्वसिद्धिः । यत्तु बाधकमुक्तं तदन्तःकरणवृत्तिमादाय शाम्यतीत्याह—जानामीति । तदेवमनुमानाच्चिद्रूपत्वमुक्त्वा तदनुग्राह्यमागममप्याह—विज्ञानमिति । यत्तु मानमनोहरकृतोक्तं ज्ञानशब्दश्च ज्ञायते अस्मिन्नित्यधिकरणवचन इति तदूषयति—नचेति । 'करणाधिकरणयोश्चै'त्यधिकरणेऽपि ल्युङ्विधानादित्यर्थः ।

—१ तद्व्यवस्थया न पश्यतीति पाठे द्रष्टव्यमिति तदित्यस्य व्याख्यान ग्रन्थकृत्कृत, काचित्कटिप्पणीतो वाऽन्तः, पतितम्.

अकर्मत्वाच्चासनः स्वप्रकाशत्वम्, वेद्यत्वे स्वाश्रयज्ञानविषयतया कर्मकर्तृभावविरोधः प्रसङ्गात् । नच सुखादिविशिष्टस्याहं सुखीत्यादिज्ञानकर्मत्वं, केवलस्य च कर्तृत्वमित्याकारभेदादविरोधो, गमनादिक्रियास्वपि केवलस्य कर्तृत्वं गमनविशिष्टाकारेण च कर्मत्वमित्याकारभेदेनाविरोधात्कर्मकर्तृभावविरोधस्य सर्वत्रोच्छेदप्रसङ्गात् । तथापि नासनः स्वप्रकाशत्वं, तत्तदर्थसंवेदनाश्रयतयापि स्फुरणोपपत्तेः ।

नचास्य क्रियाफलभाजोऽपि कर्मत्वं, परसमवेतक्रियाफलशालित्वाभावात् । नचैतन्मानसप्रत्यक्षेऽपि समानं, जानातेः सदा सकर्मकतया कर्मणा व्याप्तस्य तन्निवृत्तौ निवृत्तेरिति चेन्मैवम् । संविद्यतिरिक्तस्य संवित्कर्मत्वेनैवापरोक्षत्वनियमादासनः कर्मत्वाभावे तदनुपपत्तेः । संवेदिता संविदाश्रयतयाऽपरोक्षो न भवति अपरोक्षत्वात्संवेदनवदिति । नच विपक्षे बाधकतर्काभावः । स्वसत्तायां प्रकाशव्यभिचारवतः प्रकाशान्तराधीनव्यवहारवत्त्वे कदाचित्संशयादिगोचरत्वप्रसङ्गस्यैव बाधकत्वात्, आसनो घटादिज्ञाने भासमानत्वा-

द्वितीयं हेतुं विवृणोति—अकर्मत्वाच्चेति । नन्वकर्मत्वमेव कथं यावता मानसप्रत्यक्षोऽयमिष्यत इत्यत आह—वेद्यत्व इति । स्वाश्रयं यज्ज्ञानं तद्विषयतयेत्यर्थः । स्यादेतदुपाधिवशात्किमित्यनेकाकारता न स्यात् । इश्यते ह्येकस्यापि देवदत्तस्यानेकाकारता पिता भ्राता मातुल इत्यादि । सम्भवति चात्रापि सुखादिविशिष्टाकारेणाहं सुखीति ज्ञेयत्वं, केवलस्य तु ज्ञातृत्वमित्युपाधिभेदस्तत्राह—नच सुखादीति । पित्रादीनां स्वरूपेणैकत्वेऽपि प्रतियोगिनात्वात्सम्भवति तदपेक्षयानेककल्पनाविषयत्वमिह तूपाधिविशिष्टस्यैव तं प्रति कर्तृत्वं कर्मत्वं चेति विप्रतिषिद्धं नियमेनानुपलब्धेर्गमनादावप्येवंविधोपाधिभेदेनाविरोधप्रसङ्गादित्यर्थः । अत्र प्राभाकर शङ्कते—तथापीति । यद्ययंकर्मत्वं तथापि तत्तदर्थविषयाणि यानि संवेदनानि तदाश्रयतया स्फुरणरूपतामन्तरेणापि स्फुरणोपपत्तेरिति योजना । पूर्वं चिद्रूपता तं प्रति साधिता । अत्र त्वकर्मत्वस्यान्यथोपपत्तिं परिह्रियत इति न जामिती ।

ननु कर्मतैवास्य किमिति नास्ति ज्ञानक्रियाफलभाक्त्वान्क्रियाफलभाजश्च कर्मत्वादिति नैयायिकमतमाशङ्क्य स एव निषेधति—नचास्येति । न क्रियाफलभाक्त्वमात्रं कर्मत्वम्, नगर गच्छति चैत्र इत्यत्र चैत्रस्यापि कर्मत्वप्रसङ्गात् । तस्मात्परसमवेतक्रियाफलशालित्वं कर्मत्व, तच्चास्य नास्ति स्वसमवेतत्वाज्ज्ञानक्रियाया इति भावः । ननु तर्हि संविदाश्रयतयेति किमित्ययमाग्रहः, मानसप्रत्यक्षत्वेऽपि परसमवेतक्रियाफलविकलतया कर्मताऽभावेन कर्मकर्तृविरोधाभावादित्यत आह—नचैतदिति । तथा सति ज्ञानतामेव जह्यात् आत्मन कर्मत्वाभावादित्यस्य च कर्मणोऽनङ्गीकारादित्यर्थः । तदेतन्निरस्यति—नैवमिति । यदि संविद्यतिरिक्तं स्यात्तर्हि कर्मत्वैवापरोक्षव्यवहारविषयः स्याद्विषयेषु तथाव्याप्तेस्तेन कर्मत्वं व्यावर्तमानं संविद्यतिरिक्तत्वं व्यावर्तयतीत्याह—संविदिति । संविदाश्रयतयाऽपरोक्षत्वे चानुमानविरोधमाह—संवेदितेति । बाधनिवृत्त्यै प्रथमविशेषणं, परप्रसिद्धापि प्रतियोगिप्रसिद्धिः । एव च सति संविदधीनप्रकाशत्वविकल्पेन यदत्र कैश्चिद्वृषणमुक्तं तदायनवकाशीकृतम् । यत्तु तैरेवोक्तं विपक्षबाधकतर्काभावादिति तत्र विपक्षबाधकतर्कमाह—स्वसत्तायामिति । प्रकाशान्तराधीनव्यवहारवत्त्वे नित्यज्ञानवत्त्वानङ्गीकारात्स्वसत्ताया प्रकाशव्यभिचारवत इति योजना । तेन च सुखादिव्यावृत्तिः । यत्तु तैरेवाद्वृत्त्वोपाधिहृतत्वाच्चेत्युक्तं तदसत्पक्षेतरत्वात्पर्वतेतरत्वादिव्यतिरेकानिर्णयेन साध्याव्यापकत्वात्, तर्कान्तरविरोधमाह—आत्मन इति । आत्मनो घटादिवदेव चाक्षुषत्वमपि प्रसज्येत घटादिज्ञानेषु भासमानताङ्गीकारादिति योजना । ननु चक्षुरसयुक्तस्य कथं चाक्षुष-

१ नचैतदिति—मूले ङाकाया चात्र नन्वेतदिति पाठः साहु., २ अत्र जामिताशब्दः सकरपरः.

ङ्गीकाराच्च घटादिवदेव चाक्षुषत्वमपि प्रसज्येत, तज्जनितज्ञाने भासमानताया एव तत्त्वान्, नीरूपस्य च द्रव्यस्य चाक्षुषत्वायोगान्, आत्मा चाक्षुषज्ञाने न प्रकाशते अरूपिद्रव्यत्वादाकाशवदिति प्रतिप्रयोगसंभवाच्च ।

‘अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिरिति श्रुतेश्चात्मा स्वप्रकाशः । ननु स्वप्रावस्थामधिकृत्येदमात्रायते । तत्र मनसोऽनुपरमात्र स्वयंज्योतिर्न च मनसो गजाद्याकारपरिणतस्यावभासकर्मतयैवावस्थानात्करणान्तराभावाच्चासैव स्वयंज्योतिः स्यादिति शङ्कनीयम् । मनसश्चाक्षुरादिवदिन्द्रियत्वेन प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः । तस्मान्मनःसंयोगजन्यज्ञानाधारत्वेन स्वयंशब्दवाच्य आत्मा ज्योतिरित्यभिधीयते, ज्योतिःसाधनत्वाद्वा ‘वाचैवायं ज्योतिषा,’ ‘अग्नि नैवायं ज्योतिषे’त्येतत्प्रकरणपठितवागय्यादिवत्, नत्वात्मा स्वयंज्योतिरिति द्रव्यस्य गुणत्वानुपपत्तिरिति चेन्मैवम् । यतः—‘संबन्धस्याश्रयत्वेन विज्ञानासमवायिनः । इन्द्रियत्वाविघाताच्च मनः प्रत्यक्षमात्मवत् ॥ ४ ॥

मनः प्रत्यक्षं ज्ञानासमवायिकारणाधारत्वात् आत्मवदित्यनुमानान्मनसोऽपि प्रत्यक्षत्वौत्वमित्यत आह—तज्जनितज्ञान इति । अन्यथा चक्षुःसंयुक्ततया परमाण्वादेरपि चाक्षुषत्वप्रसङ्गात्सोऽयं देवदत्त इति प्रत्यभिज्ञाने तत्ताया अचाक्षुषत्वापत्तेश्च सर्वगतात्मवादिना तस्यापि भावादिति भावः । भवतु तर्हि चाक्षुषत्वमपि, नच नीरूपस्य चाक्षुषत्वाभाव रूपादौ व्यभिचाराद्रव्यत्वविशेषणेऽपि वियदादौ भाट्टाना व्यभिचारादित्यत आह—नीरूपस्यचेति । किमयं समयबलादिति, न, प्रमाणबलादित्याह—आत्मा चाक्षुषज्ञान इति । रूपतत्सामान्यादिषु व्यभिचारनिवारणाय द्रव्यग्रहणम् । घटादिव्यभिचारविघटनायारूपिग्रहणम् । नच भाट्टानां साध्यविकलता दृष्टान्तस्य, तत्प्रत्यक्षत्वे प्रमाणाभावात्प्रत्युताकाशमचाक्षुषमरूपिद्रव्यत्वात्सर्वदाऽऽपार्श्ववद्द्रव्यत्वान्मनोवत्सर्वगतत्वादात्मवदित्यादिप्रयोगसंभवाच्च । नचान्तरत्वंमुपाधिगुणत्वादौ साव्याख्याते ।

तृतीयं हेतुं विवृणोति—अत्रायमिति । शङ्कते—नन्विति । अयमर्थः—न तावत्स्वप्रावस्थाया स्वप्रकाशत्वं श्रुत्या दर्शयितुं शक्यम्, इन्द्रियस्य मनसो विद्यमानतया व्यतिरेकनिर्णयाभावादप्यथा जागरेऽपि तद्भ्युत्पादनसंभवेन स्वप्रावस्थाश्रयणवैफल्यदिति सिद्धान्तिमतमाशङ्क्य दूषयति—नच मनस इत्यादिना शङ्कनीयमित्यन्तेन । तत्र हेतुमाह—मनस इति । यदि हि मनसो दृश्यतयावस्थानं स्यात् स्यात्तर्हि करणत्वं, नत्वेतदस्ति । मनस इन्द्रियत्वेनायोगिनः प्रत्यतीन्द्रियत्वात् । शरीरसंयुक्तमतीन्द्रियं साक्षात्प्रतीतिसाधनमितीन्द्रियलक्षणान्मनोतीन्द्रियमिन्द्रियत्वाच्चक्षुर्वदिति प्रयोगसंभवाच्चेत्यर्थः । कस्तर्हि श्रुतेरर्थ इत्यत आह—तस्मादिति । ज्योतिर्लक्षणप्रकाशाधिकरणत्वाज्ज्योतिरित्यभिधीयते । ज्योतिःसाधनतया वा ज्योतिःशब्दः, वागादिवदित्यर्थः । उपपत्तिविरुद्धश्चायमर्थ इत्याह—द्रव्यस्येति । ज्ञानस्य गुणत्वादात्मनो द्रव्यत्वाच्चेत्यर्थः । तदेतदयपाकरोति—मैवमिति । हेतुमवतारयति—यत इति । श्लोकेनानुमानमाह—संबन्धस्येति । मनः प्रत्यक्षं विज्ञानासमवायिनो विज्ञानं प्रत्यक्षसमवायिकारणस्य संबन्धस्याश्रयत्वेन हेतुनात्मवदित्यनुमानं सगृहीतम् । यत्तु प्रत्यक्षत्वं इन्द्रियत्वव्याघात इति तत्राह—इन्द्रियत्वाविघाताच्चेति । नचेन्द्रियाजन्त्यायोगिसाक्षात्काराविषयो मन इन्द्रियत्वाच्चक्षुर्वदिति प्रयोगः । नैयायिकादेरप्रसिद्धविशेषणत्वादुक्तहेतुव्यतिरेकस्योपाधित्वाच्च ।

सगृहीतमनुमानं विवृणोति—मन इत्यादिना । ज्ञानासमवायिकारणमात्ममनः संयोग ज्ञानाधारत्वादित्युक्ते असिद्धिस्तथाऽसमवायिकारणाधारत्वादित्युक्ते परमाण्वादिषु व्यभिचारस्ततो विशेषणद्वयमिदं, इन्द्रियत्वा-

१ गुणत्वानुपपत्तिरिति । गुणत्वानुपपत्तेरिति पाठः साधुः.

पपत्तेः । नच प्रत्यक्षत्वे सति इन्द्रियत्वव्याकोपः, तस्य साक्षिवेद्यस्याप्यैन्द्रियकज्ञानाविषयत्वेनेन्द्रियत्वाव्याकोपात् । तस्मान्निरस्तसमस्तकलङ्कावकाशमात्मनः स्वप्रकाशत्वम् । तच्चात्मरूपमविद्यापरिकल्पितप्रपञ्चावभासकत्वादविद्यातमोनिवर्तकत्वाच्च ज्योतिःशब्दाभिधेयं, यथा भावरूपशर्वरादितमोनिवर्तनेन जगदवभासकमादित्यादि ज्योतिरिति सिद्धम् ।

ननु तमो न भावरूपं, भावेष्वनन्तर्भावात् । तद्धि पृथिव्यादिद्रव्याणामन्यतमत्तदन्यद्वा स्यात् । नाद्यः । क्षितिसलिलाससु चतुर्दशगुणेषु तेजसि एकादशगुणे मातरिश्च निवगुणे मनसि चाष्टगुणे नभसि षड्गुणे दिक्कालयोः पञ्चगुणयोरविनाशिनोरनन्तर्भावात् । अन्तर्भावे वा तावद्गुणवत्त्वप्रसङ्गात्, आत्मादावन्तर्भावे नित्यत्वापत्तेश्च ।

नापि द्वितीयो । निर्गुणस्य द्रव्यत्वानुपपत्तौ द्रव्यान्तरत्वस्य सुतरामनुपपत्तेः । नीलोत्पलदलश्यामं महश्चोपलक्ष्यमाणं तमः कथं निर्गुणमिति चेन्न । नीलरूपस्य गन्धाद्येकार्थसमवायिनस्तद्व्याप्तस्य तदभावे भावायोगात् । अपिच द्रव्यान्तरत्वे न तावन्निरवयवत्वं, नित्यत्वेनालोकानिवर्त्यत्वापत्तेः । सावयवत्वे च तदारम्भकाणां स्पर्शवत्त्वे तस्मिन्नपि स्प-

विधाताच्चेति विवृणोति—**नचेति** । ननु कथं ज्ञानस्वरूपस्यात्मनो ज्योतिःशब्दवाच्यता यावता भूतविशेष एवायं ज्योतिःशब्दो व्युत्पन्न इत्यत आह—**तच्चेति** । तमोनिवर्तनेनावभासके हि ज्योतिःशब्दः प्रयुज्यते तद्विहापि समानमित्यर्थः ।

‘भावाभावातिगाऽविद्या तत्त्वे दृष्टान्तितं तम । वृद्धैस्तदस्य भावत्वं वादेनानेन साभ्यते ॥’ भावरूपतमोनिवर्तनेनेत्युक्तं तदिदममृष्यमाणा वैशेषिकादयः प्रत्यवतिष्ठन्ते—**ननु तमो न भावरूपमिति** । हेतुमाह—**भावेष्विति** । षट्पदार्थान्यतमत्वं हि भावत्वम् । तदिह तदन्यतमत्वं व्यावर्तमानं भावत्वमपि व्यावर्तयतीत्यर्थः । तत्र किं द्रव्यान्तर्भूतमुत्तरपञ्चकान्तर्भूतं वा । द्रव्यान्तर्भावे पृथिव्यादिनवान्यतमदन्यद्वेति विकल्प्य नवान्तर्भावं निषेधति—**नाद्यः । क्षितीति** । तत्र रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुस्तद्वत्त्वसंस्काराश्चतुर्दश क्षितिगुणा, गन्धरहिता स्नेहसहितास्ते एव चतुर्दश सलिलगुणा, संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनाख्यसंस्काराश्चतुर्दशात्मगुणा, आत्मा चात्रापरः । रूपस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वद्रवत्वसंस्कारा इत्येकादशगुणास्तेजस रूपद्रवत्वहीनास्ते एव नव गुणा वायो । स्पर्शरहितास्ते एवाष्ट मनसो गुणा । एतेनेश्वरोऽपि गृहीतः । शब्दसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागा षट् गगनगुणा । शब्दवर्जितास्ते एव पञ्च दिक्कालयोः, एतेष्वनन्तर्भावादित्यर्थः । **ननु** किमित्यनन्तर्भाव इत्यत आह—**अन्तर्भावे वेति** । यस्मिन्नस्यान्तर्भावोऽभिमतस्तस्य यावन्तो गुणास्तावद्गुणत्वप्रसङ्गादित्यर्थः । नित्यद्रव्यान्तर्भावेऽधिकं दूषणमाह—**आत्मादाविति** । तथाचालोकानिवर्त्यत्वमिति शेषः ।

नवबहिर्द्वं दूषयति—**नापि द्वितीय इति** । तत्र वक्तव्यं किं गुणवदुत निर्गुणमिति । निर्गुणपक्षं दूषयति—**निर्गुणस्येति** । गुणवत्त्वस्य द्रव्यलक्षणत्वेन तद्रहितस्य द्रव्यत्वव्याघातादित्यर्थः । प्रथमं शङ्कते—**नीलेति** । रूपपरिमाणगुणवत्त्वोपलम्भादित्यर्थः । परिहरति—**नेति** । पृथिव्या हि नीलरूपं गन्धादिभिर्व्याप्तमतस्तन्निवृत्तौ तमसि नीलरूपमपि निवर्ततेत्यर्थः । भावायोगादिति पदच्छेदः । भङ्गयन्तरेणापि द्रव्यान्तरत्वं दूषयति—**अपिचेति** । तत्किं निरवयवमुतावयवारभ्यम् । नाद्य इत्याह—**न तावदिति** । निरवयवद्रव्यस्यात्मवन्नित्यत्वादित्यर्थः । द्वितीयेऽपि किं स्पर्शवदारभ्यं तद्रहितारभ्यं वा । प्रथमे प्राह—**तदारम्भकाणामिति** ॥

शोपलम्भप्रसङ्गादस्पर्शवत्त्वे च तेषां मनोवद्व्यारम्भकत्वायोगात् । नापि गुणः रूपा-
न्तर्भावे पृथिव्यादित्रितयगुणवत्त्वे च तत्सहचारिणां गुणान्तराणामप्युपलब्धिप्रसङ्गात् ।
नापि नभोनभस्वतोर्गुणः, तयोरूपत्वात् । नापि दिक्कालमनसाम्, एतेषां विशेषगुणरहित-
त्वात् । नाप्यात्मनः, तस्य बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षगुणानधिकरणत्वात् । नापि कर्म, संयोगविभागयो-
रकारणत्वात् । नापि सामान्यविशेषसमवायाः, तेषां व्यक्त्याश्रयसंबन्धिनामुपलब्धिम-
न्तरेणानुपलम्भनियमात् । नहि सामान्यस्यैव व्यक्तिर्विशेषाणामिव चाश्रयः समवायस्यैव
संबन्धी तमसः कश्चिदुपलभ्यते । नचास्य तमस उपलम्भसंभवः, तदुपलम्भकाभावात् ।
नच लोचनमुपलम्भकं तदव्यापारे तदनुपलम्भापातात् । अस्ति च निमीलितनयनस्यापि
तमः पश्यामीत्यभिमानः । अपिच रूपत्वे रूपवत्त्वे वाऽऽलोकाजन्यचक्षुर्जन्यसाक्षात्कार-
विषयत्वं न स्यादालोकसहकृतस्यैव चक्षुषस्तत्र सामर्थ्यात् । नापि मनस्तदुपलम्भकं,
बाह्येन्द्रियनिरपेक्षस्य तस्य बहिरप्रवृत्तेः । तस्मात्षट्स्वपि आवेष्वनन्तर्भावात्तद्भावे
वोपलम्भकाभावाच्च, प्रभाभावस्तम इति ।

अत्रोच्यते—‘तमालश्यामलज्ञाने निर्वाधे जाग्रति स्फुटे ॥ द्रव्यान्तरं तमः कस्माद-

समवायिकारणगतविशेषगुणस्य कार्यं सजातीयगुणारम्भकत्वनियमादिति भावः । द्वितीयं दूषयति—**अस्पर्श-
वत्त्वे चेति** । यत्स्पर्शरहितं न तद्व्यारम्भकं यथा मन इत्यर्थः । उत्तरपञ्चकान्तर्भावं क्रमेण दूषयति—
नापीति । गुणपक्षेऽपि किं रूपान्तर्भूतमितरान्तर्भूतं वा । आद्येऽपि किं पृथिव्यादित्रयवृत्तीतरवृत्तिर्वा । आद्यं
निराचष्टे—**रूपान्तर्भाव इति** । इतरवृत्तितामपि क्रमेण दूषयति—**नापीति** । नभस्त्वान्वायुः । **विशेषगुण-
रहितत्वादिति** । दिक्कालमनसां विशेषगुणशून्यत्वमिति सिद्धान्तादित्यर्थः । चक्षुर्मात्रग्राह्यस्येतरगुणान्तर्भाव-
स्त्वसंभवनिरस्तः । कर्मान्तर्भावं निराकरोति—**नापीति** । संयोगविभागयोरसमवायिकारणत्वस्य कर्मलक्ष-
णत्वात्तमसश्च तदभावादित्यर्थः । सामान्यादित्रयधर्माणामभावं तमसि दर्शयति—**नहीति** । सामान्यत्वे
व्यक्तिव्यङ्ग्यत्वं, विशेषत्वे चाश्रयप्रतीत्यपेक्षा, समवायत्वे च संबन्धिप्रतीत्यपेक्षा स्यादित्यर्थः । एवं भावत्वे
नि स्वभावापत्तिमुक्त्वा प्रतीत्यनुपपत्तिमाह—**नचेति** । प्रत्यक्षं तावदनुभूयते । तत् किं चाक्षुषमुत मानस,
स्पर्शनादिकं त्वनुपलम्भपराहतम् । नाद्य इत्याह—**नचेति** । अस्मत्पक्षे निमीलितलोचनस्यापि संतमसालोचनं
संभवति आलोकाभावस्यान्तरस्य चक्षुषा ग्रहणसंभवादालोकानपेक्षत्वाद्भावपक्षे त्वालोकापेक्षाया वक्ष्यमाणत्वात्
पदार्थान्तरस्याप्यान्तरस्य ग्रहणप्रसङ्गाच्चेति भावः । रूपगुणत्वे रूपवद्व्यव्यत्वे चानुपपत्त्यन्तरमाह—**अपिचेति** ।
आलोकेनाजन्यश्चक्षुर्जन्यश्च साक्षात्कारस्तद्विषयत्वं न स्यादस्ति च तदित्यर्थः । रूपघटादिव्यभिचारा-
याद्यविशेषणं ईश्वरप्रत्यक्षवेद्यस्यास्मदादिस्पर्शनप्रत्यक्षवेद्यस्य च घटादेर्निवृत्त्ये चक्षुर्जन्यग्रहणम् । अस्मत्पक्षे
त्वालोकाभावस्यालोकानपेक्षत्वात्प्रत्यक्षप्रतियोगिकतया च प्रत्यक्षत्वान्नानुपपत्तिरिति भावः । मानसत्वं निषे-
धति—**नापि मन इति** । तमसश्चबहिरुपलब्धेरिति शेषः । उपसहरति—**तस्मादिति** । तद्भाव इत्य-
न्तर्भूतत्वेऽपीत्यर्थः । अयमत्र प्रयोगः—तम पदमालोकाभाववाचकमालोकानपेक्षचक्षुर्ग्राह्यवाचकत्वादालो-
काभावपदवदिति ।

समाधानमुपक्रमते—**अत्रोच्यत इति** । श्लोकेन प्रमाणमुपदर्शयति—**तमालेति** । तमालवच्छ्याम-
लमिति ज्ञानं तमालश्यामलज्ञानं तस्मिन्निर्वाधे स्फुटे जाग्रति स्फुरति सति अकस्मान्निष्कारणं द्रव्यान्तरं तम
विशेषणैरुदयदय कस्मादपलप्यते । अयुक्तो ह्यकस्मादपलापोऽतिप्रसङ्गादिति योजना । अत्र जाग्रतीत्यनुत्प-

— १ उदयदयमिति उदयन् उद्यन् अयः शुभावहो विविर्यस्येति व्याख्येयम्.

कस्मादपलप्यते ॥ ५ ॥' अस्ति हि तमस्तमालमालाश्यामलमिति प्रतीतिः । नचाप्रतीत्या-
वेवायं प्रतीतिभ्रमस्तद्व्यवहारस्य तत्प्रतीतिमन्तरेणानुपपत्तेः । नचायमौपचारिक आलो-
काभावे, शौक्याभावे पटादौ नीलव्यवहार इवेति युक्तम्, मुख्ये बाधकाभावात् । रूपत्वे
रूपवत्त्वे वा आलोकानपेक्षचक्षुर्जन्यज्ञानविषयत्वासंभवो बाधक इति चेन्मैवम् । आलो-
कविरोधिनस्तमसश्चालोकाभावव्यञ्जनीयतया तन्निरपेक्षचक्षुर्विषयत्वोपपत्तेः, सामर्थ्यस्य
कार्यगम्यत्वात्, नचेद्, आलोकाभावस्यापि रूपवदभावतया घटाभाववदालोकनिरपेक्षचक्षु-
र्विषयत्वं न स्यात्, तद्विरोधितया तदनपेक्षत्वं तु प्रकृतेऽपि समानमन्यत्राभिनिवेशात् ॥

नच निमीलितनयनस्य लोचनव्यापाराभावेऽपि तमस उपलम्भादचाक्षुषत्वं, तत्रापि
पक्षमपटलान्तर्वर्तितमसश्चक्षुर्व्यापारादेवोपलब्धेः पिहितकर्णपुटस्य श्रोत्रव्यापारादेवान्तर-

तिलक्षणमप्राप्त्यर्थं परिहृतम् । स्फुट इति संगय परिहृत । निर्वाच इति विपर्ययपर्युदास । श्लोकं विवृणोति
—अस्ति हीति । अत्र प्राभाकरावलम्बिन प्राहुः—प्रतीतिरेव तावन्नोदेति । यस्तु प्रतीतिव्यवहार स तु
प्रतीत्यभाव एव प्रतीतिभ्रम । यथाहुरदृष्टौ ध्वान्तदृष्टिवदिति, तन्निराचष्टे—**नचेति** । तत्र हेतु —**तद्व्यवहा-
रस्येति** । अस्ति तावदेवंविध ससर्गव्यवहार । स च तादृशज्ञानमन्तरेणानुपपन्न । चेतनव्यवहारस्य ज्ञान-
पूर्वकत्वनियमादित्यर्थः । यथा चैतत्तत्तदोदकं दृष्ट्यातिप्रत्याख्याने प्रख्याप्यते । नचालोकादर्शनविषयज्ञानमेव
तम पश्यामीति व्यवहारहेतुस्तस्याचाक्षुषतया इदमिति व्यवहाराद्यनुपपादकत्वादिति भावः । एतेनैतदपि परा-
स्तम् । यदाह मानमनोहरस्तमसि प्रमाणाभावमुपन्यस्य, नीलं तम इति प्रतीति प्रमाणमिति चेन्न, नीलबु-
द्ध्यसिद्धे, उक्तं नाथेनापि—अप्रतीतावपि प्रतीतिभ्रमो मन्दानामिति । यत्तु तेनैवोक्तं—कथं तर्हि पदप्रयोग इति
चेत्सिताभावे उपचारादसितं नीलमिति हि लौकिकः प्रयोग इति । तदेतदनुवादपूर्वकं दृश्यति—**नचाय-
मित्यादियुक्तमित्यन्तेन** । पटादौ शौक्याभावे नीलस्य व्यवहार इवालोकाभावेयमौपचारिक इति न युक्त-
मित्यन्वयः । मुख्ये बाधकाभावादिति तत्र हेतुः । यत्त्वत्रापि तेनोक्तं मुख्ये किं बाधकमिति चेदालोकनिर-
पेक्षस्य चक्षुषो रूपप्रत्ययजनकत्वानुपपत्तेः कारणाभावे कार्यं जायत इति दुर्घटमिति । तदेतदर्थं शङ्कते—
रूपत्व इत्यादिना । परिहरति—**मैवमिति** । रूपवत्त्वेपीतरूपवद्वैलक्षण्यमस्तीत्यन्यासिद्धमित्यर्थः ।
नन्वितरत्रालोकसापेक्षस्य चक्षुषः कथं तमन्तरेण तमसि सामर्थ्यमित्यत आह—**सामर्थ्यस्येति** । एतदेव
प्रतिबन्धा समर्थयते—**नचेदित्यादिना** । यदि हि रूपवत्त्वमात्रेणालोकसापेक्षताप्राप्तिस्तदा रूपवदभावत्वा-
दालोकाभावेऽपि घटाभाववदालोकं किमिति नापेक्षते चक्षुरित्यर्थः । प्रसङ्गसाम्यमुक्त्वा परिहारं समीकरोति
—**तद्विरोधितयेति** । नचाभिव्यञ्जकतयायवस्थापेक्षणीये सत्यालोकाभावे तावतैव तम शब्दसार्थक्यात्
कृतमधिकान्धकारकल्पनयेति वाच्यम् । यतः कल्पयन्तं प्रत्ययं पर्यनुयोगः । न प्रत्यक्षं प्रमाणयन्तं प्रति, आ-
भासतोद्भावनयेति चेदुद्भाव्यता, सैव तु केनेति विवेचनीयम् । नहि न नीलं तम इति प्रत्यक्षमस्ति बाधकम्,
अनुमानमिति चेत्तस्यैव तावदध्यक्षाविविक्तविषयस्य बाधव्याधिं समाधत्स्य । तदेवमालोकनिरपेक्षचक्षुः प्रवृत्त्य-
नुपपत्तिः परिहृता ।

यत्तु चक्षुर्व्यापाराभावेऽप्युपलम्भादचाक्षुषत्वमिति तदनूयासिद्धिमाह—**नच निमीलितेति** । नच रूप-
वदन्तरग्रहप्रसङ्गः । तत्रालोकसापेक्षत्वात् । नचेन्द्रियाणामन्तः प्रवृत्तिर्न दृष्टचरी येनायमलौकिकः क्लृप्तः स्यादि-
त्याह—**पिहितेति** । तत्र शब्द इत्यादिप्रतीतिः । श्रोत्रमपि गत्वा ग्राहीति भावः । इत्थमुपलम्भकसिद्धिरुक्ता ।
अथ यदुक्तं नीलरूपमस्य न संभवति तद्व्यापकगन्धवैधुर्यादिति तदनूयासासमानयोगक्षेमता दर्शयन्बाधक-

शब्दोपलब्धिवत् । यत्तु गन्धाभावे तद्व्याप्तं नीलरूपमपि न स्यादिति, तदपि न । अनुष्ण-
शीतस्पर्शस्य पृथिव्यां गन्धादिव्याप्तस्य तदभावेऽपि मरुति प्रतीतेरेवाङ्गीकारवदिहापि
प्रतीतेरेव नीलरूपस्य गन्धाभावेऽप्यभ्युपेयत्वात् । अथ पाकजस्यैवानुष्णाशीतस्पर्शस्य
गन्धादिना व्याप्तिस्तर्हीहापि पाकजस्यैव कालिमगुणस्य गन्धादिना व्याप्तिरिति तुल्यम् ।
सद्भावग्राहिणः प्रत्यक्षस्योभयत्र समानत्वात् । नच स्पर्शाभावान्तमसौ रूपवत्त्वाभावः
रूपग्राहकप्रत्यक्षविरोधे हेतोः कालात्ययापदिष्टतया तदभावानुमानानुदयात् । अन्यथा
रूपाभावेन पवनेऽपि स्पर्शाभावानुमानस्य दुर्निवारत्वादन्यत्र रूपवतामेव स्पर्शवत्त्वनिय-
मात् । नचास्पर्शवत्त्वादेव तमःपरमाणूनां मनोवदनारम्भकत्वमनुमातुं युक्तम् । तत्र वैय-
र्थ्यस्योपाधेः सद्भावात् । नहि शरीरतया विषयतयेन्द्रियतया वा मनआरब्धद्रव्यस्य
भोगसाधनता संभावनीया । पार्थिवादिचतुर्विधशरीरानन्तर्भूतस्येन्द्रियानाश्रयस्य शरीरतया
भोगसाधनतानुपपत्तेः । नच विषयतया, रूपस्पर्शशून्यारब्धस्य तद्रहितत्वेन विषयत्वायो-
गाच्छरीरेन्द्रियव्यतिरिक्तोऽवयवी विषय इत्यङ्गीकारात् । नापीन्द्रियतया, मनस एवे-
न्द्रियत्वात्तदारब्धेन्द्रियान्तरस्वीकारवैयर्थ्यात् । नच शरीरेन्द्रियविषयानन्तर्भूतस्य कार्य-
द्रव्यस्य भोगसाधनत्वं परैरङ्गीक्रियते । आत्मादीनामपि पुनरस्पर्शवतां शरीरेन्द्रियवि-

माह—अनुष्णाशीतस्पर्शस्येत्यादिना । अत्र हि गन्धव्यावृत्त्या नीलरूपव्यावृत्तिरनुमितिसिद्धा । सा चायुक्ता,
रूपोपलब्धिरोधात् । यदिचैवमपि नानुमन्यसे तर्हि गन्धव्यावृत्त्यानुष्णाशीतस्पर्शमपि पवनाद्व्यावृत्तयेत्यर्थः ।
अथ नानुष्णाशीतस्पर्शस्य गन्धेन व्याप्तिरपि तु तद्विशेषस्य पाकजमनस्तर्हीहापि न नीलरूपमात्रस्य गन्धेन
व्याप्तिः, किंतु पाकजस्यैवेत्याह—अथ पाकजस्यैवेति । नन्वपाकजस्पर्शवदपाकजनीलरूपसिद्धावेतत्स्या-
त्तदेव तु कुत प्रमाणादित्यत आह—सद्भावग्राहिण इति । ननु तमो रूपरहितं स्पर्शरहितत्वादाका-
शवदित्यनुमानविरोधाद्रूपवत्त्वमेव नास्तीति कुतस्तद्विशेषनीलरूपवत्ता इत्यत आह—नच स्पर्शेति । एत-
दपि पवनस्पर्शप्रतिबन्धा समर्थयते—अन्यथा रूपाभावेनेति । वायु स्पर्शरहित रूपरहितत्वादाकाश-
वदित्यपि सुवचत्वात् प्रतीतेराभासतयानुमानोदयस्य सुवचत्वादित्यर्थः । अस्यैव व्याप्तिमाह—अन्यत्रेति ।
यत्तु तत्स्पर्शरहितं न तद्रव्यारम्भकं यथा मन इति व्याख्या स्पर्शरहिततयाङ्गीकृततम परमाणूनां द्रव्यारम्भ-
कताभ्युपगमव्याघात इति कंदलीकारोक्तदूषणं तदनूय निराकरोति—नचास्पर्शवत्त्वादेवेति ।
मनसि द्रव्यानारम्भकत्वे तदारब्धकार्यवैयर्थ्यमुपाधि अतो नास्पर्शवत्त्वद्रव्यानारम्भकत्वयोर्व्याप्तिरित्यर्थः ।
वैयर्थ्यमेव विवृणोति—नहीति । शरीरतया भोगसाधनताभावमाह—पार्थिवादीति । अयमर्थः—
पार्थिवायतैजसवायवीयानि चतुर्विधानि हि शरीराणि प्रमाणवन्ति । तत्र पार्थिवानि कानि यानीमान्यनुभू-
यन्ते । आप्यादीनि तु तत्तच्छाल्मगम्यानीति स्थितिः । न पुनश्चातुर्विधानवरुद्धशरीरसद्भावे प्रमाणमस्तीति तदा-
रब्धस्य न शरीरता । अत्र च मृतशरीरवदभोगसाधनतायामिन्द्रियानाश्रयत्वं हेतुः । तत्र च हेतुरनन्तर्भूतत्वं,
विषयताऽभावमाह—नच विषयतयेति । रूपस्पर्शशून्यान्त करणारब्धमपि रूपस्पर्शशून्यमतएव विषय-
त्वरहितं, द्रव्येषु रूपवत्तु स्पर्शवत्तु वा बाह्येन्द्रियप्रवृत्तेरित्यर्थः । तम पवनयोर्व्यवच्छेदाय रूपस्पर्शग्रहणम् ।
उक्तं च मानमनोहरकारेण—शरीरेन्द्रियव्यतिरिक्तोऽवयवी हि विषय इति । नच रूपस्पर्शरहितस्यावयवित्वं,
कार्यत्वे सति रूपस्पर्शवतोऽवयवित्वादिति भावः । मनआरब्धस्येन्द्रियता निषेधति—मनस एवेन्द्रियत्वा-
दिति । ननु मास्तु त्रिविधान्तर्भावः, अनन्तर्भूतस्यैव किमिति भोगसाधनत्वं न स्याद्गुणादिवदित्यत आह—
नच शरीरेति । कार्यद्रव्यस्येत्यत्र हृदयं—तत्र कालादीनां सर्वोत्पत्तिनिमित्ततया भोगसाधनतास्तीति । तत्र
बाधपरिहासय कार्यग्रहणम् । उक्तोपाधेरत्मादिष्वपि साध्यव्याप्तिमाह—आत्मादीनामिति । प्रकृतस्य तु

षयारम्भासंभवात्समानमेव द्रव्यान्तरारम्भवैयर्थ्यम् । इह पुनस्तमसो महतो रूपवतः संभवति भोगसाधनत्वमिति नारम्भवैयर्थ्यम् । किचास्मन्मते न तमस्तमोवयवैरारब्धं, तस्य मूलकारणान्मेघमण्डलान्महाविद्युदादिजन्मवज्जन्माभ्युपगमात् ।

नच मनसोऽनारम्भकत्वं, तस्यापि सावयवद्रव्यत्वेन परिणामित्वाभ्युपगमात्, आत्म-
नश्च स्पर्शरहितस्य सर्वजगदुपादानकारणत्वाभ्युपगमाच्च । चलत्वाच्चालोकवत्तमो द्रव्यान्तरं,
अन्यानुविधाननियमान्न स्वाभाविकं चलनमस्य घटरूपादिवदिति चेत् न । द्रव्यस्यापि
सुवर्णादिवद्रव्यान्तरानुविधानेऽपि स्वाभाविकचलनोपपत्तेः । तथाहि—आकरजस्य तेजसः
सुवर्णादेः पार्थिवद्रव्योपष्टम्भात्पतनादिप्रतिभासेऽपि न स्वाभाविकं चलनमुपपद्यते ।

किंचेदमनुविधानं, किमालोकावरकातपत्राद्यनुविधानं, किंवा निवर्तकप्रदीपाद्यनुविधा-
नम् । नाद्यः । निश्चलेऽयच्छलादौ तच्छायायाश्चलनोपलम्भात् । नापि द्वितीयः । वैपरीत्या-
दालोकागमने गच्छति छायेति प्रतीतेर्गमने चागच्छतीति प्रतीतेः, तद्विरोधित्वाच्च तदनु-
विधानानुपपत्तेः ।

पुनस्तमसो विषयतया भोगसाधनतयोपाधे साधनाव्यापकत्वमाह—इह पुनरिति । उपलक्षणं चैतत्स्पर्शव-
त्त्वस्यापि । सुखस्पर्शा चूतच्छाया, उष्णस्पर्शा वटच्छायेति प्रतीते । नचेदं परमाणादिवदणु, येन विषयतयापि
न भोगाय स्यादित्याह—महत इति । तत्प्रतीत्या चायमारम्भवाद समर्थित नास्माकमयं समर्थनीय ।
नह्यस्माकमनिर्वचनीयाचिन्त्यसामर्थ्याविद्यासचिवब्रह्मविवर्तवादिनामेतादृशानुपपत्त्याभासपाशुभि
परिभव
इत्याह—किंचास्मन्मत इति । भाट्टरीत्या वा पुरोक्तं, मूलकारणमखण्डमायावद्ब्रह्म । महाविद्युदादीति
व्यणुकादिपरम्पराविलम्बो निरस्त ।

पुनरपि सिंहावलोकितेन आरम्भमेव निर्वाहयति—तत्र यन्मनसोऽनारम्भकत्वं दृष्टान्तितं तदभ्युपगम्य
वैयर्थ्यमुपाधिरुक्तस्तदेव तु नास्त्यस्मत्पक्षे तस्यापि सावयवतया परिणामित्वेनारम्भकत्वादित्याह—नच मनस
इति । अन्यत्रानैकान्तिकता चाह—आत्मनश्चेति । तमो द्रव्यं रूपवत्त्वाद्धटवदित्युक्तमिदानीं क्रियावत्त्वा-
दपि द्रव्यत्वमाह—चलत्वाच्चेति । असिद्धि शङ्कते—अन्येति । घटरूपादिवदिति । घटगतगुणाना
क्रियारहिताना यथा घटगमनानुविधानेऽपि न स्वाभाविकं गमनमेवमित्यर्थः । तत्किं तम स्वाभाविकचलन-
हीनमन्यचलनानुविधायित्वाद्रूपादिवदित्यनुमिनोपि । तथाच सुवर्णेऽनैकान्तिकं तत्र ह्यनुच्छिन्नद्रवत्वस्याकर-
जतेजस सुवर्णस्य कठिनपार्थिवद्रव्येण नित्यमवष्टम्भात् तच्चलनाद्यनुविधाननियमोऽस्ति । नचैतावता स्वाभा-
विकत्वहानिश्चलनस्येति परिहरति—न । द्रव्यस्यापीति । आकरजं तेजोविशेष आकरेषु जायत इति व्यु-
त्पत्त्या । चतुर्विधं हि तेजो वैशेषिकैः परिगणितं भौमं दिव्यमुदर्यमाकरजं चेति ।

ननु न वयमनुमिसीमहे अपितर्हि प्रमाणमेव नास्ति चलनवत्त्वे, प्रतीतिस्त्वन्यानुविधानेनान्यथासिद्धेति
ब्रूम इति, तर्ह्यनुविधानमेव नास्त्यनिरूपणादित्याह—किंचेदमनुविधानमिति । न किमपीत्यर्थः ।
किं यन्निमित्तं छायाद्यात्मकं तमस्तदनुविधत्ते किंवा यन्निवर्त्य तदनुविधत्त इति विकल्पयति—किमालो-
केत्यादिना । नाद्यः । नियमाभावादित्याह—निश्चलेऽपीति । द्वितीयोऽयमुक्तः । विपरीतमानादित्याह
—नापि द्वितीय इति । आगमन इति पदच्छेदः । यदि हि तदनुविद्यत्तदा तस्मिन्गच्छति गच्छतीत्या-
गच्छत्यागच्छतीति प्रतीति स्यान्नतु तदस्तीत्यर्थः । तद्विरोधित्वाच्चेति । यस्य हि यदुदयसमसमयमेव
विनाशस्तस्य कथं तदुदयानन्तर स्थितिस्तत्क्रियानुकरणं वा, अस्थितस्याननुकरणादिति भावः ।

किंच 'चक्षुःप्रकाशनाजन्यरूपवद्वीक्षणक्षमम् । रूपिग्राहीन्द्रियत्वेन यथैव स्पर्शनेन्द्रियम् ॥ ६॥' चक्षुरालोकाजन्यरूपिद्रव्यसाक्षात्कारजनकं रूपिद्रव्यग्राहकेन्द्रियत्वात्त्वगिन्द्रियवत् । नच रूपरहितेन्द्रियत्वमुपाधिः । यद्रूपवदिन्द्रियं तदालोकाजन्यरूपिसाक्षात्कारजनकं न भवति घ्राणवदिति व्यतिरेकव्याप्तौ रूपवदग्राहकत्वस्यैवोपाधित्वात् । तत्सिद्धमेतत्तमो द्रव्यान्तरमिति । इत्थमालोकवदेव भावरूपाज्ञानतमोविरोधिन आसन्नो जगद्वभासकस्य ज्योतिःशब्दवाच्यत्वार्त् । तस्य त्वसङ्गस्य दृश्यसङ्गानिरूपणात् दृश्यप्रपञ्चस्य स्वतः परत-
श्चासिद्धेर्दृग्गासन्यध्यस्ततयैव सिद्धिरिति सिद्धं मिथ्यात्वम् ।

किं पुनरिदं मिथ्यात्वं प्रमाणगम्यत्वं वा १, अप्रमाणज्ञानगम्यत्वं वा २, अयथार्थज्ञानग-

तदनेन भावत्वविभावेनोत्पत्तिसमर्थनेन गुणवत्तया द्रव्यत्वदीपनेनच गतेरनागन्तुकत्वरूपेण चोपलम्भ-
कोन्मीलनेन च गुणवत्त्वाद्यनुगुणप्रमाणगवेषणपरिश्रमपरिदूय[मान]मानसोदयनदैर्घ्यमायपनोदितं मन्तव्यम् । पूर्वमालोकाभावप्रतिबन्धा रूपवत्यपि तमस्यालोकनिरपेक्षचक्षुषः प्रवृत्तिरस्तीत्युक्तमिदानीं तत्रैवानुमानमग्राह—
किंच चक्षुरित्यादिना श्लोकेन । प्रकाशनमालोकस्तेनाजन्यं यद्रूपवद्वीक्षणं रूपिद्रव्यसाक्षात्कारस्तत्क्षमं तत्समर्थमिति प्रतिज्ञा । तत्र हेतुमाह—**रूपीति ।** रूपवद्व्यग्राहकत्वात् यथा त्वगिन्द्रियमित्यर्थः । सगृही-
तमनुमानं विवृणोति—**चक्षुरित्यादिना ।** आलोकाजन्यसाक्षात्कारक्षममित्युक्ते आलोकाभावतयागर्थान्तर-
रता, तदर्थं द्रव्यग्रहणम् । आलोकाजन्यद्रव्यसाक्षात्कारक्षममित्युक्तेऽर्थान्तरता । भट्टनये कालादीनामपि तथा-
त्वात् । यथाह मानमनोहर —विवक्षितासाधनं चेति, तदर्थं रूपिग्रहणम् । घटादिप्रतीतिजनकत्वेन सिद्धसाधन-
तानिवृत्त्यर्थमालोकाजन्येत्युक्तम् । अनुमानादेर्व्यावृत्त्यर्थं हेताविन्द्रियग्रहणम् । इन्द्रियत्वादित्युक्ते प्राणानैका-
न्तिकता तस्य द्रव्यग्राहकत्वाभावात् । तदर्थं द्रव्यग्राहकेन्द्रियत्वादित्युक्तम् । तावत्युक्ते प्रतिवादिनो मनस्यने-
कान्तिकता तस्यात्मद्रव्यग्राहकत्वेऽपि रूपिद्रव्ये स्वातन्त्र्येण ग्राहकत्वाभावात्, तदर्थं रूपीत्युक्तम् । साध्यहे-
त्वोर्द्रव्यपदं स्पष्टार्थमित्येके । एवं च सति मानमनोहरसंभ्रमोऽप्यनवसरनिरस्तः । त्वगिन्द्रियस्योक्तसाध्यवत्ताया
रूपरहितेन्द्रियत्वं नोपाधिस्तस्य व्यतिरेकव्याप्त्यभावेन साध्याव्यापकत्वादित्याह—**यद्रूपवदित्यादिना ।**
व्यतिरेकासिद्धेर्वाहदृष्टौ चेन्द्रियसन्निकर्षं चोक्तकादिदृष्टौ च साध्याव्याप्तिनिवृत्त्यै मनुष्येन्द्रियत्वविशेषितोक्त-
साध्यस्योपाधेर्विधानमपि निरस्तं मन्तव्यम् । एवंच सति यदनुमानं तम पदमित्यादि तदुक्तप्रमाणबलाद्वाप-
रूपत्वे निर्णीते कालातीतं, विपक्षे बाधकाभावात् शङ्कितोपाधिता च । नचालोकनिरपेक्षचक्षुर्ग्राह्यत्वहानिस्तस्या-
लोकविरोधितया तदभावव्यङ्ग्यत्वेनाप्युपपत्तेः, तम पदस्य नानार्थवाचकत्वसिद्धावयस्य चरितार्थत्वेन तमसो-
ऽभावत्वासिद्धेश्च, आलोकसंसर्गाभावस्तम पदवाच्यो न भवति अभावत्वाद्ग्राह्यभाववदित्यादिना सत्प्रतिपक्षं चाभाव-
प्रमाणगम्याभाववादिन साधनवैकल्यं च दृष्टान्तस्येत्यादिदोषाहुपेक्ष्यम् । मनस्त्वं स्पर्शवदवृत्तिविगवद्वृत्तिजात्यन्य-
न्मेयत्वाद्भवदिति तमसो द्रव्यान्तरत्वसिद्धिरित्येके । 'साक्षिवेद्यं स्वराद्धान्ते ध्वान्तं तच्चाक्षुषं पुरुषः । आचा-
र्योऽसाधयद्युक्तिवैभवं स्वं विभावयन् ॥' वादार्थमुपसंहृत्य प्रयोजनमाह—**इत्थमित्यादिना ।** अभावविलक्षणा-
विद्यासिद्धिः फलमित्यर्थः । **ज्योतिःशब्दवाच्यत्वाद् ।** युज्यते श्रुति 'अत्रायं पुरुष' इत्यादिकेति शेषः ।
वक्ष्यमाणवादार्थं प्रस्तावयति—**दृश्यप्रपञ्चस्येत्यादिना ।** 'कार्यं वाचारम्भणं भेदलीढं सत्यं तत्त्वं
त्वेकमेवाद्वितीयम् । इत्यद्वैते श्रौत एवाह युक्तीर्युक्त्याभासोद्भूतविभ्रान्तिभित्त्यै' ।

दृगात्मन्यध्यस्ततया दृश्यप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वमित्युक्तं तदिदमसहमान प्रपञ्चसत्यत्ववादी मिथ्यात्वलक्षणमा-
क्षिपति—**किं पुनरिति ।** आक्षेपमेव सभवत्सर्वप्रकारनिरसनेन निर्वाहयितुं सभवत्प्रकारान्विकल्पयति—
प्रमाणेत्यादिना । प्रमाणविषयत्वाभावादप्रमाणविषयत्वमन्यदेव, अप्रमाणमपि द्वेधा यथार्थमयथार्थं च, यथा-

१ ज्योतिःशब्दवाच्यत्वादित्यत्र ज्योतिःशब्दवाच्यत्वमिति पाठे शेषपूर्तिच्छेदो न स्यात्.

म्यत्वं वा ३, सद्विलक्षणत्वं वा ४, सदसद्विलक्षणत्वं वा ५, अविद्यातत्कार्ययोरन्यतरत्वं वा ६, ज्ञाननिवर्त्यत्वं वा ७, प्रतिपन्नोपाधौ निषेधप्रतियोगित्वं वा ८, बाध्यत्वं वा ९, स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणतया प्रतीयमानत्वं वा १० । नाद्यः । ब्रह्मणोऽपि मिथ्यात्वप्रसङ्गात्, तस्य स्वप्रकाशत्वेन त्वया सर्वप्रमाणगोचरतानङ्गीकारात् । नापि द्वितीयः । सद्वादिभिरपि तस्याङ्गीकृतत्वेनार्थान्तरत्वात्, तस्यतस्य शुक्तिशकलादेस्तेन तेन रजताद्याकारेण प्रतीयमानतयाऽप्रमाणज्ञानविषयत्वात्, सर्वस्य प्रपञ्चस्य क्षणिकमिदं ब्रह्मकार्यमिदमनिर्वचनीयमिदमिति च मिथ्याज्ञानगोचरतायाः परैरभ्युपगमात् स्मृतेरप्रमाणतया तद्विषयस्य तथात्वाङ्गीकाराच्च । न तृतीयः । उक्तदोषानुषक्तेरेव । न चतुर्थः । सद्विलक्षणस्यापि शशविषाणादेरमिथ्यात्वात् । न पञ्चमः । एकतरनिषेधस्यान्यतरविधिनान्तरीयकतया तदसंभवात् । न षष्ठः । अनिर्वचनीयाविद्याया अप्रसिद्धत्वात् । अग्रहणमिथ्याज्ञानलक्षणाविद्यायास्तत्कार्यस्य प्रवृत्तिसंस्कारादेः सत्यत्वात् । न सप्तमः । ज्ञाननिवर्त्यस्यापि ज्ञानसुखादेः सत्त्वान्, सर्वस्य सत्यत्वेऽपि परैरीश्वरज्ञाननिवर्त्यत्वाङ्गीकारात् । नाष्टमः । प्रमाणेन यदुपाधौ यः प्रतिपन्नस्तत्र तस्य निषेधासंभवाद्, अन्यथातिप्रसङ्गात् । भ्रान्तिप्रतिपन्नोपाधौ निषेधप्रतियोगित्वस्य सत्त्वेऽपि संभवेनार्थान्तरत्वाद्, अन्यथाख्यातिवादिभिरपि क्वचिन्निषिद्धस्यान्यत्र सत्ता-

स्मृतिर्विपर्ययश्च, तेन प्रथमद्वितीयतृतीयकल्पसकरकलङ्काभावः । अविद्यातत्कार्ययोरिति । अव्याप्तिनिवृत्त्यै अन्यतरग्रहणम् । बाधकज्ञानविषयशुक्त्यादेस्तन्निवर्त्यपूर्वज्ञानादेश्च प्रतिपन्नोपाधौ बाधाभावान्न सप्तमाष्टमनवमसकर । प्रतिपन्नोपाधि प्रतीयमानमधिष्ठानम् । स्वात्यन्तेति । पूर्वं स्वाधिष्ठाननिष्ठाभावमात्रप्रतियोगित्वं विवक्षितम्, इह तु स्वात्यन्ताभावस्य स्वस्य चैकत्र वर्तमानतया प्रतीतिरिति नाष्टमदशमसकर शङ्कनीयः । गोचरता चात्र वेद्यता न पुनर्विषयत्वमेव । तद्विवक्षाया च नैयायिकादेरसिद्धिः, सर्वस्यापि यथाकर्तृचनप्रमाणविषयत्वात् । सद्वादिभिरपीति । ये हि प्रपञ्चसत्यत्ववादिनस्तैरपि सत्यस्यैव शुक्तिकादेरधिष्ठानतयाऽप्रमाणज्ञानगम्यत्वस्वीकारात्सत्यत्वेऽप्युपपद्यमानमर्थान्तरमेवेत्यर्थः । तदेव विवृणोति—तस्यतस्येति । अत्यल्पं चेदं शुक्तिकादावङ्गीकृतमिति सर्वस्यैव प्रपञ्चस्यैवंविधत्वमेवाङ्गीकृतमिति स्फुटतरमर्थान्तरमित्यर्थः । अर्थान्तरोदाहरणान्तरमाह—स्मृतेरिति । उक्तदोषेति । तत्तदारोपाधिष्ठानतया सर्वस्यायथार्थज्ञानगम्यत्वाङ्गीकारादित्यर्थः । सद्विलक्षणस्येति । नच शशविषाणस्यापि मिथ्यात्वादन्यतिव्याप्तिरिति वचनीयम् । मिथ्याभूतप्रपञ्चस्यापरोक्षज्ञानयोग्यत्वमर्थक्रियासामर्थ्यं च स्वीकुर्वद्भिः शशविषाणवैषम्येष्टेरमिथ्यात्वं स्वीकृतमेव शशविषाणस्य । नचैवं सत्यद्वैतविरोधः, सदद्वैताभ्युपगमादप्युपपत्तेरतोऽतिव्याप्तिरनतिलङ्घनीयेति भावः । एकतरेति । सत्त्वनिषेधेऽसत्त्वं नान्तरीयकमसत्त्वनिषेधे च सत्त्वं नान्तरीयकम् । परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिरिति न्यायात् । अतोऽसंभवीदं लक्षणमित्यर्थः । न षष्ठ इति । अविद्यातत्कार्ययोरित्यत्र केयमविद्या विवक्षिता, किमनिर्वचनीयदण्डायमानाऽविद्या किवाऽग्रहणमिथ्याज्ञानात्मिका । प्रथमेऽसिद्धिलक्षणस्येत्याह—अनिर्वचनीयेति । उत्तरस्मिन्नर्थान्तरतेत्याह—अग्रहणेति । ज्ञाननिवर्त्यस्येति । आत्मविशेषगुणानामपर्यायमुत्पत्तिमनिच्छतामुत्तरेणोत्तरेण पूर्वंपूर्वनिवृत्तिस्वीकारेष्टेरर्थान्तरत्वमित्यर्थः । न केवलं सुखादेरेव । सर्वस्यैव संहरणीयस्य प्रपञ्चस्येश्वरज्ञानेन निमित्तभूतेन निवृत्तिस्वीकाराद्भवतितरामर्थान्तरत्वमित्याह—सर्वस्येति । परिणामवाद्यभिप्रायेण वा । नाष्टम इति । प्रतिपन्नोपाधावित्यत्र प्रतिपत्तिशब्दस्य कोऽर्थः किं प्रमाणज्ञानमुत भ्रान्तिज्ञानमाहो साधारणम् । आद्यं प्रत्याह—प्रमाणेनेति । द्वितीयं प्रत्याह—भ्रान्तीति । न केवलं संभवः, स्वीकृतं चान्यथाख्याति[वादि]भिरित्याह—अन्यथाख्यातीति । एतेन साधारणपक्षोऽपि निरस्तः । किमिदं बाध्यत्वम-

स्वीकारात् । न नवमः । बाधकज्ञानविषयत्वं तन्निवर्त्यत्वं वा बाध्यत्वमित्यभ्युपगमेऽप्य-
र्थान्तरतायास्तादवस्थ्यात्, शुक्त्यादेरपि बाधकज्ञानविषयत्वाङ्गीकारात्, बाधकज्ञानेन पूर्व-
ज्ञाननिवृत्त्यभ्युपगमाच्च । न दशमः । संयोगविभागशब्दात्प्रविशेषगुणानां प्रदेशवृत्तीनां
स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणतया प्रतीयमानानामपि परैः सत्यत्वाङ्गीकारादर्थान्तरताया
दुरतिक्रमत्वात् ।

तदेवं न प्रपञ्चमिथ्यात्वनिरुक्तिर्नापि तत्र प्रमाणम् । तथाहि न तावत्प्रत्यक्षं तत्र
क्रमते । उक्तप्रकाराणामन्यतमस्यापि मिथ्यात्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वे तत्र वादिनां विवादाभाव-
प्रसङ्गात् । नच विवादपदं मिथ्या, दृश्यत्वाच्छुक्तिरूप्यवदित्यनुमानम् । प्रमाणागम्यत्वस्य
सदसद्वैलक्षण्यस्याविद्यातत्कार्ययोरन्यतरत्वस्य वा साधनेऽप्रसिद्धविशेषणत्वादयथार्थज्ञान-
गम्यत्वस्य शुरुमतेऽप्रसिद्धत्वात् इतरेषु च सिद्धसाधनत्वात् । किंच दृश्यत्वं नाम फल-
व्याप्यत्वं वा वृत्तिव्याप्यत्वं वा साधारणं वा । नाद्यः । अतीन्द्रियेषु तदभावेन भागा-

भिमत्तं, किं बाधकज्ञानविषयत्वमुत तन्निवर्त्यत्वमुभयथाप्यर्थान्तरतेत्यभिप्रेत्याह—न नवम इति । प्रथमो-
दाहरणमाह—शुक्त्यादेरपीति । द्वितीयमाह—बाधकज्ञानेनेति । संयोगविभागेति । अयमर्थः—
संयोगविभागयोरव्याप्यवृत्तिता स्वीकुर्वद्भिस्तदत्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वमङ्गीक्रियते नच तत्रापि घटावय-
वानादाय संयोगविभागयोर्भिन्नाधिकरणता शक्योपपादना । तथा सति तदवयवसंयोगस्यापि तदवयववृत्तिता-
परम्परया परमाणावेव परिनिष्ठेति नाध्यक्षपथमवतरेदयं संयोगयोगीति तदनिच्छताप्यच्छमतिना यत्रैव
संयोगस्तत्रैव तदत्यन्ताभावोऽप्यभ्युपेयः । नच प्रमाणविनिवेशितयोर्विरोधश्चावकाशोऽतिप्रसङ्गात्, शब्दस्य
चाकाशे वर्तमानस्य प्रदेशभेदमादायाप्येकस्मिन्नेव नभसि भावाभावौ समानाधिकृतौ स्वीकृतौ, एवं सर्वगता-
त्मवादिनामात्मविशेषगुणानां, तत्रायतिपीडने साक्षादेवैकाधिकरण्यं, प्रदेशवृत्तीनामिति तु तदनुमतिमनुन्धा-
नेनोक्तम् । अत्र ब्रह्मण्यनतिव्याप्त्यै द्वितीयस्योत्थानम्, अर्थान्तरतानिवृत्त्यै तृतीयचतुर्थयोरसत्यतिव्याप्तिनिवृत्त्यै
पञ्चम, असंभवनिवृत्त्यै षष्ठ, असंभवातिव्याप्तिनिवृत्त्यै सप्तम, अष्टमोऽप्यर्थान्तरनिवृत्त्यर्थमेव, असंभ-
वार्थान्तरयोर्निवृत्त्यै नवम, दशमोऽप्यर्थान्तरनिवृत्त्यर्थमेवेति ॥

नापि तत्र प्रमाणमिति । यद्यपि लक्षणमपि प्रमाणविशेष एव तथापि न तत्स्वरूपसिद्धिपरम्, अपि त्वि-
तरव्यावृत्ति व्यवहार चोपहरति । प्रमाणं तु लक्षितमेव स्वरूपं साधयतीति सर्वत्रानयो पृथगाक्षेपसमर्थने
द्रष्टव्ये । प्रत्यक्षं न प्रमाणमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—उक्तप्रकाराणामिति । अयमर्थः—भवदुक्तप्रकाराणा-
मन्यतमं मिथ्यात्वं तस्य तु न कस्यचिदप्यत्र प्रत्यक्षसिद्धिः । यदि हि प्रत्यक्षतः सिद्धेन कोऽपि विप्रतिपद्येत ।
नहि प्रत्यक्षसिद्धे घटादौ विवदन्ते, विवदन्ते चाद्यापि वादिनो मिथ्यात्व इत्यर्थः । ननु माभूत्प्रत्यक्षम्, अनुमानं
भवत्वित्यत आह—नच विवादपदमिति । दशधा हि मिथ्यात्वसंभवः । तत्र प्रमाणागम्यत्वादिरूपसाधने-
ऽप्रसिद्धविशेषणता अविवेक्यनिर्वचनीया विवक्षिता । इतरयोस्तस्या असप्रतिपन्नत्वात् । नन्वयथार्थज्ञानगम्य-
त्वात्मकं साध्यं, तथाच नाप्रसिद्धविशेषणताऽत आह—अयथार्थेति । यद्यप्यस्माकमिदं प्रसिद्धं तथाप्यख्या-
तिवादिनामप्रसिद्धविशेषणता, सोऽपि हि तावदेवं मिथ्यात्वे विप्रतिपन्न इत्यर्थः । भवतु तं प्रति, त्वा प्रति तु
को दोष इत्यत आह—इतरेषु चेति । पक्षत्रयातिरिक्तेष्वित्यर्थः । तथाचैतत्तत्ता तत्तल्लक्षणदूषणस-
मयेऽर्थान्तरं दर्शयतोऽपवादितम् । उपलक्षणं चैतत् । तेन यथासंभवं सदैवलक्षण्यादिप्रयुक्तदूषणमूहनीयम् । तदेवं
साध्यानिरूपणमुक्त्वा हेतोरप्यनिरुक्तिमाह—किंचेति । अतीन्द्रियेष्विति । कृतोपपादनमिदं स्वप्रकाशलक्ष-

सिद्धत्वात् । न द्वितीयः । ब्रह्मणोऽपि वेदान्तिभिर्वृत्तिव्याप्यत्वाभ्युपगमादनैकान्तिकत्वात् । न तृतीयः । ब्रह्मण्यनैकान्तिकत्वादेव । एतेन जडत्वाद्यन्तवत्त्वपरिच्छिन्नत्वादयो हेतवो निरस्ताः । तत्रापि साध्यानिरुक्तेः ।

अथायं पट एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी दृश्यत्वाद्वदिति चेन्न । तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावे दृश्यत्वहेतौ चानैकान्तिकत्वात्, तयोर्दृश्यत्वेऽपि तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वात् । प्रतियोगित्वे वा तन्निष्ठात्यन्ताभावाभावात्पटस्य तत्प्रतियोगित्वलक्षणसाध्यासिद्धिस्तन्तूनामदृश्यता च स्यात् । किञ्च प्रपञ्चस्य प्रामाणिकत्वे मिथ्यात्वानुमानानां धर्मिग्राहकप्रमाणेन बाधः । अप्रामाणिकत्वे चाश्रयासिद्धिः । प्रतीतिमात्रसिद्धस्याश्रयत्वे च दूषणभूषणादेरपि प्रतीतिमात्रसिद्धस्य सर्वत्र संभवात्सर्ववादविधिनिषेधप्रसङ्गः । एवं साध्यहेतुदृष्टान्तानामपि प्रामाणिकत्वे दृश्यत्वहेतोस्तत्रानैकान्तिकता अप्रामाणिकत्वे वा साध्यसाधनाद्यभावादनुमानासिद्धिः ।

णसमये अदृष्टादेरवेद्यतामावेदयद्भिरस्माभिस्तेन भागासिद्धो हेतुः । शुक्तिरूपादिव्यतिरिक्तमखिलं जडं पक्षः । अतोऽतीतादेरपि पक्षतया तत्रावृत्तेरित्यर्थः । नन्वविवक्षितविशेषे तृतीये पक्षे का क्षतिरित्यत आह—**न तृतीय इति । ब्रह्मणीति ।** अविवक्षितविशेषसाधारणस्य यं कंचन विशेषमादायापि पर्यवसानादित्यर्थः । ननु विवादपदं मिथ्या जडत्वादाद्यन्तवत्त्वात्परिच्छिन्नत्वाद्वा शुक्तिरूप्यवदिति प्रयोगो मिथ्यात्वे प्रमाणमित्यत आह—**एतेनेति ।** अतिदिश्यमानमेव विशदयति—**तत्रापीति ।**

अनुमानान्तर शङ्कते—**अयं पट इति ।** एतत्तन्तव एतत्पटसमवायिकारणतन्तवस्तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगीति योजना । अभावप्रतियोगीत्युक्ते कार्यकारणभेदादिना तार्किकाणामेतत्तन्तुध्वेतत्पटान्योन्याभावप्रागभावप्रध्वंसाभावस्वीकारेणान्तरता, तदर्थमत्यन्ताभावप्रतियोगीत्युक्तं, तावत्युक्ते यत्किञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेन सिद्धसाधनता स्यात्तत्परिहारार्थं तन्तुनिष्ठेत्युक्तम् । एतत्पटस्यैतत्पटाजनकत्वेनाभिमततन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेन पुनरपि सिद्धसाधनता स्यात्तत्परिहारार्थमेतदिति तन्तुविशेषणम् । एतत्तन्तुशब्देन च वादिनो जनकत्वेनाभिमततन्तव उच्यन्ते । पटान्तरापेक्षया सिद्धसाधनतापरिहारायामिति पटविशेषणम् । घटस्यैतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावः प्रसिद्ध इति साध्यप्रसिद्धिस्तदेतद्दूषयति—**नेति ।** एवं ह्यनुमिन्वता यद्यदृश्यं तत्तदेतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगीति व्याप्तिरेष्टव्या । नचेयमस्ति । एतत्तन्तुषु योयमस्य पटस्यात्यन्ताभावः साध्यते न तस्यैतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमस्ति । तत्स्वीकारे च तत्साध्यस्यैवाभावादनुमानं व्याहतं स्यादथच तत्र दृश्यत्वमस्तीत्यनैकान्तं । इदं च वादिनं प्रत्येव, तादृग्विधविपक्षस्य सत्यत्ववादिनोऽसिद्धेस्तथा दृश्यत्वहेतावप्युक्तसाध्यं नास्त्येतत्तन्तुषु दृश्यत्वस्यात्यन्ताभावप्रतियोगित्वे तन्तूनामदृश्यतया साध्यासिद्धिर्प्रसङ्गादथ च दृश्यत्वमस्तीत्यनैकान्तं । इदं तूभयानुमतं तदेतदाह—**तन्निष्ठेत्यादिना अदृश्यता च स्यादित्यन्तेन ।** मिथ्यात्वसाधकानुमानजातस्य च साधारणदूषणमाह—**किंचेत्यादिना । बाध इति ।** प्रमाणगम्यत्वस्यैव सत्त्वादिति भावः । ननु न वयं प्रमितमप्रमितं वाश्रयमाश्रयामहे नापि शशविषाणायमानम्, अपि तु प्रतीतिमात्रसिद्धं, प्रतीतिमात्रसिद्धस्याश्रयतोपपत्तौ तदतिरिक्तप्रमितत्वस्याप्याश्रयकोटिनिवेशने न किञ्चन मानं पश्याम इत्यत आह—**प्रतीतिमात्रेति ।** अयमर्थः—न प्रतीतिमात्रसिद्धस्य साधनदूषणते । तथा सति सर्वदर्शनानामपि साधनबाधनप्रसङ्गात्तत्त्वोपलब्धप्रसङ्गात्, क्व नाम तादृशानि साधनानि दूषणानि वा न सन्ति यानि प्रतीतिपथमपि नावतरेषु शब्देनापि तत्प्रतीतिना शक्यजबनत्वादिति । आश्रयोक्तं विकल्पं साध्यादिष्वतिदिशति—**एवमिति ।** तथाहि तेषां प्रामाणिकत्वे सत्यत्वेन विपक्षतया तत्र

° नाप्यागमः प्रपञ्चमिथ्यात्वे मानम् । तथाहि न तावत् 'एकमेवाद्वितीयं' 'सत्यं ज्ञान-
मनन्तं ब्रह्मे'त्यत्र ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वानन्तत्वप्रतिपादनात् द्वितीयवस्तुनोऽभावः प्रतीयत
इति युक्तं वक्तुम् । अद्वितीयशब्दस्य तत्सजातीयवस्त्वन्तरनिषेधपरत्वाद्स्मिन्प्राप्तेऽयमेक
एवाद्वितीयः पुरुष इतिवत् । अनन्तपदस्य च प्रागुत्तरकालीनान्ताभावपरत्वात्तत्रैव तस्य
व्युत्पत्तेरन्योन्याभावाधिकरणत्वानधिकरणत्वस्याप्रसिद्धत्वेन तत्र व्युत्पत्त्ययोगात् 'नेह-
नानास्ति किंचने'त्यादेश्रागमस्य कारणे ब्रह्मणि नानात्वनिषेधपरत्वात् 'इन्द्रो मायाभि'रित्या-
देश्च तत्तदिन्द्रियद्वारकबुद्धिवृत्त्युपाधिभिर्मायाशब्दाभिधेयैः स्वशक्तिविशेषैर्वा भेदेन पर-
मेश्वरप्रतिपत्तिविधिपरत्वेन प्रपञ्चनिषेधे तात्पर्याभावात् ।

‘मृत्योः स मृत्युमाप्नोती’त्येवंविधायाश्च श्रुतेर्भेददर्शननिन्दयाऽभेदप्रतिपत्तिविधिपरत्वेन

वर्तमानो हेतुरनैकान्तिक स्यादप्रामाणिकत्वे च यथायथमप्रसिद्धविशेषणतास्वरूपासिद्ध्याश्रयहीनता प्रसज्ये-
रन्निति भावः ।

ननु माभूदनुमानान्मिथ्यात्वम्, आगमादागमिष्यतीत्यत आह—नाप्यागम इति । तत्र वक्तव्यं किं 'एक-
मेवाद्वितीयं'मित्यद्वितीयशब्दाद्ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य मिथ्यात्वसिद्धिरिति मन्यसे किंवा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं'मित्यनन्त-
श्रुत्या किंवा 'नेह नानास्ती'ति ब्रह्मणि नानात्वनिषेधात् आहोस्वित् 'इन्द्रो मायाभि पुरुष ईयत' इति माया-
भिर्बहुभवनविधानात् उत 'मृत्योः स मृत्यु'मिति द्वैतदर्शननिन्दया । तत्र नाद्यद्वितीयावित्याह—न ताव-
दित्यादिना । न युक्तं वक्तुमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—अद्वितीयशब्दस्येति । यथा खल्वस्मिन्प्राप्ते अय-
मेक एवाद्वितीय पुरुष इत्यत्र शौर्यौदार्यातिशयादिना सजातीय पुरुष प्रतिपिष्यते ननु तद्व्यतिरिक्तं समस्तं
वस्तु तत्कस्य हेतोस्तस्य तस्य वस्तुनस्तत्प्रमाणोपनीततयाऽशक्यनिषेधत्वात्, तद्वदिहापि समस्तं मानोपनीतं-
वस्तु निषेद्धमशक्नुवानाऽद्वैतश्रुतिस्तत्सजातीयं ब्रह्मान्तर निषेधतीत्यर्थः । भवत्वद्वितीयश्रुतेरियं गतिः, अन-
न्तशब्दस्य को निवारक इत्यत आह—अनन्तपदस्य चेत्यादि । वस्तुपरिच्छेदाभावस्य परस्परभावाधि-
करणत्वात्तद्विरुद्धरूपस्य लोकेऽप्रसिद्धतया तत्रागृहीतसंगतिक्त्वात्कालपरिच्छेदाभावमाकाशादौ प्रसिद्धमभिधत्त
इति भावः । प्रागुत्तरकालीनान्तौ प्रागभावप्रध्वंसौ अनेकान्योन्याभावपक्ष एकानधिकरणस्यापि तत्सिद्धेर्नाद्वै-
तसिद्धिरिति तदधिकरणत्वानधिकरणेत्युक्तं, तृतीयं पक्षं निषेधति—नेह नानास्तीति । इदं हि वाक्यमिह
पदावष्टेष्टे प्रस्तुते कारणे ब्रह्मणि नानात्वं निषेधति । तथाच न नाना ब्रह्म किं त्वेकमिति स्यात् । ब्रह्मव्यति-
रिक्तस्य तु किमायातमित्यर्थः । चतुर्थं निषेधति—इन्द्रो मायाभिरिति । अत्र हि मायाशब्देन बुद्धिवृ-
त्तयोऽभिधीयन्ते 'चेतश्चित्तं क्रतुर्माये'ति चित्ताभिधायकतावगमान्मायाशब्दस्य । तत्रच चित्तस्यैकत्वात्कथं
मायाभिरिति बहुवचनोपपत्तिरित्यत उक्तं—तत्तदिन्द्रियेति । खत एकस्यैव सतश्चित्तस्यानेकेन्द्रियोपाधिक-
वृत्तिभेदादिदं बहुवचनम् । अतस्त्वेकपाधिभिः परमेश्वरो बहुधोपास्यत इत्यर्थः । अथवा या परमेश्वरस्येच्छा-
ज्ञानक्रियाशक्तयो मायाशब्दाभिधेयास्तासामपि श्रुत्यादिषु मायाशब्दाभिधानदर्शनात्ताभिश्च परमेश्वर प्रत्यु-
पासक बहुरूप आविर्भवति । अवतारभेदैर्वा बहुधा व्यवहियते इत्यर्थः ।

ननु 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति' संसारात्संसारं प्रतिपद्यत इति भेददर्शनात्संसारविमोक्तकथनादतत्त्वज्ञान-
त्वमवगम्यते अतएव तद्विषयस्य भेदस्यातत्त्वतेति भेदस्य मिथ्यात्वमियमेव श्रुतिर्गमयतीति पञ्चमं पक्षं निर-
स्यति—मृत्योरिति । नास्या श्रुतेरत्र तात्पर्यमपुरुषार्थत्वात् अपित्वभेदध्यानविधौ, तत्स्तुत्यर्थं च भेद-
दर्शननिन्दा । यथोदिते जुहोतीति विहितोदितहोमस्तुतयेऽनुदितहोमनिन्दा 'प्रातः प्रातरनुतं ते वदन्ती'ति ।
अनुदितहोमस्य विहितस्य स्तुत्यर्थमुदितहोमस्य निन्दा 'यथाऽतिथये प्रदुताये'ति ततोऽन्यपरादस्मात्प्रत्यक्ष-
विरुद्धोऽयमर्थो न लभ्यत इत्यर्थः । ननु प्रत्यक्षागमयोरुभयोः प्रमाणत्वाविशेषे केन वेषम्येणेदमवधार्यते

प्रपञ्चनिषेधे तात्पर्याभावात् । आगमस्य च [स्व]रूपावगतौ पदपदार्थविभागप्रतिपत्तौ न प्रत्यक्षादिसाकाङ्क्षत्वात्प्रत्यक्षस्य चागमानपेक्षत्वात् । ‘न हिंस्यात्सर्वा भूतानि’ ‘अग्नीषोमीयं पशुमालभेत्’ ‘ब्राह्मणो न हन्तव्यः’ ‘ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत्’ ‘अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति’ ‘उदिते जुहोति अनुदिते जुहोती’ति च परस्परं व्याकुलत्वात् प्रत्यक्षादेश्च तदभावात् आगमस्य चोपचरितार्थत्वेनापि तत्र सावकाशत्वादनवकाशत्वाच्च भेदग्राहिणः प्रत्यक्षादेः पूर्वसिद्धतया चागमेभ्यस्तस्य प्रतिष्ठितत्वात्तद्विरोधे तेषामेव बाधात् ‘मृत्तिकेत्येव सत्यं, त्रीणिरूपाणीत्येव सत्यं, प्राणा वै सत्यं, सच्च यच्चाभवदि’ति च प्रपञ्चस्य सत्यत्वप्रतिपादनात् ।

विवादास्पदीभूतः प्रपञ्चः सत्यः प्रमाणसिद्धत्वादास्यवदिति, अयं घट एतन्निष्ठबाध्य-भेदातिरिक्तभेदाश्रयः द्रव्यत्वात्पटवदित्यनुमानतोऽपि विषयदादेरात्मनां च सत्यभेदसिद्धिः ।

यत्प्रत्यक्षादिविरोधे श्रुतिरेव तदनुरोधेन व्याख्येया न विपरीतमित्यत आह—आगमस्य चेति । अथवा आगमस्वरूपपर्यालोचनया नात्र तात्पर्यमित्युक्तं इदानीं भवतु वागमस्तत्परस्तथापि प्रत्यक्षादिभिर्विरोधे बाध्यत एवेत्यभिप्रेत्यागमस्य दौर्बल्ये कारणान्याह—आगमस्य चेति । एषा हेतूनां तद्विरोधे तेषामेव बाधादित्युत्तरप्रतिज्ञायां सवन्धः । यथाहि शब्द स्वरूपग्रहणे सगतिग्रहणे वाऽबाधितं प्रत्यक्षादिकमपेक्षते न तथा प्रत्यक्षादि स्वरूपादिप्रतिपत्तौ शब्दप्रमाणमपेक्षते, तेन सापेक्षनिरपेक्षयोर्विरोधे सापेक्षागमबाध इत्यर्थः । किंच परस्परविगीततयाऽतिकलहेनैव तावदुपहता आगमा किमु वक्तव्यमविगीतानुपहतप्रत्यक्षादिविरोध इत्याह—न हिंस्यादित्यादिना । ब्रह्मणे ब्राह्मणत्वाय । आलभतिर्विशसनपरा । यस्मिन्गृह्यमाणे षोडश शस्त्राणि शस्यन्ते स ग्रहविशेष षोडशी । यथा हेतुकस्यैव हिंसाहिंसे, ग्रहस्यैकस्मिन्नेव ग्रहणाग्रहणे, होमस्य चैकस्यैकस्मिन्नेव प्रयोगेऽनुदितोदितकालसंबन्ध इति परस्परविरुद्धानधिगमयत्यागमो, न तथा प्रत्यक्षादीत्याह—प्रत्यक्षादेश्चेति । सावकाशनिरवकाशयोर्निरवकाशं बलवदिति न्यायः, सावकाशाश्चागमा इत्याह—आगमस्य चोपचरितार्थत्वेनेति । यथा ह्यागमस्य मुख्यलक्षणगुणात्मकानेकवृत्तिमत्तया अन्यतमानुपपत्तावन्यतमासादायापि प्रामाण्यनिर्वाहो, न तथा प्रत्यक्षादेश्चेत्यन्तरमस्ति शब्दधर्मत्वात्तासामित्यर्थः । संजातासंजातविरोधिनाः संजातविरोधिदुर्बलं, संजातविरोधिनश्चागमा प्रथमोपजातपदभेदावबोधकाध्यक्षादीननुवर्तमाना इत्याह—पूर्वसिद्धतयेति । किंचाभ्युपगम्य विरोधमिदं प्राबल्यमभिहितम् । वस्तुतस्तु विरोध एव नास्ति आगमेभ्य एव प्रपञ्चसत्यतावगमादित्याह—मृत्तिकेत्यादिना । त्रीणि रूपाणीति लोहितशुक्लकृष्णानीत्यर्थः । सदिति भूतत्रयं । त्यदिति वाय्वाकाशौ द्वौ । अत्रच सदिति खुरवश्रवणेनोपन्यस्तम् । भेदग्राहि प्रत्यक्षादीति येयमागमविभीषिकोक्ता, तत्र प्रत्यक्षं सार्वजनीनमिति न तत्र किंचिद्वक्तव्यमस्ति ।

अनुमानं दर्शयति—विवादेति । प्रपञ्चमात्रस्य सत्यत्वसाधने शक्तिरूप्यसंसर्गादौ बाध स्यात्, तेषामपरोक्षतया बाध्यतया च सदसद्विलक्षणतया मिथ्यात्वात्, तथा घटाद्यनुगतसत्ताशे सिद्धसाधनता, तन्निवृत्त्यर्थं विवादास्पदग्रहणम् । नचासिद्धो हेतुः, प्रत्यक्षे प्रदर्शितागमे चाविवादादिति । भिन्नवस्तुसत्यत्वेऽनुमानमुक्तं, भेदस्यापि सत्यत्वेऽनुमानमाह—अयं घट इति । अथवा व्यावहारिकतात्त्विकत्वादिविषयकपोलकल्पितविकल्पमादाय यद्ययं विवदिपुरद्वैतवादी, तर्हीयमेव नीरन्ध्रा रीतिर्भवत्वित्याह—अयं घट इति । भेदाश्रय इत्युक्ते कल्पितभेदमादाय सिद्धसाधनम्, तदर्थं बाध्यभेदातिरिक्तग्रहणं तावति वाऽप्रसिद्धविशेषणता अद्वैतवादिन सर्वभेदानां बाध्यत्वाद् उक्तं—एतन्निष्ठेति । पदार्थान्तरनिष्ठभेदस्यैतन्निष्ठबाध्यभेदातिरिक्तभेदत्वेन नाऽप्रसिद्धविशेषणता, पक्षे चैतन्निष्ठबाध्यभेदातिरिक्तत्वं भेदस्यैतन्निष्ठातिरिक्तत्वात् सभवति एतन्निष्ठत्वादेव । अतो बाध्यभेदातिरिक्तसत्यभेदसिद्धिः । अतिरिक्तत्वं चात्राभेदानधिकरणत्वं तेन नार्थान्तरता । इत्यनुमानतोपीति । एवंप्रकारानु-

नच भेदस्य सत्यत्वे दृग्दृश्ययोः संबन्धानुपपत्तिर्बाधिका तत्तत्प्रतिपत्तिहेतुभूतेन्द्रियलिङ्गादेस्तत्तद्विषयसंबन्धादेव तदुत्पन्नज्ञानानां तत्तद्विषयं प्रति नियमसिद्धावन्तरेणापि संबन्धान्तरमतिप्रसङ्गाप्रसङ्गात् । शब्दान्तराभ्याससंख्यादेश्च कर्मभेदप्रतिपादकप्रमाणस्य भेदमिथ्यात्वेऽप्रामाण्यप्रसङ्गः ।

मानत इत्यर्थः । ननु प्रतिकूलतर्कपराहतत्वात् शङ्कितोपाधिदुष्टमिदमनुमानद्वयम् । तथाहि भेदस्य भेदिनो वा दृश्यवर्गस्य सत्यत्वे तस्य तत्तज्ज्ञानस्य च क संबन्ध इति विवेचनीयम् । न तावत्सयोग, तस्य गुणत्वेन द्रव्यमात्रवृत्तित्वात् ज्ञानस्य गुणत्वात् द्रव्यत्वाभावात् । नापि समवाय, आत्मसमवेतत्वाज्ज्ञानस्य । नाप्यन्यः कश्चित्पदार्थनियमानुगुण संभवति । नाप्यभाव अभावतज्ज्ञानयो संबन्धाभावप्रसङ्गात् । किंच यत्र यत्रास्यान्तर्भावस्तस्य तस्य तज्ज्ञानेन संबन्धो न स्यात्स्ववृत्तिविरोधादिति । तदेतद्बुध्यति—**नचेति** । हेतुमाह—**तत्तदिति** । नियामको हि संबन्धः । संभवति च तत्र नियमः तत्तज्ज्ञानानां तत्तदर्थं स्वतन्त्रसंबन्धाभावेऽपि तत्तज्ज्ञानजनकेन्द्रियलिङ्गशब्दादीनां तत्तदर्थं सह संबन्धेनेत्यर्थः । एवं प्रतिकूलतर्कं परिहृत्य स्वानुमानस्य विपक्षे बाधकतर्कमाह—**शब्दान्तरेति** । अयमर्थः—शब्दान्तराभ्याससंख्यासंज्ञागुणप्रकरणान्तरैः कर्मभेदो निरूपितो द्वादशलक्षण्या द्वितीयाध्याये । तत्र यजति ददाति जुहोतीत्यादौ धातुभेदेन धात्वर्थभेदेऽपि भावना भिद्यते न वेति सदेहे धातूनां भेदेऽपि भावनावाचकलिङ्गादेः सर्वत्र प्रत्यभिज्ञयाऽभेदावगमात् धात्वर्थस्य च भावना प्रति गुणभूतत्वाद्गुणभेदेन प्रधानभेदस्यान्याय्यत्वात् अभेद एवेति पूर्वपक्षेय्य धातोरिति विवक्षितैकवचनेन सूत्रेणैकधातोरपरि प्रत्ययविधानात्सर्वत्र धात्वर्थानुरजिताया भावनाया प्रतीतेरेकानुरजितायाश्चान्यानुरजनायोगात्प्रतिधात्वर्थं भिद्यत एव भावनेति राद्धान्तितं 'शब्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबन्धत्वादित्यत्र, अयमर्थः—शब्दान्तरे धात्वन्तरे सति कर्मभेद भावनाभेदो भवितुमर्हति । कुत कृतानुबन्धत्वात् तेनैव कृतावच्छेदत्वात् भावनाया इति । सोऽयं शब्दान्तरात्कर्मभेदः । तथा 'समिधो यजति' 'तनूनपातं यजती'त्यादिषु पञ्चकृत्वो यजतिश्रुती किं प्रथमविहितस्यैव यागस्य पुन पुनरभ्यास उत पञ्चापि विधय इति सदेहे शब्दान्तरे सति कर्मभेदस्य पूर्वाधिकरणे वर्णनात् इहैकस्यैव यजते पुन पुनःश्रवणात् तस्यैवायमभ्यास आदरार्थः इति पूर्वपक्षस्याप्रवृत्तप्रवर्तकत्वाद्विधेः सर्वेषां च प्राथम्यार्हतया विध्यनुवादविनिगमाभावादानर्थक्यपरिहाराय भिन्नविधितया कर्मभेद इति सिद्धान्तितम् 'एकस्यैवं पुनःश्रुतिरविशेषादनर्थकं हि स्या'दित्यत्र अयमर्थः—एकस्य विधेः पुनःश्रवणमपि एवं कर्मभेदकं, कुत अविशेषात् विध्यनुवादविशेषाभावात् । इतरथा पुनःश्रवणं हि यस्मादनर्थकं स्यादिति । आनर्थक्ये वा हेतुरविशेषादिति । सोऽयमभ्यासात्कर्मभेदः । तथा 'सप्तदश प्राजापत्यान्पशूनालभेते'त्यत्र किं सप्तदशपशुकमेकं कर्मात् सप्तदश कर्माणि विधीयन्ते इति सशये प्राजापत्यानित्यत्र कृतैकशेषाणां पशूनां तद्वितेनैकप्राजापतिदेवताकत्वबोधनादेककर्मत्वमिति प्राप्य राद्धान्तितम्, एककर्मत्वे हि एक एवातिदेशः स्यात् ततश्चैकपशुनिष्ठमेकादशावदानमतिदेशप्राप्तमेकपशौ निष्पन्नमितीतरेषामदृष्टार्थता स्यात् सप्तदशकर्मत्वे तु प्रतिपशु एकादशावदानसिद्धिरिति दृष्टार्थताऽतः कृततद्धितदेवतासंबन्धतया देवतासंबन्धानामेकशेषतेति सप्तदशकर्माणीति । इदं भाष्यकारीयं मतम् । वार्तिककारीयं तु 'तिस्र आहुतीर्जुहोती'त्यत्रैकस्य जुहोते श्रवणादेकहोमत्वम् । त्रित्वं तु एकादशप्रयाजादिवदावृत्त्येति प्राप्ते राद्धान्तः—त्रित्वस्य तावज्जुहोतिसामानाधिकरण्यमुत्सर्गतो होमभेदकमेकातिरिक्तसंख्यायाः पृथक्त्वसामानाधिकरण्यस्वरसत्वात् । कश्चित्त्वगत्याऽपवादः । एकादशप्रयाजादौ प्रकृतौ पञ्चत्वावधारणात् । नचेह तथा बाधकमस्तीति होमभेद इति । तदुक्तं 'पृथक्त्वनिवेशात्संख्यया कर्मभेदः स्या'दिति । संख्ययापि हेतुना कर्मभेदः स्यात् । कुत कर्मपृथक्त्वनिवेशात् कर्मपृथक्त्वेनैव तस्या निवेशात् । एकातिरिक्तसंख्यायाः कर्मपृथक्त्वसामानाधिकरण्यादित्यर्थः । सोऽयं संख्यया कर्मभेदः । तथा 'अथैष ज्योतिरथैष विश्वज्योतिरेतेन सहस्रदक्षिणेन यजेते'त्यत्र ज्योतिर्विश्वज्योतिः-

१ पूर्वपक्षयित्वेति पाठः साधुरेवमन्यत्रापि बोध्यम्.

नच तस्य लोकसिद्धभेदानुवादकत्वसंभवः । तादृक्कर्मापूर्वभेदस्य लोकतोऽसिद्धेः, सिद्धत्वे च शब्दान्तराद्यधिकरणानारम्भप्रसङ्गात् । तदेवं मिथ्यात्वे लक्षणप्रमाणयोरसंभवादनुमानागमाभ्यां प्रपञ्चस्य सत्यत्वापादनान्न मिथ्यात्वमिति । अत्रोच्यते—न तावल्लक्षणासंभवः । यतः ‘सर्वेषामपि भावानामाश्रयत्वेन संमते । प्रतियोगित्वमत्यन्ताभावं प्रति मृषासता ॥७॥’ तथाहि घटादीनां भावानां स्वाश्रयत्वेनाभिमतास्तन्त्वादयो ये तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगितैव तेषां मिथ्यात्वम् । नहि तेषामन्यत्र सत्ता संभविनी । तत्रापि चेत्सा न स्यात्तदा

शब्दयोः प्रकृतज्योतिष्टोमानुवादकत्वं कर्मान्तरविधायकत्वं वेति सशये सत्येषशब्दस्य सर्वनाम्न प्रकृतावमर्शित्वात् ज्योतिरादिशब्दस्य तत्समानाधिकरणत्वात्पूर्वकर्मैवानुद्य सहस्रदक्षिणालक्षणगुणान्तर विधीयते इति प्राप्ते ज्योतिष्टोमशब्दस्य ज्योतिरादिशब्दानां च स्वरूपविलक्षणत्वात् भिन्नार्थत्वे संभवत्येकदेशलक्षणैकार्थत्वकल्पनाया अगतिकगतित्वात् सर्वेनाम्न प्रस्तोष्यमाणपरामर्शितयापि संभवात् नामान्तरं कर्मान्तरं गमयतीति साधितं ‘सज्ञा चोत्पत्तिसंयोगा’दित्यत्र । अयमर्थः—सज्ञा च पूर्वविलक्षणा कर्मभेदिका । कुत उत्पत्तिसंयोगात् कर्मस्वरूपज्ञापनसमय एव तस्य नाम्न संयोगादिति । तथा ‘वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिन’मित्यत्र द्रव्यदेवतासंबन्धानुमितयागके किं पूर्वकर्मानुवादेनोत्तरत्र वाजिनगुणविधानमुत कर्मान्तरं तद्गुणकमिति विशये वाजिभ्य इत्यत्र वाजिमन्त्रमेवामिति व्युत्पत्त्याऽमिक्षान्नयुक्तविश्वदेवदेवताकर्मैवानुवादेन वाजिनगुणविधानादेककर्मत्वमिति प्राप्ते वैश्वदेवीत्यत्र विश्वे देवा देवता अस्या इत्यर्थेऽणप्रत्ययविधानादन्तर्णीतेदमा परामृष्टामिक्षायास्तद्धितनिर्दिष्टविश्वदेवसंबन्धेन श्रौततया प्रबलेन सह ‘वाजिभ्यो वाजिन’मिति पदद्वयात्मकवाक्यावगतवाजिनसंबन्धस्य विकल्पसमुच्चययोरभावाद्वाजिनगुणविशिष्टकर्मान्तरविधानमिति सिद्धान्तितं ‘गुणश्चापूर्वसंयोगे वाक्ययो समत्वा’दित्यत्र । गुणश्च कर्मभेदक अपूर्वकर्मसंयोगे पूर्वकर्मसंबन्धाभावे सति । कुत वाक्ययो समत्वात् समे हि तदा वाक्ये भवत ततोऽविघातमनेकं कर्मैत्यर्थः । सौम्यं गुणान्तरात्कर्मभेदः । तथाऽसन्निहितदेशकालनिमित्तफलसंस्कार्यसंबन्धकर्मवाक्येषु ‘मासमग्निहोत्रं जुहोती’त्यादिषु किं प्रकृताऽग्निहोत्रादौ मासादिगुणविधानमुत तद्गुणकं कर्मान्तरविधानमिति सदेहे कर्मान्तरविधाने गौरवप्रसङ्गादग्निहोत्रशब्देन तदनुद्य गुणमात्रविधानमिति पूर्वपक्षिते मासादेरनुपादेयतया साक्षाद्विधानायोगादग्निहोत्रादेश्च विच्छिन्नप्रकरणतया प्रत्यभिज्ञाभावाच्च मासादिगुणविशिष्टं कर्मान्तरमेव विधीयते, अग्निहोत्रादिधर्मातिदेशार्थं चाग्निहोत्रादिनामोपदेश इति प्रकरणान्तरात् कर्मान्तरत्वं निरधारि ‘प्रकरणान्तरे प्रयोजनान्यत्व’मित्यत्र । अयमर्थः—प्रकरणान्तरे सति प्रयोजनान्यत्वं विधेयभावनान्यत्वं स्यान्नतु पुन पूर्वकर्मानुवादेन तत्र गुणविधानमिति—तत्र ‘शब्दान्तरं धातुभेदोऽभ्यासो विधेः पुन श्रुतिः । उत्पत्तिस्था द्यादिसंख्या सज्ञा चाङ्गमपूर्वगम् । चानुपादेयसंबन्धोऽसनिधिः प्रक्रियान्तरम्’इतिशब्दान्तरादीनामुक्तं लक्ष्म विचक्षणैः । तदेतदखिलमम्भोनिधावेव निर्धीयेत भेदमिथ्यात्व इति ।

ननु शब्दान्तरादीनां न भेदे प्रामाण्यं तस्य लोकसिद्धतयाऽप्रतिपाद्यत्वादित्यत आह—नच तस्येति । भेदमात्रस्य लोकसिद्धत्वेऽप्यलौकिककर्मभेदोप्यलौकिक इत्यर्थः । सिद्धत्वे च बाधकमाह—सिद्धत्वे चेति । उपसहरति—तदेवमिति । तत्र लक्षणं श्लोकेन सगृह्णाति—सर्वेषामिति । सर्वेषां भावानां मृषासता उपसहरति—तथाहीति । अभिमता इति प्रमितव्यावृत्तिस्तेन च बाध परिहृतः । नन्वेतावतापि किमिति मिथ्यात्वमिति चेत्तत्र वक्तव्यं किमन्यत्र सन्त्विति, उत स्वतन्त्रा एव सन्त्विति । नाय । प्रमाणाभावादित्याह—नहीति । द्वितीयं प्रतिषेधति—तत्रापीति । अयमर्थः—न तावदात्मवदेषामनाश्रितत्वं कार्यत्वेन समवायिकारणाश्रितत्वात् सामान्यादीनामपि धर्मत्वात्समानमाश्रितत्वं तस्मादाश्रितानामन्यत्र प्राप्त्यभावात्प्राप्तदेशेऽपि चेदसत्त्वमापद्यत एव तदा बलान्मिथ्यात्वमिति । ननु भवत्वाश्रितानामेवं मिथ्यात्वमनाश्रितानां

गलेपादुकान्यायेन मृषात्वमेव पर्यवस्येत । नच निराश्रयेषु नित्येषु भावेषु सा नास्तीति लक्षणस्याव्याप्तिः । ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य कार्यतया कारणाश्रितत्वस्य व्यवहारद-
शायां रजतादेरिव शुक्त्याद्याश्रिततायाः स्वीकारात् । नाप्यतिव्याप्तिः । सत्यस्य ब्रह्मणो
निराश्रयत्वात्तस्य तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगितायाः शङ्कितुमप्यशक्यत्वात् ।

नच परैः प्रदेशवृत्तितयाभ्युपगतेषु संयोगशब्दादिषु सत्येष्वपि लक्षणस्य सद्भावादर्थान्-
न्तरता । भावाभावयोरेकाधिकरणत्वाभ्युपगमे सर्वत्रैव तथाभावापत्तेर्विरोधस्य जगति दत्त-
जलाञ्जलिताप्रसङ्गान् । भावाभावयोर्हि साक्षाद्विरोधस्तन्मुखेनैवान्यत्रेति परीक्षकपरिषदां
संमतत्वात् प्रदेशोपाधिभेदेन वा तत्र विरोधसमाधाने भावात्यन्ताभावयोर्भिन्नाधिकरणत्वेन
लक्षणस्य तत्र सत्ये कुतः संभवः कुतस्तरां चातिव्याप्तिः कुतस्तमां चार्थान्तरता । तदेवं न
मिथ्यात्वानिरुक्तिः, नापि मानासत्त्वम्, अनुमानसद्भावात् । तथाहि 'अंशिनः स्वांशगात्यन्ता-
भावस्य प्रतियोगिनः । अंशित्वादितरांशीव दिगेषैव गुणादिषु ॥८॥' विमतः पटः एतत्तन्तु-

परमाण्वाकाशादीनामाश्रयाभावेनोक्तलक्षणाभावात् मिथ्यात्वेष्टेष्टाव्याप्तिरित्यत आह—**नच निराश्रयेष्वि-
ति ।** लक्षणपदं तु मध्यस्थमणिवन्नेयम् । तेन सत्ताभावाल्लक्षणस्येत्यपि पर्यवस्यति । विषयधिकरणाद्युक्तन्यायेन
तेषामप्यस्त्येव कार्यत्वमित्यर्थः । कार्यत्वं चेदं कल्पितत्वं तेन नाविद्यायामव्याप्तिः । यथा चैतत्तथा द्वितीयपरि-
च्छेदे प्रसाधयिष्यते । अद्वितीयासङ्गस्य ब्रह्मण कथं मिथ्याभूतविषयदाद्याश्रयत्वमिति मतिमपाकर्तुं व्यवहारद-
शायामित्युक्तम् । ननु सन्मात्रं ब्रह्म सत्ता च घटपटाद्याश्रिताऽतस्तत्राप्युक्तलक्षणस्य शक्यसमर्थत्वाल्लक्षणस्या-
तिव्याप्तिः स्यादित्याशङ्काह—**नाप्यतिव्याप्तिरिति ।** सत्यं सन्मात्रं ब्रह्म, तस्य तु घटादिसमवायोऽसिद्ध
घटादीनामेव तत्र कल्पितत्वादिति भावः ।

यत्तु पूर्वपक्षिणोक्तं संयोगादिभिः स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणैरर्थान्तरतेति तदनूद्य दूषयति—**नच परै-
रिति ।** नच वस्तुसत्ता संयोगादीनामत्यन्ताभावसमानाधिकरण्ये प्रमाणमस्ति व्यवहारस्तु विभ्रममात्रशरीरैर-
निर्वचनीयैरपि सेत्स्यतीति न सोऽस्य साधक इति भावः । **ननु** किमिति जलाञ्जलिर्दीयते, यावता भावा-
भावावपहाय भावभेदेष्वेव गोत्वाश्वत्वघटत्वप्रभृतिष्वर्थं प्राणान्धारयतीत्यत आह—**भावाभावयोरिति ।**
परीक्षकाणां परिषत्सभा । नहि गोत्वाश्वत्वयोस्तत्त्वं विरोधः अपितु परस्पराल्यन्ताभावाविनाभूतत्वम् । तद्यदि
भावाभावयोर्न विरोधः का नु नाम तदा तदाप्रातयोर्विरोधवार्तेति भावः । **नन्वे**कस्मिन्नपि प्रदेशभेदमादाय
संयोगादेर्वर्तनम्, अतो न विरोधोच्छेद इति निरुद्धगते पूर्वपक्षिणो मतमाशङ्क्यातिव्याप्तिं परिहरति—
प्रदेशेति । कुतः संभव इति तदङ्गीकाराभिप्रायम् । अङ्गीकारप्रयुक्तत्वादर्थान्तरतायाः । स्यादेतत्, यद्यपि
लक्षणमिदमक्षीणं तथापि तल्लक्षणलक्षितस्य मिथ्यात्वस्यात्र सद्भावे किं प्रमाणम् । नहि लक्षणमस्तीति सर्वत्र
तत्सत्ता सिध्यत्यतिप्रसङ्गादित्यत आह—**नापीति ।** अशिनोऽवयविनः स्वावयवनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिनः
इति प्रतिज्ञायां हेतुमाह—**अंशित्वादिति ।** इतरावयवी वेति दृष्टान्तः । अनवयविरूपगुणादिष्वतिदिशति
—**दिगेषैवेति ।** दिङ्मार्गः । श्लोकोक्तमनुमानं विवृणोति—**विमत इत्यादिना ।** पटमात्रं पक्षीकृत्यैत-
त्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वे साधितेऽर्थान्तरता, पटान्तरस्यैतत्तन्तुनिष्ठत्वाभावात्तन्निवृत्त्यर्थं विमत इत्युक्तं ।
पटविशेष इत्यर्थः । सर्वत्र चैवं विशेष एव पक्षीकर्तव्यः । अत्रैतत्पटारम्भकास्तन्तव एतत्तन्तव । अन्योन्या-
भावादिव्यवच्छेदार्थमत्यन्ताभावग्रहणम् । तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगीत्युक्ते तन्त्वन्तरमादायार्थान्तरता तद-

निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिं अवयवित्वात्पटान्तरवत् । एवमेतद्गुणकर्मजात्यादयोपि तत्तत्तन्तु निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिनः तत्तद्रूपत्वादितरतत्तद्रूपवदित्येवमादिप्रयोगः सर्वत्रैवोहनीयः ।

ननु किं प्रामाणिकैतन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं साध्यं किं वा प्रातिभासिकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम् । नाद्यः । अभावानां प्रामाणिकत्वे तैरेव द्वैतापत्तेः प्रामाणिकाभावप्रतियोगित्वे च भावानामपि प्रामाणिकतया न मिथ्यात्वसिद्धिः । न द्वितीयः । रजते सीसविभ्रमे सीसमेवैतन्न रजतमिति रजते रजतत्वप्रतिषेधे प्रातिभासिकात्यन्ताभावप्रतियोगिनोऽपि रजतत्वस्यामिथ्यात्वेनार्थान्तरत्वापातादिति चेन्मैवम् । अभावानां प्रामाणिकत्वेऽपि सदद्वैताव्याकोपात् । कथं च व्यावहारिकप्रमाणोपस्थापितस्वभावैर्भावैर्वैरभावैर्वा तत्त्वावेदकप्रमाणोपनीतस्याद्वैतस्य व्याकोपाशङ्कावकाशः । नापि प्रामाणिकाभावप्रतियोगिनोऽपि शुक्तीदमंशरजताकारद्वयालिङ्गितस्य संसर्गस्येदं रजतमित्येकज्ञानोपनीतस्य केवलतद्व्यवहारोपनीतस्य वा धीरूपरजताकारोपाहोणो बहिष्ठस्य वा कुत्रचिद्देशे काले वा केनचिदपि वादिना सत्तास्वीक्रियते येन प्रामाणिकाभावप्रतियोगिनः सत्तां भावाः प्रतिपद्येरन् । द्वितीयस्तु विक-

थमेतत्तन्तुनिष्ठेत्युक्तम् । पटान्तरे त्वेतत्तन्तुभिरनारब्धे सुप्रसिद्धं साध्यम् । अवयवित्वात् अवयवित्वेन समतत्वात् । तेन न प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः । दिगेषैवेत्येतद्विद्वदिति—एवमिति । एतद्रूपमेतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि रूपत्वादितररूपवत् । एवं स्पर्शादिष्वपि । एतच्चलनमेतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि चलनत्वादितरचलनवत् । तथा तन्तुत्वं तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि जातित्वादितरत्ववत् । एवं सत्तादयोऽप्यनुमेया । एवं समवायेऽपि द्रष्टव्यम् । अयमन्यविशेष एतदात्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी विशेषत्वादात्मान्तरगतविशेषवदिति विशेषेषु ।

स्यादेतत् पटादीना तन्वादिषु यदत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं साध्यते सै किं प्रामाणिकोऽप्रामाणिको वा स्यादिति विकल्प्य दूषयति पूर्ववादी—किं प्रामाणिकेत्यादिना । प्रामाणिको यस्तन्निष्ठात्यन्ताभाव इति विग्रहः । तैरेवेति । यानत्यन्ताभावान्प्रति प्रतियोगित्वं तन्तुब्रह्मादौ पटप्रपञ्चादे साध्यते तैरेव, प्रामाणिकैरित्यर्थः । किञ्च एष ह्यभावानां स्वभावो यत्प्रतियोगिनिरूपणीयत्वम् । तथा च यद्यभावा प्रामाणिका सुतरा तन्निरूपका भावा तथा चाद्वैताशैव नोदेतीत्याह—प्रामाणिकाभावेति । एतेन सदद्वैतमेवाद्विषय इति वेदान्तिना किंवदन्त्योपदिता । अप्रामाणिकपक्षे दूषयति—नेति । अप्रामाणिकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं न मिथ्यात्वं सत्यस्यैव रजतत्वस्य सीसविभ्रमविषये रजते भ्रान्तिप्राप्तात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य परैर्मिथ्यात्वास्वीकारादित्याह—रजत इति । तमाक्षेपं परिहरति—मैवमिति । तत्र प्रमाणगम्यत्वं सत्त्वमित्यभ्युपेत्य परिहरति—अभावानामिति । इममभ्युपगमं त्यजन् राद्धान्तरहस्यमादाय परिहरति—कथं च व्यावहारिकेति । न प्रमाणमात्रगम्यत्वात् सत्त्वमायाति । वेदात्मत्वादौ तथाभावाभावात्, अपि तु तात्त्विकप्रमाणगम्यत्वात् । नचैतत् ब्रह्मव्यतिरिक्तस्याभावस्य भावस्य वास्ति येनाद्वैतसंकोचावकाशः स्यादिति भावः । यत्तु प्रामाणिकाभावपक्षे प्रतियोगिभूतैर्भावैर्द्वैतविरोध इति तत्परिहरति—नापि प्रामाणिकेति । अयमर्थः—नैव व्याप्तिरस्ति यत्प्रामाणिकाभावप्रतियोगि तत्प्रामाणिकमिति । यत् शुक्तीदमंशरजताकारयोरेकज्ञानोपनीतस्य संसर्गस्य प्रामाणिकात्यन्ताभावप्रतियोगिनोऽपि कचिदपि देशे कदाचिदपि काले सत्त्वमन्यथाख्यातिवादिभिर्नश्यते । तथाऽख्यातिवादिभिः संसर्गज्ञानाभावेऽपि संसृष्टव्यवहारोपनीतस्य संसर्गस्य । तथा विज्ञानवादिभिरपि धीरूपं यद्रजतं तत्रारोपितस्य बहिष्ठस्येत्येवं यथादर्शनं व्यभिचारादिति । यत्त्वप्रामाणिकाभावप्रयुक्तदूषणमुक्तं तदभावस्य प्रामाणिकतास्वीकारात् निरनुयोज्यानुयोग इत्याह—द्वितीयस्त्विति । यत्त्वाश्रयस्य

१ प्रतियोगि इति शाकलह्रस्वः, २ स इति—अत्यन्ताभाव इत्यर्थः.

रूपोऽनङ्गीकारपरास्तः । न च धर्मिग्राहकप्रमाणबाधः धर्मिणस्तत्त्वावेदकप्रमाणसिद्धत्वानभ्युपगमात् । तर्ह्यश्रयासिद्धिरिति चेन्न । सांन्यावहारिकप्रमाणोपनीतस्याप्याश्रयत्वोपपत्तेः । प्रपञ्चस्तत्त्वावेदकप्रमाणविषयः धर्मित्वादात्मवदिति चेन्न । आत्मत्वस्यैव तत्रोपाधित्वात् ।

न च व्यतिरेकासिद्धिः । अनात्मनः शुक्तिरजतसंसर्गादेस्तत्त्वावेदकप्रमाणाविषयस्योभयवादिसिद्धस्य व्यतिरेकोपसंहारस्थलस्य सद्भावात्, धर्मित्वहेतोः शुक्तिरजतादिसंसर्गधर्मिणि व्यभिचाराच्च । नासौ धर्मी मिथ्यात्वादिति चेन्न । एतमेव हेतुं प्रति धर्मित्वाधर्मित्वयोस्तदयोगात् । एतेन प्रतीतिमात्रसिद्धस्याश्रयत्वे दूषणभूषणादेरपि तथाभूतस्य सुलभत्वात् सर्ववादविधिनिषेधप्रसङ्ग इत्यपास्तम् । वादिप्रतिवादिमध्यस्थानां प्रमाणसिद्धमेतदिति संमत्यालम्बनतया त्रिचतुरकक्षाविश्रान्तस्य तत्तदाभासलक्षणानालिङ्गितस्याश्रयस्य दूषणभूषणादेश्च तत्रतत्र कथाङ्गताङ्गीकारात्, तादृशव्यावहारिकप्रमाणसिद्धस्यैव च व्यावहारिकसत्यत्वेन स्वीकारात्, सर्वथा बाधवैधुर्यस्यागमेतरप्रमाणैरसर्वज्ञेन ज्ञातुमशक्यत्वात् । एतेनेदमपास्तम्, यदाहुर्भट्टाचार्याः—‘संवृतेर्न तु सत्यत्वं सत्यभेदः कुतो न्वयम् ॥

प्रामाणिकत्वाप्रामाणिकत्वविकल्पेन दूषणमुक्तं तत्परिहरति—**न चेति** । प्रमाणमात्रगम्यस्यात्यन्तिकसत्त्वाभावादिति भावः । सत्त्वं चेन्नास्ति तर्हि असदेव । तथा च शशविषाणवदेवानर्थक्रियाक्षममिति शङ्कते—**तर्हीति** । देहात्मभावादिव्यावहारिकसत्त्वमादाय परिहरति—**न । सांन्यावहारिकेति** । यथाच सदसद्विलक्षणापरकोटिस्थयाऽनिर्वचनीयवादे निर्वक्ष्यते । तत्त्वावेदकप्रमाणगम्यत्वाभावेन धर्मिग्राहकबाधः परिहृतस्तत्र बाधसिद्ध्यर्थं तत्त्वावेदकप्रमाणगम्यत्वमप्यनुमिनोति पूर्ववादी—**प्रपञ्च इति** ।

ननु कथमात्मत्वमुपाधिः साध्यव्यापकत्वानिर्णयात् । तथा हि यत्रात्मत्वं नास्ति तत्र तत्त्वावेदकप्रमाणगम्यत्वमपि नास्तीति साव्याभावोपाध्यभावव्याप्तिरेष्टव्या । न चैषा शक्यनिर्णया । आत्मत्वरहिते प्रपञ्चे साव्याभावानिर्णयात् । तस्मात्पर्वतेतरत्वादिवत्पक्षेतरौयमित्यत आह—**न च व्यतिरेकेति** । शुक्तिरजतसंसर्गादौ सर्वथा प्रमाणायोग्ये शक्य उभयाभावो निर्णेतुमित्यर्थः । अनैकान्तिकता चाह—**धर्मित्वेति । संसर्गधर्मिणीति** । संसर्ग एव धर्मी । हेतोस्तत्रावृत्तिमाशङ्कते—**नासाविति** । परिहरति—**नेति** । अयमर्थः—मिथ्यात्वादिति ममेव हेतुं प्रति संसर्गो धर्मी न वा । आद्ये धर्मित्वमशक्यनिषेधम् । द्वितीयेऽप्यशक्यनिषेधमेव निषेधकहेतोराश्रयासिद्धत्वादिति । यत्तु प्रतीतिमात्रसिद्धस्य साधनादित्वेऽतिप्रसक्तिरित्युक्तं तदप्येवं सति परिहृतमित्याह—**एतेनेति** । व्यावहारिकप्रमाणसिद्धस्य साधनदूषणत्वाभ्युपगमेनेत्यर्थः । एतेनेत्येतदेव विवृण्वन्साव्यावहारिकप्रमाणशरीरमेव दर्शयति—**वादिप्रतिवादीत्यादिना । त्रिचतुरकक्षाविश्रान्तस्येति** । त्रिचतुरपर्वस्वबाधितस्येत्यर्थः । स्यादेतत् कतिपयपुरुषस्य कतिपयकालं बाधविधुरमित्यवबोधविषयस्य साधनादिभावश्चेदभ्युपेयते तर्हि सिद्धान्तविरोधः, यतो व्यावहारिकसत्त्वयुक्तस्य वेदान्तिभिः साधनादित्वमङ्गीक्रियत इत्यत आह—**तादृशेति** । ननु किमित्यर्थं सकोच आत्यन्तिकमेव सत्त्वं किं न स्वीक्रियते इत्यत आह—**सर्वथेति** । सर्वपुरुषसर्वदेशकालपेक्षयेत्यर्थः । तत्किं ब्रह्मणोऽपि तादृशं सत्त्वमशक्यज्ञानमित्यत उक्तं—**आगमेतरेति** । नन्वागमेतरैरपि प्रमाणैः सर्वज्ञेन केनचित्तादृशं सत्त्वं ज्ञायतामित्यत उक्तं—**असर्वज्ञेनेति** । सर्वज्ञस्य तु कस्यचित्तादृशं प्रमाणमस्ति प्रपञ्चविषयमित्यत्र नार्वागदृशा प्रमाणमस्ति प्रत्युतागमविरोधादभावनिर्णय इति भावः । व्यावहारिकसत्त्वं नाम न सत्त्वविशेष अपित्वेवंविधज्ञानविषयत्वमित्यनेनैव भट्टपादोक्तदूषणमप्यपास्तमित्याह—**एतेनेदमिति** । संवृतिसत्यमिति यद्वैद्वैरुच्यते तदुच्यते—**संवृतेर्न तु सत्यत्वमिति** । अत्र च संवृणोति तत्त्वमिति संवृतिरविद्या तस्याः सत्यत्वमयुक्तं तत्र हेतुमाह—**सत्यभेद**

सत्या चेत्संवृतिः केयं मृषा चेत्सत्यता कथम् ॥ सत्यत्वं नच सामान्यं मृषार्थपरमार्थयोः । विरोधान्नहि वृक्षत्वं सामान्यं वृक्षसिंहयो'रिति । वस्तुतोऽसत्यस्यैव यावद्बाधं देहात्मभाव-
लौकिकवैदिकव्यवहाराङ्गतया सत्यत्वेन व्यवहारात् । नायमसिद्धो हेतुः । पटस्यांशित्वे
वादिनोरविवादात् । नापि विरुद्धः । एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगिनि विपक्षे आ-
त्मनि अंशित्वस्यावृत्तेः । नानैकान्तिकोऽपि । विपक्षाव्यावृत्तेरेव । इह तन्तुषु पट इत्यादिनैव
प्रत्यक्षेण तन्तुनिष्ठतया पटस्यावगमात्तदपहृतविषयतया कालात्ययापदिष्टतेति चेन्मैवम् ।
पटस्यैतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमङ्गीकुर्वता तस्य प्रामाण्यानङ्गीकारादिह नभसि
नीलिमेति प्रत्यक्षाभिमतप्रत्ययबाधेनारूपित्वानुमानप्रवृत्तिवदत्राप्यनुमानप्रवृत्त्युपपत्तेः ।
नचैवं सति दहनशैल्यानुमानादेरप्यप्रतिबद्धप्रसरतया कालात्ययापदिष्टकथा सर्वत्रास्तमिया-
दिति वाच्यम् । तत्रतत्रोभयवादिंसमतप्रबलप्रमाणे परिपन्थिनि जाग्रति तस्यां निरङ्कु-
शप्रसरत्वात्, प्रकृते च तथाभावाभावात् । एतेन प्रमाणसिद्धत्वादिति प्रत्यनुमानविरोधो-
ऽपास्तः । प्रमाणसिद्धत्वस्यैवासिद्धेः ।

इति । इदं संवृतिसदिदं परमार्थसदिति वदता किं सत्यविशेष कश्चित्संवृति सत्यं नाम स्वीक्रियते उतासदेव ।
द्वितीये सत्यशब्दो नार्थवान् । प्रथमे प्राह—**सत्यभेद इति** । कुतोयं सत्यभेदो, न कुतोपि प्रमाणादित्यर्थः ।
किमिति प्रमाणाभाव इति, विरुद्धत्वादित्याह—**सत्या चेदिति** । विरुद्धत्वाज्जातिव्यक्तिभावो नास्तीत्युक्तम्,
इदानीं सदसतो परस्परविरुद्धयोः सत्यत्वजातिसंबन्धोपि न घटत इत्याह—**सत्यत्वमिति** । तत्र दृष्टान्त —
नहि वृक्षत्वमिति । एतेनेत्यस्यैव विवरणं—**वस्तुत इति** । नचात्रानेतन्निष्ठत्वमुपाधि । आकाशादौ
साध्याव्यापकत्वात् । नाप्येतदनिष्ठत्वम् । तस्यैव साध्यत्वात् । नाप्येतदनिष्ठत्वरहिततया प्रतीयमानत्वम् । सयो-
भादौ तव साध्याव्याप्ते । एतेनैतदवयवानारब्धत्वमपि निरस्तम् । नच द्रव्यत्वविशेषितम् । गुणादौ साध्या-
व्याप्ते । नच द्रव्यत्वविशेषिते साध्ये द्रव्यत्वविशेषितोयमुपाधि । व्यतिरेकव्याप्त्यसिद्ध्या पक्षेतरत्वादिति । स्वरू-
पासिद्धि परिहृत्य विरुद्धत्वं परिहरति—**नापि विरुद्ध इति** । अत्र ह्यात्मा विपक्षस्तस्य सर्ववस्तुस्वरूपतया
तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावाभावात् । नच तस्मिन्निरवयवेऽशित्वं वर्तते इत्यर्थः । एतेनैतन्निष्ठगुणादि व्याख्यातम् ।
एवमेतदत्यन्ताभावस्यैतत्तन्तुनिष्ठतास्वीकारे तस्याप्येतदनिष्ठत्वाङ्गीकारे तु तदभावादेव बाधं शङ्कते—
इह तन्तुष्विति । परिहरति—**मैवमिति** । यत्तदवोचामाभिमतग्रहणेन बाधपरिहार इति तस्यैतदुत्थानम् ।
यथा ह्याकाशनीलिमग्राहिप्रत्यक्षविरोधेऽयाकाशमरूपि विभुत्वादात्मवदित्याद्यनुमानमुदेति, तत्कस्य हेतो, दृढ-
तरन्यायादर्थभावेऽवगते क्लृप्तकारणाभावेऽयुत्पद्यमानत्वात्, तथेहाप्यद्वैतपरसकलश्रुतिस्मृतिबलादर्थभावेऽव-
गते जायमानं प्रत्यक्षं प्रत्यक्षाभास इति नानुमानानुदय इत्यर्थः । नन्वनुमानवाद्यभिप्रायेण प्रत्यक्षाभासीकरणं
सर्वत्र सुलभमिति दहानुष्णतानुमानेपि न प्रत्यक्षबाध स्यादिति गतं कालात्ययापदिष्टकथयेत्यत आह—
नचैवं सतीति । हेतुमाह—**तत्र तत्रेति** । अयमभिसंधि —अग्निरनुष्ण इत्यत्र निषेध्यमुष्णत्वं क्वचित्प्रमितं
न वा । न यदि तदा प्रतियोग्यप्रमित्याऽभावप्रमित्यभावात् अप्रसिद्धविशेषणता । नच भ्रान्तिसिद्धस्य निषे-
धोऽर्थक्रियाया बाधाभावात् । तस्मात्प्रमितमिति वक्तव्यम् । नच तदभिव्यतिरिक्तस्थलेऽस्तीत्युभयवादिसप्र-
तिपन्नमस्ति तत्र प्रमाणम् । अतस्तद्विरोधादनुमितिर्नोदेतीत्यनिरुद्धैव बाधप्रवृत्तिरिति । प्रकृते तु न तथोपजी-
व्यमस्ति किञ्चित्प्रमाणं येन बाध स्यादित्याह—**प्रकृते चेति** । प्रत्यक्षविरोधं परिहृत्य यदुक्तं पूर्ववादिना
प्रपञ्चः सत्य प्रामाणिकत्वादिति तद्विरोधं परिहरति—**एतेनेति** । तस्यैव विवरणं—**प्रमाणेति** ।

“ यत्र प्रत्यक्षमपि न तत्त्वावेदकं प्रमाणं तत्र का कथा तत्पादोपजीविनो वराकस्यानुमानादेः प्रमाणतायाम् । यत्पुनरेतस्य घटस्य द्रव्यत्वादेतन्निष्ठबाध्यभेदातिरिक्तभेदवत्त्वानुमानं तदप्यद्वैतागमविरोधात्कालात्ययापदिष्टमित्युपेक्षणीयम् । ‘मृत्तिकेत्येव सत्य’मित्याद्यागमेन प्रपञ्चस्य सत्यतावगमादद्वैतागम एवोपचरितार्थः किं न स्यादिति चेन्न । तस्यान्यपरत्वात् । तथाहि एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय ब्रह्मणः सर्वकारणतया सर्वकार्यैरनन्यत्वप्रदर्शनेन तां प्रतिज्ञामुपपादयितुं लोकेऽपि घटरुचकादिकार्याणां मृद्धोहादिकारणादनन्यत्वं दर्शयति—‘मृत्तिकेत्येव सत्यं, त्रीणि रूपाणीत्येव सत्य’मित्यादिना । न तु तेषां वास्तवत्वमभिप्रेति । ‘ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मे’त्यन्तेन ब्रह्मण एव सत्यत्वप्रतिपादनविरोधात् । एतेन मिथ्यात्वानुमानस्यागमविरोधोऽप्यपास्तः ।

दृग्दृश्ययोः संबन्धानुपपत्तिश्च सत्यत्वानुमानस्य बाधिका । नच करणसंबन्धादेव संबन्धोपपत्तिः । ईश्वरज्ञानेऽकरणजन्येऽपि विषयाणां स्फुरणात्, करणजन्येष्वपि योगिज्ञानेषु युक्तावस्थायामन्तःकरणासंबद्धानामतीतानागतानां बाह्यार्थानां च स्फुरणात् । न च मनसो बहिरर्थैः संबन्धः । परतन्त्रं बहिर्मेन इति न्यायात्, अस्मदादीनां चैन्द्रियिकविभ्रमेष्विन्द्रियासंबद्धानामेव स्फुरणाङ्गीकारात्, अस्मदादिप्रमाणजन्येपि ज्ञाने सोऽयं देवदत्त इत्यादौ

नन्वेतदेव किं न स्यात्प्रमाणमिति तत्राह—**यत्रेति** । अथवा प्रत्यक्षविध्वंसनन्यायं कैमुतिकन्यायेन सभाज्यमानसर्वानुमानेष्वतिदिशति—**यत्रेति** । असिद्धेरेव वा विवरणमिदम् । अनुभवविरोधपरिहाराय तत्त्वावेदकमित्युक्तम् । यत्तु भेदसत्यत्वेऽनुमानमुक्तं तदनूद्य निराकरोति—**यत्पुनरिति** । अयं घट एतद्वदत्वे सति एतन्निष्ठबाध्यभेदत्वानविकरणभेदाविकरणं न भवति द्रव्यत्वात्पटवदित्यादिना सत्प्रतिपक्षतापि द्रष्टव्या । नच मृदनारब्धत्वमुपाधि । व्यतिरेकव्याप्त्यसिद्धे । परसिद्ध्या च साध्यप्रसिद्धिः । **ननु** कथमद्वैतागमविरोधस्तस्यागमान्तरविरोधेनातत्परत्वादिति शङ्कते—**मृत्तिकेत्येव सत्यमित्यादिना** । पौर्वापर्यपर्यालोचनया अद्वैतश्रुतिशेषत्वमितरश्रुतेरवसीयते तद्यदि मृदादिसत्यत्वमपीयं श्रुतिः प्रतिपादयेत् शेषविरोधः स्यात् । अतः कारणव्यतिरेकेण कार्यमनिर्वचनीयमित्येतावन्मात्रपरा सा श्रुतिः, अद्वैतश्रुतिस्तु स्वप्रधानत्वादनन्यपरेत्यभिप्रेत्याह—**न । तस्यान्यपरत्वादिति । एकविज्ञानेनेति** । ‘येनाश्रुतं श्रुतं भवती’त्यनेनेति शेषः । तथा—**सर्वकारणतया सर्वकार्यैरनन्यत्वप्रदर्शनेनेति** । ‘सदेव सोम्येद’मित्यादिनेति शेषः । अथ कुतो वास्तवसत्त्वमेव न प्रतिपाद्यत इति चेन्नोपसंहारविरोधादित्याह—**ऐतदात्म्यमिति । एतेनेति** । अन्यपरत्वादित्यर्थः ।

बाधकर्तृसंभवाच्च शङ्किताऽप्रयोजकत्वं सत्यत्वानुमानमित्याह—**दृग्दृश्ययोरिति** । पूर्वावायुक्तामन्यथोपपत्तिमनूद्य दूषयति—**नचेति** । नायं सार्वत्रिक ईश्वरज्ञानस्य नित्यस्य तद्विषयाणां च नियमाभावप्रसङ्गादित्यर्थः । अथ जन्येष्वयं नियम इति तर्हि तेष्वप्यव्याप्तिरित्याह—**करणजन्येष्वपीति** । युक्तावस्थायां ह्यात्ममनोयोगमात्रादेवाशेषार्थज्ञानमिति तार्किकाणां मतम् । अतीतादीनां चाविद्यमानत्वादेव संबन्धानर्हत्वम् । अथच विषयास्तत्र परस्फुरन्तीत्यव्याप्तिरित्यर्थः । ननु युक्तावस्थायां कथमव्याप्तिर्यावता मनोलक्षणेन्द्रियसंबन्धादेव तत्रापि नियमोपपत्तिरिति तत्राह—**न च मनस इति** । अथ विशिष्टादृष्टसामर्थ्यसन्निभमनोयोगि-योगिज्ञानं विहायार्थं नियम इति तर्हि तेष्वप्यव्याप्तिरित्याह—**अस्मदादीनां चेति** । अधिष्ठानस्येन्द्रियसंबद्धत्वेऽप्यारोप्यतत्सर्गयोस्तदभावात्संस्कारद्वारा प्रत्यासत्तेर्वातिप्रसङ्गित्वादिति भावः । अथ विभ्रमत्वात्तत्र यथा तथा भवतु प्रमाणेष्वयं नियम इति ब्रूयात्तं प्रत्याह—**अस्मदादिप्रमाणजन्येपीति** । **तत्तांशस्येति** ।

तत्तांशस्य करणासंबद्धस्यापि प्रत्यक्षताभ्युपगमात् । नच तत्तायामपीन्द्रियेण सह संयुक्त-
विशेषणतालक्षण. संनिकर्षः । समवायेतरभावस्येन्द्रियसंप्रयोगमन्तरेणापि प्रत्यक्षतायामयं
पर्वतोऽग्निमानित्यत्राग्निमत्त्वस्यापि संयुक्तविशेषणतया प्रत्यक्षत्वापत्तेः प्रत्यक्षधर्मिकानुमान-
मात्रोच्छेदप्रसङ्गः । अस्तु तर्हि ज्ञानज्ञेययोर्विषयविषयिभावः संबन्ध इति चेन्न । तदनि-
रूपणात् ।

तथाहि न तावज्ज्ञानजन्यफलाधारत्वं विषयत्वं विषयनिष्ठफलजनकत्वं च विषयित्व-
मिति युक्तम्, विकल्पासहत्वात् । तत्फलं ज्ञातता व्यवहारो वा । नाद्यः । अतीतादौ तद-
भावेनाविषयत्वप्रसङ्गात्, तत्रैव फलजननेऽप्यनुगतनियमाभावात्, तद्योगे वा तस्यैव विषय-
त्वनियामकतोपपत्तेः । न द्वितीयः । कराकर्षणादेर्व्यवहारस्यात्मादावभावात्, कलधौत-
मलादेरपि नान्तरीयकतया तद्व्यवहारविषयस्य तज्ज्ञानविषयतापत्तेः । नापीच्छादिः, आत्मन
एव तदाधारतया तदन्यस्याविषयत्वप्रसङ्गात् । अथ ज्ञानप्रतिबद्धहानादिलक्षणज्ञानगोच-

तद्देशकालविशिष्टाशस्येत्यर्थः । एतच्च प्रत्यभिज्ञानस्यानुभवैकत्ववादे । ननु चक्षुषा सप्रयुक्तस्तावदेवदत्त तस्य च
विशेषणं तत्ताऽत सप्रयुक्तविशेषणताप्रत्यासत्त्या भूतलविशेषणघटाभाव इवेन्द्रियेण किमिति न गृह्यते इति
तत्राह—**नच तत्तायामिति** । आत्मद्वारा चायं संबन्धः शङ्कनीयः । हेतुमाह—**समवायेतरभावस्येति** ।
भावस्यैवभावव्यावृत्तिः । समवायस्येन्द्रियासप्रयुक्तस्यापि ग्रहणं परैरङ्गीक्रियत इत्यत उक्तं—**समवायेतरेति** ।
गुणादीनां तु संयुक्तसमवायादि नास्मत्समतं तेषां द्रव्यतादात्म्येन समवायासिद्धे, संबन्धान्तरताभावाच्चेत्यपि
द्रष्टव्यम् । विद्यमानेतिविशेषणाच्च प्रत्यभिज्ञाया तत्ताव्यवच्छेदः । **संयुक्तविशेषणतयेति** । चक्षुषा संयुक्त-
पर्वतस्तस्य विशेषणमभिरित्यर्थः । एतदुक्तं भवति—समवायाभावातिरिक्तस्यापि चेत्संयुक्तविशेषणतया प्रत्य-
क्षत्वं तर्हि प्रत्यक्षे धर्मिणि न काप्यनुमानं प्रवर्तते सर्वत्र प्रत्यक्षत्वसंभवादिति । संबन्धांतरमाशङ्कते—
अस्तु तर्हि ।

ज्ञानजन्येति । ज्ञानेन जन्यं यत्फलं तत्प्रत्याधारत्वं विषयत्वं तादृशफलजनकत्वं च विषयित्वमिति नच
युक्तमित्यर्थः । **विकल्पासहत्वादिति** । विकल्पे सति दूषणासहत्वादित्यर्थः । ज्ञातता प्राकट्यम्, एतच्च
भाट्टाभिप्रायेण । **अतीतादाविति** । फलजननसमयेऽतीतादेरविद्यमानत्वादेव फलाधारत्वानुपपत्तेः, अत एव
तज्जनकत्वं ज्ञानस्य न संभवति, अतस्तत्राव्याप्तिर्लक्षणस्येत्यर्थः । दूषणान्तरमाह—**तत्रैव फलजनन**
इति । अयमर्थः—यत्फलं प्रत्याधारत्वं विषयस्योच्यते तत्तत्रैव नान्यत्र जनयति । विज्ञानमित्यत्रापि किञ्चि-
न्नियामकमस्ति न वा । यदि नास्ति तर्हि नियतकार्यायोगः । यदाह—‘भवेत्सर्वत्र सत्ता चानियमेऽन्यानपेक्षया ।
नियामकाद्धि भावानां काचित्कत्वस्य संभव’ इति । असति ज्ञानज्ञेययोः संबन्धे नियमायोगाच्च । द्वितीये
दूषणमाह—**तद्योगे वेति** । यदि यत्किञ्चिन्नियामकं स्वभावोऽन्यद्वा समाश्रीयते तर्हि तदेव विषयत्वनियाम-
कमस्तु कृतं तदुपजीविना प्राक्तनेनेत्यर्थः । तदुक्तं कुसुमाञ्जलौ—‘स्वभावनियमाभावादुपकारोपि दुर्घटः ।
सुघटत्वेपि सत्यर्थेऽसति का गतिरन्यथे’ति । **न द्वितीय इति** । कोयं व्यवहारोऽभिमतः किं कराकर्षणा-
दिरुतेच्छादि । आद्य प्रत्याह—**कराकर्षणादेरिति** । आदिशब्देन भक्षणादि विवक्षितं तस्य च विभौ
स्पर्शरहिते चात्मादावसंभवादव्याप्तिरित्यर्थः । अतिव्याप्तिं चाह—**कलधौतेति** । कलधौतं रजतं, रजत-
मलस्यापि नान्तरीयकतया रजतज्ञानप्रयुक्तादानादिभाक्त्वमस्तीति तदपि रजतज्ञानविषयः स्यादित्यर्थः ।
द्वितीयं दूषयति—**नापीति** । इच्छाधार आत्मैवेति अनात्मवर्गे लक्षणमव्यापकमित्यर्थः । नचेच्छादिविष-
यत्वं, तस्यैव निरूप्यमाणत्वात् । विषयत्वस्य लक्षणान्तरं शङ्कते—**अथ ज्ञानेति** । घट इति ज्ञानाद्येद्वान्य-

रत्वं तद्योग्यत्वं वा विषयत्वम् । न । ज्ञानगोचरत्वस्यैव निरूप्यमाणत्वान्, हानादिज्ञानानां च हानादिज्ञानान्तराजनकतया निर्विषयत्वप्रसङ्गात् । जनकत्वे वा हानादिज्ञानानुपरमाद्विषयान्तरसंचाराभावः सुषुप्त्यभावश्च प्रसज्येयाताम् । व्यवहारयोग्यत्वं विषयत्वमित्यङ्गीकारे च योग्यतायां योग्यतान्तराभ्युपगमेऽनवस्था, तदनभ्युपगमे योग्यताया विषयत्वाभावः ।

अलमिह लक्षणान्तरगवेषणापरिश्रमेण यस्यां संविदि योऽर्थोऽवभासते स तद्विषय इति लक्षणनिरुक्त्युपपत्तेरिति चेन्मैवं, विकल्पासहत्वात् । संविदीति सप्तम्या किमधिकरणं विवक्ष्यते, अथ विषयः, किं वा संबन्धिमात्रं, सतिसप्तमी वा । नाद्यः । घटादिद्रव्याणां बाह्यानामान्तरसंवितुणाधिकरणतानुपपत्तेः । न द्वितीयः । तस्यैव निरूप्यमाणत्वात् संविदी विषयत्वं घटादीनां च विषयित्वमिति वैपरीत्यापत्तेश्च । न तृतीयः । संविज्जनकतया तत्संबन्धिनो नयनादृष्टादेरपि तद्विषयत्वप्रसङ्गात् । संविदि भासत इति भासमानताया विशेषणत्वान्न नयनादावतिप्रसङ्ग इति चेन्न । भासमानताया एवाद्याप्यनिरूपितत्वात् । न चतुर्थः । भासमानत्वानिरुक्तेरेव । ज्ञानाकारार्पको हेतुर्विषय इति चेन्न ।

दिज्ञानं जायते तत्प्रति विषयत्वं हानादियोग्यत्वमेव वा यस्तत्पूर्वज्ञानं प्रति विषयत्वमित्यर्थः । एतेनातीतादि सगृहीतं तदेतदात्माश्रयेण दूषयति — न । ज्ञानगोचरत्वस्यैवेति । किंच हानादिज्ञानानां हानादिज्ञानान्तरजनकत्वमस्ति न वा । यदि नास्ति तदा हानादिज्ञानानां निर्विषयत्वप्रसङ्गः । अस्ति च तदतोऽव्याप्तिरित्याह — हानादिज्ञानानामिति । प्रथमं दूषयति — जनकत्वे वेति । ज्ञानान्तरजनकत्वेन तज्ज्ञानानामपि सविषयत्वसिद्ध्यर्थं ज्ञानान्तरजनकत्वे घटादिज्ञानानुत्पादः सुषुप्त्यभावश्च प्रसज्येयातामित्यर्थः । द्वितीये दूषणमाह — व्यवहारयोग्यत्वमिति । उपलक्षणं चैतत्प्रथमपक्षस्यापि । तेन हानादिज्ञानगोचरत्वेपि गोचरत्वान्तरमस्ति न वा । यद्यस्ति तदानवस्था अथ नास्ति तर्हि तस्यानिर्विषयत्वमित्यपि द्रष्टव्यम् ।

शालिकनाथोक्तलक्षणमवतारयति — अलमिह लक्षणान्तरेति । यस्यां सविदि योऽर्थोऽवभासते सोऽर्थस्तस्यां सविदो विषय इत्यर्थः । उक्तं च पञ्चिकाप्रकरणे — ‘अत्र ब्रूमो य एवार्थो यस्यां सविदि भासते । वेद्यं स एव नान्यद्धि वेद्यावेद्यस्य लक्षणमिति । तदेतदूषयति — मैवमिति । घटादिद्रव्याणां संवि(लक्षण-गु)हणाधिकरणतानुपपत्तेरिति । उपलक्षणं चैतद्गुणकर्मसामान्यविशेषाणाम् । इदमनिष्टं न भवतीत्यत उक्तं — बाह्यानामान्तरत्वानुपपत्तेरिति । ततश्च तेषु लक्षणस्याव्याप्तिरिति भावः । विषयस्सप्तमीपक्षं निराचष्टे — न द्वितीय इति । विषयत्वस्यैव निरूप्यमाणत्वादात्माश्रयप्रसङ्ग इत्यर्थः । किंच सविदीति सप्तम्या सविदो विषयत्वाभिधाने वैपरीत्यमपि स्यादित्याह — संविद् इति । संबन्धिमात्रमिति तृतीयपक्षं निराचष्टे — न तृतीय इति । संविदीति कोर्थः, सवित्संबन्धीति, तथाच नयनाद्यपि तथेति घटज्ञानस्य नयनाद्यपि विषयः स्यादित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः । नच तस्यापि विषयत्वादनतिव्याप्तिर्विशेषपरत्वात् । इतरथा वस्तुमात्राभिधानापातात् । ननु यद्यपि संबन्धिमात्रं सप्तम्या प्रतीयते तथापि भासत इति विशेषणात् भासमानतया संबन्धि विवक्षितम् । तथाचाप्रकाशमाननयनादिव्यावृत्तिरिति शङ्कते — संविदीति । भावविषयत्वं हि भासमानत्वं तथाचात्माश्रयत्वमिति परिहरति — न । भासमानताया इति । सतिसप्तमीपक्षं निराचष्टे — न चतुर्थ इति । अत्रापि सविदि सत्यां यद्भासते स विषय इति वक्तव्यम् । तथाचात्माश्रयत्वमित्यर्थः । नच ज्ञाने सति व्यवहारयोग्यत्वमेवार्थस्य भासमानत्वमिति वाच्यम् । योग्यताया पूर्वोक्तदूषणापातात् । सौग-

ज्ञानतदाकारयोर्भेदाभावेन सर्वेषामपि ज्ञानहेतूनां तदाकारसमर्पकतया विषयत्वप्रसङ्गात् । दृश्यमानतया तदाकारसमर्पको विषय इति चेन्न । दृश्यमानताया एवाद्याप्यनिरूपणात् । नच ज्ञानकर्मत्वं विषयत्वम्, अतीतादिज्ञानस्येश्वरज्ञानस्य च कर्मकारकाजन्यत्वेनाविषयत्व-प्रसङ्गात् । संबन्धान्तरमन्तरेण ज्ञानस्य यद्विशेषणं स तद्विषयो, विशेष्यं च तेन विषयीति चेन्न । मत्समवेतं रूपज्ञानमित्यत्र व्यभिचारात् । संबन्धान्तरमन्तरेणैव मत्समवायस्य रूपज्ञानस्य च विशेषणविशेष्यभावेऽपि मत्समवायरूपज्ञानयोर्विषयविषयित्वाभावात् तत्र समवायस्यानुव्यवसायज्ञानविषयत्वेऽपि रूपज्ञानाविषयत्वान् । तदेवं विषयविषयिभावानि-रूपणात् आत्मन्यध्यस्ततया चासिद्धौ प्रपञ्चस्य सत्यत्वे दृश्यत्वानुपपत्तिर्बाधिकेति स्थि-तम् । नच भेदस्य मिथ्यात्वे शब्दान्तरादेः कर्मभेदप्रतिपादकस्याप्रामाण्यप्रसङ्गः । घटप-टादेरिव व्यावहारिकस्यैव भेदमात्रस्य कर्मगोचरस्य तत्रतत्र शब्दान्तरादिभिः प्रतिपाद्य-मानत्वात्तद्गतबाधायोग्यतालक्षणस्य सत्यत्वस्य प्रतिपादने तेषामौदासीन्यात् । तदेवं निर-स्तसमस्तप्रत्यनीकमनुमानं प्रपञ्चमिथ्यात्वे मानमिति सिद्धम् ।

ताभिमतं लक्षणं शङ्कते—ज्ञानेति । घटज्ञानं पटज्ञानमिति यांय ज्ञानाकारस्तद्वर्पको यो हेतुः स विषय इत्यर्थः । तेन च नयनादिव्यावृत्तिः । उक्तं हि—‘भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यता विदुः । हेतुत्वमेव युक्तिज्ञा ज्ञानाकारार्पणक्षममिति । दूषयति—नेति । ननु यद्यपि नयनादीनां ज्ञानस्वभावभूताकारहेतुत्वमस्ति तथापि दृश्यमानतयाऽऽकारहेतुत्वं नास्ति तादृशं च लक्षणं विवक्षितमिति शङ्कते—दृश्यमानताया इति । लक्षणान्तरं दूषयति—नचेति । तत्र हेतुः—अतीतादीति । कर्म नाम कारकविशेषः । कारकं च कारणविशेषः । कारणं च कार्यं सभवति, तेन नित्यस्येश्वरज्ञानस्य तद्विषयस्य च विषयविषयिभावं न व्याप्नोतीदं लक्षणम् । अतीतादेस्त्व-विद्यमानत्वादेव नियतप्राक्क्षणसत्त्वलक्षणकारणत्वाभावादव्याप्तिरित्यर्थः । उपलक्षणं चैतदनुमानादेः, कर्मत्वं च तत्फलभाक्त्वं तच्च दूषितं पुरस्तात् । लक्षणान्तरं शङ्कते—संबन्धान्तरमिति । ज्ञानस्य विशेषणं विषय इत्युक्ते ज्ञानगतसत्तादिजातिष्व तस्मिन् चक्षुरादिषु च समवायकार्यकारणभावसंबन्धाभ्यां यथायथं ज्ञानं प्रति विशेषणेष्वतिव्याप्तिः स्यात्तदर्थं संबन्धान्तरमन्तरेणेत्युक्तम् । यद्यपि घटतन्ज्ञानयोः कार्यकारणभावोस्ति तथापि स नेश्वरज्ञानेऽतीतादौ च सभवत्यनतिरिक्तश्चेत्यभिप्रायः । विशेष्यं चेति । तेन विशेषणेनेत्यर्थः । तदेतदति-व्याप्त्या दूषयति—न । मत्समवेतमिति । मत्समवेतमित्यत्र हि समवायो ज्ञानं प्रति विशेषणं, नचानयोः सयोगसमवायादिसंबन्धान्तरमस्तीत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः । अस्यैव प्रपञ्चः संबन्धान्तरमित्यादि । ननु मत्समवेतं ज्ञानमित्यस्यानुव्यवसायस्य समवायस्य च विषयविषयिभावाल्लक्ष्यमेव समवायः, तत्र च तल्लक्षणगमनमनुगुण-मेवेत्यत आह—तत्र समवायस्येति । अनुव्यवसायं प्रति विषयत्वेऽपि यत्प्रति विशेषणं, न तत्प्रति विषय-त्वमित्यर्थः । एवं नास्ति घटज्ञानमित्यादावभावस्यापि घटज्ञानादिविषयत्वप्रसङ्गः । प्रतिपादितं बाधकतर्कमु-पसंहरति—तदेवमिति । यत्तु शब्दान्तराद्यप्रामाण्यप्रसङ्ग इत्यादिना मिथ्यात्वे बाधकमुक्तं तदपि भेद-कर्मसमानस्वभावव्यावहारिकमेव सन्तं भेदं प्रतिपादयति ननु ब्रह्मवत्पारमार्थिकमित्यन्यथाप्युपपन्नमित्याह—नच भेदस्येति । निरूपितमनुमानमुपसंहरति—तदेवमिति । तथा विमतः ससर्ग एतद्भट्टैतन्सर्गा-न्यान्याबाध्यान्यतरान्य प्रमेयत्वादित्यादयोऽयत्र महाविद्या द्रष्टव्याः ।

यद्यपीदमनुमानं घटादिमिथ्यात्वं साधयति तथापि न स्वस्य तत्साधयितुमलम् । आत्माश्रयात् । नाप्यन्येन । अनवस्थापातात् । तथाच नाद्वैतसिद्धिः । धर्मत्वादीनां च कियता हेतूनामस्मिन्ननुमानेऽनैकान्तिकत्वमित्यभिप्रेत्य

नन्वस्यानुमानस्य मिथ्यात्वं किमनुमानान्तरेण सिद्ध्यति किं वा स्वेनैव । आद्येऽनवस्था । तस्यतस्यानुमानस्य मिथ्यात्वसाधनेऽनुमानान्तरापेक्षणात् । जिज्ञासायां सत्यां तत्तदनुमानप्रवृत्तेर्नानवस्था मूलक्षयकरीति चेन्न । यद्यदुक्तसाधनं तत्तदुक्तसाध्यमिति व्याप्तिग्रहणसमये तस्यतस्यानुमानस्य मिथ्यात्वानधिगमे सर्वोपसंहारवती व्याप्तिर्न सिद्ध्येत् । अधिगमे च तदधिगमाय तत्तदनुमानान्तरं तदैवापेक्षणीयमिति कथय कथं न मूलक्षतिः । द्वितीये तु स्वात्मनि वृत्तिविरोधः स्वगतमिथ्यात्वस्य स्वेनैव ग्रहणादिति चेन्मैवम् । शब्दशब्दवत्प्रपञ्चसत्यत्वानुमानवदध्ययनविधिवच्चाविरोधात् ।

ननु नाध्ययनविधिप्रयुक्तमध्ययनम् । तस्याध्यापनविधिप्रयुक्तत्वात् । तथाहि अध्ययनविधिर्न स्वविषयाध्ययनस्यानुष्ठापनक्षमः । निर्नियोज्यत्वात् । नह्यत्र कामी जीवनादिनिमित्तवान्यः कश्चिन्नियोज्यः प्रतीयते । नापि विश्वजिदादिवत्कल्पयितुं शक्यः । अध्यापनविधिप्रयुक्तित एव तद्विषयस्याध्ययनस्य सिद्धौ नियोगसिद्धेः कल्पकाभावात् । नचाध्यापनविधेरपि निर्नियोज्यतयानुष्ठापकत्वम् । आचार्यकरणकामस्य नियोज्यस्य प्रतीतेः । तथा हि 'अष्टवर्ष

प्रत्यवतिष्ठते—नन्वस्यानुमानस्येत्यादिना । शङ्कते—जिज्ञासायामिति । यदि हि प्रथमानुमानसमसमय एवानन्तानुमानस्फुरणापत्तिः स्यात्तदानुपलब्धिपराहततया मूलक्षयकरी, नात्र तदस्तीत्यर्थः । दूषयति—यद्यदुक्तसाधनमित्यादिना । तत्तदनुमानजातस्य मिथ्यात्वेन साध्यवध्यक्तित्वात् व्याप्तिग्रहणकाले सर्वेषामेव स्फुरणापत्त्या मूलक्षतेरित्यर्थः । स्वेनैव स्वमिथ्यात्वसाधने दूषणमाह—द्वितीये त्विति । तस्मिन्माक्षेपं परिहरति—मैवम् । शब्दशब्दवदित्यादिना । यथाहि शब्दशब्द शब्दत्वाक्रान्तं शब्दजात विषयीकुर्वन्स्वमपि विषयीकरोति, यथा वा सर्वप्रपञ्चसत्यत्वानुमानं स्वात्मन्यपि सत्यतां साधयतीति भवद्भिरभिमान्यते, यथा वा 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' इत्यध्ययनविधिः स्वाध्यायशब्दवाच्यसमस्तवेदराशेरध्ययनं विदधानस्तदन्तर्वर्तिनः स्वात्मनोऽपि विधत्ते तेषु यः परिहारोद्धारभेदादि सोऽत्रापि समान इत्यर्थः ।

अध्ययनविधेर्विवायकत्वमुक्तममृश्यामाणं प्राभाकरः प्राह—ननु नाध्ययनेति । नन्वविहितस्य कथमनुष्ठानमित्यत आह—तस्येति । ननु श्रूयमाणे विधौ कथमेतत्प्रयुक्तत्वं तत्राह—तथाहीति । स्वविषयरूपमध्ययनं स्वविषयाध्ययनम् । ननु यद्यप्यत्र स्वर्गादिवत्काम्यं, नित्यं वा जीवनादिवत्किञ्चिन्निमित्तं न श्रूयते, तथापि यथा 'विश्वजिता यजेत', 'अमावास्यायामपराह्णे पिण्डपितृयज्ञेन चरन्ती' इत्यत्र वाऽश्रूयमाणोऽपि स्वर्गकाम्यधिकारी कल्पितः । तथा हि 'विश्वजिता यजेते' इत्यत्राश्रूयमाणोऽधिकारी कल्प्य उत नेति संदेहे द्वारमित्यत्र क्रियान्वयं विना कारकाणामिव विषयेण पर्यवसितान्विताभिधानस्य कार्यस्याधिकारिणा विनानुपपत्त्यभावात् अनध्याहार इति प्राप्य राद्धान्तितम् । कर्तृव्यापारकृते कर्त्रा विनानुपपत्तेस्तन्निरूप्यकार्यस्याभ्यनुपपत्तिरिति सोऽध्याहर्तव्यः । स चासबद्धकार्यसबन्धो न संबध्यत इति स्वसबन्धित्वेन कार्यबोद्धा नियोज्यो भवति । तत्रापि सर्वकल्पनाया नैरर्थक्यात् यस्य कस्यचित्कल्पनाया विनिगमनाभावात्सर्वाभिलषितस्वर्गकामोऽधिकारी कल्पितः 'चोदनाया फलाश्रुते' रित्युपक्रम्याधिकरणत्रयेण, 'स स्वर्गं स्यात्सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वा'दित्यन्तेन । एवं पिण्डपितृयज्ञेऽमावास्यायामिति कालपर उत कर्मपर इति सशय्य कर्मपरत्वात्तदङ्गत्वमिति पूर्वपक्षस्य कर्मपरत्वे लक्षणाप्रसङ्गात् कालपरत्वमादाय स्वतन्त्राधिकारत्वेन स्वर्गकामाधिकार्यथाहृत —'पिण्डपितृयज्ञः स्वकालत्वादनङ्गः स्या'दित्यत्र, तद्वदत्र किं न स्यादित्यत आह—नापि विश्वजिदादिवदिति । ननु 'तमभ्यापयतीते' इत्यत्रापि न कश्चिन्नियोज्यः प्रतीयतेऽतो निर्नियोज्यत्वमुभयो समानमिति कथमेतत्प्रयुक्तविषयत्वमितरस्य, तत्राह—न चाध्यापनेति । हेतुमाह—आचार्यकरणकामस्येति । आत्मनो यदाचार्यकरणमाचार्यत्वसंपादनं तत्कामस्येत्यर्थः । नन्वाचार्यकरणकाम इत्यपि न श्रूयते इति तत्राह—तथा हाष्टवर्षमिति । श्रूयता

ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीते'ति श्रूयते, तत्र 'समाननोत्सज्जनाचार्यकरणे'ति सूत्रेणा-
चार्यकरणे नयतेरात्मनेपदविधानात् 'उपनयीत, तमध्यापयीते'ति चोपनयनाध्यापन-
योरेकप्रयोगतावगमात्, उपनयनपूर्वकाध्यापनसाध्याचार्यत्वप्रतीतौ तत्कामिनो नियो-
ज्यत्वावगमात् न निर्नियोज्यताध्यापनविधेः । तथा च स्वविषयस्याध्यापनस्यानुष्ठानं प्रयु-
ञ्जानोऽध्यापनविधिस्तन्निष्पादकमध्ययनमपि प्रयुञ्जे तेन विध्याक्षेपलक्षणोपादानप्रमाणे-
नान्यत एवाध्ययनसिद्धेर्नाध्ययनविधिप्रयुक्तमध्ययनमिति ।

अत्रोच्यते । भवतु नाम सनियोज्यताऽध्यापनविधेः, तथापि नाध्यापनविधिप्रयुक्तता-
ऽध्ययनस्य सिद्धयेत् । कामाधिकारे करणांशे रागस्यैव प्रवर्तकत्वात् अध्यापनस्यापि

नाम, तावतापि किमायातमाचार्यकरण इति तत्राह—तत्र समाननेति । 'समाननोत्सज्जनाचार्यकरणज्ञान-
मृतिविगणनव्ययेषु निय' । अयमर्थः—यद्यपि 'स्वरितञित् कर्त्रभिप्राये क्रियाफल' इति कर्तृशामिफलाभि-
धायिनो नयतेरात्मनेपदं सिद्धं तथायकर्त्रभिप्रायार्थोयमारम्भ, समाननादिष्वर्थेषु गम्यमानेषु नयतेर्धातोरा-
त्मनेपदं स्यात् । तत्र समाननं पूजनं यथा नयते चार्वा लोकायते, चार्वा बुद्धिमानाचार्यो लोकायते मते शिष्या-
नयते । ते हि सद्युक्तिभिराचार्येण प्रतिष्ठापितबुद्धयः सन्त पूजिता भविष्यन्ति इत्यात्मनेपदार्थः । उत्सज्जन-
मुक्षेपणं यथा माणवकमुन्नयते उत्क्षिपतीत्यर्थः । आचार्यकरणमाचार्यत्वसंपादनं यथामाणवकमुपनयते
आत्मानमाचार्यार्थं कर्तुं माणवकमात्मसमीपं प्रापयतीत्यर्थः । ज्ञानं प्रमेयनिश्चयः । यथा नयते चार्वा लोकायते
तन्मते प्रमेयत्वं निश्चिनोतीत्यर्थः । मृतिर्वेतनं यथा कर्मकरानुपनयते मृतिदानेन समीपीकरोतीत्यर्थः ।
विगणनमृणादेर्निर्यातनं यथा मद्रा कर विनयन्ते करदानेन निवर्तयन्तीत्यर्थः । व्ययो धर्मादिषु विनियोगः
यथा शतं विनयते सहस्रं विनयते धर्मार्थं विनियुञ्जे इत्यर्थः । अथ कथमेतेष्वित्युक्तम् अजा ग्रामं नयती-
त्यादिषु विनिवृत्तये इति । तस्मादुपनयीतेति श्रौतमेवाचार्यकरणमित्यर्थः । ननु भवतूपनयनस्याचार्यकरणं फलं
तत्र श्रूयत इति, किमायातमध्यापनस्य सनियोज्यत्व इति तत्राह—उपनयीत तमध्यापयीतेति चेति ।
एकप्रयोगेति । अष्टवर्ष ब्राह्मणमुपनयीत उपनीय च तमध्यापयीतेति क्त्वाश्रुतेरेकप्रयोगतावगम्यते वाजपे-
येनेष्ट्वा बृहस्पतिस्त्वेन यजेतेतिवदित्यर्थः । तथा चैकदेशस्यैवानुष्ठानात्फलासिद्धिरिति सोपनयनाध्यापनादाचा-
र्यत्वसिद्धिरिति भावः । तथा च स्मृतिः—'उपनीय तु य शिष्यं वेदमध्यापयेद्विज । सकल्पं सरहस्यं च
तमाचार्यं प्रचक्षते' इति । ननु भवतूपनयनाध्यापनयोरेकप्रयोगतयाज्ञाङ्गिभावावगमादङ्गे श्रुतस्याङ्गिनि
उपसहारस्तस्य त्वनित्यस्याचार्यकरणस्य कथं नियोज्यविशेषणत्वं नह्यत्र स्वर्गादिवत्कमिशिरस्कत्व प्रतीयते
इत्यत आह—तत्कामिन इति । रात्रिमन्त्रन्यायेन फलत्वं विपरिणम्यते इति भावः । नन्वध्यापनविधि
स्वविषयमध्यापनं विहाय कथमध्ययनं प्रयुञ्जीतेत्याशङ्क्याह—तथा च स्वविषयस्येति । ननु विधिर्हि सर्वत्र
स्वविषये तदङ्गे वा पुरुषमनुष्ठापयति नचाध्ययनस्याध्यापनाङ्गत्वे किञ्चन श्रुत्यादीनामन्यतमत् प्रमाणमस्ति
नचोपकारमात्रादङ्गत्वं, गोदोहनधनार्जनादेरप्यङ्गत्वप्रसङ्गात् । नचैतद्यु[क्तम्, उ] कं हि 'यस्मिन्प्रीति पुरुषस्य
तस्य लिप्साऽर्थैलक्षणाऽविभक्तत्वादि'ति तत्राह—तेन विध्याक्षेपेति । तार्तीयप्रमाणाभावेपि चातुर्थिकमस्ति
प्रमाणमित्यर्थः ।

समाधातुमुपक्रमते—अत्रोच्यत इति । अत्र तावदध्यापनविधेरपि समानमेव निर्नियोज्यत्वमुपनय-
नस्याङ्गत्वेन तत्र श्रूयमाणस्यापापश्लोकश्रवणवदर्थवादत्वादुपसहारायोगादङ्गीकृत्यापि तावदुपादानमन्यथैवोप-
पत्त्या दूषयति—भवतु नामेति । हेतुमाह—कामाधिकार इति । अधिकारो नियोगः । एष हि प्राप्ता-
कराद्धान्तः । अन्यतोऽप्रवृत्तं खलु पुरुषः शास्त्रेण प्रवर्तनीयस्तथा च काम्यनियोगेषु फलवदेव करणांशेपि
रागत एव प्रवृत्तः, इतिकर्तव्यतासु तु शास्त्रेण प्रवृत्त इति । अस्तु प्रस्तुते किमायातमित्यत आह—अध्या-
पनस्यापीति । ननु भवतु करणांशेऽध्यापने कामतः प्रवृत्तिस्तदङ्गेऽध्ययने किमिति विधिर्नैव प्रवर्तयति ज्योति-

१. 'भवन्ति' इति पाठो युक्तो भाति । २ प्रमेयमिति युक्तो भाति । ३. वेतनमिति युक्तो भाति ।

४. क्त्वाश्रुतेरित्युपलक्षणं तमिति तच्छब्दस्य ।

चि. ७

काम्यत्वात्, तद्विषयरागेणैव तन्निष्पादकेष्वध्ययनेनुष्ठानलाभात् अध्यापनविधेरनुष्ठापक-
त्वकल्पनानुपपत्तेः । नचाध्यापनाङ्गत्वादध्ययने विधितः प्रवृत्तिराशङ्कनीया । तत्र श्रुत्या-
दीनामन्यतमप्रमाणस्यादर्शनात् । नचाध्यापनविधिप्रयुक्तत्वादध्ययनस्य तदङ्गत्वं, प्रयुक्ते-
र्व्यभिचारात् । न हि 'भिन्ने जुहोति स्कन्ने जुहोति' इत्यादौ भेदनादिना प्रयुज्यमानो होम-
स्तदङ्गमङ्गीक्रियते, तत्प्रयुक्तेरध्ययनस्याद्याप्यसिद्धेरङ्गत्वेन प्रयुक्तिः प्रयुक्तौ च तदङ्गत्वमिति
परस्पराश्रयता च । किं चाध्ययनविधावधिकारिणमङ्गीकुर्वता नियोज्यः कस्मान्न स्वीक्रियते
इति वाच्यम् । अनुष्ठानसिद्धये नियोज्योऽपेक्षितव्यः तच्चान्यत एव सिद्धमिति नासावङ्गी-
क्रियत इति चेत्तर्हि अधिकार्यपि नापेक्षणीयः अनुष्ठानस्यान्यत एव सिद्धेः । अधिकारी
विधिपर्यवसानायापेक्ष्यत इति चेत् नियोज्येपि तुल्यं, तेनापि विना नियोगपर्यवसा-
नात् । अन्यतोपि विषयानुष्ठानसिद्ध्या च नियोगसिद्धौ का नाम विधेरपर्यवसानवाचो-
युक्तिः । किं च तमध्यापयतीति च नायमध्यापने विधिः वृत्त्यर्थत्वेनाध्यापनस्य याजन-
वत्प्राप्तत्वात् । उक्तं हि—'षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका । याजनाध्यापने

ष्टोमाङ्गेष्विव दीक्षणीयादिषु, न च दृष्टार्थत्वादविधेयत्वं, तत्तन्मियमोपेताध्ययनजन्यादृष्टस्यावघातादिविवान्यतो-
ऽप्राप्तस्य विद्यमानत्वादित्यत आह—**न चाध्यापनेति** । ननु श्रुत्यादिप्रमाणाभावेपि तत्प्रयुक्तत्वलक्षणोपा-
दानप्रमाणात्तदङ्गत्वमुक्तमिति तत्राह—**न चाध्यापनविधीति** । भिन्ने जुहोतीत्यादौ भेदनादीना निमित्त-
त्वेन नैमित्तिकहोमं प्रति प्रयोजकत्वमस्ति अथ च नाङ्गत्वं भेदनादीना निमित्तत्वेनानुष्ठेयतयाङ्गित्वानुप-
पत्तेः । अतः प्रयुक्तिर्व्यभिचारिणीत्यर्थः । अङ्गीकृत्य प्रयुक्तिमेतदुक्तं सैव तु नास्तीत्याह—**तत्प्रयुक्तेरिति** ।
रागस्यैवोभयत्र प्रयोजकत्वादिति भावः । नन्वङ्गत्वात्प्रयुक्तिरित्यत आह—**अङ्गत्वेन प्रयुक्तिरिति** । किंच
नोपादानात्मकं किञ्चिन्मानं, मेयानिरूपणात् । तस्माच्छ्रुत्यादिषट्केण विनियोगो नचात्र (तत्) ते यत्तु प्रोक्षणादे-
कत्वर्थत्वमुपादानलभ्यमिति तत्र, श्रुत्यैवापूर्वसाधनत्वे त्रीह्यादिगते विनियोगात् । तथापि कथमपूर्वार्थत्वमुच्यते
ब्रीहीणा तण्डुलपिष्टपुरोडाशयागप्रणालिकयाऽपूर्वसाधनत्वमस्ति तथाविधाश्चोद्दिश्य विधीयमानं सर्वस्य द्वारद्वा-
रिभावव्यवस्थितस्याङ्गं भवतीति, पश्चेकत्वादीनामपिश्रुत्यैव विनियोगसिद्धिं ज्योतिष्टोमादेश्च फलार्थत्वं वाक्या-
दिभिरिति । यच्च निर्नियोज्यत्वमध्ययनविधेरुक्तं तदपि दूषयति—**किं चाध्ययनविधाविति** । पूर्ववादी
नियोज्यानङ्गीकारे कारणमाह—**अनुष्ठानसिद्धय इति** । दूषयति—**अधिकार्यपीति** । अनुष्ठानार्थ-
मधिकार्यपेक्षा तच्चेदन्यत सिद्धं किमर्थमधिकार्यपेक्ष्यत इत्यर्थः । शङ्कते—**अधिकारीति** । अयमभि-
संधिः । यद्यपि कार्यमेव नियोगापरपर्यायं वाक्यार्थस्तथापि तदेवेष्टसाधनतानिबन्धनं यथाहुः—'फलसा-
धनता तत्र कारणं तेन कार्यते'ति । तच्चेष्टसाधनत्वं कस्येति भोक्तारमधिकारिणमाकाङ्क्षमाणं न तावत्पर्यव-
स्यति यावन्नाधिकारिविशेषप्रतीतिरिति, तदेतन्नियोज्येपि तुल्यं नियोगस्यापि नियोज्यव्यतिरेकेणापर्यवसाना-
दिति । परिहरति—**नियोज्येपीति** । आपाद्यदूषणमिदम् आधानादिनियोगेषु तैरनङ्गीकारात् । किंच विषयसि-
द्धिद्वारा स्वसिद्धिर्हि विधेः पर्यवसानं सा चेदन्यतोपि सिद्धा पर्यवसित एव विधिरित्यधिकार्यपेक्षापि निर्नि-
बन्धनेत्याह—**अन्यतोपीति** । अध्यापनस्य विधेयत्वमङ्गीकृत्यैतदुक्तं तदेव नास्तीत्याह—**किं चेति** । तत्र
किं वृत्त्यर्थं यदध्यापनं तदेव विधेयमुतालौकिकनियोगार्थं कश्चित् । नाय इत्याह—**वृत्त्यर्थत्वेनेति** ।
अध्ययनाध्यापनयजनयाजनदानप्रतिग्रहात्मकानां षण्णां कर्मणां मध्ये त्रीणि जीविका जीवनसाधनम् । तान्येवाह
—**याजनेत्यादिना** । ननु यदि न विधानं कथं तर्हि उपनयिताध्यापयतीति विधीयत इत्यत आह—

१. अलौकिकनियोगार्थं कश्चिदिति—अलौकिकनियोगार्थं किञ्चिदिति पाठो युक्तो भाति ।

चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रह' इति । तस्माद्यथैतयाऽन्नाद्यकामं याजयेदित्यादिषु याजनं न विधीयते किंतु एतयान्नाद्यकामो यजेतेति वाक्यार्थः । तथेहाप्य'ष्टवर्षो ब्राह्मण उपगच्छेत्सोधीयीते'ति वाक्यार्थः स्वीकार्यः । नचालौकिकनियोगार्थत्वेनाध्यापने विधिः याजनेपि तथाप्रसङ्गात् । अपि चाध्ययनं नित्यं, 'योऽनधीय द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते श्रमम् । स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥' इत्यादिनाऽकरणे प्रत्यवायस्मरणात्, अध्यापनं चानित्यं, काम्यत्वात्, तथाच कथं नित्यमनित्येन प्रयुज्येत, विरोधात्, तस्मादध्ययनविधिप्रयुक्तमेवाध्ययनमिति न दृष्टान्तासिद्धिः । अस्तु वाध्यापनविधिप्रयुक्तमध्ययनं तथाप्यध्यापनविधिरखिलवेदवाक्याध्यापनं विदधानः स्ववाक्याध्यापनमपि विधत्त इति स एव दृष्टान्तो भविष्यतीत्यलमतिविस्तरेण ।

तथैकमेवाद्वितीयमित्याद्यागमोपि तत्र प्रमाणम् । नचाद्वितीयशब्दस्तत्सजातीयवस्त्वन्तरनिषेधपरः, संकोचे कारणाभावादेकत्वविशेषणेनैव सजातीयस्य निषिद्धत्वात् सजातीयमात्रनिषेधपरत्वे चैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानस्य वाचारम्भणशब्दस्य चैतदात्म्यमिदं सर्वमित्याद्युपसंहारस्य च बाधप्रसङ्गात् । नचैकमित्येकत्वसंख्याविधानपरं, तत्रैव तस्य व्युत्पत्तेरिति वाच्यम् । एकं रूपमेका संख्या एकोऽभाव इत्यादावपि प्रयोगात् । आनन्त्यमप्युभयान्ताभाव एव, तत्रैव तस्य व्युत्पत्तेरित्यपि न । पूर्वापरकालानवच्छेदस्यैवेहानन्तपदेन विवक्षायां नित्यमाकाशमनन्तं चेति प्रयोगानुपपत्तिप्रसङ्गात् ।

तस्माद्यथैतयेति । एतया वेष्ट्या, यथाहि न तावद्यथाश्रुति याजनं विधातुं शक्यं वृत्त्यर्थत्वेन तत्र स्वत एव प्रवृत्तत्वादतो प्राप्तप्रयोज्यरूपसाक्षात्कर्तृव्यापारयागपरो विधिस्तथेहाप्यन्यतो प्राप्तप्रयोज्यमाणवकव्यापारावुपगमनाध्ययने विधीयेते इत्यर्थः । न द्वितीय इत्याह—**नचालौकिकेति ।** सिद्धान्तलोकितेन अध्यापनविधेयत्वपक्ष एव दूषणान्तरमाह—**अपिचाध्ययनमिति ।** सान्वय सर्वशः । **विरोधादिति ।** काम्यं हि कामनाधीनं कामना हि कादाचित्की उपायान्तरादपि तत्फलप्राप्तौ यदा स्वविषयं नातुष्टापयति तदा नित्यमध्ययनं कथं प्रयुज्येत अविद्यमानस्याप्रयोजकत्वात् । अथ स्वयमपि यावत्प्रयोज्यं विद्यमानं तदा काम्यत्वविरोध इति । अलं वा गुरुभिर्विवादेन । भवत्वध्ययनमध्यापनविधिप्रयुक्तं तथापि स एवाध्यापनविधिर्दृष्टान्त इत्याह—**अस्तु वेति ।**

तदेवमनुमानं प्रपञ्चमिथ्यात्वे प्रमाणमभिहितम् । अथागममपि प्रमाणयति—**तथैकमेवेति ।** पूर्वपक्षोक्तदूषणमद्वय दूषयति—**नचेति । संकोच इति ।** अद्वितीयमित्यत्र द्वितीयमात्रवाचिनो द्वितीयशब्दस्य द्वितीयविशेषे तन्निष्ठनिषेधकनञस्तद्विशेषनिषेधे वा संकोचे प्रमाणाभावादित्यर्थः । अन्यतः सिद्धत्वाच्च नानेन तन्निषेधमित्याह—**एकत्वविशेषणेति ।** किंच सजातीयमात्रनिषेधपरत्वे समस्तद्वैतनिषेधपरताप्रतिपादकोपक्रमपरामर्शोपसंहाराश्च विरुद्धेरनित्याह—**सजातीयेति ।** नन्वेकशब्दो न सजातीयनिषेधपरोऽपि तु एकत्वसंख्याभिधानपरः । यथाह मानमनोहरकार—'एकत्वसंख्यामाचष्टे तत्रैव लोके व्युत्पत्ते लोकाशक्तेश्च वेदे बोधकत्वादिति । तत्राह—**नचैकमिति ।** संख्यारहितेष्वपि रूपसंख्याभावेषु प्रयोगाद्वाधकाभावाच्च नौपचारिकसंख्यापीति भावः । यत्तु तेनैवोक्तम् 'आनन्त्यं पुनरुभयान्ताभाव एव तत्रैव लोके व्युत्पत्तेरिति तदयनूय दूषयति—**आनन्त्यमपीति ।** तत्र हेतु—**पूर्वापरेति ।** अस्ति तावन्नित्यमाकाशमनन्तं चेति प्रयोगः, तत्र यद्यन्तपदेनैव पूर्वापरकालावच्छेदरूपोभयान्तोऽभिधीयते तन्निषेधश्चानन्तपदेनोच्यते तदा नित्यशब्दः पुनरुक्तः स्यादित्यर्थः । अथ देशकालकृतोन्तः उभयान्तस्तथापि पुनरुक्तिरिति

न चान्योन्याभावाधिकरणत्वानधिकरणे व्युत्पत्त्यभावो दोषः । अन्तशब्दस्य देशतः कालतो वस्तुतश्च परिच्छिन्ने व्युत्पन्नत्वान्तस्य नञ्समासे त्रिविधस्याप्यन्तस्य निषेधकतोपपत्तौ पृथग्व्युत्पत्त्यनपेक्षत्वात् । नेह नानास्ति किंचनेति च न ब्रह्मणि नानात्वं निषिध्यते । अप्रसक्तत्वात् । नहि लोकतः श्रुतितो वा वादिप्रसिद्धितो वा ब्रह्मणि नानात्वं प्रसक्तं येन प्रतिषिद्ध्येत । नानाशब्दस्य भावप्रत्ययान्तताभावाच्च न नानात्वनिषेधः । तन्निषेधे वा संकोचे कारणाभावात् सजातीयविजातीयस्वगतनानात्वनिषेधाद्ब्रह्माद्वैतमेव पर्यवस्येदिति स एव घट्टकुट्टीप्रभातवृत्तान्तः प्रसज्येत ।

न चेन्द्रो मायाभिरितीन्द्रियद्वारकबुद्धिवृत्त्युपाधावीश्वरस्य भेदोवभासत इत्येतावत्परमिदं वाक्यं ननु द्वैतनिषेधपरमिति युक्तम् । ईश्वरस्य नित्यानुमेयस्यैन्द्रियकबुद्धिवृत्तिविषयत्वानङ्गीकारात् । * मायाशक्तिविशेषाभिधाने च 'युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशे'ति वाक्यशेषो न संगच्छेत । इन्द्रियबाहुल्याभिधानस्य मायाशक्तिविशेषाभिधानं प्रत्यनुपयुक्तत्वात् । अयं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि चेति वाक्यशेषे सर्वस्येश्वरात्मकत्वप्रतिपादनविरोधाच्च । मृत्योः स मृत्युमिति च नाभेदप्रतिपत्तिविधिः । नेह नानास्ति किंच

भाव । यस्तु पूर्वपक्षिणा व्युत्पत्त्यभावोभिहितस्तं दूषयति—**न चान्योन्याभावेति** । सर्वत्र ह्यभाववाचकशब्दानां प्रतियोगिवाचकशब्दव्युत्पत्तिर एव व्युत्पत्तिस्तत्कुतो हेतोः, यौगिकत्वाद्यौगिकानां चावयवव्युत्पत्तिर एव व्युत्पत्तेः समुदायव्युत्पत्त्यनपेक्षणात् । तदिहान्तपदस्यावच्छेदत्रये व्युत्पत्तेर्नञस्तन्निषेधव्युत्पन्नत्वान्न पृथक् समुदायस्य व्युत्पत्त्यपेक्षेत्याह—**अन्तशब्दस्येति** । यत्तु नेह नानेत्यत्र ब्रह्मणि नानात्वनिषेधादेकं ब्रह्मेति सिद्ध्यति न तु द्वैतनिषेध इत्युक्तं तन्निषेधेति—**नेह नानेति** । अयमभिसन्धिः । प्रसक्त हि सर्वत्र निषेधं नाप्रसक्तम् । यत्तु क्वचिदप्रसक्तस्यापि निषेधो यथा नान्तरिक्षे न दिवि इत्यत्र, [तत्र] गत्यन्तर नास्ति । नच तत्रापि निषेधपरत्वं, अर्थवादो ह्ययं स्वमोपवानस्य, स्वममुपधातीत्यनेनैकवाक्यत्वात्, तस्माद्यथाकथंचन तत्स्तुतावेव तात्पर्यम् । अत्र तु द्वैतनिषेधपरत्वमिति वैषम्यं, तदिहापि प्रसक्तद्वैतप्रपञ्चनिषेधपरत्वं युक्तं नाप्रसक्तेश्वरनानात्वनिषेधपरत्वमिति । किंच नानात्वनिषेधपरत्वे नानाशब्देन द्वैकयोरित्यत्र द्वैकत्ववत् नानात्वं लक्षणीयं, न च विना कारणं सा युक्ता, अतिप्रसङ्गात् । प्रत्यक्षादिविरोधस्तु कारणं हृदि विपरिवर्तमानं पुरस्तादेव निरस्तं तदनेनाभिसन्धिनाह—**नानाशब्दस्येति** । भवतु नानाशब्देन नानात्वाभिधानं गोशब्देन गोत्वस्येव तथापि सङ्कोचे कारणाभावात् समस्तप्रतियोगिकनानात्वनिषेधाद्वैतसिद्धिरित्याह—**तन्निषेधे वेति** । नानाशब्दस्य च नानात्ववाचकत्वेपि तवोक्तिवैयर्थ्यं तदुपलक्षितव्यक्तिवचनत्वे चेह गौर्नास्तीतिवत्तज्जातीयनिषेधसिद्धिरित्यपि द्रष्टव्यम् ।

यत्तु श्रुत्यन्तरस्यान्यथासिद्धिरुक्ता पूर्वपक्षिणा तामनुवादपूर्वकं दूषयति—**न चेन्द्र इत्यादिना** । प्रत्यक्षयोग्यं खल्वैन्द्रियकबुद्धिवृत्तौ प्रतीयते ईश्वरस्त्वतीन्द्रियो न तथेति न बुद्धिवृत्त्यभिप्रायेणायं मायाशब्द इत्यर्थः । नीरूपत्वादवाह्यत्वादनवतारप्रकरणत्वाच्च न योगीन्द्रियापेक्षयेति भावः । यत्त्वीश्वरशक्तयो वेत्युक्तं तत्राह—**मायाशक्तीति** । असङ्गतिमेवाह—**इन्द्रियेति** । तत्र हि दशशतहरयोऽस्य युक्ता इतीन्द्रियाणि हरिशब्देनोच्यन्ते । तद्बाहुल्याभिधानं नेश्वरशक्तिप्रतिपादनोपयोगीत्यर्थः । उत्तरत्र तेषां हरीणामीश्वरमात्रतया बोधनमपि त्वत्पक्षे विरुद्ध्यते तेषां भिन्नत्वाभ्युपगमादित्याह—**अयं वै हरय इति** । नच निमित्तत्वाभिप्रायेण, सामानाधिकरण्यानुपपत्तेरिति भावः । यत्तु मृत्योः स मृत्युमित्यभेददर्शनस्य विधित्सितस्य स्तुतिर्न तु द्वैतनिषेधपरमिति तत्राह—**मृत्योरिति** । यदि ह्यभेदप्रतिपत्तिमात्रं विधित्सितं तदा द्वैतनिषेधो व्यर्थः ।

नेति द्वैतनिषेधवैयर्थ्यात्, अनुपासनप्रकरणत्वाच्च । पूर्वापरालोचनायां चास्य प्रकरणस्य निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मत्वप्रतिपत्तौ तात्पर्याधिगमात् । ननु पूर्वापरवाक्यानामुपासनपरतापि दृश्यते 'आयुर्होपासतेऽमृतं, विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत, सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः, अन्नादो वसु-
दानो विन्दते वसु य एवं वेदे'त्यादिश्रवणादिति चेन्मैवं, प्रसङ्गागतत्वादुपासनानुवादस्य ।

तमेव धीरो विज्ञायेति च यस्मिन्पञ्च पञ्चजना इति च पूर्वोदिताकाशादितत्त्वाधार-
तया सप्रपञ्चताप्रसक्तावधारणस्य तन्निवारणपरत्वात्, प्रज्ञां कुर्वीतेति च प्रज्ञाशब्देन विज्ञानशब्दाभिधेयपरोक्षज्ञानातिरिक्तसाक्षात्काराभिधानाङ्गीकारे तस्यानवधिसुखरूपास-
साक्षात्कारतया फलत्वेन विधेयत्वानुपपत्तेः, सर्वस्य वशीत्यादेः स्तुतिपरतया गुणविधा-
नार्थत्वाभावात्, आगमस्य च स्वरूपप्रतीतौ पदपदार्थसंबन्धावगमे च प्रत्यक्षादिसापे-
क्षत्वेपि तस्य तद्विषयस्य च पारमार्थिकत्वांशस्यानुपजीव्यत्वात्तद्वाधनेपि विरोधाभावान्,
सांव्यवहारिकभेदाभावस्य ज्ञानोदयनान्तरीयकतया श्रुतिबाध्यत्वाभावात् न व्यावहारिक-
भेदसापेक्षतया श्रुतेरप्रामाण्यप्रसङ्गः । नच न हिस्यादित्यादिवाक्येषु परस्परपराहतिः ।
सामान्यविशेषभावेनेच्छाविकल्पेन वा व्यवस्थितविकल्पेन वाऽविरोधोपपत्तेः ।

प्रत्युतानर्थकरश्चाद्वैततत्त्वभ्रान्तिप्रसक्तेरिति भावः । किंच निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मज्ञानप्रकरणोत्कर्षश्चोपासनापरत्वे
इत्याह—**अनुपासनेति** । अस्यैव प्रपञ्च—**पूर्वापरेति** । ननु 'तं देवा ज्योतिषा ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतं'-
मिति, विज्ञाय शास्त्रतः प्रज्ञा साक्षात्कारलक्षणा संपादयेदिति च, तथा सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः, अन्नादोऽन्न-
मा समन्ताद्दत् वसुदानो धनप्रद इति यो वेद स वसु धनं विन्दते लभते इति, तत्रैव पूर्वोत्तरभागयोरुपासना-
श्रवणादुपासनाप्रकरणमेतदिति चोदयति—**ननु पूर्वापरेति । प्रसङ्गागतत्वादिति** । निष्प्रपञ्चब्रह्मप्रकरण
एव स्तुत्यर्थमुपासनानुवादः स न तु विधिर्वैयर्थ्यभेदप्रसङ्गादित्यर्थः ।

किंच तमेव धीर इति, तमेव मन्य इति चैवकाराभ्यां यस्मिन्पञ्च पञ्चजना पञ्चप्राणादयः आकाशश्च
प्रतिष्ठित इति पूर्वेवाक्यारोपिताकाशादिप्रपञ्चव्यावर्तनान्निष्प्रपञ्चब्रह्मपरत्वमेवेत्याह—**तमेव धीर इति** ।
निष्प्रपञ्चब्रह्मपरत्वेपि तत्साक्षात्कारविपरित्वं भवत्विति नेत्याह—**प्रज्ञामिति** । यत्तु सर्वस्य वशीत्यादि-
गुणकं य एवं वेदेत्युपासनं विधत्ते इति तत्राह—**सर्वस्य वशीत्यादेरिति** । प्रतिपादितं खल्विदं 'कामा-
दीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः' इत्यत्र । उपजीव्यविरोधं परिहरति—**आगमस्येति** । तस्येति । प्रत्यक्षस्य ।
एतदुक्तं भवति । निषिध्यमानं तदीयपारमार्थिकत्वं नापेक्ष्यते यन्नापेक्ष्यते साव्यवहारिकं रूपं न तद्वाध्यत इति ।
ननु साव्यवहारिकमपि रूपमागमेन बाध्यमेवेतरथाऽद्वैतानुपपत्तेरतस्तत्रैवोपजीव्यविरोधो दुर्निवारण इति तत्राह
—**सांव्यवहारिकेति** । यथा तेषां वास्तवत्वज्ञानं तत्त्वप्रतिपत्तिविरोधि न तथा साव्यवहारिकाकारज्ञान-
मिति भावः । तदेतदखिलमद्वैतश्रुतीनामन्यथासिद्धिपथपरिधावनव्यथितचेतसे शालिकनाथायापि कथयत ।
यत्तु कृत्स्नस्यैव च वेदस्य परस्परपराहलोपहतत्वमुक्तं तत्परिहरति—**नचेति** । **सामान्यविशेषभावे-**
नेति । भिन्नविषयत्वस्योपलक्षणमिदं मुख्यसामान्यविशेषभावाभावात् । यथाहवनीये जुहोतीति होममात्रा-
धिकरणतया प्राप्तस्याहवनीयस्य पदे जुहोतीति विशेषविधानात् तदितरहोमविषयतया सङ्कोचः । नहि तथेह
हिसामात्रविषयतया निषेधः प्रवर्तते येन विशेषे सङ्कोचमर्हदपि रागप्राप्तिसाया, तावतापि निषेधोपपत्तौ न
क्रतुप्रकरणेपि निषेधपदप्रक्षेपकल्पना तस्या प्रमाणाभावात् । प्रत्युत यदर्थः प्रवृत्तिस्तदर्थः प्रतिषेध इति न्याये-
नानृतवदनाज्यभागादिप्रतिषेधस्येवास्यापि कृत्वर्थत्वं स्यात् तथाच विधिप्रतिषेधयोरनयोऽग्रहणाग्रहणषड्विकल्प-
स्यादित्यनर्थपरपरैव स्यात्स्माद्वर्णितविभिन्नविषयत्वस्य केवलमुपलक्षणमिदं, ग्रहणाग्रहणयोरिच्छया विकल्पः
उदितानुदितहोमयोः शाखाभेदेन व्यवस्थितविकल्पः ।

• नच कर्मज्ञानकाण्डयोर्भेदाभेदविषयतया कर्मानुष्ठानतत्त्यागप्रतिपादकतया च विरोधः । विद्याविद्यावस्थाभेदेन विद्वद्विद्वत्पुरुषविषयतया चाविरोधात् । तदेवं मिथ्यात्वे लक्षण-प्रमाणयोरुपपन्नत्वादर्निर्वचनीयानाद्यविद्याविलसित एवायमात्मनि द्वैतप्रपञ्च इत्यलमति-प्रपञ्चेन । ४ ।

ननु भोः केयमनिर्वचनीयाविद्या नाम । नहि ज्ञानाभावव्यतिरेकेण काचिद्विद्या प्रसिद्धा उपपन्ना वा ज्ञानप्रागभावप्रध्वंसयोरेव न जानामीत्यविद्यात्वेन लोके व्या-वहारिकव्यवहारोपलम्भात् । अविद्येति च विद्यापदेन समस्यमानस्य च नञस्तदभावस्त-द्विरोधी तदन्यो वार्थोऽभ्युपेयः । आद्ये विद्याभावस्यापि वेद्याभाववन्नानिर्वचनीयता । द्विती-ये तु संशयविपर्यासादेर्विद्याविरोधिनो गुणान्तरस्य वा नानिर्वचनीयतोपपत्तिः, प्रसिद्ध-भावस्त्वभावत्वस्य व्याकोपात् । न तृतीयोपि । विद्यातिरिक्तस्य समस्तस्याविद्यात्वप्रस-ङ्गात् । नचास्या लक्षणं प्रमाणं वा पश्यामः । न तावज्ज्ञाननिवर्त्यमज्ञानं पूर्वज्ञानस्यापि तन्निवर्त्यस्याज्ञानत्वप्राप्तेः । अनादित्वविशेषणाददोष इति चेन्न । ज्ञानप्रागभावे व्यभि-चारात् । अनादिभावत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यमज्ञानमिति चेत् । न । अनादेर्भावस्यासवन्नित्य-त्वेन निवर्त्यत्वानुपपत्तेः । अथ चिरन्तनमतानुसारेणानादेरेव भावस्य परमाणुगतश्याम-त्वादेरिव निवर्त्यत्वमुच्येत तर्हि तस्मिन्नेवेश्वरज्ञाननिवर्त्येऽतिव्याप्तिः । त्वदुक्तलक्षणस्यापि

कर्मकाण्डज्ञानकाण्डयोर्विरोधं परिहरति—**नचेत्यादिना** । विद्याऽविद्यावस्थाभेदेनाभिन्नभिन्नवस्तुप्रतिपा-दनयोरविरोध कर्मत्यागविधानयोस्तु विद्वद्विद्वत्पुरुषवि षयत्वाच्छ्रुद्धान्त करण. परोक्षज्ञानवान्वा विद्वान् । यथाहि न हि स्यात्सर्वभूतानीति फलाशे निषिद्धस्य श्येनेनाभिचरन्त्यजेतेत्यस्यानवबुद्धप्रतिषेधवाक्यार्थं पुरुषं प्रति प्रवृत्तिरितरस्य त्वितर प्रतीति विभागस्तद्वदिति भाव । वादार्थमुपसहरति—**तदेवमिति** ।

अनिर्वचनीयानाद्यविद्येत्युक्तमुपश्रुत्य प्रत्यवतिष्ठते—**नन्विति** । ननु सर्वेषामेव मोक्षवादिनामनित्याशुचिदुः-खरूपससारे नित्यशुचिसुखख्यालभिरतिनिदानमविद्या प्रसिद्धैव किमत्र वक्तव्यमित्यत आह—**नहि ज्ञानाभा-वेति** । ननु सामान्येन सिद्धाविद्याया उपपत्तिबलादनाद्यनिर्वचनीयत्वमायातीत्यत आह—**उपपन्ना वेति** । अभाव एव प्रसिद्धि निदर्शयति—**ज्ञानेति** । प्रागभावप्रध्वंसयोरिति सप्तमी । व्यावहारिका व्यवहारकर्तार तेषां व्यवहारोपलम्भादित्यर्थः । एवं प्रसिद्धभावमेवाभिधायोपपत्त्यभावमाह—**अविद्येति** । अविद्येत्यत्र नञस्तावद-र्थत्रयं संभवति तच्च निर्वचनीयभावाभावयोरेवान्तर्भवति नानिर्वचनीय कश्चिद्विद्याशब्दार्थ इत्यर्थः । **विद्याभावस्यापीति** । यथा वेद्यस्य घटादेरभावो नानिर्वचनीयो भावाभावविलक्षणत्वाङ्गीकारादनिर्वचनीयस्य, तथा ज्ञानाभावस्यापि नानिर्वचनीयत्वमित्यर्थः । विद्याविरोध्यविद्येति द्वितीयपक्षं निषेधति—**द्वितीये त्विति** । एवमविद्याशब्दात्तावदनिर्वचनीयानाद्यविद्याप्रतीत्यभावमुक्त्वा लक्षणप्रमाणानिरूपणादपि तदभा-वमाह—**नचास्या इति** । तत्र ज्ञाननिवर्त्यत्वं तावलक्षणं अनादित्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वं वा अनादिभा-वत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वं वा अनादित्वे सत्यनिर्वचनीयत्वं वा भ्रमोपादानत्वं वा । नाद्य इत्याह—**न ताव-दिति** । निर्वचनीयतयाङ्गीकृतपूर्वज्ञानादिष्वतिव्याप्तिरित्यर्थः । द्वितीये तु प्रागभावेऽतिव्याप्तिमाह—**अना-दित्वेति** । तृतीयेऽसंभवमाह—**अनादीति** । आधुनिकैः पार्थिवपरमाणुविशेषगुणानां पाकजत्वाङ्गीकारा-च्चिरतनग्रहणम् । **तर्हि तस्मिन्निति** । तैरेव चिरतनैस्तेषामीश्वरज्ञाननिमित्तकविनाशाङ्गीकारादतिव्याप्तिर्ल-क्षणस्येत्यर्थः । **त्वदुक्तलक्षणस्यापीति** । त्वदुक्तं लक्षणं यस्य श्यामत्वादे स तथोक्तः । चतुर्थं शङ्कते—**अथेति** । किमिदमनिर्वचनीयत्वं नाम, न तावन्निर्वचनाविषयत्वं अनेनैव प्रकारेण निरुच्यमानत्वान्नापि सद-

तस्याज्ञानत्वाभावात् । अथानाद्यनिर्वचनीयमज्ञानं तदपि न । निर्वचनागोचरताया भावाभावविलक्षणतायाश्चासंभवित्वात् । भ्रमोपादानमज्ञानमित्यपि न । आत्मन्यतिव्याप्तेः । सत्योपादानत्वे भ्रमस्य सत्यत्वप्रसङ्गात् नास्योपादानमिति चेन्न । भ्रमस्यापि स्वरूपसत्यत्वात् । विषयापहाराद्धि तत्र मिथ्येति व्यवहारो न स्वरूपापहारात् । तथात्वे चैतावन्तं कालमिदं रजतमित्यभादित्यनुभवविरोधः । अस्तु वा यत्किञ्चिदविचारितरमणीयं लक्षणं तथापि तत्र किं प्रमाणम् । अज्ञोऽहमित्यनुभव इति चेन्न । तस्य ज्ञानाभावविषयत्वेनाप्युपपत्तेः । अनादित्वभावत्वयोस्त्वदभिमतयोरस्यानुभवस्यौदासीन्याच्च । नापि सुप्तोत्थितस्य न किञ्चिदवेदिषं गाढं मूढोहमासमिति परामर्शानुपपत्तिसिद्धः सुषुप्तिकालीनोऽनुभवः प्रमाणं, त्वन्मते ज्ञानाभावस्यापि साक्षिसिद्धस्य परामर्शोपपत्तेः । अस्मन्मते चेदानीमेव ज्ञानाभावस्यानुमीयमानतया परामर्शसंप्रतिपत्तेः । ननु कथं ज्ञानाभावस्य निर्विकल्पकचैतन्यगोचरतया सिद्धिः तत्सिद्धेर्धर्मप्रतियोगिज्ञानपराधीनत्वात्, सुषुप्तौ च तदसंभवादिति चेन्न । ज्ञानाभावस्यापि स्वरूपेण भेदादिवन्निर्विकल्पकसिद्धस्य सविकल्पकदशायां धर्मप्रतियोगिज्ञानपराधीनतया स्फुटतरव्यवहारविषयत्वोपपत्तेः । नचासिद्धे तत्कालीने धर्मिण्यात्मनि, ज्ञानाभावस्येदानीमेवानुमीयमानत्वासिद्धिः, प्रतिपन्ने हि प्रातश्चत्वरौ धर्मिणि सायंसमये तत्र गजाभावानुमानमुपलभ्यत इति वाच्यम् । संप्रतिपन्नोदयास्तमयवद्विवादपदयोरप्युदयास्तमययोरन्तरालकालमनुमाय का-

सद्विलक्षणत्वं परस्परविरुद्धयोर्भावाभाववदुभयवैलक्षण्यस्याप्यसंभवात् । असंभवीदं लक्षणमित्याह—निर्वचनेति । भ्रमोपादानमज्ञानमिति । आत्मनोपि हि जगद्विभ्रमाधिष्ठानत्वमङ्गीक्रियते भवद्विरन्यथा जन्माद्यधिकरणायानारम्भप्रसङ्गात् । अङ्गीकृतमस्माभिश्चात्मनो विभ्रमसमवायिकारणत्वमिति भावः । आत्मनि लक्षणावृत्ति शङ्कते—सत्योपादानत्व इति । नायमनिष्टप्रसङ्ग इति परिहरति—न । भ्रमस्यापीति । ननु स्वरूपमात्रसत्यत्वे कथं मिथ्याज्ञानत्वप्रसिद्धिरित्यत आह—विषयेति । स्वरूपस्याप्यपहारे प्रत्यभिज्ञाविरोधमाह—तथात्वे चेति । अनादित्वेति । अज्ञोहमिति ज्ञानराहित्यमेष प्रतीयते ननु तस्याज्ञानस्यानादित्वभावात्वे । अतो नेदमभिमतसाधकमित्यर्थः । स्यादेतत् अस्ति तावत्सुप्तोत्थितस्य एतावन्तं कालं न किञ्चिदवेदिषमिति परामर्शः सच्च सुषुप्तिकालीनमज्ञानानुभवं गमयति अननुभूते परामर्शयोगात् । स चानुभवस्तत्र प्रमाणमिति तदेतदूषयति—नापीति । सुषुप्तिकालीनज्ञानाभावगमकतया त्वन्मते तावदन्यथासिद्धमस्मन्मते तूत्थानानन्तरकालीनमनुमानं पूर्वकालीनज्ञानाभावविषयमित्युभयथापि विवक्षितासिद्धिरित्याह—त्वन्मत इति । या तु वेदान्तपक्षेऽन्यथासिद्धिरुक्ता सा न युक्ता धर्मप्रतियोगिज्ञानाधीनज्ञानस्य ज्ञानाभावस्य सुषुप्तौ निर्विशेषचिन्मात्रादप्रतीतेरिति शङ्कते—ननु कथमिति । प्रथमं निर्विकल्पकानुभूतस्यापि पश्चात् सविकल्पकविषयतया विशिष्टव्यवहारहेतुत्वं भवति । नच नित्यसापेक्षतया निर्विकल्पकविषयत्वं, भेदसादृश्यादिभिर्व्यभिचारादिति परिहरति—न । ज्ञानाभावस्यापीति । ननु भवत्वस्मत्पक्षेऽन्यथासिद्धिस्त्वपक्षे तु कथमनुमानत्वमस्य सौषुप्तिकात्मनस्तदानीमनुभवात् तस्मिन्धर्मिणि ज्ञानाभावानुमानायोगात् यथाहि प्रातश्चत्वे गजो नासीदित्यत्र प्रातःकालीनचत्वरानधिगमे गजाभावानुमानाभाव इति शङ्का निराकरोति—नचासिद्ध इति । नच वाच्यमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—संप्रतिपन्नेति । यद्यपि सुषुप्तिसमये तत्कालीनात्मनो न ज्ञानमस्ति तथाप्युत्तरकाले संभवत्येवानुमानेन

लाख्येन लिङ्गेनानुमिते धर्मिण्यात्मनि ज्ञानाभावानुमानोपपत्तेः । भवत्वेवं धर्मिसिद्धिस्तथापि न ज्ञानाभावानुमाने लिङ्गमस्ति, अस्मर्यमाणत्वस्य नियमेनास्मर्यमाणत्वस्य वा पथि गच्छतस्तृणस्पर्शादौ निर्विकल्पकानुभूते चानैकान्तिकत्वादिति चेन्न । ज्ञानसामग्रीवैकल्यलक्षणलिङ्गाज्ज्ञानाभावानुमानोपपत्तेः । तदेव कुतः सिद्धमिति न वाच्यम् । तत्सिद्धेरुभयवादिसिद्धत्वात् । अन्यथा वेदान्तिनामपि सुषुप्तिकाले घटपटादिविशेषज्ञानाभावानुमानं न स्यात् । ज्ञानाभावस्य निर्विकल्पकसाक्षिवेद्यतानङ्गीकारात् । नचावस्थाभेदसंभिन्नभावरूपाज्ञानपरामर्शसामर्थ्यसिद्धतदनुभवादेव तद्विरोधिनो ज्ञानस्याभावानुमानम् । भावरूपाज्ञानस्य तत्परामर्शस्य च परं प्रत्यद्याप्यसिद्धत्वात् ।

यत्तु कैश्चिदनुमानं रचितम्—न तावदज्ञानं ज्ञानाभावः अभावमानागम्यत्वात्, संप्रतिपन्नवत् । अभावो ह्यभावस्य प्रत्यक्षस्य वा विषयः परेणेध्यते । अज्ञानं च न मानागम्यं माननिवर्त्यत्वात्संप्रतिपन्नवदिति । तदन्ये नानुमन्यन्ते । अज्ञानस्य मानागम्यत्वे तत्साधनायानुमानप्रयोगायोगात् । एतन्मानागम्यत्वे वा मानागम्यं न भवतीति स्ववचनव्याघातात् । नचात्मनोऽनुमानेनावेद्यत्वसाधन इव न स्ववचनव्याघातादिदोषापत्तिः । तत्र वृत्तिव्याप्यत्वेपि फलाव्याप्यत्वेनाविरोधात् । इह च वृत्तिव्याप्यत्वानङ्गीकारात् । नच प्रमाणनिवर्त्यस्य प्रमाणागम्यत्वनियमः प्रत्यभिज्ञानप्रमाणनिवर्त्यस्य तद्वेतोस्संस्कारस्य

तस्य ज्ञानं तथाह्यनिद्राणस्य संप्रतिपन्नोदयास्तमययोरन्तरालकालानुभवान्निद्राकालात्पूर्वोत्तरास्तमयोदयकालयोस्तत्कालत्वेन हेतुनान्तरालकालवत्त्वमनुमाय तस्याऽऽत्मवत्त्वं कालत्वेनेतरकालवदनुमाय तस्मिन्धर्मिणि ज्ञानाभावानुमानमप्रत्यहमित्यर्थः । उक्तं च तात्पर्यपरिशुद्धानुदयनाचार्यैरपवर्गप्रकरणे—‘पूर्वापरावस्थयोरेकत्वप्रत्यभिज्ञानेन मथावस्थायामपि तत्सामान्येनोपनया’दिति । अभ्युपगम्य धर्मिसिद्धिं हेत्वसिद्धिं शङ्कते—**भवत्वित्यादिना** । अन्तरालकालीनात्मा तु खादिज्ञानाभाववानस्मर्यमाणतदानीतनदु खादित्वादिति हेतुः । पथि गच्छतस्तृणादिस्पर्शेष्वनन्तरमस्मर्यमाणेष्वनैकान्तः । नियमेनेति विशेषणपि निर्विकल्पकानुभूतेनुदितसविकल्पकेऽनैकान्त इत्यर्थः । **उभयवाद्रिसिद्धत्वादिति** । विशेषविज्ञानोपरमस्य त्वयाप्यङ्गीकारादित्यर्थः । अतश्चैवमङ्गीकर्तव्यमित्याह—**अन्यथेति** । ननु नास्माकं सामर्थ्यभावात्तदनुमेयमपि साक्षिसिद्धमिति तत्राह—**ज्ञानाभावस्येति** । तत्काले निर्विकल्पकवेद्यत्वेपि न तावतोत्तरकालं विशिष्टव्यवहार इत्यनुमानमेव शरणमित्यर्थः । तेन च न पूर्वोत्तरयोर्व्याघातः । ननु परामर्शबलाद्भावरूपाज्ञानसिद्धौ तद्वलात्तद्विरोधिघटादिज्ञानाभावानुमानमस्मन्मते न सामर्थ्यभावादिति वैषम्यमिति तत्राह—**नचावस्थेति** । अवस्थाभेदं सुषुप्तिरूपावस्थाविशेषस्तेन यद्विशेषितं भावरूपमज्ञानं तत्परामर्शसामर्थ्येन सिद्धो यस्तदवस्थाज्ञानानुभवो न किञ्चिदेतावन्तं कालमवेदिषमित्येवंविधस्तस्मादिति योजना ।

न्यायदीपावलीकृतमनुमानमुद्भावयति—**यत्तु कैश्चिदिति** । हेतुमेव समर्थयते—**अभावो हीत्यादिना** । अभावस्येति भाट्टाभिप्रायेण, प्रत्यक्षस्येति तार्किकाभिप्रायेण । **संप्रतिपन्नवदिति** । शुक्तिरूपायससर्गवदित्यर्थः । मानागम्यत्वे तत्साधनायानुमानप्रयोगो व्याहतोऽनुमानप्रयोगे च मानागम्यत्वं व्याहतमिति दूषयति—**तदन्य इत्यादिना** । ननु यथात्मनोऽनुमानेनावेद्यत्वसाधनेपि न वेद्यत्वप्रसक्तिस्तद्वत्प्रमाणेनैवाप्रामाणिकत्वसाधनेपि न प्रामाणिकत्वप्रसक्तिरिति तत्राह—**नचात्मन इति** । प्रमाणनिवर्त्यत्वादिति हेतोरनैकान्तिकता चाह—**नच प्रमाणेति** । संस्कारस्य हि कार्यापवर्गित्वात् तत्कार्यप्रत्यभिज्ञानप्रमाणनिवर्त्यत्वं, अथच साध्यं नास्तीत्यर्थः । अनुव्यवसायनिवर्त्येन च तद्वन्मतेन परसमतेन व्यवसायेनानैकान्तं द्रष्टव्यं, विवरणकारोक्ता-

नित्यपरोक्षतया साक्षिसिद्धत्वाभावेनानुमानगम्यत्वाङ्गीकारात् । नच त्वदुक्तमर्थं न जानामीत्यादिव्यवहारोऽत्यन्तसुषुप्ते ज्ञातमाने वाऽसंभाव्यमानोऽतिरिक्तमेव ज्ञानाभावाद-ज्ञानं गमयति । अवगतेऽशेषेऽवगतत्वादेव न जानामीतिव्यवहारायोगादनवगतेश्चानवगतत्वादेव प्रश्नानुपपत्तेरिति युक्तम् । त्वदुक्तमर्थं प्रमाणतो न जानामीत्येवंपरतयापि व्यवहारोपपत्तेः, प्रतिवादिवाक्यादवगतार्थस्यानुवादपुरःसरं प्रमाणासंभवेन सर्वैर्वादिभिर्निराकरणाङ्गीकारात् । नापि 'नासदासीन्नो सदासी'दित्युपक्रम्य 'तम आसीत्', 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्', 'इन्द्रो मायाभि'रित्याद्यागमस्तत्र प्रमाणम् । तमःशब्देन सांसारिकपुरुषाणां प्रलयकालीनज्ञानाभावस्यैवोच्यमानत्वात्, मायाशब्देन च परमेश्वरज्ञानशक्तेरेव तत्स्वरूपभूतायाः संकीर्तनात् । तदेवमनिर्वचनीयाज्ञाने लक्षणप्रमाणयोरसंभवात्तादृगज्ञानमस्तीत्येतदेवाज्ञानमिति सिद्धम् ।

अत्रोच्यते । न तावल्लक्षणासंभवस्तथाहि—'अनादिभावरूपं यद्विज्ञानेन विलीयते । तदज्ञानमिति प्राज्ञा लक्षणं संप्रचक्षते ॥' ९ । अनादित्वे सति भावरूपं विज्ञाननिरस्यमज्ञानमिति लक्षणमिह विवक्षितम् । न तावदिहाव्याप्तिः । सर्वेषामन्यज्ञानानामुक्तरूपत्रयानुगमात् । नाप्यतिव्याप्तिः । अनादेर्भावस्यासन्नो निवर्त्यत्वाभावेन ज्ञाननिवर्त्यत्वस्याप्यभावात्, तदन्यस्य च परमाणोस्तद्गतश्यामत्वादेश्च स्वरूपतो नङ्गीकृतस्य दूरत एवानादित्वानङ्गीकारात् । नचासंभवित्वं, भावाभावविलक्षणस्याज्ञानस्याभावविलक्षणत्वमात्रेण भावत्वोपचारादात्मवदनादिभावत्वेनानिवर्त्यत्वानुमानानुपपत्तेः ।

रूपपत्तिमाशङ्क्य निषेधति—**नचेत्यादिना युक्तमित्यन्तेन** । ननु सामान्यांशं ज्ञातमनूय विशेषाशेऽज्ञाते प्रश्न इति तत्राह—**अवगतेऽश इति** । ततश्च स एवार्थो ज्ञातश्चाज्ञातश्च वक्तव्यं नचैतज्ज्ञानाभावपक्षे घटते ज्ञानेन विरोधात् । अस्मत्पक्षे तु नित्यचैतन्यस्याज्ञानसाधकत्वादविरोध इति भावः । न युक्तमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—**त्वदुक्तमर्थमिति** । नाशतो ज्ञानाज्ञानविषयत्वमर्थस्यापि तु तत्रैव प्रमाणज्ञानाभावतदितरज्ञानयो सह वर्तनं ब्रूमः । नचैवं राति विरोधः नापि प्रश्नानुपपत्तिरिति भावः । न केवलमत्रैवेयं गतिरपि तु सर्वत्रैव दूष्यस्थल इत्याह—**प्रतिवादीति** । प्रमाणानवगतस्य कथमनुवाद इत्याशङ्काया वायं ग्रन्थः । आगमं निषेधति—**नापीति** । तदानीं प्रलयकालेऽसन्नासीत्सदपि नासीदिति प्रतिषेधे किं तर्हि तम आसीदित्येका श्रुतिः, माया त्वित्यपरा, इन्द्रो मायाभिरित्यन्या । प्रलयकाले ये संसारिणा ज्ञानाभावास्तेऽत्र तम शब्दाभिधेया न त्वदभिमतमज्ञानमित्यर्थः । इतरश्रुत्योरन्यथासिद्धिमाह—**मायाशब्देन चेति** । प्रकृतिस्वभावभूतामित्यर्थः । उपसहरति—**तदेवमिति** । एतदेवाज्ञानं मौढ्यमित्यर्थः ।

लक्षणं श्लोकेन सगृह्णाति—**अनादीति** । पूर्वज्ञानादे प्रागभावस्यात्मनश्च यथायथं विशेषणैर्व्यावृत्तिः । संगृहीतं लक्षणं विवृणोति—**अनादित्वे सतीत्यादिना** । ननु चिरतनमतानुसारेण पार्थिवपरमाणुविशेषगुणेष्वतिव्याप्तिरुक्तेति तत्राह—**अन्यस्य चेति** । एतच्च द्वितीयपरिच्छेदे विवरिष्यते । यच्चानादित्वे सति भावरूपं तदनिवर्त्यं यथात्मैत्यनुमानविरोधादसंभवीदं लक्षणमिति तद्वृत्त्यति—**नचासंभवित्वमिति** । अयं भावः । किमिदं भावत्वं हेतुकृतं, किं वस्तुत्वं, उताभावविलक्षणत्वम् । नाद्यः । असिद्धेः । न द्वितीयः । वस्तुत्वस्यैवोपाधित्वादिति ।

नचैवंविधे मानासंभवः । यतः—‘देवदत्तप्रमा तत्त्वप्रमाभावातिरेकिणः । अनादेर्ध्वसिनी मात्वादविगीतप्रमा यथा ॥’ १० । विगीतं देवदत्तनिष्ठप्रमाणज्ञानं देवदत्तनिष्ठप्रमाऽभावातिरिक्तानादेर्निवर्तकं प्रमाणत्वाद्यज्ञदत्तादिगतप्रमाणज्ञानवदित्यनुमानम् । ये तु प्रमा प्रमाप्रागभावनिवृत्तिरेव न तु निवर्तिकेति मन्यन्ते तान्प्रति, देवदत्तप्रमा तन्निष्ठप्रमाभावातिरिक्तानादिनिवृत्तिरिति प्रयोक्तव्यम् । नचैतदसमवेतत्वमेतदन्यसमवेतत्वं वा तत्रोपाधिः । साध्याव्याप्तेः । एतत्समवेतसुखदुःखेच्छाद्वेपप्रयत्नानामेतन्निष्ठप्रमाभावातिरिक्तानादेः स्वप्रागभावस्य निवर्तकत्वेन साध्ये विद्यमानेपि लघुक्तोपाधेरभावात् । नच विवादपदमनादेर्भावस्य निवर्तकं न भवति पदार्थत्वात्संप्रतिपन्नवदिति प्रत्यनुमानविरोधः । सत्ताद्रव्यत्वाद्यनिवर्तकत्वेन सिद्धसाधनत्वात् । ननु संप्रतिपन्नात्मादिपदार्थातिरिक्तस्य भावस्याभावातिरिक्तस्य चानादेर्न निवर्तकमिति विशेषणादिदमदूषणमिति चेन्न । तस्य तवाप्रसिद्धतयाऽप्रसिद्धविशेषणत्वापत्तेः । किंच ‘न किंचिद्वेदिष’मिति परामर्शसिद्धसौषुप्तिकानुभवोप्यत्र प्रमाणम् । नच ज्ञानाभावविषयोयमनुभवः । अभावप्रतीतेर्धर्मिप्रतियोगिवोधपराधीनतया तदभावे तस्यानुभविष्य-

प्रमाणाक्षेपं परिहरति—**न चैवंविध इति** । श्लोकेनानुमानं संगृह्णाति—**देवदत्तेत्यादिना** । देवदत्तप्रमेति धर्मिनिर्देशस्तत्स्थेत्यादि साध्यनिर्देशः मात्वादिति हेतुनिर्देशः । अविगीता अविप्रतिपन्ना । यज्ञदत्तप्रमेति दृष्टान्तः । सग्रहं विवृणोति—**विगीतमित्यादिना** । इत्थमत्र प्रयोगः । देवदत्तप्रमाणज्ञानमेतन्निष्ठप्रमाणाभावत्वानधिकरणानादिनिवर्तकं प्रमाणत्वात् यज्ञदत्तप्रमाणवदिति । अत्र चाभावत्वानधिकरणेत्येवात्मनादिनिवर्तकमित्युक्ते प्रागभावमादायार्थान्तरता तदर्थं प्रमाणाभावत्वानधिकरणेत्युक्तम् । तावति चाप्रसिद्धविशेषणता प्रमाणाभावत्वानधिकरणस्यानादेर्ज्ञाननिवर्त्यस्य तेनानङ्गीकारादात्मनश्च तन्निवर्त्यत्वानङ्गीकारात् तदर्थं देवदत्तनिष्ठेत्युक्तम् । यज्ञदत्तनिष्ठप्रमाणे हि देवदत्तनिष्ठत्वे सति प्रमाणाभावत्वानधिकरणानादेस्तत्प्रागभावस्य निवर्तके सुप्रसिद्धमेव साध्यमिति नाप्रसिद्धविशेषणतासाध्यवैकल्ये । पूर्वज्ञानसुखादिव्यवच्छेदायानादिग्रहणम् । पक्षे चैतन्निष्ठप्रमाणज्ञानाभावत्वानधिकरणत्वमेतन्निवर्त्यस्यानादेरेतन्निष्ठत्वानधिकरणत्वेन न संभवति । अन्यनिष्ठप्रागभावः प्रत्यन्यनिष्ठस्यानिवर्तकत्वात् । तस्मादेतन्निष्ठत्वे सति यत्प्रमाणज्ञानाभावत्वानधिकरणं अनादि ज्ञाननिवर्त्यं च, तदस्मिताज्ञानमेवेति तत्सिद्धिर्नन्वभावनिवृत्तिरेव भावः नहि भावव्यतिरेकेणाभावनिवृत्तिर्नाम संभवतीति केषाचिन्मतम् । तथा च यज्ञदत्तप्रमाणस्य स्वप्रागभावनिवृत्तित्वात्, निवर्तकत्वलक्षणसाध्याभावात्साध्यविकलो दृष्टान्त इति तत्राह—**ये त्विति** । व्याप्यत्वासिद्धिः परिहरति—**नचैतदिति** । सत्प्रतिपक्षमाशङ्क्य परिहरति—**नच विवादपदमिति** । **संप्रतिपन्नवदिति** । घटवदित्यर्थः । अत्र किमनादिभावस्य यस्य कस्यचिदनिवर्तकत्वं साध्यते, किं बोभयसंप्रतिपन्नानादिभावव्यतिरिक्तस्यानादेर्भावस्याभावविलक्षणस्य वा । आद्यं प्रत्याह—**सत्तेति** । द्वितीयं शङ्कते—**नन्विति** । नच विगीता प्रमा प्रमाऽभावातिरिक्तैतन्निष्ठानादिनिवर्तकत्वानधिकरणं प्रमात्वात् यज्ञदत्तप्रमावत् इति प्रसाधनादप्रसिद्धविशेषणत्वाभावाद्भवति प्रतिप्रयोग इति वाच्यम् । देवदत्तनिष्ठं प्रमाणज्ञानं देवदत्तनिष्ठानाद्यभावानिवर्तकत्वात्यन्ताभावानधिकरणं प्रमाणज्ञानत्वात् यज्ञदत्तप्रमाणज्ञानवदित्याभाससमानयोगक्षेमतत्वात् । नच देवदत्तप्रमा देवदत्तनिष्ठत्वे सति देवदत्तप्रमाभावातिरिक्तानादिनिवर्तकत्वानधिकरणं प्रमात्वात् यज्ञदत्तप्रमावदिति सत्प्रतिपक्षता । एतन्निष्ठनिवर्तकत्वानधिकरणत्वस्योपाधे, एतत्सुखादौ च व्यतिरेकसिद्धिः । अभावविलक्षणाज्ञाने प्रत्यक्षमपि प्रमाणमाह—**किं चेति** । उत्थितस्य न किंचिद्वेदिषमिति परामर्शादुद्गीतो यः सौषुप्तिकानुभवः सोपि प्रमाणमित्यर्थः । ननु किमिति

मयोग्यत्वात् । नच भेदसादृश्यादिवत्स्वरूपेणाभावस्यापि निर्विकल्पकबुद्धिबोध्यता । तथात्वे सादृश्यादिवदेव भावत्वापत्तेः, निर्विकल्पकबुद्धिबोध्यो भाव इति परैर्लक्षणाङ्गीकारात् । नायं सुषुप्तिकालीनानुभवजपरामर्शः कितूत्थितस्येदानीमेव सौषुप्तिकज्ञानाभावानुमानमिति च न वाच्यम् । तदनुमापकलिङ्गासिद्धेः । नच सामर्थ्यभावो लिङ्गम् । तस्याप्यसिद्धेः । नच ज्ञानाभावेन तस्यानुमानम् । अन्योन्याश्रयतापत्तेः, सामर्थ्यभावाज्ज्ञानाभावानुमानं तदभावाच्च सामर्थ्यभावानुमानमिति । नचैवं सति वेदान्तिनामपि ज्ञानाभावानुमानासंभवः । अवस्थाभेदसंभिन्नभावरूपाज्ञानसंवेदनादेव सुषुप्त्यवस्थायां तद्विरुद्धस्य ज्ञानस्य तत्सामर्थ्याश्चाभावानुमानात्, त्वयापि गत्यन्तराभावादेवमेव ज्ञानाभावानुमानस्यावश्याभ्युपेयत्वात् । नचैवंविधमज्ञानमद्याप्यसिद्धमिति वाच्यम् । तत्प्रमाणस्य दर्शितत्वात् ।

त्वदुक्तमर्थं न जानामीति व्यवहारान्यथानुपपत्तिरपि भावरूपाज्ञानसद्भावे मानम् । नच प्रमाणतो न जानामीत्येवंपरतयापि व्यवहारोपपत्तिः । त्वदुक्तेर्धे प्रमाणज्ञानं मम नास्तीत्यस्य विशिष्टविषयज्ञानस्य प्रमात्वात्, तद्विशेषणतयार्थस्यापि प्रमाणेनाधिगतत्वात्, स्ववचनव्याघातापत्तेः । एतदतिरिक्तप्रमाणज्ञानं त्वदुक्तेर्धे मम नास्तीति वदतो वचनव्याघातदोषानुपपन्न एवास्यापि ज्ञानस्य पूर्ववदेव प्रमाणजन्यत्वात् । नच सामान्यतः प्रमाणेनार्थस्याधिगमेपि विशेषानधिगमाददोषः । विशेषस्याप्यधिगमानधिगमयोः पूर्वोक्तदोषानतिवृत्तेः । ननु भावरूपस्य ज्ञानं ज्ञाननिरस्यमभ्युपगम्यते भवद्विस्तत्कथं ज्ञायमानेर्धे न जानामीति

निर्विकल्पकानुभवायोग्यत्वं यावता भेदसादृश्यादिवत्संभव उक्तस्तत्राह—**नच भेदसादृश्येति** । ननु किमिति भावत्वापत्ति नहि निर्विकल्पकबुद्धिबोध्यत्वसाम्यात्सादृश्यभेदयोरैक्यमिति तत्राह—**निर्विकल्पकेति** । यत्तु तेनोक्तमस्त्वक्षे तु नायं परामर्श इत्यादि तदूनूय दूषयति—**नायमित्यादिना** । ननु किमिति सामग्रीवैकल्यलक्षणलिङ्गासिद्धिः यावता ज्ञानाभावेनैव शक्यानुमानं तद्वैकल्यमिति तत्राह—**नच ज्ञानाभावेनेति** । यच्च तेनोक्तमन्यथा भवतामपि घटपटादिज्ञानाभावानुमानं न स्यादिति तदूनूय परिहरति—**नचैवं सतीति** । मम तु भावरूपाज्ञानबलादुभयाभावः शक्यानुमान इत्यर्थः । तवापीयमेव गतिर्नान्येत्याह—**त्वयापीति** । यस्त्वेवंविधाज्ञानस्य तत्परामर्शस्य च मा प्रत्यसिद्धिरिति तत्राह—**नचैवंविधमपीति** । परामर्शस्याप्युपलक्षणमिदं तस्यापि समर्थनात् ।

अर्थापत्तिमपि प्रमाणयति—**त्वदुक्तमर्थमित्यादिना** । पूर्वपक्ष्याशयमनूय निषेधति—**नचेत्यादिना** । त्वदुक्तमर्थं प्रमाणतो न जानामीति यदिदं ज्ञानं तत्तावत्प्रमाणमेव । यथार्थानुभवत्वात् । तथा चैतज्ज्ञानविषयान्तर्गततयैतद्विषयभूतस्यार्थस्यापि प्रमाणतो ज्ञातत्वात्तन्निषेधवचनविरोध इत्याह—**त्वदुक्तेर्धे इति** । ननु प्रमाणतो न जानामीत्यस्यायमर्थः—एतदज्ञातत्वग्राहिप्रमाणव्यतिरिक्तं प्रमाणज्ञान नास्तीति । तत्राह—**एतदतिरिक्तेति** । अत्राप्येवंविधज्ञानस्य पूर्वनिर्दिष्टादतिरिक्तप्रमाणत्वादेव तदविषयत्ववचनं व्याहृतमित्यर्थः । ननु सामान्यतः प्रमितस्य विशेषतो नधिगमोद्भावनाच्च व्याहृतिरिति तत्राह—**नच सामान्यत इति** । **पूर्वोक्तेति** । पूर्वपक्षसमयोक्तेत्यर्थः । ननु त्वन्मतेपि कथं ज्ञायमानेऽर्थे न जानामीतिव्यवहारः यावता ज्ञानाभाववदज्ञानमपि ज्ञाननिवर्त्यमेवेति चोदयति—**नन्विति** । न तत्राज्ञाननिवर्तकं प्रमाणज्ञानं तद्विधेयमपितु साक्षिचैतन्यम् । नच तदज्ञाननिवर्तकं तत्साधकत्वादिति

व्यवहारः । मैवम् । अस्मन्मतेऽज्ञानस्य साक्षिसिद्धतया प्रमाणाबोध्यत्वात् प्रमाणज्ञानो-
दयात्प्राक्कालेऽज्ञानं तद्विशेषितोऽर्थः साक्षिसिद्धोऽज्ञात इत्यनुवादगोचरो भवति, भवति
च प्रभ्राह् इत्यविरोधात् । उक्तं च संप्रदायविद्भिः सर्वं वस्तु ज्ञाततया अज्ञाततया वा
साक्षिचैतन्यस्य विषय एवेति ।

किंच 'तम आसीत्, मायां तु प्रकृतिं विद्या'दित्याद्यागमोपि तत्र प्रमाणम् ।
नच तमःशब्देन ज्ञानाभावः कथ्यते । नासदासीदित्यभावं व्यावर्त्य तम आसीदिति
प्रतिपादनात् । नच परमेश्वरज्ञानशक्तिर्माया । 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः, मायामेतां
तरन्ति ते, तरत्यविद्यां विततां योगी माया'मित्यादिना ज्ञाननिवर्त्ये मायाशब्दप्रयोगदर्श-
नात् । तदेवं लक्षणप्रमाणयोरुपपन्नत्वादनादिभावरूपाज्ञानमस्तीति सिद्धम् । किंच भ्रमो-
पादानमज्ञानमिति लक्षणेपि न दोषः । नचात्मन्यतिव्याप्तिः । तस्य केवलस्य कूटस्थस्य
कस्याप्यनुपादानत्वात् । सत्योपादानत्वे च विभ्रमस्यापि सत्यत्वप्रसङ्गात् । नच विभ्रमोपि
स्वरूपतः सत्यस्तथात्वे प्रमाणज्ञानवदेव विषयापहारलक्षणबाधस्याप्यसंभवप्रसङ्गात् । नचै-
तावन्तं कालमिदं रजतमित्यभादित्यनुभवविरोधः । अनिर्वचनीयस्यापि विभ्रमस्याभाववि-
लक्षणतया तथात्वेनानुसन्धानोपपत्तेः । नच स्वरूपसत एवासीदिति प्रतिसन्धानम् ।
एतावन्तं कालमिहादर्शं मुखमासीत्स्फटिकश्च लोहित आसीदित्याद्यनुसन्धानदर्शनात् ।
प्रयोगश्च, विगीतो विभ्रमः एतज्ज्ञानकारणाबाध्यातिरिक्तोपादानः विभ्रमत्वात् देवदत्ता-

परिहरति—मैवमिति । प्रमाणाबोध्यत्वादिति । अभावव्यावृत्तेरेवानुमानादिप्रमाणैर्बोध्यमानत्वादिति
भावः । यत एव पूर्वं प्रमाणज्ञानं नोत्पन्नं साक्षिणैवाज्ञानविशिष्टतयैवार्थो निर्ज्ञात इत्यत एवानुवादप्रश्नौ
घटेते इत्याह—प्रमाणज्ञानोदयादिति ।

आगममपि प्रमाणयति—किंच तम आसीदित्यादिना । यत्तु जीवानां तात्कालिकज्ञानाभावस्तम-
शब्दाभिधेय इति तत्र । नासदासीदित्यभावस्यापि प्रतिषेधादित्याह—नच तम इति । नच प्रागभा-
वप्रध्वंसवर्गस्यानाद्यनन्तस्य सद्भावाद्दशक्यनिषेधतेति वाच्यम् । तयोरप्युत्पत्तिविनाशवत्ताया साधयिष्यमा-
णत्वात् । मायाशब्दस्यान्यथासिद्धिसुक्ता निराचष्टे—नच परमेश्वरेति । ईश्वरज्ञानस्य नित्यस्य ज्ञान-
निवर्त्यत्वानङ्गीकारादिति भावः । उपसंहरति—तदेवमिति । पञ्चममपि मतं शक्यसमर्थनमित्याह—
भ्रमोपादानमिति । नचात्मनीति । कूटस्थस्य तस्य वियदादिविकाराभावादविद्यावेशवशाद्विकारे
प्राप्ताप्राप्तविवेकेन तस्या एव विकारः । नचैवं साख्यसिद्धान्तसङ्गतेरिह गन्धिता, परमेश्वराद्यस्तानिर्वचनी-
याविद्यापरिणामस्य विवर्तपरनाम्न स्त्रीकारादीदृशमेव हेतुत्वमभिप्रेत्य 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश
सभूत' इत्यादिस्मृतिश्रुतयस्तथा 'जन्माद्यस्य यत, प्रकृतिश्चे'त्याद्यधिकरणान्यपि । अत एव धातुस-
मीक्षायां ब्रह्मवित्प्रकाण्डैर्भर्तृहरिभिरभिहितं 'शुद्धतत्त्वं प्रपञ्चस्य न हेतुरनिवृत्तित् । ज्ञानज्ञेयादिरूपस्य
मायैव जननी तत' इति । परिणामित्वमात्रं चात्रोपादानत्वमभिप्रेत, यत्तु विभ्रमस्यापि स्वरूपेण सत्यत्वात्ने-
दमनिष्ठमिति तत्राह—नच विभ्रमोपीति । यदि हि घटादिज्ञानवत्स्वरूपेण सत्यो विभ्रमः स्यात्ततस्तद्व-
देव यथार्थोपि स्मदित्यर्थः । अत एवाहुराचार्याः—'सदसञ्चामनिर्वीच्याविद्या वेद्यै सह भ्रम' इति । प्रत्यभि-
ज्ञाविरोधमुक्तं परिहरति—नचैतावन्तमिति । ननु सद्विलक्षणस्यासत कथमासीदिति प्रतिसन्धानविषयत्व-
मिति तत्राह—नच स्वरूपसत एवेति । भ्रमोपादानाज्ञाने प्रमाणमाह—विगीत इति । अत्रायतिरि-
क्तस्थाने तत्त्वानधिकरणपदं प्रक्षेप्तव्यम् । अब्राह्मत्वानधिकरणोपादान इत्युक्तेऽप्रसिद्धविशेषणता सर्वत्रोपादान-

दिविभ्रमवत् । दर्शित एव च सत्त्योपादानत्वे सत्यत्वप्रसङ्गो विपक्षे बाधकस्तर्कः । तस्माद्यदुपादानो विभ्रमस्तदज्ञानमिति सिद्धम् ।

ननु तथाप्यसंभवि लक्षणं सर्वप्रत्ययानां यथार्थत्वेन विभ्रमाणामेवाभावात्, विगीताः प्रत्यया यथार्थाः प्रत्ययत्वात्संप्रतिपन्नवदित्यनुमानात्, अन्यथान्याकारस्य प्रत्ययस्यान्यालम्बनतायामनुभवविरोधात्, संविदां स्वविषयव्यभिचारे चानाश्वासप्रसङ्गात्, असतोपि संसर्गादेरवभासमानतायामसत्ख्यातेरपि दत्तावसरतया सौगतमतानुप्रवेशप्रसङ्गात्, असतश्च संसर्गादेः स्फुरणकारणानिरूपणान्, चक्षुरादेश्च संप्रयुक्तमात्राहित्वात्, देशान्तरनिवेशिनः स्वरूपासतश्च संप्रयोगायोग्यत्वात्, दोषाणां च स्वारसिककार्यप्रसवशक्तिप्रतिरोधमात्रहेतुत्वात् मूषिकाघ्रातशालिवीजादौ तथादृष्टत्वात्, दावदहनदग्धवेत्रबीजात्कदलीकाण्डजन्मनो दग्धस्यावेत्रबीजत्वेन दोषाणां विपरीतका-

कारणस्य द्रव्यस्य परैरबाध्यत्वाङ्गीकारात् तदर्थमेतज्ज्ञानकारणेत्युक्तम् । एतज्ज्ञानकारणत्वानधिकरणोपादान इत्युक्ते व्याहृतिस्तदर्थमबाध्यत्वानधिकरणेत्युक्तम् । ततश्चाबाध्यत्वानधिकरणबाध्याज्ञानोपादानकत्वसिद्धिर्विभ्रमस्य । दृष्टान्ते त्वेतज्ज्ञानकारणातिरेकमादाय साध्यप्रसिद्धिः । अन्तिमसमर्थनमुपसहरति—**तस्मादिति** । 'इत्यन्यक्षानुमानार्थापत्तिश्चैदं प्रसाधिता । अविभक्ते परेऽविद्या भावाभावविभागदा ॥ एषा साक्षात्साक्षिचैतन्यवेद्याऽविद्यानादि स्वीकृता स्वेकृतान्ते । वादिभ्रान्त्यापादिताभावभावादेभिर्मानैः केवलं भेदितात्र ॥ शान्त्रैकगम्येपि यथा ह्यपूर्वेऽपरप्रमाणान्निर्णयि भेदः । यथाच रज्जूरगयोर्विभागं परे प्रमिष्वन्ति परानुबन्धात् ॥'

विभ्रमोपादानमज्ञानमित्युक्तं तत्र विभ्रमाणामेवाभावोपादानत्वमसंभवीत्यख्यातिवादिनः प्रत्यवतिष्ठन्ते—**ननु तथाप्यसंभवीति** । किमिदं विभ्रमत्वेन विवक्षितं किं यथार्थज्ञानविशेष यथास्माकं, उतायथार्थज्ञानम् । नाय । तदुपादानस्यात्मनोन्तःकरणस्य वा अविद्यात्वाभावात् । न द्वितीय इत्याह—**सर्वप्रत्ययानामिति । विभ्रमाणामेवाभावादिति** । ज्ञानानामयथार्थत्वाभावादित्यर्थः । ननु कुत सर्वप्रत्ययानां यथार्थत्वसिद्धिरित्यनुमानादित्याह—**विगीता इति** । अशत सिद्धसाधनतानिबृत्त्यै विगीतग्रहणम् । अयथार्थव्यवहारहेतुभूतज्ञानानां पक्षीकरणाच्च नाश्रयासिद्धिः । विपक्षे बाधकमाह—**अन्यथेति** । भासमानतया हि विषयत्वं ननु सत्तया, नापि कारणतयाऽतिप्रसङ्गात् । नच रजतज्ञाने शुक्तिका चकास्ति । तथाचाचेल्यमानशुक्तिकालम्बनत्वकल्पनाया विरुद्धत्येव रजतानुभव इति भावः । तथाच नयवीथ्या—'अत्र ब्रूमो य एवार्थः' इत्यादिना विषयलक्षणमुक्तत्वेन—'अन्यस्यान्यथाभानं प्रतीत्यैव पराहतम् । परस्मिन्भासमानेपि न पर भासते यतः' इति । बाधकान्तरमाह—**संविदामिति** । तदप्युक्तं—'यदि स्वार्थं परित्यज्य काचिद्बुद्धिः प्रवर्तते । व्यभिचारवती स्वार्थं कथं विश्वासकारणमिति । अपसिद्धान्तापत्तिरपि बाधिकेत्याह—**असतोपीति** । यदिच बहिरसदिदं प्रतीयेत साकारतापि विज्ञानस्य स्यात् तदायुक्तं 'अयथार्थत्वपक्षे च ज्ञानं साकारमापते' इति । तदेवं सविद्विरोधानाश्चासासत्ख्यातिप्रसङ्गान्बाधकानुक्त्वा कारणानिरूपणं दर्शयन्नकारणकार्यप्रसङ्गमपि बाधकं बध्नाति—**असतश्चेति** । तदायुक्तं 'अयथार्थस्य बोधस्य नोत्पत्तावस्ति कारणमिति । नन्वन्यव्यतिरेकाभ्यां चक्षुरवसीयते कारणमिति तत्राह—**चक्षुरादेरिति** । अस्तु तद्वारोग्येणापि संप्रयोग इति तत्राह—**देशान्तरेति** । देशान्तरनिवेशिनो रजतादेः स्वरूपेणासतश्च नष्टपुत्रादेरिति योजना । ननु दोषदूषिताक्षदेरस्ति मिथ्याप्रत्ययजननसामर्थ्यमिति तत्राह—**दोषाणां चेति** । स्वाभाविकशक्तिप्रतिबन्धमात्रं दोषकृत्यं नत्वतिशयाधानमित्यर्थः । ननु दावदाहोपहतवेत्रबीजानां हरिद्राजलावसिक्तहरिद्राङ्गारपरिष्ठहारीतमासस्य च दशरात्रं कासपात्रोषितस्य सर्पिषश्च दष्टं विपरीतं रम्भाकाण्डारम्भकत्वं मरणकारणत्वं चेति तत्राह—**दावदहनेति** । दोषाणां विपरीतकार्यकारणता प्रति दावदहनदग्धवेत्रबीजात्कदलीकाण्डजन्मन्येऽनुदा-

र्यकारणतां प्रत्यनुदाहरणत्वात्, सर्वत्र च प्रतीयमानयोः संसर्गिणोः संसर्गव्यवहारस्यासंसर्गाग्रहनिबन्धनत्वात्, संसर्गज्ञानस्यापि हेतुत्वकल्पनायां गौरवात्, असंसर्गाग्रहप्रसजितसंसर्गव्यवहारमात्रबाधनादेव बाधकस्य बाधकतोपपत्तेः, इदमिति प्रत्ययस्य च दोषदूषितचक्षुर्जन्यतयानाकलितविशेषस्य सामान्यमात्रग्रहणरूपत्वात्, रजतमिति चासंनिहितविशेषविषयस्य संप्रयोगलिङ्गाद्यजन्यतया संस्कारमात्रकारणत्वेन स्मरणत्वात्, तस्य च दोषहेतुकत्वेन तत्तांशागोचरतया स्वविषयाविवेचकत्वात्, तयोश्चान्योन्यसंसर्गसाकाङ्क्षसामान्यविशेषालम्बनयोः स्वरूपतो विषयतश्चागृहीतासंसर्गयोर्निरन्तरोत्पन्नयोः स्वरूपेण यथार्थयोरप्ययथार्थव्यवहारप्रवर्तकयोर्विभ्रमत्वप्रसिद्धेरप्युपपत्तेः । तदेवं प्रत्ययानां यथार्थत्वेन स्वरूपतो विभ्रमत्वाभावात् विभ्रमोपादानमज्ञानमिति लक्षणमलक्षणमे-

हरणत्वात्, कुत, दग्धस्यावेत्रबीजत्वेनेति योजना । उक्तं हि 'भस्मकादिषु कार्यस्य विघातादेव दोषते'ति । ननु संसृष्टव्यवहारदर्शनात्संसर्गज्ञानपूर्वकत्वमितरत्रेवानुमीयत इत्यत आह—**सर्वत्रेति** । सुषुप्त्यादौ सर्वत्र संसृष्टव्यवहारप्रसक्तिवारणाय प्रतीयमानयोरित्युक्तम् । नन्विदं विपर्ययस्थलमात्रलोभेन सकलसमीचीनव्यवहारवर्तिसंसर्गज्ञानजातहेतुपरिहरणम् 'अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्विचारमूढ प्रतिभासि मे त्व'मिति न्यायमनुसरतीत्यत आह—**संसर्गज्ञानस्यापीति** । नन्वयथार्थज्ञानानङ्गीकारे नेदं रजतमिति बाधकबोधेन किं वेद्व्यमिति तत्राह—**असंसर्गाग्रहेति** । ननु सर्वमेतदिदं रजतमिति संसर्गाग्रहप्रत्ययविरुद्धमित्याशङ्क्य नेदमेकं ज्ञानमपितु ग्रहणस्मरणरूपमगृहीतविवेकं ज्ञानद्वयमित्याह—**इदमिति प्रत्ययस्य चेत्यादिना** । इदमिति प्रत्ययस्य ग्रहणरूपत्वादित्युत्तरत्रान्वयः । अस्य च ज्ञानस्य स्वप्रकाशस्यापि स्वस्य स्वविषयस्य चेतस्मादविवेचकत्वस्य वक्ष्यमाणस्यानाकलितविशेषत्वस्य च सिद्ध्यर्थं दोषदूषितेत्युक्तम् । भवत्वेवमेतद्रजतमित्यत्र का वार्तेति, परिशेषात्स्मृतिरित्याह—**रजतमिति** । असंनिहितत्वेनासंप्रयोगादप्रत्यक्षत्वमगृहीतव्याप्तिकत्वादनुमेयत्वमस्या संभवि । अनुनुभूतरजतस्य च प्रत्ययो नोत्पद्यते तस्मात्सदृशदर्शनसमुद्बुद्धसंस्कारस्य संजायमानैषा स्मृतिरेवेति भावः । तदुक्तं 'परिशेषात्स्मृतिरेषेति निश्चयो जायतेन्तु' इति । ननु स्मृतेर्गृहीतग्रहणस्वभावायास्तद्विपरीतात् ग्रहणाद्बृहद्व्याप्या गवयादिस्मृतिवन्स्वार्थस्य स्वस्य च किमिति न विवेचकत्वमिति तत्राह—**तस्य चेति** । दुष्टमनोयोगित्वात् तद्देशकालवैशिष्ट्यं न गृह्णातीत्यविवेचकत्वमित्यर्थः । तथापि कथं स्वरूपतो विषयतश्च विभिन्नाभ्यामाभ्या सल्लुप्तप्रवृत्तिरित्यत आह—**तयोश्चेति** । **सामान्यविशेषेति** । इदमिति सामान्यमात्रं, रजताकारो विशेषः । नन्विदं ज्ञानमिदमिदं प्रवर्तयतु रजतज्ञानं च रजते, किमिति रजतार्थिन पुरोवर्तिनि प्रवृत्तिस्तत्राह—**स्वरूपतो विषयतश्चेति** । स्यादेतत् किमिदमेकैकं व्यवहारहेतुः, उत मिलितम् । नाद्यः । पृथक्प्रदेशे प्रवृत्तिप्रसङ्गात् । न द्वितीयः । क्षणिकज्ञानयोर्मेलनायोगादित्यत आह—**निरन्तरोत्पन्नयोरिति** । यद्यपि मेलनं न सम्भवति तथापि नैरन्तर्येणोत्पत्तिरेव तथाविधप्रवृत्तिहेतुरित्यर्थः । विनश्यदविनश्यतो सहावस्थानं वा नैरन्तर्येण विवक्षितम् । ननु यथार्थज्ञानानामपि विभ्रमत्वे सर्वेषामेव किमिति न विभ्रमत्वसिद्धिरिति तदनुपपत्तिरेव विपर्यये प्रमाणमित्यत आह—**स्वरूपेणेति** । तदुक्तं नयवीथ्यां—'संनिहितरजतशकले रजतमतिर्भवति यादृशी सत्या । भेदान्धवसायदियमपि तादृक्परिस्फुरति ॥ साधारणं हि रूपं तस्याश्चास्याश्च विद्यते तेन । तन्मात्रप्रतिभानात्समानतामेव मन्यन्ते' । तत्तुल्यव्यवहारप्रवृत्तिरपि युज्यते चात । तद्विनिवारणकारणबाधकभावोर्वा बाधकस्यापीति । वृत्तवादसगतिगर्भं पूर्वपक्षमुपसंहरति—**प्रत्ययानामित्यादिना** । एतेन पीतं शङ्ख इत्यादिप्रत्यया

वेति । अत्रोच्यते । नैतत्सारं यतः 'स्वीकारे विभ्रमाणां स्यात्स्वीयसिद्धान्तबाधना । अन-
भ्युपगमे तेषामाश्रयासिद्धिरुद्धता ॥' ११ । विगीतविभ्रमाभ्युपगमे सिद्धान्तविरोधात् अन-
भ्युपगमे हेतोरश्रयासिद्धेरनुमानानुदयात् । अयथार्थव्यवहारहेतोर्ज्ञानस्य पक्षीकरणादोप
इति चेन्न । यथार्थस्यापीश्वरज्ञानस्य सर्वव्यवहारहेतोरयथार्थव्यवहारं प्रत्यपि हेतुतया
तत्र तार्किकाणां सिद्धसाधनत्वात् । इदं रजतमित्यत्रापीदमंशविषयस्य वृत्तिज्ञानस्यायथा-
र्थव्यवहारहेतोरप्यधिष्ठानविषयस्य वेदान्तिभिर्यथार्थत्वाङ्गीकारात् । ज्ञानत्वं यथार्थमा-
त्रवृत्ति ज्ञानमात्रवृत्तित्वात्प्रमात्ववदिति विवक्षितमिति चेन्मैवम् । मात्रशब्देनायथार्थवृ-
त्तिव्यावृत्तिविवक्षायां यथार्थव्यवहारे ज्ञानत्वस्य वृत्त्यभावेन सिद्धसाधनत्वात् । अयथार्थ-
वृत्तित्वात्यन्ताभावाधिकरणत्वं विवक्षितमिति चेन्न । दुष्टसामग्र्यप्रसूतमात्रवृत्तित्वस्य
तत्रोपाधेः, यथार्थशब्देन च सदर्थविवक्षायां नायं सर्प इत्यादिबाधविरोधान्, तुच्छव्या-
वृत्त्यर्थविवक्षायां चास्मान्प्रति सिद्धसाधनत्वात् । किंचायथार्थप्रत्ययोस्तीत्यस्य प्रत्ययस्य य-
थार्थत्वे तस्य सालम्बनत्वाय कश्चिदप्ययथार्थप्रत्ययोऽभ्युपेयः तथा सति तत्रैव हेतोरनै-
कान्तिकता । अयथार्थत्वे तस्य प्रत्ययस्य कण्ठोक्त एव व्यभिचारः । अयथार्थप्रत्ययोऽस्ती-
त्येतादृशः प्रत्ययो नास्ति किंतु व्यवहारमात्रं पदार्थानामसंसर्गाग्रहनिबन्धनमिति

अपि व्याख्याताः तेषु ग्रहणाविवेकसमाश्रयणात् । स्वप्रसन्नययोश्च स्मरणाविवेकत्वमिति । सिद्धान्तयति—**नैत-
त्सारमित्यादिना** । श्लोकं विवृणोति—**विगीतेति** । ननुभयसमतायथार्थव्यवहारे हेतुज्ञानमात्रपक्षीक-
रणादुभयपरिहार इति गङ्गापुरीयं मतं शङ्कते—**अयथार्थेति** । अयथार्थव्यवहारहेतोर्यथार्थत्वसाधने तार्कि-
काणां तावदीश्वरज्ञानमादायार्थान्तरमिति दूषयति—**न यथार्थस्यापीति** । भवतु तान्प्रति त्वा प्रति तु
किमायातमिति तत्राह—**इदं रजतमित्यत्रेति** । अयमर्थः । इदं रजतमित्यत्रेदमित्यन्त करणपरिणाम-
प्रत्यक्ष, रजतमिति तु रजतरूपसंस्कारानुरजितेदमंशवच्छिन्नात्माविद्यापरिणाम । तयोरेकसाक्षिवेद्यत्वेनैकफ-
लत्वादेकज्ञानत्वमिति हि सिद्धान्तः । तत्तत्त्वेदमंशज्ञाने सिद्धसाधनमिति । अन्यथाख्यातिवादिनामपीदमंशज्ञाने
समानमेतत् । 'सर्वं ज्ञानं धर्मिण्यभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्यय' इति न्यायात् । धर्मिप्रयुक्तदूषणपरिहाराय रीत्यन्तर-
माह—**ज्ञानत्वमिति** । यथार्थवृत्तित्वमात्रसाधने सिद्धसाधनता तदर्थं मात्रग्रहणम् । तथा ज्ञानवृत्तित्वादि-
त्युक्ते सत्तायामनैकान्तिकत्वं, अयथार्थव्यवहारेपि तस्या वृत्तेस्तन्निवृत्त्यर्थं मात्रग्रहणम् । अत्र मात्रशब्देन
किमयथार्थवृत्तित्वाभावमात्रं विवक्षितं, किं वाऽयथार्थवृत्तित्वानधिकरणत्वम् । प्रथमं प्रत्याह—**मैवम् । मात्रश-
ब्देनेति** । अयथार्थो हि व्यवहारस्तवापि समतस्तत्र च ज्ञानत्वस्यावृत्तिरस्तीत्यर्थान्तरमित्यर्थः । ज्ञानत्वमनुभ-
वमात्रवृत्ति ज्ञानमात्रवृत्तित्वादित्याभाससमानयोगक्षेमता च द्रष्टव्या । द्वितीयं शङ्कते—**अयथार्थेति** । अत्र
दुष्टसामग्र्यप्रसूतमात्रवृत्तित्वमुपाधि । नच साधनव्यापकता । दुष्टसामग्रीप्रसूतग्रहणस्मरणयोरपि ज्ञानत्वस्य वृत्ते ।
व्यवहारत्वसत्त्वादिना व्यतिरेकसिद्धिः । मात्रग्रहणं तु व्यर्थमेव विषमव्याप्तेरप्युपाधित्वात् । किंचोभयोरप्यनु-
मानयोः साध्यगतयथार्थशब्दस्य कोर्थ किं सत्त्वमुतासद्यावृत्तत्वमिति विकल्प्य क्रमेण दूषयति—**यथार्थ-
शब्देनेत्यादिना** । ननु भवतूत्तरपक्षे त्वा प्रति सिद्धसाधनत्वमन्यथाख्यातिवादिनं प्रति किं दूषणमिति
तदर्थं सर्वसाधारणं दूषणं वक्तुमुपक्रमते—**किंचेत्यादिना** । अयथार्थं प्रत्ययोऽस्तीति वाक्यजन्या तत्प्रयो-
गमूलभूता वा प्रतीतिरस्ति न वा । आद्ये यथार्थाऽयथार्था वा उभयथाप्येतत्प्रत्ययविषयेणैतत्प्रत्ययेन वानैका-
न्तिकत्वमुक्त्वा नास्तिपक्षं शङ्कते—**अयथार्थेति** । असंसर्गाग्रहमात्रात् ससृष्टव्यवहारो न युक्तः संसर्ग-

चेन्मैवम् । सर्वत्र संसर्गव्यवहारस्य व्यवहियमाणपदार्थसंसर्गज्ञानपूर्वकत्वनियमात् । अन्यथा मध्यमवृद्धव्यवहारेण्यसंसर्गाग्रहादेव तदुपपत्तेर्व्युत्पत्तिसोः संसर्गज्ञानानुमानाभावाच्छब्दप्रामाण्यभङ्गप्रसङ्गः । एवमनुमानाभास इव सदनुमानेण्यसंसर्गाग्रहादेव संसर्गव्यवहारोपपत्तेरनुमानोच्छेदः प्रत्यभिज्ञाप्रामाण्योच्छेदश्च । ज्वालैकत्वव्यवहारवत्सर्वत्र प्रत्यभिज्ञायामसंसर्गाग्रहादेव संसर्गव्यवहारोपपत्तेः । यत्र दोषशङ्का नास्ति तत्र संसर्गज्ञानानुमानादुपपद्यत एव शब्दप्रामाण्यं अन्यथान्यथाख्यातिवादिनोपि विपर्ययाशङ्कया व्युत्पत्तिविरहाच्छब्दप्रामाण्यभङ्गप्रसङ्गो दुर्वार इति चेन्मैवम् । तव संसर्गज्ञानानुमानलिङ्गानिरूपणात् । तथाहि किं दोषाभावः संसर्गज्ञानानुमापकः, किं वा व्यवहारमात्रं, उताविसंवादिव्यवहारः । नाद्यः । दोषाभावस्य संसर्गज्ञानस्य च व्यभिचारित्वात् सत्यपि दोषाभावे सामग्रीवैकल्ये संसर्गज्ञानानुदयात् । नच दोषाभावविशिष्टसामग्रीसद्भावेन संसर्गज्ञानानुमानम् । सामग्र्याः कार्यैकसमधिगम्यत्वात् । सति संसर्गज्ञाने सामग्र्यनुमानं तदनुमाने च संसर्गज्ञानमिति परस्पराश्रयप्रसङ्गात् । नापि द्वितीयः । इदं रजतमित्याद्यथार्थव्यवहारे व्यभिचारात् । नापि

ज्ञानमन्तरेण संसृष्टव्यवहारानुत्पत्तिनियमादिति परिहरति—**मैवमिति** । एवं नियमानङ्गीकारे बाधकमाह—**अन्यथेति** । गमानयेति हि उत्तमवृद्धेनोक्ते मध्यमवृद्धस्य प्रवृत्ति दृष्ट्वा बाल इत्यमाकलयति—नूनमनेन पदकदम्बेनैतावदर्थविषयं ज्ञानं संसृष्टप्रवृत्तिहेतुभूतमुत्पादितमिति, पश्चादावापोद्गाराभ्या पदार्थविशेषेषु पदविशेषसामर्थ्यं गृह्णातीति व्युत्पत्तिपरिपाटी । तदत्रापि संसृष्टव्यवहारस्यासंसर्गाग्रहादेवोपपत्तौ संसृष्टपदार्थविषयप्राथमिकज्ञानानुमानानुदयात्तन्मार्गसङ्गतिग्रहायोगाद्गतं शब्दप्रामाण्येनेत्यर्थं । न केवलं शब्दप्रामाण्यस्यैवायं वियोगोऽपि त्वनुमानस्यापीत्याह—**एवमिति** । यथा हि शब्दो नित्यश्चाक्षुषत्वात् घटवदित्यनुमानाभासे संसृष्टव्यवहारोऽसंसर्गाग्रहमात्रात् तद्वन्नित्य शब्द धनितद्धर्मव्यतिरिक्तत्वे सति श्रावणत्वात् शब्दत्ववदित्यत्रापीत्यर्थं । प्रत्यक्षेप्याह—**प्रत्यभिज्ञेति** । तत्र हेतु—**ज्वालैकत्वेति** । दोषशङ्कासदसत्त्वाभ्या नियममन्यथाख्यातिवादिप्रतिबन्धा शङ्कते—**यत्र दोषेत्यादिना** । अन्यथाख्यातिवादिनामपि उत्तमवृद्धप्रयुक्तशब्दात्संसृष्टज्ञानमनुमाय तत्र बालस्य व्युत्पत्तिरित्यभिमतं तथा सति यथा क्वचिद्विपर्ययेपि विपर्ययशङ्का तथा तत्रापि विपर्ययशङ्का निरवकाशेति । इतरथा तन्मार्गव्युत्पत्तेरभावात् शब्दप्रामाण्यभङ्ग एव विपर्ययशङ्कोपशमात्तदस्मिन्मतेऽपि समानमित्यर्थं १ दूषयति—**मैवमिति** । अस्यायं व्यवहार संसर्गज्ञानपूर्वक न पुनरसंसर्गाग्रहादित्यत्र न किञ्चिद्विपर्ययस्तीत्यर्थं । सम्भवन्ति लिङ्गानि विकल्प्य दूषयंलिङ्गाभावमेवोपपादयति—**तथाहीत्यादिना** । यत्र दोषाभावस्तत्र संसर्गज्ञानमिति व्याप्तिर्नास्तीत्युक्तं तदेव विवृणोति—**सत्यपि दोषाभाव इति** । ननु न दोषाभावमात्रात्संसर्गज्ञानमनुमिनुम किंतु तद्युक्तसामग्रीसद्भावात्तथा च न व्यभिचारः यस्मिन् सति भवत्येव कार्यमिति सामग्रीलक्षणादिति तत्राह—**नच दोषाभावेति** । भवेदेवं यदि सामग्र्येव ज्ञायेत नत्वेतत्तस्या कार्यैकगम्यतया संसर्गज्ञानलक्षणकार्यज्ञानतत्सामग्रीज्ञानयो परस्पराश्रयप्रसङ्गादित्याह—**सामग्र्या इति** । इदं रजतमिति । नहि तत्र संसर्गज्ञानं तवाभिमतमिति भावः । **विनापीति** । अविसंवादिव्यवहारस्यापि संसृष्टयोरर्थयोरसंसर्गाग्रहादेवोत्पत्तिसम्भवात् न संसर्गज्ञानं विना क्वचिदुपपत्तिर्येन तदनुमापयेदित्यर्थः । अत्र च विसंवादिव्यवहाराद्वैषम्यार्थं संसृष्टयोरित्युक्तम् । तेनैतदुक्तं भवति । असति

तृतीयः । विनापि संसर्गग्रहं संसृष्टयोरसंसर्गग्रहादेव तदुपपत्तेः, त्वन्मते घटत्वतद्व्यक्तयोः समवायस्याप्रत्यक्षतया संसर्गग्रहेऽपि संवादिव्यवहारदर्शनेनानैकान्त्याच्च । व्यवहाराविसंवादस्य च देशान्तरकालान्तराधीनाधिगमतया व्यवहाराधिगमसमयेऽनधिगतत्वेनातल्लिङ्गत्वात् बालस्य मध्यमवृद्धसमवायिसंसर्गज्ञानानुमानानुदये व्युत्पत्तिविरहप्रसङ्गात् । नच प्रतीतिविरोधः । रजताकारायाः प्रतीतेः शुक्तिकालम्बनतानभ्युपगमात् । नहि रजतं शुक्तिरिति परैरपि प्रतीतिरुपेयते । इदमाकारस्य तु रजतज्ञानालम्बनतामनभ्युपगच्छतस्तत्रैव प्रतीतिविरोधः । इदं रजतमिति सामानाधिकरण्येन पुरोवर्तिन्यङ्गुलिनिर्देशपुरःसरमादानादिव्यवहारदर्शनात् । नच संविदां विषयव्यभिचारादनाश्वासप्रसङ्गः । विसंवादिव्यवहारजनकत्वपक्ष इवास्मन्मतेऽप्याश्वासोपपत्तेः । नचासतः संसर्गादेरवभासाभ्युपगमादसत्त्व्यातिप्रसङ्गः । भासमानस्य संसर्गादेः सद्विलक्षणतावदसद्विलक्षणतायाः अप्यङ्गीकारात् । नचायथार्थज्ञानजन्मनि करणाभावः । दोषदूषितचक्षुरादेस्तत्करणत्वोपपत्तेः ।

ज्ञानानामाजानतो यथार्थव्यवहारजनकत्वेऽपि दोषवशादयथार्थव्यवहारहेतुत्ववदेव दुष्टानां करणानां विपरीतज्ञानहेतुताया अपि संभवात् । यथाच द्रवदाहस्य वेत्रबीजवि-

संसर्गोऽसंसर्गग्रहात् उत्पद्यमानो व्यवहारो विसंवादीतरस्त्वविसंवादीति न केवलमस्योक्तवर्त्मना शङ्कितानैकान्त्यमपितु स्पष्टमेव त्वन्मत इत्याह—**त्वन्मत इति । घटत्वेति ।** घटत्वतद्व्यक्तिसंसृष्टव्यवहारस्तावदविसंवादी । नचात्र व्यवहारसमये संसर्गज्ञानमस्ति तत्संसर्गस्य समवायस्य त्वन्मते प्रत्यक्षत्वानङ्गीकारादनुमानस्य चाविसंवादिव्यवहारलिङ्गतया प्रागसिद्धे । ततस्तत्राविसंवादिव्यवहारस्य संसर्गज्ञानपूर्वकत्वं व्यभिचरतीत्यर्थः । स्वरूपासिद्धिं चाह—**व्यवहारेति ।** अविसंवादित्वस्य कालान्तराधिगम्यत्वात् मध्यमवृद्धवर्तिज्ञानानुमानसमये दुरधिगमतया लिङ्गत्वाभावेन सङ्गतिग्रहणायोगात्, पुनरपि स एव दुरात्मा शब्दप्रामाण्यभङ्गप्रसङ्ग आगत इत्यर्थः । एवमुक्तं दूषितम् । यस्तु रजतज्ञानस्यान्यालम्बनत्वेऽनुभवविरोध इति बाधकतर्कोभिहितस्तं परिहरति—**नचेति ।** तत्र किं रजताकारप्रतीतिं प्रति शुक्तेरालम्बनत्वेऽनुभवविरोधः, इदं मात्रस्य वा, आद्योऽनङ्गीकारपरास्त इत्याह—**रजतेति ।** द्वितीयं दूषयति—**इदमाकारस्यत्विति ।** प्रतीतिमेवाभिनयति—**इदं रजतमिति ।** अनाश्वासप्रसङ्गपूर्वोक्तं परिहरति—**नचेति ।** येन हि नियामकेन क्वचिद्विसंवादिव्यवहारजनकत्वेऽपि संविदां न सर्वत्र तच्छङ्कया प्रवृत्त्युच्छेदः, स नास्मन्मतेऽपि दण्डवारित इत्याह—**विसंवादीति ।** किञ्च बोधकतया स्वतः प्रमाणत्वात् ज्ञानानामव्यभिचारस्य चानुमानमात्राङ्गतया प्रमाणमात्राननुपवेशित्वात् सितासितव्यभिचारेऽपि चक्षुषः प्रामाण्याङ्गीकाराच्च नानाश्वासशङ्कापि । तृतीयं बाधकं परिहरति—**नचासत इति ।** नानिर्वचनीयवादिनामयं दोष इत्यर्थः । एतेन साकारताप्रसङ्गोऽपि परिहृतः । अन्यथाख्यातिवादिना तु त्वदीयव्यवहारेण समानयोगक्षेमत्वमिति द्रष्टव्यम् । यस्तु कारणाभावाद्विपर्यासापलापस्तं परिहरति—**नचायथार्थेति ।**

ननु समीचीनज्ञानहेतुभ्यो नयनादिभ्यः कथमसमीचीनज्ञानजन्म नहि जातु कुटजबीजाद्वटाङ्कुरप्ररोह इत्याशङ्क्य तत्र प्रतिबन्धा परिहारमाह—**ज्ञानानामिति । आजानतः** स्वभावतः । यत्तु दोषोपहतेभ्योऽपि न सिध्वाज्ञानजन्म प्राप्तकार्यप्रतिबन्धकमात्रत्वात् दोषाणामित्युक्तं तत्परिहरति—**यथाच द्रवदाहस्येति ।** द्रवो वनवह्निः तेन यो दाहस्तस्येत्यर्थः । मा भूद्वनवह्निदग्धवेत्रबीजान्युदाहरणं मा च भूतेषां वेत्रबीजता दृष्टस्यैव

नाशकत्वं रूपान्तरजनकत्वं तथादोषाणामपि यथार्थज्ञानप्रतिबन्धकत्वमयथार्थज्ञानजनकत्वं च किं न स्यात् । सर्वत्र चासंसर्गाग्रहादेव संसर्गव्यवहारमभ्युपगच्छतः शब्दलिङ्गादिप्रामाण्यभङ्गस्य दर्शितत्वादेव कल्पनागौरवस्यादूषणत्वात् । असंसर्गाग्रहमात्रस्य व्यवहारप्रसञ्जकत्वादेव तत्प्रसञ्जितायथार्थव्यवहारबाधकत्वेन बाधकस्य बाधकत्वोपपादनासंभवात् । नच व्यवहारव्यवच्छेदो बाधः । अतदर्थिनां तत्र व्यवहारानुदयेनेदं रजतमित्यादिज्ञानस्याबाधकत्वप्रसङ्गात् । तदर्थिनां च व्यवहारविच्छेदकस्य बाधकत्वे चोरादिज्ञानस्यापि तद्विच्छेदकस्य बाधकतापत्तेः ।

नच तद्योग्यताविच्छेदो बाधः, तद्विच्छेदे समयान्तरे पुनस्तत्र व्यवहाराभावप्रसङ्गात् । योग्यताप्रतिबन्धो बाध इत्यपि न, विवेकज्ञानवेलायां हेत्वभावादेव फलासिद्धौ प्रतिबन्धकल्पनान्त्वकाशात् । नचाग्रहणनिवृत्तिर्बाधः, सर्वग्रहणानां तथात्वेन बाधरूपत्वप्रसङ्गात् । अतो न व्यवहारनिवारणेन बाधकस्य बाधकतोपपत्तिः । रजतगोचरविज्ञानस्य च दोषदूषितलोचनजन्यतया परिशेषासिद्धौ संस्कारमात्रजन्यतया स्मृतित्वकल्पनायोगात् ।

नन्वसंयुक्तत्वेन रजतज्ञानं प्रत्यकारणस्य रजतस्य न तद्गोचरत्वं सर्वत्र साक्षात्कारिज्ञाने तज्जनकस्यैव विषयत्वादिति चेन्न । प्रत्यभिज्ञायां तत्ताया अपि गोचरत्वात् । तत्र संस्कारसचिवमिन्द्रियं तत्तां गोचरयति संस्कारोपस्थापितत्वात्तत्ताया इति चेत्प्रकृतेः तर्हि

तावदुभयकारकत्वमनुमतं तदेव भवतूदाहरणमित्यर्थः । यत्संसर्गज्ञानस्यापि ससृष्टव्यवहारहेतुत्वे कल्पनागौरवादसंसर्गाग्रह एव सर्वत्र ससृष्टव्यवहारहेतुरित्युक्तं तत्राह—**सर्वत्रचेति** । प्रमाणबलात्प्राप्तगौरवं न दोषः । “प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्प्यानि सुबहून्यपि । बालाग्रशतभागोपि न कलयो निष्प्रमाणक” इति न्यायादिति भावः । तदेवं संसर्गज्ञाने संसृष्टव्यवहारान्यथानुपपत्तिः प्रमाणमभिधाय बावान्यथानुपपत्तिमपि प्रमाणयति—**असंसर्गेति** । उपपादनासंभवात्तदनुपपत्तिरपि संसर्गे ज्ञानसाविकेत्येषः । अङ्गीकृत्य तदीयं बाधं तद्धेतुत्वं ज्ञानस्य निरस्तम् इदानीं स एव तु न घटतेऽव्याप्तेरित्याह—**नच व्यवहारेति** । अस्तिहि विरक्तस्यापि कस्यचित्पुरोवर्तिनीदं रजतमिति भ्रान्तिर्नैदं रजतमिति बाधश्च । नच तत्र व्यवहारोऽतदर्थित्वात् अतोऽव्याप्तिरित्यर्थः । लक्षणान्तरं शङ्कते—**तदर्थिनामिति । चोरादीति** । यदाहि कश्चित्कचिद्देशे यागे चोरादिज्ञानाद्विच्छिन्नोद्योगो भवति तत्र चोरादिज्ञानस्य यागादिबाधकत्वं स्यादित्यर्थः ।

ननु येयं व्यवहारयोग्यता पुरोवर्तिनो रजताद्यात्मना तद्विच्छेदो बाधस्तथाच नाव्याप्तिरपि विरक्तस्यापि योग्यतानपायादिति तत्राह—**नच तद्योग्यतेति** । तर्हि योग्यताप्रतिबन्धमात्रं बाधः तत्राच प्रतिबन्धापाये पुनरपि तत्रैव भ्रमिष्यतीति तत्राह—**योग्यतेति** । सति पुष्कलकारणे कार्यानुत्पत्तिर्हि शक्तिप्रतिबन्धकल्पिका साचात्र नास्ति विवेकग्रहणेन विवेकाग्रहस्य निरासादित्यर्थः । लक्षणान्तरं दूषयति—**नचाग्रहेति** । सर्वाणिहि ज्ञानानि स्वप्रागभावनिवर्तकानि निवृत्तिर्वेति बाधकत्वं बाधत्वं वा स्यात् तथाच सर्वैयभ्रान्ता स्युरित्यर्थः । नच विवेकाग्रहनिवृत्तिर्बाधः सर्वभेदज्ञानानां बाधकत्वप्रसिद्ध्यभावादित्यपि द्रष्टव्यम् । अन्यथोपपत्तिनिराकरणमुपसहरति—**अत इति** । परिणताज्ञाननिवृत्तिर्बाधस्तथाच तत्परिणामरूपमिथ्याज्ञानतदर्थौ विना न बाधसिद्धिरिति खण्डलकार्थः । यत्तु परिशेषात्स्मृतिरित्युक्तं तदूषयति—**रजतगोचरेत्यादिना** ।

असंयुक्तविषयत्वं साक्षात्कारिवेऽनुपपन्नमिति शङ्कते—**नन्विति** । दूषयति—**न प्रत्यभिज्ञाया-मिति** । येषां हि प्रत्यभिज्ञानमेकं ज्ञानं तेषां तत्तापि चाक्षुष्येवेत्यर्थः । तत्र चक्षुषा संस्कारद्वारा प्रत्यासत्त्या चाक्षुष्यत्वेऽत्रापि सा समेत्याह—**तत्र संस्कारेत्यादिना** । प्रत्यभिज्ञावदेव तत्तोद्धेययथार्थत्वप्रसङ्गवारणाय

संस्कारोपनीतं रजतं दोषकलुषितेन्द्रियेण विषयीक्रियत इति न दोषः तथापि समारोपे किं प्रमाणमिति चेदुच्यते—‘नयनं नयनोद्भूतसम्यग्ज्ञानातिरेकिणः । ज्ञानस्य कारणं तत्त्वाद्यथैव नयनान्तरम् ॥’ १२ ॥ एतच्चक्षुरेतच्चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानातिरिक्तज्ञानजनकं चक्षु-
द्वादिन्द्रियत्वाद्वा चक्षुरन्तरवदिन्द्रियान्तरवच्च । नच चक्षुश्चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकत्वे सत्यतिरिक्तज्ञानजनकं न भवति इन्द्रियत्वात् घ्राणवदिति प्रकरणसमता । मनस्यनैका-
न्तिकत्वात्तस्य साधारणकारणस्य चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकत्वे सत्यतिरिक्तरसादिज्ञानज-
नकत्वात् । चक्षुषश्चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकत्वेसत्यतिरिक्तरसादिज्ञानजनकतया सिद्ध-
साधनत्वाच्च । नच बहिरिन्द्रियत्वादिति विशेषणान्नानैकान्तिकता, तत्रापि सिद्धसाधन-
तायास्तादवस्थ्यात् । नच यथोक्तयथार्थज्ञानजनकत्वेसत्यतिरिक्तज्ञानजनकत्वात्यन्ताभा-
वाधिकरणतया साध्यस्य विवक्षितत्वाददोषः, घ्राणादिषु चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकत्वस्यै-
वोपाधेः सत्त्वात् ।

नच व्यतिरेकोपसंहारस्थलाभावः, मनसश्चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकस्यातिरिक्तज्ञानज-

दोषकलुषितेत्युक्तम् । यद्यपि सर्वप्रत्यययथार्थ्यमप्रामाणिकं नापि विपक्षे कश्चिद्वाधकस्तर्कस्तथापि समारो-
पसद्भावे किं प्रमाणं नहि परपक्षप्रतिषेधमात्रात्त्वपक्षसिद्धिरित्यधिकविवक्षयाशङ्क्यति—**तथापीति** । श्लोके-
नानुमानं सगृह्णाति—**नयनमिति** । अत्र नयनविशेष पक्षसाध्ययोर्निधातव्य । कारणमित्यन्ता प्रतिज्ञा । **तत्त्वा-
दिति** नयनत्वादिन्द्रियत्वाद्देति हेतु । यथैव नयनान्तरमिन्द्रियान्तर वेति दृष्टान्त । एतदेव विवृणोति—
एतच्चक्षुरित्यादिना । एतच्चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानत्वानधिकरणज्ञानजनकमिति च साधनीयम् । अन्यथा पूर्व-
कालैतज्जन्ययथार्थज्ञानातिरिक्तज्ञानजनकत्वस्योत्तरकाले संभवेन सिद्धसाधनत्वात् । तत्र चक्षुर्मात्रपक्षीकरणे
चक्षुरन्तरजन्ययथार्थज्ञानत्वानधिकरणेनैतच्चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानेनार्थान्तरता तन्निवृत्त्यर्थमेतच्चक्षुर्ग्रहणम् । एवं
साध्येपि द्रष्टव्यम् । यथार्थज्ञानत्वानधिकरणज्ञानजनकमित्युक्ते प्राभाकराणामप्रसिद्धविशेषणता विरुद्धता च,
तन्निवृत्त्यर्थमेतच्चक्षुर्जन्येत्युक्तम् । चक्षुरन्तरजन्यज्ञानस्य यथार्थत्वेनाङ्गीकारेऽप्येतच्चक्षुर्जन्यत्वाभावादेवैतच्चक्षु-
र्जन्यत्वे सति यथार्थज्ञानत्वानधिकरणत्वमस्तीति नाप्रसिद्धविशेषणत्वसाध्यवैकल्ये । व्याहतिनिवृत्त्यै यथार्थ-
पदम् । पक्षे त्वेतच्चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानत्वानधिकरणत्वमेतच्चक्षुर्जन्यत्वानधिकरणत्वान्न सभवति व्याघातात् ।
तस्माद्यथार्थज्ञानत्वानधिकरणं किञ्चिच्चक्षुर्जन्यं ज्ञानं सिध्यतीति चाक्षुषी यथार्थज्ञानमिद्धि । एवं लिङ्गा-
भासादिकमपि पक्षीकृत्य साधनीयम् । सत्प्रतिपक्षतामाशङ्क्य दूषयति—**नच चक्षुरित्यादिना** । यथार्थ-
ज्ञानजनकत्वे सत्यतिरिक्तज्ञानजनकं न भवतीत्युक्ते व्याप्त्यसिद्ध्या बाधानैकान्तिकते स्यातां तन्निवृत्त्यर्थं चक्षुर्ज-
न्येत्युक्तम् । चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकत्वेसत्यतिरिक्तज्ञानजनकत्वं, चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकत्वाभावाद्वा व्यति-
रिक्तज्ञानजनकत्वाद्वा । आद्य पक्षो व्याहृत । द्वितीयस्तु सिध्यन्नयथार्थज्ञानजनननिवारणेन सिध्यतीत्यर्थः ।
अनैकान्तिकतामेव दर्शयति—**तस्येति** । सिद्धसाधनता चाह—**चक्षुष इति** । मनस्यनैकान्तिकतापरि-
हाराय विशेषणमाशङ्क्य दूषयति—**नचेति** । प्रकारान्तरेण सिद्धसाधनतापरिहारमाशङ्क्य निषेधति—**नच
यथोक्तेति** । अतिरिक्तज्ञानजनकत्वाभावमात्रं न सार्थं किंतु तदत्यन्ताभावस्तथाच न सिद्धसाधनं अयथा-
र्थज्ञानजनकत्ववादिनामतिरिक्तज्ञानजनकत्वात्यन्ताभावासिद्धे । अत्र च बहिरिन्द्रियत्वादित्येव हेतु अन्यथा
मनस्यनैकान्त । तत्र हेतु—**घ्राणादिष्विति** ।

ननु यत्र चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकत्वं नास्ति तत्र चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकत्वे सत्यतिरिक्तज्ञानजनक-
त्वात्यन्ताभावाधिकरणत्वमपि नास्तीति व्यतिरेकः क निश्चित इत्यत आह—**नच व्यतिरेकेति** । नच

नक्तया व्यतिरेकोपसंहारभूमित्वात् । विवादपदानि पदानि स्वस्मारितपदार्थान्वयप्रति-
पादकानि आकाङ्क्षासन्निधिमत्पदकदम्बकत्वाद्गामानयेत्यादिपदकदम्बवत् । नच योग्यता-
वत्त्वमुपाधिः, साध्येन समव्याप्त्यभावात् । आकाङ्क्षासन्निधिरहितपदेषु योग्यतावत्त्वेपि
साध्याभावात् । नचाकाङ्क्षादिमत्त्वेसति योग्यतावत्त्वमुपाधिः, व्यर्थविशेष्यापातात् ।
नह्याकाङ्क्षासन्निधिमत्त्वेसति योग्यताभावेनान्वयज्ञानाजनकत्वमुभयवादिसंप्रतिपन्नस्थले ह-
ष्टमस्ति । अयोग्यार्थविषयाणामाकाङ्क्षासन्निधिमत्पदानां सर्वेषां पक्षीकरणात् । नच यो-
ग्यतावत्त्वस्य विषमव्यापकत्वेनोपाधिता । यद्योग्यार्थं तदन्वितप्रतिपत्तिजनकं न भव-
तीति व्यतिरेकोपसंहारस्थलस्य पूर्वोक्तन्यायेन दर्शयितुमशक्यत्वात् । नच विवादपदानि
पदानि स्वस्मारितार्थान्वयप्रमितिजनकानि, आकाङ्क्षासन्निधिमत्पदत्वात्, गामानयेति
पदवदित्याभाससमानयोगक्षेमता । तत्र बाधकप्रमाणविरोधेन कालाययापदिष्टत्वात् ।
प्रतीतिमात्रसाधनेतु बाधाभावात् । उक्तं चैतद्भट्टाचार्यैः—‘अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे
शब्दः करोति ही’ति । विपक्षे च प्रतिपक्षाप्रतिपत्तौ तन्निराकरणाय कथारम्भासंभवो

तत्राप्यान्तरेन्द्रियत्वमुपाधिः । आन्तरपदस्य पक्षमात्रव्यावर्तकतया पक्षेतरत्वात् । तथा प्रमाणत्वमुभवा-
द्यावृत्तं अनुभवत्वातिरिक्तत्वे सति ज्ञानत्वावान्तरजातित्वात् स्मृतित्ववत् । प्रमाणभूत्योश्च लक्ष्यलक्षणभावा-
ङ्गीकाराद्रेदसिद्धिः । पूर्वं चाक्षुषविभ्रमसद्भावे प्रमाणमुक्तम् । इदानीं शाब्दविभ्रमं साधयति—**विवादप-
दानीति** । पदमात्रपक्षीकरणे गामानयेत्यादिषु यथार्थज्ञानजनकेषु सिद्धसाधनता तदर्थं विवादपदग्रहणम् ।
आकाङ्क्षासन्निधिमत्पदवन्ति पदानीत्यर्थः । पदानां देवदत्तोयमधीत इति वक्तुं विशेषानुमापकतयाप्यन्वयप्रतिप-
त्तिजनकत्वेन सिद्धसाधनताऽत उक्तं—**स्वस्मारितेति** । पदकदम्बकत्वात्पदसमूहत्वादित्युक्ते उरगस्तुरग-
खदिर इत्यादिपदसमूहेष्वनैकान्तिकता तदर्थमाकाङ्क्षाग्रहणम् । तावत्युक्ते ‘गामानय प्रासादं पश्ये’त्यत्र साका-
ङ्क्षयोरप्यसन्निहिततया परस्परमन्वयप्रतीत्यजनकयोर्गा पश्येत्यनयोरनैकान्तिकता तन्निवृत्त्यर्थं सन्निधिमदिति ।
तावत्युक्ते च, ‘अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यता’मिति वाक्ये राज्ञ इति पुरुष इति च पदयोः सन्निधिम-
त्त्वेपि नैराकाङ्क्षेण परस्परमन्वयप्रतीत्यजनकयोरनैकान्तिकता तदर्थमाकाङ्क्षाग्रहणम् । किं समव्याप्तिवादिना-
यमुपाधिर्दीयते विषमव्याप्तिवादिना वा । नाथ इत्याह—**साध्येनेति** । तदेव विवृणोति—**आकाङ्क्षेति** ।
ननु न वयमन्वयप्रतीतिजनकत्वे योग्यतावत्त्वमात्रमुपाधि ब्रूमः किंतर्ह्याकाङ्क्षासन्निधिमत्त्वविशेषितं तथाच
समव्याप्तिरस्त्येवेत्यत आह—**नचाकाङ्क्षेति** । हेतुमाह—**व्यर्थविशेष्येति** । आकाङ्क्षासन्निधिमत्त्वेपि
यदि कचिद्योग्यताभावापराधेनान्वयप्रतीतिर्न स्यात्ततः साध्यव्याप्तिसिद्ध्यर्थं योग्यतावत्त्वमुपादेयं नचैतदस्ति
तादृशा सर्वेषां पक्षत्वादेव साध्याभावाभिर्णयस्थलत्वाभावात्, अतः पक्षमात्रव्यावर्तकतया पक्षेतरत्वमित्यर्थः ।
तदेव विवृणोति—**नह्याकाङ्क्षासन्निधीत्यादिना** । द्वितीयं दूषयति—**नचेति** । अत्रापि पक्षेतरत्वमेवो-
पाधिव्यतिरेकस्य साध्यव्यतिरेकेण व्याप्त्यभिर्णयत् । जरद्ववादिवाक्यानां पक्षतुल्यत्वात्, ‘खदिरस्तुरग’ इत्या-
दिपदानामाकाङ्क्षाभावादेवान्वयप्रतीत्यजनकत्वादित्यभिप्रेत्याह—**यद्योग्यार्थमिति** । आभाससमानयो-
गक्षेमतामाशङ्क्य निषेधति—**नचेति** । नेदं रजतमिति समनन्तरबाधकप्रमाणविरोधात् । प्रमितिज-
नकत्वानुमानं कालातीतम्, नैवम् प्रतीतिमात्रजनकत्वानुमाने किञ्चिद्बाधकमस्ति उक्तानां संविद्विरोधादीनां
प्रागेव परिहृतत्वादित्यभिप्रेत्याह—**तत्र बाधकेति** । शशविषाणं खपुष्पमित्याद्यसत्यर्थेऽत्यन्तायोग्येप्याका-
ङ्क्षासन्निधिमज्जच्छब्दो ज्ञानं करोतीति भट्टवार्तिकार्थः । योग्यतारहितस्याप्याकाङ्क्षादिमतः प्रतीतिजनकत्वानङ्गी-
कारे प्रतिवादिवाक्याच्छब्दोऽनित्य इत्यादेरयोग्ययोः शब्दानित्यत्वयोः संसृष्टप्रतीत्यनुपपत्तौ तदनुवादाभावेन
तन्निराकरणाय ग्रन्थकरणादिरूपकथानारम्भप्रसङ्गो बाध इत्याह—**विपक्षे चेति** । एतदेव विकल्पपूर्वकं

बाधकः । तथाहि । शब्दोऽनित्य इति शब्दस्यानित्यत्वे वादिना प्रतिपादिते यदि न तत्प्रतिवादी प्रतिपद्येत तदा वादिना परिषदा च विज्ञातस्यापि स्वयमविज्ञातेऽविज्ञानं नाम निग्रहस्थानमापद्येत । प्रतिपत्तौ वा विपर्ययाभ्युपगमप्रसङ्गः । नहि शब्दस्यानित्यत्वज्ञानं तन्नित्यत्ववादिनो यथार्थम् । किंचैकाधिकरणविरुद्धधर्मद्वयप्रतिपत्तिलक्षणा विप्रतिपत्तिरेव भवन्मते न भवेत् तत्र कुतस्तरां कथाप्रवृत्तिः कुतस्तमां च विप्रतिपत्तिनिरासः । अपि च सर्वस्य वाक्यस्य संसर्गप्रतीत्यजनकत्वेऽनृतापार्थक्यनिरर्थकभेदो न स्यात् समुदायार्थप्रतीतौ सत्यामपि यदर्थो बाधितो भवति तद्वाक्यमनृतमुच्यते यथा नद्यास्तीरे पञ्चफलानि सन्तीति विप्रलम्भकवचनं, यत्रावयवार्थप्रतीतौ सत्यामपि समुदायार्थप्रतीतिस्तदपार्थक्यम्, यथा 'दशदाडिमानि षड्रूपाः कुण्डमजाजिन'मित्यादि । अवयवार्थप्रतीतेरपि यत्राभावस्तन्निरर्थकं यथा 'नित्यः शब्दः कचटतपानां गजडदवत्वात् खल्लथव'दिति । सचायमनृतापार्थक्यादिभेदः कचिदपि शब्दस्य संसर्गप्रतीत्यजनकत्वे न संभवतीत्यलमतिविस्तरेण । यदसत्तत्र प्रकाशते यथा गगनकुसुमम्, असच्च शुक्तिरजततादात्म्यमिति चेत् । मैवं । गगनकुसुमस्यापि तच्छब्दात्प्रतीयमानत्वेन दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्, तादात्म्यस्य च प्रतीतावन्यथाख्यातिस्वीकारात्, अप्रतीतावाश्रयासिद्धेः, असंसर्गाग्रहवलेन च तद्व्यवहारे तत्रासत्त्वाप्रतीतौ हेतोरपक्षधर्मत्वात् ।

विवृणोति—तथाहीति । यदि न बुध्येत बुध्येत वेत्यपि द्रष्टव्यम् । आद्ये तन्निराकरणमशक्यमित्यपि द्रष्टव्यम् । न केवलमप्रतिबुद्धस्य निराकरणमशक्यं निग्रहस्थानापत्तिश्चेत्याह—तदा वादिनेति । इदं च विशेषणं अविज्ञातं चाज्ञानमिति सूत्रस्थचकारानुकुलोऽर्थोऽविज्ञातार्थातिव्याप्तिपरिहारप्रयोजनं परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्य'विज्ञातमविज्ञातार्थं मिति सूत्रं त्रिरभिहितमपीति वादिनेति शेषः । द्वितीये आह—प्रतिपत्तौ वेति । तस्यैव प्रपञ्च । नहि शब्दस्येति । दूषणान्तरमाह—किंचेति । एकं शब्दादिकमधिकृत्य विरुद्धधर्मविषयिण्यौ प्रतिपत्तौ हि विप्रतिपत्तिर्न पुनर्मिन्नाधिकरणेनाप्यविरुद्धार्थविषयिण्यौ । नित्यं आत्मा अनित्या बुद्धिरित्यनयोर्नित्य आत्मा विमुञ्च्येत्यनयोर्वा विप्रतिपत्तित्वाभावात् । सेयं विपर्यासानङ्गीकारे न भवेत् नापि व्यवहारद्वयमात्रमप्रतिपत्तौ विरुद्धधर्मविप्रतिपत्तित्वाभावात् । प्रमितित्वेच विरुद्धधर्माभ्यासेनार्थस्यैव भेदापत्तिरित्यर्थः । ननु तादृशधर्मद्वयस्य प्रस्तुतधर्मव्यतिरिक्तनिष्ठतयाऽग्रहणात्तथा व्यवहार इति चेन्न । एकनिष्ठत्वाप्रतिपत्तौ व्याप्तिग्रहाभावादनुमानानुदयादिति बाधकान्तरमाह—अपिचेति । सर्वस्येति । वाक्यमात्रस्येति यावत् । अनृतादीनां प्रसिद्धं विवेकं दर्शयति तदभावापादनाय समुदायार्थेत्यादिना । अत्र चानृतशब्देन प्रतिज्ञासंन्यासो निरनुयोज्यानुयोगोऽसिद्धिविशेषश्च विवक्ष्यते । अपार्थक्यमाह—यत्रेति । पौर्वापर्यायोगादप्रतिसंबद्धार्थमपार्थक्यं वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकमित्यक्षपादसूत्रादित्यर्थः । कचिदपीति । एतेषु मध्ये कचिदपीत्यर्थः । संसर्गप्रतीतिमनुमानेनापलपन्सत्प्रतिपक्षयति—यदसदिति । दूषयति—मैवमिति । नच यदसत्तदपरोक्षतया न प्रकाशते इति साध्यं, तव व्यर्थविशेषणत्वात् । किंच तादात्म्यं प्रतीतं नवा यस्यायमप्रकाश साध्यते उभयथापि दूषणमाह—तादात्म्यस्य चेत्यादिना । ननु तादात्म्यं तावत्प्रतीयते अन्यत्र शुक्तिरजते च प्रतीयेते तेषां चासंसर्गाग्रहादप्रतीतेऽपि विशिष्टतादात्म्ये तद्व्यवहार इति तत्राह—असंसर्गाग्रहेति । आश्रयाप्रतीतौ तन्निष्ठतया हेतोरप्यप्रतीतावसिद्धिः स्यात् । यथोक्तं 'एकदेशदर्शनं

तस्माद्रजतादिविभ्रमे पुरोवर्तिशुक्तिशकलादि रजताद्यात्मनावभासत इति सिद्धम् । भव-
त्वेवं विभ्रमसद्भावः विभ्रमालम्बनं तु किमसत्सदेव वा किं वोभयात्मकमुतोभयविलक्ष-
णमिति विवेचनीयम् । न तावदसत् । असतोऽपरोक्षावभासानर्हत्वात् तदादित्सया प्रवृ-
त्त्यनुपपत्तेश्च । क्वचिदसद्विशेषेपि प्रतिभासप्रवृत्ती किं न स्यातामिति चेन्न । विशेषाधि-
करणत्वे तुच्छत्वानुपपत्तेश्च निःस्वभावत्वात् । सदैवलक्षण्यमात्रेणासत्त्वाभिधाने माया-
वादमतप्रवेशात् । अन्तरेणापि ज्ञेयसामर्थ्यं निःस्वभावेऽप्यसति स्वकारणविशेषसमासा-
दितस्वभावविशेषविज्ञानमेवाविद्ययाऽसत्प्रकाशनशक्तिमदिति चेत्तर्हि वक्तव्यं किमस्याः
शक्तेः शक्यमिति । यद्यसदेव किमेतस्याः कार्यमुतैतज्ज्ञाप्यम् । नाद्यः । असतोऽकार्य-
त्वात् प्रकाशनशक्तित्वव्याधाताच्च । न द्वितीयः । प्रकाशान्तराभावात्, अनवस्थानाच्च ।
तदेव विज्ञानमसतः प्रकाश इति चेन्न । विज्ञानाश्रयां शक्तिं प्रति विज्ञानस्यैव शक्तशक्य-
तया विषयत्वानुपपत्तेः । नह्येकस्यैकदैव सिद्धतया शक्त्याश्रयत्वमसिद्धतया च तद्विषयत्वं
संभवति युगपदेव सिद्धसाध्यत्वविरोधात् । शक्यमेव तर्हि शक्तेर्माभूदिति चेन्न । शक्तेः
कस्य कुत्रेति शक्तशक्यनिरूपणाधीननिरूपणत्वात् । अस्तु तर्हि स्वकारणविशेषासादित-

खत्वनुमापक'मिति भाष्यकारैरप्येकदेशदर्शनादेकदेशान्तरे बुद्धिरिति । एतेन शुक्ती रजताकारेण न प्रका-
शते तद्रूपेणासत्त्वात् यथा घटः पटरूपेणेति मुरारिरप्यपास्त । प्रमाणस्मृतिविवक्षाया सिद्धसाधनत्वात् भ्रा-
न्तिविवक्षायां तवाप्रसिद्धविशेषणता साध्यविकलश्च । दृष्टान्त इत्यादेश्च । वादार्थमुपसंहरति—तस्मादिति ।
आरोपं निरूप्यारोप्यं निरूपयति—भवत्वेवमित्यादिना । सदेवेत्यन्यथाख्यात्यात्मख्यात्योर्निर्देश उभ-
यात्मकमिति तु भेदाभेदादिनोऽन्यथाख्यातिविशेषस्य, उभयविलक्षणमिति तु सिद्धान्तस्य । प्रथममसत्ख्याति
निराचष्टे—न तावदिति । अपरोक्षेति शाब्दप्रतीतिव्यावृत्त्यै । ननु यद्यपि शशविषाणादौ प्रवृत्तिप्रतीति
न दृष्टे तथाप्यसद्विशेषे रूप्यादौ किं न स्यातामिति शङ्कते—क्वचिदिति । सत खत्वयं सामान्यविशेषभावो
न त्वसत इति परिहरति—नेति । अथासत्त्वं नामं न नि स्वभावत्वं येनेदं दूषणं स्यात् अपितु सदैवलक्षण्यं
तत्राह—सदैवलक्षण्येति । असतोऽप्यपरोक्ष्यं सपादयत्यसद्वादी । अन्तरेणापीति । यद्यपि नि स्वभा-
वमसज्ज्ञेयं तथापि तस्य ज्ञेयस्य सामर्थ्यमन्तरेण स्वकारणविशेषात्समनन्तरप्रत्ययादासादितः प्राप्त स्वभाव-
विशेषो येन विज्ञानेन तत्तथा । तादृशविज्ञानमेवाविद्ययाऽसत्प्रकाशनशक्तिलक्षणया असत्प्रकाशनशक्तिमदिति
योजना । एतदुक्तं भवति । यद्यप्यधिपतिसहकार्यालम्बनसमनन्तरात्मकेभ्य प्रत्ययेभ्यश्चतुर्भ्यश्चित्तचैत्या
उत्पद्यन्ते इति स्थितिस्तथापि भ्रान्तिस्थलेष्वालम्बनप्रत्ययस्यासत्त्वात् अनर्थक्रियाक्षमत्वादत एव तत्संयुक्त-
स्याधिपतेश्चक्षुरादेस्तत्सहकारिणश्चालोकस्य सहकारिप्रत्ययस्याभावेपि समनन्तरप्रत्ययलक्षणपूर्वज्ञानमात्रात्स्व-
भाववैचित्र्यवशाद्विज्ञानमुत्पद्यते स्मृतिज्ञानमिव विषयमन्तरेण सामग्रीमात्रप्रयोज्यमिति, तदेतदूषयति—
तर्हि वक्तव्यमित्यादिना । प्रकाशनशक्तित्वेति । व्यञ्जकत्वात्प्रमाणस्य प्रमेयोत्पादकत्वमयुक्तमि-
त्यर्थः । प्रकाशान्तरेति । एतज्ज्ञाप्यमिति कोर्थ एतज्जनितज्ञानस्य विषय इति । तथाच यदनया शक्त्या
जन्यं ज्ञानं तत्किं ज्ञानान्तरमाश्रयभूतमेव वा । नाद्यः । असज्ज्ञानमन्तरेण द्वितीयज्ञानानुपलब्धेरुपलब्धौ
वाऽनवस्थानाच्चेत्यर्थः । द्वितीयं शङ्कते—तदेवेति । दूषयति—न विज्ञानाश्रयामिति । स्यादेतत्
सत्यमाश्रयविषयसापेक्षा शक्तिर्विषयाभावे न भवेत् शक्तिरेव तु न स्वीक्रियते किं तर्हि विज्ञानमात्रमेव तस्य च
तथाविधमेव रूपं कारणविशेषादाहितं येन परित्यक्तशक्तिकमपि तदसत्प्रकाशो भवतीति शङ्कते—अस्तु

स्वभावभेदं विज्ञानमेवासतः प्रकाश इति चेन्न । सदसतोः संबन्धानिरूपणात् । असदधीननिरूपणत्वं ज्ञानस्य तत्संबन्ध इति चेन्न । तदधीननिरूपणत्वस्यापि संबन्धान्तराधीनत्वादसतश्च निरूपाख्यत्वात्संबन्धाधारतानुपपत्तेः, ज्ञानजन्यातिशयानाधारत्वाच्च । घटादिवदसतो ज्ञानविषयत्वानुपपत्तेः । अयमसदनुभव इत्यसता विना नानुभवो निरूप्यत इति तेनाविनाभावः संबन्ध इति चेत् । मैवम् । अतदुत्पत्तेरतदात्मनश्चानुभवस्य तदविनाभावसंभवात् । तस्मात्स्वप्रत्ययासादितस्वभावभेदं विज्ञानमेवासत्प्रकाश इत्यसत्ख्यातिवादिनामसत्प्रलप इत्यारोप्यमाणं नासत् ।

नापि सत् । नेदं रजतमित्यादिबाधविरोधात् । यत्र बाध्यते ततोऽन्यत्रास्तीति चेन्न । तत्र प्रमाणानिरूपणात् । तथाहि भ्रान्त्यनुभवस्तत्र प्रमाणमुत बाधानुभवः किंवा भ्रमानुपपत्तिः बाधानुपपत्तिर्वा असत्ख्यात्यनुपपत्तिर्वा । नाद्यः । तस्य पुरोवर्तिरजतसत्तामा-

तर्हीति । दूषयति—न सदसतोरिति । ननु शून्यवादिना कथं विज्ञानसत्त्वमभिमतं येन सदसतोरिति शक्यवचनं स्यात् सर्वं शून्यवादिविशेषोऽयं, का तर्हि शून्यवादिता विज्ञेयस्य सर्वथा शून्यत्वाङ्गीकारात् । योगाचारेण हि बहिः शून्यता वेद्यस्याङ्गीकृता । अनेन त्वन्तरेपीति ततो विशेष । यथाचैतत्तथा भट्टशंभुना तत्तदभियुक्तवचनान्युदाहरता “अस्याप्यभावमिच्छन्ति ये माध्यमिकवादिनः” इत्यत्रोपपादितम् । **संबन्धानिरूपणादिति** । यदि हि अविद्यात्मिका शक्तिः स्वीकृता स्यात्तदा सावृत कोपि संबन्धः, तामपि परिहरतः कोऽनु नामानयो संबन्धः स्यादित्यभिप्रायः । असत्प्रकाशोऽयमिति यदिदमसदधीननिरूपणत्वं ज्ञानस्य तत्तेनासता तस्य संबन्ध इति शङ्कते—**असदधीनेति** । दूषयति—**न तदधीनेति** । सबद्धयोर्हि निरूप्यनिरूपकभावो दृष्टः नहि जातु धौतकलवौतकलशधवल्लिप्ता तालफलकालिमा निरूप्यमाणो दृष्टचर इत्यर्थः । भवतु संबन्धान्तरमपि सयोगादिलक्षणमिति नेत्याह—**असतश्चेति** । अथ घटस्य प्रकाश इतिवत् किं न स्यादिति तत्राह—**ज्ञानजन्येति** । असत्त्वाद्धेतोर्ज्ञानजन्यातिशयानाधारत्वात् । अपरोक्षज्ञानविषयभावानुपपत्तेः, घटादिवदिति दृष्टान्तो व्यतिरेके । शङ्कते—**अयमसदनुभव इति** । अयमर्थः । अस्तितावदयं निरूप्यनिरूपकभावनियमः तेन हेतुना तेनासता तस्य ज्ञानस्याविनाभावः कश्चिदस्ति मूलभूत इति विकल्प्यते इति । परिहरति—**मैवमतदुत्पत्तेरिति** । अयमभिसन्धिः । त्रिविधोऽविनाभावः सौगतसमये, स्वभावकार्यमनुपलब्धिश्च । यदाह कीर्तिन्यायविन्दौ—“त्रिरूपाणि त्रीण्येव-लिङ्गान्यनुपलब्धिः स्वभावः कार्यचेतीति । तत्रानुपलब्धिर्धर्मभावावेदिका यथा यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते, सोऽसद्व्यवहारविषयः, यथान्यत्र क्वचिद्दृष्टं क्वचिद्देशविशेष उपलब्धिलक्षणं प्राप्तो घटपटादिर्नोपलभ्यते, नोपलभ्यते च शशविषणादिरर्थः इति साधर्म्यवत्प्रयोगः । स्वभावकार्याख्यौ तु भावबोधकौ यथा वृक्षशिशपात्वयो यथावाग्निधूमयोरिति । तदयुक्तं कीर्तिना ‘कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात् । अविनाभावनियमोऽदर्शनान्नतु दर्शनादिति । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां न भवतीत्यर्थः । तदिह ज्ञानस्यासल्लक्षणार्थबोधकस्वाभाव्यादनुपलब्धिता दूरापेता । सदसतो स्वभावस्वभावित्वाभावाच्च, न स्वभावाविनाभावः । उक्तं हि न्यायविन्दौ—‘स्वसत्तामात्रभाविनि साध्यधर्मे हेतुः स्वभाव इति, विज्ञानस्यासदुत्पत्त्यभावाच्च न कार्यकारणभाव इति । असत्ख्यातिनिराकरणमुपसंहरति—**तस्मादिति** ।

सत्ख्याति निराकरोति—**नापीति** । न वयमत्रैव सत्त्वं ब्रूमः येन बाधविरोधः स्यादपित्वन्यत्रेति शङ्कते—**यत्रेति** । भवेदेवं यद्यन्यत्र सत्त्वे प्रमाणं स्यान्नतु तदिति परिहरति **न तत्रेति** । सभावितप्रमाणानि विकल्प्य दूषयति—**भ्रान्त्यनुभवेत्यादिना** । प्रत्यक्षमर्थापत्तिर्वा इत्यर्थः । भ्रमानुपपत्ति दूषयति—

त्रगोचरतयाऽसंनिहिततत्सत्तायामौदासीन्यात् । न द्वितीयः । बाधानुभवस्यापि पुरोवर्तिन्यारोपिताभावविषयस्य देशान्तरतत्सत्तानावेदकत्वात् । न तृतीयः । रजतावभासस्य यथाप्रतीतपुरोवर्तिरजतसत्तां विनानुपपत्तावपि देशान्तरे तदीयसत्तामन्तरेणानुपपत्त्यभावात् । न चतुर्थः । बाधस्य प्रसक्तप्रतिषेधात्मनस्तत्रैव तत्सत्ताक्षेपकतयाऽन्यत्र तत्सत्तानाक्षेपकत्वात् । नच वाच्यमन्यत्रापि तस्यासत्त्वे तत्रापि कुतो न तस्य बाधः स्यादिति । तत्र तस्याप्रसक्तेरेव बाधाभावोपपत्तौ तत्सत्ताध्यवसायायोगात् । नेदं रजतमिति पुरोवर्तिनि रजततादात्म्यनिषेधात्मबाधानुभवो रजतमर्थात्क्वापि परिशिनष्टीति चेन्न । तथासति वनस्पत्योरिव विविक्तयोर्द्वयोरप्यत्रैवानन्तरं प्रतीतिप्रसक्तेः । नापि पञ्चमः । असतः संसर्गस्येव रजतस्याप्यसतः ख्यात्युपपत्तेः । अथाधुनिकस्य कस्यचिन्मतानुसारेणेदं रजतमिति ज्ञानमिदं माकाररजताकारयोर्नसंसर्गग्राहकमपितु तयोरेकज्ञानसंसर्गिणोर्भेदाग्रहादयथार्थव्यवहारो गृह्यमाणयोर्भेदाग्राहिसविकल्पकमेकं विज्ञानं विभ्रम इति भ्रमलक्षणाभ्युपगमात् । तथाच नासतः कस्यचित्ख्यातिरिति कश्चिद्ब्रूयात्तं प्रति ब्रूयात् । मध्यमवृद्धव्यवहारेण्येकज्ञानोपारोहिणोः संसर्गिणोरसंसर्गाग्रहादेव व्यवहारोपपत्तौ बालस्य संसर्गज्ञानानुमानानुदयाच्छब्दप्रामाण्यभङ्गप्रसङ्गादेवमनुमानाभास इव सदानुमानेन्यसंसर्गाग्रहादेव संस-

न तृतीय इति । अत्यन्तासतः संसर्गस्याप्यपरोक्षप्रतीतिमङ्गीकुर्वतो रजतस्यापि तथाप्रतीतिसमवाप्त सत्तापेक्षेति सूचितम् अनुपपत्तावपी ल्यपिना तत्रैव तत्सत्तेति सन्निधेरित्यर्थः । ननु यद्यन्यत्राप्यसदत्रैव तत्रापि बाध स्यात्तत्वेतदस्ति ततो नूनमवगच्छामोऽन्यत्र सदिति तत्राह—नच वाच्यमित्यादिना । हेतुमाह—तत्र तस्येति । बाधाभावस्त्वन्यथासिद्ध इत्यर्थः । ननु न वयं रजतबाधान्यथानुपपत्त्या रजतसत्त्वं ब्रूमः अपितु तादात्म्यमात्रबाधो धर्मिभूतं रजतं कापि परिशिनष्टीत्याशङ्क्य निषेधति—नेदमिति । अयमर्थः । कथमिदमवधार्यते तादात्म्यनिषेधोऽयं न धर्मिनिषेध इति । यदि हि धर्मिणो रजतस्य मानान्तरात्सत्त्वमवसीयेत तदा प्रसक्तस्यापीदमंशस्येवाबाध इत्यवधार्यते नत्वेतदस्ति नहि दूरस्थस्यावरोयोर्भेदाग्रहात्परस्परस्मात्स्वारोपे नेदिष्टं तिष्ठतश्च विवेकग्रहात्तादात्म्याशनिषेधे तत्रैवानन्तरप्रतीतिवदनयोरस्ति प्रतीतिः । एतदुक्तं भवति । प्रसक्तयोस्तादात्म्याशनिषेधो धर्मिणोस्तत्रैव समनन्तरप्रतीत्या व्याप्तस्तन्निवृत्तौ निवर्तते इति । नच तत्र सनिहितयोस्तादात्म्यारोप इहतु सन्निहितासन्निहितयोरिति वैषम्यम् । एतादृशेषु तादात्म्यारोपासप्रतिपत्तेः, द्वावेतौ नैक इतिवदबाधनाच्च । असतः ख्यात्यनुपपत्तिरिति पञ्चमं पक्षं निषेधति—नापि पञ्चम इति । असत एव संसर्गस्यापरोक्षतया ख्यातिरिति यस्य मतं तस्य कानु नामानुपपत्तिः असतो रजतस्य प्रतीतावित्यर्थः । न्यायकल्पतरानुदीरितमाशङ्कते—अथाधुनिकस्येति । न संसर्गोऽत्र प्रतीयते येनासतः प्रकाशमानता स्यात् । तद्दृष्टान्तेन च रजतस्य सत्त्वं निषेधेताऽपितु शुक्तिरजतयो स्वरूपमात्रग्राहीदमेकं विज्ञानमित्यर्थः । तर्हि किं तत्संसृष्टव्यवहारो निर्निबन्धनो न भेदाग्रहनिबन्धन इत्याह—अपित्विति । कथं तर्ह्यख्यातेर्भेदस्तत्राह—गृह्यमाणयोरिति । एकं विज्ञानमित्यख्यातेर्भेदः सविकल्पकमिति च वस्तुमात्रग्राहिणो निर्विकल्पकाद्विवेचितो नेदं रजतमित्यादिभ्यश्च भेदाग्राहीति व्यावृत्तिर्घट इत्याद्येकैकवस्तुग्राहिविज्ञानमितरस्माद्भेदं न गृह्णाति उक्तरूपं चातस्त्रिवृत्त्यर्थं गृह्यमाणयोरित्युक्तम् । एकैकेन ज्ञानेन तु भेदवत्पटादेरप्यग्रहाणाव्यावृत्तिः । फलितमाह—तथाचेति । तदेतद्दृश्यति—तमप्रति ब्रूयादिति । एकज्ञानोपारोहस्वीकारेण संसर्गज्ञानापलापसाम्यात् अख्यातिवादिनि संसर्गज्ञानापलापिन्युक्तं शब्दानुमानप्रत्यक्षाप्रामाण्यप्रसङ्गं दोषमत्राप्याह—मध्यमवृद्धेत्यादिना । किंचैकस्मिन्नेव घटे स एवायं घटो न भवतीति विभ्रमे लक्षणमव्यापकम् ।

गव्यवहारोपपत्तेरनुमानोच्छेदः, प्रत्यभिज्ञाप्रामाण्योच्छेदश्च । ज्वालैकत्वव्यवहारवत्सर्वत्र प्रत्यभिज्ञायामसंसर्गाग्रहादेव संसर्गव्यवहारोपपत्तेरिति गुरुमतनिरसनेनैव गुरुमतपरिमोषणनिपुणमतेर्मतं निरस्तमिति ।

किंच कणभक्षाक्षचरणमतमवलम्ब्यैवमन्यथाख्यातिमन्यथावर्णयतो द्वितीयसूत्रे मिथ्याज्ञानविवेचनवेलायाम्—‘इहात्मनि मिथ्याज्ञानमनेकप्रकारं वर्तते तद्यथाऽनित्ये नित्यमिति सभये निर्भय’मित्यादिभाष्यविरोधः ‘कः पुनर्विपर्ययोऽतस्मिन्नादिति प्रत्यय’इत्युद्घोतकारवार्तिकविरोधश्च प्रसज्येतेति, ‘बध्यतां बध्यतां वालो नानेनार्थोऽस्ति जीवता । स्वपक्षहानिकर्तृत्वाद्यः कुलाङ्गारतां गत’ इति न्यायविषयतामयं नातिवर्तते । तस्मादसत्ख्यात्यनुपपत्तिरपि नान्यत्र सत्तावेदिकारोपितस्य । कुत्रचेदमारोपितमन्यत्र भवद् भवेत् । न तावद्देशान्तरादौ तस्यासन्निहितस्य द्रष्टुमयोग्यत्वात् । दुष्टं करणं विप्रकृष्टमपि द्रष्टुं शक्नोतीति चेन्न । दुष्टकरणस्य पुंसः सर्वदर्शित्वप्रसङ्गात् । अतो दोषोऽप्यसदनिर्वचनीयं वा दर्शयति दृष्टानुसारात् । तदेवं न देशान्तरादावारोप्यसद्भावः । अस्तु तर्हि बुद्धौ, स्वरूपेणासतो गगनारविन्ददिवदप्रतिभासान्नेदं रजतमिति बाधस्येदंतामात्रगोचरत्वात् द्वयोर्बाधकल्पनायां कल्पनागौरवान्नेदं रजतमिति च रजते बाधादर्शनात् । नचेदंतानिषेधे सत्यनिदंतया बहिरपि व्यवस्थोपपत्तौ कुतः संविदाकारतेति सांप्रतम् । व्यवहितस्यापरोक्षसंविदैक्यमन्तरेणापरोक्षत्वानुपपत्तेः, संविदाकारो रजतं संप्रयोगमन्तरेणापरोक्षत्वात्संवेदनवदिति प्रयोगोपपत्तेः ।

विद्यमानभेदयोरिति विशेषणेपि दूरगिरिशिखरतरुनिकरमात्रग्राहिप्रत्ययेऽतिव्याप्तिरिति द्रष्टव्यम् । एतन्मतदूषणमुपसंहरति—इति गुरुमतेति ।

किंच कणादक्षपादमतावलम्बना तावदिदं वक्तुं न युक्तं भाष्यवार्तिकविरोधेनापसिद्धान्तापातादित्याह—किंच कणभक्षेत्यादिना । द्वितीयसूत्रे—‘दु खजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्ग’ इति । आत्मनीत्यधिकरणे सप्तमी । अत्र ह्यनित्ये इत्यादिसप्तम्या आधारार्थेयरूपसंबन्धग्राहित्वं विभ्रमस्य कण्ठोक्तमिति भावः । स्वपक्षहानीति प्रह्लादं प्रति हिरण्यकशिपुवचनम् । अन्तिमपक्षोक्तदूषणमुपसंहरति—तस्मादिति । तदेवं साधारण्येनारोपितस्यान्यत्र सत्त्वं नास्तीत्युक्तमिदानीं विशेषतो वृषयितुमुपक्रमते—कुत्र चेदमिति । अन्यथाख्यातिं निराकरोति—न तावदिति । ननु यदि न दुष्टाक्षस्य विप्रकृष्टद्रष्टृत्वं कुतस्तर्हि दोषस्य दोषत्वमिति तत्राह—अतो दोषोऽपीति । प्राप्तकार्यप्रतिबन्धकत्वे सति विपरीतकार्यनिष्पादको दोषः तदिहाप्यसदनिर्वचनीयं वा सत्त्वेन भासयतोस्तीत्यर्थः । दृष्टानुसारादिति । असत्संसर्गावभासकत्वस्य ज्ञाने त्वयैव स्वीकारादित्यर्थः । आत्मख्यातिमवतारयति—अस्तु तर्हीति । तत्र युक्तीराह—स्वरूपेणासत इत्यादिना । नन्वस्य सत्त्वकल्पनं नेदं रजतमिति बाधविरुद्धमिति नेत्याह—नेदं रजतमिति । अथ किमिति तदयं निषेधतीत्यत आह—द्वयोर्बाधकल्पनायामिति । अनुभवमपि प्रमाणयति—नेदं रजतमिति । नन्विदंतानिषेधे सत्यनिदंतया विप्रकृष्टं भवत्वत्यन्तसन्निधानं त्वात्मरूपप्रत्ययात्मकं कुतस्त्यमिति तत्राह—नचेदंतानिषेधे सतीति । हेतुमाह—व्यवहितस्येति । संप्रयोगरहितस्येति यावत् । संविदाकारतायामनुमानमपि प्रमाणमाह—संविदाकारो रजतमित्यादिना । घटादेरनुमेयस्य च व्यवच्छेदार्थं संप्रयोगमन्तरेणेत्याद्युक्तम् ।

ननु संप्रयोगो नाम किमिन्द्रियसंयोगादिविशेषः किं वा संबन्धमात्रम् । नाद्यः । रूपादिनाऽनैकान्त्यात् । द्वितीयेतु विशेषणासिद्धिः । दृष्टान्ते साधनविकलता च । नह्याध्यासिकसंबन्धं विनास्माकं रूप्यं तद्धीश्चापरोक्षा, धीरूपत्वे च रजतादेर्भ्रान्तिं विनापि दर्शनप्रसङ्ग इति चेन्मैवम् । इन्द्रियसन्निकर्षानधीनापरोक्षत्वस्य विवक्षितत्वात् संवेदनस्य चेन्द्रियसंबन्धमन्तरेणैव स्वतःसिद्धतया साक्षिसिद्धत्वेन वा साधनवैकल्याभावात् । नच धीरूपत्वे रजतादेर्भ्रान्तिविनापि दर्शनप्रसङ्गः । धियोऽन्यत्वेऽपि पटादिवद्भ्रान्तिं विनापि दर्शनप्रसङ्गस्य तुल्यत्वात् । ततो धीरूपमेव रूप्यमिति चेत्तदयुक्तम् । अत्यन्तालीकाया अपि बाह्यतायाः प्रतिभासवदत्यन्तासतोपि रजतादेः प्रतिभासोपपत्तेः । नच नेदं रजतमितिदन्तामात्रमेव बाध्यते कल्पनालाघवादिति न्याय्यम् । इदं रजतमिति प्रतिपन्नविशिष्टरजतस्य नेदं रजतमिति बाधस्य चानुभवसिद्धतया कल्पनीयत्वाभावात् । अतएव कल्पनालाघवन्यायानवतारात् । नच संविदैक्यमन्तरेणापरोक्षत्वानुपपत्तिः । बाह्यतावत्तदुपपत्तेः ।

किंचारोपितं बुद्धौ चेत् गुञ्जापुञ्जादौ दहनसमारोपे देहदाहप्रसङ्गः । बुद्धावपि तस्यास्तत्त्विकत्वादप्रसङ्ग इतिचेत्तर्हि न तद्वहिः सन्नान्तरित्यत्यन्तासदनिर्वचनीयं वा स्यात् गत्यन्तराभावात् । संप्रयोगमन्तरेणापरोक्षत्वादिति हेतुर्बहिद्वेष्यबुद्ध्याकारे वर्तत इति सव्यभिचारः । तस्मान्नासत्, नापि सत्समारोपितं, नापि सदसद्रूपं विरोधात् । अविरोधे वा न भ्रान्तिबाधौ, द्वयोरपि परमार्थविषयत्वात् । उभयाकारस्यैकाकारप्रतिभासो भ्रम

यदत्र न्यायदीपावल्या दूषणमुक्तं तदनुवदति—**नन्वित्यादिना । रूपादिनेति ।** संयोगमन्तरेणापरोक्षता रूपादे समवायमन्तरेण च शब्दव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य तथापि संविद्रूपता नास्तीत्यनैकान्त्यम् । नच तत्रापि सविद्रूपत्वमेव सर्वस्य संविद्रूपताङ्गीकारादिति वाच्यम् । तथासति विपक्षासम्भवेन संप्रयोगमन्तरेणेति विशेषणवैयर्थ्यात् । संबन्धमात्रविवक्षाया तद्वाहिल्यविशेषणमसिद्धं चैतन्येनाध्यासिकसंबन्धस्वीकाराद्व्रजतसंवेदनयोः । अत एव दृष्टान्तस्य साधनवैकल्यं चेत्याह—**द्वितीयेति ।** तर्कबाधमप्याह—**धीरूपत्वेचेति ।** तदेतत्परिहरति पूर्ववादी—**मैवमित्यादिना ।** न संबन्धमात्रराहित्यं विवक्षितं क्विन्द्रियसंबन्धराहित्यं तेन नानैकान्तिकतासिद्धी इत्यर्थः । साधनवैकल्यं परिहरति—**संवेदनस्य चेति ।** रूप्यज्ञानस्येत्यर्थः । **स्वतःसिद्धतयेति** बौद्धाभिप्रायेण । **साक्षिसिद्धतयेति** स्वाभिप्रायेण । तर्कविरोधं परिहरति—**नचेति ।** पूर्वपक्षमुपसंहरति—**तत इति ।** न तावदसत् ख्यात्यनुपपत्तिर्बहिद्वेषे तदभावादित्याह—**अत्यन्तालीकाया इति ।** नच न्याय्यमित्युक्तम् तत्र हेतु—**इदं रजतमिति ।** कल्पनायां हि लाघवमनुसरणीयं नचात्र कल्पना प्रमाणमार्गागतत्वादितरथाऽतिप्रसङ्गादहं रजतमिति प्रतीतिप्रसङ्गाच्चेति भावः । अनुपपत्त्यन्तरं परिहरति—**नच संविदैक्यमिति ।**

तदेवमप्रामाणिकत्वमुक्त्वा प्रमाणबाधं चाह—**किंचारोपितमित्यादिना ।** स यदि ब्रूयादान्तरं न वस्तु सदतो न दाहादिरिति तं प्रत्याह—**तर्हीति ।** अपसिद्धान्तापत्तिरित्यर्थः । यत्त्वनुमानमुक्तं तद्वहिद्वेष्यनैकान्तिकमित्याह—**संप्रयोगमित्यादिना ।** सत्ख्यातिनिराकरणमुपसंहरति—**तस्मादिति ।** अस्तु तर्हि सदसदात्मकारोपितं यथाहुः 'स्वरूपपररूपाभ्या नित्यं सदसदात्मके । वस्तुनि ज्ञायते किंचिद्रूपं कैश्चित्कदाचने'ति । तत्राह—**नापि सदसद्रूपमिति ।** ननु यद्यपि परमार्थविषयत्वमुभयोस्तथाप्युभयाकारस्य सतोऽर्थस्यैकाकारमाहित्वात् पूर्वज्ञानं भ्रान्तमित्याशङ्कते—**उभयाकारस्येति ।** तर्ह्यसदाकारमात्राहिणो

१ 'सत्ख्यातीति, पुस्तकान्तरे असत्ख्यातीति पाठ, सचाज्ञाननिबन्धनः ।

इतिचेत् तर्हि बाधस्यापि भ्रमत्वप्रसङ्गः । तस्याप्येकाकारविषयत्वात् । सर्वज्ञानानां च सर्वात्मनाऽनवभासकत्वाद्भ्रान्तिवत्प्रसङ्गो दुर्वारः स्यात् । तस्माद्भ्रान्त्यन्तराभावादननिर्वचनीय-
मारोपितमिति सिद्धम् ।

ननु किमिदमनिर्वचनीयत्वं किं निरुक्तिविरहः किंवा निरुक्तिनिमित्तस्य विरहः ।
नाद्यः । इदं रजतमित्यादिनिरुक्तेरङ्गीकारात् । न द्वितीयः । विकल्पासहत्वात् । तथाहि
निरुक्तेर्निमित्तं ज्ञानमर्थो वा । नाद्यः । रजतादिज्ञानस्य निरुक्तिनिमित्तस्य मायावादि-
भिरभ्युपगमात् । न द्वितीयः । अर्थस्यापि सतो विरहेऽसत्ख्यातिप्रसङ्गात्, असतोपि
विरहे सत्त्वप्रसङ्गात् । उभयविरहस्य च परस्परविरुद्धयोर्लोकसिद्धयोरन्यतरनिषेधस्ये-
तरविधिनान्तरीयकत्वनियमदर्शनादेवानुपपत्तेः । भावाभावयोरलौकिकयोः स्वकपोलप-
रिकल्पितयोर्निषेधसमुच्चयाङ्गीकरणे तु लौकिकसदसतोरनिषेधात् न निरुक्तिनिमित्ता-
र्थासंभवः । अतो न सदसद्विलक्षणमनिर्वचनीयं, नापि ज्ञानबाध्यत्वं बाध्यत्वशब्देन नि-
वर्त्यत्वाङ्गीकारे पूर्वज्ञानस्य संस्कारस्य चोत्तरविज्ञाननिवर्त्यत्वादनिर्वाच्यत्वापातः । विश्वस्य
चेत्तद्विज्ञाननिवर्त्यत्वादनिर्वाच्यत्वं स्यात् इति लक्षणस्यातिव्याप्तिः । अथ बाध्यत्वं नाम
बाधकज्ञानविषयत्वं तदा शुक्त्यादेर्ब्रह्मणश्चानिर्वाच्यत्वं स्यात् तयोरधिष्ठानतया बाधक-
ज्ञानविषयत्वात् । अथ नाभूदस्ति भविष्यतीति कालत्रयसत्तानिषेधो बाधस्तद्विषयत्वं च
बाध्यत्वमिति मैवम् । मायाविवर्तस्य पुरोवर्तिरजतस्य तथाविधनिषेधविषयत्वानङ्गीका-
राल्लक्षणस्याव्याप्तेः लौकिकपरमार्थरजतस्यात्र तथाविधनिषेधविषयत्वाङ्गीकारादननिर्वाच्य-
बाधकस्यापि स्याद्भ्रान्तिवत्त्वमित्याह—तर्हीति । अत्यल्पचेदं, सर्वज्ञानानामेवैवंभावाद् भ्रान्तिवत्प्रसक्तिरि-
त्याह—सर्वज्ञानानां चेति ।

आरोपितमनिर्वचनीयमित्युपसहृतं तदाक्षिपति—नन्विति । किं निरुक्तिविरहोऽनिर्वचनीयत्वं, किंवा
निरुक्तिनिमित्तस्य विरहः, किंवा ज्ञानबाध्यत्वं, अथवा प्रतिपन्नोपाधौ निषेधप्रतियोगित्वमिति । तत्र प्रथमं
निषेधति—नाद्य इत्यादिना । निरुक्तेर्निमित्तमिति निर्वचनसबन्धि हि निर्वचनीयं तच्च निमित्तं ज्ञानमपि
भवति कारणतया सबन्धितत्वात् । तथा विषयतयाऽर्थोपि तयोर्विरहश्चेदनिर्वचनीयत्वं विवक्षितमित्यर्थः ।
ज्ञाननिमित्तविरहं दूषयति—नाद्य इति । विषयज्ञानं हि शब्दप्रयोगे निमित्तं तच्च त्वयाप्यभ्युपेयते इत्यर्थः ।
अर्थविरहपक्षं दूषयति—न द्वितीय इति । अर्थविरह इति कोर्थः किं सन्नर्थो नास्तीति तर्ह्यसन्नेवार्थ इत्य-
सत्ख्यातित्वमेव न पुनरनिर्वचनीयत्वमित्याह—अर्थस्यापीति । अथासन्नर्थो नास्तीति तर्हि सन्नेवार्थ इति
सत्ख्यातित्वमेवेत्याह—असतोपि विरह इति । ननूभयोरप्यर्थयोर्विरहोऽर्थविरहस्तथा च नार्थान्तरतेति
तत्राह—उभयविरहस्य चेति । तत्र किं लोकप्रसिद्धसदसतोर्विरहोऽनिर्वचनीयत्वं उत स्वमतसङ्केतितयोः ।
नाद्यम्, असमवादित्याह—लोकसिद्धयोरिति । द्वितीये आह—भावाभावयोरिति । निषेधयोः
समुच्चयः निषेधसमुच्चयः । तृतीयं निषेधति—नापि ज्ञानबाध्यत्वमिति । तत्र वक्तव्यं किं बाधकज्ञान-
निवर्त्यत्वं, किंवा बाधकज्ञानविषयत्वं, किंवा कालत्रयनिषेधप्रतियोगित्वम् । तत्र प्रथमं निषेधति—बाध्य-
त्वशब्देनेति । द्वितीयं दूषयति—अथ बाध्यत्वं नामेति । अधिष्ठानयाथात्म्यज्ञानं हि त्वन्मते बाधकं
तथाच स्पष्टैवातिव्याप्तिः । अस्मन्मतेपि नेदं रजतमित्यत्राधिष्ठानमपि स्फुरतीत्यर्थः । तृतीयमुत्थाप्य दूषयति
—मैवमिति । त्वन्मतेऽनिर्वचनीयरजतस्य तत्रैवाविद्ययोत्पन्नत्वात्प्रत्यभिज्ञायमानत्वाच्च न कालत्रयेऽप्यभाव-
शक्याङ्गीकारोऽतोऽव्याप्तिः, कस्मिंश्चिदपि लक्ष्येऽवर्तमानत्वादित्यर्थः । अतिव्याप्तिं चाह—लौकिकेति ।

त्वापत्तिरिति लक्षणस्यातिव्याप्तेश्च । एतेन प्रतिपन्नोपाधौ निषेध्यत्वमनिर्वचनीयत्वमित्य-
पास्तम् । पुरोवर्तिनि प्रतिपन्नस्य रजतस्याधिष्ठानज्ञानेन मायायां विलीयमानायां तत्प-
रिणामतया स्वयमेव विलीयमानस्य नेदं रजतमिति निषेधाविषयत्वात् ।

किंचात्र प्रमाणं, ख्यातत्वे सति बाध्यत्वानुपपत्तिः । असतो नरशृङ्गादेरख्यानात्सतश्च
चिदासनो बाधाभावात् उभयस्य चेह दर्शनादिति चेत् । न । देशान्तरे सत्त्वाख्यातेरि-
हासत्वाद्बाधस्यापि संभवात् अन्यथाप्युपपत्तेः । किंचासतो भानमनुपपन्नमित्यसत् ।
असतोपि तच्छब्दाद्भानात् अन्यथात्वपार्थक्यं वाक्यस्य प्रयुक्तपदानां संभूयकारित्व-
नियमात् ।

किंचेदं सद्विवक्षितं, किं सत्तायुक्तम् ? अथाबाध्यम् ? उत ब्रह्मस्वरूपम् ? नाद्यः । सत्तायु-
क्तस्य प्रपञ्चस्य भवन्मते बाध्यतया यत्सत्तद्बाध्यमिति व्याप्तेरसिद्धेः । न द्वितीयः ।
यद्बाध्यं तद्बाध्यमिति साध्याविशिष्टत्वापत्तेः । न तृतीयः । सिद्धसाधनत्वात् । अर्था-
न्तरत्वाच्च । किंचान्यथैवोपपत्तिरभ्यूहनीया सद्विलक्षणत्वे नृशृङ्गवत्ख्यात्यनुपपत्तेः अस-
द्विलक्षणत्वे चासवद्बाधयोगादुभयविलक्षणस्योभयानुपपत्तेः ।

तृतीयपक्षोक्तं दूषणं चतुर्थेऽप्यतिदिशति—एतेनेति । अतिदिश्यमानामव्याप्तिमेव विवृणोति—पुरोवर्त्ति-
नीति । अधिष्ठानयाथात्म्यज्ञानेनाधिष्ठानाज्ञानमेव बाध्यते । तत्परिणामरूपयोस्तु ज्ञानज्ञेययोः स्वयमेव वि-
लय इति हि तव समय । तथाच ख्यादेर्निषेध्यत्वाभावादव्याप्तिर्लक्षणस्येत्यर्थः ।

एवं लक्षणमाक्षिप्य प्रमाणं प्रतिक्षिपति—किंचात्र प्रमाणमित्यादिना । अर्थापत्तिं शङ्कते—ख्या-
तत्वे सतीत्यादिना । अनुपपत्तिमेव स्फोरयति—असतो नरशृङ्गादेरित्यादिना । इमामर्थापत्तिं
मानमनोहरकारोक्तान्यथायुपपत्त्या दूषयति—न । देशान्तरेत्यादिना । अनुदयमप्याह—किंचेति ।
यद्यसतो न भानं कथमसत्पदं बोधकं स्यात् यदिचाबोधकमसत्पदं कथमपार्थक्यं नाम निग्रहस्थानं न भवेदिति
भावः । निरर्थकं चात्रापार्थक्यत्वेन विवक्षितम् । नन्वसतोऽभानादित्यत्रासत्पदस्याबोधकत्वेपीतरपदानां बोध-
कत्वात्कथमपार्थक्यता तत्राह—प्रयुक्तपदानामिति । इदमपि तेनैवोक्तं यदाह ‘असतो भासनायोगा’दि-
त्यादिनाशङ्क्य प्रथमे त्वसत्पदस्य बोधकत्वेऽसतो भासनायोगादित्यनेन व्याघातः । अन्यथानर्थक्यत्वं प्रयुक्त-
पदानां संभूयकारित्वनियमादिति ।

यत्तु तेनैव द्वितीये सत इति कोऽर्थ इत्यादिदूषणमुक्तं तदाह—किंचेदं सद्विवक्षितमित्यादिना ।
प्रथमं दूषयति—नाद्य इति । यत्सत्तायुक्तं तद्बाध्यमिति व्याप्तिं क्व दृष्टा । न तावत्प्रपञ्चे । तस्य सत्तायुक्तत्वेपि
बाध्यत्वेन व्यभिचारभूमित्वात् । नापि ब्रह्मणि तस्याबाध्यत्वेपि निर्धर्मकत्वेन सत्तायुक्तत्वाभावादिति भावः ।
द्वितीये तु सतो बाधाभावादिति कोऽर्थं योयमबाध्यस्तस्य बाधाभावादिति, तथाच साध्याविशिष्टत्वमित्याह
—न द्वितीय इति । यद्ब्रह्मस्वरूपं तद्बाध्यमिति हि तृतीय पक्षः । तथाचास्यार्थस्यास्माभिरप्यङ्गीकारा-
त्सिद्धसाधनं प्रपञ्चस्यानिर्वचनीयत्वापर्यवसानादर्थान्तरचेत्यर्थः । त्रीणि हि दूषणानि अर्थापत्तेः अन्यथैवोप-
पत्तिरन्यथाप्युपपत्तिरनुदयश्चेति तत्रान्यथाप्युपपत्तिमनुदयं चोक्त्वाऽन्यथैवोपपत्तिमाह—किंचेति । सदैव-
लक्षणेऽसद्वैलक्षणे उभयवैलक्षणे चानुपपद्यमानाभ्यां ख्यातिबाधाभ्यां सदसदात्मकत्वमेव रजतादेः सिद्ध्य-
तीत्यर्थः ।

नच वाच्यं सदसत्त्वे बाधाभावाभानप्रयोजके न तु तद्वैलक्षण्ये गौरवादिति । अस-
तोपि तत्पदाप्रतिभावेन सतोपि प्रपञ्चस्य वाध्यत्वदर्शनेनोक्तोत्तरत्वात् । तदेवं नार्थाप-
त्तिरनिर्वचनीये प्रमाणम् । अस्तु तर्ह्यनुमानं—विवादपदमनिर्वाच्यं भ्रमविषयत्वात् य-
न्नैवं तन्नैवं यथासा । नचाप्रसिद्धविशेषणः पक्षः । इच्छादीनामष्टद्रव्यातिरिक्ताश्रितत्वानु-
मानवत्सामान्यतः प्रसिद्धिविशेषपरिशेषाभ्यां तत्प्रसिद्ध्युपपत्तेरिति चेन्न । शुक्त्यादावात्मनि
च विपक्षे वर्तमानतया विरुद्धत्वात्, गुणत्वलिङ्गेन कचिदाश्रितत्वप्रसाधनवदनिर्वाच्यत्व-
साधने लिङ्गाभावात् । अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया विमतं सदसद्वैलक्षणं दोषप्रयुक्तभान-
त्वात् भ्रान्तिसिद्धतादात्म्यवदिति प्रयुञ्जीत तदप्यसन् दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात् ।

नहि शुक्तिरजततादात्म्यस्य सदसद्वैलक्षण्यं परीक्षकैरभ्युपगम्यते, येनोभयवासिद्धि-
तया तस्य दृष्टान्तता स्यात् । अथ भावरूपतयाऽपरोक्षत्वेन भानाद्वाधाच्च तस्य सदसद्वै-
लक्षण्यं युक्त्या साध्येत तदा रजतस्यापि तथा तत्साधयितुं शक्यमिति व्यर्थोऽयं वकव-
न्धविधिप्रयासः । किंचेदं दोषप्रयुक्तभानत्वं किं दोषजन्यज्ञानविषयत्वं, उत दोषजन्य-
प्राकट्याश्रयत्वम् । नाद्यः । ज्ञानस्यैकत्वेन तज्ज्ञानविषयाधिष्ठाने व्यभिचारात् । न द्वि-
तीयः । प्रतिवादिनं प्रत्यसिद्धत्वात् । नहि देशकालव्यवहितस्य रजतादेर्दोषजन्यभाना-
श्रयत्वमुपपद्यतेऽभ्युपेयते वा परैः । किंचेदमनिर्वचनीयत्वं न भ्रान्तिज्ञानानुकूलं, नापि
बाधकज्ञानानुसारि । भ्रान्तौ सदिदं रजतमिति सत्त्वेन बाधे च नेदं रजतमित्यसत्त्वेन

स्यादेतत् सद्वैलक्षण्यत्वे नृशृङ्गवत् ख्यात्यनुपपत्तिरित्युक्तमयुक्तम्, सद्वैलक्षण्यस्य सप्रतियोगिकतयाऽनेक-
ज्ञानोपेक्षस्य कल्पनागौरवेण भानाभावं प्रति प्रयोजकत्वायोगात्, एवमसद्वैलक्षण्येपि, तस्मादसत्त्वमेवाभाने
प्रयोजकं तद्वि निरपेक्षं लघ्विति, तथा बाधाभावेपि सत्त्वमेव प्रयोजकं लघुत्वादेव तदिह बाधो दृश्यमान-
सद्वैलक्षण्यं गमयति ख्यातिश्चासद्वैलक्षण्यमिति, तदेतदाशङ्क्य निषेधति—नच वाच्यमित्यादिना ।
उक्तान्यथोपपत्तिमेव दूषणमाह—असतोपीति । एवमर्थोपपत्ति दूषयित्वाऽनुमानं शङ्कते—अस्तु तर्हीति ।
तत्र हि भ्रमविषयत्वं हेतुरधिष्ठानतया भ्रमे प्रतिभासमाने शुक्त्यात्मादौ वर्तत इति विरुद्ध इत्याह—न
शुक्त्यादाविति । किंच यथा तत्र गुणत्वेन सामान्यत कचिदाश्रितत्वसाधनं नैवमनिर्वाच्यत्वस्य सामा-
न्येन साधने लिङ्गमस्ति किञ्चित्ततो वैलक्षण्यमित्याह—गुणत्वेति । अप्रसिद्धविशेषणतापरिहारायान्वयव्य-
तिरेक्यनुमानं न्यायरत्नदीपावलीस्थं शङ्कते—अथैतद्दोषेति ।

साध्यवैकल्यमेव विशदयति—नहि शुकीति । अथ तादात्म्यस्य प्रथमं युक्त्या सदसद्वैलक्षण्यं प्रसाध्य
तद्दृष्टान्तेन प्रपञ्चस्य तत्साध्यते तर्हि सैव युक्तिरत्रैवोपन्यस्यतामलमनेन दण्डसर्पमारणन्यायेनेत्याह—अथ
भावरूपतयेत्यादिना । भवतु वा यथाकथञ्चित्पर तथापि हेतुरेवायं न घटत इत्याह—किंचेत्या-
दिना । भानशब्देन ज्ञानमभिधीयते प्राकट्यं वेत्यर्थः । प्रथमेऽनैकान्तिकतामाह—नाद्यो ज्ञानस्येति ।
अधिष्ठानज्ञानस्यादोषजन्यत्वादितरस्य च ज्ञानत्वानङ्गीकारादसिद्धिरित्यायेके । द्वितीये स्वरूपासिद्धिरित्याह—
न द्वितीय इत्यादिना । यद्यपि त्वत्पक्षे भ्रमस्य साक्षिवेद्यतास्वीकारादस्त्येवापरोक्षं तथापि विषयाव-
च्छिन्नाभिव्यक्तचैतन्यरूपप्राकट्यं नास्तीत्यपि द्रष्टव्यम् । किंच यदुपपादनायेदमनिर्वचनीयत्वमाद्रियते ताभ्या-
मेव भ्रान्तिबाधाभ्यां विरोधादयुक्तमेतदित्याह—किंचेदमिति । रजतशब्दप्रयोगानुपपत्तिरप्यनिर्वचनीय-

स्फुरणात् । अपिचानिर्वचनीये रजतशब्दो न जातिनिबन्धनस्तत्र जातेरभावात् भावे वा सत्यरजतवदेवावाध्यत्वप्रसङ्गात् । नाप्यौपाधिकः । पाचकादिशब्दवदखण्डशब्दत्वात्, उपाधेरनिरूपणाच्च । नाप्यक्षादिशब्दवद्रूढः । स्वभ्रान्तिमात्रसिद्धस्यान्यत्रादृष्टचरत्वेन रजतस्य तेनागृहीतसंबन्धत्वात् । किचानिर्वचनीयं चेद्रजतं न प्रतीयेत । तथा हि किं दुष्टेन्द्रियेण तत्प्रतीतिरुत संस्कारात् अथवा साक्षिचैतन्यात् । नाद्यः । तस्य प्रतिभास-
मात्रशरीरतया संप्रयोगायोग्यत्वात् । न द्वितीयः । अननुभूते संस्काराभावात् । न तृ-
तीयः । इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायिनः केवलसाक्षिवेद्यत्वासंभवात् । नचाधिष्ठान-
विषयतयान्वयव्यतिरेकयोरन्यथासिद्धिः । तथासति ज्ञानद्वयस्वीकारेणाख्यातिमतानुम-
तिप्रसङ्गः ।

नच संसर्गप्रतीतेरभ्युपगमान्नाख्यातिप्रसङ्गः तथापि विज्ञानद्वयाभ्युपगमेनाख्याति-
प्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात्, इदमाकारविषयमिन्द्रियजन्यं ग्रहणं रजततत्संसर्गविषयं साक्षिचै-
तन्यमित्यभ्युपगमात् । तदित्थं लक्षणप्रमाणयोरनिरूपणान्नानिर्वचनीयावभासो विभ्रम

त्वबाधिकेत्याह—अपिचानिर्वचनीयेति । तत्र वक्तव्यं किमयमनिर्वचनीये रजते रजतशब्दो जातिनिब-
न्धनः, किंवोपाधिनिबन्धनः, किवाक्षादिशब्दवद्रूढ इति विकल्पार्थं निषेधति—न जातिनिबन्धन इति ।
अङ्गीकारे बाधकमाह—भावे वेति । रजतत्वाधिकरणं हि रजतं नाम तदिदमपि चेतथाविधं तद्वदेवाबा-
ध्यमपि स्यादित्यर्थः । द्वितीयं निषेधति—नापीति । हेतुमाह—अखण्डशब्दत्वादिति । अयौगिक-
त्वात् । यथाहि पाचक इत्यत्रावयवशक्त्या पचिक्रियासबन्धाभिधानेन तद्युक्ते वर्तनं नैवं रजतशब्दस्यास्ति
ष्वुलादिवत्कर्त्रादिविहितप्रत्ययाभावादित्यर्थः । अथ यथाऽखण्डत्वेऽपि जातिशब्दस्योपाधिवाचकत्वं तद्वद्विक न
स्यादित्यत आह—उपाधेरिति । तृतीयं निषेधति—नाप्यक्षादीति । यद्यप्यक्षादौ न सर्वत्रानुगत-
कश्चिज्जातिरुपाधिर्वर्धोस्ति येन साधारणशब्दत्वं तथापि विभीतकत्वविदेवन्त्वादिभिरवान्तरधर्मैः शक्यं
सङ्गतिग्रहः, आकाशादेश्चानादिवृद्धव्यवहारप्रसिद्धतया इह तु न तथाविधमपि किञ्चिदस्ति, भ्रान्तिसिद्धस्य
प्रतीतिमात्रजीवनत्वात् । प्रतीतेश्च प्रत्यात्मवृत्तित्वादतोऽगृहीतसङ्गतिकत्वादप्रयोग एवात्र रजतशब्दस्य प्रस-
ज्येतेत्यर्थः । अनिर्वचनीयत्वे रजतस्य प्रतीत्यनुपपत्तिरपि बाधिकेत्याह—किंचानिर्वचनीयं चेदिति ।
इन्द्रियेण प्रतीतिरिति प्रथमं पक्षं निराचष्टे—नाद्य इति । इन्द्रियव्यापारात्पूर्वमेव निर्वृत्तं पश्चादिन्द्रियसं-
प्रयोगाज्ज्ञायमानं ह्यैन्द्रियकम्, न चैवं प्रतीतिमात्रशरीरं रजतमित्यर्थः । अननुभूत इति । प्रतीतिसम-
समयशरीरस्य पूर्वानुभवाभावात्संस्काराभावे न ततः प्रतीतिरित्यर्थः । साक्षिवेद्यता निराचष्टे—न तृतीय
इति । यत्र हीन्द्रियादिव्यापाराभावेऽप्यपरोक्षं यथाऽज्ञानादौ तत्साक्षिवेद्यं नाम इतरथातिप्रसङ्गात्, नचेह
तथाभाव इत्याह—इन्द्रियान्वयेति ।

ननु यद्यप्यधिष्ठानविषयतया अन्वयव्यतिरेकयोरन्यथासिद्धत्वान्न रजतज्ञानमिन्द्रियजम् अपि त्वविद्यापरिणाम
इति ज्ञानद्वित्वमङ्गीक्रियते तथापि संसर्गज्ञानस्वीकारान्नाख्यातिप्रसक्तिरिति तत्राह—नच संसर्गेति । कि-
चेन्द्रियान्वयव्यतिरेकयोरधिष्ठानोपक्षये स्पर्शनेनापि तद्वद्देहादृष्टादप्रसङ्गो
विसद्वशेऽपि तद्वद्वेति ज्ञानद्वित्वाभ्युपगममेव प्रकटयति—इदमाकारेत्यादिना । रजततत्संसर्गेति
तज्ज्ञानाकाराविद्यापरिणामस्याप्युपलक्षणम् । पूर्वपक्षमुपसहरति—तदित्थमिति । तत्र लक्षणं श्लोकेन सगृ-
ह्णाति—प्रत्येकमिति । यत्प्रत्येकं सदसत्त्वाभ्यां सत्त्वेनासत्त्वेन सदसत्त्वेनच विचारपदवीं विचारमार्गं न
गाहते न प्रविशति तदनिर्वचनीयमिति वेदान्तवेदिन आहुरिति योजना । अत्र सदसत्त्वाभ्यां विचारपदवीं

इति । अत्रोच्यते । प्रत्येकं सदसत्त्वाभ्यां विचारपदवीं न यत् ॥ गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवेदिनः ॥१३॥ सत्त्वेनासत्त्वेन च विचारासहत्वे सति सदसत्त्वेन च यद्विचारं न सहते तदनिर्वाच्यम् । नचैवंसत्यव्याप्तिरतिव्याप्तिर्वा । सर्वभ्रमगोचराणां तथाभावनियमात्, सदादीनां च तत्तद्विचारसहत्वेन परैरभ्युपगमाच्च । एवं च सति निरुक्तिविरहः किंवा निरुक्तिनिमित्तस्य च विरह इत्यादिविकल्पोऽकाण्डताण्डवितम् । निरुक्तेर्निमित्तभूतायाः प्रतीतेस्तदालम्बनस्य चार्थस्य व्यवहारगोचरत्वेपि सदसदादिप्रकारैर्निश्चित्य वक्तुमनर्हत्वाङ्गीकारात् ।

नच परस्परविरुद्धयोः सदसत्त्वयोर्निषेधसमुच्चयोऽनुपपन्नोऽन्यतरनिषेधस्यान्यतरविधिनान्तरीयकत्वादिति युक्तं, निषेधसमुच्चयस्य तात्त्विकत्वानङ्गीकारात् । तत्तत्प्रतियोगिदुर्निरूपतामात्रप्रकटनाय तद्विलक्षणत्वाभिलापः । नहि स्वरूपतो दुर्निरूपस्य किञ्चिदपि रूपं वास्तवं संभवति, तथा सति तस्यापि तात्त्विकत्वप्रसङ्गात् । नचैकतरनिषेधोऽन्यतरविधिनान्तरीयकः । अनिर्वचनीयवादिनं प्रति व्याप्त्यसिद्धेः ।

ज्ञानबाध्यत्वं वाऽनिर्वचनीयत्वं नच पूर्वज्ञानसंस्कारयोरतिव्याप्तिस्तयोर्ज्ञाननाशयत्वेपि ज्ञानबाध्यत्वाभावात् । बाधो हि नाम प्रतिपन्नोपाधावभावबोधनम् । नच पूर्वज्ञानस्य तत्संस्कारस्य वा प्रतिपन्नोपाधावात्मनि नासीदात्माधिकरणं ज्ञानं संस्कारो वेत्यभावो बोध्यते । ईश्वरस्य ज्ञानेन च मुद्गरप्रहारेणैव घटादेः प्रपञ्चस्य प्रध्वंस एव क्रियते नाभाव-

न गाहते यत्तदनिर्वाच्यमित्युक्ते सदसत्तोरतिव्याप्ति तयोरप्युभयप्रकाराभ्यामनिर्वाच्यत्वादत उक्तम्—प्रत्येकमिति । तयोः प्रत्येकं विचारसहत्वात्तावत्युक्ते समुदितयोः सदसत्तोरतिव्याप्तिः तदर्थ—सदसत्त्वाभ्यामित्युक्तं । संगृहीतं लक्षणं विवृणोति—सत्त्वेनासत्त्वेनेत्यादिना । एतदुक्तं भवति—न प्रकारत्रितयप्रतियोगिकाभावत्वमनिर्वचनीयत्वं किंतु प्रकारत्रयप्रतियोगिकाभावत्रयवत्त्वमनिर्वचनीयत्वमिति । अव्याप्त्यभावमाह—सर्वभ्रमेति । अतिव्याप्त्यभावमाह—सदादीनामिति । एवं च सति यदुदयनेन तात्पर्यशुद्धौ हि द्वितीयसूत्रे विपर्ययविचारावसरे गर्जितं ‘किमिदमनिर्वचनीयत्वं किं निरुक्तिविरह एवेत्यादि । तदस्थाने एवानाकलितपराभिसन्धिना संग्रान्तमित्याह—एवं च सतीति । अकाण्डताण्डवितमनवसरनर्तनम् । तत्र हेतु—निरुक्तेरिति । न निरुक्तिमात्रस्य तन्निमित्तस्य वाऽभावोऽनिर्वचनीयत्वं किंतु सदादिप्रकारैर्निश्चित्य वक्तुमनर्हत्वमित्यर्थः ।

यत्त्वत्रापि द्वेनोक्तं तदनूय निराकरोति—नच परस्परेति । समुच्चयानुपपत्तौ हेतु—अन्यतरनिषेधस्येति । नच युक्तमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—निषेधसमुच्चयस्येति । अनुपपन्न इति कोऽर्थः यदि प्रमाणयुक्त्याघातं न सहत इति सिद्धमेवेदमस्माकमद्वैतवादिनामिति भावः । कस्तर्हि सदसद्विलक्षणशब्दार्थस्तत्राह—तत्तत्प्रतियोगीति । प्रतियोगि सत्त्वादि । किमुत्तरकातरतयेयमाश्रीयते विधा ? न, अपरथाऽसंभवादित्याह—नहि स्वरूपत इति । स्वरूपेण सदसत्त्वादिभिर्दुर्निरूपस्य प्रपञ्चस्य योयं सदसद्वैलक्षण्यं धर्मः तस्य कथं सदादित्वेन निरूपणसंभवः, तथात्वे वा तदाश्रयस्यापि तथात्वप्रसङ्गादित्यर्थः । किचाङ्गीकृत्य व्याप्तिमिदमुक्तं सैव नास्तीत्याह—नचैकतरेति ।

तृतीयमपि लक्षणं समर्थयते—ज्ञानबाध्यत्वं वेति । पूर्वज्ञानादौ ज्ञानबाध्यत्वलक्षणाभावं दर्शयितुं बाधस्वरूपमाह—बाधो हि नामेति । अभावबोधनप्रकारमेवानुकरोति—नासीदात्माधिकरणं ज्ञानं संस्कारो वेति । यत्त्वीश्वरज्ञाननिर्वर्त्यत्वस्वीकारादतिव्याप्तिरिति तत्राह—ईश्वरज्ञानेन चेति । अत्य-

बोधनमतो नातिव्याप्तिः । एतेन बाधकज्ञानविषयत्वाच्छ्रुत्यादेर्ब्रह्मणश्चानिर्वाच्यत्वप्रसङ्ग इत्यपास्तम् । धर्मितया बाधकज्ञानप्रतिपन्नत्वेऽपि बोध्यमानाभावप्रतियोगित्वाभावात् । अतएव प्रतिपन्नोपाधौ नाभूदस्ति भविष्यतीति कालत्रयसत्तानिषेधो बाधस्तद्विषयत्वं च बाध्यत्वमिति केचिदाचार्याः । नचाव्याप्त्यतिव्याप्ती । शुक्तिशकले प्रतिपन्नस्य रजतस्य कालत्रयेपि तत्र सत्ताभावस्य नेदं रजतमिति बाधेन बोध्यमानत्वात्, लौकिकपरमार्थ-रजतस्य देशान्तरादौ सत्त्वेन प्रमितस्य तत्रासत्त्वबोधनस्याशक्यत्वात् । तस्य शुक्तिका-शकले कालत्रयासत्त्वं बोध्यत इति चेन्न । तस्यात्राप्रसक्तेः ।

रजताभासप्रसक्तिरेव तत्प्रसक्तिरिति चेन्नैवम्, रजताभास इत्यप्रतीतेरिदं रजतमित्येव प्रतीतेश्च । प्रतिपन्नोपाधौ निषेधात्तदाभासता पश्चान्निश्चीयते इति चेत्, एवं तर्हि ना-व्याप्तिः, प्रतिपन्नोपाधौ तस्य निषेधस्य त्वयाङ्गीकारान् । अतएव न देशान्तरादौ प्रमि-तस्य लौकिकपरमार्थरजतस्यैतन्निषेधप्रतियोगित्वम् आभासविषयत्वात्तस्य । अन्यथा जगति रजतमेव न स्यात् । तस्माल्लौकिकपरमार्थरजतमेव नेदं रजतमिति निषेधप्रतियोगीति पूर्वाचार्यवाचोयुक्तिरपि पुरोवर्तिनि रजतार्थिनः प्रवृत्तिदर्शनाल्लौकिकरजतासत्त्वेनापरोक्ष-तया प्रतीतस्य कालत्रयेपि लौकिकरजतमिदं न भवतीति निषेधप्रतियोगितामङ्गीकृत्य ने-तव्या । नचैवं सत्यन्यथाख्यातेः प्रसक्तिः । संसर्गवत्संसर्गिणोपि ख्यातिबाधान्यथानुप-

न्ताभावबोधनं हि बाधः ननु ध्वंसकरणमित्यर्थः । एतेनेत्यस्यैव विवरणं—**धर्मितयेति** । यत्तु बाधलक्षण-मनूयाव्याप्त्यतिव्याप्तिभ्यां दृष्ट्यां बभूव तदपि परिहर्तुमुपक्रमते—**अतएवेति** । यत एव निषेधोऽभावबो-धनमत एवेत्यर्थः । अव्याप्ति निराकर्तुमाह—**शुक्तिशकले प्रतिपन्नस्येति** । नहि नेदं रजतमित्यस्याय-मर्थः, यदिदानीं रजतं न भवतीति भावः । नन्वयं निषेधः किं लौकिकपरमार्थरजतविषयस्तथा च तत्रैव तावदतिव्याप्तिः अत्रचासिद्धिरिति तत्राह—**लौकिकपरमार्थेति** । तत्रेदं वक्तव्यम् । किं यत्रेदं सत्त्वेन प्रमितं दृष्टादौ तत्रैव निषेधः किंवा शुक्तौ, न तावद्देशान्तरे तत्र सत्ताग्राहकप्रमाणविरोधादित्यभिधाय द्वितीयं शङ्कते—**तस्य शुक्तिकाशकलेति** । अत्राप्रतीतस्य न निषेधः सम्भवतीति परिहरति—**न तस्येति** ।

ननु यद्यपि तस्यात्र न साक्षात्प्रसक्तिस्तथापि रजताभास प्रतीतस्तद्वारा रजतत्वसाम्यात् तदपि प्रसक्त-मिति शङ्कते—**रजताभासेति** । तत्र किं भ्रमकाले रजताभासतयावभासस्तत्प्रसक्तिः, उत दैवगत्या तथा-भूतस्य स्वरूपेण । नाय इत्याह—**मैवं रजताभासेति** । द्वितीयं शङ्कते—**प्रतिपन्नेति** । तत्किं प्रतिप-न्नशुक्तिकाद्युपाधौ रजतादेः कालत्रयसत्तानिषेधरूपबाधविषयत्वमङ्गीकृतं रजतादेराभासतासिद्धये तथाचायु-ष्मतैवाव्याप्तिः परिहृतेत्याह—**एवं तर्हीति** । ननु तथापि तद्वारा लौकिकरजतप्रसक्तिरप्यस्तीति नेत्याह—**अतएवेति** । **आभासविषयत्वादिति** । आभासविषयत्वेन त्वयायङ्गीकारादित्यर्थः । न केवलं तवाङ्गीकार अनुपपन्नश्च लौकिकरजतनिषेध इत्याह—**अन्यथेति** । रजततदाभासयोरैक्यायोगाद्रजताभाससम्यग्रजतवि-षयकप्रतीतिद्वयाभावाच्चाप्रसक्त्यैव सम्यग्रजतस्य निषेध इति वक्तव्यं तथाच यत्र यत्र प्रमितं तत्र सर्वत्र निषेधः स्यादित्यर्थः । नन्वेवं सति विवरणकाराचार्यवचनविरोध इत्यत आह—**तस्मादिति** । ननु लौकिक-परमार्थरजतात्मत्वेन चेत्प्रतीतं निषिध्यते तर्ह्यन्यथाख्यात्यापातः । देशान्तरस्थरजतस्यात्रप्रतीतस्य निषेध इति हि तेषामपि मतमित्यत आह—**नचैवं सतीति** । **संसर्गवदिति** । संसर्गस्य सदसद्वैलक्षण्याङ्गीकारादेव ताव दन्यथाख्यात्यादिवादिभ्यः सिद्ध एव भेदः संसर्गिणस्तु लौकिकपरमार्थरजततया प्रतीतस्यापि सदसद्वैलक्षण्य-

पत्या सदसद्विलक्षणताङ्गीकारात् । एवं च सति कुतोऽतिव्याप्तिः । प्रमाणं च तत्र ख्या-
तत्वे सति बाध्यत्वान्यथानुपपत्तिः ।

नच देशान्तरे सत्त्वादत्रासत्त्वाच्च ख्यातिबाधयोरन्यथाप्युपपत्तिः । अन्यत्र सत्ताया
इह प्रतीयहेतुत्वात् । नहि भूमावम्भोरुहं सदिति दुष्टाक्षस्यापि नभसि तदवभासते ।
अप्रतीतत्वादेव च बाधयोगात् । नचासतोऽभाने शब्दस्यापार्थक्यत्वप्रसङ्गः । अपरोक्षभा-
नाभावस्येह विवक्षितत्वात्, परोक्षभानस्य चानिराकरणात् । नच सच्छब्दार्थानिरुक्तेर्य-
त्सत्तद्बाध्यमिति व्याप्त्यसिद्धिः । त्वयापि द्वे तत्त्वे सदसती इति तत्त्वं व्यवस्थापयता य-
देव सत्त्वेन व्यवस्थापितं तस्यैव मयापि व्यवहारदशायामवाध्यत्वोक्तेः । नचान्यथैवोप-
पत्तिः । सदसत्त्वयोरेवाबाधानप्रयोजकत्वोपपत्तौ तदितरवैलक्षण्यस्य तत्प्रयोजकत्वक-
ल्पनायां गौरवात् ।

नचासतोऽपि तत्पदात्प्रतिभासनात्सत्तायुक्तस्यापि प्रपञ्चस्य बाधाभ्युपगमात्तयोरप्रयो-
जकत्वम् । अपरोक्षतया भानस्य व्यवहारदशायां चावाध्यस्येह विवक्षितत्वात् । ननु सत्त्वा-
सत्त्वयोरेवाबाध्यत्वाभानप्रयोजकत्वे यत्सद्विलक्षणं तद्बाध्यं यदसद्विलक्षणं तत्ख्यातिरिति
व्यतिरेके गौरवं स्यात् । सत्त्वासत्त्वयोस्तु ख्यातिबाधप्रयोजकतायां लाघवमिति चेन्मै-
वम् । तवापि व्यतिरेके गौरवस्य तुल्यत्वात् अख्यात्यबाध्यत्वयोः सदसद्वैलक्षण्यस्य प्रयो-
जकत्वाङ्गीकारात् । एवमपि प्रयोजकत्वविनिगमनायां को हेतुरिति चेत् पक्षान्तरे ख्यात्यसं-
भवः । तथाहि न तावत्सत्त्वादध्यस्तस्य ख्यातिः तस्येहासत्त्वात् सतश्च ख्यातौ भ्रान्ति-

स्वीकारात् प्रसिध्यतितरा भेद इत्यर्थः । लौकिकपरमार्थरजताप्रतिषेधादेवातिव्याप्तिः । परिहृतेत्याह—**एवंच
सतीति ।** लक्षणं समर्थयित्वार्थापत्तिं तावत्प्रमाणमाह—**प्रमाणं चेति ।**

अन्यथाप्युपपत्तिमुक्ता परिहरति—**नच देशान्तरेत्यादिना ।** ननु दुष्टाक्षस्यान्यत्र सदन्यत्र प्रतीयत
इति नेत्याह—**नहि भूमाविति ।** एवं प्रतीतेरन्यथाप्युपपत्तिः परिहृत्य बाधस्यापि ता परिहरति—**अप्र-
तीतत्वादेव चेति ।** यत्त्वसतो भानाभावेऽसत्पदप्रयोगस्यापार्थक्यत्वप्रसङ्गः इति तत्परिहरति—**नचासत
इति ।** नासतो भानमात्रं प्रतिषिध्यतेऽपित्वपरोक्षभानम् । तथा च नान्यथोपपत्तिरपार्थक्यत्वं चेत्यर्थः । यत्तु
सच्छब्दार्थं त्रिधा विकल्प्य दूषणमुक्तं तत्परिहरति—**नच सच्छब्दार्थेति ।** शुक्तिरूप्याद्यपेक्षयाऽबाध्यत्वं
च घटादौ व्याप्तमित्यर्थः । दूषणान्तरं परिहरति—**नचेति ।**

नन्वसत्त्वमभाने न प्रयोजकं असतोपि तच्छब्दाद्भानात् । नापि सत्त्वमबाधाया सतोपि प्रपञ्चस्य बाधा-
ङ्गीकारादित्युक्तमिति तत्राह—**नचासतोऽपीत्यादिना ।** पूर्वोक्तमेव परिहारमत्राप्याह—**परोक्षतयेति ।**
नन्वबाध्यत्वे सत्त्वं प्रयोजकमङ्गीकुर्वता सद्वैलक्षण्यं बाध्यत्वे प्रयोजकं स्वीकर्तव्यं, तथा च प्रयोजकगौरवं स्यात्
एवमितरत्रापि । मत्पक्षे त्वसत्त्वं बाध्यत्वे प्रयोजकं सत्त्वं च प्रतीताविति लाघवमिति न्यायरत्नदीपावलीय-
माशङ्क्य तत्रापि व्यतिरेकेऽसद्वैलक्षण्यमबाधे प्रयोजकं सद्वैलक्षण्यं चाभाने प्रयोजकमिति गौरवं समानमित्याह
—**मैवं तवापीति ।** नन्वेवं समानगुणदोषत्वे किमित्यन्यतरपक्षे पक्षपात इति शङ्कते—**एवमपीति ।**
विनिगमना निर्णयः । सत्त्वं भाने प्रयोजकमिति पक्षे बाध्यस्य किं सत्त्वात् स्फुरणमुतासत्त्वान्नाथ इत्याह
—**न तावत्सत्त्वादिति ।** दूषणान्तरमाह—**सतश्चेति ।** असत इति पाठे द्वितीयपक्षनिषेधः । चत्त्वर्थः ।

बाधयोरनुपपत्तेश्च । असत्त्वे चापरोक्षतया भानत्वानुपपत्तेः । अनुमानमप्यत्र प्रमाणं विम-
तमनिर्वचनीयं बाध्यत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथासेति ।

संसर्गस्यैव बाध्यत्वाद्वजतस्य बाध्यत्वमसिद्धमिति चेन्न । द्वयोरपरोक्षतया प्रतिभासमा-
नयोः संसर्गमात्रनिषेधे वनस्पत्योरिव विविक्तयोः बाधोत्तरकालमुभयोरपि इहावभासप्र-
सङ्गात् । नचाप्रसिद्धविशेषणः पक्षः । यस्मात्—‘एकालम्बनसंसर्गनिषेधे सदसत्त्वयोः । धर्म-
त्वादूपरसवत्सिद्धानिर्वचनीयता ॥’ १४॥ विवादाध्यासिते सदसत्त्वे एकधर्मिनिष्ठात्यन्ताभा-
वप्रतियोगिनी धर्मत्वात् रूपरसवदिति अनिर्धारितधर्मिनिष्ठतया सामान्यतः सिद्धस्य स-
दसद्वैलक्षण्यस्य केवलव्यतिरेकिणो रजतधर्मिनिष्ठतयोपसंहारादप्रसिद्धविशेषणत्वाभावात् ।

सच दूषितपक्षात्पक्षान्तरपरिग्रहसूचकः । द्वितीयं निषेधति—असत्त्व इति । द्वितीययोजनाया तत्रैव हेतुः ।
तदेवमर्थापत्तिमुक्त्वानुमानमपि प्रमाणयति—अनुमानमपीति । विमतमिति । शुक्तिरूप्यादीत्यर्थः ।
अत्रच सदसद्वैलक्षण्यत्वमनिर्वचनीयत्वं साध्यमिति न साध्याविशिष्टता ।

असिद्धिमन्यथाख्यातिवादी शङ्कते—संसर्गस्येति । परिहरति—नेति । असंनिहितबाधनिवारणाया-
परोक्षतयेत्युक्तम् । सामान्यतो दृष्टानुमानेन निर्वचनीयता साध्यन्नप्रसिद्धविशेषणता परिहरति—एकाल-
म्बनेति । धर्मत्वाद्धेतो सदसत्त्वयोरेकालम्बनसंसर्गनिषेधे एकनिष्ठसंसर्गाभावे एकाधिकरणात्यन्ताभाव इति
यावत् । तस्मिन्साधिते रूपरसवदनिर्वचनीयता सिद्धा भवति इति योजनासंग्रहं विवृणोति—विवादाध्यासित
इति । अत्र च भावत्वाभावत्वे सत्त्वासत्त्वे एकधर्मिनिष्ठौ यावत्यन्ताभावौ तत्प्रतियोगिनी धर्मत्वात् यौ धर्मौ
तावेकधर्मिनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिनौ यथा रूपरसौ तथाचामू ततस्तथेति प्रयोगः । भिन्नाधिकरणनिष्ठात्यन्ताभा-
वप्रतियोगितयार्थान्तरतानिर्वृत्त्यर्थ—एकधर्मीत्युक्तम् । सत्त्वमसत्त्वानधिकरणनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि
धर्मत्वात् रूपादिवदिति तु प्रयोगशरीरम् । नचार्थान्तरता सतोऽसतो बोध्यात्यन्ताभावद्वयाधिकरणत्वाभा-
वात् मिलितयोश्चैकत्वाभावाद्वैकत्वे वा सदसदन्तर्भूततायामुभयाभावाधिकरणत्वायोगात् अनन्तर्भूतत्वे च
सिद्धं न समीहितमिति क्वार्थान्तरता । नच प्रमेयत्वादौ व्यभिचारः तेषामपि वेदान्तिमतो पूर्वोदितन्यायेनै-
वात्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वात् । नच वैपरीत्यानुमानं धर्मत्वहेतो रूपादावनैकान्तिकत्वात् । अपरे त्वे-
वमेतदनुमानं समर्थयामासु । सत्त्वमसत्त्वानधिकरणात्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि अनात्मनिष्ठात्यन्ताभाव-
प्रतियोगित्वाद्वैकत्वादित्यत्र विवक्षितम् । तेन चैतत्परिहृतं भवति । धर्मत्वहेतोर्वाच्यत्वादिना व्यभिचारः ।
अथ तस्यापि निर्धर्मके ब्रह्मण्यभावेनाव्यभिचारः तर्हि तस्मिन्नेव ब्रह्मणि निर्धर्मकतयोक्तसाध्यसिद्धे न
जडनिर्वाच्यतासिद्धिरित्यर्थान्तरता स्यादिति । नच व्याघातः । परस्परविरुद्धयोरपि नित्यत्वानित्यत्वयोरिव शुक्ति-
रजतादिसंसर्गेषु व्यावृत्तिसंभवात् । अतएव विवादाध्यासिते सत्त्वासत्त्वे एकानात्मनिष्ठसंसर्गाभावाप्रतियोगिनी
न भवत परस्परभावरूपत्वात् नित्यत्वानित्यत्ववदिति । न सत्प्रतिपक्षतापि । आरोपितसंसर्गे एवोभयव्या-
वृत्त्या साध्यविकलत्वादिति तदेतदसमीचीनमिव । मेयत्वादेरपि सर्वधर्मविधुरे ब्रह्मण्यवृत्तेरव्यभिचारभूमि-
त्वात् । नचार्थान्तरता । निर्धर्मके ब्रह्मण्यत्यन्ताभावस्याप्यवृत्ते वृत्तौ वा सत्त्वस्यापि वृत्तेरर्थान्तरत्वात् ।
कथं तर्हि सत्त्वासत्त्वयोस्तत्तदत्यन्ताभावरूपयोर्ब्रह्मण्येव वर्तनम् । किमत्र चित्रं प्रत्यायकश्रुतौ सत्यां परस्परप्र-
तिक्षेपरूपभावाभावयोः संयोगादेरेकवृत्तितेष्टेश्च स्वस्मिन्नेव च मेयत्वाद्यवृत्तेरात्माश्रयात् । प्रसाधयिष्यते चाय-
मर्थः । व्याघातस्तु नियमानङ्गीकारेणैव परिहृतः । नच नित्यत्वानित्यत्वव्यावृत्तेरारोप्यसंसर्ग उदाहरणम् ।
अत्यन्ताभावरूपस्य तस्य नित्यताया परैरङ्गीकृतत्वात् । नहि सत्ता तत्र जातिरूपिणी स्वरूपसत्त्वाङ्गीकारात् ।
अस्तित्वात्मकस्य च तस्याभावेपीष्टेति । एतेन सामान्यादीनां नित्यत्वं व्याख्यातम् । तद्यथान्यासमेवास्तु अनु-
मानमलम्पतिवैदग्धीप्रकटनेन । केवलव्यतिरेकिण इति पञ्चमी । ननु सद्विदं रजतमिति सत्त्वानुभवबाधितमिदं

नचानिर्वचनीयत्वे सदिदं रजतमिति भ्रमानुभवविरोधः । अधिष्ठानेदंतासंसर्गवत्तत्सता-
संसर्गस्यापि अनिर्वचनीयस्यैव भ्रमेऽनुभवान् ।

अपिच ब्रह्मणीव पारमार्थिकसत्तायाः प्रपञ्च इव च व्यावहारिकसत्ताया अभावेपि
प्रातिभासिकसत्तास्वीकारेण सदिदं रजतमित्यनुभवो न विरुद्धते । नच नेदं रजतमित्य-
सत्त्वानुभवविरोधोऽर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणसत्त्वस्यैव तत्र निषिध्यमानत्वात् । नचानिर्वाच्ये
रजतशब्दप्रयोगायोगः । सविकल्पकरजतानुभवसंस्कारजन्यतया रजतभ्रमस्य तद्वाचकश-
ब्दोद्देशोपपत्तेः । नचानिर्वचनीयत्वे रजतस्य प्रतीत्यनुपपत्तिः शुक्त्यवच्छिन्नास्यैतन्य-
स्थाविद्याविवर्ततया चैतन्येऽध्यस्तत्वात्तेन प्रतीत्युपपत्तेः । नच संप्रयोगाभावादपरोक्षत्वा-
नुपपत्तिः अध्यस्तस्यापरोक्षतायां संप्रयोगानपेक्षत्वात् । अन्यथा भवतोपि रजततत्संसर्ग-
योरपरोक्षत्वाभावापातात् ।

अधिष्ठानसंप्रयोगादेवापरोक्षत्वमस्मन्मतेपि तुल्यं अन्यत्र स्वपक्षपातात् । नचेन्द्रिया-
न्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं रजतस्य तयोरधिष्ठानग्रहणेनान्यथासिद्धत्वात् । नचैवंसति

सद्वैलक्षण्यनुमानमिति तत्राह—**नचानिर्वचनीयत्व इति** । यथाह्यपुरोवर्तिनो रजतस्य पुरोवर्त्यधिष्ठानारो-
पात्पुरोवर्तित्वप्रतिभास । तथासद्वैलक्षण्यरजतस्य सदधिष्ठाने समारोपितत्वात्सद्बुद्धिबोध्यत्वं न पुन सत्त्वादिति
परिहरति—**अधिष्ठानेति** ।

अथवा सदिदं रजतमिति प्रातीतिकसत्त्वमनुभूयते पारमार्थिकव्यावहारिकसद्वैलक्षण्यं चानिर्वचनीयत्वं
साध्यत इति नानुभवविरोध इत्याह—**अपिचेत्यादिना** । सदसद्वैलक्षण्यताया भ्रान्तिबाधानुभवविरोधो
ह्यधस्तादभिदधे । तत्र भ्रान्तिविरोधं परिहृत्य बाधविरोधं परिहरति—**नच नेदमिति** । नेदं रजतमिति
कोर्थ । नेदं मदभिमतरजतमिति । तथाचार्थक्रियासामर्थ्यलक्षणसत्त्वस्यैव निषेधान्न तद्वैलक्षण्यनुमानं विरु-
णद्धीत्यर्थः । सदसद्वैलक्षण्यमनिर्वचनीयत्वं मतं तन्निर्वाहावसरतया च पूर्वोदितलौकिकपरमार्थरजतविषयत्व-
निषेधेन न विप्रतिषेधशङ्कापीति भावः । दोषान्तरमुक्तं, परिहरति—**नचानिर्वाच्य इति** । रजतानुभवस-
ंस्काररजिता ह्यविद्या रजतज्ञानाकारेण विवर्तते । अनुभूतरजतस्य भ्रान्त्यनुपपत्तेः । सत्त्वानुभव सविकल्पक
इति शब्दोद्देशवान् । तथाच तत्संस्काररजिताविद्या तद्बुद्धिवत्तच्छब्दप्रयोगेपि हेतुः । एतदुक्तं भवति—रज-
तबुद्धिवद्भजतजातीयबुद्धिरप्युदेति । ततश्च तच्छब्दप्रयोग इति परस्यापि शुक्त्यादौ रजतत्वजात्याद्यसम्भवात्त-
त्संस्कार एव शरणमिति भावः । या तु प्रत्यायकानुपपत्त्या प्रतीत्यनुपपत्तिरुक्ता ता परिहरति—**नचानि-
र्वचनीयेति** । शुक्त्यवच्छिन्नं यच्चैतन्यं तदविद्यापरिणामो हि रजतं न तुकेवलशुक्त्यविद्यापरिणामः शुक्ते-
रविद्याकार्यस्य स्वकारणाविद्या प्रत्याश्रयत्वायोगात् । तदुक्तमाचार्यैरिष्टसिद्धिकारैः —‘शुक्त्यवस्थात्ममोहोत्था
रूप्यधी शुक्तिमोहजा । कथ्यते मृदवस्थात्मजातो मृज्जो यथा घट’ इति । ततस्तेनैव चैतन्येन रजतमपि
वेद्यमित्यर्थः । रजतस्य शुक्तिसामानाधिकरण्योपपादनाय शुक्त्यवच्छिन्नेत्युक्तम् नन्विन्द्रियसंप्रयोगाभावे कथ-
मपरोक्षता तत्राह—**नच संप्रयोगेति** । न केवलमस्माकमयं नियमभङ्गोऽपितु भवतोपीत्याह—
अन्यथेति ।

ननु न देशान्तरस्थं रजतं रजतज्ञानविषयोपितु पुरोवर्ति वस्तु तच्चेन्द्रियसंयुक्तमितीन्द्रियसंप्रयोगादेवापरोक्षं
तर्हीदमस्मन्मतेपि समानमिति प्रौढिमारूढ ग्राह—**अधिष्ठानेति** । नन्विन्द्रियान्वयव्यतिरेकयोः सतोः
कथं तदभावो येनैवं परिह्रियत इति तत्राह—**तयोरिति** । अधिष्ठानग्राहकेन्द्रियग्राह्यतामन्तरेणारोप्य-
स्यापरोक्षताया बाधकमाशङ्क्य परिहरति—**नचैवं सतीति** । न तत्रारोप्याधिष्ठानयोरेकेन्द्रियग्राह्यत्वनिय-

स्पर्शनेनाधिष्ठाने गृहीतेपि चाक्षुषो रजतविभ्रमः स्यादिति वाच्यम् । सादृश्यदर्शनजन्ये विभ्रमे तेनैवेन्द्रियेण सादृश्यस्य ग्रहणनियमात् । अन्यथा तवापि तित्तो गुड इति विभ्रमो न भवेत् । आरोप्यस्य रसस्य रसनेन्द्रियग्राह्यतया द्रव्यग्राहकस्पर्शनेन्द्रियागोचरत्वात् । तस्मात्तत्राधिष्ठानग्रहण एवेन्द्रियस्योपयोग इति त्वयापि वक्तव्यम् । तथाच न तत्प्रकृतेपि दण्डवारितम् । नच ज्ञानद्वयाङ्गीकारादख्यातिप्रसङ्गः । इदमंशावच्छिन्नसाक्षिचैतन्यस्यैवाधिष्ठानज्ञानफलभूतस्य स्वमायाविवर्तरजतादिसिद्धित्वात् । अन्तःकरणवृत्तिलक्षणज्ञानद्वयानङ्गीकारात् ।

तदेवं लक्षणप्रमाणयोरनिर्वचनीये रजतादिविभ्रमे संभवात् तद्वद्वैतप्रपञ्चविभ्रमोपि वेदान्तवाक्यप्रमाणजन्यादधिष्ठानाद्वितीयात्मविज्ञानाद्विलीयत इति सिद्धम् । ननु कथं वेदान्तवाक्यानां सिद्धार्थबोधकत्वम् । सकलपदानां लोके कार्ये एव सङ्गतिग्रहणात् लोकावगतसामर्थ्यः शब्दो वेदेपि बोधक इति न्यायात् ।

लोके च प्रवर्तकवचनश्रवणसमनन्तरं श्रोतुः प्रवृत्तिमुपलभ्य प्रवृत्तिलिङ्गेन प्रवर्तक-

माङ्गमानुदय अपितु सादृश्यजन्यभ्रमेषु सादृश्याधिष्ठानयोरेकेन्द्रियग्राह्यतानियमात् तदभावापराधादित्याह—**सादृश्येति** । यदि च कस्मैचित्समानेन्द्रियग्राह्यत्वनियमदुराग्रहादुक्तरीतिर्न रोचेत तं प्रति बाधकमाह—**अन्यथा तवापीति** । विभिन्नेन्द्रियग्राह्यतामेव हेतुमाह—**आरोप्यस्येति** । तदेवमधिष्ठान एवेन्द्रियोपयोगमुपपाद्य ज्ञानद्वयाङ्गीकारादख्यात्यापत्तिमुक्ता परिहरति—**नच ज्ञानेति** । कोऽयं ज्ञानभेद किं ज्ञप्तिभेद उतान्तःकरणवृत्तिभेद । नाद्य इत्याह—**इदमंशेति** । उभयोरपीदमंशावच्छिन्नैकसाक्षिवेद्यत्वेन फलभेदाभावादित्यर्थः । द्वितीये प्राह—**अन्तःकरणेति** । नचैकत्रान्तःकरणपरिणामोऽपरत्राविद्यापरिणाम इति ज्ञानभेदः । अविद्यापरिणामस्य ज्ञानाभासत्वेन ज्ञानतासिद्धेः ।

उक्तं हि अविद्यावैद्ये सह भ्रम इति वादार्थमुपसंहरन् समन्वयोपयोगमाह—**तदेवमित्यादिना** । भेदप्रपञ्चस्याविद्यापरिणामतया शुक्तिरूप्यादिवदनिर्वचनीयारोपितत्वात् तदधिष्ठानाद्वैततत्त्वसिद्धिः फलमित्यर्थः । इत्यनिष्टविपरीतबुद्धितत्तुच्छसद्विषयवाददृष्टणात् व्यक्तमुक्तमिह तत्तदुक्तिभिः शक्यनिर्वचनतानिवारणं वेदान्तवाक्यजन्याद्वितीयात्मविज्ञानादित्युक्तं तदसङ्गतम्, सिद्धेऽर्थे वेदस्य प्रामाण्याभावादिति कार्यवादी प्रत्यवतिष्ठते—**ननु कथमिति** । ननु भवतु लौकिकानां कार्ये शक्तिग्रहो वैदिकानां तु किमायातमित्यत आह—**लोकावगतेति** । निर्णीतं खल्विदं प्रमाणलक्षणे आकृत्यधिकरणे तदर्थचिन्तया । तथाहि—‘स्वरवर्णलोपागमादिवैलक्षण्यात् अनध्यायादिधर्मभेदाऽलौकिकवैदिकव्यपदेशाच्च स्पष्टभेदयूपादिशब्दसाहचर्यान् गोशब्दादेरपि लोकवेदयोर्भेदस्तद्वेदादश्ववालादिशब्देष्वर्थान्तरदर्शनात् ‘उत्ताना वै देवगवा वहन्ति, तेजो वै घृत’मित्यादिभूतानवहनादिविपरीतलिङ्गाच्चार्थभेद इति प्राप्य प्रतिविद्धे प्रत्यभिज्ञया तावदेकत्वं गवादिपदानामवगम्यते । नच स्वरवर्णलोपागमादिवैषम्यमात्रात् प्रत्यभिज्ञायमानशब्दस्वरूपभेद तथार्थोपि स एव प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्, उत्तानवहनादि तु स्तुतिर्न गवादिभेदप्रतिपादकं तस्माद्वेदकाभावादभेदावगमाच्च शब्दार्थयोरैक्यमेव लोकवेदयोरिति लोकवेदाधिकरणे स्थितम् ।

नन्वस्तु लोकगृहीतसङ्गतिशब्दानां वेदेपि बोधकत्वं कथमेतावता सिद्धार्थबोधकत्वाभावस्तत्राह—**लोके चेति** । अयमर्थः—गामानयेत्युत्तमवृद्धवचनश्रवणसमनन्तरं मध्यमवृद्धस्य गवानयनं दृष्ट्वा व्युत्पित्सुरित्यमाकलयति बाल ज्ञानपूर्विकेयमस्य प्रवृत्तिः स्वतन्त्रप्रवृत्तित्वात् मदीयस्वतन्त्रप्रवृत्तिवदिति । तथैव स्वात्मदृष्टान्तेन प्रवर्तकप्रत्यये शब्दपूर्वकत्वं चानुमाय तस्मिच्छब्दानन्तरभाविनि शब्दस्य शक्तिः गृह्णाति तदनु च

प्रत्यये पदसमुदायस्य सामान्यतः सामर्थ्यमधिगम्य पुनरावापोद्धाराभ्यां च प्रत्येकं कार्या-
न्विते पदानां सङ्गतिग्रहणात् आनयनादिलक्षणकार्यविशेषे व्यभिचारेपि कार्यमात्रस्य
सर्वत्राव्यभिचारात्तदन्वितस्वार्थेषु पदानां सामर्थ्याधिगमात् । नचान्तरेणापि व्यवहारं
पुत्रस्ते जात इत्यादिवाक्यश्रवणसमनन्तरं श्रोतुर्मुखविकासादिना लिङ्गेन हर्षमनु-
माय तद्धेतुप्रत्यये वाक्यस्य सामर्थ्यं सामान्यतोऽधिगम्यावापोद्धाराभ्यां पुनः पुत्रादिप-
दानां तनयाद्यर्थविशेषेषु सङ्गतिग्रहो दृश्यते इति वाच्यम् । परिशेषावधारणानुपपत्तेः
प्रियासुखप्रसवादेरपि हर्षहेतोः संभवात् । यत्रच प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः
पिबतीति प्रसिद्धपदसमभिव्याहारात्प्रसिद्धेतरपदार्थोऽप्रसिद्धमधुकरपदार्थः समधिगत-
विभक्त्यर्थश्च यं मधुपाने कर्तारं पश्यति तं मधुकरशब्दवाच्यत्वेन प्रत्येति । तत्रापि
न कार्यपरताव्याकोपस्तादृश्या अपि व्युत्पत्तेर्व्यवहारनिबन्धनप्रथमकार्यव्युत्पत्तिनिबन्ध-
नतया तदानुगुण्येन व्यवस्थानात् पुत्रस्ते जात इत्यादेश्च सिद्धार्थप्रयोगस्य लाक्षणिकत्वे-

प्रयोगान्तरेषु गां बधानाश्चमानयेत्यादिष्वानयनगोशब्दयोरुद्धारे तदर्थयोरप्युद्धारात् प्रक्षेपे च प्रक्षेपदर्शनात्
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां गवादिविशेषेषु पदविशेषस्य सामर्थ्यं गृह्णाति । सर्वत्र च कार्यान्वयाव्यभिचारात्तदन्वि-
तपदार्थेषु सामर्थ्यं गृह्णाति न पुन पदार्थमात्रे नाप्यन्यमात्रान्वितेषु । प्रथमावगताव्यभिचारिकार्यान्वयपरि-
त्यागे प्रमाणाभावादिति । ननु कथं कार्यान्विते सामर्थ्यग्रह यावता पश्यानयबधानेत्यादावन्यदन्वयकार्य
प्रतीयतेऽतो व्यभिचाराद्गवादिवदेव शब्दविशेषाभिधेयत्वमेव न सर्वशब्दसामर्थ्यप्रतियोगित्वमिति तत्राह—
आनयनादिलक्षणेति । प्रकृत्यभिधेयबन्धनादिव्यभिचारेपि प्रत्ययाभिधेयानुगतकार्यमात्रं न व्यभिचर-
तीत्यर्थः । ननु यत्र प्रवृत्तिलिङ्गमवलम्ब्य सङ्गतिग्रह तत्रैवं भवतु, यत्रतु मुखविकासादिलिङ्गाद्धर्षहेतुसिद्धा-
र्थमनुमाय शब्दस्य सङ्गतिग्रह यथा पुत्रस्ते जात इत्यादिषु तत्रावश्यं कार्यमन्तरेणैव सिद्धार्थं शब्दशक्तिरा-
श्रयणीयेति तत्राह—**नचान्तरेणापीति ।** नच वाच्यमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—**परिशेषेणेति ।** अयमभि-
सन्धि —न तावत्प्रवर्तकवाक्येष्विव सिद्धार्थवाक्येषु प्रवर्तकविशेषानुमापकानयनादिप्रवृत्तिवदस्ति हर्षहेतुविशे-
षानुमापकं प्रत्यक्षलिङ्गं मुखविकासादितु हर्षहेतुमात्रमनुमापयति । तद्विशेषस्तु परिशेषात्प्रार्थनीयः । नचैवं
संभवति पुत्रजन्मवदेव सुखप्रसवादेरनेकस्योपप्लवमानत्वात् विनिगमनाभावादतः पुत्रशब्दस्य सङ्गतिग्रहो दूरो-
त्सारित इति । यथाहु नाथा —‘प्रमाणपारायणेन च परिशेषेण तत्प्रतिपादकतायवसानं भूतमविष्यद्वर्त-
मानानां सन्निहितव्यवहितानां संभवात् पारिशेष्यावधारणाया अत्यन्तदुष्करत्वादिति । स्यादेतत् अस्ति प्रभिन्न-
कमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबतीत्यादिवाक्यं श्रुतवत् । पुरुषस्य मधुकरप्रातिपदिकार्थमात्रमजानतः समया-
न्तरे सरसीरूहोदरविपरिवर्तिमधुकरमधुपानमवलोकयत प्रसिद्धपदसमभिव्याहारबलान्मधुकरशब्दस्य मधुकर-
शब्दार्थं सिद्धे सङ्गतिग्रह इति तत्राह—**यत्रचेति ।** किमिति न कार्यपरताव्याकोप इति तत्राह—**तादृ-
श्या अपीति ।** सोपि हीतरपदानां सङ्गतिं गृहीत्वा तत्समभिव्याहारादस्य सङ्गति गृह्णाति । इतरपदानां च
व्यवहारबलात्प्रवर्तककार्यान्विते प्रथममेव सङ्गतिग्रहीतव्या । नहि तत्रापि प्रसिद्धपदार्थसमभिव्याहारः
शक्यपरिग्रहः । अनवस्थादौस्थ्यात् । तथाचोपजीव्यैकप्रयोजकानुगुण्येनात्राप्यध्याहृतकार्यान्विते शक्तिप्राप्ते-
त्यर्थः । कथं तर्ह्यगृहीतसङ्गतिकानां सिद्धार्थं प्रयोगः पुत्रस्ते जात इत्यादिपदानां तत्राह—**पुत्र इति ।**
ननु ‘अभिधेयाविनाभूते प्रवृत्तिर्लक्षणेभ्यते’ इति लक्षणाक्षणात् अभिधेयकार्यान्वयसंबन्धः सिद्धार्थान्वयस्य

नाप्युपपत्तेः परस्परान्वयस्य कार्यान्वयान्वयभिचारात् पुत्रस्ते जातस्तं पश्येति वक्तव्येपि कार्ये विव्रियतामिति पदावधीरणेन द्वारमिति प्रयोगवत्प्रयोगोपपत्तेः ।

ननु न कार्यान्विते पदानां सामर्थ्यमध्यवसातुं शक्यम् । कार्यस्य कार्यान्तराभावेन कार्यपदस्य कार्यान्वितस्वार्थाभिधायित्वानुपपत्तेः । योग्येतरान्विताभिधाने च प्रयोजक-
द्वैविध्यापातादिति चेत् । न । कार्यान्वयान्वयिनि कार्यपरपदार्थान्विते वा पदशक्तिग्रह-
णाभ्युपगमे प्रयोजकद्वैविध्याप्रसक्तेः ।

यत्तु कैश्चिदुच्यते कार्यान्वयान्वयिनि इत्यत्र किं कार्यं विशेषणमन्वयस्य किं वोपल-
क्षणम् । नाद्यः । अन्वयस्य कार्यविशिष्टस्य कार्यान्वये सति कार्यस्य संबन्धद्वयप्रसङ्गात्
युगपच्च कार्यान्वययोर्विशेषणता विशेष्यता चापद्येत । नचैतत्सर्वमुपपन्नम् अलौकिकत्वात् ।
नापि द्वितीयः । कार्यस्य शब्दशक्त्यगोचरत्वप्रसङ्गादिति तदसत् । कार्यान्वयान्वयि-
नीति कार्यस्य संबन्धव्यावर्तकमात्रताया विवक्षितत्वात् । तत्र यथा गवादिपदार्थानाम-
कार्यरूपाणां तत्संबन्धनिरूपकता तथैव कार्यस्यापि संबन्धस्योभयनिष्ठत्वात् । इतरथा
योग्येतरान्वयपक्षेप्यन्वययोग्येनेतरेणान्वयस्य विवक्षितत्वात् । अन्वयस्य विशेषणोपल-
क्षणपक्षयोर्रुक्तदोषानुषङ्गस्तुल्य एव स्यात् ।

लिलक्षयिषितस्य वक्तव्यस्तत्राह—**परस्परान्वयस्येति** । कार्यान्वयस्य परस्परान्वयविशेषत्वादित्यर्थः । उक्तं
च नाद्येन—‘कार्यान्वयो हि परस्परान्वयान्वयभिचारी’ति । विवक्षितत्वात् कार्यान्वयवत् परस्परपदार्थान्वय-
विवक्षयापि लक्षणया लोक शब्दं प्रयुञ्जे इति । अर्थलक्षणया परिहृत्य वाक्यैकदेशलक्षणया च परिहरति—
पुत्रस्ते जात इति । यथाहि द्वार विव्रियतामिति प्रयोक्तव्ये द्वारमिति वाक्यैकदेश प्रयुञ्जे नचैतावता वि-
व्रियतामिति नाध्याहरन्ति व्यवहर्तारं तद्वत् पश्येति वक्तव्ये कार्ये तद्व्यतिरेकेण पुत्रस्ते जात इत्येवं प्रयुञ्जे ।
अध्याहाराच्च वाक्यं पूर्णमित्यर्थः ।

उक्तप्रयोजकस्य कार्यपदे व्यभिचारं शङ्कते—**नन्विति** । ननु तस्य योग्येतरान्विताभिधायित्वं भव-
त्वित्यत आह—**योग्येतेरेति** । अनुगतं प्रयोजकं दर्शयन् परिहरति—**न कार्येति** । कार्यान्वय कार्य-
रूपोऽन्वयः तदन्वयि । तदाधार सच कार्यमितरच्च भवति संबन्धस्य द्वायाधारत्वात् । तत्र सामर्थ्यं सर्वपदा-
नामस्ति च कार्यपदस्येत्यर्थः । नयविवेककारोक्तं प्रयोजकमाह—**कार्यपरेति** । कार्यपर यत्पदं तस्य योऽर्थः
तेनान्विते सामर्थ्यमिति । तथाच न प्रयोजकभेद कार्यपदस्यापि कार्यपरगवादिपदार्थान्वितकार्यशक्तित्वा-
दितरेषामपि कार्यपरलिङ्गादिपदाभिधेयकार्यान्वितगवादिनिष्ठशक्तित्वादित्यर्थः ।

अत्र रत्नदीपावलीकृतः प्रथमं प्रयोजकं दूषयांबभूवुस्तदनुवदति—**यत्त्वित्यादिना । संबन्धद्वयप्रस-
ङ्गादिति** । कार्यान्वयेत्यत्रैक संबन्धस्तदन्वयीत्यत्रापर इत्यर्थः । किञ्च कार्यान्वयेत्यत्र कार्यस्य विशेषण-
त्वमन्वयस्य च विशेष्यत्वं, अन्वयीत्यत्र चान्वयस्य विशेषणत्व कार्यस्य च विशेष्यत्वमिति युगपदेव विशेष-
णत्वविशेष्यत्वे प्रत्येकमनयोरन्योन्यापेक्षया स्यातामित्याह—**युगपच्चेति** । उभयमप्यस्तु को दोष इत्यत
आह—**नचेति** । शक्त्यगोचरत्वप्रसङ्गादिति । विशेषणस्यैव क्रियान्वयित्वनियमात्कार्यस्य च विशेष-
णत्वाभावात् अन्वयवत् एव शक्तिगोचरत्व ननु कार्यस्येत्यर्थः । तदेतत्परिहरति—**तदसदिति** । नात्र
कार्यस्यान्वयं प्रति विशेषणत्वोपलक्षणत्वे विवक्षितेऽपितुभयानुगतव्यावर्तकत्वमात्रं विवक्षितं नचैतदसिद्धमि-
त्याह—**तत्र यथेति** । कार्यतदितरसंबन्धस्योभयनिष्ठत्वादितरवदेव कार्यमपि निरूपकमित्यर्थः । एतदेव
प्रतिबन्धा साधयति—**इतरथेति** । योग्येतर इत्यत्रान्वयं प्रतीति वक्तव्यं यत्किञ्चिद्योग्यताया अन्वयानु-

उपलक्षणपक्षेपि कार्यस्य शब्दशक्तिविषयत्वं न व्याहन्यते कार्योपलक्षितत्वस्यान्वय-
विशेषणतया कार्यस्यापि परम्परया शब्दशक्तिप्रतियोगित्वोपपत्तेः । एवमनभ्युपगच्छतः
स्वप्रच्युत्युपलक्षितसत्तायोगित्वमनित्यत्वमित्येवमादिलक्षणमपि न निर्वहति । प्रच्युतेः कार्या-
नन्वये सत्तायोगित्वमात्रस्यैव लक्षणत्वादात्मादेरप्यनित्यत्वापत्तेः । स्वयमेव चानुभूतिरनु-
भूतिव्यवहारहेतुप्रकाश इति प्रतिज्ञाय मोक्षदशायां व्यवहारहेतुत्वाभावात् लक्षणस्या-
व्याप्तिमाशङ्क्य व्यवहारहेतुत्वमुपलक्षणमित्यङ्गीकृत्योपलक्षितत्वमपि क्वचित्साध्यं यथा
विनाशोपलक्षितसत्तायोगित्वमनित्यत्वमिति स्वकीयग्रन्थे निबद्धत्वात् । एतेन विवादप-
दानि पदानि न कार्यान्वयान्वयिनि शक्तिमन्ति पदत्वात् कार्यपदवदित्यनुमानमपास्तम् ।
विशेषणोपलक्षणपक्षयोरुक्तदूषणोद्धरणत्वात् कार्यपदस्यापि कार्यान्वयान्वयिनि शक्तिमत्त्वेन
दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्, विवादपदानि पदानि कार्यपराणि पदत्वात्कार्यपदवदिति
प्रयोगसंभवाच्च ।

नच 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'त्यादिपदेषु व्यभिचारः तेषामपि द्रष्टव्य इत्यादिविशेष-

पपादकत्वात् । तथाचान्वययोग्येनेतरेणान्वित इत्यत्राप्यन्वययोग्यान्वययोरुक्तदूषणानतिवृत्तिः अन्वयविशे-
षितयोग्यविशेषितत्वात् । अन्वयस्योपलक्षणत्वे त्वभिहितान्वयवादत्वापात इत्यर्थः । एतेन व्यावर्तकत्वप्र-
युक्तदोषोपि परिहृत इत्यभिप्रायः ।

विशेषविवक्षायामप्युपलक्षणपक्षे न दोष इत्याह—**उपलक्षणपक्षेऽपीति** । कार्योपलक्षितोऽन्वय इति
कोर्थं कार्यविशेषितोपलक्षितत्वविशेषितोऽन्वय इति । न चोपलक्षितत्वमप्युपलक्षणमेवानवस्थानात् । ततश्च
परम्परया कार्यस्याप्यन्वयशरीरविनिवेशितया शब्दशक्तिगोचरत्वमित्यर्थः । यदि चोपलक्षणत्वापराधादेवास्-
न्तमननुप्रवेश इत्याशयः तर्ह्यनित्यत्वलक्षणमपि न सिद्ध्येत् । तत्र हि स्वप्रच्युत्युपलक्षितसत्तायोगित्वमनित्यत्वमिति
लक्षणे प्रच्युतेर्विनाशस्योपलक्षणतया सत्तानन्वयात् केवलसत्तायोगित्वमनित्यत्वमिति स्यात् । तथाचात्मादेरनि-
त्यत्वमित्यातिव्याप्तिस्वदेतदाह—**एवमनभ्युपगच्छत इति** । कार्यं लक्षणम् । इष्टप्रसङ्गता परिहरति—**स्वय-
मेवेति** । सिद्धे व्युत्पत्तिदूषणे न कार्यव्युत्पत्तिसमर्थनेन च तर्कबाधविपक्षबाधकतर्काभावाभ्यामनुमानमपि
दूषितमित्याह—**एतेनेति** । यजेतेत्यादौ लिङादिव्यवच्छेदाय विवादपदग्रहणम् । इतस्था दृष्टान्तासिद्धेः ।
दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यता चाह—**कार्यपदस्यापीति** । विशेषणोपलक्षणेत्येतदादिर्वायं ग्रन्थः । स्वपक्षे-
ऽनुमानं दर्शयन् बाधमप्याह—**विवादपदानीति** । कार्यभावात्पदयोः सिद्धसाधनतानिवृत्त्यै विवादपद-
ग्रहणम् ।

ननु 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'त्यादीनि पदानि सिद्धब्रह्मस्वरूपपर्यवसितानि विध्यश्रवणात् विधिसन्निधिश्रवणा-
भावाच्च । द्रष्टव्य इत्यादेशश्च विधित्वं न संभवति । उपयुक्तमुपयोक्ष्यमाणं वा संस्कारार्हं यथाहुः 'भूतभाव्युपयोगं
हि द्रव्यं संस्कारमर्हतीति' । नचात्र प्रोक्षितब्रीहीणामिव विज्ञानसंस्कृतस्यात्मनः क्वचित्कतौ विनियोक्ष्यमा-
णत्वम् । शुद्धबुद्धब्रह्मात्मतत्त्वज्ञानस्य समस्तप्रवृत्तिविरोधित्वात् । नापि कृष्णविषाणादिवद्विनिमुक्तत्वं येन
चात्वालाप्रासनेनेव ज्ञानेनात्मा संस्क्रियते । नापि सुवर्णं बिभृयादितिवदात्मना पश्येदिति विनियोगभङ्गः ।
दर्शनस्य प्रमाणपराधीनतयाऽविधेयत्वात् । साक्षात्कारस्य फलतया विधानानर्हत्वात् । विधिपरत्वे च ब्रह्मा-
सिद्धेरतिस्पष्टो व्यभिचार इति तत्राह—**नच विज्ञानमिति** । अयमभिसन्धिः—यद्यपि यथाश्रुतसंस्कार-
पक्षोऽनुपपन्नस्तथापि सुवर्णभरणसकुहोमादिवद्विनियोगभङ्गेन किञ्चिदस्ति बाधकम् । नच दर्शनाविधेयत्वं

तथा कार्यपरत्वात् । तदेवं सकलपदानां कार्यपरत्वान्न सिद्धे ब्रह्मणि वेदान्तवाक्यानां प्रामाण्यमिति । अत्रोच्यते—न तावत्सिद्धे प्राथमिकव्युत्पत्त्यसंभवः । प्रागुन्नीतन्यायेन पुत्रस्ते जात इत्यादिवाक्यादपि व्युत्पत्तिसंभवान् । नच तत्र पारिशेष्यावधारणानुपपत्तिः । यतः—‘दृष्टचैत्रसुतोत्पत्तेस्तत्पदाङ्कितवाससा । वार्ताहारेण यातस्य परिशेषविनिश्चितेः ॥’ यो हि परिदृष्टचैत्रप्रहर्षहेतुपुत्रजन्मा पुत्रपदालिप्तकुङ्कमाङ्कितपटप्रदर्शकेन वार्ताहारेण सह चैत्रसकाशं गतः तस्य दिष्ट्या वर्षसे चैत्र पुत्रस्ते जात इति वार्ताहारव्याहारश्रवणसमनन्तरं समुन्मीलत्पुलकसकलकलेवरमुत्फुल्लगण्डयुगलमुल्लसितनयनयुगलं चैत्रमवलोकयतस्तत्प्रमोदलिङ्गेन स एव नूनमनेन मदवलोकितः सुतसंभवः प्रमोदहेतुरेतस्माद्वाक्यादधिगत इति परिशेषावधारणोपपत्तेः । नच प्रियासुखप्रसवस्यापि संभवात्परिशेषावधारणानुपपत्तिः पुत्रपदाङ्कितपटप्रदर्शनवत्प्रियासुखप्रसवसूचकाभावात् । नच विद्यमानतामात्रेण तत्रापि शङ्कावकाशः । कार्येण्युपानच्छत्रदण्डाद्याहरणलक्षणावान्तरकार्यदर्शनेन शङ्काप्रसरस्य दुर्निवारत्वात् । एवमुक्तरीत्या सिद्धेऽपि प्राथमिकव्युत्पत्तेः संभवात्प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबतीत्यादिप्रसिद्धपदसमभिव्याहारनिबन्धनव्युत्पत्तावपि सिद्धार्थपरता न व्याहन्यते मुख्यार्थविषयतया सिद्धेऽपि प्रयोगयोगे लाक्षणिकत्वकल्पनानुपपत्तेः ।

नच प्रथमावगतकार्यान्वयानुरोधेन लक्षणाश्रयणम् । प्रथममपि पुत्रस्ते देशान्तरादागतः

बाधकम् । ध्यानत्वात्तस्य विधेयत्वमायुष्मताप्यनुमन्यते । यथाह श्रुति—‘निदिध्यासितव्य’ इति । नच ब्रह्मासिद्धिः । यूपोदिवत्तत्सिद्धेरपि संभवात् । ततस्तद्विधिविषयापेक्षितमात्मानं सत्यज्ञानादिरूपं समर्थयन्ति सन्त्यमूनि पदानि न कार्यपरतामतिवर्तन्ते । सर्ववेदान्तप्रत्ययतया चाश्रूयमाणस्थलेष्वपि समर्थयन्त्येव विधिमिति उपसहरति—**तदेवमिति** । प्राथमिकव्युत्पत्तौ सिद्धे सिद्धाया प्रसिद्धार्थपदसमभिव्याहारात् व्युत्पत्तिः स्वत एव सिध्यतीति ता समर्थयते—**न तावदित्यादिना** । परिशेषोपपत्ति श्लोकेनोपनिबध्नाति—**दृष्टेत्यादिना** । दृष्टा चैत्रसुतोत्पत्तिर्येन तस्य दृष्टचैत्रसुतोत्पत्तेस्तत्पदेन तस्य पुत्रस्य पदेनाङ्कितं चिहितं वासो वस्त्रं यस्य हस्तेऽसौ तत्पदाङ्कितवाससास्तेन तत्पदाङ्कितवाससा वार्ताहारेण सह यातस्याविदितार्थभाषस्य च पुंस परिशेषविनिश्चिते संभवादित्यर्थः । अत्र च विज्ञातपुत्रजन्म विहायाविज्ञातहर्षहेतुकल्पनमयुक्तमिति दर्शयितुं दृष्टेत्यादिविशेषणं विज्ञातादपि प्रियासुखप्रसवादिशेषदर्शनार्थं तत्पदाङ्कितेति । अस्यैव श्लोकस्यार्थविवृणोति—**यो हीत्यादिना** । यत्तु तत्पदाङ्कितवाससेति विशेषणस्य प्रयोजनमुक्तं तद्दर्शयति शङ्कानिरासपूर्वकं—**नचप्रियेति** । तत्र किं पुत्रजन्मैव तत्सूचकं किं वान्यत् आहो संभावनामात्रात्तच्छङ्का । आद्ये प्रथमप्रतीतपुत्रजन्मपरित्यागे कारणाभावात् तत्रैव सङ्गतिग्रहो युक्तः । द्वितीयं निषेधति—**पुत्रपदाङ्कितेति** । तृतीयं निषेधति—**नच विद्यमानतेति** । विशेषनिर्णयकारणाभावेऽपि संभावनामात्रेण चेद्विपरीतशङ्कोदयस्तर्हि गवानयनवदेव छत्राद्यानयनमपि तेन क्रियते इति तेषामपि शब्दार्थताशङ्कया अनिर्णयस्यादित्यर्थः । एतेन तदपि निरस्तम् । यदाह भवनाथ—‘नच स्वाधिगततत्प्रिये तद्वीरिति क्लृप्तत्वादवधृतिस्तत्रैवानेकस्य संभवा’दिति । एवं सिद्धे प्राथमिकव्युत्पत्तिसमर्थनेन तत्पूर्वकप्रसिद्धार्थसमभिव्याहारनिबन्धनव्युत्पत्तिरपि समर्थितेत्याह—**एवमुक्तरीत्येति** । यत्तु सिद्धार्थपरपदप्रयोगो लाक्षणिक इत्युक्तं तत्राह—**मुख्यार्थेति** ।

ननु प्रथमं प्रयोक्तुः व्युत्पत्तिकाले पुत्रादिपदानामावापोद्धारेण कार्यान्वितस्वार्थे सङ्गतिग्रहः पुत्रं पश्येत्यादिकार्यवाक्येषु कृतस्तदनुरोधात्स्वप्रयोगसमयेऽपि सिद्धार्थप्रयोगो लाक्षणिक इति तत्राह—**नच प्रथमेति** ।

पुत्रस्ते गच्छति पुत्रस्ते सुखी पुत्रस्ते निरामय इत्यादिप्रयोगेष्ववापोद्धाराभ्यां पुत्रा-
दिपदानां स्वस्वार्थे व्युत्पत्तेरुपपत्तेः । प्रथमव्युत्पत्त्यनुसारेण च लक्षणाश्रयणे लोके भावा-
र्थकार्ये व्युत्पत्तेर्वेदे तदसंभवात् यजेतेत्यादिशब्दानामबोधकताप्रसङ्गः । कामाधिकारे च
प्रथमं कामसाधने नियोगे लिङादिपदानां व्युत्पत्तेः नित्यनैमित्तिकाधिकारे लाक्षणिको
लिङादिप्रयोगः स्यात् एवं नित्यनैमित्तिकयोः स्वतन्त्रकार्ये पदशक्त्यधिगतेरङ्गवाक्ये परा-
र्थकार्ये लिङादिपदप्रयोगो मुख्यो न स्यात् ।

अथावधीरितभावार्थकामसाधनस्वतन्त्रविशेषं कार्यमात्रं व्युत्पत्तिगोचरः सर्वत्र तस्या-
व्यभिचारात् लाघवाच्चेति मतं तर्हीहापि योग्येतरान्विते पदशक्तेरव्यभिचाराद्वाघवाच्चेति
समः समाधिः । एवंच सति कार्यान्वयान्वयिनि पदशक्तिरित्यपास्तम्, अन्वितमात्रस्य-
प्रयोजकत्वे संभवति कार्यान्वयान्वयिनीति कल्पनायां गौरवात् । नच कार्यपरपदार्था-
न्वितस्वार्थे शक्तिः । विकल्पासहत्वात् । तथाहि कार्यपरत्वं पदधर्मः किंवा पदार्थधर्मः ।
नाद्यः । सर्वपदानां लिङादिपदवत्कार्यपरत्वे पर्यायतापत्तेः । अथ पर्यायतापरिहाराय
मुख्यगौणसाक्षात्परम्परादिभेदेन कार्यपरतां विशिष्यान्, न तर्ह्येकप्रयोजकत्वलाभः,
मुख्यादिविशेषणानां सर्वपदेष्वेकरूपताभावान् । नहि सिहोदेवदत्त इत्यादौ सिहादिशब्दानां
मुख्यगौणयोस्तत्परत्वमेकरूपम्, तथा सति देवदत्तादेरपि केसरादिमत्त्वप्रसंगात् ।
नापि द्वितीयः । पदार्थानां कार्याबोधकत्वेन तत्परत्वाभावात् । अथ कार्यशेषत्वं कार्य-

इत्यादिप्रयोगेष्विति । सिद्धार्थप्रयोगेष्वित्यर्थः । किंच प्रथमं योग्येतरविशेषकार्यान्विते व्युत्पन्नस्यान्यत्र
योग्येतरमात्रान्विते प्रयोगो लाक्षणिक इति यदि ब्रूषे तर्हि लोके धात्वर्थात्मककार्ये व्युत्पन्नस्य वेदे तस्य
लाक्षणिकतया कार्यतानङ्गीकारात् लिङादेर्लाक्षणिकत्वं प्रसज्येत तथा काम्यनियोगे फलदातृनियोगे व्युत्प-
न्नस्य नित्येषु लाक्षणिकतापातः । तथा नित्यनैमित्तिकविधिषु स्वतन्त्रकार्ये गृहीतसङ्गतिकस्य तदङ्गप्रयाजादिषु
परतन्त्रकार्ये लाक्षणिकतापातः । यद्यप्यनुवादाशङ्कया न झटिति नियोगान्तरबोधकत्वमङ्गवाक्यगतलिङादे-
रिति प्राभाकरराद्धान्तस्तथाप्यङ्गनियोगाभिधायित्वमिष्यत एवारादुपकारकाङ्गवाक्येषु इतरथा तदुपकारास-
भवात् अनन्यविषयत्वाच्च सन्निपत्त्योपकारकेषु तदुभयाभावादनुवादकत्वमेवेति तदेतद्वाह—प्रथमव्युत्प-
त्तीत्यादिना । अबोधकतेति । अपूर्वस्य वाच्यभावार्थसंबन्धादष्टैर्लक्ष्यत्वस्याप्यभावादित्यर्थः ।

अथ तेषां सुङ्गहायानुगतरूपे व्युत्पत्तिरिति ब्रूषे तर्हि सर्वसङ्गहार्थं योग्येतरान्विते व्युत्पत्तिरित्येव स्वीकुरु
सर्वानुगतप्रयोजकलाभात् लाघवाच्चेत्याह—अथावधीरितेति । अवधीरितः भावार्थरूपकाम-
साधनादिविशेषो येन तत्तथोक्तम् । एवं सतीत्यस्यैव विवरणमन्वितमात्रस्येति । द्वितीयं प्रयोजकं दूषयति
—नचेति । किं कार्यपर यत्पदं तदर्थेनान्वित इति विवक्षितमुत कार्यपरो य पदार्थस्तदन्वित इति विव-
क्षितमिति विकल्प्य आद्यं दूषयति—सर्वपदानामिति । ननु कार्यपरत्वेपि न कार्यपर्यायता कार्यपदं मु-
ख्यवृत्त्या तत्परमितरत् गौण्या, अथवा कार्यपदमव्यवधानेन तत्परमितरद्व्यवधानेनेत्यवान्तरविशेषादित्याशङ्क्य
परिहरति—न तर्हीति । नहि मुख्यवृत्त्या तत्परत्वमेव जघन्यवृत्त्यातत्परत्वमेवमितरदपीत्यर्थः । तदेव
निदर्शयति—नहीति । किमिति तथा न स्यादित्यत आह—तथासतीति । मुख्यवृत्त्या तत्परत्वं हि
केसरादिमत्त्वमादाय तदेव चेत्तत्परत्वं गौणेपि स्यात् स्यादेव केसरादिमत्त्वमपीत्यर्थः । द्वितीये किं पदार्थानां
कार्यपरत्वं कार्यबोधकतया, उत साधकतया । नाद्यः । पदार्थानां बोधकत्वाभावात् । बोधकत्वे वा धूसादिवत्

परत्वं पदार्थानां तर्हि कार्यशेषत्वं कार्यपदार्थस्य नास्तीति तदन्विताभिधायिकारकपदानां कार्यपरपदार्थान्विताभिधायित्वं न स्यादिति न किञ्चिदैतत् । यत्पुनरनुमानं कार्यपराणि पदानि पदत्वात्कार्यपदवदिति तदपि न पिबेन्न हन्यादित्यादिनिषेधवाक्यस्थपदैरनैकान्तम्, नहि तत्र प्राप्तक्रियानिवृत्त्यौदासीन्यव्यतिरेकेण किञ्चिदनुष्ठेयमवबोध्यते हननप्रागभावस्यानादित्वेनाननुष्ठेयत्वात् ।

न हन्यामिति संकल्पस्य विधारकप्रयत्नस्य वा विधानाभ्युपगमे तस्याप्रतीयमानतया-लक्षणाप्रसङ्गात् । प्राप्तक्रियायाश्चेष्टसाधनत्वाभावबोधादेव निवृत्तेर्वाक्यस्य चरितार्थत्वोपपत्तेश्च ।

नच 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'त्यादिवचसां प्रतिपत्तिशेषत्वं, विकल्पासहत्वात् । तथाहि किं शाब्दी प्रतिपत्तिर्विधेया उत भावनात्मिका अथ साक्षात्कारलक्षणा । नाद्यः । तस्याः स्वर्गकामो यजेतेत्यादिशब्दादिवद्विदितपदपदार्थसंगतेः स्वयमेवोत्पत्तेः । न द्वितीयः । ज्ञानप्रकर्षहेतुत्वस्यान्वयव्यतिरेकसिद्धत्वेन भावनाया अविधेयत्वात् । न तृतीयः ।

लिङ्गतयाऽनुमेयत्वप्रसङ्गादित्यभिप्रेत्याह—**पदार्थानामिति** । द्वितीयं शङ्कते—**अथेति** । दूषयति । **तर्हीति** । अयमर्थः । न कार्यस्य कार्यशेषत्वं भेदाभावादतस्तदन्वितार्थाभिधायिना गवादिपदानां नोक्तरूपवत्तेति । निषेधवाक्येषु साध्याभावं दर्शयन्ननैकान्तिकता स्फोरयति—**नहि तत्रेति** । प्राप्ता या हननक्रिया तन्निषेधाद-निष्ठसाधनतावबोधाद्यत्पुरुषस्यौदासीन्यं तद्व्यतिरेकेणेत्यर्थः । एतदुक्तं भवति । सर्वत्र भावार्थनिष्ठो विधिर्दध्यादावपि भावार्थनिष्ठस्यैव सतो विधेरन्यतः प्राप्तत्वात्तस्याप्राप्ते शक्तिमात्रमुपसकामति यदाभेयोऽष्टाकपालो भवति इत्यादावपि द्रव्यदेवतासबन्धानुमितयागविषयत्वमेव तदिहाभावो न भावार्थं ततस्तद्व्यावृत्तौ तद्व्याप्त-विधिरपि व्यावर्तत इति तदिदमाह—**अनुष्ठेयमिति** । किञ्च प्रागभावोद्यत्र नचाभिधेयं प्रध्वंसे वैयर्थ्यं क्षणिकत्वात्क्रियाया स्वत एव निवृत्ते सचानादिरननुष्ठेय इत्याह—**हननेति** ।

ननु यथा'नेक्षेतोद्यन्तमादित्य'मित्यत्र नेक्षिष्य इति सङ्कल्पविधिपरत्वं व्यवसितं "तदुत्सर्गे कर्मणीत्यधिकरणे" तद्वदिह पर्युदासवृत्त्या हननविरोध्यहननसकलो विधीयताम्, अथवा हननोद्यतदेहेन्द्रियादेर्विधारकसामग्री-घटकं कंचनप्रयत्नमन्तरेण नाकस्मादौदासीन्यं भवितुमर्हतीति स एवात्र विधीयतामिति, तत्राह—**नेति** । न तावदत्र सकल्प श्रौत, किमिति न श्रौत यावता तदन्यतद्विरोधितदभावा यथायथं नञोर्थाः स्मर्यन्ते तद्वि-रोधी च सकल्प इति चेन्न । अभावस्यैव मुख्यार्थत्वात् इतरयोस्तु तदनुष्ठेयादेव लक्षणादिवृत्त्यन्तरेण प्रयोगो-पपत्तेः । इतरथाऽनेकत्र शक्तिकल्पनाप्रसङ्गात् । एवं प्रयत्नोपि न श्रौत श्रौतसंभवे च लक्षणा न युक्ता । एतेन नच प्रकृत्यर्थसंबन्धेनाहननं कुर्यादिति कल्पनमपि प्रत्युक्तम्, नेक्षेतेत्यत्र तु तस्य व्रतस्मिन्नुपक्रमदनुष्ठे-यार्थविधिपरतावगमात् लक्षणयापि पर्युदासवृत्तिराश्रितेति वैषम्यादित्यर्थः । तत्किमिदानीमकस्मादेव हननो-न्मुखानां देहेन्द्रियाणां तत उपरम इति, नेत्याह—**प्राप्तेति** । अयं भावः । इष्टसाधनत्वज्ञानात्प्रवृत्तिरनिष्ठ-साधनत्वज्ञानाच्च निवृत्तिरित्यनन्तरमेव समर्थयिष्यते तदिह यद्वन्यादिति प्रकृतिप्रत्ययाभ्यां रागतं प्राप्तहनने इष्टसाधनतामनूय तत्रेति निषिध्यतेऽनर्थसाधनता च बोध्यते, तत्रापि प्रत्यक्षविरोधात् सहसेष्टसाधनताभा-वं बोधयितुमशक्नुवानः । प्रतिषेधस्तदधिगमाय तामनर्थसाधनतामेवावेदयति, ततश्च विरलरागस्यानिष्टसाध-नताज्ञानादौदासीन्यमिति निर्वृत्तं निषेधवाक्यमतो न विधिनात्र किञ्चित्कृत्यमिति ।

यत्तु विज्ञानादिपदेष्वेव विधिनिष्ठतोपपादनेन व्यभिचारवारणं तदूषयति—**नचेति** । नच वचनीयं स्वर्ग-कामादिवाक्येष्वप्यध्ययनविधित एव बोधनमिति यतोऽत्रापि स एव शक्नोतीति पृथग्विध्यपेक्षानवकाशा-दित्यध्ययनविधेरक्षरग्रहणमात्रविश्रान्तत्वाच्च । **अन्वयव्यतिरेकेति** । गान्धर्वशास्त्रादौ षड्जादिस्वरग्राममू-

साक्षात्कारस्य ब्रह्मरूपत्वेन नित्यत्वेनाविधेयत्वात् । अन्तःकरणपरिणतिरूपत्वे चानन्द-
साक्षात्कारतया फलत्वेन विधेयत्वानुपपत्तेः । द्रष्टव्य इत्यादिपदानां चार्हार्थतयाप्युपपत्तेः ।

अथापि सिद्धार्थव्युत्पत्तौ किं मानमिति चेदुच्यते । 'विवादाध्यासितः सिद्धः शब्द-
व्युत्पत्तिगोचरः । मेयत्वाभ्यायगम्यत्वात्तवाभिमतकार्यवत् ॥ १६ ॥' नच कार्यत्वमुपाधिः
व्यतिरेकासिद्धेः यत्कार्यं न भवति नासौ शब्दव्युत्पत्तिगोचरो यथा संप्रतिपन्नमिति
व्यतिरेकव्याप्तेः परं प्रति दर्शयितुमशक्यत्वात् । नन्वाकृतेरेव शब्दार्थत्वाच्चक्रेस्तद्भावात्त-
त्रानैकान्तिकमिति चेन्मैवम् । आकृतेः शब्दार्थत्वेपि तस्या एव शब्दार्थत्वमिति नियमा-
नङ्गीकारात्, व्यक्त्याकृतिजातयः पदार्थ इत्यक्षचरणपक्षपातिभिरङ्गीकारात्, आकाशा-
दिपदानां च व्यक्तिवचनताया मीमांसकैरप्यभ्युपगमात्, व्यक्तिशब्दस्यच व्यक्तिवाचक-
त्वात् । ननु तत्रापि व्यक्तित्वोपाधेरेव वाच्यत्वं न व्यक्तेस्तस्या लक्ष्यत्वादिति न्नेन्मैवम् ।
क्वचिच्छब्दान्तरवाच्यस्यैव शब्दान्तरलक्ष्यत्वाभ्युपगमात् । व्यक्तिः शब्दवाच्या न भव-
तीति स्ववचनव्याघाताच्च । तस्मात्सिद्धं सिद्धे ब्रह्मणि वेदान्तानां प्रामाण्यमिति ।

छेनासाक्षात्कार इत्यर्थः । तृतीयेपि साक्षात्कार किं ब्रह्मस्वभावभूत किवान्तःकरणपरिणामरूपः । नाद्य
इत्याह—साक्षात्कारस्येति । द्वितीयं दूषयति—अन्तःकरणेति । नहि फलं विधेयं यथाहु —'तस्य
लिप्सार्थलक्षणे'तीति भावः । तत्किं प्रमत्तप्रणीतमिदं द्रष्टव्यमित्यादिवाक्यमित्यत आह—द्रष्टव्य इत्यादिप-
दानामिति । 'अहं कृत्यतृचक्षे'ति कृत्यप्रत्ययानामर्हार्थेपि विधानात्कृत्या प्राङ् 'ण्वुल' इति तव्यादीनां कृत्य-
संज्ञत्वाच्चैत्यर्थः । एवं च सति सिद्धेर्धे व्युत्पत्त्यसंभवेन वेदान्तानामपि आत्मा ज्ञातव्य इति विधिनैकवाक्य-
तया कार्यपरत्वं शालिकनाथोक्तं थूकृतम् । यच्च तेन परमानन्दादित्वस्यानुभवपराहृतत्वात् अभिभवक-
ल्पनायाश्चायुक्तेर्निर्विकारत्वस्य च विज्ञानादिविकारवत्तया अयुक्तेर्नानन्दादिपरत्वमित्युक्तं तत्सर्वं चतुर्थपरिच्छेदे
एवाचार्येण तुच्छीकरिष्यते ।

ननु युक्तिरियं यदेतावदभिहितं प्रमाणमभिधीयतामिति शङ्कते—अथापीति । तत्र तावत्कार्यस्यापि
पदशक्तिगोचरतामङ्गीकृत्यानुमानमाह—विवादेति श्लोकेन । कार्यान्विते सिद्धसाधनताव्यवच्छेदाय विवा-
दाध्यासितग्रहणम् । कार्यान्वयरहित इत्यर्थः । व्यतिरेकसिद्धिमेव विवृणोति—यत्कार्यमिति । ततश्च
पक्षेतरत्वमिति भावः । केचित्त्वदमेवानुमानमुद्भाव्य दूषयाबभूवुः । तदसत् कार्यान्वयोपाधिहृतत्वात् गवा-
दिव्यक्त्या नैकान्त्याच्च आकृति शब्दार्थ इति हि स्थिता शब्दार्थविदः इत्यादिना, तत्रोपाधि परिहृत
अनैकान्त्यं परिहर्तुमुद्भावयति—नन्वाकृतेरिति । किं नैयायिकादिसाधारणमिदं नैकान्तिकत्वं किंवा
मीमांसकं प्रत्येव । नाद्य इत्याह—आकृतेरिति । आकृतिराकारः साम्नादिमत्त्वं सूत्रे विवक्षितम् । द्विती-
येपि सकलशब्दानां जातिवाचकत्वं तेषामप्यसिद्धं जातिरहितेष्वपि भावादित्याह—आकाशादीति ।
ननु तथापि गवादिव्यक्तिष्वनैकान्तिकत्वस्य क परिहारस्तत्राह—व्यक्तिशब्दस्येति । व्यक्तिशब्देनापि न
व्यक्तिरभिधीयते किंतु सर्वव्यक्तिष्वनुस्यूतव्यक्तित्वोपाधिरेवेति शङ्कित्वा परिहरति—मैवं क्वचिदिति ।
अस्ति मीमांसकानामभ्युपगमः शब्दान्तरवाच्यमेव शब्दान्तरलक्ष्यमिति । तथाच व्यक्तेरपि यत्किंचिच्छब्द-
वाच्यत्वं मंतव्यमितरथा लक्षणानुपपत्तेरित्यर्थः । नन्विमं नियममनभ्युपगच्छन्न किमुत्तरं देयमिति तत्राह
—व्यक्तिरिति । व्यक्ति शब्दवाच्या न भवतीत्यत्र यस्या व्यक्ते शब्दवाच्यत्वं निषिध्यते सा तावद्य-
क्तिशब्देनाभिधेया इतरथा कस्यायं निषेधः स्यात्ततश्च परस्पर व्याघात इत्यर्थः । नच तत्रापि व्यक्तिशब्द-
लक्षितस्य शब्दवाच्यत्वनिषेध इति वाच्यम् । यतः किं नाम तल्लक्षितमिति पर्यनुयोगे लक्षणापरंपराश्रयणम-
न्तरेण निरुत्तरतापातादिति ।

अङ्गीकृत्यैतद्वोचाम । कार्येप्रामाण्यमेव शब्दस्यानुपपन्नं तत्र सङ्गतिग्रहणायोगात् । ननु कथं तत्र सङ्गतिग्रहणायोगः प्रवृत्तिदर्शनात् । प्रवर्तकज्ञानमनुमाय तस्य च प्रवर्तकज्ञानत्वादेवास्तीयप्रवर्तकज्ञानवत्कार्यविषयकतामध्यवस्यानन्तरं शब्दान्वयव्यतिरेकानुविधायितया तस्य शब्दजन्यत्वावगमेन तत्रैव शब्दशक्तेर्ग्रहणात् । नच स्वासनि प्रवर्तकबोधस्येष्टसाधनविषयत्वात्परप्रवृत्तावपि तदेव प्रवर्तकतयानुमीयते न कार्यमिति वाच्यम् । अतीतानागतविषयेष्विष्टसाधनज्ञानेषु प्रवर्तकत्वव्यभिचारात् । अथ कृतिसाध्येष्टसाधनत्वज्ञानं प्रवर्तकं तर्हि कार्यमेव नामान्तरेण प्रवर्तकं त्वयाप्यङ्गीकृतं तस्यैव कृतिसाध्यत्वात् ‘कृतिसाध्यं प्रधानं यत्तत्कार्यमभिधीयते’ इत्यभिधानात् । तथापि कृतिसाध्येष्टसाधनज्ञानमेव प्रवर्तकं न केवलं कार्यज्ञानमिति चेन्मैवम् । इष्टसाधनतावबोधस्य कार्यावबोधं प्रति हेतुतयाऽन्यथासिद्धेः । उक्तं हि—‘किन्तु स्वयं क्लेशरूपं कर्म यत्कार्यतां व्रजेत् । फलसाधनता तत्र कारणं तेन कार्यता ॥’ इति ।

ननु चिकीर्षैवैषा ममेदं कार्यमिति । ननु तदतिरिक्तं कार्यं नामात्र किञ्चित्प्रतीयत

यत्तद्वोचाम कार्यस्य शक्तिगोचरत्वमङ्गीकृत्येति तदुद्धाटयति—अङ्गीकृत्यैतदिति । तत्र कार्ये सङ्गतिग्रहणपरिपाटी दर्शयति पूर्ववादी—नन्विति । प्रवृत्तिदर्शनादिति । स्वतन्त्रस्य प्रवृत्तिदर्शनादिति यावत् । इतरथा बलवदनिलसलिलौघेन नुद्यमानप्रकृतावनैकान्तिकता स्यादिति । नन्विष्टसाधनत्वज्ञानादेवात्मनि प्रवृत्तिर्दृष्टा न कार्यज्ञानादतस्तदेव परत्राप्यनुमीयतेऽतो विरुद्धो हेतु साध्यविकलश्च दृष्टान्त इतीमा शङ्कां निषेधति—नचेति । तदेवेति । ज्ञायमानतया विवक्षितं तेन न पूर्वापरव्याघातः । तत्र किमिष्टसाधनताज्ञानं प्रवर्तकं किवा कृतियोग्यताविशेषणविशिष्टतज्ज्ञानम् । आद्ये प्राह—अतीतानागतेति । द्वितीयं शङ्कते—अथेति । कृति पुरुषप्रयत्नस्तेन साध्यं यदिष्टसाधनं तज्ज्ञानमिति योजना । तर्ह्यविप्रतिपत्तिं कार्यस्य चैवं रूपत्वादित्याह—तर्हीति । यद्यपि भावार्थस्य कृतिसाध्यत्वमस्ति तथापि कार्योपाधित्वान्न प्राधान्येन तदस्तीति भावः । एतदेव शालिकनाथवचनेन द्रढयति—कृतिसाध्यमिति । कृतिसाध्यं कार्यमित्युक्ते भावार्थेऽतिप्रसक्तिसदर्थं प्रधानमित्युक्तं, प्राधान्यं चेदं कृत्युद्देश्यत्वम्, तावत्तु चोक्ते फलेपि स्यात्तदर्थं कृतिसाध्यमित्युक्तं, तत्र कृतिसाध्यत्वं कृत्यन्वयव्यतिरेकरूपानुमानगम्यं, कृतिप्राधान्यं च मानसप्रत्यक्षमिति, प्रत्यक्षानुमानगम्यं बालेन स्वात्मनि कार्यं यथौदन पाकश्चेत्यर्थः । भवतु कार्यस्याप्येवंविधत्वं तथापि न कार्यताज्ञानात्प्रवृत्तिरिति शङ्कते—तथापीति । नेष्टसाधनताज्ञानं प्रवृत्तेर्हेतुरपितु कार्यताज्ञानमेव तज्ज्ञानाच्च प्रवृत्तिरित्याह—मैवमिति । अत्रापि वाक्यार्थमातृकागतं तद्वचनमेव प्रमाणमित्याह—उक्तंहीति । अयमर्थः । हितसाधनताकार्यतयो पूर्व भेद उक्तः । अनन्तरं हितसाधनेष्वेव किमिति कार्यतामतिर्नान्यत्रेति शङ्कां परिहरन्त आहुः शालिकनाथा—किंत्विति । सत्यमस्त्वयं नियम किंत्वयं तत्र विशेषः । यत्कर्म कार्यतां व्रजेत् तत्स्वयं क्लेशरूपमेव कथं तर्हि तस्य कार्यत्वं नहि दुःखाकारस्य कार्यत्वमुपपद्यते यथाहुः—‘अकर्तव्यो दुःखफलः’ इत्यत आह—फलसाधनता तत्रेति । तस्यैव विवरणं—तेन कार्यतेति । अथवा फलसाधनता तत्र कथं कारणं यावता प्रवृत्तिं प्रत्येव कारणं तदिति केचित्प्राह—तेनेति । तेन कार्यतास्य भवति ननु प्रवृत्तिरिति । अतएव तैरुक्तमिति ज्ञापककोटिनिविष्टा फलसाधनता कार्यतामनुद्ध्यते । नत्वसौ तदात्मैवेति ।

ननु कार्यसिद्धिरेव कुतः प्रमाणात् । न तावन्ममेदं कार्यमिति बुद्धिः प्रमाणं तस्याश्चिकीर्षामात्रतयार्थासाधकत्वादिति शङ्कते—नन्विति । कोस्याभिसन्धिः किं कार्यमेव नास्तीति उत तत्रेयं प्रमाणं न भवतीति ।

इतिचेन्नैवम् । अन्तरेणापि कार्यधियं समीहितसाधनतामात्रावबोधात्सुधामरीचिमण्ड-
लोदयादौ चिकीर्षाया अप्यनुपपत्तेः ।

न चास्याः कार्यधियः कृतियोग्यतामात्रमालम्बनं कृतियोग्ययोरपि दुःखतत्साधनयो-
स्तददर्शनात् । नापि समीहितसाधनं अतीतवर्तमानयोः समीहितसाधनयोस्तदभावात् ।
नापि फलमेव । तत्साधनेपि दर्शनात् । नापि फलतत्साधनयोरनुस्यूतमभिलाषगोचरता-
मात्रमस्या आलम्बनं अभिलाषमात्रगोचरेपि सुधामरीचिमण्डलादौ तदभावस्य दर्शित-
त्वात् । तस्मादेभ्योतिरिक्त एव कश्चिदाकारः कार्यधीगम्यः स एव चाकारः कृतिसाध्यः
कृत्युद्देश्यः कार्यमित्युच्यते । स एव प्रवर्तकतया स्वात्मन्यधिगतत्वाच्छब्दशक्तेर्गोचरः ।
तथापि कथमलौकिकनियोगे वैदिकलिङ्गादिशब्दानां व्युत्पत्तिरितिचेत् उच्यते । यद्यपि
लोकव्युत्पत्त्यनुसारेण क्रियायाः कार्यत्वं प्राप्तं तथापि वेदे स्वर्गकामो यजेतेति नियोज्या-
भिधायिना स्वर्गकामपदेन समभिव्याहारान्नियोज्यः सच कार्यं यः स्वकीयत्वेनावबुध्यते
इतिन्यायात् । तस्य च कमिसंबन्धात्साध्यस्वर्गविशिष्टस्य क्षणप्रध्वंसिन्यां क्रियायां काला-
न्तर्भावस्वर्गसाधनयोग्यतावैधुर्येण कार्यताबुद्ध्यनुत्पत्तेः क्रियातोतिरिक्तं कालान्तर्भा-

नाद्य । तदनङ्गीकारे चिकीर्षाया एवानुत्पत्तिप्रसङ्गात् । नचेष्टसाधनतामात्रावबोधात्तदुपपत्ति । सुरतारम्भ-
परिश्रान्तसुन्दरीसमीहितसाधनेपि सुधामरीचिमण्डलोदये मलयमारुततरङ्गसङ्गमे वा असाध्यस्वभावे चिकीर्षा-
भावादित्याह—**मैवमन्तरेणेति** । द्वितीये त्वनन्यगतिकत्वाद्देष्टव्यं भविष्यति प्रमाणमिति भावः ।

भवत्वियमिच्छातिरेकिणी तथापि कृतियोग्यतामेवालम्बते न तदतिरिक्तं किञ्चित्कार्यमस्ति तत्राह—
नचास्या इति । साधयितुं योग्यत्वमस्ति दुःखादेरपि, नकार्यबुद्धिविषयत्वमिति तदतिरिक्तमेवास्या विषय
इत्याह—**कृतियोग्ययोरिति** । अस्तु तर्हीष्टसाधनत्वमेवास्या विषय इति तत्राह—**नापीति** । तत्र हेतुः
अतीतेति । ननु यद्यपि साधनेपि दर्शनात्फलमात्रमस्य आलम्बनं न भवति नाप्युभयमेकैकव्यभिचारात्
तथाप्युभयानुगतमिच्छागोचरत्वमात्रमस्य आलम्बनमित्याशङ्क्य पूर्वोक्तव्यभिचारमेवाह—**अभिलाषेति** । परि-
शेषादतिरिक्तमेव आलम्बनमित्युपसहरति—**तस्मादिति** । ननु भवत्वतिरिक्तं तथापि कथं कार्यत्वमिति
तत्राह—**स एवेति** । तथापि कथमस्य शब्दार्थत्वमिति तत्राह—**स एवेति** । **स्वात्मनीति** । बाल-
स्येति शेषः । कार्यमात्रस्य शब्दार्थत्वेपि नियोगस्य शब्दार्थत्वमयुक्तम्, अलौकिकत्वेन तत्रागृहीतसंगतिक-
त्वादिति शङ्कते—**तथापीति** । अलौकिकत्वेपि विमर्शात्मकतर्कतः सभाविते सङ्गतिग्रहमुपपादयति—
यद्यपीत्यादिना । क्रियाया इति । भावार्थस्येत्यर्थः । स्वर्गकामो यजेतेत्येतन्नियोज्यसमर्पणपरं ननु
फलपरमिति हि गुरुमतं तथाच षष्ठाद्ये राङ्गान्तितमतस्तत्समर्पकपदेन समभिव्याहारात् सहपाठात् क्रियाति-
रिक्तं नियोगमवगमयन्ति लिङादय इत्युत्तरेणसम्बन्धः । ननु कर्त्रपक्षत्वात्कार्यस्य तत्समर्पकत्वमेव स्वर्गका-
मादिपदस्येत्यत आह—**नियोज्यः स चेति** । यः कार्यं स्वकीयत्वेन बुध्यते स नियोज्य इति न्यायान्नि-
योगसंबन्धबोद्धा नियोज्येन भवितव्यमितरथाकर्तृत्वानुपपत्तेरित्यर्थः । तथापि भावार्थसंबन्धबोद्धेव नियोज्यो
भवतु कुतो नियोगसिद्धिरिति तत्राह—**तस्येति** । स्वर्गकाम इति काम्यस्वर्गविशिष्टत्वात् सिद्धेच कामाभावात्
साध्यस्वर्गविशिष्टः प्रतीयते नियोज्यः, एवंविधस्य च भावार्थक्रियाया ममेदं कार्यमिति कार्यताबुद्ध्यनुपपत्तेस्तत्र
हेतुः क्षणध्वंसिन्यामिति, मर्दनादिव्यावृत्त्यर्थं कालान्तरभावीत्युक्तम् । तदुक्तं 'लिङादिस्तत्र कार्यं चेत्क्रियामे-
वावबोधयेत् । समन्वयो नियोज्येन तदानीमेव हीयत' इति । ननु कथमस्य नियोगत्वं आज्ञाहि नियोगः

विफलसाधनं नियोगमेव नियोज्यं प्रति लिङादयः कार्यमवगमयन्ति । तच्च स्वात्मनि पुरुषं नियुञ्जानं नियोग इति, मानान्तरापूर्वतया अपूर्वमिति च व्यपदिश्यते । नच फलजनकतया फलं प्रति शेषत्वात् अपूर्वस्य प्राधान्यप्रच्युतिः स्वसिद्ध्यनुकूलनियोज्यलाभायैव फलशेषतावलम्बनात् । स्वशेषभूतगर्भदासोपकाराय संविदधानस्य स्वामिन इव प्राधान्यानुपरोधात् । तदुक्तं—‘स्वात्मसिद्ध्यनुकूलस्य नियोज्यस्य प्रसिद्धये । कुर्वत्स्वर्गादिकमपि प्रधानं कार्यमेव न’ इति । तदेवमलौकिकत्वेऽपि नियोगस्य यूपहवनीयादिवत्पदान्तरसमभिव्याहारालिङ्गादीनां तत्र संबन्धग्रहणोपपत्तेरुपपन्नम् तत्रान्नायस्य प्रामाण्यम् । प्रयोगश्च विवादाध्यासिता लिङादयः एतत्क्रियातिरिक्तकार्याभिधायिनः कार्याभिधायित्वाद्गामानयेत्यादिपदवदिति । विपक्षे यागातिरिक्तकार्यानभ्युपगमात् यागस्य च स्वर्गसाधनत्वानुपपत्तेः स्वर्गकामो यजेतेत्यादिवाक्यानामप्रामाण्यप्रसङ्गो बाधक इति ।

अत्रोच्यते भवेदिष्टमनोरथो यदि स्वात्मन्यपि कार्यबोधस्य प्रवर्तकत्वमध्यवसीयेत समीहितसाधनताया एव तु स्वात्मनि प्रवर्तकत्वाध्यवसायात् । नच भूतादौ व्यभि-

नचापौरुषेये वेदे सा सभवति अतएव च नापूर्वत्वमिति तत्राह—तच्च स्वात्मनीति । अथवा अपूर्वस्य शब्दार्थत्वे नियोगस्य वाक्यार्थता कथमिति तत्राह—तच्च स्वात्मनीति । पुरुषाभिप्रायरूपप्रेषाद्यभावेऽपि परस्परव्यभिचारिषु तेष्वनुगतप्रवर्तकत्वरूपो नियोग शब्दार्थं सचात्रापि सभाव्य इत्यर्थः । स्यादेतत् स्वर्गसाधनत्वयोग्यताबलेन खल्वलौकिकनियोगाङ्गीकार तथा च वरधाताय कन्योद्वहनं, यत ‘कृतिसाध्यं प्रधानं यत्तत्कार्यमभिधीयत’ इति कार्यलक्षणमायुष्मन्मते तत्र स्वर्गं प्रतिसाधनतया तच्छेषस्य न प्राधान्यमिति तत्राह—नच फलेति । यदि परसिद्ध्यर्थमयं व्याघ्रियेत तदा स्यात्प्राधान्यविधात नतु तदस्ति, नहि स्वर्गोऽस्य स्यादिति नियोगव्यापारोऽपि तु कथंकार मामयं साधयेदिति तदर्थमेव खल्वयमस्मै स्वर्गं ददाति गर्भदासोपकर्तृव स्वामी, तथाच कुत प्राधान्यप्रच्युतिरित्याह—स्वसिद्धीति । संविदधानस्य सविधानं योगक्षेमं कुर्वत इत्यर्थः । स्वात्मसिद्धीति । अनुष्ठानं विना नियोगसिद्धे कर्त्रा विना च तस्यासिद्धे अधिकारिणं विना कर्तुरभावान्नियोज्यं विना ब्र तदभावात् अकामानुगुणे च कामिनियोगत्वायोगात् तदिदमानुकूल्यम् । अपिर्भिन्नक्रम स्वर्गादिकं कुर्वदपि प्रधानमिति प्रतिपादिततर्कोपसहारपूर्वकमुपपादितं नियोगशब्दार्थं प्रतिबन्दीग्रहणपूर्वकमुपसहरति—तदेवमिति । यूपदीति । यथा खलु यूपहवनीयादौ ‘यूपं तक्षति, यूपमष्टास्त्रीकरोति, यूपमनक्ति, अर्द्धोदिते सूर्ये आहवनीयमादधाती’त्यादिवाक्यपर्यालोचनया सस्कृतौ कौचन दार्ढ्यविशेषौ ‘यूपे पशुं निबध्नाति आहवनीये जुहोती’त्यत्र यूपहवनीयशब्दार्थाविति निर्णयते । आदिशब्देन यववराहादिग्राह्यम् । विवादेति । कार्याभिधायिन इत्युक्ते भावार्थाभिधानेन सिद्धसाधनता तन्निवृत्त्यर्थं क्रियातिरिक्तैत्युक्तम्, तथाचाप्रसिद्धविशेषणता तन्निवृत्त्यर्थमेतत्पदम् । क्रियान्तराभिधायिपदेषु च सुप्रसिद्धं साध्यपक्षे चैतदभिधेयक्रियातिरिक्तकार्यत्वमेतदनभिधेयत्वे सति क्रियात्वाद्वा एतदभिधेयत्वे सति क्रियात्वानधिकरणत्वाद्वा आद्यमभिधायकत्वसाधनव्याहतम् द्वितीयं सिध्यत् क्रियात्वानधिकरणकार्यनियोगमादाय सिध्यतीति नियोगसिद्धिः ।

तदेतत्कार्ये व्युत्पत्तिसमर्थनं दूषयितुमुपक्रमते—उच्यत इति । समीहितसाधनताया इति । तद्वोधपरं विषयेण विषयिलक्षणात् । ततश्च तस्यैव परत्राप्यनुमानेन तत्रैव शब्दशक्ति नतु कार्ये इत्यभि-

चारः यतः—‘कार्यस्यावगतेर्हेतुर्यादृशं हितसाधनम् ।’ प्रवृत्तेस्तादृशं हेतुर्व्यभिचारस्ततः कुतः ॥ १७ ॥ येनापि हि कार्यावबोधस्यैव प्रवर्तकत्वमभ्युपेयतेऽभ्युपेयते एव तेनापीष्टसाधनतावबोधस्य कार्यावबोधं प्रति हेतुता तदभावे कार्यबोधानुपपत्तेः । तत्रापीष्टसाधनतामात्रस्य भूतादौ व्यभिचारात् कृतियोग्येष्टसाधनताज्ञानमेव कार्यताज्ञानहेतुरित्यभ्युपेयं तथाच तादृगिष्टसाधनताबोधस्यैव प्रवृत्तिहेतुत्वोपपत्तौ किमन्तर्गडुना कार्यावबोधेन । नचेद्विष्टसाधनताज्ञानमेव कार्यताज्ञानम् । तस्य तज्ज्ञानं प्रति हेतुत्वाभ्युपगमात् नच ममेदं कार्यमिति चिकीर्षामपहाय कार्यज्ञानं नाम किञ्चिदुपलभामहे । नच चिकीर्षैव कार्यधियमन्तरेणानुत्पद्यमाना तां कल्पयतीति युक्तम् कृतियोग्येष्टसाधनतावबोधादेव चिकीर्षाया अप्युपपत्तेः ।

नच कृतिसाध्यं प्रधानमिति कार्यलक्षणं युक्तम् फलेऽतिव्याप्तेः । अथ साक्षात्कृतिसाध्यत्वं विवक्षितं न च तत्फलेऽस्तीति मतम् । मैवं । नियोगे तदभावेनाव्याप्तेः भावार्थस्यैव साक्षात्कृतिसाध्यत्वात् । अथ साध्यैकस्वभावत्वं, न प्रागभाववत्सु व्यभिचारात् । नच सदा साध्यैकस्वभावत्वं, यागाद्यनुष्ठानोत्तरकालमपि तस्य साध्यैकस्वभावत्वे कदाचिदपि नियोगासिद्धौ स्वर्गासिद्धिप्रसङ्गात् । अस्तुवा यत्किञ्चिद्विचारितरमणीयं लोके कार्यं तथापि कथं वैदिकलिङ्गादिशब्दादलौकिकनियोगस्य प्रतिपत्तिः मानान्तरानधिगते तस्मिंलिङ्गादेः सङ्गतिग्रहणायोगात् । अधिगमे वा‘तो मानान्तरापूर्वमपूर्व-

प्रायः । इष्टसाधनतावबोधस्य भूतादौ प्रवर्तकत्वव्यभिचार पूर्वोक्तमनूय लोकेन परिहरति—कार्यस्येति । यादृशमिष्टसाधनत्वं कृतियोग्यताविशिष्टं तव कार्यज्ञाने हेतुस्तादृशमेव प्रवृत्तिहेतुराश्रीयते मया ततः कुतो व्यभिचार इति योजना । श्लोकं विवृणोति—येनापीति । ननु कृतियोग्येष्टसाधनज्ञानमेव कार्यज्ञानं नत्वनयोर्धूमाग्निबोधवज्जन्यजनकता यदाह—‘यथा खल्वेकधीवेद्यत्वेऽयाकृतितो व्यक्तिधीरुक्ते’ति । तथाच तस्य प्रवर्तकत्वाश्रयणमस्मदनुकूलमेवेति तत्राह—नचेति । हेतुमाह—तस्येति । फलसाधनता तत्र कारणं तेन कार्यतेति स्वीकारात् हेतुहेतुमतोरैक्यमनुपपन्नमित्यर्थः । यत्तु ममेदं कार्यमिति बुद्धे परिशेषात्कार्यविषयत्वमुक्तं तदप्यसिद्धं तस्याश्चिकीर्षारूपत्वादित्याह—नच ममेदमिति । यत्त्विवष्टसाधनतामात्राच्चिकीर्षानुत्पत्तेस्तद्धेतु कार्यं स्वीकर्तव्यमिति तदपि विशिष्टेष्टसाधनस्वीकारात्परिहृतमित्याह—नचेत्यादिना ।

तदेवं कार्यभ्यामप्रवर्तकत्वं प्रमाणाभावं चोक्त्वा तल्लक्षणमुक्तं दूषयति—नच कृतीति । फलमपि हि कृतिसाध्यं कृत्युद्देश्यतया प्रधानं चातस्तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थः । नन्वव्यवधानेन कृतिसाध्यत्वं विवक्षितम् नच तत्फलेस्ति नियोगव्यवधानात्तस्येति शङ्कते—अथेति । तर्ह्यसिद्धिर्धात्वर्थस्यैव साक्षात्कृतिलक्षणप्रयत्नसाध्यत्वात् नियोगस्य तद्व्यवधानादिति दूषयति—मैवमिति । किमिदं साध्यैकस्वभावत्वं किं साधनानर्हत्वाधिकरणत्वं किवा सिद्धत्वानधिकरणत्वम् । आद्ये प्रागभाववत्सूतियोग्येष्वतिव्याप्तिरित्याह—प्रागभावेति । द्वितीयं दूषयति—नच सदेति । एवं लक्षणके नियोगे तत्सिद्ध्यर्थप्रवृत्तिरेवानुपपन्ना व्याघातात्फलासिद्धिः पूर्वोक्तयोग्यताविरहश्च, तथाच स्वात्मसिद्ध्यनुकूलस्येत्यादिशालिकया केवलं विलपितमेव स्यादित्यर्थः । एवं कार्यमात्रस्य लक्षणानि दूषयित्वा तद्विशेषं नियोगं दूषयति—अस्तुवेति । तादृशो नियोगः किं प्रमाणान्तरेण न गृहीत किवा गृहीतः । उभयथापि दूषणमाह—मानान्तरेत्यादिना । ननु नात्यन्तमलौकिकत्वमस्य यावता कार्यताकारेण लोकप्रसिद्धस्यैव सतो विशेषमात्रनिर्णयो वाक्यविशेषविमर्शा-

मिति गीयते' इति स्वकपोलकल्पितापूर्वत्वमङ्गप्रसङ्गः । नच कार्यमात्रेऽवसितसङ्गतिका लिङ्गादयः शब्दाः नियोज्याभिधायिस्वर्गकामादिपदसमभिव्याहारसामर्थ्यात्क्रियातिरिक्तमेव कार्यमवगमयन्ति । आशुतरविनाशिन्याः क्रियायाः कालान्तरभाविस्वर्गादिसाधनतानुपपत्तेरिति युक्तं वक्तुम् । अनुपपत्तिवेद्यत्वे मानान्तरगोचरत्वप्रसङ्गात् ।

ननु नेयमर्थापत्तिस्तर्क एवायमुपन्यस्तः तेन तर्काधिगते नियोगे सङ्गतिग्रहः सङ्गच्छते तर्कस्यामानत्वात् । प्रमाणानुग्राहकस्तर्को ननु प्रमाणमिति हि परीक्षका इति चेत् । मैवम् । तर्कगोचरत्वेपि प्रमाणान्तरगोचरत्वस्यापरिहार्यत्वात् । तथाहि प्रमाणान्तराधिगतव्याप्यव्यापकभावयोरैकाभ्युपगमेन द्वितीयस्य नियतप्रसञ्जनरूपस्तर्कः । यथा यद्ययं वह्निमान्नस्याद्भूमवानपि नस्यादिति । तथाच यद्ययं लिङ्गादिः क्रियातिरिक्तकार्याभिधायी न भवेत्तदा न स्वर्गकामपदेन समभिव्याह्रियेत समभिव्याह्रियते चायं तस्मात्क्रियातिरिक्तकार्याभिधायक इति प्रसङ्गरूपेपि तर्के द्वयोरापाद्यापादकभागयोस्तदभावयोश्च धूमवत्त्ववह्निमत्त्वयोस्तदभावयोरिव मानान्तरगोचरता कथं न स्यात् । नचापाद्यापादकभावोपि, क्रियातिरिक्तकार्यस्याप्रसिद्धत्वेन तदभावस्याप्रसिद्धत्वात् ।

अप्रमाणभूतश्च तर्कः स्मृत्यनुभवभेदेन ज्ञानद्वैराश्यवादिना स्मृतावन्तर्भवतीति वाच्यम् । नचात्राननुभूते नियोगे स्मृतिः संभवति संस्कारजन्यायाः स्मृतेस्तदभावेऽभावात् । ननु पूर्वानुभवजन्यसंस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिरिति न ब्रूमः किंतु सापेक्षं ज्ञानमस्ति चात्र प्रमाणानुग्राहकतया तर्कस्य तदपेक्षा ततो नोक्तदोष इति चेन्मैवम् ।

द्रवति । यथाहुः—'व्युत्पत्तिरपिकार्यैर्धै व्यवहारानुसारिणी । किंतु निर्धारणमात्रं वेदवाक्यविमर्शज'मिति । तदेतत्पूर्वपक्षवसरोक्तमनूद्य दूषयति—**नचेत्यादिना** । नच युक्तमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—**अनुपपत्तीति** । अर्थापत्तिं खल्वनुपपत्तिं । तथाच मानान्तरगम्यत्वादपूर्वत्वनिवारणमित्यर्थः ।

पूर्ववादिहृदयं शङ्कते—**नन्विति** । अपूर्वत्वं निर्वाहयति—**तर्कस्येति** । यद्यपि तर्कं स्वयं न प्रमाणं तथापि तद्विषयः प्रमाणविषय एव तथा चोक्तदोषानुपपन्न इत्याह—**मैवमिति** । तदेव दर्शयितुं तर्कस्वरूपमाह—**तथाहीति** । **एकाभ्युपगमेनेति** । व्याप्याहार्यारोपेणेत्यर्थः । अनेन चानुमानेऽतिव्याप्तिं परिहृता । नियतप्रसञ्जनं तर्क इत्युक्ते यद्यनित्यं स्यान्मूर्तं स्यादित्यादिप्रसङ्गाभासेतिव्याप्तिस्तदर्थं प्रमाणान्तरेत्याद्युक्तम् । नियतपदं तु व्यर्थमेव । उदाहरति—**यथेति** । प्रकृतस्थलेप्यापाद्यापादके विवेचयति—**तथाचेति** । अस्य च विपर्यये पर्यवसानं दर्शयति—**समभिव्याह्रियते चायमिति** । **कथं न स्यादिति** । इतरथा मूलशैथिल्यादिति भावः । अभ्युपगम्यापाद्यापादकभावं प्रमाणान्तरगोचरत्वप्रसक्तिरुक्ता स एव नास्ति अप्रसिद्धविशेषणत्वादित्याह—**नचेति** । अत्रहि क्रियातिरिक्तकार्यानभिधायकत्वमापादकं स्वर्गकामपदासमभिव्याहारश्चापाद्यस्तत्रातिरिक्तकार्यस्याप्रसिद्धत्वादेव तदनभिधानमप्रसिद्धमेवेत्यर्थः ।

एवं तर्कगोचरत्वेपि प्रमाणान्तरगम्यत्वमापादितमिदानीमप्रमाणरूपत्वमपि त्वन्मते तर्कस्य न शक्यसमर्थनं स्मृतिव्यतिरिक्ताप्रमाणज्ञानस्य भवतानङ्गीकारात् । स्मृतेश्चाननुभूतचरतयाऽनुपचितसंस्कारेऽनुपपत्तेरित्याह—**अप्रमाणभूतेत्यादिना** । ननु वयमेतल्लक्षणं न कक्षीकुर्म यत्संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिरिति येनाननुभूते संस्काराभावात्स्मृत्यनुपपत्तिः स्यात्किं तु सापेक्षं ज्ञानमिति शङ्कते—**नन्विति** । प्रकृततर्कं च लक्षणं वर्तयते—**अस्ति चात्रेति** । यदिदमस्य सापेक्षत्वं तत्क स्रोतपत्तौ, उत विषयावबोधे । आद्येपि यत्किञ्चि-

विकल्पासहत्वात् । तथाहि किमुत्पत्तौ सापेक्षत्वमुत विषयावबोधे । नाद्यः । प्रमाणज्ञानानामपीन्द्रियलिङ्गादिसापेक्षतया स्मृतित्वप्रसङ्गात् । न द्वितीयः । विषयावबोधेऽपि सापेक्षत्वे स्मृतेः प्रदीपवज्ज्ञानत्वाभावप्रसङ्गात् । अपसिद्धान्तापत्तिश्च । “प्रमाणमनुभूतिः सा स्मृतेरन्या स्मृतिः पुनः ॥ पूर्वविज्ञानसंस्कारमात्रजं ज्ञानमुच्यते” इति शालिकनाथवचनविरोधात् ।

नचार्थापत्तिगम्यत्वमपि, कृतेर्भावार्थजननद्वाराऽपूर्वसाधनत्ववत्क्रियाया एवापूर्वान्वान्तरव्यापारायाः स्वर्गसाधनत्वोपपत्तेः । अपिच ‘यो ब्राह्मणायावगुरेत्तं शतेन यातया’दित्यत्रावगुरणकर्मणः क्षणिकस्यापि दुरितापूर्वजननद्वारा कालान्तर्भावविशतयातनाफलसाधनत्ववत्क्षणिकाया अपि यागक्रियाया अपूर्वजननद्वारा स्वर्गसाधनता किं न स्यात् । नन्ववगुरणे दुरितापूर्वकल्पना कामाधिकारे क्रियातिरिक्तनियोगसिद्ध्युत्तरकालीना । तथाहि तत्राशुतरविनाशिन्याः क्रियायाः कालान्तरभाविफलसाधनत्वासामर्थ्यात्तदतिरिक्तापूर्वस्य फलसाधनत्वे स्थिते पश्चादवगुरणेऽपि कालान्तरभाविशतयातनाफलमपि दुरितापूर्वद्वारैवेति कल्प्यते, तथासति कथं नियोगासिद्धिः तत्सिद्ध्युत्तरकालीन-

दपेक्षा उत ज्ञानापेक्षा । आद्ये आह—**नाद्य इति** । एतेन द्वितीयोऽपि निरस्तः । लिङ्गज्ञानसापेक्षस्याप्यनुमानस्यास्मृतित्वात् । द्वितीयं निरस्यति—**विषयेति** । विषयावबोधे विषयव्यवहारजनने कारणेन कार्यलक्षणात् । तत्र सापेक्षत्वे प्रदीपवज्ज्ञानत्वं न स्यादित्यर्थः । **प्रमाणमनुभूतिरिति** प्रमाणसामान्यलक्षणम् । अनुभूतेर्लक्षणमाह—**सा स्मृतेरन्येति** । स्मृतिव्यतिरिक्तं ज्ञानमित्यर्थः । तेन च स्मृते प्रामाण्यं निवारितम् । स्मृतेरपि लक्षणमाह—**स्मृतिः पुनरित्यादिना** । अनुमानप्रत्यभिज्ञादिव्यावृत्त्यर्थं मात्रग्रहणमिति प्रकरणपञ्चिकाप्रमाणपारायणश्लोकार्थः ।

एवमनुपपत्तिमङ्गीकृत्यापूर्वत्वक्षतिरापादिता । इदानीमनुपपत्तिरेव नास्त्यन्यथैवोपपत्तेरित्येतत्प्रतिबन्दीपूर्वकमाह—**नचार्थापत्तीति** । यथाहि—यजेतेत्यत्र कृतिसाध्यनियोगाभिधायिना लिङा कृतिनियोगयोः प्रतीतेरुभयोश्चैकपदत्वेन साध्यसाधनभावप्रतीतौ भावार्थविषयकत्वेन तज्जनकत्वनियमात्कृतेर्नियोगस्य चाभावार्थत्वात् प्रकृत्यभिधेयभावार्थमुत्पाद्य तद्वारा नियोगसाधनता कृतेर्भवद्विरुद्धीक्रियते । तथा क्रियाया एव क्षणिकाया अप्यपूर्वान्वान्तरव्यापाराया फलसाधनत्वोपपत्तौ न स्वतन्त्रनियोगव्यतिरेकेण काचनानुपपत्तिरित्यर्थः । यत्पुनरत्र कैश्चिदुक्तमपूर्वकल्पनायामपि साधनसाधनतैव यागस्य नतु साक्षात्साधनता यागस्येति तत्कल्पनायामपि तदवस्थैवानुपपत्तिरिति । तन्न । व्यापारतयैव कल्पना तेन चाव्यवधानात् । यदि च तत्कल्पनामात्राद्यवधानं तर्ह्यवगुरणादावपि स्यादिति प्रतिबन्दी गृह्णाति—**अपिचेति** । य पुरुषो ब्राह्मणायावगुरेच्छस्त्रमुद्यमेत् उद्यतायुध तदेवावगुरणं शतेन यातयात् । इत्थंभावे तृतीया । यावत्परत्रानेन दुःखमुत्पाद्यते ततः शतगुण्यातनामनुभावयेत् । अथवा शतेन सवत्सरेण यातयात् । तावत् सवत्सरान् पितृलोकं न प्रजानातीति वाक्यशेषात् । अत्रहि कालान्तरभाविशतयातनादे न क्षणिकावगुरणादि साधनमिति किञ्चिदुरितापूर्व कल्पनीयमिति । नच तदपि श्रौतं, दुःखफलतया अकार्यत्वेनाशक्यार्थत्वात् । यत्त्ववगुरणे तादृशापूर्वकल्पनमेव काम्येषु वाक्येषु स्वतन्त्रनियोगं गमयति तमन्तरेण तदनुपपत्तेरिति नयविवेककारेणोक्तं तदुद्भावयति—**नन्विति** । तत्सिद्ध्युत्तरकालतामेव दर्शयति—**तथाहीत्यादिना** । अदृष्टचरस्य कल्पनानुपपत्तेः कामाविकारसिद्धौ नियोगोऽत्र कल्प्यत इत्यर्थः । अन्यत्र सिद्धावेव हेतु—**तत्सिद्धीति** । सत्यमन्यत्र दृष्टं

त्वादुत्तरकल्पनाया इति चेन्मैवम् । कृतिसाध्ये नियोगे प्रतीते कृतेर्भावार्थैकविषयत्वात् । नियोगस्य चाभावार्थरूपत्वात्साक्षात्कृतिसाध्यत्वासंभवात् । भावार्थ साधयन्ती कृति-
नियोगं साधयतीति यथा कल्प्यते । अतएव चाघटितसंघटकतया भावार्थोऽपि विषयः
करणं च नियोगं प्रतीति गीयते । यथाहुः—‘कृतितत्साध्यमध्यस्थो यागादिविषयो
मतः ॥ कार्येऽसंघटिताकारे करणत्वेन संमत’ इति । तथा लोकावगतसामर्थ्यैर्लिङ्गादि-
शब्दैरधिगतफलसाधनभावायाः क्रियाया नियोगमन्तरेणापि स्वजन्यापूर्वावान्तरव्या-
पारद्वारा फलसाधनत्वसंभवे तद्दृष्टान्तावष्टम्भत एवावगुरणेऽपि दुरितापूर्वकल्पनायां संभा-
विन्यामलोकेवेदसिद्धनियोगकल्पनानुपपत्तेः । इतरथा क्लृप्तक्रियाकार्यवाचकत्वभङ्गोऽप-
रिक्लृप्तनियोगवाचकत्वकल्पना अपूर्वस्य फलसाधनत्वकल्पना यागस्य च फलनियोगयोः
करणत्वकल्पना चेति गौरवं प्रसज्येत ।

किंच यथा तवाग्नेयादीनामुत्पत्त्यपूर्वावान्तरव्यापाराणां परमापूर्वसाधनभावस्तथा-
स्मन्मतेऽध्यपूर्वावान्तरव्यापाराया एव क्रियाया ईश्वरप्रसादावान्तरव्यापाराया वा फल-
साधनतोपपत्तेर्न नियोगकल्पनावकाशः । नचोत्पत्त्यपूर्वाणामेव परमापूर्वसाधनत्वमाग्ने-

कल्प्यते तत्तु तत्रावान्तरव्यापारत्वेनैव दृष्टं नतु स्वतन्त्रत्वेनेत्यभिप्रेत्य परिहरति—**मैवमित्यादिना** । अयं
च कृतेर्भावार्थजननद्वारेत्यस्य प्रपञ्चोऽपि । अत्र च यागादिधात्वर्थस्य नियोगं प्रति विषयत्वाङ्गीकरणं करण-
त्वाङ्गीकरणं च गमकमित्याह—**अतएव चेति** । एतदेव भवनाथवचनेन द्रव्यति—**कृतीति** । कृति-
प्रयत्न तत्साध्यो नियोगस्तयोर्मध्यस्थो यागदानहोमादिधात्वर्थो विषयो मतः । धिञो बन्धनकर्मणो विषयश-
ब्दव्युत्पत्तेः । कृति नियोगादौ घटयतो धात्वर्थस्य युज्यते विषयत्वं तथा कार्येऽसंघटिताकारे स एव च
विषय तस्मिन्नेव करणत्वेन च समत इति श्लोकयोजना । एतदुक्तं भवति—प्रतिपत्त्युपाधौ विषयत्वं सिद्ध्यु-
पाधौ करणत्वमित्यस्ति तयोर्भेद इति । दृष्टान्तमुक्त्वा दार्ष्टान्तिकमाह—**तथा लोकादगतेत्यादिना** ।
गवानयनादिक्रियैव तावत्फलसाधनत्वेनाधिगता लिङादिशब्दे, तद्यदि क्षणिकत्वादनुपपन्नं तद्वैवान्तरव्यापार-
व्याप्तास्तस्या एव साधनत्वमास्थेयम् । एवं दृष्टमनुगृहीतं भवति, इतरथा हि दृष्टहानिरदृष्टकल्पना प्रसज्येयाताम् ।
अतएव तद्दृष्टान्तेनावगुरणेऽपि तत्कल्पनासिद्धेर्न नियोगेन विनानुपपत्तिरित्यर्थः । युक्तं चैतदितरथा क्लृप्तक्रि-
याकार्यवाचकत्वमात्रेण व्यवहारोपपत्तौ अलोकिकवहुकल्पनाप्रसङ्ग इत्याह—**इतरथेति** । **अपूर्वस्येति** ।
अपूर्वस्य फलं प्रति साधनत्वकल्पनेत्यर्थः । **यागस्येति** । अपूर्वफलयोरेकैकैव भावना एकमेव करणं एकै-
कैव च भाव्यतेति हि तेषामभ्युपगमः । उपलक्षणं चैतत् यागस्य नियोगं प्रति विषयत्वकल्पनाया । प्रति-
पत्त्यनुबन्धितया तस्या करणत्वादपि प्राथमिकत्वात् ।

एवं प्रतिबन्दी समर्थ्याग्नेयादिप्रतिबन्धापि क्रियाया एव फलसाधनतामुपपादयति—**किंचेति** । ‘आग्ने-
योऽष्टाकपाल, ऐन्द्रं दधि, ऐन्द्रं पय’ इति यागत्रयं दर्शत्रयं नाम । आग्नेयोऽष्टाकपालो यागः, आज्यहविष्कश्चो-
पाशुयागः, अग्नीषोमीयैकादशकपालयागश्चेति पौर्णमासत्रयम् । एतेषां च परमं दर्शपूर्णमासापूर्वं प्रति करणत्वं
‘दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेते’ति विधिना बोधितम्, नच क्षणिकानामुदीच्योपकारो घटते इत्यवान्तरव्या-
पाररूपाणि षडपूर्वाणि कल्पन्ते । नच तावताग्नेयादीनां साधनताऽभाव इति भवतामपि सप्रतिपन्नं तथात्राग्न्य-
स्मन्मते क्रियैवापूर्वावान्तरव्यापारा स्वर्गसाधनं नत्वपूर्वम् । अथवैश्वरप्रसाद एवापूर्वस्थानेऽभिषिच्यता तस्य
श्रुतिस्मृतिपुराणगणनिर्णीतत्वादित्यर्थः । यथाचास्मन्मते तत्तद्देवतायागावैयर्थ्यम् ‘देवता वा प्रयोजये’दित्यधि-
करणाविरोधश्च । तथा ‘फलमत उपपत्ते’रित्यत्र वर्णितं वाचस्पतिमिश्रे । ननु नाग्नेयादिष्वपूर्वाणामवान्तर-
व्यापारत्वं अपितु तान्येव परमापूर्वं प्रति साधनम्, आग्नेयादीनि तु तत्साधनानीत्याशङ्क्य दूषयति—
नचोत्पत्तीत्यादिना । अधिकारवाक्यं फलसंबन्धबोधकं वाक्यं नियोज्यसमर्पकं वा, उत्पत्तिवाक्यं कर्म-

यादीनां तु तत्साधनसाधनतैवेति युक्तं वक्तुं प्रमाणाभावात् । तथाहि—किं ‘दर्शपूर्ण-
मासाभ्यां स्वर्गकामो यजेते’त्यधिकारवाक्येनैषां परमापूर्वसाधनत्वमवगतमुत ‘आग्नेयोऽ-
ष्टाकपाल’ इत्याद्युत्पत्तिवाक्यैः । नाद्यः । दर्शपूर्णमासाभ्यामित्यस्य कर्मसमुदायवाचक-
त्वात्, यजेतेति च परमापूर्वाभिधानात् । नापि द्वितीयः । दर्शपूर्णमासाभ्यामित्यधि-
कारवाक्यसंनिधिसमाम्नातानामुत्पत्तिवाक्यानामधिकारापूर्वानुवादशङ्काकुण्ठितशक्तीनां
द्रागित्येवापूर्वान्तरप्रत्ययजनकतानाश्रयणान् । अन्यथाधिकारवाक्यसंनिधिपरिपठित-
समिदादिवाक्यस्थलिङ्गादिशब्दानामपि स्वतन्त्रकार्याभिधायकत्वे ग्राहकग्रहणभङ्गप्रसङ्गः ।
प्रयोजनप्रयोजनिभावेनान्विताभिधानं ग्राहकग्रहणमित्यभ्युपगमात्, स्वतन्त्राणां च प्रयो-
जनप्रयोजनिभावासंभवात् ।

आग्नेयादीनामेव त्वधिकारापूर्वं प्रत्यवगतकरणविषयभावानां क्षणिकत्वेन तदनुपपत्तौ
तत्सिद्ध्यर्थमेवावान्तरव्यापारतयोत्पत्त्यपूर्वाङ्गीकरणान् ।

कश्चायं नियोज्यो नाम यदन्वयात्क्रियातिरिक्तनियोगसिद्धिः स किं कार्यप्रति गुण-

स्वरूपबोधकम् । आद्येपि पक्षे दर्शपूर्णमासाभ्यामित्यनेन वा यजेतेत्यनेन वा । प्रथमे ग्राह—दर्शपूर्ण-
मासाभ्यामित्यस्येति । आग्नेयादिकर्मसमुच्चयवाचकत्वादुत्पत्त्यपूर्वानभिधायकत्वादित्यर्थः । द्वितीयं
निषेधति—यजेतेति चेति । भावार्थविशिष्टपरमापूर्वाभिधायकत्वादित्यर्थः । उत्पत्तिवाक्यैरिति पक्षं
दूषयति—नापीति । एष हि तेषामभ्युपगमः—आग्नेयादिवाक्यैरपूर्वान्तराणि नाभिधीयन्ते । प्रधा-
नापूर्वसंनिधिपठिततया तदनुवादाशङ्कया कुण्ठितशक्तित्वात्, केवलं कर्मस्वरूपमात्रं तत्र शाब्दम् । यो-
ग्यतावैधुर्याभावाच्च प्रकरणनान्विताभिधानं कारणान्तरवशाच्चापूर्वाणां कल्प्यत्वमिति सोऽयं भज्येतै-
वमभ्युपगच्छत इत्यर्थः । न केवलमनुवादाशङ्कयानभिधायकमनिष्टप्रसङ्गाच्चेत्याह—अन्यथेति । दर्शपूर्ण-
मासाभ्यामित्यादधिकारवाक्यप्रकरणपठितसमिदादिवाक्यानामप्याग्नेयादिवाक्यवदपूर्वाभिधायकत्वात् । अपू-
र्वस्य च कृतिसाध्यं प्रधानं यदित्युक्तलक्षणवत्तया प्रधानत्वात्प्रधानयोश्चाङ्गीभावाभावात्तद्वेदकग्राहकसंज्ञक-
प्रयोगवचनेन परिग्रहो न स्यादित्यर्थः । आपाद्य चेदं दूषणम् । परमापूर्वेण ग्राहकग्रहणस्वरूपं दर्शयति—
प्रयोजनेति । प्रयोजनं प्रधानं नियोग प्रयोजनं तत्प्रकरणपठितसकलपदार्थास्तदन्विततया प्रधाननि-
योगस्याभिधानं ग्राहकग्रहणमित्यर्थः ।

कथं तर्ह्याग्नेयादीना क्षणिकानां सेतिकर्तव्यताकानां परमापूर्वनिर्वर्तकत्वमित्यत आह—आग्नेयादीना-
मेव त्विति । अवगतो विषयभाव करणभावश्च येषां ते तथा । अङ्गीकरणादिति । यत्रानन्यनिष्ठभावार्थ-
लक्षणविषयलाभस्तत्राभिधायकत्वकल्पना अन्यत्र केवलकल्पनेत्यर्थः । अत्र भवनाथ ग्राह—न क्षणिका क्रिया
व्यवहितस्वर्गं प्रति साधनत्वेनाभिधायति शब्दः । अतः कल्पनानुपपत्तेः अपूर्वकल्पनात् प्रागयोग्यत्वात् आ-
ग्नेयादीना त्वपूर्वं प्रति योग्यत्वादन्विताभिधानमिति । तत्र । नहि क्षणिकत्वाद्यवहितत्वमात्राद्वाऽयोग्यत्वं तैल-
पानादावदर्शनात् । निरन्वयविनाशस्तत्राप्यसिद्ध आग्नेयादेरिव च क्षणिकस्यापि योग्यतास्त्यतः कारणान्तर-
मप्रयोजकम् ।

एवं नियोगस्याशब्दत्वमुपपाद्य तद्व्यावर्तकं नियोज्यं दूषयति—कश्चायमिति । ननु नियोगदूषणसमये
नियोज्यदूषणमकाण्डताण्डवमिव नेत्याह—यदन्वयादिति । गुणत्व इति । क्रिया प्रति गुणभूतश्चेतनः कर्तैव

भूतः प्रधानभूतो वा । नाद्यः । गुणत्वे कर्तृत्वान्वयान्तर्भावात् । न द्वितीयः । प्राधान्येऽधिकार्यन्वयापातात् । गुणप्रधानभावातिरिक्तप्रकारान्तरासंभवाच्च । कार्यमासीयत्वेन योऽवबुध्यते स नियोज्य इति चेत् तथाभूतावबोधस्यापि गुणप्रधानभावान्तर्भावेणोक्तदूषणापत्तेः । क्रिया कार्यप्रति गुणभूतत्वं कर्तृत्वं क्रियातिरिक्तं प्रति गुणभूतत्वमेव नियोज्यत्वमिति विषयभेदाद्भेद इति चेत्, मैवम् । क्रियातिरिक्तकार्यसिद्धौ नियोज्यान्वयसिद्धिः नियोज्यान्वयसिद्ध्यधीना च क्रियातिरिक्तकार्यसिद्धिरिति परस्पराश्रयप्रसङ्गात् ।

नच नियोगस्य कृत्युद्देश्यत्वमपुरुषार्थत्वात् सुखदुःखप्राप्तिपरिहारौ तदुभयसाधनं वा पुरुषार्थः । नचैषामन्यतमो नियोगो येन पुरुषार्थतया कृत्युद्देश्यः स्यात् । नच स्वर्गादिसाधनतया पुरुषार्थत्वं, नित्यनैमित्तिकनियोगयोस्तदभावेन कृत्युद्देश्यतावैधुर्यापातात्, नियोगसिद्धेरेव च पुरुषार्थत्वे नियोगस्य स्वर्गसाधनताभ्युपगमानर्थक्यप्रसङ्गात् । ननु कामाधिकारे फलकामिनो नियोज्यत्वात्फलं प्रति करणीभूतस्यैव यागस्य नियोगं प्रति विषयत्वात् तत्साध्यस्य नियोगस्य फलान्तरसाधनता । नित्ये तु न फलकामिनोऽधिकारः नापि फलं प्रति करणीभूतस्यैव यागस्य नियोगं प्रति विषयत्वं किंतु नियोगं प्रत्येव विषयत्वं करणत्वं च, अन्यथा नित्यकाम्यवैषम्यानुपपत्तेः । तस्मान्नित्येषु नियोगसिद्धिरेव

ननु तदतिरिक्त इत्यर्थः । तेन न समिदादिषु व्यभिचारः । इदं च निगूढाभिसन्धेर्दूषणम् । प्राधान्य इति । क्रिया प्रति प्राधान्यं नाम तत्फलभोक्तृत्वमत्र विवक्षितं चेतनत्वविशेषितं वा तदेव चाविकारित्वमित्यर्थः । तेन च ब्रीह्यादिव्यावृत्तिः । ननु गुणप्रधानभावव्यतिरिक्त एव कश्चित्प्रकारो भवत्विति तत्राह—**गुणप्रधानेति** । स्वतन्त्रयो संबन्धाभावप्रसङ्गादिति भावः । **तथाभूतेति** । आत्मीयत्वं नामात्मसबन्धित्वम् । नच निराकाङ्क्षयो सबन्ध इत्यन्तर्भवत्येव गुणप्रधानभावे सोपीत्यर्थः । यो निगूढोऽभिसन्धिर्वृत्तस्तमुद्घाटयितुं शङ्कते—**क्रिया कार्यमिति** । द्विविध हि कार्यं क्रियारूपं तदतिरिक्तनियोगरूपं च । तत्र प्रथमं प्रति गुणभूतत्वं कर्तृत्वं, द्वितीयं प्रति गुणभूतत्वं नियोज्यत्वमिति गुणभावे समानेपि यत्प्रति गुणभावस्तद्वैषम्यादिदं वैषम्यमित्यर्थः । दूषयति—**मैवमिति** । विषयनियोज्यनिरूप्य कश्चित्कार्यनियोगो नाम, यथाहु—‘कार्यत्वेन नियोज्यं य स्वात्मनि प्रेरयन्नसौ । नियोग इति मीमांसानिष्णातैरभिधीयते’ इति । तथाच नियोज्यनिरूपणान्नियोगनिरूपणं संप्रति नियोगेन तं निरूपयसीति परस्पराश्रय इत्यर्थः ।

यच्च कृत्युद्देश्यत्वं प्राधान्यं जेगीयते गुरुमतानुसारिभिस्तदपि दूषयति—**नच नियोगस्येति** । पुरुषार्थत्वप्रयोजकं दर्शयन्नपुरुषार्थतामेव विवृणोति—**सुखेति** । ननु किमिति न पुरुषार्थत्वं यावता स्वर्गादिसाधनतया सुखसाधनत्वमस्तीत्याशङ्क्य नित्यनियोगे फलरहिते कृत्युद्देश्यता न स्यादित्याह—**नचेत्यादिना** । स्यादेतत्—लोके खल्वियं कथा यत्सुखादिचतुष्टयान्यतमं स पुरुषार्थ इति, वेदे तु नियोगसिद्धिरेव पुरुषार्थ इति तत्राह—**नियोगसिद्धिरेवेति** । शङ्कते—**नन्विति** । अयमर्थः । नियोगसिद्धिस्तु सर्वत्र पुरुषार्थो भवत्येव । नच काम्येषु स्वर्गसाधनत्वाभावप्रसङ्गं स्वर्गकामिनस्तत्राधिकारित्वात् । स्वर्गकरणस्यैव यागस्य नियोगं प्रति विषयत्वाच्च । तेन भवतु नाम तत्र स्वर्गोऽपि फलं न तावता नियोगस्यापुरुषार्थता । अतएव च काम्येषु साध्यविवृद्धिरिति वृद्धा । नित्येषु न तादृशोऽधिकारी नापि तादृशी विषयकरणे अपित्वकामिनियोगं प्रत्येव विषयः । करणं चातो विवृद्धिरहितं नियोगमात्रं तत्र पुरुषार्थः । अवश्यं चैवं मन्तव्यम्, इतरथोभयथाप्यतिरिक्तफलकत्वे तदभावे वा नित्यकामविभागानुपपत्तेरिति । तदेतन्नित्यकाम्ययोर्व्यतिरिक्तफलकत्वेऽपि प्रकारा-

पुरुषार्थ इति चेत् । मैवम् । नित्यकाम्यवैषम्यस्यान्यथाप्युपपन्नत्वात् । तथाहि द्वयोः फलवत्त्वाविशेषेऽपि यत्र कामना निमित्ततया श्रूयते कल्प्यते वा तत्काम्यं, यत्र पुनर्नैवं यदकरणे च प्रत्यवायस्तदितरदिति वैषम्यात् । नित्यनैमित्तिकयोश्च फलशून्यत्वे हि तत्साधनताबुद्ध्या प्रवृत्तिरेव न स्यात् ।

ननु नियोगसिद्धेः परमपुरुषार्थत्वात्तत्साधने यागादौ हितसाधनबुद्ध्यैव प्रवृत्तिः नियोगार्थसिद्धेः किमन्यत्रयोजनं सर्वविधीनामिति गुरुणैवोदीरितत्वादिति चेन्मैवम् । तथासति तवापि नित्यकाम्यवैषम्यभङ्गप्रसङ्गात् । तथाहि फलं प्रति करणीभूते यागादौ रागत एव प्रवृत्तिरितिकर्तव्येषु तु वैधी कामाधिकारे नित्येषु तु करणेति कर्तव्यतयोर्विधित एव प्रवृत्तिरिति वैषम्यं तवाभिमतं तच्चेदं भज्येत । नियोगस्य फलरूपत्वेन तत्करणे यागादावपि रागत एव प्रवृत्त्युपपत्तेः । किंचेदं यागस्य फलं प्रति करणत्वं श्रुतिलिङ्गादिगम्यं उत नियोगानुपपत्तिगम्यम् । नाद्यः । श्रुत्यादेरदर्शनात् । 'स्वर्गकामो यजेते'त्यादौ फलं प्रति करणत्वस्य प्रकृतिप्रत्ययाभ्यामप्रतीतेः, यागेन फलशिरस्कस्य नियोगस्यैव साध्यत्वप्रतीतेरभ्युपगमात् । लिङ्गादीनां चानाशङ्कनीयत्वात् । नापि द्वितीयः । विकल्पासहत्वात् । किं नियोगः स्वसिद्धये यागस्य फलकरणत्वं कल्पयति उत फलसि-

न्तरेण वैषम्यं दर्शयन्दूषयति—**मैवमित्यादिना** । विश्वजिदादिसङ्ग्रहार्थमाह—**कल्प्यते वेति** । ननु फलवत्त्वं चेत्सर्वत्र समानं किमिति नित्येऽपि विश्वजिदादिवदेव न कल्प्यते काम किमिति वा न कौम्यमित्यत उक्तं—**यदकरणे चेति** । यत्र प्रत्यवायश्रवणं तत्र न कल्प्यमित्यर्थः । नित्येहि न फलं नित्यमिति खण्डलकार्थः । वैषम्यान्तरं, वा यदकरणे प्रत्यवायो न दृश्यते तत्काम्यं, यत्र च श्रूयते नियतं निमित्तं तन्नित्यं, यत्र च तच्छ्रवणेऽप्यनियतं निमित्तं तन्नैमित्तिकमिति विभागः । 'कर्मणा पितृलोक' इति शास्त्राच्च नित्यानां फलवत्ताविगमः । नित्येषु प्रवृत्तिर्लोभाच्चैवमेव वैषम्यं युक्तमित्याह—**नित्यनैमित्तिकयोश्चेति** ।

ननु किमिति न प्रवृत्ति यावता नियोगो हितं तत्साधनं च यागः ततो हितसाधने प्रवृत्तिः सम्भवतीति शङ्कते—**ननु नियोगेति** । वैषम्यभङ्गमेवोपपादयति—**तथाहि फलं प्रतीति** । यत्र करणे रागात् प्रवृत्तिस्तत्काम्यं, यत्र पुनः करणेपि विधितः प्रवृत्तिस्तन्नित्यमिति हि नित्यकाम्यवैषम्यमभिमतं तत्र स्यात् । नित्येष्वपि करणीभूतयागादिषु रागादेव प्रवृत्तेरित्यर्थः । यदुक्तं पूर्वं फलं प्रति करणीभूतस्य यागस्य नियोगं प्रति विषयत्वमिति तदपि दुर्निरूपमित्याह—**किंचेदमित्यादिना** । किं श्रुतिलिङ्गादिगम्यमित्यनेनान्वयः । चस्तु किंचार्थः । **श्रुत्यादेरदर्शनादिति** । यथाहि इष्टसाधनतावाक्यार्थवादिनामस्माकं स्वर्गयागयो साध्यसाधनभावः श्रौतः, यथाच भावनावाक्यार्थवादिना भाट्टानां वाक्यगम्य साध्यसाधनभावः । यथाहुः पार्थसारथिमिश्रा—**नहि** तत्र स्वर्गकामस्य यागस्य वा साध्यत्वं साधनत्वं वा केनचिदुक्तं, पदद्वयसमभिव्याहारादेव तु संबन्धे कल्पयितव्ये 'असाधकं तादर्थ्या'दिति न्यायेन कामिनः प्राधान्यं यागस्य च गुणत्वं कल्पयत इति । तन्मतेऽपि फलसंबन्धः श्रौतः इष्टसाधनरूपत्वात् विधेर्न तथा भवद्भिरभ्युपगम्यते औपादानिकत्वाङ्गीकारादित्यर्थः । किं तर्हि प्रकृतिप्रत्ययाभ्यामभिधीयत इत्यत आह—**यागेनेति** । यजेतेत्यस्य यागेन नियोग इत्यर्थः । सच नियोगो दैवगत्या फलसाधनमिति तच्छिरस्कस्य साध्यत्वं ननु फलस्य । फलपरत्वाभावाच्च तद्वाक्यस्य न फलयागयो साध्यसाधनभाव इत्यर्थः । अस्तु तर्हि लिङ्गवाक्यादीनि प्रमाणमिति तत्राह—**लिङ्गादीनां चेति** । नियोगानुपपत्तिलक्षणौपादानिकत्वं दूषयति—**नापि द्वितीय इति** ।

द्वये स्वस्य फलकामिकृतिसाध्यत्वसिद्धये वा । न प्रथमः । स्वसाधनीभूतयागानुष्ठानादेव स्वस्य सिद्धेः । न द्वितीयः । स्वसिद्धैव फलस्यापि सिद्ध्युपपत्तेः । न चरमः । यागस्य स्वर्गं प्रति साधनत्वाभाव इव करणत्वाभावेऽपि स्वर्गसाधनीभूतनियोगं प्रति करणत्वादेव स्वर्गकामिकृतिव्याप्यत्वोपपत्तेः ।

यागादेः फलंप्रत्यकरणत्वे तत्कामिनस्तत्र कथं प्रवृत्तिरिति चेत् साधनत्वाभावेऽपि तत्र तस्य प्रवृत्तिरनुपपन्नेति तुल्यम् । किंच साधनत्वाभावे तद्विशेषरूपकरणत्वमपि न स्यात् 'साधकतमं करणं'मिति पाणिनिस्मरणात् । अथ परोद्दिष्टकृतिव्याप्यत्वं करणत्वं तेन साधनत्वाभावेऽपि करणता किं न स्यादिति चेत् तर्हि नियोगस्यापि परोद्दिष्टकृतिव्याप्य-तया करणत्वप्रसङ्गः । तस्यापि स्वर्गादिफलोद्देशेन प्रवृत्तकृतिव्याप्यत्वात् । अथ साक्षा-दिति विशेषणाददोषः । नैवम् । इतिकर्तव्यस्य प्रयाजादेरङ्गजातस्य धात्वर्थतया साक्षा-त्कृतिव्याप्यत्वेन करणत्वप्रसङ्गात् ।

उभयोः साधनत्वाविशेषे करणेतिकर्तव्यतालक्षणो विभागो न सिद्ध्येदिति चेन्न । तवापि नियोगसाधने यागे तदितिकर्तव्येषु च साधनत्वाविशेषाद्विभागानुपपत्तेस्तुल्य-

फलकामीति । फलकामिनो य प्रयत्नस्तेन साध्यत्वं यन्नियोगस्य तन्नोपपद्यते । यागस्य तद्वत्कस्य स्वर्ग-करणत्वाभाव इत्यर्थः । **साधनत्वाभाव इति** । नहि यागस्य स्वर्गं प्रति साधनत्वं प्रमाणाभावात्, नियोगो हि वाक्यार्थस्तं प्रत्येवेतरेषा शेषत्वावगमात्, व्यवहितत्वेनायोग्यत्वाच्च न कामिनस्तस्मिन्साधनताबुद्धिं कर्तु-व्यापारगोचरगोचरतया करणता तु स्यात् । यथाह भवनाथ — 'न स्वर्गकामो व्यवहितसाधनं यागादिकार्यं-तथा बोद्धुमल'मिति । एतदुक्तं भवति—फलं प्रति साधनत्वाभावेऽपि फलसाधनीभूतनियोगसाधनत्वादेव यथा यागस्य फलकामिनस्तद्वारा नियोगे प्रवृत्तिर्घटते तथा प्रकृतेऽपीति ।

ननु यदि न याग स्वर्गप्रति करणं कथं तर्हि तत्कामिनो यागे प्रवृत्तिरनुपाये प्रवृत्त्यभावादिति शङ्कते—**यागादेरिति** । अकरणे प्रवृत्त्यदर्शनवदसाधनेऽपि प्रवृत्तिर्न दृष्टा तदिहासाधनेऽपि प्रवृत्तिमङ्गीकुर्वतोऽकरणे प्रवृत्तिर्न विरुध्यते दर्शनस्य नियामकत्वानङ्गीकारादिति परिहरति—**साधनत्वेति** । साधनसाधनत्वात्प्रवृत्त्यु-पपत्तिं ब्रुवाणस्य करणकरणत्वादित्युत्तरम् । नच यत्कामिनो यत्र नियोगस्तत्तस्य साधनमित्यपि नियमः । ग्रामाद्यसाधनेऽपि भोजनादौ 'ग्रामकामो भुङ्क्वे'ति निर्जातविशेषणेऽन्नभोजनार्थं नियोगदर्शनात् । अथ कर्तु-व्यापारगोचरगोचरत्वात्करणमिति मैतिस्तत्र साधनत्वरहितस्य करणत्वाङ्गीकारे व्याहृते सामान्यव्यावृत्तौ विशेष-व्यावृत्तेरित्याह—**किंचेति** । **साधकतममिति** । तमपा साधनविशेषत्वमुक्तमिति भावः । न साधनवि-शेष करणमपित्वन्यदुद्दिश्य प्रवृत्तप्रयत्नव्याप्यं यथा छेदनोद्देशेन प्रवृत्तप्रयत्नव्याप्यत्वं हि कुठारादेः करणत्वं तत्कृतो व्याघात इति शङ्कते—**अथेति** । तदिदमतिव्यापकं स्वर्गं प्रत्यकरणस्यानियोगस्य स्वर्गोद्देशिपुरुषप्रय-त्नव्याप्यतया करणत्वप्रसङ्गादिति दूषयति—**तर्हीति** । आपाद्य चेदम् । ननु परोद्दिष्टकृत्या साक्षाध्याप्यत्वं करणत्वं तथाच न नियोगेऽतिव्याप्तिः तस्य भावार्थव्यवधानादिति शङ्कते—**अथेति** । तर्हीतिकर्तव्यतास्वपि भावार्थस्य साक्षात्कृतिव्याप्यतया यागवदेव करणत्वप्रसङ्ग इत्यतिव्याह्या दूषयति—**मैवमिति** ।

यत्तु साधनत्वव्यावृत्तौ करणत्वव्यावृत्तिरित्युक्तं तत्परिहर्तुं शङ्कते—**उभयोरिति** । प्रयाजादेः षड्याग-स्येव स्वर्गं प्रति साधनत्वाविशेषे प्रयाजादेरितिकर्तव्यत्वमितरस्य करणत्वमिति प्रसिद्धो विभागो न स्यात् । अतः करणेतिकर्तव्यविभागलोभादेवासाधनस्यैव यागस्य स्वर्गं प्रति करणत्वं स्वीकर्तव्यमित्यर्थः । परिहरति—**न तवापीति** । यथाहि नियोगं प्रति साधनत्वाविशेषेऽप्ययं विभागस्तथा स्वर्गं प्रतीति भावः । यश्च कामा-

त्वात् । नच करणांशे रागतः प्रवृत्तिरितिकर्तव्येषु तु विहित इति विभागो युक्तः । सेतिकर्तव्यताकस्यैव करणतया तत्र रागतः प्रवृत्तेरवर्जनीयत्वात् । तथा लोके दृष्टत्वात् । एतेन श्येनाग्नीषोमीयवैषम्यमप्यपास्तम् । श्येनवदग्नीषोमीयेऽपि रागतः प्रवृत्तः समानत्वात् । नच प्रथमतो नियोगेनैव संबद्धेति कर्तव्यता पश्चात्तत्प्रयुक्ता फलेन संबध्यते । यागस्य तु फलं प्रति करणीभूतस्यैव नियोगेन पश्चात्संबन्ध इति वैषम्यं ग्राहकग्रहणदशायां प्राकरणिकसकलपदार्थानामविशेषेण नियोगसंबद्धानां तद्वशादेव परस्परसंबन्धस्य पार्थिकस्याङ्गीकारात् फलं प्रति करणत्वस्य विध्याक्षेपलक्षणोपादानाधीनतया तत्प्रतीतेर्विशिष्टनियोगप्रतीत्युत्तरकालीनत्वान् ।

कथं चैवं सति 'श्येनेनाभिचरन्त्यजेते'ति विधौ जायति रागतः प्रवृत्तौ निषेधानुप्रवेशादधर्मता स्यात् । नहि विधिसंस्पृष्टे निषेधः प्रवर्तमानोऽनर्थतां बोधयितुमीष्टे । तथा सति षोडशिग्रहणस्यापि नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीति निषेधादनर्थत्वप्रसङ्गात् । उक्तं हि भट्टाचार्यैः—'यद्यपि स्याद्विधिस्पृष्टे निषेधो नैव तादृशम् । विज्ञायते ह्यनर्थत्वं षोडशिग्रहणादिव'दिति ।

धिकारे करणेति कर्तव्यताविभागो गुरुमतानुसारिभिः परिकल्प्यते तमपि प्रसङ्गादुपयति—नच करणांश इति । अथवा साधनत्वाविशेषेऽपि कामाधिकारे करणत्वप्रयोजकमाशङ्क्यानेन दूष्यते । तत्र हेतु—सेतिकर्तव्यतेति । यथा ह्युद्यमननिपातनव्यापारविशिष्टस्यैव कुठारस्य करणत्व नतु केवलस्य तथा सेतिकर्तव्यताकं करणम् । तत्र चेद्रागतः प्रवृत्तिस्तर्हीतिकर्तव्यतास्वपि रागत एव सेति न विभाग इत्यर्थः । अथवा इतिकर्तव्यतासाध्योपकारसापेक्षत्वात्करणस्य तदपेक्षेवपि रागतः प्रवृत्तिरित्यर्थः । तथा नित्ये विभागानुपपत्तिरित्यपि द्रष्टव्यम् । करणेति कर्तव्यतयो रागतः प्रवृत्तिसाम्यापादनेन श्येनाग्नीषोमीययागयोरपि वैषम्यमपास्तमित्याह—एतेनेति । एतेनेत्यस्यैव विवरणं श्येनवदिति । ननु नेतिकर्तव्यतासु रागतः प्रवृत्तिः, प्रथमत एव नियोगेन संबन्धात्तस्य च रागविषयत्वाभावात् । यागस्य तु नैवं प्रथमतः फलसंबन्धित्वात् फलस्य च रागविषयतया तत्करणेऽपि रागत एव प्रवृत्तिरित्यत आह—नच प्रथमत इति । हेतुमाह—ग्राहकेति । न प्रथमतः फलेन यागस्य संबन्धः अप्रकरणित्वात्फलस्याप्रकरणिता चेतरेणासंबन्धत्वात् । तेनेतिकर्तव्यतावदेव यागोऽपि नियोगशेषतया ग्राहकेण गृहीतः पश्चात्तमेव प्रधानान्वयं निर्वोढुं तद्वारेण परस्परान्वयः सच पृष्ठतो भवतीति पार्थिकस्तस्या च दशाया यागस्वर्गयोरप्यन्वय इति भवतामङ्गीकार इत्यर्थः । किंच विध्याक्षेपलक्षणोपादानप्रमाणात्फलकामिकृतिव्याप्यतानुपपत्तिलक्षणान्नियोगफलयोः संबन्धोऽभिप्रेयते । आक्षेपश्च विषयनियोज्यविशिष्टनियोगप्रतीत्याऽतोपीतरप्राकरणिकवन्नियोगेनैव विषयभूतयागस्य प्रथमं संबन्धो वक्तव्यः । नतु फलेनेत्याह—फलं प्रतीति । तस्मादुभयत्र रागतो वा विधितो वा प्रवृत्तिः समानेत्यर्थः ।

ननु यद्यप्युभयत्र रागतः प्रवृत्तिः समाना तथापि 'न हि स्यात्सर्वा भूतानी'ति निषेधानुप्रवेशादधर्मता श्येनयागस्येतरस्य न तथा तदभावादिति वैषम्यमिति नेत्याह—कथं चैवं सर्तीति । रागतः प्रवृत्तिस्तावदुभयत्र समानेत्यावेदितम् । तथासति विधिस्पर्शास्पर्शान्या वैषम्यं वक्तव्यम् । नचैतदपि श्येनेपि विधेर्विद्यमानत्वादिति भावः । एतदेव षोडशिप्रतिबन्धा समर्थयते—नहि विधिसंस्पृष्ट इत्यादिना । विधिसंस्पृष्टेऽपि चेन्निषेधादनर्थत्वं तर्ह्यतिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीति विहितस्यापि षोडशिग्रहणस्य नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीति निषेधादनर्थत्वप्रसङ्गः । नचैतद्युक्तम् । आह—'यद्यपि स्याद्विधिस्पृष्टे निषेधो नैव तादृशम् । विज्ञायते ह्यनर्थत्वं षोडशिग्रहणादिव'दित्यर्थः ।

ननु विधोर्द्विविधो व्युत्पत्तिरौ भावार्थफलयोः साध्यसाधनसंबन्धबोधो भावार्थानुष्ठान-
बोधश्चेति । तत्रैव चानुष्ठानबोधो यत्र भावार्थेऽन्यतो न प्रवृत्तिः, श्येनादौ च फलोपाय-
त्वेऽप्यङ्गीत रागत एव प्रवृत्त्युपपत्तेर्नानुष्ठापकत्वं, ततश्च निषेधप्रवेशाच्छ्येनादेरनर्थत्वमिति
चेन्न । उक्तोत्तरत्वात् । उक्तं हि सेतिकर्तव्यस्यैव करणत्वात्तत्र रागतः प्रवृत्तावितिकर्त-
व्येऽपि तत एव प्रवृत्तौ श्येनवदग्नीषोमीयस्यापीतिकर्तव्यस्यानर्थता प्रसज्येतेति । ननु
'अभिचारमहीनं च त्रिभिः कृच्छ्रैर्व्यपोहती'ति प्रायश्चित्तविधानादनर्थता निश्चीयत इति
चेन्नैवम् । नैमित्तिकत्वेनाप्यस्योपपत्तेः । यथाहि—'वर्णिनां हि बधो यत्र तत्र साक्ष्यनृतं
वदे'दित्यनृतवदनविधानानन्तरं 'तत्पावनाय निर्वाप्यश्चरुः सारस्वतो द्विजै'रिति नैमित्तिक-
त्वेन सारस्वतश्चरुर्निर्वाप्यो विधीयते नत्वनृतवदनजनितपापनिवर्हणाय । अनृतवदने का-
मतो प्रवृत्तेर्विधित एव तत्र प्रवृत्त्यङ्गीकारात् । एवमन्यत्रापि । तदेवं नित्यकाम्यवैषम्यस्य
वक्तुमशक्यत्वान्नित्यवत्काम्येऽपि नियोगस्य फलसाधनत्वकल्पना निःप्रामाणिका, पुरुषा-
र्थत्वे नियोगस्य स्वर्गसाधनताभ्युपगमानर्थकताप्रसङ्गात् ।

नच स्वर्गादिसाधनत्वे नियोगस्य प्राधान्यमपि संभवति स्वर्गादिसुखशेषत्वात् । नच
स्वानुकूलनियोज्यसिद्धये स्वर्गादिकं साधयतो नियोगस्य स्वामिवत्प्राधान्यानुपघातः दृष्टा-
न्तवैषम्यात् । तथाहि द्वौ हि तत्र स्वामिभृतयोः प्रयत्नौ स्वार्थोद्देशेन प्रवृत्तौ परस्परमु-
पकुर्वाते न तथेह नियोगस्य चेतनता येन स्वकीयप्रयत्नेन स्वर्गमात्मार्थतया आक्षिपेत्
प्रत्युत गर्भदासस्थानीयो नियोज्यः स एव स्वर्गाय प्रवृत्तो नियोगमेव स्वर्गशेषतया स्वी-

व्यापारद्वैविध्यं विधेर्दर्शयन् श्येनयागस्याधर्मतामुपपादयति पूर्ववादी—**नन्वित्यादिना** । तदेतदग्नीषो-
मीयहिंसायामपि समानमिति परिहरति—**न । उक्तोत्तरत्वादिति** । प्रकारान्तरेणाधर्मतामाशङ्कते—
नन्विति । अहीनोऽहर्गणनिर्वर्त्य क्रतुविशेष 'अहं ख कृतावि'ति समूहे गम्यमाने अहं शब्दात्प्रत्य-
यविधानात् । परिहरति—**नैवमिति** । निषिद्धत्वानिर्णये प्रायश्चित्तानिर्णयात् तद्विधानस्य च नैमित्तिकत्वेनाप्यु-
पपत्ते निषिद्धत्वविधानात्प्रायश्चित्ते प्रायश्चित्तविधानाच्च निषिद्धत्वे परस्पराश्रयमिति भावः । ननु व्यपोहतीति दोष-
निवर्हणश्रवणात्प्रायश्चित्तत्वमिति तत्राह—**यथाहि वर्णिनामिति** । यत्र यस्मिन्समये ब्राह्मणादीना बध प्रा-
प्नोति तत्र तदा साक्ष्यनृतं वदेत् । अनृतवदनमवदनस्याभ्युपलक्षणम् । ततश्च यदि वदनमात्राद्वध प्राप्नोति तदा न
वदेत् । यदा तु सत्यवदनात्तदनुत वदेदित्यर्थः । तत्पावनायेति तच्छुद्ध्यर्थम् । द्विजैश्चैवर्णिकैः । सारस्वत
सारस्वतीदेवताकश्चरुः । निर्वाप्य निर्वपणेन यागपर्यन्तं लक्ष्यते । ननु तत्पावनायेति श्रवणात्प्रायश्चित्तैव
किं न स्यादिति तत्राह—**नत्वनृतवदनेति** । तत्र हेतुः **अनृतवदनेति** । कामतः प्राप्तं ह्यनृतवदनं नानृतं
वदेदिति निषिद्धं निषिद्धानुष्ठाने च प्रायश्चित्तं, प्रकृते तु विधित प्रवृत्तेर्न प्रायश्चित्तं युक्तं निषिद्धानुष्ठानशङ्काभा-
वादित्यर्थः । एवंच विषयविभागेन प्रायश्चित्तव्यवस्थापनमपि कैश्चित्क्रियमाणमयुक्तमित्यवान्तरविचारमुपसह-
रति—**तदेवमिति** ।

यच्च प्राधान्यसमर्थनं कृतं स्वर्गादिसाधनत्वेपि तद्वृषयति—**नचेति** । पूर्वपक्षायामनूय दृषयति—
नचेति । गर्भदासस्वामिनोश्चेतनतया स्वस्वप्रयोजनोद्देशेन प्रवृत्तिर्युक्ता अत्रतु नियोगस्य स्वामिस्थानीयता
न युक्ता अचेतनत्वात् । अतएव न प्रवृत्तिरपीत्यर्थः । न केवलं नियोगस्य प्राधान्याभावः प्रत्युत स्वर्ग
प्रति शेषत्वमेवेत्याह—**प्रत्युतेति** । ननु कथमिदमवधार्यते स्वर्गशेषो नियोगः ननु विपरीतमिति तत्राह—

कुर्यात् । नच स्वर्गादिसुखस्यान्यार्थता, स्वभाववैपरीत्यापत्तेः । यदर्थं सर्वं यच्च नान्यार्थं तत्सुखमिति हि सुखस्य लक्षणमाचक्षते तत्कथमन्यशेषता स्वर्गादिसुखस्य भवेत् । नचालौकिकत्वेऽपि नियोगस्य यूपहवनीयादिवत्पदान्तरसमभिव्याहारात्संबन्धग्रहणम् । तत्र यूपहवनीयादेर्यूपं तक्षतीत्यादिप्रसिद्धपदसमभिव्याहारान्यथानुपपत्तिगम्यत्ववन्नियोगस्यार्थापत्तिगम्यत्वानङ्गीकारात् । अङ्गीकारे वाऽपूर्वत्वव्याघाताच्च । यत्तु लिङादेः क्रियातिरिक्तकार्याभिधायित्वानुमानं तत्प्रत्यनुमानपराहृतत्वादसाधनम् । तथाहि “विवादाध्यासिताः शब्दाः क्रियाकार्याभिधायिनः ॥ कार्यप्रत्ययहेतुत्वादानयेत्यादिशब्दवत्” ॥ १८ ॥ इष्टसाधनवादिनो वेदान्तिनः प्रति साध्यविकलत्वाच्च । लौकिकलिङादिशब्दानामपि श्रेयःसाधनबोधकत्वाभ्युपगमात् । व्यापकानुपलब्धिपराहृतत्वाच्च । तथाहि—तदभिधायकत्वं तत्र सङ्गतिग्रहणेन व्याप्तं तच्च मानान्तरानधिगतादपूर्वाद्यावर्तमानं लिङादीनां तदभिधायकतां व्यावर्तयति । नच क्रियातिरिक्तकार्यानभिधाने स्वर्गकामो यजेतेत्यादिशास्त्रस्याप्रामाण्यप्रसङ्गः । क्रियाया एवापूर्वावान्तरव्यापारायाः परमेश्वरप्रसादावान्तरव्यापाराया वा फलसाधनत्वोपपत्तेः प्रदर्शितत्वात् ।

तदेवं विधिवक्त्रानामपि सिद्धार्थबोधकत्वाद्विधिसंस्पर्शविधुराणां सत्यज्ञानादिवाक्यानामखण्डैकरसब्रह्मलक्षणसिद्धार्थावबोधकत्वं सुतरां सिद्ध्यतीति सिद्धम् ॥ १० ॥ ननु कथं वेदान्तानामखण्डार्थत्वं तस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात् तत्र प्रमाणासंभवाच्च । तथाहि—किमिदमखण्डार्थत्वं किं निर्विशेषवस्तुपरत्वं उत निर्भेदार्थनिष्ठत्वं आहोस्विदपर्यायशब्दानां

नचेति । अथवा पूर्वमचेतनत्वान्नियोगस्य न स्वर्गस्य तच्छेषत्वमित्युक्तं । इदानीं स्वभावविरोधादपि न तथेत्याह—नच स्वर्गादीति । यच्च नान्यार्थं तत्सुखमित्युक्ते दु खेऽपि स्यादत उक्तं—यदर्थमिति । स्वर्गादिसुखस्यान्यशेषत्वं यच्च नान्यार्थमिति लक्षणविरुद्धमित्यर्थः । यत्तु यूपहवनीयादिदृष्टान्तितं तदपि वैषम्यं दर्शयन् परिहरति—नचालौकिकत्वेऽपीति । प्रत्यनुमानमेव श्लोकेन दर्शयति—विवादाध्यासिता इति । लौकिकलिङादौ सिद्धसाधनतापरिहाराय विवादपदम् । वैदिकलिङादय इत्यर्थः । क्रियारूपं कार्यं क्रियाकार्यं तदभिधायिन इत्यर्थः । नियोगेनार्थान्तरतानिरासाय क्रियाग्रहणम् । नच लौकिकलिङादित्वमुपाधि, लौकिकपदवैयर्थ्येन पक्षेतरत्वात् । नन्वेवमपि त्वत्पक्षे किं प्रमाणम्, न तावदिदमेव, प्रतिरोधमात्रतया स्वपक्षासाधनत्वात् । नैतत्सारम् । बाधकत्वेन प्रतिरोधकत्वासिद्धे । समबलबोधितसाध्यविपर्ययत्वं हि प्रतिरुद्धत्वम्, नचात्र समबलत्वं अधिकबलत्वादितरस्य दुर्बलत्वात्तदाह—इष्टसाधनेति । वादिनो वेदान्तिन इतिच द्वितीया । साध्यवैकल्यमेव विवृणोति—लौकिकेति । एतत्क्रियातिरिक्तकार्याभिधायित्वे गामानयेत्यादिपदं हि पूर्ववादिना दृष्टान्तितम् । नच तत्रापि कार्याभिधायित्वमिष्टसाधनताभिधायित्वाङ्गीकारात् मयेत्यर्थः । इदंचासिद्धेरप्युपलक्षणं दूषणान्तरं चाह—व्यापकेति । व्यापकं विवेचयन् तदनुपलब्धिमिहोपलम्भयति—तथाहीत्यादिना । यद्यद्विषयस्याभिधायकं तत्तस्य गृहीतसङ्गतिकमिति व्याप्तम् । नच प्रमाणान्तरानधिगतेऽपूर्वे तत्संभव इति व्यापकव्यावृत्त्या व्याप्यव्यावृत्तिरन्वितावृत्त्येव धूमव्यावृत्तिरित्यर्थः । यस्तु तेन विपक्षे बाधकस्तर्क उक्तस्तमपि प्रशिक्षिलमूलमुन्मूलयति—नच क्रियातिरिक्तेति ।

बादार्थमुपसंहरन् समन्वयोपयोगमाह—तदेवमित्यादिना । “हितसाधनतामवलम्ब्य यदा ववृते विवि-
बोधकवाक्यमपि परमाप्ततबोधविधौ सुतरा परमात्मनि वेदशिरासि तदा” ॥ अखण्डबोधकत्वमुक्तमाक्षिपति—
ननु कथमित्यादिना । अखण्डार्थत्वस्य समबलक्षणानि दूषयति—किमिदमित्यादिना । खण्डशब्दस्य च
चि. १४

प्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायित्वं अथवा तेषामेवैकप्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायित्वं संसर्गागोचरप्रमाजनकत्वं वा । नाद्यः । विकल्पासहत्वात् । तथाहि पदानां निर्विशेषवस्तुपर्यवसायित्वमभिधायकतया लक्षकतया वा स्यात् । न प्रथमः । तस्यात्यन्तमप्रसिद्धतया संबन्धाग्रहणेन पदानां तत्पर्यवसायित्वासंभवेन लक्षणस्यासंभवित्वप्रसङ्गात् । नापि द्वितीयः । अप्रसिद्धत्वादेवाभिधेयाविनाभावस्य लक्षणाहेतोरसंभवेन प्राचीनदोषानुषङ्गप्रसङ्गात् ।

नचाभिधेयाविनाभावं विनापि गरमभ्यवहरेत्यादिगिरामिव वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तिरेव लक्षणाक्षेपिका । अत्यन्ताप्रसिद्धत्वेन गगनारविन्दादेरिव लक्ष्यत्वानुपपत्तेः । अथ निर्भेदवस्तुपरत्वम्, तदपि न । निर्भेदत्वस्यानिरुक्तेः । तथाहि निर्भेदत्वं नाम किं भेदाभावविशिष्टत्वं उत भेदाभावोपलक्षितत्वम् । नाद्यः । तत्परत्वे वाक्यस्य निर्घटं भूतलमितिवत्संसृष्टार्थत्वप्रसङ्गात् । न द्वितीयः । तत्रापि संसृष्टार्थत्वस्यानतिवृत्तेः । तथाहि भेदस्य योऽभावस्तेनोपलक्षणेनोपलक्षितवस्तुपरत्वे कथं न संसृष्टार्थता । वस्तुमात्रमेव तत्र प्रतिपाद्यं भेदाभावस्तु द्वारमिति चेत् तथापि नाखण्डार्थता । उपलक्ष्यमाणस्य स्वतरेभ्यो व्यावृत्तत्वेन प्रतीतावखण्डार्थत्वासंभवात् ।

विशेषं भेदं चार्थमादाय प्रथमद्वितीययोः प्रवृत्तिस्तृतीयचतुर्थयोः स्वविवक्षावशात् । तेषामेवेति । अपर्यायशब्दानामेवेत्यर्थः । पञ्चमस्तु खण्डशब्दस्य ससृष्टमर्थमादाय, निर्विशेषाणामप्यन्यविशेषाणां भिन्नत्वस्य परैरङ्गीकारात् नाद्यद्वितीयसङ्करः । तात्पर्यं अविहितेषु लक्षितेषु वा संभवति यथा गङ्गाया यादासीति, यथावा गङ्गाया घोष इति, तमुभयमपि प्रकारं विकल्प्य दूषयति—**तस्यात्यन्तमिति** । अन्यविशेषाणां भवद्विरनङ्गीकारादिति भावः । लक्षणापक्षं दूषयति—**नापीति** । अभिधेयाविनाभूतं हि लक्ष्यं दृष्टं, यथा गङ्गायां घोष प्रतिवसति इत्यत्र गङ्गाऽविनाभूतं तीरं गङ्गापदेन न पुनरविनाभूतम् । अविनाभावश्चायं भूयः सबन्धदर्शनमात्रम् मञ्चा । क्रोशन्तीत्यत्र मञ्चपुरुषयोर्मुख्याविनाभावाभावेपि लक्षणादर्शनात् । नचान्यताप्रसिद्धस्य निर्विशेषवस्तुनोऽभिधेयाविनाभावः संभवतीति लक्षणासंभवाल्लक्षणाऽसंभव इत्यर्थः ।

नन्वभिधेयासंबद्धमपि कचिल्लक्ष्यं दृष्टं यथा कश्चित्किमस्य गृहे भोक्तव्यमिति केनचित्पृष्ठः तन्निवारयन्नाह विषं भुङ्क्ष्वेति । नचात्र लक्ष्यमाणैतद्गृहनिष्ठभोजननिवृत्ते विषभक्षणस्य च सबन्धोक्तिः अथ च लक्ष्यते तत्कस्य हेतोर्वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तेरेवमत्रापि सत्यादिवाक्यप्रामाण्यानुपपत्तेरेव किमिति न नृक्षणेत्यत आह—**नचाभिधेयेति** । तत्र हेतुः—**अत्यन्ताप्रसिद्धेति** । अनुपपत्तिरपि हि योग्ये लक्षणा प्रवर्तयति नत्वयोग्ये, इतरथा खपुष्पादेरपि लक्षणाप्रसङ्गात्, तस्मात् प्रामाण्यानुपपत्तिरपि अन्यपरतायामेव बीजं नत्वखण्डार्थतायामिति भावः । द्वितीयं दूषयति—**अथ निर्भेदवस्त्विति** । निर्भेदत्वं नाम भेदाभावविशिष्टत्वमिति प्रथमपक्षं दूषयति—**नाद्य इति** । यथा हि निर्घटं भूतलमिति षडाभावविशिष्टभूतलबोधकस्य नाखण्डार्थत्वमेवं तत्रापीत्यर्थः । भेदाभावोपलक्षितत्वपक्षं दूषयति—**न द्वितीय इति** । तत्रापि वक्तव्यं किं भेदाभावोपलक्षितत्वविशिष्टमुत वस्तुमात्रमिति । आद्ये प्राह—**भेदस्य योऽभाव इत्यादिना** । द्वितीयं शङ्कते—**वस्तुमात्रमेवेति** । दूषयति—**तथापीति** । भेदाभावेन यद्ब्रह्म लक्ष्यते तत्किमितरेभ्यो व्यावृत्तं प्रतीयते न वा । प्रथमे प्राह—**उपलक्ष्यमाणस्येति** । व्यावृत्तिविशिष्टस्याखण्डत्वाभावादित्यर्थः । द्वितीयं दूषयति—**अप्रतीताविति** । कादाचित्कव्यावर्तकमुपलक्षणं नाम तस्य चाव्यावर्तकत्वं व्याहृतमित्यर्थः । अपर्या-

अप्रतीतौ चानुपलक्षकत्वादेवोपलक्षणस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । नापि तृतीयः । शीतोष्णस्पर्श-
वन्तौ पयःपावकावित्यत्रापर्यायशब्दानां प्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायित्वेप्यखण्डार्थत्वादर्थ-
नात् । नापि चतुर्थः । तथासत्येकेनैव तत्प्रतिपत्तेः पदान्तरप्रयोगस्य वैयर्थ्येन लक्षणस्या-
संभवित्वापातात् ।

व्यवच्छेद्यभेदादवैयर्थ्यमिति चेन्न । तदनिरुक्तेः । तथाहि किं व्यवच्छेद्यानां व्यावृ-
त्तयः पदैः प्रतिपाद्यन्ते अथवा तद्विशिष्टमाहोस्विर्दुपलक्षितं स्वरूपमात्रं वा । तत्र न प्रथ-
मद्वितीयौ । तथासति संसृष्टार्थत्वेनाखण्डार्थत्वानुपपत्तेः । नापि तृतीयः । तत्राप्यन्यतो
व्यावृत्तस्य प्रतिपादने प्राचीनदोषानुषङ्गात् । स्वरूपमात्रप्रतिपादने च पदान्तरप्रयोगवै-
यर्थ्यस्य दर्शितत्वान् । नापि पञ्चमः । तथात्वस्यात्यन्तादृष्टचरत्वेन लक्षणासंभवित्वात् ।

ननु प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इत्यादिलक्षणवाक्येषु दृष्टं संसर्गागोचरप्रमितिजनकत्वमिति
चेन्मैवम् । लक्षणवाक्यैरपि लक्ष्यस्य सजातीयविजातीयेभ्यो व्यावृत्तत्वेन प्रतिपादनात्
तच्छब्दैर्व्यवहर्तव्यत्वेन प्रतिपादनाद्वा लक्षणवाक्यानामपि संसृष्टार्थत्वानतिवृत्तेः । ननु
सोयं देवदत्त इत्यादिषु देवदत्तगतभेदभ्रमव्युदासेन तत्स्वरूपमात्रपर्यवसायित्वमपर्यायश-
ब्दानां दृष्टमिति चेन्मैवम् । तत्रापि परोक्षदेशकालोपलक्षितस्यैतदेशकालविशिष्टत्वप्रतिपा-

यशब्दानां प्रातिपदिकार्थमात्रनिष्ठत्वमिति तृतीयं दूषयति—**नापि तृतीय इति** । यस्य हि लक्षणवाक्यं
लक्ष्यप्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसितमिति मतं तस्येमे लक्षणवाक्ये लक्ष्यजलानलस्वरूपपर्यवसिते तथापि नाख-
ण्डार्थता भिन्नत्वाल्लक्ष्ययोरित्यर्थः । अथवा पयःपावकशब्दयोरपि शीतोष्णस्पर्शवन्तावेवाधौ जातिमात्रपर-
त्वायोगात् । तथाच शीतोष्णस्पर्शवच्छब्दयोः पयःपावकशब्दयोश्च प्रातिपदिकार्थमात्रपरत्वमस्ति नचात्राख-
ण्डार्थतेत्यर्थः । अपर्यायशब्दानामेकप्रातिपदिकार्थत्वमिति चतुर्थं पक्षं दूषयति—**नापि चतुर्थ इति** ।
यदि ह्येकमेव वस्तु बुबोधयिषितं तदैकेनैव बुद्धमिति पदान्तरप्रयोगो वृथैव स्यात् नच पदमात्रं वाक्यमस्ति
तस्मादसंभवलक्षणमित्यर्थः ।

यद्यप्येकमेव लिलक्षयिषितं तथापि व्यवच्छेद्या बहवः सन्ति असत्यजाड्यादयः नचैकपदमात्रात्सर्वेषां
व्यवच्छेदः तदर्थमात्रेणेतरेषां विरोधाभावात्, अतो न पदान्तरवैयर्थ्यमिति शङ्कते—**व्यवच्छेद्येति** ।
दूषयति—**न तदनिरुक्तेरित्यादिना** । तद्व्यवच्छेदमात्रप्रतिपादनं व्यवच्छेदविशिष्टवस्तुप्रतिपादनं च ससृ-
ष्टार्थतया अखण्डार्थताविरोधीति दूषयित्वा व्यवच्छेदोपलक्षितवस्तुप्रतिपादनमिति तृतीयं पक्षं दूषयति—
नापि तृतीय इति । ससर्गागोचरप्रमाजनकत्वमिति पञ्चमपक्षं दूषयति—**नापीति** । सर्वत्र हि वाक्या-
र्थस्य पदार्थससर्गताया वा ससृष्टपदार्थतया वा ससर्गग्राहि वाक्यमित्यसंभवलक्षणमित्यर्थः ।

सिद्धान्त्यभिमतसंभवस्थलमाशङ्कते—**ननु प्रकृष्टेति** । अत्र हि चन्द्रप्रातिपदिकार्थमात्रं पृष्टं एतद्वाक्य-
विषयः न पुनः प्रकर्षादिससर्गस्तस्याबुभुत्सितत्वादिति, तदेतद्दूषयति—**मैवमिति** । तदितरव्यावृत्तिर्वा
तच्छब्दव्यवहारो वा लक्षणार्थः उभयथापि ससृष्टार्थपरतानतिवृत्तिः । तदिह प्रकर्षादिससर्गपरताऽभावेऽपि भव-
त्येव विधान्तरेण संसृष्टार्थत्वमित्यर्थः । उदाहरणान्तरमाशङ्कते—**ननु सोयं देवदत्त इति** । देवदत्तैक्य-
स्यैकैकपदादपि सिद्धेर्वाक्यवैयर्थ्यमाशङ्क्योक्तं—**भेदभ्रमव्युदासेनेति** । यद्यपि लक्षणवाक्यमिदं न भवति
तथापि महावाक्याखण्डार्थत्वसंभावनाया भवत्येव भूमिरितीदमाशङ्कितम् । यदि ह्युभयोरपि लक्षणया देव-
दत्तमात्रपर्यवसितमिदं स्यात्तदाखण्डार्थत्वम्, नत्वेतदस्ति एतद्देशकालससर्गप्रतिपादनपरत्वात्, तत्पदस्यैव
केवलं लक्षणाश्रयणात् तावन्मात्रादेव भेदभ्रान्तिनिवृत्ते, विनाकारणं लक्षणायामतिप्रसङ्गात्तदेतदाह—**मैवं**

दकतया संसृष्टार्थत्वानतिवृत्तेः । तावतैव च भेदभ्रमव्युदासादुभयपदलक्षणाभ्युपगमे गौरवप्रसङ्गाच्च । तदेवं नाखण्डार्थत्वनिरुक्तिः । नापि तत्र प्रमाणं प्रकृष्टप्रकाश इति वाक्यार्थश्चन्द्रप्रातिपदिकमात्रार्थस्तत्प्रश्नोत्तरार्थत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा वाक्यान्तरार्थ इति व्यतिरेक्यनुमानमस्तीति चेन्मैवम् । विकल्पासहत्वात् ।

तथाहि चन्द्रप्रातिपदिकमात्रार्थोऽन्यत्र प्रसिद्धो न वा । आद्ये तत्र हेतोर्वृत्तावन्वयव्यतिरेकितया केवलव्यतिरेकित्वव्याघातः । अवृत्तौ तु सत्यपि सपक्षे तत्र हेतोरवृत्तेरसाधारणानैकान्तिकता । द्वितीये पुनरप्रसिद्धविशेषणतैव । अन्वयव्यतिरेकितायां च यो यत्प्रश्नोत्तरार्थः स तत्प्रातिपदिकमात्रार्थ इति व्याप्तिरभ्युपेया । तथाच त्वत्करे कति वराटका इति प्रश्नस्य पाणौ पञ्चवराटका इति प्रतिवचने व्यभिचारः । नच विमतमखण्डार्थलक्षणवाक्यत्वात्पृथुबुधोदराकारः कुम्भ इति वाक्यवदित्यनुमानं मानम् । लक्षणवाक्यानामप्युक्तप्रकारेण संसृष्टार्थपरतया दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात् । तदेवं लक्षणप्रमाणयोरभावान्नाखण्डार्थत्वं शब्दानां । विवादाध्यासितं पदार्थसंसर्गप्रतीतिजनकं वाक्यत्वाद्वानयनादिवाक्यवत् । नच जरद्वादिव्यतिरेक्ये व्यभिचारः । तस्य वाक्याभासत्वात् । आकाङ्क्षासन्निधियोग्यतावन्ति पदानि वाक्यमिति हि वाक्यविदः ।

नच खं छिद्रमित्यादौ व्यभिचारः । तस्यापि लक्षणवाक्यत्वेन लक्ष्यस्य सजातीयविजातीयेभ्यो व्यावृत्तिप्रतिपादनपरत्वेनाखण्डार्थत्वाभावात् । नच विपक्षे बाधकतर्कभावः

तत्रापीति । गौरवप्रसङ्गादिति । प्रथमं मुख्यार्थप्रतीतिस्तत्परित्यज्य तत्सबन्धादर्थान्तरप्रतीतिश्चेति बहु कल्प्यमित्यर्थः । एतेनार्थोदकत्वप्रतिपादनाद्वर साक्षादेकत्वप्रतिपादनमित्यपि परास्तम् । लक्षणागौरवादेव । यदत्र न्यायरत्नदीपावल्यामनुमानमुक्तं तदनुवदति—**प्रकृष्टेत्यादिना** । सिद्धसाधनतानिवृत्त्यर्थं मात्रप्रहणम् । संसृष्टपदार्थानां वाक्यार्थत्वेन चन्द्रपदार्थस्यापि तत्स्वीकारात् तत्प्रश्नस्योत्तर यद्वाक्यं तदर्थत्वादित्यर्थः ।

अत्र साध्यं चन्द्रप्रातिपदिकार्थं क्वचित्प्रसिद्धो न वेति विकल्प्य दूषयति—**तथाहीत्यादिना** । ननु माभूत्केवलव्यतिरेकिता अन्वयव्यतिरेकिता तु भवतु किमेतावतेत्यत आह—**अन्वयेति** । कति वराटका इति प्रश्नोत्तरार्थे वराटकसङ्ख्याविशेषे वराटकप्रातिपदिकार्थत्वं नास्ति सङ्ख्यासबन्धपरत्वाद्वाक्यस्येत्यर्थः । वराटक कपर्दकः । नच तत्प्रातिपदिकप्रश्नोत्तरार्थत्वोपाधौ व्याप्ति क्वचिदपि प्रातिपदिकमात्रनिष्ठवाक्यासप्रतिपत्तेः । अन्यथा तस्यैव दृष्टान्ततोपपत्तौ एतत्प्रसाधनवैयर्थ्यापातादिति । अतएव चन्द्रप्रातिपदिकप्रश्नोत्तरार्थत्वोपाधावपि न व्याप्तिः असिद्धेरेव । आनन्दबोधाचार्यानुमानमुद्भाव्य दूषयति—**विमतमित्यादिना** । विज्ञानादिवाक्यमित्यर्थः । **उक्तप्रकारेणेति** । इतरव्यावृत्तेर्व्यवहारस्य वा बोधनादित्यर्थः । स्वपक्षे चानुमानमाह पूर्ववादी—**विवादाध्यासितमिति** । सत्यज्ञानादिवाक्यमित्यर्थः । प्रतीति प्रमिति । प्रयोगद्वये च संसृष्टपदार्थस्य पदार्थसंसर्गस्य वा पक्षीकरणे बाधस्तदितरस्य त्वप्रसिद्धेराश्रयासिद्धिरित्यपि द्रष्टव्यम् । **जरद्भवति** । 'जरद्भव कम्बलपादुकाभ्यां द्वारि स्थितो गायति मद्रकाणि । तं ब्राह्मणी पृच्छति पुत्रकामा राजन्मया लशुनस्य कोर्धे' इति श्लोकादावित्यर्थः । वाक्याभासतामेव दर्शयति—**आकाङ्क्षेति** । न तत्र योग्यतास्तीत्यर्थः ।

ननु खं छिद्रमित्यत्र वाक्यत्वमस्ति नच साध्यमस्ति अनेकपदार्थाभावेन संसर्गाभावादतो व्यभिचार इति तत्राह—**खं छिद्रमितीति** । अत्र समाधातुमुपक्रमते—**अत्रेति** । **संसर्गेति** । गिरामपर्यायशब्दानां वा

संसर्गप्रतीत्यजनकत्वे वाक्यत्वाभावप्रसङ्गस्यैव बाधकत्वात् । तदेवं नाखण्डार्थता वेदान्तानामिति । अत्राभिदध्महे । न तावलक्षणसंभवो यतः “संसर्गासङ्गिसम्यग्धीहेतुताया गिरामियम् ॥ उक्ताखण्डार्थता यद्वा तत्प्रातिपदिकार्थता” ॥१९॥ अपर्यायशब्दानां संसर्गागोचरप्रमितिजनकत्वमखण्डार्थता, नचेदमसंभवि लक्षणम्, प्रकृष्टप्रकाशादिवाक्येषु तत्सद्भावात् । नच लक्षणवाक्यमपि संसृष्टार्थं लक्ष्यस्य सजातीयविजातीयेभ्यो व्यावृत्तिवैशिष्ट्यप्रतिपादनपरत्वात्तत्तच्छब्दैर्व्यवहर्तव्यत्वप्रतिपादनाद्वेति युक्तं, विकल्पासहत्वात् । किं प्रकृष्टप्रकाशादिवाक्यं साक्षादन्यतो व्यावृत्ति प्रतिपादयति किंवा स्वरूपप्रतिपादनेनार्थात् । नाद्यः । व्यावृत्तिप्रतिपादकशब्दाभावात् । नापि द्वितीयः । नान्तरीयकतया सिध्यतोर्थस्य शब्दार्थत्वाभावात् । यश्चार्थादर्थो न स चोदनार्थ इति न्यायात् । अन्यथा गामानयेत्यादिवाक्येष्वश्वाद्यानयनव्यावृत्तेरपि वाक्यार्थत्वप्रसङ्गात् ।

नन्वयं चन्द्र इति व्यवहर्तव्यः प्रकृष्टत्वे सति प्रकाशत्वात् यन्नैवं न तदेवं यथा नक्षत्रादि न तथा चायं तस्मान्न तथेति केवलव्यतिरेकितया लक्षणवाक्यं पर्यवस्यति तथाच कथमखण्डार्थता, चन्द्र इति व्यवहर्तव्यता लक्षणधर्मवैशिष्ट्यप्रतिपादनपरत्वादिति चेन्मैवम् । चन्द्रतया व्यवहर्तव्य इति । किं चन्द्ररूपार्थविशेषितो व्यवहारः कर्तव्यः उत चन्द्रशब्दमात्रविशेषितो व्यवहारः । आद्ये चन्द्रविशिष्टं व्यवहारं यदि नाज्ञासीत्तदा लक्षणवाक्यादपि विषयविशेषितकर्तव्यतां तस्य कथमधिगच्छेत् । नह्यविदिताग्निरनुमानादप्यग्निस्त्वन्यमधिगमयितुं शक्यः । अथाधिगतवांस्तदा लक्षणवाक्यरूपमनुमानं निष्प्रयोजनं ज्ञातस्यैव ज्ञापनात् । अथ सामान्यतो जानात्यस्ति कश्चिद्विषयश्चन्द्रव्यवहारस्येति

संसर्गाविषयत्वे सति सम्यग्धीहेतुता इयमखण्डार्थतोक्ता । अथवा तेषामेव शब्दानां तत्प्रातिपदिकार्थता तदिति संसर्गराहित्येन लक्षितमेकत्वं परामृशति—एकप्रातिपदिकार्थतेति लक्षणसंग्राहकश्लोकयोजना । अनेनच चतुर्थपञ्चमपक्षौ परिगृहीतौ । श्लोकं विवृणोति—अपर्यायेति । हस्त कर इत्यादौ व्यभिचारवारणायापर्यायग्रहणम् । इन्द्रियव्यावृत्त्यै शब्दग्रहणम् । गामानयेत्यादिव्यवच्छेदार्थं संसर्गागोचरग्रहणम् । वाक्याभासव्यावृत्त्यर्थं प्रमितिग्रहणम् । तत्सद्भावात् । लक्षणसद्भावादित्यर्थः । तत्रापि संसृष्टार्थत्वं पूर्ववादिनोक्तमनूदित दूषयितुं विकल्पयति—किं प्रकृष्टेत्यादिना । साक्षादित्यभिधानेनेत्यर्थः । अर्थादिति । नान्तरीयकतयेत्यर्थः । यश्चार्थाच्छ्रुतार्थनान्तरीयकतया लभ्यते नच स चोदनार्थो वेदार्थ इति शबरस्वामिवाक्यार्थः । नचाश्वाद्यानयनव्यावृत्तिरपि तद्वाक्यार्थः वाक्यभेदप्रसङ्गादिति भावः ।

ननु माभूद्यावृत्तिप्रतिपादनपरत्वं व्यवहारसाधनमेव लक्षणप्रयोजनं ब्रूमः तावताप्यखण्डार्थताखण्डितैवेति शङ्कते—नन्वयमित्यादिना । चन्द्ररूपार्थविशेषितव्यवहारकर्तव्यतासाधने दोषमाह—आद्य इति । यस्य कर्तव्यता अत्र साध्यते स किं चन्द्रविशेषितो व्यवहारः प्रतिवादिनोऽज्ञातो ज्ञातो वा । यद्यज्ञातस्तदाऽप्रसिद्धविशेषणत्वम् अविदितदहनं प्रतीव दहनानुमानप्रवृत्तिरित्याह—तदा लक्षणवाक्यादपीति । अपिना स्वरूपसाधकत्वं लक्षणस्य सूच्यते । द्वितीयं दूषयति—अथेति । चन्द्रव्यवहारस्य कर्तव्यतामात्रमेव तावत्साध्यते न पुनरग्निसंबन्ध इवान्यत्र सिद्धस्यान्यत्र संबन्ध केवलव्यतिरेकितामज्ञातत्वेत्तचित्सिद्धं सिद्धमनुमानसाध्यमित्यर्थः । ज्ञाताज्ञातविकल्पोक्तदोषं परिहरन्नाशङ्कते—अथ सामान्यत इति । अयमर्थः । यद्यपि न स्थलान्तरे सिद्धि केवलव्यतिरेकित्वात् तथापि नाप्रसिद्धत्वं सामान्यत सिद्धत्वादिति तदेतदूष-

विशेषतस्तु न जानातीत्युच्यन्त तथापि किं सामान्यतो व्यवहारस्य निमित्तवत्तां जानाति किं वा व्यवहारविशेषस्य । आद्ये प्रकृतानुपयोगः । व्यवहारविशेषस्य विचार्यमाणत्वात् । द्वितीयेपि चन्द्रलक्षणार्थविशेषापरिज्ञाने तद्विशिष्टव्यवहार एव विज्ञातुमशक्यः । ज्ञाते च लक्षणवाक्यवैयर्थ्यमित्युक्तम् । नापि द्वितीयः । लक्षणं विनापि गवादिशब्दानामिव वृद्धव्यवहारादेव वाच्यवाचकसंबन्धग्रहोपपत्तेः । पूर्वं प्रतिपन्न एव वाच्यवाचकभावो लक्षणवाक्येन स्मार्यत इति चेत् । न । अवगतसंबन्धस्य तत्र तच्छब्दादेव संबन्धस्मरणोपपत्तौ लक्षणाभिधानवैयर्थ्यात् ।

अवगतसंबन्धस्यापि शब्दस्य लक्षणवाक्यादेव संबन्धस्मरणनियमे लक्षणवाक्यस्थपदानामपि प्रत्येकं लक्षणवाक्यैः संबन्धस्मरणप्रसङ्गादनवस्था दुरवस्था स्यात् । तस्माद्वाचनयनादिवाक्यकदाप्तोपदेशतयैव लक्षणवाक्यमवबोधकम् । तच्च सर्वं स्वरूपमात्रे पर्यवस्यति अर्थात्पुनरन्यतो व्यावृत्तिः फलतीति युक्तम् ।

नन्वेवमपि नैतल्लक्षणं अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगो नित्यः संबन्धः समवाय इत्येवमादिसंबन्धप्रतिपादकलक्षणवाक्येष्वव्याप्तेः । तेषां संसर्गागोचरप्रमितिजनकत्वादिति चेत् ।

यति—**तथापीति** । कीदृशमिदं सामान्येन ज्ञानं किं वक्ष्यमाणदिशा चन्द्रशब्दविशेषितत्वासिद्धेश्चन्द्रलक्षणार्थाज्ञानाच्चाश्वकर्णादिव्यवहारमात्रस्य नाम चन्द्रव्यवहार इति ततो व्यवहारमात्रं निमित्तवदिति, किंवा चन्द्रव्यवहारो निमित्तमात्रवानिति । आद्ये गवादिव्यवहारस्य निमित्तमात्रवत्त्वज्ञानं न चन्द्रव्यवहारकर्तव्यतानुमानस्याप्रसिद्धविशेषणता निवारयति । नह्यभिमतत्वप्रसिद्धिरनित्यत्वानुमाने ता वारयितुमलमिति प्रेत्याह—**आद्ये प्रकृतानुपयोग इति** । द्वितीये चन्द्रविशेषितव्यवहार किं चन्द्रलक्षणार्थविशेषितो व्यवहार उत चन्द्रशब्दविशेषितः । द्वितीयस्तु प्राथमिकद्वितीयविकल्पसमानजीवन प्रथमेपि किं चन्द्रोऽविदितो विदितो वा । आद्ये ग्राह—**द्वितीयेपि चन्द्रेति** । द्वितीये ग्राह—**ज्ञाते चेति** । चन्द्रशब्दविशेषितो व्यवहार साध्यत इति द्वितीयं पक्षं दृषयति—**नापि द्वितीय इति** । अत्र चन्द्रशब्द प्रयोक्तव्य इति वाच्यवाचकसङ्गतिग्रहो हि यदा लक्षणप्रयोजनं तदा लक्षणं व्यर्थमन्तरेणापि लक्षणं गवादिपदानामिव सङ्गतिग्रहसमवादित्यर्थः ।

प्रथमतोऽवगतस्यापि शब्दसंबन्धस्य लक्षणवाक्यात्स्मरणसाधनमप्यनर्थकं गवादिपदानामिवान्तरेणापि लक्षणं स्मरणसंभवादित्युक्तम्, इदानीं न केवलमानर्थक्यमपि त्वनवस्था लक्षणानर्थोपि स्यादित्याह—**अवगतसंबन्धस्यापीति** । तत्तद्वाक्यस्थपदानामपि तैस्तैरर्थैः संबन्धो लक्षणैरेव स्मारयितव्यः, एवं तत्तत्स्मारकवाक्यस्थपदानामपीति न कश्चिदपि स्यादित्यर्थः । तत्किं लक्षणमेव तेषु ग्रन्थेषु न प्रयोक्तव्यं तथाच गतं सत्यं ज्ञानमनन्तमिति ब्रह्मलक्षणेन तत्प्रयुक्तजन्माद्यधिकरणेनापीत्यत आह—**तस्मादिति** । न लक्षणमनुमानतयोपयुज्यते अपितु शब्दप्रमाणतयेत्यर्थः । ननु भवतु लक्षणं शब्दतयोपयोगि किमायातमखण्डार्थतायामिति तत्राह—**तच्च सर्वमिति** । उक्तमेतत्पुरस्तादेव स्वरूपमात्रं शब्देन बोध्यते इतरव्यावृत्तिस्त्वार्थिकी नचार्थिकः शब्दार्थ इति ।

यद्यपीदं संभवति तथाप्यव्यापकमिदं लक्षणं संयोगसमवायात्मकसंबन्धस्य यल्लक्षणवाक्यं तस्य लक्ष्यसंसर्गविषयत्वेन संसर्गागोचरत्वलक्षणाशाभावादिति शङ्कते—**नन्वेवमपीति** । संसर्गागोचरप्रमितिजनकत्वमिति कोर्थः, यद्वोदयति तदीयसंसर्गागोचरत्वे तत्प्रमितिजनकत्वमिति, अस्तिचैतदत्रापि, नहि

मैवं । तेषामपि स्वस्वपदस्मारितपदार्थानामन्योन्यसंसर्गागोचरप्रमितिजनकत्वात् । संसर्गागोचरप्रमितिजनकत्वशब्देन चास्यैवार्थस्य विवक्षितत्वात् । नाप्यतिव्याप्तिः संसर्गप्रमितिजनकेषु गवानयनादिवाक्येषु लक्षणाभावान् । यद्वा अपर्यायशब्दानामेकप्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायित्वमखण्डार्थता । नचैवं पदान्तरवैयर्थ्यम् । व्यावर्त्यभेदादर्थवत्त्वोपपत्तेः । तथाहि लोके प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इत्यत्र प्रकृष्टपदेनाप्रकृष्टखद्योतादेः प्रकाशपदेनाप्रकाशात्प्रकृष्टसंतमसादेश्च व्यवच्छेदेन बुभुत्सितश्चन्द्रप्रातिपदिकमात्रार्थः प्रतिपाद्यते, अन्यथा वक्तुर्बुभुत्सितमर्थं प्रतिपादयतोऽनवधेयवचनत्वप्रसङ्गात् ।

नच व्यावृत्तिपरत्वे व्यावृत्तिमत्परत्वे वा संसृष्टार्थत्वं स्वरूपमात्रपरत्वे च पदान्तरवैयर्थ्यमिति वाच्यम् । व्यावृत्तिद्वारा पदानां स्वरूपमात्रपर्यवसायित्वाङ्गीकारात् व्यावर्त्यभेदेनावैयर्थ्याच्च । तथा वेदेपि सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्यादौ सत्यज्ञानानन्दानन्तात्मशब्दा अनृतजडदुःखान्तवत्त्वानात्मत्वभ्रान्तिनिवृत्तिद्वारा लक्ष्ये ब्रह्मणि पर्यवस्यन्ति । नचैवमनेकाकारविज्ञानजनकत्वात्पदानां लक्ष्यस्य ब्रह्मणोऽनेकाकारत्वप्रसङ्गः । लक्षणासमये भिन्नाकारविज्ञानजनकानामपि पदानां तत्तद्भ्रान्तिनिवृत्तिमात्रप्रयोजकतया लक्ष्ये ब्रह्ममात्रे तात्पर्येण पर्यवसानात् । एवं च तत्तच्छब्दजन्यविज्ञानानां तत्तद्भिन्नाकारसमर्पिणां नान्तरीयकतया तत्तद्विरोध्याकारनिवर्तकत्वाद्वाक्यस्याखण्डार्थत्वसिद्धिः ।

संयोगस्य समवायस्य वा तत्तद्विशेषणसंसर्गबोधपरमिदं वाक्यं तस्याबुभुत्सितत्वादित्यभिप्रेत्य परिहरति—**मैवं तेषामपीति ।** नच विषं भुङ्क्ष्वेत्यादिसर्वलक्षणावाक्येष्वतिव्याप्तिः प्रतिपिपादयिषितसंसर्गागोचरत्वात् तदभावस्येह विवक्षितत्वात् । यद्वा तत्प्रातिपदिकार्थतेति श्लोकावयवं विवृणोति—**यद्वा पर्यायेत्यादिना ।** यद्यप्येकपदलक्ष्यमेव पदान्तरपर्यवसानभूमिस्तथापि नैकपदव्यावर्त्यमेव पदान्तरव्यावर्त्यं जाड्यावृतादीनां विभिन्नत्वात् ततो न संसृष्टार्थतावैयर्थ्यं इत्युक्तम् । एतदेव लौकिकोदाहरणेन दर्शयति—**तथाहीत्यादिना ।** सतमसं विष्वक्तम् । अत्र च व्यवच्छेदेनेति व्यवच्छेदानां द्वारतोक्ता । **प्रतिपाद्यत इति ।** तात्पर्यविषयत्वं तेन न शून्यनिष्ठतापत्तिः । ननु किमिति स्वरूपमात्रपरताश्रयणं न पुनर्यथाश्रुतप्रकर्षादिसंसर्गपरत्वमिति तत्राह—**अन्यथेति ।** यदि हि स्वरूपमात्रे पृष्टे गुणादिसंसर्गं प्रतिपादयेत्तर्ह्यश्रद्धेयवचनं स्यादित्यर्थः ।

यत्तु पूर्वपक्षिणा त्रेधाविकल्प्य दूषणद्वयमुक्तम् तन्निराकरोति—**नचव्यावृत्तीति ।** ननूक्तं स्वरूपमात्रपरत्वे पदान्तरवैयर्थ्यमिति तत्राह—**व्यावर्त्यभेदेनेति ।** तदेवं लौकिकेषूदाहृत्य विवक्षितसत्यादिवाक्येषु लक्षणं वर्तयति—**तथा वेदेपीति ।** ननु स्ववाच्यप्रक्षेपेणैव पदानां विरोधिव्यावर्त्तनमप्रक्षेपेण वा । न तावद्वितीयः । विरोध्यदर्शनेनानृततादि व्यावृत्तेरशक्यज्ञानत्वात् । प्रथमे तु विभिन्नैर्ज्ञानत्वादिभिराकारैर्ब्रह्मणोऽप्यनेकाकारत्वमिति तत्राह—**नचैवमनेकाकारेति ।** लक्षणासमय इति सामीप्यात् लक्षणाप्राक्समयो विवक्ष्यते । नहि तत्तदाकारा प्रतिपिपादयिषिता इति प्रतिपाद्यन्ते किन्तु कथं नु नामानृताद्यारोपरहितब्रह्मप्रतिपत्तिरिति तद्यावदनृततादिव्यावृत्तिस्तावदेव सत्यत्वाद्याकाराणां स्थितिः निवृत्तेषु तु तेषु एते एवाकारा अनृता जायन्ते कः खलु विशेषोऽनृततादिभिराकाराणामद्वैतविरोधे । तस्मादेकानन्दव्यक्तिपरमेव सत्यादिवाक्यं न सत्यत्वादिपर नाप्यनृततादिव्यावृत्तिपरमित्यर्थः । विविमुखेषु वाक्येषु उक्तन्यायं निषेधमुखेन प्रतिपादकेष्वप्यतिदिशति—**एवंच तत्तच्छब्दजन्येति ।**

उक्तं चैतत्सुरेश्वराचार्यैः “प्रतिपद्य पदार्थं हि विरोधात्तद्विरोधिनः । पश्चादभावं जानाति बध्यघातकवत्पदात् ॥ १ ॥ शब्दात्प्रतीयते तावत्सङ्गतिर्धर्मधर्मिणोः । मानान्तरादपोहस्तु न शाब्दस्तेन सस्मृतः ॥ २ ॥ तत्रानन्तोनन्तवद्वस्तुव्यावृत्त्यैव विशेषणम् । स्वार्थार्पणप्रणाड्या च परिशिष्टौ विशेषणम् ॥ ३ ॥ तद्विरोध्यर्थसंत्यागः सामर्थ्यात्स्यान्न शब्दत” इति । नच गुणगुण्यादिभावप्रतिपादनेपि तत्तद्विरोध्याकारनिवृत्त्युपपत्तेः कथमखण्डैकरसत्त्वसिद्धिरिति वाच्यम् । ब्रह्मशब्दार्थमात्रस्यैव बुभुत्सितत्वात् । सर्वतोऽनवच्छिन्नवस्तुप्रतिपादनपरब्रह्मानन्तशब्दाभ्यां विरोधाच्च एकधैवानुद्गष्टव्यभेकमेवाद्वितीयमित्याद्येकरसत्वप्रतिपादकवाक्यविरोधाच्च नेह नानास्ति किचनेत्यनेकरसत्वप्रतिषेधाच्च ।

नचाप्रसिद्धत्वाद्वह्मणो लक्ष्यत्वासंभवः प्रत्यगासतया स्वतः सामान्येन प्रसिद्धत्वात् । नच तथात्वे लक्षणवैयर्थ्यं लक्षणस्य विशेषाकारसमर्पणार्थत्वात् । अन्यथा गन्धवती पृथिवी नित्यज्ञानाधार ईश्वर इत्यादिलक्षणानामपि लक्ष्यस्याप्रसिद्धत्वप्रसिद्धत्वयोर्वैयर्थ्यापातात् । एतेन सोयं देवदत्त इत्यत्रापि तत्कालोपलक्षितस्यैतत्कालवैशिष्ट्यं प्रतिपाद्यत

यदेतद्विरोधिनिवृत्त्यर्थमेव तत्तदाकारविधानं किचिदुक्तं तत्तदाकारविरोधिनिवृत्तेश्चाशब्दत्वमुक्तं तदाचार्यवचनेन द्रढयति—उक्तं चैतदिति । तैत्तिरीयके वार्तिके सत्यं ज्ञानमनन्तमिति वाक्यव्याख्यानसमये इति शेषः । पदात्सत्यादेः पदार्थं सत्यत्वादि ब्रह्मणि प्रतिपद्य ज्ञात्वा तेन विरोधाद्धेतोर्विरोधिनाऽनृतादेरभावं जानाति तत्र निदर्शनं—**बध्यघातकवदिति** । यथा खल्वाखुभूषिता भूमि दृष्ट्वाऽर्थान्मार्जारभावोऽवगम्यते एवमिति तत्किमुभयमपि शाब्दमाहोस्विदन्यतरदिति तत्राह—**शब्दादिति** । प्रथमं धर्मधर्मिणोः सत्यत्वादेः ब्रह्मणश्च सगतिः शब्दात्प्रतीयते तावताचास्यास्तात्पर्याविपयत्वं द्योत्यते अपोहस्तु विरोधिव्यावृत्तिर्मानन्तरादनुपपत्तिलक्षणात् ज्ञायते तेन स अपोहस्तु न शाब्दः तत्र किं त्रयाणामविशिष्टेयं न्याय इति नेति वैषम्यमाह—**तत्रानन्त इति** । तत्र तेषु मध्ये ऽनन्त अनन्तशब्दार्थं अन्तवद्वस्तुव्यावृत्त्यैव विशेषणं व्यावर्तकं साक्षादेव ब्रह्मणो व्यावर्तकमित्यर्थः । परिशिष्टौ तु सत्यज्ञानशब्दौ स्वार्थसमर्पणप्रणाड्या व्यवधानेन विशेषणम् । नहि यथाऽनन्तमित्युक्तेऽन्ताभावः साक्षात्प्रतीयते तथा सत्यं ज्ञानमित्यत्रानृताद्यभावः अपितु स्वार्थविधानव्यवधानेनेत्यर्थः । तर्हि तयोर्विरोधिव्यवच्छेदं किनिबन्धन इति तत्राह—**तद्विरोधीति** । एतच्च मानान्तरादपोहस्तु इत्यस्यैव प्रपञ्चः । ननु विरोध्याकारनिवृत्तिरखण्डार्थतामन्तरेण संसर्गपरत्वेपि सेत्स्यति किमर्थमखण्डार्थताऽऽग्रह इति तत्राह—**नचेति** । लौकिकवाक्येषु संसर्गपरतायामुक्तं बाधकं प्रकृतेऽयाह—**ब्रह्मशब्देति** । ‘ब्रह्मविदाप्नोति पर’मिति श्रुतस्य ब्रह्ममात्रस्य बुभुत्सितत्वादित्यर्थः । न केवलमबुभुत्सितार्थपरत्वं बुभुत्सितार्थपरानन्तादिपदविरोधश्चेत्याह—**सर्वत इति** । साक्षादेवैकार्थप्रतिपादकानन्ताकारनिवारकश्रुत्यन्तरविरोधश्चेत्याह—**एकधैवेत्यादिना** ।

ननु प्रसिद्धमेव लक्ष्यं नत्वप्रसिद्धं गगनारविन्दादेर्लक्ष्यत्वादर्शनात्, अप्रसिद्धं च ब्रह्म सर्वप्रमाणागम्यत्वादिति तत्राह—**नचेति** । अथवा लक्षणलक्ष्यत्वमत्राक्षिप्यसमर्थ्यते । स्वप्रकाशस्य प्रत्यगात्मतया प्रसिद्धिरस्तीति सभावत्येव लक्ष्यत्वमित्यर्थः । न केवलमस्माकमेवेयं रीति अपितु सर्वेषामेव लक्षणवादिनामित्याह—**अन्यथेति** । घटादिषु सामान्येन प्रसिद्धस्य पृथिवीव्यवहारस्येतरेभ्यो भेदस्य च परमाणादिभूगोलकान्तसमुदायेऽप्रसिद्धस्य लक्षणेन साधनमिति पराङ्गीकारादित्यर्थः । यत्तु सोयं देवदत्त इत्यत्राखण्डार्थताऽभावाय पूर्वपक्षिणोक्तं तत्राप्युक्तन्यायमतिदिशति—**एतेनेति** । एतेनेत्यस्यैव विवरणम्—

इत्येतन्निरस्तम् । देवदत्तस्वरूपमात्रस्यैव बुभुत्सितत्वात् । एतत्कालवैशिष्ट्यस्य दृष्टत्वेनावु-
भुत्सितत्वात् । नच पूर्वकालोपलक्षितस्यैतत्कालवैशिष्ट्यप्रतिपादनेऽपि भेदभ्रमनिरासः सि-
ध्यतीति वाच्यम् । एतत्कालविशिष्टस्य पूर्वकालसंबन्धासंभवेन तदुपलक्षितत्वस्यासंभ-
वात् । तयोरभेदप्रतिपादनत्वस्याशक्यत्वात् ।

ननु तथापि पूर्वकालोपलक्षितस्यैतत्कालवैशिष्ट्यसंभवात्संभवत्येव तयोरभेदप्रतिपादन-
मिति चेत् । मैवम् । विकल्पासहत्वात् । किं पूर्वकालोपलक्षितस्यैतत्कालविशिष्टेनाभेदः
प्रतिपाद्यत इत्युच्यते किंवा पूर्वकालोपलक्षिते वर्तमानकालवैशिष्ट्यलक्षणधर्मप्रतिपादने-
नार्थादभेदः सिद्ध्यतीति । नाद्यः । विशिष्टाविशिष्टस्वरूपयोरभेदासंभवात् । तथासति
वर्तमानकालविशिष्टस्य पूर्वमपि सद्भावप्रसङ्गात् । नापि द्वितीयः । साक्षादेवाभेदप्रतिपा-
दने संभवति परम्परया तत्प्रतिपादनाश्रयणस्यायुक्तत्वात् । उभयपदलक्षणाश्रयणे कल्पना-
गौरवात्तथाश्रीयत इति चेन्मैवम् । अत्रापि परम्परया अभेदप्रतिपादनात्साक्षादभेदप्रति-
पादने बुद्धिलाघवस्य दर्शितत्वात् । तथापि विनिगमनायां को हेतुरिति चेत् बुभुत्सिता-
र्थस्य साक्षात्प्रतिपादनलाभ एवेति ब्रूमः । उक्तंच प्रतिज्ञावचनस्य साधनाङ्गत्वमाचक्षणे-
नाचार्यवाचस्पतिना—‘अनित्यं शब्दं बुभुत्समानायानित्यः शब्द इत्यनुकत्वा यदेव कि-
चिदुच्यते यत्कृतकं तदनित्यमिति वा कृतकश्च शब्द इति वा तत्सर्वमसंबद्धबुद्ध्या न
प्रत्येति प्रतिवादी’ति । एतेनोभयपदलक्षणास्वीकारे गौरवदोषो निरस्तो वेदितव्यः ।

देवदत्तस्वरूपेति । नन्वितरदपि बुभुत्सितं किं न स्यात्, नहि देवदत्तमात्रमत्र केनचित्पृष्टं येन लक्षण-
वाक्यवत्तन्मात्रमेव बुभुत्सितं स्यादिति तत्राह—**एतदिति ।** न केवलमबुभुत्सितत्वादप्रतिपाद्यत्व बुभु-
त्सितैक्यविरोधाच्चेत्याह—**नचेति ।** तत्किमेतत्कालविशिष्टस्य पूर्वकालोपलक्षितेनैक्यं बोधयति किं वा
पूर्वकालोपलक्षितस्यैतत्कालविशिष्टेन । नाद्य इत्याह—**एतत्कालेति ।** सबद्धं खलुपलक्ष्यं नासंबद्धम् ।
नचैतत्कालविशिष्टस्य पूर्वकालसंबन्ध संभवति एतत्काले पूर्वकालाभावादतो न तयोरैक्यमित्यर्थः ।

द्वितीयं शङ्कते—**नन्विति ।** किमुपलक्षितस्य विशिष्टेनाभेदः शब्दगम्य किंवापलक्षिते वैशिष्ट्यमात्रं
शब्दार्थः अभेदस्त्वानुपपत्तिक इति विकल्प्य दूषयति—**मैवमित्यादिना ।** एतत्कालविशिष्टस्य पूर्वकालो-
पलक्षितस्वरूपस्य चैक्यासंभवेन प्रथमं पक्ष दूषयति—**नाद्य इति ।** किमित्यसंभवस्तत्राह—**तथासतीति ।**
द्वितीये तु शब्दाद्विशिष्टमर्याच्च स्वरूपमात्रैक्यमिति कल्पनागौरवाद्वर शब्दादेवोभयोपलक्षितस्यैक्यप्रतिपादन-
मित्याह—**साक्षादेवेति ।** ननु साक्षाच्छब्दादभेदप्रतिपत्तावुभयोरपि लक्षणा प्रसज्येत ततो वरमेकलक्षणया
पारम्पर्याश्रयणमिति शङ्कते—**उभयेति ।** पारपर्यकल्पनातो लक्षणाश्रयण न्याय्य व्यापारवत्प्रमाणगौरवात्
व्यापारगौरवस्य लघीयत्वात् । यदुद्दिश्य च वाक्यं प्रवर्तते तस्य बुभुत्सितस्याभेदस्य साक्षात्प्रतिपादनं
न्याय्यमितरथानुद्दिष्टस्य साक्षात्प्रतिपादनं भवति उद्दिष्टस्य पारपर्येणेति क्लिष्टकल्पना स्यात् तदेतद्धि निधाय
परिहरति—**मैवमत्रापीति ।** अनविगतपराभिसन्धि शङ्कते—**तथापीति ।** विनिगमना निर्णयः । अभि-
सन्धिमुद्धाटयन्परिहरति—**बुभुत्सितेति ।** बुभुत्सितस्यार्थकप्रतिपत्ते साक्षात्प्रतिपत्तिरभ्यर्हितेत्यत्राचा-
र्यवाचस्पतिवचनमपि प्रमाणयति—**उक्तंचेति ।** हेतूदाहरणावयवद्वयवादिनं सौगतं प्रति प्रतिज्ञानानन्तर्यं
हेतोर्ब्रुवतेत्यर्थः । अत्रच यत्कृतकं तदनित्यमित्युदाहरणनिर्देशः । कृतकश्च शब्द इति हेतुनिर्देशः । एतदुक्तं
भवति । यथायुदाहरणहेतुनिर्देशादप्यर्थच्छब्दस्यानित्यत्वं पर्यवस्यति तथापि साक्षादनिर्देशापराधमात्रादिद-
मसंबद्धबुद्ध्याभिधानमिति ।

बुभुत्सितार्थप्रतिपादनप्रयोजनताया गौरवस्यैवोचितत्वात् 'प्रमाणवन्यदृष्टानि कल्प्यानि सुबहून्यपी'ति न्यायात्, तदेवमखण्डार्थत्वे न लक्षणसंभवः । नापि प्रमाणासंभवः । तथापि "सत्यज्ञानादिगीरेतत्संसर्गव्यतिरेकिणि । अर्थे प्रमाणं मानत्वान्नयनादिप्रमाणवत्" ॥ २० ॥ सत्यादिवाक्यमेतत्पदार्थसंसर्गातिरिक्तेऽर्थे प्रमाणं प्रमाणत्वाच्चक्षुरादिवत् । विपक्षे चैकरसत्वप्रतिपादकश्रुतीनामुदाहृतानामप्रामाण्यप्रसङ्गः बुभुत्सिते ब्रह्मणि प्रामाण्याभावप्रसङ्गश्च बाधकस्तर्क उन्नेयः । यत्तु वाक्यत्वाद्ब्रह्मानयनादिवाक्यवत् संसर्गपरत्वानुमानं तदेकरसत्वप्रतिपादकश्रुतिविरोधात्कालात्ययापदिष्टं उक्तनीत्या च संसर्गप्रतीतिजनकत्वाभावेऽपि वाक्यत्वोपपत्तेः संदिग्धव्यतिरेको हेतुः ।

‘आकाङ्क्षासंनिधियोग्यतावन्ति पदानि वाक्यमिति वाक्यविदः नतु संसर्गप्रमितिजनकान्ब्रवीति । विशेषणवैयर्थ्यात् । आचार्यशबरस्वामिना च ‘शास्त्रं शब्दविज्ञानादसंनि-
कृष्टेऽर्थे विज्ञानमिति तावत् एव लक्षणस्याभिधानात् । प्रातिपदिकमात्रार्थप्रभोत्तरत्वानुपपत्तिश्च लौकिकवैदिकलक्षणवाक्यानामेकप्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायित्वे प्रमाणम् । प्रदर्शिता च तत्रानुपपत्तिः अबुभुत्सितार्थप्रतिपादनेऽनवधेयवचनत्वप्रसक्तिरिति । तदेवमशेषोपनिषदामखण्डैकरसे ब्रह्मणि स्वतःसिद्धमेव प्रामाण्यमिति सिद्धम् ।

एतेनेत्यैवविवरणम्—बुभुत्सितार्थेति । लक्षणसमर्थनमुपसहरति—तदेवमिति । प्रमाणं श्लोकेन संयुक्ताति—सत्यज्ञानादीति । सत्यज्ञानादिगीर्वाक्यमेतत्संसर्गव्यतिरेकिण्यर्थे य एते सत्यादयः पदार्थास्तेषां संसर्गव्यतिरिक्ते संसर्गरहिते प्रमाणमिति प्रतिज्ञानिर्देशः । शेषं विशदम् । सिद्धसाधनतानिवृत्त्यै संसर्गव्यतिरेकिणीत्युक्तं तथापि यत्किञ्चित्संसर्गव्यतिरिक्तत्वेनार्थान्तरता तन्निवृत्त्यर्थमेतत्पदम् । यद्यपि गामानयेत्यादिवाक्यं संसर्गविषयं तथाप्येतत्संसर्गव्यतिरेकिण्यर्थे प्रमाणमेवेति न व्यभिचारः । ततश्चासत्पदार्थप्रमितिजनकत्वसिद्धिः । एतदेव विवृणोति—सत्यादिवाक्यमित्यादिना । पूर्वमद्वैतश्रुतीनामप्रामाण्यप्रसङ्ग उक्त इदानीं सत्यज्ञानादिवाक्यस्य गुणगुण्यादिपरत्वेऽप्यप्रामाण्यप्रसङ्गमाह—बुभुत्सितेति । पूर्वपक्षिणोऽनुमानं दूषयति—यत्त्वित्यादिना । विपक्षबाधकतर्काभावाच्छङ्कितोपाधितां चाह—उक्तेति । उक्तनीत्या वाक्यत्वोपपत्तेरिति सबन्धः ।

ननु संसर्गपरत्वाभावे वाक्यत्वमङ्गप्रसङ्ग एव बाधक इत्यत आह—आकाङ्क्षेति । ननु प्रामाण्यमङ्गप्रसङ्गो बाधको नेत्याह—आचार्येति । शब्दविज्ञानाच्छब्दविषयज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे प्रमाणान्तरेण तथाचानभिगते यद्विज्ञानं जायते तच्छास्त्रं शब्दप्रमाणमिति शाबरवाक्यार्थः । अत्रचानुवादपिसवादव्यवच्छेदायामन्निकृष्टपदम् । अपेक्षतादिपदनिराकरणायाथग्रहणम् । अनुमानत्वनिराकरणाय शब्दविज्ञानग्रहणम् । एतावदेवाचार्यैर्लक्षणमभिहित शब्दप्रमाणस्य नतु संसर्गविषयत्वमपीत्यर्थः । द्वितीयपक्षेऽर्थार्थापत्तिं प्रमाणमाह—प्रातिपदिकेति । अनुपपत्तिमेव दर्शयति—अबुभुत्सितेति । वादार्थमुपसहरन् वर्तिष्यमाणमेवोद्घाटयति—तदेवमिति । ‘अद्वैतवादे सत्यादिपदपर्यायता तथा ॥ अपर्यायद्वयध्वंसवादी वागीश्वरोऽब्रवीत् ॥ तस्य वाच्यार्थनानात्वाद्वाच्यस्यैक्यसमाश्रयात् ॥ न पर्यायद्वयध्वसावित्यनुत्तरमुत्तरम् ॥’ यत्तु प्रकृष्टप्रकाशशब्दावपि प्रकर्षादिबलात्प्रवृत्ताविति तदबुभुत्सितत्वेनात्रैव परिहृतम् । यत्तु पृथक्प्रवृत्तयो प्रकृष्टप्रकाशशब्दयोरेकत्र प्रयोगाद्युज्यते अर्थविशेषबोधकत्वं न तथेह लौकिकज्ञानादेरपि ब्रह्मत्वादिति तत्रोपहितज्ञानादेर्न ब्रह्मस्वरूपत्वमनुपहितं तु न वाच्यमित्यस्त्येव पृथक्प्रवृत्तिः ज्ञानादिशब्दस्येति न कोपि व्यतिकरः । ‘अद्वयसत्सुखबोधविताने देहहृषीकमनोमतिहीने ॥ विश्वविवर्तनिदानमबोधं भ्रन्ति वचासि स यत्र परोस्मि ॥

ननु किमिदं प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वं, न तावत्स्वत एव जन्म । स्वस्य स्वहेतुकत्वविरोधात् । नापि प्रमाणादेव जन्म । ज्ञानस्य गुणत्वेन स्वप्रामाण्यं प्रति समवायिकारणत्वासंभवात् । नापि ज्ञानसामग्रीतो जन्म । प्रामाण्यस्योपाधित्वे जातित्वे च जन्मासंभवात् । तथाहि उपाधिपक्षे स्मृतित्वानधिकरणस्य ज्ञानस्य बाधाल्यन्ताभावः प्रामाण्यम् । नच तस्योत्पत्तिः संभवति । अत्यन्ताभावत्वादेव । नापि जातेर्जन्म । नित्यत्वात् । ज्ञानसामग्रीजन्यत्वं प्रमायाः प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वमिति चेन्मैवम् । अप्रमाया अपि स्वतस्त्वप्रसङ्गात्, तस्या अपि ज्ञानसामग्रीजन्यत्वात् । अथ ज्ञानसामग्रीमात्रजन्यत्वं स्वतस्त्वम् अप्रमा तु न तन्मात्रजन्या दोषसहकृतज्ञानसामग्रीजन्यत्वादिति चेन्मैवम् । विकल्पासहत्वात् । तथाहि । दोषाभावसहकृतज्ञानसामग्रीजन्यत्वं मात्रशब्दार्थः किंवा दोषासहकृतज्ञानसामग्रीजन्यत्वम् । नाद्यः । परतःप्रामाण्यवादिमतानुप्रवेशप्रसङ्गात् । तेपि हि दोषाभावसहकृतज्ञानसामग्रीजन्यत्वमेव परतःप्रामाण्यमितीच्छन्ति । नापि द्वितीयः । विशेषदर्शनस्य भ्रमनिवृत्तिहेतुत्वे तद्विपर्ययस्य भ्रमहेतुत्ववदोषसहकृतज्ञानसामग्रीजन्यं ज्ञानमप्रमेत्यङ्गीकुर्वता प्रमां प्रति दोषाभावस्य हेतुताया अनिराकार्यत्वात् ।

स्वत सिद्धमेव प्रामाण्यमित्युक्तमुपश्रुत्य परत प्रामाण्यवादी प्रत्यवतिष्ठते—**नन्विति** । तत्र लक्षणं तावदाक्षिपति—**न तावदित्यादिना** । तत्र किं स्वत एव प्रामाण्यस्य जन्म स्वत प्रामाण्यं नाम आहोस्वित्स्वाश्रयज्ञानजन्यत्वमुत स्वाश्रयज्ञानसामग्रीजन्यत्वम् अथवा ज्ञानसामग्रीजन्यप्रमाश्रितत्वं, किंवा ज्ञानसामग्रीमात्रजन्यप्रमाश्रितत्वम् । नाद्य इत्याह—**न तावदिति । विरोधादिति** । स्वस्यैव स्वकारणतया प्राक्क्षणे सत्त्वं कार्यतया च प्रागसत्त्वमिति व्याघातादित्यर्थः । द्वितीय निषेधति—**नापीति** । एतच्च स्वशब्दस्य स्वीयवचनत्वमाश्रित्य । स्वाश्रयप्रामाण्यजनकत्वे हि समवायिकारणतया द्रव्यत्वापातो ज्ञानस्येत्यर्थः । तृतीयं निषेधति—**नापि ज्ञानेति** । तत्सामग्र्यामपि हि यथाकथंचित्स्वीयतया स्वशब्दो भवत्येवेति भावः । तदेतदसंभवेन दूषयति—**प्रामाण्यस्येति** । बाधाल्यन्ताभावो घटादेरप्यस्तीति ज्ञानस्येत्युक्तम् तथापि स्मृतावतिव्याप्तिस्तदर्थं **स्मृतित्वानधिकरणस्येति** । अवाध्यानुभवत्वमित्यर्थः । विषयापहारश्च बाधस्तदभावश्चापाततः सशयादेरप्यस्तीत्यत्यन्तग्रहणम् । अत्र च भ्रमादौ धर्म्यशे जातिसङ्करप्रसङ्गात् प्रामाण्यमुपाधिरिति केचित् । अपरेतु तत्र गौणं व्यवहारमादाय जातिरिति वदन्ति तेनेदं द्वैविध्यमुक्तम् । अतुर्थं शङ्कते—**ज्ञानसामग्रीति** । यदिदं प्रमाया ज्ञानसामग्रीजन्यत्वं तत्प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वमिति योजना । तदेतदतिव्याप्त्या दूषयति—**मैवमिति** । ज्ञानविशेषो ह्यप्रमा विशेषसामग्र्या च सामान्यसामग्र्यनुप्रविशति शिशपासामग्र्यामिव वृक्षसामग्री इतरथा तस्याकस्मिकत्वप्रसङ्गात् अतः परतस्त्वेनाभिमताप्रामाण्येपि ज्ञानसामग्रीजन्याश्रितेऽतिव्याप्तिरित्यर्थः । **अप्रमाया अपीति** । अप्रामाण्यस्येत्यर्थः । पञ्चमं शङ्कते—**अथेति** । अप्रमायामतिव्याप्तिपरिहारं मात्रग्रहणेन विवक्षितं स एव विवृणोति—**अप्रमात्विति** । अत्र मात्रग्रहणेनाप्रमासामग्रीरूपदोषासाहित्यद्वारेण तदभावसाहित्यमपि ज्ञानसामग्र्या विवक्षितम् उतासाहित्यमात्रमिति विकल्प्याद्यं दूषयति—**नाद्य इति** । एवं स्वत प्रामाण्यं परतस्त्वोद्युपपद्यते इत्यर्थांतरमित्यर्थः । द्वितीयं दूषयति—**नापि द्वितीय इति** । यथाहि प्रमाणज्ञानहेतोर्विशेषदर्शनस्याभावोऽप्रमाणज्ञानहेतु एवमप्रमाणज्ञानहेतोर्दोषस्याभावोऽपि प्रमाणहेतुर्भवत्येव । एवमवधृतस्वाभाव्यादनयोरित्यर्थः । यद्यपि प्रमासामग्र्या दोषाभावाऽविघातस्तथापि न हेतुतयापित्ववर्जनीयसन्निधेराकाशवत् ।

नन्वीश्वरज्ञानइव दोषाभावस्यावर्जनीयतया अस्मत्प्रमास्यपि तथासन्निधिः किं न स्यात् । नहीश्वरज्ञानेऽपि दोषाभावः प्रयोजक इति युक्तं वक्तुं, तत्प्रयुक्तत्वस्य तदन्तर्भूतसामग्री-जन्यत्वानतिरेकात् तस्यच नित्यतया विशिष्टसामग्रीजन्यत्वासंभवादिति चेन्मैवम् । अन्तरेणापि तत्सामग्रीजन्यत्वं नित्यद्रव्येषु गुणवत्त्वप्रयुक्तद्रव्यत्ववत्तत्प्रयुक्तत्वोपपत्तेः । नच दोषाभावस्याभावत्वादेवाकारणत्वं, विशेषदर्शनाभावस्य भ्रमहेतुत्ववत्प्रमाणाभावस्य प्रमेयाभावप्रमितिहेतुत्ववद्विहिताकरणस्य प्रत्यवायहेतुत्ववच्च तदुपपत्तेः ।

नच प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वे मानमस्ति प्रामाण्यं ज्ञानहेतुमात्रजन्याश्रयमप्रामाण्येतर-स्वेसति ज्ञानैकधर्मत्वात् ज्ञानत्ववत् । दोषजन्यत्वेन व्यभिचारो माभूदिति ज्ञानैकधर्मत्वा-दित्युक्तम् ।

युक्तं चैतत् इतरथा नित्यस्येश्वरज्ञानस्य तदनुत्पाद्यतया प्रामाण्याभावप्रसङ्गादिति शङ्कते—**नन्विति ।** जन्या प्रमा दोषाभावसहकृतज्ञानसामग्रीजन्या न भवति प्रमात्वादीश्वरप्रमावदिति भावः । साध्यवैकल्पं परिहरति—**नहीति ।** ननु जन्यत्वाभावेपि तत्प्रयुक्तत्व किं न स्यादित्यत आह—**तत्प्रयुक्तत्वस्येति । तदन्तर्भूतेति ।** स दोषाभावादिरन्तर्भूतो यस्या सामर्थ्या सा तदन्तर्भूता सामग्री, अथवान्तर्भाव एवान्तर्भूतं भावे निष्ठा तदन्तर्भाववती सामग्रीत्यर्थः । न तद्भ्रमसामग्रीजन्यत्वं नहि गुणवत्त्वप्रयुक्तं द्रव्यत्वमित्यत्र गुणवत्त्वद्रव्यत्वयोर्यजनकभाव परस्परमेकस्योपावित्वात् एकस्य च जातित्वात् किं तर्हि समव्यापकत्वमा-त्रेण प्रयोज्यप्रयोजकभाव एवमत्रापीति परिहरति—**मैवमिति ।** अनित्ये स्वाश्रयद्वारा कादाचित्कत्व-मपि कथंचित्सभाव्यमिति नित्यद्रव्येष्वित्युक्तम् । नन्वभावस्य कारणतैवायुक्ता निःस्वभावत्वादिति तत्राह—**नचेति ।** किमिदं निःस्वभावत्वं यद्यसत्त्वं ताकि मत्तानधिकरणत्वं तर्हि गतं सामान्यादीना बुद्धिकारणत्वेन । नच स्वरूपसत्त्वरहितत्वं तदसिद्धम् । यथाहोदयन.—‘नह्यसौ विधिरूपेण तुच्छ इति स्वरूपेणापि तथा इतरथाऽभावस्यापि तथात्वापाता’दिति । अथ भावत्वानधिकरणत्वं किमेतावता । किंचाभावस्य कार्यत्वमङ्गी-क्रियते न वा । न यदि तदा प्रथंसानुत्पत्त्या घटस्य नित्यता स्यात् । अस्तिचेत् कारणत्वेन किमपराद्धम् । क. खलु विशेषो नियतप्राक्क्षणसत् प्रागसत्त्वेसति सत्तायोगित्वसत्त्वे । अथान्यथैवाभूत्वाभावित्वाद्यात्मक तत्र कार्यत्वं शिक्षयसि कारणत्वमपि तया शिक्षयेति मूकीभावः । उक्तंचोदयनेन—‘भावो यथा तथाभाव कारणं कार्यवन्मत’ इति । किंच न सर्वत्र भावरूपा एव दोषा येन तदभावस्याभावतया न कारणत्वमपि त्वभा-वरूपा अपि सन्ति दोषा तदभावस्य न किमिति कारणता स्यात् । अथ भावस्य तत्र तत्र दृष्टवर कार-णत्व न त्वभावस्येति तत्र अभावस्यापि तत्र तत्र दर्शनात्स्वीकाराच्च भवद्विरित्याह—**विशेषदर्शनेत्या-दिना ।** साधारणधर्मदर्शनविशेषादर्शनाभ्यां सर्वत्र भ्रम इत्यर्थः । भाट्टानेव प्रत्याह—**प्रमाणाभावस्येति ।** योग्यानुपलब्ध्या ह्यभावप्रमितिरीक्षीक्रियते अनुपलब्धिश्चोपलब्ध्यभाव इत्यर्थः । मतद्वयसंमतमुदाहरणमाह—**विहिताकरणेति ।** येत्वत्र—‘स्वकाले यदकुर्वन् हि करोति यदचेतन । प्रत्यवायोऽस्य तेनैव नाभावेन स जन्यते’ इति श्रुते तैरप्यतिप्रसक्तिपरिहारायाकुर्वन् यदन्यत्करोतीति वचनादभावहेतुताऽशक्यप्रत्या-ख्याना ।

एवं लक्षणमाक्षिप्य प्रमाणमाक्षिपति । **नच प्रामाण्येति ।** खदीपावलीकृतमनुमानमुद्भावयति—**प्रा-माण्यमिति ।** ज्ञानहेतुजन्याश्रयत्वसाधने सिद्धसाधनता तदर्थं मात्रग्रहणं ज्ञानैकधर्मत्वमप्रामाण्येप्यस्तीति तत्र व्यभिचारवारणायप्रामाण्येतरत्वे सतीत्युक्तम् । घटत्वादिव्यावृत्तयै ज्ञानग्रहणम् । उत्तरविशेषणकृत्यमाह—**दोषेति ।** तद्धि व्याधेरपि धर्म इति न ज्ञानैकधर्म इत्यर्थः ।

तथा प्रामाण्यमुक्तविधमप्रामाण्येतरत्वे सति ज्ञानत्वन्यूनवृत्तित्वात् प्रत्यक्षत्ववदित्यनुमानं मानमिति केचित्तन्न । विकल्पासहत्वान् । तथाहि किं तथाविधव्यक्तिवृत्तित्वाभावं विवक्षितमुतान्यावृत्तित्वे सति तथाविधव्यक्तिवृत्तित्वम् । नाद्यः । अंशतः सिद्धसाधनत्वात्, अनुव्यवसायानुमित्युपमितीनां स्वतः प्रमात्वस्य परैरप्यङ्गीकारात् । न द्वितीयः । आद्यप्रयोगे दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात् ज्ञानत्वस्य दोषजन्याप्रमाणज्ञानवृत्तित्वस्याप्यङ्गीकारात् । नाप्रमाणज्ञाने ज्ञानत्वस्य वृत्तिस्तस्य ज्ञानाभासत्वादिति चेत् । मैवम् । तथा सत्यप्रामाण्येतरत्वे सति इति विशेषणस्य वैयर्थ्यात् अप्रमाणज्ञानस्य ज्ञानाभासत्वेनाप्रामाण्यस्य ज्ञानवृत्तित्वाभावात् । द्वितीयानुमाने च संशयत्वादिना व्यभिचारः । तथाहि तदपि ह्यप्रामाण्येतरत्वे सति ज्ञानत्वन्यूनवृत्ति भवति ननु भवति ज्ञानहेतुमात्रजन्याश्रयं तिमिरादिदोषजन्याश्रयत्वान् । दृष्टान्तस्य साध्यविकलता च । प्रत्यक्षत्वस्यापि परतः प्रामाण्यवादिना ज्ञानहेतुमात्रजन्याश्रयत्वानाश्रयणात् । प्रमात्वमेव यस्य ज्ञानहेतुमात्रजन्याश्रयं न भवति गुणविशिष्टज्ञानसामग्रीजन्यवृत्तित्वात् तस्य कथं तदवान्तरजातिप्रत्यक्षत्वं तद्वेतुमात्रजन्याश्रयं स्यात् । अस्ति च परतस्त्वेऽपि प्रयोगः ।

अनीश्वरप्रमा विज्ञानहेत्वतिरिक्तेत्वधीना कार्यत्वाद्भवत् । ननु किं ज्ञानव्यक्तेः प्रमाव्यक्तितोऽस्ति कश्चिद्विशेषः किं वा प्रमाव्यक्तिरेव ज्ञानव्यक्तिः । आद्ये प्रत्यक्षज्ञानव्यक्त्या स्पष्टो व्यभिचारः । प्रत्यक्षज्ञानव्यक्तेर्विज्ञानहेत्वतिरिक्तेत्वधीनत्वाभावात् । द्वितीयेऽपि जन्यापि विज्ञानरूपा प्रमा न ज्ञानहेत्वतिरिक्तेत्वधीनेति बाध इति चेन्मैवम् ।

तदीयमेवानुमानान्तरमाह—तथेति । ज्ञानत्वन्यूनवृत्तित्वमप्रामाण्येऽप्यस्तीति अत उक्तमप्रामाण्येतरत्वे सतीति । सत्तागुणत्वज्ञानत्वैर्व्यभिचारनिवारणाय ज्ञानत्वन्यूनवृत्तित्वग्रहणम् । अत्र किं ज्ञानहेतुमात्रजन्यवृत्तित्वमात्रं साध्यं किं वा ज्ञानहेत्वतिरिक्तजन्यावृत्तित्वे सति ज्ञानहेतुमात्रजन्यवृत्तित्वमिति विकल्पयाद्ये शत सिद्धसाधनमाह—अंशत इति । यथाचैतेषां स्वतः प्रमात्वं तैरङ्गीकृतं तथा सिद्धान्ते दर्शयिष्यते । साध्यविकलत्वमेव दर्शयति—ज्ञानत्वस्येति । दोषजन्येत्यतिरिक्तजन्यत्वमुक्तम् । अत्रान्तरासिद्धान्तिमतमवलम्ब्य कश्चिदोदयति—नाप्रमाणेति । उक्तं हि अविद्या वेद्यं सह भ्रम इत्यभिमान । एवं प्रकृतदूषणं परिहरतो विशेषणवैयर्थ्यं, तथाचैकं सन्धित्सतोऽपरं प्रच्यवत इत्याह—मैवमिति । व्यभिचारमेव स्फोरयति—तथाहीति । दूषणान्तरं चाह—दृष्टान्तस्येति । तस्यैव विवरणं प्रत्यक्षत्वस्यापीति । ननु किमिति प्रत्यक्षत्वे नाङ्गीक्रियते नहि तत्प्रमात्वमित्यत आह—प्रमात्वमेवेति । गुणविशिष्टसामग्रीजन्यप्रमाश्रयं प्रमात्वमिति यस्याङ्गीकारः स कथं तदवान्तरजातिप्रत्यक्षत्वं ज्ञानहेतुमात्रजन्याश्रयमङ्गीकुर्यादित्यर्थः । गुणग्रहणं दोषाभावस्याप्युपलक्षणम् ।

एवं स्वतस्त्वलक्षणप्रमाणे दूषयित्वा परतस्त्वे कुसुमाञ्जलीयमनुमानं दर्शयति—अनीश्वरप्रमेति । इदं च तत्र युक्तं प्रक्षिप्तमीश्वरप्रमाया बाधासिद्धी माभूतामिति । यदस्य रत्नदीपावल्यामनुमानदूषणमुक्तं तदुद्दिधीर्धुरनुवदति—ननु किं ज्ञानव्यक्तेरिति । किं ज्ञानत्वाश्रया या ज्ञानरूपिणी व्यक्तिस्ततो भिन्ना प्रमात्वाश्रयः प्रमाव्यक्तिः किं वा नेति विकल्पयाद्ये व्यभिचारमाह—प्रत्यक्षेति । द्वितीये ज्ञानरूपायाः प्रमाव्यक्तेर्ज्ञानहेत्वतिरिक्तेहेतुजन्यत्वसाधनं व्याहृतं, ज्ञानं ज्ञानहेतुत्वानविकरणजन्यमिति हि तदर्थं स्यादित्याह—द्वितीयेपीति । तदेतदूषयति—मैवमिति । यद्यपि व्यक्तयोर्भेदो नास्ति तथापि ज्ञानत्वप्रमात्वयोर्भेदात् प्रमाया

ज्ञानव्यक्तेः प्रमाव्यक्तितो भेदाभावेऽपि विज्ञानत्वप्रमात्वधर्मयोर्भेदात् । ततश्च घटत्वस्य पृथिवीत्वप्रयोजकातिरिक्तप्रयोजकत्वसाधन इव प्रमाया विज्ञानत्वप्रयोजकातिरिक्तप्रयोजकत्वसाधने बाधाभावात्, विपक्षे च प्रमात्वस्य विज्ञानत्वप्रयोजकमात्रप्रयोज्यत्वात्, ज्ञानत्ववदप्रमाज्ञानवृत्तित्वं स्यादिति बाधकस्तर्क उन्नेयः ।

ननु ज्ञानसामग्र्या एवानिरूपणात् तदतिरिक्तेहेत्वधीनत्वं दुर्ज्ञानमिति चेत् मैवम् । एवं सत्यप्रमायाः परतत्त्वं दत्तजलाञ्जलि स्यात् । तदपि हि ज्ञानसामग्रीनिरूपणाधीन-निरूपणं तस्य दोषानुषक्तविज्ञानसामग्रीजन्यताप्रतिज्ञानात् । तस्मान्नोत्पत्तौ प्रमायाः स्वतत्त्वं नापि ज्ञप्तौ । तथाहि नीलसंवेदनस्य प्रामाण्यं नीलसंवेदनेनैवावेद्यत इति स्वत-स्त्वमुच्यते किंवा तद्वेदनग्राहकमात्रग्राह्यत्वेन । नाद्यः । तस्य तत्राप्रमाणत्वात् । तथाहि यदेतन्नीलप्रकाशनप्रत्यक्षं तन्नीलं प्रति तावत्प्रत्यक्षमिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्वात् । स्वप्रा-माण्यपरिच्छिन्नौ तु कथं तत्प्रमाणं तस्य बहिरिन्द्रियैरसन्निकर्षात् । अपिच तत्प्रत्यक्षं विज्ञानस्यैव प्रामाण्यं गृहीयादुत तत्फलस्य । नाद्यः । ज्ञानस्य फललिङ्गानुमेयत्वेन तस्या-प्रत्यक्षतया तत्प्रामाण्यस्यापि प्रत्यक्षतानुपपत्तेः ।

फलस्यापि स्वप्रकाशतया बाह्येन्द्रियाविषयत्वात्, तद्वतयथार्थत्वलक्षणप्रामाण्यस्यापि

अपि ज्ञानत्वप्रयोजकव्यतिरिक्तप्रयोज्यत्वमुपपद्यते यथाह्येकस्मिन्नेव घटे द्रव्यत्वपृथिवीत्वघटत्वानां विभिन्नप्र-योजकतया द्रव्यादीनामपि विभिन्नप्रयोज्यतेत्यर्थः । ज्ञानहेत्वतिरिक्तेहेत्वधीनत्वाभावे च बाधकमाह—**विपक्षे चेति** । यदि ज्ञानहेतुमात्रप्रयोज्येयं तर्हि तत्प्रयोज्यज्ञानवृत्तिज्ञानत्ववत्प्रमात्वमप्यप्रमाया वर्ततेत्यर्थः ।

ननु साध्यमेवेदं नाङ्गं धारयति ज्ञानहेतोरेवानिरूपणादिन्द्रियादीनां परस्परव्यभिचारादात्मन संयोगस्य च सुखादिसाधारण्यात् अतस्तदतिरिक्तेहेतुरपि दुर्निरूप इति शङ्कते—**नन्विति** । दूषयति—**मैवमिति** । अवश्य तावदोषानुषक्तविज्ञानसामग्रीजन्यत्वमप्रमाया मन्वानेन ज्ञानसामग्री तावन्निरूपणीया, साच नास्मन्मते दण्ड-वारिता, भवितव्यं च तथा अन्यथा विलक्षणकार्यादर्शनप्रसङ्गादिति भावः । किमाश्रयज्ञानवेद्यत्वं प्रामाण्यस्य ज्ञप्तौ स्वतत्त्वं किं वा ज्ञानग्राहकग्राह्यत्वमिति विकल्प्याद्यं दूषयति—**नाद्य इति** । नीलसंवेदनस्य स्वप्रामाण्य-ग्राहकत्वाभावमेवोपपादयति—**तथाहीति** । इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ह्यनीश्वरप्रत्यक्षं तदिदं बहिरिन्द्रियस्या-न्तरस्य वा प्रामाण्येन सन्निकर्षादुत्पद्यते इति वक्तव्यं प्रत्यक्षवादिना, तत्र बहिरिन्द्रियग्राह्यत्वं प्रामाण्यस्यान्त-र्धर्मत्वादेवासम्भवीत्याह—**तस्येति** । नापि मानसत्वम् । तदाहि प्रामाण्यस्य मनसन्निकर्षसमये तत्सत्त्वार्थं तदाश्रयज्ञानस्यापि सत्त्वं वक्तव्यं तथाच न तदेव ज्ञानं स्वाश्रितप्रामाण्येन्द्रियसन्निकर्षादुत्पन्नमर्हति सिद्ध-स्वभावात् । ज्ञानान्तरस्योत्पत्तौ तु परत प्रामाण्यप्रसक्तिरिति लिङ्गादिजन्यत्वाभावाच्च नानुमित्यादिरूपता-शङ्कापि । किंचेदं प्रामाण्यमिति वा तत्तेन गृह्यते तत्प्रामाण्यमिति वा । आये ज्ञाननिष्ठतया अग्रहणात् गृहीते तस्मिन् संशयप्रसङ्गः । द्वितीये स्वविशेषितप्रामाण्यग्रहणे स्वग्रहापत्तिः । अपिच यथातथा भवतु तत्तु कस्य प्रामाण्यं गृह्णातीति भाट्टं प्रति विकल्पयति—**अपिचेत्यादिना** । तत्फलं प्राकट्य प्राकट्यलिङ्गानुमेयं वि-ज्ञानं भाट्टैरभ्युपेयते । नचाप्रत्यक्षगतं प्रामाण्यं भवितुं प्रत्यक्षमर्हति । नच स्पर्शशब्दादितुल्यता जातित्वात् । जातेरेव व्यक्तिप्रत्यक्षतानियतप्रत्यक्षत्वं, वक्ष्यते च जातित्वमतमनन्तरमेवेति भावः ।

फलगतप्रामाण्यग्रहणपक्षेपि किं बहिरिन्द्रियेणान्तरेण वा । नाद्य इत्याह—**फलस्यापीति** । अर्थनिष्ठ-त्वादेव नान्तरप्रत्यक्षत्वमपि । यदि कश्चिदात्मनिष्ठत्वं मन्वीत सुचरितमिश्रमतानुसारेण तथापि स्वप्रकाश-त्वादेर्वाविषयत्वे तद्वत्प्रामाण्यमविषय इत्यपि द्रष्टव्यम् । ज्ञानग्राहकादेव तत्प्रामाण्यग्रहणं इति स्वतत्त्वमिति

बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षविषयत्वानुपपत्तेः । नापि द्वितीयः । ज्ञानग्राहकमात्रग्राह्यत्वे प्रामाण्यस्य क्वचिदपि ज्ञाने प्रमाणमप्रमाणं वेति संशयाभावप्रसङ्गान् । ननु ज्ञानग्राहकमात्रग्राह्यत्वे-
प्यर्थविशेषितत्वस्य सांशयिकत्ववत्प्रामाण्यस्यापि सांशयिकत्वमुपपद्यते । तथाहि कुम्भज्ञा-
नस्याम्भो विषयोऽभून्नवेति संशयाना दृश्यन्ते जनाः साम्भसामनम्भसामपि कुम्भाना-
मुपलम्भात् । एवं प्रामाण्येपि संशयः किं न स्यादिति चेन्मैवम् । अम्भसः कुम्भग्राहक-
सामग्रीमात्रग्राह्यत्वानङ्गीकारात् अङ्गीकारे वाऽविशेषेण सकलकलशानां सलिलवत्त्वप्र-
सङ्गात् । तस्मान्नारिकेलफलान्तर्गतसलिलादिवद्भिन्नसामग्रीग्राह्यत्वादेव तत्र संशयः ।
प्रामाण्ये तु न तथेति युक्तमुत्पश्यामः । किंच विज्ञानग्राहकसामग्रीमात्रग्राह्यतायां प्रामा-
ण्यस्य शुक्तिकारजतादिवुद्धिष्वपि तद्ब्रह्मप्रसङ्गः । सत्यं गृहीतमेव तन् बाधकादपनीयते
यथाहुः—‘तस्माद्बोधाल्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता । अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानैरपो-
द्यते ॥’ इति । तस्मादस्माकमिष्टप्रसञ्जनमिति चेत् । मैवम् । परतःप्रामाण्यप्रसङ्गात् ।
तथाहि प्रसक्तमपि प्रामाण्यं रजतादिवुद्धिषु बाधकज्ञानादपनीयत इति वदता बाधक-
ज्ञानाभावनिवन्धनमेव प्रामाण्यावधारणमभ्युपगतं स्यात् ।

नच ज्ञप्तिस्वतस्त्वे मानमस्ति । ननु प्रमा स्वतो ज्ञायते परनिरपेक्षोत्पत्तिकत्वात् ज्ञान-
वत् तथा प्रामाण्यं स्वतो ज्ञायते अप्रामाण्येतरत्वे सति ज्ञानैकधर्मत्वात् ज्ञानत्ववदित्य-
स्येवानुमानमिति चेत् । मैवम् । आद्यप्रयोगे परतःप्रामाण्यवादिनं प्रति हेतोरसिद्धेः
दृष्टान्ताभावाच्च । नहि पक्षीकृतां प्रमां विपक्षकुक्षिनिक्षिप्तामप्रमां च विहाय ज्ञानस्यापरा

द्वितीयं पक्षं दूषयति—**नापि द्वितीय इति** । दृश्यते हि क्वचिज्ज्ञाने प्रतीतेपि प्रामाण्ये संशयः स न
स्यात् ज्ञाननिश्चायकादेव तन्निश्चयप्राप्तेरित्यर्थः । तत्र ज्ञानग्राहकमात्रग्राह्यत्वेऽप्युपपन्नं सदेहं ज्ञानगततद-
र्थविशेषितत्वस्य ज्ञानग्राहकमात्रग्राह्यत्वेपि तत्र सदेहदर्शनादतः प्रशिथिलमूलस्तर्कं हेतुश्च सव्यभिचार
इत्यौदयनं परतस्त्वानुमानं केचिदूषयावभूवुस्तन्प्रसङ्गादनूय दूषयति—**नन्वित्यादिना** । ज्ञानग्राह-
कग्राह्यत्वे समानेपि कुम्भसलिलयोर्भिन्नसामग्रीग्राह्यत्वात् सोदकेपि कुम्भे ‘कुतश्चिन्निमित्तात्सलिलग्राहकसाम-
ग्रीवैकल्याद्विषयत्वोपप्लवेन’ सभवत्यपि तावत्यंशे संशयः इहतु न तथा किंचिदस्ति संशयकारणमिति परि-
हरति—**मैवमिति** । बाधकान्तरमाह—**किंचेति** । पूर्वमुत्पत्तिस्वतस्त्वे विभ्रमेपि तत्सत्त्वं स्यादित्युक्तं,
संप्रति ज्ञप्तिस्वतस्त्वे तदुच्यत इति न जायते । उत्सर्गतं प्राप्तस्यापि तत्र तस्यापवादमाह स्वतः प्रामाण्य-
वादी—**सत्यमिति** । सत्यमङ्गीकारे । अनङ्गीक्रियमाणशमाह—**बाधकादिति** । बोधात्मकत्वेन
ज्ञानत्वादेव शुक्तिरजतादिवुद्धेरपि प्रमाणता प्राप्ता गृहीता तथाप्यर्थान्यथात्वज्ञानैः प्रतीतार्थस्यान्यथात्वबो-
धकैः बाधकज्ञानैर्हेतूत्थदोषज्ञानैर्हेतुगतदोषज्ञानैश्चापोद्यते बाध्यत इति भट्टोक्तेरर्थः परतः प्रामाण्यमापादयन्न-
निष्ठतामेव समर्थयते—**मैवमिति** । प्राप्तप्रामाण्यस्यापि बाधकज्ञानादपवादे तत्सदसत्त्वाभ्यामप्रामाण्य-
प्रामाण्यव्यवस्थेति परतः प्रामाण्यापत्तिः प्राप्नोतीत्यर्थः ।

ज्ञप्तिस्वतस्त्वानिश्चित्यमुक्त्वा प्रमाणमपि तत्राक्षिपति—**नचेति** । रत्नदीपावलीयमनुमानमुद्भावयति—
ननु प्रमेति । स्वतो ज्ञायत इति । ज्ञानज्ञापकमात्राज् ज्ञायते । **परनिरपेक्षेति** । ज्ञानसामग्रीमात्रादु-
त्पन्नत्वादित्यर्थः । परतः प्रामाण्यवादिनं परनिरपेक्षोत्पत्तित्वं प्रमाया अप्रसिद्धमिति दूषयति—**मैवमिति** ।
किंच प्रमाणाप्रमाणाभ्यां द्वैराश्यमेव ज्ञानस्य । तत्र प्रमाणवर्गः पक्षः सर्व इतरस्तु विपक्षः । ततो दृष्टान्तोपि

कोटिरस्ति या दृष्टान्तपदवीमुपारोहेत् । द्वितीये च प्रयोगे प्राभाकरस्य स्वयंप्रभवे ज्ञानैकधर्मे, भाट्टस्य च ज्ञाततानुमेयत्वधर्मे व्यभिचारः । तयोर्ज्ञानैकधर्मत्वेपि ज्ञानग्राहकसामग्रीमात्रग्राह्यत्वाभावात् । अन्यथा तत्र वादिनां विप्रतिपत्त्यभावप्रसक्तेः । ज्ञप्तिपरतस्त्वे चानुमानं न्यायकुसुमाञ्जलावाहस्य चोदयनः । प्रामाण्यं परतो ज्ञायते अनभ्यासदशायां सांशयिकत्वात् अप्रामाण्यवत् विपक्षे प्रामाण्ये संशयो न स्यात् । ज्ञाननिश्चायकादेव तन्निश्चयप्राप्तेर्बाधकस्तर्कः ।

ननु नैवमनुमानमुदेति । धर्मिहेत्वोरसिद्धेः । तथाहि प्रामाण्यं प्रवृत्तिसामर्थ्यलिङ्गावगम्यं भवद्विरूपगम्यते तस्य च लिङ्गस्य प्रवृत्तिः प्रामाण्ये संशयपूर्विका । असंदिग्धे सिषाध-यिषाभावात् अनुमानाप्रवृत्तेः । तत्संशयश्च कचिन्निश्चयाधीन इति प्रामाण्ये संशय-निश्चययोरन्योन्याश्रयादनवस्थानाद्वा नैकमपि सिद्धयेदिति चेन्मैवम् । विकल्पासहत्वात् । किं स्वार्थानुमानमसंदिग्धे न प्रवर्तते किंवा परार्थम् । नाद्यः । सद्यःसमुन्मीलितवि-लोचनशिखरिशिखरविपरिवर्तमानधूमलेखावलोकनसमनन्तरमप्रत्युहं धूमध्वजमनीषासमु-न्मेषात् । नापि द्वितीयः । विपर्यस्तमपि प्रतिप्रतिवादिनमनुमानप्रयोगोपगमात् । अन्यथा जल्पवितण्डयोः प्रमाणतर्काभ्यां स्वपरपक्षसाधनोपालम्भासंभवात् । 'संदिग्धे न्यायः

नास्तीत्याह—दृष्टान्तेति । अप्रामाण्येतरत्वे सति ज्ञानैकधर्मत्वादिति द्वितीयानुमानेपि गुरुमतभाट्टमतयो-र्यथायथमनैकान्तिकमाह—द्वितीयेचेति । ज्ञाततानुमेयं हि ज्ञानं भाट्टमते ततो ज्ञाततानुमेयत्वं नाम कश्चिज्ज्ञानस्य धर्मस्तस्मिन्नित्यर्थः । ज्ञानसामग्रीजन्यत्वधर्मे च व्यभिचारो द्रष्टव्यः । अथ किमिति तयोरपि न स्वतो ज्ञानमिति तत्राह—अन्यथेति । यदि हि ज्ञानग्राहकादेव तयोरपि ज्ञानं स्यात्तर्हि ज्ञानवदेव तयोरपि न विवादो वादिना स्यात् विवदन्तेचेत्यर्थः । सांशयिकत्वादित्युक्ते भागासिद्धिः स्यात् । नहि करतलस्पर्श-वत्त्वादिप्रत्यक्षे मुग्धोऽपि संदिग्धे तत उक्तम्—अनभ्यासदशायामिति । विपक्षे बाधकस्तर्क इति सबन्धः ।

यदत्र रत्नदीपावल्या दूषणमुक्तं तदनुवदति—ननु नैवमिति । प्रवृत्तिसामर्थ्येति । विमतमर्थाव्य-भिचारि समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा ज्ञानाभास इति व्यतिरेकिणानुमानादित्यन्वयिना वा । अनभ्यासदशापन्नेषु प्रामाण्यमनुमीयते सशयाच्च प्रवृत्तिरभ्यासदशापन्नेषु तु तज्जातीयत्वलिङ्गेन इत्यभ्युपेयत इत्यर्थः । कचिदनिर्णीतस्य साधारणधर्मदर्शनाद्युपस्थापिततया सशयकोटिताऽभावात् तन्निर्णयस्य च सशयसापेक्षानुमानाधीनत्वात्सशयनिर्णययोः परस्परसापेक्षत्वे परस्पराश्रयात् सशयान्तरनिर्णयान्तरापेक्षा-यामनवस्थानाच्च नैकमपि सिध्यति लोकसिद्धं च कचिद्रूपं सर्वत्र प्रमाणतः सिद्धमभिवाञ्छतो नास्ति । अतो निर्णीतप्रामाण्याभावाद्वैयर्थ्यभावः सशयाभावाच्च हेत्वभाव इति खण्डलार्थः । अत्र विकल्पपूर्वकं सशयव्यति-रेकेणापि निश्चयमुपपादयन्धर्मिहेतुः समर्थयते—मैवमित्यादिना । शिखरी पर्वत तस्य शिखरमग्रिम-भागः अप्रत्युहं निर्विघ्नं धूमध्वजो वह्निर्मनीषा बुद्धिः स्वार्थानुमानं च हितसाधनादिज्ञानप्रामाण्यानुमानमि-त्यर्थः । परार्थानुमानेपि न सशयपूर्वकत्वनियमः विपर्यस्तं प्रत्यपि प्रयोगादित्याह—विपर्यस्तमिति । जल्पवितण्डयोरिति । नहि तत्र सद्विहानं प्रतिवादी यं प्रत्यनुमानं प्रयुज्येत अपितु विपर्यस्तः । तथाचाह—वाचस्पतिः—'निश्चितौ हि वादं कुरुत' इति । वादे तु स्वत एव वाह्ययो वा सशयोस्ति नत्व-तरयोरित्यर्थः । ननु 'संदिग्धे न्यायः प्रवर्तते' इति वृद्धवचनस्य तर्हि का गतिरित्यत आह—संदिग्धे इति । नैतत्सदेहाभावेऽनुमाननिवृत्तिपरः अपित्वनुमानस्थले सदेहोप्यस्तीत्ययोगव्यावृत्तिपरमित्यर्थः । अयो-

प्रवर्त्तत' इति वचनस्यायोगव्यवच्छेदपरत्वात् कचित्साधकबाधकप्रमाणानुदयात्संदेहे सति न्यायप्रवृत्त्युपपत्तेः । नचानभ्यासदशायामिति विशेषणस्य वैयर्थ्यम् । असिद्धिवारकत्वात् । नच व्यभिचारवारकमेव हेतोर्विशेषणमिति नियमः । चक्षुस्तैजसं रूपादिषु मध्ये रूप-स्यैवाभिव्यञ्जकत्वान्, प्रदीपवदित्यादिचिरंतनानुमानेष्वसिद्धिनिवारकाणां विशेषणानां बहुलमुपलम्भमात् । अपिचासिद्धिनिवारणार्थेपि विशेषणोपादाने न दोषं पश्यामः क्षित्यादिकमकर्तृकं शरीर्यजन्यत्वादाकाशवदित्यादाविव व्याप्यत्वासिद्धिरिति चेन्मैवम् । तत्राकर्तृकत्वे साध्ये तदेकदेशस्याजन्यत्वस्यैवोपाधितया विशिष्टस्य व्याप्यत्वासिद्धेः । उक्तं हि 'एकामसिद्धिं परिहरतो द्वितीयासिद्धिरापद्यत' इति । प्रकृते तु परतो ज्ञानेन सांशयिकत्वमुपाधिः । स्फीतालोकविपरिवर्त्तिनां परतो ज्ञायमानानामपि घटादीनां सांशयिकत्वाददर्शनात् । ननु प्रामाण्यस्य परतो ज्ञानेऽनवस्था, तत्तत्प्रामाण्यग्रहणायान्यस्यान्यस्य प्रमाणस्यापेक्षणादतः प्रतिकूलतर्कपराहतं परतः प्रामाण्यानुमानमिति चेत् । मैवम् । मानान्तरस्यावश्यंभावनियमाभावात् ।

नच स्फुरत एव मानस्यार्थनिश्चायकत्वमन्यथाज्ञानेप्यनन्तरं संदेहापत्तेरिति वाच्यम् । ज्ञाततयानुमेयं ज्ञानमिति मते निलीनस्यापि ज्ञानस्यार्थनिश्चायकत्वात् । स्वयं वेदनं संवे-

गव्यावृत्तिमेवोपपादयति—**क्वचिदिति** । यच्च तैरेवानभ्यासदशायामिति विशेषणं व्यर्थं व्यभिचारानिवारकत्वादसिद्धिपरिहाराय च विशेषणप्रक्षेपायोगादित्युक्तम् अनभ्यासदशायामित्यादिना तदनूद्य दूषयति—**नचानभ्यासेत्यादिना** । रूपव्यञ्जकत्वादित्युक्ते मनस्यनैकान्तिकता तदर्थं रूपस्यैवेत्युक्तम् तथाचासिद्धिः द्रव्यसामान्यादेरपि व्यञ्जकत्वाच्चक्षुषस्तदर्थं रूपादिषु मध्य इत्युक्तम् यद्यपि रसाग्राहकत्वेसति रूपव्यञ्जकत्वादित्युक्त एव मनस्यपि न व्यभिचार तथाप्यसिद्धिपरिहारार्थमपि भवति विशेषणमिति दर्शयितुमिदं चिरन्तनैर्विशेषण प्रक्षिप्तमिति भावः । तत्किमनुपपन्नो व्याप्तवचनेनैव साध्योयमर्थ इति मन्वानं प्रत्यनुपपत्त्यभावं दर्शयति—**अपिचेत्यादिना** । दोषं शङ्कयति—**क्षित्यादिकमिति** । अत्र ह्यजन्यत्वादित्युक्तेऽङ्कुरादेर्जन्यत्वादसिद्धिः स्यात्तदर्थं शरीर्यजन्यत्वादित्युक्तम् । तदत्र यथासिद्धिपरिहाराय विशेषणे कृते व्याप्यत्वासिद्धिः अजन्यत्वस्यैवाकर्तृकत्वोपाधित्वात्तद्विहापि स्यादित्यर्थः । न तत्रासिद्धिपरिहारप्रयोजनविशेषणवत्त्वाद्याप्यत्वासिद्धिः । किं तर्हि तदेकदेशस्योपाधित्वसंभवात् । नचात्र तथा सांशयिकत्वस्यैकदेशस्योपाधित्वमिति परिहरति—**मैवप्रित्यादिना** । **एकामसिद्धिमिति** । स्वरूपासिद्धिं परिहरतो व्याप्यत्वासिद्धिरिति बौद्धधिकारे उदयनेनोक्तमित्यर्थः । **परतो ज्ञायमानानामिति** । ज्ञानग्राहकारिक्तग्राह्याणामित्यर्थः । प्रकृतानुमानस्य तर्कपराहति शङ्कते—**ननु प्रमाणस्येति** । येन हि प्रमाणेन प्राथमिकस्य प्रामाण्यं गृह्यते तत्प्रामाण्यमपि प्रमाणान्तरेणैवमुत्तरत्रापीत्यनवस्थेत्यर्थः । उक्तं च वाचस्पतिमिश्रे —'पर हि तद्गोचरं वा ज्ञानमभ्युपेयते अर्थक्रियानिर्भासं वा ज्ञानं तद्गोचरं नान्तरीयकार्थान्तरदर्शनं वा तत्सर्वं स्वयमबोधितप्रामाण्यमाकुलं सत्कथं प्रवर्तकज्ञानं पूर्वमनाकुलये'दिति ।

ननु कथमवश्यंभावनियमाभाव यावता स्फुरत एव प्रमाणस्य स्वविषयनिश्चायकत्वनियमात् तदुत्तरप्रमाणानामपि भवितव्यमेव स्फुरणेनेति, नेत्याह—**नच स्फुरत एवेति** । नच वाच्यमित्युक्तं तत्र हेतुः—**ज्ञाततयेति** । स्वतः प्रामाण्येपि समानैवानवस्थेत्यपि द्रष्टव्यम् । भवतु भाट्टान्प्रति अज्ञायमानप्रकाशहेतुत्ववादिनो व्यभिचार स्वप्रकाशवादिन प्रामाकर प्रति किं वक्तव्यमित्याह—**प्रामाकरस्यापीति** । तत्र किं ज्ञान-
चि. १६

दनमिति वदतः प्राभाकरस्यापि मते प्रामाण्यस्य तद्धर्मस्य तद्गतगुणत्वादेरिव न स्वतः स्फुरणं तस्यापि संवेदनवत्स्वयंप्रभावत्वापत्तेः । तथात्वेचाप्रमात्वस्यापि स्वत एव स्फुरणप्रसङ्गात् ततश्चाप्रामाण्यं परतः प्रतीयते इति स्वसिद्धान्तभङ्गप्रसङ्गः । वेदान्तिनां च प्रामाण्यस्य साक्षिवेद्यत्वेन स्फुरणनियमादिदं प्रमाणमप्रमाणं वेति संदेहो न भवेत् ।

नच प्रमाणं स्वत एव फलं जनयति हानोपादानोपेक्षालक्षणस्य त्रिविधस्यापि फलस्य वस्तुज्ञानातिरिक्तगुणदोषमाध्यस्थ्यदर्शनपूर्वकत्वाभ्युपगमात्, तस्माद्वेदान्ताः स्वत एव प्रमाणमिति न प्रामाणिकप्रतीतिपथमवतरति । अत्राभिदध्महे । न तावत्प्रमायाः स्वतस्त्वनिरुक्तिः यतः—‘आहुर्विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सत्यजन्यता । तदन्यतः प्रमायास्तत्स्वतस्त्वमिति तद्विदः’ ॥ २१ ॥ विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति तदतिरिक्तहेत्वजन्यत्वं प्रमायाः स्वतस्त्वं ज्ञाम् । नचैतल्लक्षणमव्यापकम् । सर्वप्रमाणानुगमात् ।

नचाजन्यत्वादव्याप्तिरीश्वरज्ञाने । तस्याजन्यत्वेपि ज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सत्यतिरिक्तकारणजन्यत्वलक्षणविशिष्टधर्मवत्त्वाभावात् । नाप्यतिव्यापकम् । अप्रमाया विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सत्यतिरिक्तहेतुजन्यत्वात् । अस्ति चेह मानमनुमानं तथाहि ‘प्रमा विज्ञानसामग्री जन्यत्वे सति नान्यतः । जायते व्यतिरिक्तत्वादप्रमातः पटादिवत्’ ॥ २२ ॥ प्रमा विज्ञानसामग्री जन्यत्वे सत्यतिरिक्तजन्या न भवति अप्रमातिरिक्तत्वात् पटा-

गतं प्रामाण्यं अर्थप्रकाशनसमसमये ज्ञानेन स्फुरति स्वत एव वा । न तावज्ज्ञानेन । पूर्वमेव निरस्तत्वात् । द्वितीयं निषेधति—**न स्वतःस्फुरणमिति** कुतो न स्वत स्फुरणमिति तत्राह—**तस्यापीति** । ततोपि वा किमनिष्टमिति तत्राह—**तथात्वे चेति** । तथाप्यपरितुष्यन्तं प्रत्याह—**ततश्चेति** । ननु साक्षिवेद्यवृत्तिज्ञानवादिना तत्समये च साक्षिणैव प्रामाण्यमपि स्फुरतीति वदतामखण्डितैव व्याप्तिरित्यत आह—**वेदान्तिनां चेति** । तेषां सन्देहानुपपत्तिरेव बाधिकेत्यर्थः ।

एवमुत्पत्तौ ज्ञप्तौ च स्वतस्त्वं दूषयित्वा परतस्त्वं समर्थितम् इदानीं व्यवहृतावपि तदुभयं व्याकरोति—**नच प्रमाणमिति** । नच वस्तुज्ञानमात्राद्धानादयोऽपि इष्टसाधनतादिज्ञानात्ततश्च घटज्ञानस्येष्टसाधनतादिज्ञानार्थीनव्यवहारजनकत्वं तस्य व्यवहृतौ परतस्त्वमित्यर्थः । लक्षणं तावत्समर्थयते—**न तावदिति** । श्लोकेन लक्षणं संगृह्णाति—**आहुरित्यादिना** । यद्विज्ञानसामग्रीजन्यत्वेसति तदन्यतः तदतिरिक्तसामग्रीतोऽजन्यता प्रमायास्तत्स्वतस्त्वं प्रमास्वतस्त्वमिति तद्विद आहुरिति योजना । लक्षणवाक्यं विवृणोति—**विज्ञानेति** । विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति विज्ञानसामग्रीत्वानधिकरणजन्यत्वानधिकरणत्वं स्वतस्त्वमित्यर्थः । विज्ञानसामग्रीजन्यत्वमप्रामाण्येऽप्यस्तीति परतः प्रामाण्यवादिभिश्च स्वीक्रियत इत्यतिव्याप्तिरर्थान्तरता वा स्यात् तन्निवृत्त्यर्थं तदतिरिक्तहेत्वजन्यत्वमित्युक्तम् ।

ननु कथं नाव्यापकं यावत्तेश्वरज्ञानेऽजन्येऽव्याप्तिः विशेषणाभावादिति तत्राह—**नचाजन्यत्वादिति** । विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति तदतिरिक्तसामग्रीजन्यत्वं यदप्रमासु प्रसिद्धं तदत्यन्ताभाववत्त्वं हि लक्षणं एतच्चेश्वरज्ञानेऽस्तीति नाव्याप्तिरित्यर्थः । अत्र चाप्रमाव्यतिरिक्तं सर्वं लक्ष्यसमानयोगक्षेमं पराभिमतपरतस्त्वव्यतिरिक्तस्वतस्त्वस्य विवक्षितत्वात् । श्लोकविवरणयोः प्रमापदस्य प्रकृतोपयोगमात्रनिबन्धनत्वात् । अत एव वक्ष्यमाणानुमाने पटादीनां सपक्षीकरणम् । एवंच सति पटादिष्वव्याप्तिपरिहारार्थं विज्ञानसामग्रीजन्यत्वग्रहणमिति द्रष्टव्यम् । स्पष्टार्थं वा विज्ञानग्रहणम् । प्रमायासुक्तस्वतस्त्वसद्भावेऽनुमानमाह श्लोकेन—**प्रमेति** । अत्र जायत इत्यन्ता प्रतिज्ञा, अप्रमातो व्यतिरिक्तत्वादितिहेतुः । अतिरिक्तसामग्रीजन्या न भवतीत्युक्ते

दिवत् । नच ज्ञानत्वानधिकरणत्वमुपाधिः । ईश्वरज्ञाने साध्याव्याप्तेः । नापि ज्ञानसामग्र्यजन्यत्वमुपाधिः । यज्ज्ञानसामग्रीजन्यं तज्ज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सत्यतिरिक्तजन्यमप्रमाणवदिति व्यतिरेकिव्याप्तावप्रमात्वस्यैवोपाधित्वात् । विपक्षे च विज्ञानसामग्रीमात्रादेव प्रमोत्पत्तिसंभवे तदतिरिक्तस्य गुणस्य दोषाभावस्य वा कारणत्वकल्पनागौरवप्रसङ्गो बाधकस्तर्कः । एतेन 'प्रमा विज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीना कार्यत्वात्पटव'दिति योयमुदयनस्य परतस्त्वेपि प्रयोगः सोपि परास्तः । प्रमा दोषव्यतिरिक्तज्ञानहेत्वतिरिक्तजन्या न भवति ज्ञानत्वादप्रमावदिति प्रतिसाधनग्रस्तत्वाच्च ।

नच प्रमात्वस्य विज्ञानसामग्रीमात्रप्रयोज्यत्वादप्रमाज्ञानवृत्तित्वं स्यादिति वाच्यम् । तत्र प्रयोजकाभावादेव प्रयोज्यस्याप्रसक्तेः । दोषासहकृतज्ञानसामग्रीप्रयोज्यं हि प्रमात्वं तत्र दोषस्यैव सद्भावात् । कथं प्रमात्वस्य वर्तमानत्वसंभावनापि समुद्भवेत् दोषस्याप्रमाहेतुत्वे तदभावस्य गले पादुकान्यायेन प्रमां प्रति हेतुत्वं स्यादिति चेत् स्यादेवं यद्यनन्यथासिद्धावन्वयव्यतिरेकौ कारणत्वावेदकौ स्यातां तौ तु विरोध्यप्रमाप्रतिबन्धकत्वे-

बाध । यत्किञ्चिदतिरिक्तसामग्रीजन्यत्वात्तदर्थं विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सतीत्युक्तम् । तावत्युक्ते परतस्त्वेप्युपपद्यमानतथार्थान्तरता तदर्थमुत्तरं विशेष्यग्रहणम् । ईश्वरज्ञाने विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सत्यतिरिक्तसामग्रीजन्यत्वाभावलक्षणं साध्यमस्ति नच ज्ञानत्वानधिकरणत्वरूपोपाधि अतः साध्याव्याप्तेरनुपाधिरित्याह—**ईश्वरेति** । ननु तर्हि ज्ञानसामग्र्यजन्यत्वमुपाधि तथाचेत्स्वरज्ञानेपि विद्यमानत्वान्न साध्याव्याप्तिरिति तत्राह—**नापीति** । नायमुपाधिव्यतिरेके सोपाधिकतया साध्याव्यापकत्वादित्याह—**यज्ज्ञानेत्यादिना** । ईश्वरप्रमाया चाप्रमात्वस्य व्यतिरेकसिद्धिः । नचाप्रमा विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सत्यतिरिक्तजन्या न भवति प्रमातिरिक्तत्वात् पटवदित्याभाससमानयोगक्षेमता । दोषान्वयव्यतिरेकबाधात्, प्रतियोग्यप्रसिद्ध्या अप्रसिद्धविशेषणत्वाच्च । विपक्षे बाधकतर्कमाह—**विपक्षे चेति** । यत्तु पूर्वपक्षे परतस्त्वेनुमानमुदयनीयमुक्तं तत्रापि गौरवतर्कपराहत्या शङ्कितोपाधितामतिदिशति—**एतेनेति** । सत्प्रतिपक्षता चाह—**प्रमेत्यादिना** । ज्ञानहेत्वतिरिक्तहेतुजन्यत्वानधिकरणत्वमात्रसाधने दृष्टान्ते साध्यवैकल्यम् अतिरिक्तदोषजन्यत्वादप्रमायास्तन्निवृत्त्यर्थं दोषातिरिक्तैत्युक्तम् । दोषातिरिक्तजन्या न भवति इत्युक्ते बाधस्तदर्थमुत्तरं विशेषणम् । दोषव्यतिरिक्तज्ञानहेत्वतिरिक्ताजन्यत्वं दोषजन्यत्वाद्वा, ज्ञानहेत्वतिरिक्ताजन्यत्वाद्वा । नाय । प्रमायामुभयानभिमतं हि तत् । द्वितीयेऽभीष्टसिद्धिः । नच सिद्धसाधनतानिष्ट्यै प्रथमं विशेषणम् । अनधिकरणत्वस्य विवक्षितत्वात् । नचाप्रमात्वमुपाधि । ईश्वरज्ञाने साध्याव्याप्ते ।

यत्तु स्वतस्त्वे बाधकतर्क उक्तं विज्ञानसामग्रीमात्रजन्यत्वे ज्ञानत्ववदप्रमाणवृत्तित्वमपि स्यादिति तत्परिहरति—**नचेति** । प्रयोजकमेव दर्शयन् तदभावं दर्शयति—**दोषेत्यादिना** । अत्रापि पूर्वपक्षोक्तं स्मारयति—**दोषस्येति** । नान्वयव्यतिरेकमात्रात्कार्यकारणभावसाय । माभूद्धूमपैङ्गलोस्तथाभावः स्तोन्वयव्यतिरेकाविति । कित्वनन्यथासिद्धाभ्याम् । नचात्र तथाविधाविति परिहरति—**स्यादेवमिति** । प्रमोत्पत्तौ या विरोधिन्यप्रमा तदुत्पत्तिप्रतिबन्धकविषयावित्यर्थः । यथा च न प्रतिबन्धाभावस्य कारणता तथोपरितनवादे विवरिध्यते । यत एवं स्वतःप्रामाण्यं तस्माद्गुणेभ्यो दोषाणामभाव एव परं जायते ननु प्रमाणोत्पत्तिः ।

नोपक्षीणौ न कारणभात्रत्वमावेदयतः । तथाचाहुर्भट्टपादाः—‘तस्माद्गुणेभ्यो दोषाणामभावस्तदभावतः । अप्रामाण्यद्वयासत्त्वं तेनोत्सर्गोऽनपोदित’ इति ।

नन्वेकस्यापि दोषाभावस्याप्रमाप्रतिबन्धकत्वं प्रमाहेतुत्वं च किं न स्यात् एकस्यापि संस्कारस्यानुभवनाशकत्वस्मृतिहेतुत्वयोरपि दर्शनादिति चेन्मैवम् । तत्र संस्कारस्यानुभवनाशकत्वेऽपि स्मृतेः संस्कारातिरिक्तकारणान्तरानिरूपणात् उभयहेतुताया अवश्याश्रयणीयत्वात् । नच तत्रापि संस्कारनाशात्स्मृतिः किं न स्यादिति वाच्यम् । स्मृतिसमुदयव्यतिरेकेण संस्कारनाशस्यैवासंभवात् प्रकृते तु ज्ञानसामग्रीत एव प्रमोद्धवसंभवे दोषाभावस्यापि तद्धेतुत्वकल्पना निष्प्रामाणिका तस्मात्प्रमा विज्ञानसामग्रीमात्रादेव जायत इति सिद्धम् । तथा प्रमाज्ञप्तिरपि विज्ञानज्ञापकसामग्रीत एव । नच तथात्वे विज्ञान इव प्रमाणमप्रमाणं वेति संशयानुदयप्रसङ्गः । स्वतः प्रमाणत्वेन भवदभिमतधर्मिज्ञानेऽनुव्यवसाये च स्फुरत्यपि सुगतमतानुसारिणामप्रमाणमेवेति विपर्यासदर्शनात् स्वतः प्रमाणत्वेन भवदङ्गीकृतानुमित्यादावपि ज्ञायमानायां चार्वाकस्य प्रामाण्ये विप्रतिपत्युपलब्धेः । स्वरूपभेदादिनां च गृह्यमाणेषु स्थानोः स्वरूपे स्थाणुर्वा पुरुषो वेति संदेहस्य पुरुष एवेति विपर्ययस्य चोपलम्भात् सत्यपि प्रतिभासपुष्कलकारणे प्रतिबन्ध-

ननु तर्हि दोषाभावादेव भवतु प्रामाण्यं तथापि सैव परतः प्रामाण्यपिशाचिका विशेषेति तत्राह—**तदभावत इति** । दोषाभावादप्रामाण्यद्वयस्य मिथ्यात्वसंशयत्वलक्षणस्यासत्त्वमेव जायते अनुत्पत्तिर्लक्षणाप्रामाण्यस्यानाद्यभावतया दोषादुत्पत्त्यसंभवेन तदभावेन भावस्याप्यसंभवात् तेन कारणेनोत्सर्गो ज्ञानसामग्रीमात्रप्रयुक्तत्वलक्षणोऽनपोदित अपोदितो न भवतीति भट्टवार्तिकार्थः ।

भवतु दोषाभावस्य विरोधिप्रतिबन्धकत्वं तथापि किमायातं प्रमानुत्पादकत्वे नहि संस्कारस्य स्वजनकानुभवविनाशकत्वमित्येतावता स्मृतिः प्रति हेतुत्वमपनीयत इत्याशङ्क्य वैषम्येण परिहरति—**नन्वित्यादिना** । ननु किमिति तत्र कारणान्तरानिरूपणं यावता संस्कारनाश एव स्मृतिकारणं भवत्विति नेत्याह—**नच तत्रापीति** । नित्यद्रव्येषु गुणनाशस्य गुणान्तरोत्पादनियतत्वादिति भावः । एवं तत्रानन्यगतिकत्वमुक्त्वा प्रकृते तदभावमाह—**प्रकृतेत्विति** । एतेनाप्रामाण्ये दोषाणामन्यथासिद्धिरुदयनापादितापोदिता । तत्र हेत्वन्तराभावादभावहेतुताया निरस्तत्वादिति । नच सामर्थ्यैक्ये ज्ञानप्रमालक्षणकार्यभेदानुपपत्तिर्वाधिका । एकस्मादप्यग्निसंयोगात्पार्थिवपरमाणौ रूपरसगन्धस्पर्शदाहादीना बहूनामङ्गीकारात् । प्रागभावभेदस्य च तदभावे कार्याभावलक्षणव्यतिरेकाभावादकारणत्वादुत्पत्तिस्वतस्त्वमुपसहस्य ज्ञप्तिस्वतस्त्वमपि निर्वक्ति—**तथा प्रमेति** । यत्तत्राप्युक्तं विज्ञानग्राहकसाक्षिमात्रग्राह्यत्वेन प्रामाण्यस्य सदेहो न स्यात् ज्ञानवदेव निर्णीतत्वादिति तत्परिहरति—**नचेति** । तथाहि भवता धर्मिमात्रज्ञानं स्वतः एव प्रमाणं सर्वं ज्ञानं धर्मिण्यभ्रान्तमिति स्वीकारात् तथा अनुव्यवसायज्ञानप्रामाण्यमपि तत्तज्ज्ञानस्फुरणसमय एव स्फुरति तथापि तत्र बौद्धानां धर्मधर्मिभावाद्यपलापाय बहिष्कारोपवादिनां स्वप्रकाशज्ञानरुचीनामप्रामाण्यबुद्ध्या विपर्यासं तथा अनुमित्युपमित्योश्च भवदभिमतस्त्वाविक्रमानभावयोश्चार्वाकवैशेषिकयोर्विपर्यासः । यथावा प्राभाकरार्कबन्धुप्रभृतीनां स्वरूपभेदादिनां स्वरूपे स्फुरत्यपि भेदाग्रहात् सदेहविपर्ययौ तथात्रापि किं न स्यातामित्यर्थः । समाधानसामर्थ्यं दर्शयितुं तन्मुखेनैव समाधानमुद्गात्रयति—**सत्यपीत्यादिना** । प्रतिभासस्य पुष्कलकारणे सत्यपि

कदोषादिसमवधानात्तत्र तत्र सशयविपर्यासयोरुपपत्तौ प्रकृतेऽपि समं समाधानमन्यत्रा-
भिनिवेशात् । नच ज्ञानज्ञापकादेव प्रामाण्यग्रहणे मिथ्यारजतादिवुद्धिषु प्रामाण्यग्रह-
णप्रसङ्गः । प्रसक्तस्यापि प्रामाण्यग्रहणस्य कारणदोषावगमबाधबोधाभ्यामपनयात् ।
नच ताभ्यामपनये तयोरभावज्ञानस्य प्रामाण्यग्रहणे तुल्योपपत्तौ परतः प्रामाण्यापत्ति-
रिति वाच्यम् । दोषबाधबोधयोरनुद्यमात्रेण प्रामाण्यस्फुरणोररीकरणात् ।

तथाचाहुर्भट्टपादाः—‘यदा स्वतः प्रमाणत्वं तदान्यत्रैव मृग्यते ॥ निवर्तते हि
मिथ्यात्वं दोषाज्ञानादयन्नत’ इति । अन्यथा तदभावावगमस्यापि प्रामाण्यस्फुरणहेतुत्वेन
तदभावावगमस्यापि प्रामाण्यावगमाय तत्तदभावावगमान्तराणामप्यवश्याश्रयणीयत्वा-
दनवस्था, तथाचानभ्यासदशायां सांशयिकत्वादिति हेतोः स्पष्टमनैकान्तिकत्वम् । स्वतः
प्रमाणत्वेन भवदभिमतेष्वेवानुमानोपमानानुव्यवसायधर्म्यध्यवसायेषु व्यभिचारस्य
दर्शितत्वात् । उक्तं चैतदनुमानादेः स्वतःप्रामाण्यमाचार्यवाचस्पतिना न्यायवार्तिक-
टीकायाम् । ‘विमतं ज्ञानमर्थाव्यभिचारि समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात् यदि पुनरेवं नाभ-
विष्यन्नसमर्था प्रवृत्तिमकरिष्यत् यथाप्रमाणाभास’ इति व्यतिरेकी । अन्वयव्यतिरेकी

प्रबलप्रतिबन्धवशात् तत्र तत्र सशयाद्युत्पत्तिरत्रापि समानेत्यर्थः । यत्तु ज्ञप्तिस्वतस्त्वे तेन बाधकमुक्तं तत्प-
रिहरति—नचेति । हेतुमाह—प्रसक्तस्यापीति । ननु कारणदोषज्ञानबाधकज्ञानाभ्या चेत्प्रसक्तस्यापि
प्रामाण्यग्रहणस्यापनयस्तर्हि तयोरभावज्ञानस्य प्रामाण्यज्ञानहेतुत्वं स्यादिति युक्तमिति तत्राह—नच ताभ्या-
मिति । न वयमप्रामाण्यज्ञाने कारणदोषज्ञानबाधकज्ञानवत्प्रामाण्यावगमे तयोरभावज्ञानं कारणमाश्रयामहे
अपि तु तज्ज्ञानानुद्यमात्रं तेन न परतः प्रामाण्यापत्तिरित्यर्थः । उररीकरणं स्वीकारः ।

दोषाभावादिज्ञानस्य प्रामाण्यज्ञानहेतुताभावं भट्टाचार्यवचनेन द्रढयति—तथाचाहुरिति । यदा स्वतः
प्रमाणत्वमस्याश्रीयते तदान्यज्ज्ञानग्राहकातिरिक्तं नैव मृग्यते । ननु दोषाभावज्ञानमतिरिक्तं मृग्यत इति
तत्राह—निवर्तते इति । दोषज्ञानानुद्यमात्रात् अयन्नतो मिथ्यात्वशङ्का निवर्तते इत्यर्थः । नच दोषज्ञा-
नानुद्यमादायैव परतस्त्वापत्तिरिति वचनीयम् । विरोधिवुद्धयप्रतिबन्धकतयैव कृतसमाधानत्वात् । दोषा-
भावावगमस्यापि प्रामाण्यहेतुत्वेऽनवस्थाबाधकमाह—अन्यथेति । येन हि दोषाभावज्ञानेनाद्यस्य प्रामाण्य-
मवगम्यते तत्प्रामाण्यावगमार्थमपि दोषाभावज्ञानान्तरं गवेषणीय एवंकारमुपर्यपीत्यनवस्थेत्यर्थः । यत्तु
ज्ञप्तिपरतस्त्वेऽनुमानमुद्यनीयं तत्राप्युक्तं दूषणमतिदिशति—तथाचेति । तथाचेत्येतदेवोद्घाटयति—
स्वतःप्रमाणत्वेनेति । ननु यद्यनुमानादि स्वतः प्रमाणमिति परैरङ्गीकृतं स्यात् स्यादयं मनोरथस्तदेव तु
कृत इति तत्राह—उक्तं चैतदिति । प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्ताविति प्रथमभाष्यव्याख्यानावसर इति शेषः—
समर्थप्रवृत्तीति । फलामिसन्धिप्रवृत्तिजनकत्वादित्यर्थः । व्यतिरेकव्याप्तिं दर्शयति—यदि पुनरेव-
मिति । अभविष्यदिति च क्रियातिपत्तौ लुङो रूपम् । अत्रचोपेक्षाज्ञानानां पक्षत्वेनानुपादानात् भागा-
सिद्धिः । व्यतिरेकी सर्वत्र सपक्षाभावमभ्युपेत्य वर्तते इति नासाधारणानैकान्तिकता । ननु नास्त्येव वादी
य प्रामाण्यनिश्चये विप्रतिपद्येत । नहि प्रामाण्यं स्वीकृत्य तन्निश्चये विप्रतिपत्तिः । स्वीकारस्य निश्चयमूलत्वात् ।
नाप्यस्वीकृत्य । प्रमाणान्नन्यविप्रतिपत्तेः सर्वत्र सुलभतया सर्ववादविधिनिषेधप्रसङ्गात् । अनिश्चिते तु प्रामाण्ये
तदतद्रूपसदेहोपि क्वचिद्दुर्लभः । विशेषस्युत्तरभावात्, तत्पूर्वकत्वाच्च सशयानाम् । नापि सर्वत्राप्रामाण्यप्रस-
ङ्गनम् । प्रामाण्यग्रहणोपायनिराकरणस्याप्रामाण्येऽपि तुल्यत्वात्तदस्ति प्रामाण्यादिकं तन्निश्चयश्च तदुपायस्तच्चि-
न्तामर्हति । एवंचान्वयोस्त्येव तत्कथं केवलव्यतिरेकीत्याशङ्क्य सप्रत्युत्तरमाह—अन्वयव्यतिरेकीति ।

वा । 'अनुमानस्य स्वतः प्रमाणतया अन्वयस्यापि संभवात् । तथानुमानस्य तु परितो निरस्तसमस्तविभ्रमाशङ्कस्य स्वत एव प्रामाण्यम् । अनुमेयाव्यभिचारिलिङ्गसमुत्थत्वात् । एतेनोपमानं व्याख्यातम्' इत्यादि । सत्प्रतिपक्षसाधनत्वाच्च । विवादस्थले प्रमात्वं विज्ञान-
ग्राहकसामग्रीमात्रग्राह्यं अप्रमामात्रवृत्तित्वानधिकरणत्वे सति ज्ञानैकवृत्तिजातित्वात्
ज्ञानत्ववत् ।

ननु कथं प्रमात्वं जातिः साक्षात्कारित्वेन तस्य परापरभावासंभवात् । तथाहि यदि साक्षात्कारित्वं परं तदा तदपरसामान्यस्य प्रमात्वस्य परसामान्याविनाभावनियमात्स-
र्वैव प्रमा साक्षात्कारिण्येवेत्यनुमानादेः परोक्षस्याप्रमात्वमेव भवेत् । अथापरं तदा साक्षात्कारित्वस्य प्रमात्वाविनाभावादिदं रजतमित्यादिसाक्षात्कारिणो विभ्रमस्य प्रमा-
त्वप्रसङ्गः । किंच यदि प्रमात्वं जातिस्तदा सर्वं ज्ञानं धर्मिण्यभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्यय
इत्येषा परिभाषा परिलुप्येत । एकस्यैवेदं रजतमिति ज्ञानस्य धर्म्यं प्रमात्वमप्रमात्वं
चेतरांशे इति जातिसङ्करप्रसङ्गादिति चेत् । मैवम् । साक्षात्कारित्वस्य रजतादिविभ्र-

नन्वनुमानमेव कथं स्वतः प्रमाणं यदृष्टान्तादन्वयित्वमित्याशङ्क्य तत्रापि तदीयमेव ग्रन्थं पठति—**तथानु-
मानस्येति** । परितः सर्वप्रकारेण निरस्ता समस्तविभ्रमाशङ्कां यस्येति विग्रहः । अनुमेयेनाभ्यादिना यल्लिङ्ग-
मव्यभिचारि तेनोत्पन्नत्वात् । प्रत्यक्षज्ञानं ह्यर्थादुत्पद्यमानमपि न गृहीताव्यभिचारादुत्पद्यते अपितु सत्ता-
मात्रेणावस्थितादेव । एवमिन्द्रियादीन्यपि न गृहीताव्यभिचारीणि, व्यभिचारीणि वा अर्थेन शाब्दज्ञानं तु
नार्थादुत्पन्नं नच शब्दस्यार्थाव्यभिचारस्तस्मान्नतयो स्वतोऽव्यभिचारग्रहणमिति । प्रवृत्तिसामर्थ्यं तज्जातीयत्वं
वा अर्थाव्यभिचारायानुसरणीयम् । अनुमानोपमानाव्यवसायधर्मिज्ञानानां धर्मिज्ञाने स्वत एव तद्व्याप्तिप-
क्षधर्मत्वग्राहकेणैवानुमाने कारणतः स्वरूपतश्च व्यभिचाराशङ्कानिरासादुपमानेन्यतिदेशवाक्यसादृश्यज्ञानयोः
प्रामाण्यावधारणेन तन्निरासादुप्यवसायेप्यज्ञातानुप्यवसायादित्यर्थः । एवमनैकान्तिकतामुक्त्वा सत्प्रतिप-
क्षतामप्याह—**सत्प्रतिपक्षसाधनत्वाच्चेति । विवादस्थल इति** । अनुमित्यादिव्यतिरिक्तस्थल
इत्यर्थः । इतरथाशत सिद्धसाधनतापातादिति परतः प्रामाण्यवादिनोऽर्थान्तरतानिवृत्त्यै मात्रग्रहणम् । गुण-
त्वादिव्यभिचारवारणाय ज्ञानैकवृत्तित्युक्तम् । अप्रमात्वसशयत्वादिव्यभिचारनिवृत्त्यर्थमप्रमावृत्तित्वानधिकर-
णेत्युक्तम् । साधनवैक्यनिवृत्त्यर्थं मात्रग्रहणम् । प्रमामात्रवर्तिना प्रामान्यान्यत्वादिना व्यभिचारनिवृत्त्यर्थं
जातिग्रहणम् । तस्यान्योन्याभावत्वेन प्रतियोगिज्ञानापेक्षत्वेन विवक्षितत्वात् ।

उदयनीयां विशेष्यासिद्धिं शङ्कते—**ननु कथमिति** । साक्षात्कारित्वप्रमात्वयोः परापरभावीभावं स एवो-
पपादयति—**तथाहीत्यादिना** । अत्र साक्षात्कारित्वं किं परं व्यापकं प्रमात्वमपरं व्याप्यमिति मतं विप-
रीतं वा । नाथ इत्याह—**यदीति** । साक्षात्कारित्वव्याप्यत्वे प्रमात्वस्य तद्रहितेषु परोक्षेष्वनुमानादिषु
प्रमात्वं न स्यादस्ति च तदतो न व्याप्यमित्यर्थः । द्वितीयमाशङ्क्य दूषयति—**अथापरमित्यादिना** । यदि
हि साक्षात्कारित्वं प्रमात्वावान्तरजातिस्तदा तद्रहितेषु विभ्रमेषु साक्षात्कारित्वं न स्याद्यदि स्यात्तर्हि तद्यापकं
प्रमात्वमपि स्यादित्यर्थः । ततः परापरभावशून्ययोरेकत्र वृत्तौ सङ्करः स्यात्स च जातिबाधकः यथा वक्ष्यति
—**सङ्कर इति** । सङ्करान्तरमाह—**किंचेति** । यदि प्रमात्वं जातिस्ततो जातिसङ्करपरिहाराय विभ्रमेष्वप्र-
मात्वाधिकरणेषु सा नेष्टव्या ततश्च सर्वज्ञानानां धर्म्यं प्रामाण्यं प्रकारे रजतादौ विपर्यय इति यौक्तिकप-
रिभाषानिरर्थका स्यादित्यर्थः । साक्षात्कारित्वमपरं प्रमात्वं परं विभ्रमेषु च साक्षात्कारित्वं व्यवहारस्तु औपा-
धिकस्ततो न जातिसङ्कर इति परिहरति—**मैवमिति** । प्रमात्वाप्रमात्वसङ्करं परिहरति—**धर्म्यंश इति** ।

मावृत्तित्वात् । तत्रतद्व्यवहारस्येन्द्रियसंप्रयोगजन्यतोपाधिमात्रेणोपपत्तेः धर्म्यंशे प्रमाव्यवहारस्य चाबाधितानुभूतित्वोपाधिनिबन्धनतयापि संभवात् ।

नचैवं सर्वत्रोपाधिनिबन्धन एवास्तु प्रमाव्यवहारः कृतं जातिकल्पनयेति वाच्यम् । प्रमिणोमीत्यबाधितानुगतव्यवहारस्य गौर्गौरिति व्यवहारस्येव जातिमन्तरेणानुपपत्तेः । उपाधिमादाय जातिप्रत्याख्यानस्यगोत्वादिष्वपि तुल्यत्वात् तस्माद्यत्र 'व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोऽथानवस्थितिः । रूपहानिरसंबन्धो जातिबाधकसंग्रह' इत्युक्तबाधकानामन्यतमोपि बाधको न प्रसरति, तत्र जातिनिमित्तो व्यवहार इतरत्र तूपाधिनिबन्धन इति विभागो द्रष्टव्यः ।

नचाबाधितानुभूतित्वसंभवे तद्वद्वा जातिरपि तत्र भवेदिति वाच्यम् । प्रसाधने सङ्करबाधात्, प्रसङ्गने विपर्ययपर्यवसानात् । न तावदिदं प्रयोजकं मीमांसकानां यथाह सूत्रकार — 'अर्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाण'-मिति । तथा तद्व्याप्यकारोपि — 'असन्निकृष्टेऽर्थे ज्ञान'मिति । सशयविपर्ययस्मृतित्वतिरिक्तज्ञानानि स्वतदतिरिक्तवृत्तित्वानधिकरणजातिमन्ति जातिमत्वात्संप्रतिपन्नवदिति च प्रमात्वजातावनुमानम् । अत्र चैतदवसेयम् । परसिद्धान्तमाश्रित्यैवं जातिसङ्करपरिहार इति । यतो 'विज्ञानत्वमधिष्ठानवियामारोपितेषु यत् । अविद्यापरिणामत्वाद्विज्ञानाभासता मता ॥ येन यत्तत्र विज्ञानं तत्प्रमाणमुपेयते । अप्रमाणं न विज्ञानं तत्त्वं सङ्करसंभव ' ॥

ननु तर्हि सर्वमेव ज्ञानं प्रमाणमप्रमाणं च ज्ञानाभास इति ज्ञानस्य परतोऽप्रामाण्यमिति वचस कोऽर्थं न कोपि । विज्ञानं परतः प्रमाणं अपि तु स्वतः इत्येतावदुपपादनीयम्, अथवा अप्रामाण्यं परतः इत्यस्यैवायं पर्यवसितोऽर्थः । यद्विज्ञानव्यतिरिक्तसमवाय्यप्रामाण्यमिति । सामग्रीभेदस्य कार्यभेदनियमात् प्रमायाश्च ज्ञानविशेषत्वस्यासिद्धेरिति । नच सर्वप्रत्ययानां यथार्थत्वेऽख्यतिमतापातः, अविद्यापरिणामरूपप्रमारोप्ययोरङ्गीकारेण ततो विशेषादिति । नन्वेकत्रोपाधिनिबन्धनश्चेत्प्रामाण्यव्यवहारः सर्वत्र तन्निबन्धन एव भवतु किमित्यर्द्धजरतीयं कल्पयत इति तत्राह—**नचैवमिति** । तत्र किं कल्पकं नास्त्युच्यते, अन्यथासिद्धिर्वा । प्रथमे प्राह—**प्रमिणोमीति** । एष ह्युत्सर्गः यदनुवृत्तव्यवहारस्यानुवृत्तालम्बनमिति तच्चेत्कथमपि दुः संपादं तदागल्यैवाश्रीयते साधारणशब्दता यथाक्षादीनाम् । संभवति चेहानुवृत्तोऽर्थः तत्रापि वक्ष्यमाणबाधकाभावे जातित्वमेवेति भावः । द्वितीये प्राह—**उपाधीति** । यदि हि संभवेऽनुपाधिना जातिप्रत्याख्यानं तदा गोत्वादिष्वप्यनाश्वास स्यात् तत्तद्व्यञ्जकस्यैवोपाधे संभवादित्यभिप्रायः । ननु तर्हि पाचकादावपि किमिति जातिर्न कल्प्यते अस्तिहि अनुवृत्तप्रत्यय इति तत्राह—**तस्मादिति** । यत्रैकैव व्यक्तिः यथाकाशत्वादौ न तत्र जातिव्यवहारः कल्पना । अनुवृत्तप्रत्ययहेतुत्वाभावात्, अनेकसमवेतत्वाभावाच्च । तस्य च तल्लक्षणत्वात् । तथा यत्र तुल्यव्यक्तित्वं यथा कुम्भत्वकलशत्वयो न तत्रोभयोर्जातित्वं एकैवानुगतव्यवहारसिद्धेः इतरथा पर्यायत्वविलयप्रसङ्गात् । तथा यत्र सङ्करप्रसक्तिः परस्परव्यभिचारिणोरेकत्र स्थितिर्यथा दण्डित्वकुण्डलित्वयोस्तत्रापि न जातिव्यवहारः । प्रथमस्य दूषणत्वं शृणु । परस्परपरिहारेणैव वर्तमानतयावधृतस्वभावयोरेकत्र प्रतीतिरूप्यमाना माता मे बन्धयेतिवत्तद्विरुद्धार्थविषयतया अप्रमाणीभवतीति प्रमाणभावादेव तदभावः परस्परपरिहारेण वर्तमानयो सामान्ययोरेकत्र समावेशे तदतज्जातीयविरोधोच्छेदापत्तिश्चेति, तथा यत्रानवस्था प्रसक्तिः यथा सत्ताया सत्तास्वीकारे तत्रापि न जातिकल्पना यत्र रूपहानिप्रसक्तिरागन्तुत्वादिनाऽनित्यत्वहानादिना यथा पाचकत्वादौ यथा वा विशेषेषु तत्रापि न जातिकल्पना यत्र जातिकल्पनायां व्यक्त्या सह संबन्धाभावः यथा समवाये जातिकल्पनाया समवायाभावात् जातिव्यक्त्योश्च तन्नियमानं तत्रापि जातिरिति किरणावलीकारसमूहीतजातिबाधकानां अन्यतमस्यापि यत्राभावस्तत्र जातिव्यवहारत्रोपाधित्वमिति खण्ड्यार्थः ।

तस्माज्जानैकनिष्ठजातित्वादिति न विशेष्यासिद्धो हेतुः विपक्षे चानवस्थाप्रसङ्गो बाधक-
स्तरकः । नच निलीनस्यैव प्रमाणस्यार्थे व्यवहारजनकत्वोपपत्तेर्नानवस्थेति वाच्यम् । तथा-
त्वनिश्चायकप्रमाणानुदये तदस्तित्वस्यैव निश्चेतुमशक्यत्वात् । अस्तु तर्हि ज्ञानस्य स्वत-
एव स्फुरणं तथापि तत्प्रामाण्यं तद्गतगुणत्वादिवदन्यत एव स्फुरिष्यति को विरोध इति
चेत् । मैवम् । तस्यादित एव प्रमाणत्वेनास्फुरणे तद्विषये निःशङ्कप्रवृत्त्यनुपपत्तेः । नहि
ज्ञातमित्येतावता प्रवृत्तिः । मरुमरीचिकादौ सत्यपि विज्ञाने तदप्रामाण्यनिश्चये प्रवृत्त्य-
दर्शनात् । अस्तु तर्ह्यप्रामाण्यास्फुरणे प्रामाण्यस्फुरणमन्तरेणापि ज्ञानमात्रात्प्रवृत्तिरि-
तिचेन्मैवम् । विज्ञानस्य प्रामाण्याप्रामाण्ययोरस्फुरणे संशयान्निशङ्कप्रवृत्त्यनुपपत्तेः । अस्ति
चानभ्यासदशायां नववनस्थलीस्थितेषु फलितरसालादिषु तत्फलादानेच्छोर्निःशङ्कप्रवृत्तिः ।
अपिच त्वयापि पारलौकिकफलसाधनेषु निःशङ्कप्रवृत्तिः प्रामाण्यनिश्चयाधीनाभ्युपगता ।
नच कृष्यादौ संशयेपि प्रवृत्तिर्दृष्टेति वाच्यम् । तत्र निःशङ्कप्रवृत्तेरभावात् ।

एवंच यत्र यत्र निःशङ्कप्रवृत्तिः तत्र तत्र प्रामाण्यनिश्चयाधीनैव सेत्यभ्युपगन्तव्य-
मपरथा प्रामाण्यानिश्चयान्वित्वेतरपि प्रसङ्गात् । नच फलेपि परतस्त्वम् । ज्ञेयाभिव्यक्ति-

प्रमात्वजातिसमर्थनस्य प्रकृतोपयोगं दर्शयितुमुपसहरति—तस्मादिति । त्रसिपरतस्त्वे बाधकमाह—
विपक्षे चेति । पूर्वपक्ष्याशयमनूय दूषयति—नचेत्यादिना । ननु भवतु तदस्तित्वलोभाज्जानस्य स्वत-
स्फुरणं प्रामाण्यं तु किमिति न परत स्फुरतीति प्राभाकर प्रति पूर्वोक्तं स्मारयति पूर्वपक्षी—अस्तु तर्हीति ।
अर्थे तु नि शङ्कप्रवृत्तिः प्रथमतः प्रमाणतया स्फुरण एव घटते नेतरथेति परिहरति—मैवं तस्यादित
इति । तद्विषये तस्य ज्ञानस्य विषय इत्यर्थः । एतदेव विपक्षे बाधकेन विवृणोति—नहीति । मरुभूमिषु
मरीचिका मरुमरीचिका । नन्वप्रामाण्यस्फुरणादेव तत्र प्रवृत्त्यभावः न प्रामाण्यास्फुरणात्प्रामाण्यास्फुरणेपि
प्रवृत्तिर्घटते इति प्रस्तुतं तत्किं केन सगतमिति शङ्कते—अस्तु तर्हीति । प्रामाण्यास्फुरणे न नि शङ्कप्र-
वृत्तिरुपपत्तेरिति परिहरति—मैवं विज्ञानस्येति । ननु ज्ञानोदयसमसमयमेव नि शङ्कप्रवृत्तिः क दृष्टा यद्द-
लादिदं साध्यत इति तत्राह—अस्ति चेति । रसाल आम्नः । अपिच त्वयापि पारलौकिकसाधनेषु ईह
लौकिकेषु अभ्यासदशापन्नेषु च नि शङ्कप्रवृत्तिः प्रामाण्यनिश्चयाधीनैवेति स्वीकृता तत्साम्यात्सर्वे नि शङ्कप्र-
वृत्तिस्थलेषु शक्यं प्रामाण्यनिश्चयाधीनत्वमनुमातुमित्यभिप्रेत्याह—अपिच त्वयेति । ननु संशयादपि नि श-
ङ्कप्रवृत्तिः कृष्यादौ दृष्टा इति सव्यभिचार इति तत्राह—नच कृष्यादाविति ।

एवं पारलौकिकेषु नि शङ्कप्रवृत्तेर्निर्णयपूर्वकत्वस्य च व्याप्तिनिश्चयात् सर्वत्रैवं शक्यानुमानमित्याह । एवंच
यत्र यत्रेति । यदि च संशयात्प्रवृत्तिस्तदा संशयस्य कोटिद्वयसमानत्वात्प्रवृत्तिवन्निवृत्तिरपि स्यात् । नचा-
नक्षजत्वाद्वैषम्यम् । वैषम्यमात्रत्वात् । अथाप्रामाण्यानिश्चयान्न निवृत्तिः प्रामाण्यानिश्चयान्न प्रवृत्तिरित्यपि
पश्य तस्मान्नि शङ्कप्रवृत्तिः प्रामाण्यनिश्चयाधीनैवेत्यभिप्रेत्याह—अपरथेति । यदत्र कुसुमाज्जलानुदयनेन
झटिति प्रचुरसमर्थप्रवृत्ते स्वतः प्रामाण्यानधीनतामुपपादयतोक्तं 'झटिति प्रवृत्तिर्ही'त्याद्युपक्रम्य 'इच्छा च
प्रवृत्ते कारणं साच समीहितोपायताज्ञानमपेक्षते तच्चेष्टजातीयत्वलिङ्गानुभवं सोपीन्द्रियसन्निकर्षात्, प्रामा-
ण्यग्रहणं तु न केनाप्यशेनोपयुज्यते उपयोगेपि वा स्वतः इति कुत एतदिति तदपि तरकरस्य पुरतः कक्षे
सुवर्णमपलपत सर्वाङ्गोद्घातनमिव यत समीहितसाधनताज्ञानमेव प्रमाणतयावगम्यमानमिच्छा जनयति'
इत्यत्रैव स्फुटे स्वतः प्रामाण्योपयोगः । किंच कचिदपि चेत् नि शङ्कसमर्थप्रवृत्तिः संशयादुत्पद्यते तर्हि सर्व-
त्रैवं तथाभावसम्भवात् प्रामाण्यनिश्चयो निरर्थकः । अनिश्चितस्य सत्त्वमेव दुर्लभमिति प्रामाण्यस्य जलाज-

१ षेहेति पाठो भाति ।

लक्षणफलस्य ज्ञानमात्रादेव सिद्धेः । उपादानादीनां पुनरिष्टसाधनादिज्ञानाधीनतया तद्विषयप्रमाणस्य तत्रापि फलजनकत्वं स्वत एव तस्मादवधीर्यैव गुणगणमनपेक्ष्यैव दोषाभावं स्वशक्त्यैव स्वार्थमावेदयन्ति वेदान्ता इति सिद्धम् ।

ननु स्वरूपसहकारिसमवधानातिरिक्तां शक्तिमेव न जानीमः, तत्र प्रमाणाभावात् । तथाहि स्फोटादिलक्षणकार्यान्यथानुपपत्तिस्तत्र प्रमाणमुतोपादानोपादेयभावनियमानुपपत्तिः । नाद्यः । स्वरूपादेव पावकादेः प्रतिबन्धकाभावादिसहकार्युपबृंहितात् स्फोटादिलक्षणकार्योत्पत्त्युपपत्तावतीन्द्रियशक्तिकल्पनानुपपत्तेः । नचाभावस्याकारणत्वात्प्रतिबन्धकाभावो न सहकारीति सांप्रतम् । किमन्वयव्यतिरेकित्वं नास्त्युताभावस्य कारणत्वेऽनिष्टप्रसक्तिः । नाद्यः । भाववदभावस्यापि कार्यान्वयव्यतिरेकित्वात् । न द्वितीयः । योग्यानुपलब्धेरभावप्रमितिहेतुत्वात्, विवेकाग्रहस्य च विभ्रमहेतुत्वात् ।

ननु किं प्रतिबन्धकप्रागभावस्य कारणत्वमुत तत्प्रध्वंसस्य । नाद्यः । उत्तम्भकसद्भावे

लिरेव वदतः स्यादिति । एवमुत्पत्तौ ज्ञप्तौ च स्वतस्त्वमुपपाद्य व्यवहृतौ स्वतस्त्वमुपपादयति—**नच फलेपीति** । यदि तावज्ज्ञानानां ज्ञेयाभिव्याप्ति फलं यथाहु —‘ज्ञेयाभिव्याप्तितो यस्मान्न च ज्ञानात्फलान्तर...मिष्यते’ इति । तच्च फलं ज्ञानमात्रादेव न पुनरन्यनिबन्धनमित्यर्थः । अथोपादानाद्येव सर्वत्र फलं विज्ञानस्य तच्चेष्टसाधनादिज्ञानाधीनमिति परतस्त्वं पुरस्तादेव वर्णितमिति तत्राह—**उपादानादीनामिति** । न वस्तुमात्रज्ञानफलमुपादानादि अपितु गुणदोषमाध्यस्थ्यज्ञानानां तेषां च स्वत एव तज्जनकत्वमिति तत्रापि वर्णितस्वतस्त्वं न व्यभिचरतीत्यर्थः । वादार्थमुपसहरन् समन्वयोपयोगमाह—**तस्मादिति** । ‘इति स्वतस्त्वं परितः प्रसाधितं प्रमाणमात्रस्य सत स्वतो यदा । निषिद्धपुदोपकथेषु लीलया समस्तवेदान्तवचस्तु सिध्यति ॥’

स्वशक्त्यैव वेदान्ता स्वार्थमावेदयन्तीत्युक्तं तत्र स्वरूपसहकार्यतिरिक्तशक्त्यसहिष्णवस्तार्किका प्रत्यवतिष्ठन्ते—**नन्वित्यादिना** । समवधानं मेलनं तत्र किं कार्योत्पत्तिप्रयोजकधर्ममात्रं शक्तिः किवातीन्द्रियत्वे सति तादृशो धर्मः किं वा मृदादिगतातीन्द्रियप्रयोजकधर्मविशेषो वा मृदादिस्वरूपमात्रगतस्तादृशो वा । प्रथमे त्वविवादः । घटत्वमित्वादिजातीनामङ्गीकारात् । द्वितीयेपीश्वरेच्छादीनामङ्गीकाराद्विवादः । तृतीयेपि कालादिसयोगस्य मृदादावङ्गीकारादविगानमेव । चतुर्थेऽप्येतत्राह—**तत्र प्रमाणाभावादिति** । तत्र किमर्थापत्तिरनुमानमागमो वा प्रमाणम् । तत्रार्थापत्तिं द्विधा विकल्प्य दूषयति—**तथाहीत्यादिना** । कार्योत्पत्त्यनुपपत्तिर्वा इदमस्योपादानं दुग्धादिदध्यादेर्न पुनस्तिलादीति तिलाद्येव तैलस्य न पुनर्दुग्धादीति योर्यं नियमस्तदनुपपत्तिर्वैत्यर्थः । स्यादेतत्, यदि स्वरूपसहकारिसमवधानमात्रात्कार्योत्पत्तिः प्रतिबन्धदशायामपि किमिति नोत्पद्यते स्फोटादि । नहि तदाग्निरग्निं सहकारिणो वेन्धनादयोऽनिन्धनादयः तस्माद्यत्प्रतिबन्धात्कार्यं नोत्पद्यते सैव शक्तिरित्यनुपपन्नैव कार्योत्पत्तिरन्तरेण शक्तिमिति तत्राह—**प्रतिबन्धकाभावादीति** । एतदुक्तं भवति । प्रमाणद्वयविरोधोऽर्थापत्तिः यथा देवदत्तस्य जीवनग्राहकस्य गृहाभावग्राहकस्य च विरोधो बहिर्भावं कल्पयति विरोधपरिहृत्यै नचात्र तथाविरोधः स्फोटोत्पत्त्यनुपपत्तिग्राहकयोरग्निमात्रे विरोधेऽपि प्रतिबन्धाभावतद्ग्राह्यत्ववदग्निविषयत्वेन विरोधशान्तेरिति । ननु न प्रतिबन्धाभाववदग्निविषयतया विरोधः शाम्यति अभावस्य कारणताभावादिति तत्राह—**नचाभावस्येति** । किंच भाट्टैस्तावदेवमयुक्तं वक्तुमित्याह—**योग्येति** । गुर्वनुवर्तिनः प्रत्याह—**विवेकाग्रहस्येति** । विभ्रमशब्दोऽयथार्थव्यवहारपरो गुरुनये ।

अत्र प्रतिबन्धाभावस्य कारणत्वं विकल्प्यैकैकं व्यभिचारेण दूषयति शक्तिवादी—**नन्वित्यादिना** ।
चि. १७

सत्यपि प्रतिबन्धके विनापि प्रागभावं कार्यदर्शनात् । न द्वितीयः । प्रतिबन्धकानुदयेपि कार्योपलब्धेरिति चेत् । मैवं । उत्तम्भकमणिमन्त्राद्यभावसहकृतस्यैव प्रतिबन्धकस्य प्रतिबन्धकत्वात्, तेन तत्र प्रतिबन्धकप्रागभावसहकृतस्यैव कारणत्वान्न व्यभिचारः । एतेनानियतहेतुकत्वमप्यपास्तम् ।

सर्वत्र प्रतिबन्धकसंसर्गाभावविशिष्टस्यैव कारणात्वाङ्गीकारात् अन्यथानुपलब्धावप्युपलब्धिप्रागभावप्रध्वंसाभावविकल्पेनाभावप्रमितेरनियतहेतुकताया दुष्परिहरत्वात् । शक्तिपक्षेऽप्यप्रतिबद्धाया एव तस्याः कारणात्वाद्भावविकल्पोत्पदोषतत्परिहारयोः समानत्वात् । ननु न प्रतिबन्धकाभावस्य कारणता, प्रतिबन्धापेक्षस्तद्भावः कारणं कारणापेक्षश्च तद्भावः प्रतिबन्ध इत्यन्योन्याश्रयग्रस्तत्वात् 'प्रतिबन्धो विसामग्री तद्धेतुः प्रति-

यदाह्युत्तम्भक. प्रतिबन्धकसविधं निर्धीयते तदा सत्यपि प्रतिबन्धके मण्यादौ कार्यमुत्पद्यते न तत्र प्रागभावोस्तीत्यर्थः । इयमपि प्रतिबन्धध्वंसव्यभिचारभूमिर्भवत्येव तथाप्यसाधारणं दूषणमाह—**प्रतिबन्धकेति** । नह्यनुदितप्रतियोगिग्रध्वंसं सम्भवतीति भावः । तदेतत्परिहरति—**मैवमिति** । नास्माभिर्मण्यादिस्वरूपमात्रस्य प्रतिबन्धकत्वमुच्यते अपितुत्तम्भकाभावविशिष्टस्य । नच तादृशमुत्तम्भकसन्निधानेऽस्तीति तदापि प्रतिबन्धकप्रागभावस्य न व्यभिचार इत्यर्थः । उक्तं च कुसुमाञ्जल्युदयनेन—'प्रतिबन्धकोत्तम्भकाले तर्हि व्यभिचारः स्यात् यदि यादृशे सति कार्यानुदयस्तादृशे एव समुत्पादः नत्वेवं तदापि प्रतिपक्षस्याभावात् असत्प्रतिपक्षो हि प्रतिबन्धकोभिमतो न सत्प्रतिपक्षः सच तादृशो नास्त्येव यस्त्वस्ति नासौ प्रतिपक्ष' इति । स्यादेतत् प्रतिबन्धकाभावस्य सामर्थ्यन्तः पातित्वमयुक्तम् । अनियतहेतुकत्वप्रसङ्गात् । तथाहि । यत्राभ्यादिसमवधाने प्रतिबन्धकमण्याद्यभावे झटिति कार्यमुत्पद्यते तत्र विशेष्यमण्यादिप्रतिबन्धकाभावादिति वक्तव्यम् यत्र मण्यादौ विद्यमानेपि उत्तम्भकसन्निधौ कार्यमुत्पद्यते तत्रोत्तम्भकाभावरूपविशेषणाभावादिति नैकहेतुनिरूपणमिति तत्राह—**एतेनेति** ।

एतेनेत्यस्यैव विवरणं—**सर्वत्रेति** । न विशेषणाभावो विशेष्याभावो वा हेतुस्तयोरप्रतिबन्धकत्वात् किंतु विशिष्टाभावः सचोभयथापि न भिद्यते तथाहि केवलदण्डसद्भावे दण्डपुरुषसद्भावे द्वयाभावे केवलपुरुषाभावः सर्वत्रावशिष्टः तथा केवलोत्तम्भकसद्भावे प्रतिबन्धकोत्तम्भकसद्भावे द्वयाभावे वा केवलप्रतिबन्धकाभावोऽवशिष्टः । संसर्गाभावशब्देन तद्विशेषप्रागभावादिति त्रितयं विवक्षितम् । प्रागभावप्रध्वंसाद्यपेक्षया चेदमनियतहेतुकत्वमाशङ्क्य परिह्रियते । तदाच संसर्गाभावशब्दोऽयनुगुणं त्रयानुगतत्वात् 'यस्मिन्नसति कार्यं न जायते तस्मिन्सत्येव कार्यं जायते इत्येवं संसर्गाभावमात्रस्यैव प्रयोजकत्वा'दित्युदयनोक्तं । अतश्चैवमेवाङ्गीकर्तव्यम्, अन्यथाऽनुपलब्धेरप्यभावप्रमितिहेतुतायामपि उक्तदूषणसाम्यादित्याह—**अन्यथेति** । अलं वा स्थलान्तरप्रतिबन्धा शक्तावेवेयं सुग्रहा सापि ह्यप्रतिबद्धा कार्याय प्रभवति ततस्तत्रापि प्रतिबन्धाभावे समानावेवेमावाक्षेपपरिहारवित्याह—**शक्तिपक्षेपीति** । एवमभावविकल्पप्रयुक्तदोषे परिहृते प्रकारान्तरेण प्रतिबन्धाभावस्य कारणतामाक्षिपति शक्तिवादी—**नन्विति** । यस्तद्भावः प्रतिबन्धकाभावः कारणमसौ प्रतिबन्धापेक्षः तन्निरूपणीयत्वात् यश्च कारणाभावः प्रतिबन्धः सोपि कारणापेक्षः तन्निरूपणीयत्वादेव । ततश्च प्रतिबन्धाभावरूपकारणस्य कारणाभावरूपप्रतिबन्धस्य च परस्परार्थीननिरूपणादन्योन्याश्रयतेत्यर्थः । ननु कारणाभावस्य प्रतिबन्धत्वे स्यादयमन्योन्याश्रयस्तदेव तु कथं यावता कार्यानुत्पादः एव प्रतिबन्ध इति तत्राह—**प्रतिबन्ध इति** । अयमर्थः । न तावत्कार्यानुत्पादः प्रतिबन्धः तस्यानादितया प्रतिबन्धकाधीनत्वाभावात् । नापि तस्य कालान्तरसंबन्धः । कालस्यैकत्वात्, औपाधिकानेकत्वे च कालोपाधेर्मण्याद्यजन्यत्वात् । कस्तर्हि कारणाभावात्कार्याभाव इति परिभाषार्थः । भावधर्मोपचारात् सासग्रीका-

बन्धक'इत्यङ्गीकारादिति चेत् । मैवम् । अवधीर्यैवाभावस्य कारणतां कार्यानुदयमात्रेणैव मन्त्रादेः कार्यप्रतिकूलतावगमात्, अनवलम्ब्यैव च मणिमन्त्रादेः कार्यप्रतिबन्धकतां तदभावस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यामेव कारणताध्यवसायान् ।

किंचेदमन्योन्याश्रयत्वमुत्पत्तौ ज्ञप्तौ वा स्यात् । नाद्यः । मन्त्रतदभावयोः परस्परहेतुत्वाभावात् । नापि द्वितीयः । अज्ञातयोरपि मन्त्रतदभावयोः कार्यं प्रति प्रतिकूलत्वकारणत्वयोरुपपत्तेः । ननु कार्याभावावसेयकार्यप्रतिकूलभावा मन्त्रादयः शक्तेरपह्नवाय कारणाभावरूपा इष्यन्ते, अत एव मन्त्राद्यभावोपि कारणमिष्यते ततो मन्त्रतदभावनिष्ठप्रतिबन्धकत्वकारणत्वयोरन्योन्यापाधिकत्वादुत्पत्तौ ज्ञप्तौ वान्योन्याश्रयता दुर्वीरेति चेन्न । उक्तोत्तरत्वात् अन्तरेणैवाभावस्य कारणतावगमं मन्त्रादेः कार्याभावमात्रेण कार्यप्रतिकूलभावस्यावगन्तुं शक्यत्वात् तदभावकारणत्वस्यान्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव सुकरावगम्यत्वात् इति ।

नच शक्त्यनङ्गीकारे प्रतिबन्धासंभवः, मणिमन्त्रादिसन्निधानासन्निधानयोः स्वरूपस्याविशेषादिति वाच्यम् । कार्यौदासीन्यस्यैव प्रतिबन्धशब्दाभिधेयस्य विशेषत्वान्,

र्ययो पौर्वापर्यनियम तदभावयोरुपचारात्प्रयुज्यते वस्तुतस्तु समयमयत्वमेव । कस्तर्हि प्रतिबन्ध इति हृदि निधायोक्तमुदयनेन—'भावो यथा तथाभाव कारणं कार्यवन्मत । प्रतिबन्धो विसामग्री तद्धेतुः प्रतिबन्धक' इति । अत्र पूर्वार्धेनाव्ययस्य कारणतानिरूपणेन प्रतिबन्धाभावस्य कारणत्वमुक्तम् । उत्तरार्धेन च प्रतिबन्धप्रतिबन्धकौ निर्दिष्टौ । प्रतिबन्धो नाम विसामग्री सामग्रीवैकल्यं मन्त्रादितद्धेतुस्तु मन्त्रप्रयोक्ता प्रतिबन्धक इति तस्मात्सामग्रीप्रतिबन्धयोरस्त्येवान्योन्याश्रयतेति । यद्यप्युभयाभावत्वमुभयस्य तथाप्यन्योन्यनिरपेक्षस्य शक्यनिरूपणत्वान्नान्योन्याश्रयत्वमिति परिहरति—**मैवमिति** । मन्त्रादेः स्वाभावकारणताज्ञानमन्तरेणैव कार्यानुदयेन्यव्यतिरेकाभ्यां कार्यप्रतिकूलतालक्षणप्रतिबन्धकत्वावगमादित्यर्थः । मन्त्राद्यभावस्य कारणत्वमपि मन्त्रादिप्रतिबन्धकत्वज्ञानव्यतिरेकेणैव शक्यं ज्ञातुमित्याह—**अनवलम्ब्यैव चेति** । यथाह्यभ्यादेः कारणत्वं कार्यान्वयव्यतिरेकाभ्यामेव तथा मन्त्राद्यभावस्यापीत्यर्थः ।

एवं साधारण्येन परिहारमुक्त्वा विकल्प्याह—**किंचेति** । यद्यपि मन्त्रादिप्रागभावस्य मन्त्रादि प्रति हेतुता संभवति तथापि तं प्रति न हेतुता मन्त्रादेरत आह—**परस्परेति** । ज्ञप्तौ परस्पराश्रयं परिहरति—**नापीति** । नहि यद्यत्कारणं तत्सर्वं ज्ञातमेव कारणं चक्षुरादेरदर्शनात् । एवंप्रतिबन्धाभावोपीति भावः । तस्मिन्मुदयनीयमन्योन्याश्रयतापरिहारं परिजहु न्यायरत्नदीपावलीकृतस्तदनुवदति—**नन्विति** । यद्यपि कार्यानुदयोदयान्वयव्यतिरेकावसेये मन्त्रतदभावयोः प्रतिबन्धकत्वकारणत्वे तथापि सामग्रीवैकल्यरूपतया मन्त्रादेः प्रतिबन्धकत्वं नतु स्वरूपेण । एवं तदभावस्यापि प्रतिबन्धकाभावतया कारणत्वं न स्वरूपेण तथाच प्रतिबन्धकत्वकारणत्वयोरपरिहायैव सत्ताज्ञयोरन्योन्याश्रयतेति खण्डलकार्थं । दूषयति—**नेति** । उक्तमेवोत्तरदर्शयति—**अन्तरेणेत्यादिना** । यद्यपि कोष्ठगत्या विद्यत एवायमर्थः तथापीतरेतरनिरपेक्षत्वमन्यव्यतिरेकाभ्यां प्रतीयमानमनुभवसिद्धं न युक्तिसहस्रेणापि शक्यनिवारणमित्यर्थः ।

ननु प्रतिबन्धान्यथानुपपत्तिः शक्तौ प्रमाणम् । तथाहि । अग्न्यादिस्वरूपं तावन्न प्रतिबन्ध्यते पूर्ववदेवाविकलमुपलभ्यमानत्वात्तस्माद्यदनेन प्रतिबन्ध्यते तदतीन्द्रियं शक्तिर्नामेति तदिदं सहेतुकमनूद्य प्रतिषेधति—**नचेत्यादिना वाच्यमित्यनेन** । तत्र हेतु—**कार्यौदासीन्येति** । अग्न्यादिस्वरूपवैकल्येपि मन्त्रादिसन्निधाने कार्योत्पादं प्रत्युदासीना भवन्त्यग्न्यादयः अयमेव प्रतिबन्ध इत्यर्थः । शक्तिपक्षेयमेव प्रतिब-

अन्यथा शक्तिपक्षेऽपि प्रतिबन्धस्य दुर्विवेकत्वात् । नहि शक्तेर्नाशः प्रतिबन्धः । प्रतिबन्धापाये कार्याभावप्रसङ्गात् । नच स्फोटाख्यकार्योत्पत्तये शक्त्यन्तरं तत्रोत्पन्नम् । तत्कारणानिरूपणात् । नच प्रतिबन्धाभावः कारणम् । अभावस्य कारणतानङ्गीकारात् । अङ्गीकारे वा तस्यैव स्फोटादिकार्यजनकत्वमस्तु कृतमतीन्द्रियशक्तिकल्पनादुर्व्यसनेन । शक्तेः शक्त्यन्तरं प्रतिबध्यते इति वदतोऽनवस्था तस्मात्कार्यस्यान्यथाप्युपपन्नत्वान्नातीन्द्रियशक्तिकल्पनावकाशः । नापि द्वितीयः । उपादानोपादेयभावनियमस्याप्यनादिसिद्धवृद्धव्यवहारावसिततत्कार्यानुकूलस्वभावभेदादेवोपपत्तेः । अन्यथेयमिहैव किमिति शक्तिर्नान्यत्रेति पर्यनुयोगे कः स्वभावभेदादन्यः परिहारः स्यात् । तस्मादर्थपत्तिद्वयमपि नात्र प्रमाणम् । अस्तु तर्ह्यनुमानं तथाहि विमतमजनकदशातो जनकदशायामतिशययोगि, कारकत्वात् कुण्ठकुठारवदिति चेत् । न । सहकारिसमवधानातिशयेनैव सिद्धसाधनत्वात् ।

अस्तुतर्ह्यभिरतीन्द्रियसामान्यवन्निष्क्रियाश्रयः कारणत्वात् गुरुत्वाश्रयवदिति प्रयोगः । तेजोद्व्यणुकमतीन्द्रियरूपस्य वायोश्चाधिकरणमिति तद्व्यावृत्त्यर्थमतीन्द्रियसामान्यवन्निष्क्रियेत्युक्तमतः शक्तिसिद्धिरिति कश्चित् । तन्न योगिस्वीकारवादिनं प्रत्यतीन्द्रियविशे-

न्धशब्दार्थो वक्तव्यः स मत्पक्षेऽपि समान इति प्रतिबन्दी गृह्णाति—अन्यथेति । एतदेव शक्तिपक्षे परिशेषयति—नहीत्यादिना । ननु सा शक्तिर्विनष्टैव उत्तरकालं तु शक्त्यन्तरमुत्पन्नं तदा कार्योदय इति तत्राह—नच स्फोटाख्येति । न तावदभिसामग्रीतस्तस्योत्पादः । तस्यानष्टत्वात् । नाप्याश्रयभूताग्नेः । तस्याऽशक्तस्यानुत्पादकत्वात् । उत्पादकत्वे वा कार्यं तथा इति कृतं शक्तिपिशाचिकया । शक्त्येवैव शक्तिः कार्येभ्यस्तु मुधोत्पाद्या शक्तिः तस्मात्कारणान्तरानिरूपणान्नशक्त्यन्तरोत्पाद इति भावः । ननु किमिति कारणाभावः यावता प्रतिबन्धाभावादेवेयमुत्पद्यतामिति तत्राह—नचेति । ननु शक्तेरपि शक्तिरस्ति सैव प्रतिबध्यतामिति तत्राह—शक्तेरिति । तत्राप्युक्तदूषणपरिहाराय शक्तिप्रतिबन्धो वक्तव्यः तथाचानवस्थेति भावः । प्रथमार्थापत्तिदूषणमुपसंहरति—तस्मादिति । अनादिसिद्धो यो वृद्धव्यवहारस्तेनावसितो यस्तत्तत्कार्यानुकूलस्वभावस्य भेदो विशेषः तस्मादेवोपादानोपादेयनियमोपपत्तेः तदर्थमपि शक्तिर्न कल्पनीयेति द्वितीयामर्थापत्तिं दूषयति—उपादानेति । यदि हि स्वभावो नियामको न स्वीक्रियते तर्हि शक्तावपि न स्यान्नियम इत्याह—अन्येति । तिमिरादिप्रयोगमनुवदति—विमतमिति । विमतमभ्यादि । अतिशययोगीत्युक्ते अविद्यमानदशातो विद्यमानदशायाः सत्त्वलक्षणातिशयवत्त्वात् सिद्धसाध्यता तदर्थमजनकतेति विशेषणम् । इदं शक्तिसाधकं न भवति । सहकारिसमवधानस्यातिशयस्यापि जनकावस्थायाः साधकतयार्थान्तरत्वादिति परिहरति—न सहकारीति ।

न्यायरत्नदीपावलीस्थमनुमानमुद्गावयति—अस्तुतर्हीति । निष्क्रियाश्रय इत्युक्ते सामान्याभावाद्याश्रयत्वेन सिद्धसाधनं तदर्थं सामान्यवदित्युक्तम् । तथापि गुणकर्मभ्यां सिद्धसाधनता तदर्थमतीन्द्रियेत्युक्तम् । तेजोद्व्यणुकरूपादिना सिद्धसाधनतापरिहारायैतत्सामान्यग्रहणम् । तस्यैन्द्रियकसामान्यवत्त्वात् । वाय्वाश्रयत्वेनार्थान्तरतानिवृत्त्यै निष्क्रियेत्युक्तम् । गुरुत्वगुणाश्रय पार्थिवमाप्यं वाऽत्र दृष्टान्तः गुरुत्वत्वजातेरतीन्द्रियतया गुरुत्वाश्रयस्योक्त्यरूपत्वात् तेजसि गुरुत्वासंभवेन शक्तिसिद्धिः । तदुक्तमेव व्यावर्त्यमाह—तेज इति । तदेतदूषयति—योगीति । तार्किकाणां हि सर्वं योगिप्रत्यक्षमित्यतीन्द्रियविशेषणस्यासिद्धत्वात् अप्रसिद्धविशेषणः पक्ष इत्यर्थः । अत्र तैरेव गुरुत्वत्वजातेर्योगिनः प्रत्यतीन्द्रियत्वसमर्थनैर्नैवाप्रसिद्धविशेषणतासाध्य-

षणस्याप्रसिद्धत्वात् विमतं न गुरुत्वजातिविषयमिन्द्रियत्वादस्मच्चक्षुर्वदित्यतीन्द्रियसिद्धिरिति चेन्न । योगिनमनङ्गीकुर्वतो मीमांसकस्याश्रयासिद्धेः तत्सिद्धौ वा धर्मिग्राहकप्रमाणबाधात् । अस्तु तर्ह्यस्मदाद्यभिप्रायेणातीन्द्रियत्वविशेषणम् । मैवम् । अनुव्यवसायप्रत्यक्षगोचरतया सर्वस्यास्मदादिविशेषणस्वीकारेपि पूर्वोक्तदोषतादवस्थ्यात् । अनुव्यवसायेतरास्मदाद्यैन्द्रियकबुद्ध्यगोचरत्वाभिप्रायेणातीन्द्रियत्वविशेषणमिति चेत् । न । प्रमाणान्तरोपनीतविशेषणावगाहिविशिष्टज्ञानवादे सर्वेषामप्यैन्द्रियकत्वसंभावनया पूर्वोक्तदोषानुत्तारात् । आश्रयपदस्य च समवाय्यर्थतायां भाट्टस्य समवायानङ्गीकारवादिनोऽप्रसिद्धविशेषणत्वात् बहौ स्थितिस्थापकसंस्कारसिद्धेः सिद्धसाधनत्वाच्च ।

ननु कथं सिद्धसाधनत्वं तत्सत्त्वे मानाभावादिति चेन्मैवम् । विमतः स्थितिस्थापकसंस्कारवान् रूपवत्त्वात्कटवदित्यनुमानसद्भावात् । नच स्थितिस्थापककार्यवत्त्वमुपाधिः । उत्पन्नमात्रविनष्टकटादिषु कार्यानुपलम्भेपि तथाविधसंस्काराभ्युपगमेन साध्याव्याप्तेः । किंच यः स्वसिद्धान्तानुसारेण सिद्धसाधनतां ब्रूयात् स कथमनुमानशतैरपि स्वसिद्धान्तात्प्रच्याव्येत कथं वा तदीयसिद्धसाधनताभिधानं प्रत्युद्ध्रियेत ।

अस्तु तर्हि स्थितिस्थापकेतरातीन्द्रियसामान्यवन्निष्क्रियाश्रय इति प्रयोग इति चेत् ।

वैकल्ये परिहृते । तदनुवदति—**विमतमिति** । योगीन्द्रियमित्यर्थः । एवमनुमिमानस्य योगीन्द्रियं प्रसिद्धमप्रसिद्धं वा । द्वितीये प्राह—**योगिनमिति** । प्रथमे प्राह—**तत्सिद्धौ वेति** । साध्यं विशेषयति—**अस्तु तर्हि** इति । तथाप्यप्रसिद्धविशेषणतामाह—**मैवमिति** । यदा हि परमाणुं जानाम्याकाशं जानामीत्यनुव्यवसायो जायते तदा परमाण्वादितज्ज्ञानं चानुव्यवसायस्य मानसप्रत्यक्षस्य विषयो भवति एवं सर्वोप्यैन्द्रियकज्ञानविषय इत्यप्रसिद्धमतीन्द्रियत्वमस्मदादि प्रत्यपीत्यर्थः । अनुव्यवसायेतरत्वे सतीति विशेषणमाशङ्क्य दूषयति—**न प्रमाणान्तरेति** । येषां हि व्योमशिवप्रभृतीनां मते सुगमिचन्दनमित्यादिविशिष्टज्ञानानि प्रमाणान्तरेण प्राणादिनोपनीतगन्धादिकमपि विषयान्कुर्वन्ति प्रत्यभिज्ञेव तत्तादृशमिति मतं तन्मते सर्वस्य याकिचित्प्रत्यक्षार्थविशेषणतया ऐन्द्रियकबुद्धिबोध्यत्वसंभवात्, अप्रसिद्धविशेषणता तदवस्थेत्यर्थः । अथ विशिष्टज्ञानानुव्यवसायातिरिक्तास्मदाद्यैन्द्रियकबुद्ध्यविषयत्वमतीन्द्रियत्वमभिप्रेतमिति विशेषणपरपरामेव प्राणधारणनिरपन्नपतया परिगृह्णीयात् स प्रष्टव्य किमत्राश्रयशब्देन सयोगितयाधाराधेयभावो विवक्षितसमवायितया वा । नायः । दृष्टान्ते साध्यवैकल्यात् । द्वितीये प्राह—**आश्रयपदस्येति** । साधारणाकारविवक्षायां सिद्धसाधनतामाह—**बह्वाविति** ।

अत्रापि तदीयपरिहारमुद्भावयति—**ननु कथमिति** । अस्मिन्नप्यनुमाने तदीयं दूषणमुद्भाव्य दूषयति—**नचेति** साध्याव्यापकत्वेनोपाधि परिहरति—**उत्पन्नेति** । नहि यत्र यत्र स्थितिस्थापकवत्त्वं तत्र तत्र तत्कार्यवत्त्वमस्ति यदा ह्युत्पन्न कटोनुत्पादितपूर्वावस्थानसमानसंस्थानादिस्थितिस्थापककार्यो विनश्यति तदा साध्यवत्त्वेऽप्युपाधेरभावात् साध्याव्यापिरित्यर्थः । अत्र चोत्पन्नमात्रेति अनुत्पादितकार्यवत्वमात्रं विवक्षितम्, इतरथा तत्र साध्याभावस्यापि सुवचत्वादिति ।

ननु यदि स्वसिद्धान्तानुरोधेन सिद्धसाधनता वदतोनुमानैस्तदीयसिद्धान्तात्प्रच्यावनमशक्यं सिद्धसाधनता वा अपरिहार्या तर्हि स्थितिस्थापकेतरेति विशेषणीयमिति शङ्कते—**अस्तुतर्हि** इति । तथापि प्राभाकरमते कर्मणार्थान्तरता तन्मते कर्मण्यप्रत्यक्षे निष्क्रियेऽतीन्द्रियसामान्यवत्त्वादिरूपसाध्यस्य विद्यमानत्वादित्याह—

मैवम् । तथापि कर्माप्रत्यक्षवादिनं प्राभाकरं प्रत्यर्थान्तरत्वापातात्, बह्वेरीन्द्रियसामान्यवन्निष्क्रियकर्माश्रयत्वात् । कारणत्वादिति हेतोः शक्त्यानैकान्त्यात्, शक्तेश्च शक्त्यन्तराभ्युपगमेऽनवस्थापातात् । जनकशक्तियोगिन एव कारणत्वेन विवक्षितत्वात् न शक्तावनैकान्तिकतेति चेत् मैवम् । शक्तियोगित्वस्य विशेषणशक्त्यसिद्धावसिद्धेः मानान्तरात्तत्सिद्धौ कृतमनया ग्रन्थकथाकन्थाकदर्शनया, गुणादावनैकान्त्यं च ।

गुणादेर्यतीन्द्रियसामान्यवन्निष्क्रियाश्रयत्वे च घटादिवद्रव्यत्वप्रसङ्गान्न यथोक्तशक्त्याश्रयत्वोपपत्तिः । अस्तु तर्हि विवादाध्यासितः स्फोट उभयवादिसंप्रतिपन्नस्फोटकारणातिरिक्तकारणजन्यः कार्यत्वाद्वदवदिति प्रयोग इति चेन्मैवम् । प्रतिबन्धकाभावेन प्रतिवादिनोऽसंप्रतिपन्नेन कारणेन सिद्धसाधनत्वात्, भावजन्य इति विशेषणेपीश्वरेण सिद्धसाधनत्वात् ।

ननु माभूदर्थोपत्तिः प्रमाणं मास्म भूदनुमानं 'ब्रीहीन्प्रोक्षति, यूपं तक्षति, अग्नीनादधीते'त्याद्याः श्रुतय एव प्रमाणम् । तथाहि । ब्रीहीनित्यादिवाक्येषु द्वितीयाश्रुत्या प्राप्तं गच्छतीत्यादिष्विव ब्रीह्यादीनां कर्मतावगमात् तेषु कश्चिदतीन्द्रियः प्रोक्षणजन्योऽ-

मैवमित्यादिना । तथाहि यद्यत्कादाचित्कं तत्स्वाश्रयातिशयपुर सर इष्टं यथा सयोगविभागजन्यं कार्यं संयोगविभागलक्षणस्वाश्रयातिशयपुर सरमिति व्याप्त्या संयोगविभागयोरपि कादाचित्कत्वात् स्वाश्रयातिशयपूर्वकत्वमनुमीयते योसावतिशय तत्कर्मैति तेषां मतं तस्माद्भवत्येव तेनाऽर्थान्तरतेतिभावः । एवं प्रतिज्ञानिबद्धदूषणान्युक्त्वा अनैकान्तता चाह—**कारणत्वेति** । ननु किमित्यनैकान्तता यत् शक्तेरपि साध्यवत्तया सपक्षत्वादिति तत्राह—**शक्तेश्चेति** । उक्तं च लीलावतीकारेण 'शक्तेरपि शक्त्यन्तरापेक्षायामनवस्थितेरनपेक्षत्वे तथा एव व्यभिचारा'दिति । स्यादेतत् यदि न शक्ते सपक्षत्वं तर्हि हेतुरेव तत्र प्रवर्तत इति शङ्कते—**जनकशक्तीति** । शक्तिमद्भिः कारणं ननु शक्तिरित्यर्थः । तर्हि हेतोरसिद्धिरित्याह—**मैवमिति** । कारणत्वादिति कोऽर्थः शक्तियोगित्वादिति तथाच विशेषणस्यैतदनुमानात्प्रागसिद्धेरेव हेतोरित्यर्थः । अथ ब्रूयान्मानान्तरादेव विशेषणं साधयामीति तत्राह—**मानान्तरादिति** । ग्रन्थमयी कथाकन्था तत्तद्विसदृशविशकलितप्रथितत्वात् तथा कदर्शनमुद्वेजनं तेन कृतमलमित्यर्थः ।

अनैकान्तिकतोर्दाहरणान्तरमाह—**गुणादावपीति** । तथाहि—द्रव्यगुणकर्मणामेव हि सामान्यवत्त्वं तत्र निष्क्रियत्वविशेषणात्, यद्यपि द्रव्याश्रयत्वं नायाति आश्रितद्रव्यस्यावयवित्वेन सक्रियत्वात्, तथापि गुणकर्मणोरन्यतराश्रयत्वं स्यादेव तच्च द्वयमपि द्रव्यलक्षणं द्रव्यत्वव्याप्तं वा अतो गुणादेरपि प्रसज्येतैव द्रव्यत्वमिति तद्व्याप्तद्रव्यित्वं वक्तव्यं तथाच तत्र कारणत्वं वर्तत इत्यनैकान्तिकमित्यर्थः । अनुमानान्तरं शङ्कते—**अस्तु तर्हीति** । स्फोटकारणत्वानधिकरणकारणजन्य इत्युक्ते व्याहृतिस्तदर्थमुभयवादिसंप्रतिपन्नेत्युक्तम् । अप्रसिद्धविशेषणतानिबृत्त्यै स्फोटग्रहणम् । उभयवादिसंप्रतिपन्नकारणातिरिक्तकारणं भवति प्रतिबन्धकाभावस्त्वया विप्रतिपन्नत्वात् अतस्तेनार्थान्तरत्वमिति दूषयति—**मैवमिति** । भावजन्य इति विशेषणाभावेन नार्थान्तरतेति चेन्नेत्याह—**भावेति** ।

ननु यद्यपि सहजशक्तावर्थापत्तिरनुमानं वा न सम्भवति, तथाप्याधेशक्तावागमः प्रमाणमस्तीति तद्व्याप्तसहजशक्तिरपि सिध्यतीत्यभिप्रेत्य शङ्कते—**नन्विति** । ननु नैतेष्वामेषु शक्तिवाचकं पदमुपलभ्यत इति तत्राह—**तथाहीति** । क्रियाजन्यातिशयभावत्वं हि कर्मत्वमित्यर्थः । अतीन्द्रियत्वे हेतुमाह—**दृष्ट्येति** । उत्पत्त्यासिद्धिविकृतिसंस्काराणां मध्येतीन्द्रियसंस्कारः प्रोक्षणादिक्रियाफलमित्यर्थः । तावतापि कथं शक्तिसि-

तिशयोस्तीत्यवसीयते दृष्टस्य फलान्तरस्यादर्शनात् । स चायमतिशयः शक्तिरिति शक्ति-
वादिभिर्गृह्यत इति । मैवम् । संस्काराख्यादृष्टस्य चेतनगतस्याचेतनेषु ब्रीह्यादिषु समवा-
यासंभवात् । घटविषयज्ञानजनितभावनाया घटविषयत्ववत् ब्रीहिप्रोक्षणाद्युद्भूतसंस्कार-
स्यापि तद्विषयक्रियाजन्यतामात्रेण तदीयत्वप्रतीत्युपपत्तेर्ब्रीह्यादिषु शक्तिकल्पनायां प्रमा-
णाभावात् । तस्मान्न शक्तिसद्भावे प्रमाणमस्ति । तथाच प्रयुक्तं लीलावतीकारेण—
'विवादाध्यासितं न निजरूपमात्रसंबद्धातीन्द्रियसापेक्षं प्रमाणेन तथानुपलभ्यमानत्वात्
यत्प्रमाणेन यथा नोपलभ्यते न तत्तथाभूतं यथा नीलं पीतरूप'मिति । अत्र च निजरूप-
मात्रसंबद्धशब्देन द्विष्टस्य संप्रयोगादेर्व्यावृत्तिः क्रियत इति । अत्रोच्यते । न तावच्छक्तौ
प्रमाणाभावः यस्मात् 'परास्य शक्तिर्विविधा, सर्गाद्या भावशक्तयः । इति श्रुतिस्मृतिमिता
शक्तिः केन निवार्यते ॥ २३ ॥, न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधि-
कश्च दृश्यते । परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' ॥

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।, पराकोऽवर्णो बहुधा
शक्तियोगात्, शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः । यतोतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या

द्विस्तत्राह—सचेति । परिहरति—मैवमिति । आत्मनो गुणो ह्यदृष्टं नानात्मसु ब्रीह्यादिषु समवति ।
नचैतावता प्रोक्षणादिविविधानर्थक्यम् । कर्तृसंस्कारकत्वात् । यथाह—संस्कारं पुंस एवेष्टं प्रोक्षणाभ्युक्षणा-
दिभिरिति भावः । ननु ब्रीहीनिति द्वितीयया ब्रीहीणां संस्कार्यत्वावगमात् तत्संस्कृता ब्रीहय इति प्रसिद्धे
तद्विरुद्धचेतनसंस्कारस्वीकार इति तत्राह—घटविषयेति । तथाहि । घटविषयज्ञानादुत्पन्न संस्कारो घट-
संस्कार इत्युच्यते तत्कस्य हेतोर्घटविषयत्वात् न पुनर्घटाधारत्वात् एवमत्रापीत्यतो न द्वितीयाश्रुतिः प्रसि-
द्धिर्वा ब्रीह्यादिगतशक्तिसाधिकेत्यर्थः । प्रयोगमेव दर्शयति—विवादेति । अत्र्यादीत्यर्थः । अतीन्द्रियसा-
पेक्षं न भवतीत्युक्ते वाध स्यात् ईश्वरेच्छादृष्टादिसापेक्षत्वात् तदर्थं निजरूपसंबद्धेत्युक्तम् । तावत्युक्ते चाह-
ष्टवदात्मसंयोगादि सापेक्षत्वाद्विधा स्यात्तदर्थं निजरूपमात्रसंबद्धेत्युक्तम् । तस्य द्विष्टत्वेन व्यापित्वेन तदभा-
वादिति । तत्र तावच्छक्तावागमं प्रमाणयति लोकेन परेति । विवृणोति—न तस्येति । तस्येश्वरस्य कार्यं
स्थूलशरीरं करणं सूक्ष्मशरीरं न विद्यते तथा तेन परमेश्वरेण समोऽभ्यधिको वा न दृश्यते श्रुतिस्मृत्योरि-
त्यर्थः । तथा शक्तिं परोत्कृष्टा विविधैव बहुप्रकारा श्रूयते तथा ज्ञानलक्षणबलस्य क्रियत्संपादनं स्वाभाविकी
अथवा ज्ञानबलेन क्रिया जगन्निर्माणादि स्वाभाविकी नान्याधीनेति अथवा ज्ञानं च बलं च क्रियाचेत्येतत्सर्वं
स्वाभाविकं स्वरूपतादात्म्येनाध्यस्ताचिन्त्यमायाशक्तिविजृम्भितमिति श्वेताश्वतरोपनिषन्मन्त्रस्यार्थः ।

श्लोकोक्तश्रुतेरुपलक्षणत्वात्समानविषयश्रुत्यन्तराण्यह—ते ध्यानयोगेत्यादिना । ये किं कारणमित्या-
दिबहुविधं सदिहते स्म ब्रह्मवादिनः ते ध्यानमेव योगो ध्यानयोगः तं ध्यानयोगमनुगता प्राप्ताः सन्तोऽप-
श्यन्दृष्टवन्तः । किं देवात्मशक्तिं देवो द्योतनात्मकश्चासावात्मा चेति देवात्मा ब्रह्म तस्य शक्तिमनाद्यनिर्वच-
नीयाचिन्त्यानन्तशक्तिमयी महामाया स्वगुणैः सत्वरजस्तमोमयैर्वियदादिकार्यैर्निगूढा लब्धामित्यर्थः । पराको-
ऽवर्णो करणकर्मव्युत्पत्त्या नामरूपं च वर्णस्तद्वहितं सन् शक्तियोगात् बहुधा बहुप्रकारं वर्णान्विदधातीति
च श्वेताश्वतरोपनिषन्मन्त्रौ । स्मृतिं विवृणोति—शक्तय इति । तथा विष्णुपुराणे 'निर्गुणस्याप्रमेयस्य विशु-
द्धस्य परात्मनः । कथं सर्गादिकर्तृत्वं ब्रह्मणोऽप्युपपद्यते ॥' इति मैत्रेयेण पृष्टे प्रत्युवाच पराशरः—'शक्तयः'
इत्यादि सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचरा' अचिन्त्या अनिर्वचनीयत्वात् ज्ञानगोचराश्च तत्तदुपासनासूपाधितां
याता अचिन्त्यज्ञानगोचरा शक्तयः सन्ति यतोऽतः परमेश्वरस्यापि ताः सर्गाद्या भावशक्तयः सन्ति । एत-

भावशक्तयः ।, सर्वज्ञतातृप्तिरनादिवोधस्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः । अनन्तशक्तिश्च वि-
भोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य ।' इत्यादिश्रुतिस्मृतिशतैर्गीयमाना शक्तिः शक्यते
कथमपह्नोतुम् । नचैतानि वचांसि स्वरूपसहकारिमात्रप्रतिपादकानि । कार्यकरणादि-
सहकारिनिरासपुरःसरं तस्याः प्रतिपादनात् । नच स्वरूपत्वमपि शक्तेः । परास्येत्यादि-
पष्ठया स्वरूपातिरिक्तत्वप्रतिपादनात्, अस्य शक्तिर्विविधा तास्तु शक्तय इति च नाना-
त्वेन श्रूयमाणाया एकरूपब्रह्मत्वासंभवाच्च । नचासां श्रुतिस्मृतीनामर्थवादत्वम् । उपक्र-
मोपसंहारादिलिङ्गेनेश्वरस्वरूपत्वाध्यवसायात्, नैयायिकादिभिरेतासामीश्वरस्वरूपपरत्वा-
भ्युपगमाच्च । अथैवमपि नार्थापत्त्यनुमाने विना तार्किकमन्यस्तुष्यति भवान् तदर्थाप-
त्त्यनुमानोपन्यासेन भवन्तं परितोषयामः ।

तथाहि । स्फोटादिकार्यान्यथानुपपत्तिलक्षणोदाहृतैवार्थापत्तिः । ननु तत्राप्युदितै-
वान्यथाप्युपपत्तिः प्रतिबन्धकाभावसहकृतादेव बहिस्वरूपात्कार्योत्पत्तेः । नच प्रागभाव-
प्रध्वंसाभावादिविकल्पेनाभावस्याकारणत्वम् । शक्तावपि तत्प्रसङ्गस्य तुल्यत्वादप्रतिबद्धाया
एव शक्तेः कारणत्वादिति चेन्मैवम् । विकल्पासहत्वात् । तथाहि यदि प्रतिबन्धकाभावः
कारणं न स्यान्न स्यात्तर्हि शक्तिरपि कारणमिति प्रतिकूलतर्कमात्रमिदं किं वा भवति च
शक्तिः कारणं ततः प्रतिबन्धकाभावोपि कारणमिति विपर्यये पर्यवसानादभावस्य कार-
णत्वसाधकं वा । नाद्यः । तर्कमात्रस्योपालम्भानङ्गत्वात् । नेतरः । भवति च शक्तिः
कारणमिति विपर्ययस्य शक्तिमनिच्छता वक्तुमशक्यत्वात् ।

दुर्क्तं भवति । सर्वभावानामेव तावच्छक्तयः सन्तीति किमु वक्तव्यं ब्रह्मण परमेश्वरस्यात ताभिः सर्गादि-
कर्तृत्वमुपपद्यत इति । अथवा सर्वभावानामिति कर्मणि पठ्यते ज्ञानगोचरा' अचिन्त्या शक्तयस्तावत्सन्ति
यतोऽतस्ताः सर्गाद्याः भावशक्तयो ब्रह्मण सन्ति अन्यस्य तादृग्विधशक्तिनियन्तुरभावादतः । सर्गादिकर्तृत्वं
ब्रह्मण उपपद्यते इत्यर्थः । पुराणान्तरवचनमुदाहरति—**सर्वज्ञतेत्यादिना** । अचिन्त्यशक्तिरिति तु प्रकृतो-
पयोगिनी । विधिज्ञा वेदज्ञा, परमेश्वरज्ञा इति वा । नन्वेतेषु शक्तिशब्दः स्वरूपसहकारिमात्रपरः नातीन्द्रिय-
शक्तिपर इत्यत आह—**नचैतानीति** । 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' इति सहकारिनिषेधेन शक्तेरुच्य-
मानत्वान्न सहकारिमात्रपरत्वमित्यर्थः । शक्तेर्ब्रह्मस्वरूपत्वाभावे हेतुमाह—**परास्येति** । पष्ठ्या शक्तेः ब्रह्म-
स्वरूपाद्रेदप्रतिपादनात् विविधेति शक्तय इति च बहुत्वाभिधानात्स्येनैव स्वस्य भेदायोगात् एकस्यानेकत्वा-
योगाच्चेत्यर्थः । नैयायिकादिभिः स्वीकृतं चासामीश्वरपरत्वमित्याह । **नैयायिकेति** । **परितोषयामः** परि-
तोषयिष्याम ।

प्रथममार्थापत्तिः समर्थयते—**तथाहीति । स्फोटादीति** । प्रतिबन्धाभावस्य कारणत्वाभावे शक्तेरप्रति-
बद्धायाः कारणत्वं न स्यादिति यदुक्तं तद्विकल्प्य दूषयति—**मैवमिति** । प्रतिबन्धाभावस्य कारणत्वाभावे
शक्तिकारणत्वापलापलक्षणप्रतिकूलतर्कं दर्शयित्वा विपर्यये पर्यवसानरूपप्रमाणादभावस्य कारणतासाधकत्व-
मिति द्वितीयं पक्षं दर्शयति—**भवतीत्यादिना** । विपर्यये पर्यवसानरहितस्य तर्काभासत्वान्न ततः प्रतिप-
क्षनिराकरणसिद्धिरित्याह—**नाद्य इति** । द्वितीयं दूषयति—**नेतर इति** । एवं हि विपर्ययपर्यवसानम् ।
श्रुदादिविशेषणप्रतिबन्धाभावः कारणं प्रतिबन्धाभावत्वात् शक्तिविशेषणप्रतिबन्धाभाववदिति । नचैतच्छ-
क्यानुमानम् । दृष्टान्तस्याश्रयहीनत्वादितोषप्रस्तत्वादित्यर्थः ।

नच परसिद्धेन परस्यानिष्टापादनम् । प्रमितप्रतियोगिकनिषेधवादिनः शक्तिरपि कारणं न भवेदित्येवं विधिनिषेधस्याप्यसिद्धेः । तथापि जल्पकथामवधीर्य प्रतिबन्धकाभावस्याकारणत्वे प्रतिबद्धापि शक्तिः किमिति कार्यं न जनयेदिति सुहृद्भावेन पृच्छतः किमुत्तरमिति चेच्छ्रूयतां तर्हि दर्शनरहस्यम् । सतिपुष्कलकारणे कार्योत्पादविरोधि प्रतिबन्धकमिति हि शक्तिवादिनः ।

तेन न सामग्रीवैकल्यात्तत्र कार्यानुदयः किंतु विरोधिसद्भावादेव । नच सामग्रीवैकल्यमेव प्रतिबन्धः । लोकप्रसिद्धिविरोधात् । नहि कुशूलनिहितबीजानि क्षितिपवन-

ननु द्विविधस्तर्कः स्वपक्षसाधकानुकूल प्रतिपक्षदूषकश्च, तत्राद्यस्य विपर्यये पर्यवसानमपेक्षितम्, इतरथा साधकानुकूलत्वासिद्धे, चरमस्य तु न तदपेक्षितम्, परसिद्धव्याप्तिमादाय परस्यानिष्टप्रसक्ते, शक्यकरणत्वात्तादृशश्चायमिति तत्राह—**नचेति** । तत्र हेतु—**प्रमितेत्यादि** । यस्य हि मते प्रमितेऽधिकरणे प्रमितप्रतियोगिक एव निषेधः नाप्रमितप्रतियोगिकस्तस्य वादिनो यदि प्रतिबन्धाभावः कारणं न भवेत् तर्हि शक्तिरपि कारणं न भवेदिति शक्तिकारणत्वं निषेद्धुं न शक्यम् । शक्तेस्तत्कारणत्वस्य चाप्रमितत्वात्, प्रमितत्वे वा स्वरूपेण निषेधानुपपत्तेः । उक्तं च प्रमितस्यैव निषेधप्रतियोगित्वं धर्मित्वं चोदयनेन—‘व्यावर्त्याभाववत्तैव भाविकी हि विशेष्यता । अभावविरहान्मत्वं वस्तुन प्रतियोगिते’ति । तदिह भवतु नाम विपर्ययापर्यवसाय्यपि तर्को निषेध एव शक्तिकारणत्वस्यापादयितुं न शक्यत इति भावः । वस्तुव्यावृत्तिं बुभुक्षु पृच्छति—**तथापीति** । यदि प्रतिबन्धाभावः कारणं न भवेत् प्रतिबन्धे विद्यमानेपि किमिति शक्तिः कार्यं न जनयेदित्यर्थः । अत्र सामग्रीवैकल्यस्य प्रतिबन्धकताभावं तावदाह—**सतीत्यादिना** । कारणाभावव्यवच्छेदार्थं सति पुष्कलकारणमित्युक्तम् । कार्योत्पत्तिं प्रति कारणपौष्कल्ये सति यदुत्पत्तिविरोधि तत्प्रतिबन्धकमिति शक्तिवादिन इष्टं तेन प्रतिबन्धसमयेपि कारणपौष्कल्यान्न प्रतिबन्धाभावस्य कारणान्तरभाव इति भावः । यदत्रोदयनेन ‘सति पुष्कलकारणे कार्योत्पादविरोधी प्रतिबन्धक’ इति मतमसहमानेनोक्तं ‘ये तु प्रतिपादयन्ति कार्यानुत्पाद एव प्रतिबन्ध इति तैः प्रतिबन्धमकुर्वन्त एव प्रतिबन्धका इत्युक्तं भवति । तथाहि । कार्यानुत्पाद इति कोर्थः कार्यप्रागभावो वा स्यात् कार्यप्रागभावस्य कालान्तरप्राप्तिर्वा स्यात् । नाद्यः । तस्यानादित्वेन मणिमन्त्राद्यजन्यत्वात् । न द्वितीयः । कालस्यैकत्वेन कालान्तराभावान् । अथ कालभेदक उपाधि कालान्तरं तस्य तावत्स्वकारणजन्यत्वेन न मण्यादिजन्यत्वम् । अथ प्रागभावावच्छिन्नकालोपाधिर्मन्त्रजन्यः । न । प्रागभावास्यानादित्वेन तदवच्छिन्नकालोपाधेरपि मन्त्रादिजन्यत्वानुपपत्तेः । तस्मात्सामग्रीतत्कार्ययोः पौर्वापर्यनियमादभावयोरपि पौर्वापर्यभाव उपपद्यते । वस्तुतस्तु तुल्यकालत्वमेवेति नायं पन्थाः किंतु सामग्रीवैकल्यं प्रतिबन्धपदार्थो मुख्यः स च मन्त्रादिरेव न त्वसौ प्रतिबन्धकः नच तस्याऽकिञ्चित्करत्वं दोषाय तत्प्रयोक्तास्तु प्रतिबन्धकाः ते च किञ्चित्करा’ इति तदेतदपि गर्जनं कारणानां कार्योदासीन्यस्यैव प्रतिबन्धकत्वेन निर्वक्ष्यमाणत्वात् आकाशमुष्टिह्ननायते । किंच भवतु कालस्य प्रागभावस्य चानादित्वं कालोपाधेश्च स्वकारणाधीनत्वात् मन्त्राद्यजन्यत्वं च, तथापि प्रागभावावच्छिन्नकालोपाधिस्तत्सबन्धो वा किमिति मन्त्रादिजन्यो न भवेत्, नहि स प्रागभावो नायुपाधिमात्रं नापि कालमात्रं तस्मात्सति पुष्कलकारणे कार्योत्पादविरोधी प्रतिबन्धक इत्ययमेव पन्थाः ।

ननु भवत्वर्थं प्रतिबन्धकस्ततः किमिति तत्राह—**तेनेति** । सामग्रीवैकल्यस्य प्रतिबन्धकत्वाभावाच्च ततः कार्यानुत्पादः कित्वन्यस्याद्विरोधिन इत्यर्थः । ननु सत्यं न सामग्रीवैकल्यं प्रतिबन्धकः किंतु प्रतिबन्ध इति तत्राह—**न च सामग्रीति** । प्रसिद्धिविरोधमेव दर्शयति—**नहीति** । पाथ उदकम् । यदि हि सामग्रीवैकल्यं प्रतिबन्धः ततः सहकारिरहितबीजेषु सहकारिरहिततन्तुषु वा प्रतिबद्धबुद्धिः स्यात् नत्वेतदस्ति

पाथस्तेजसंसर्गविरहितानि तन्तवो वा मञ्जूषानिहितास्तुरीवेमकुविन्दादिविरहिणः प्रतिबद्धा इति प्रतियन्ति लौकिकाः । सामग्रीविधुरतामात्रस्य च प्रतिबन्धतायां समस्तस्यापि हेतुजातस्य प्रतिबन्धाभावतयैवोपक्षीणत्वादित्यस्य कारणमयं च प्रतिबन्धाभाव इति परीक्षकाणां विशेषाधारणमेव न स्यात् । अभावस्याकारणत्वे कार्येणान्वयव्यतिरेकविरोध इति चेन्मैवम् । अन्यथासिद्धत्वात्, 'अनन्यथासिद्धावन्वयव्यतिरेकौ कारणकृति कुर्वते' इति न्यायात् ।

तर्ह्यनुपलब्धेरप्यभावोपलम्भहेतुता न भवेत् विरोधिन्याभावोपलब्धेरभावतया तदन्वयव्यतिरेकयोरप्यन्यथासिद्धेर्वक्तुं सुकरत्वादिति चेन्न । तद्व्यतिरेकेणाभावोपलम्भकारणानिरूपणात् । इन्द्रियमेव कारणमिति चेन्न । तस्याभावेन सन्निकर्षाभावात् । संयोगसमवाययोस्तत्राभावात्, विशेषणविशेष्यभावस्य च संबन्धान्तरगर्भस्यैव प्रत्यक्षाङ्गत्वात् न तत्राभावस्य प्रत्यक्षगम्यत्वं कित्वनुपलब्धिगम्यतैवेति निश्चीयते । अन्यथायं पर्वतो वह्निमानित्यत्र बह्नेरपि संयुक्तविशेषणतया प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात् ।

नन्वसंबद्धस्यैवाभावस्येन्द्रियग्राह्यत्वमस्तु तत्प्रतीतिरिन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेनापरोक्षत्वात्, गत्यन्तराभावाच्चेति चेत् । मैवम् । अयोगिप्रत्यक्षप्रमिताविन्द्रियाणां संब-

ततो नियमेन बुद्ध्यनुपलब्धिरर्थाभावनिवेदिका इत्यर्थः । इतश्च न सामग्रीवैकल्यमात्रं प्रतिबन्ध इत्याह—**सामग्रीविधुरेति** । अस्ति तावदित्यस्य कारणमयं प्रतिबन्धाभाव इति विभागः । इतरथा प्रतिबन्धसहितकारणानां सामग्रीत्वाभावप्रसङ्गात् । सचायं विभागस्त्वत्पक्षे न सिद्ध्येत् । सर्वस्यैव कारणस्य स्ववैधुर्यलक्षणप्रतिबन्धाभावरूपत्वादित्यर्थः । तदेवं सामग्रीवैकल्यप्रतिबन्धनिरसनेन प्रतिबन्धाभावस्य कारणत्वमपि निरस्तं तत्रान्वयव्यतिरेकविरोधं शङ्कते—**अभावस्येति** । विरोधभावविषयतयान्यथासिद्धत्वात् । न तावदभावस्य कारणत्वं कल्प्यत इत्याह—**मैवमित्यादिना** । उक्तश्चायमर्थः स्वतः प्रामाण्यवादे ।

एवं शक्तिप्रतिबन्धा परिहृताया पूर्वोदिता प्रतिबन्दी स्मारयति पूर्ववादी—**तर्ह्यनुपलब्धेरिति** । शक्यं हि तत्रापि वक्तुं घटाभावोपलब्धेर्विरोधिनी घटोपलब्धिस्तदभावश्च तदनुपलब्धिरतो योग्यत्वे सत्यनुपलब्धेरभावोपलब्धेश्चान्यथासिद्धान्वयव्यतिरेकत्वात् न कार्यकारणभाव इत्यभावप्रमाणाभावः स्यादित्यर्थः । यद्यप्येवं तथापि कारणान्तराभावादगत्यानुपलब्धेरनन्यथासिद्धायास्तत्र कारणत्वमाश्रितम् । इहतु न तथेति वैषम्येण परिहरति—**न तदिति** । गत्यन्तरं शङ्कते—**इन्द्रियमिति** । सन्निकर्षाभावमेवाह—**संयोगेति** । द्रव्ययोर्हि संयोगो गुणत्वान्नचाभावो द्रव्यं तथा कार्यद्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषाणामेव समवायः नचैषामन्यतमोऽभाव इत्यर्थः । ननु संयुक्तविशेषणत्वादिकमस्ति संबन्धान्तरमिति तत्राह—**विशेषणेति** । संबन्धाभावादप्रत्यक्षत्वमुक्तमुपसंहरति—**न तत्रेति** । यदि च संयुक्तविशेषणतैव प्रत्यक्षबुद्धिनिमित्तं तर्हि प्रत्यक्षधर्मिकानुमानोच्छेदः स्यादित्याह—**अन्यथेति** ।

नन्वपरोक्षाभावप्रतीतिरिन्द्रियान्वयव्यतिरेकौ वान्यथानुपपन्नावसंबद्धस्यापि ग्रहणं कल्पयत एव, यथाहि भावेषु विशेषणविशेष्यभावस्य मूलसंबन्धनिबन्धनस्यातन्निबन्धनस्यापि च स्वीकारस्तथाऽभावे तदभावेऽपि प्रतीतिबलादेवाङ्गीकार इति शङ्कते—**नन्विति** । नत्वेतदपरोक्ष स्वप्रादिबद्धान्तरेवेत्याशङ्क्य मैवं बाधाभावादित्याह—**गत्यन्तरेति** । विशिष्टप्रतीतिरुभयवादिसंमतत्वात् मूलसंबन्धरहितोऽपि विशेषणविशेष्यभावः प्रत्यक्षाङ्गमिति वक्तव्यं नतु तथाविधस्य प्रत्यक्षाङ्गत्वे मानमस्ति अपरोक्षत्वस्यासिद्धत्वात् । प्रापकप्रमाणाभावादयोगीन्द्रियाणां सबद्धाग्रहादकल्पनियमभङ्गो नाङ्गीकरणीयः । इदं निर्घटं भूतलमिति व्यवहारस्यायं घटो

द्वार्थग्राहकत्वनियमस्य निराकर्तुमशक्यत्वात्, अभावप्रतीतेरपरोक्षत्वस्यासिद्धत्वादिन्द्रियान्वयव्यतिरेकयोरधिकरणग्रहणमात्र एवोपक्षीणतयान्यथासिद्धत्वाच्च । नन्वधिकरणग्रहणमात्रोपक्षीणत्वमन्वयव्यतिरेकयोरयुक्तम्, अन्धस्य त्वगिन्द्रियेणोपनीतघटादौ रूपाभावप्रतीतिप्रसङ्गात्, अधिकरणस्य गृहीतत्वात्, इन्द्रियस्य चाभावाग्राहकत्वात् । तस्मादन्धस्य प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियाभावादेव रूपाभावप्रतीत्यनुदय इति वाच्यम् । तथाचाभावस्यैन्द्रियकत्वसिद्धिरिति चेन्मैम् । अभावस्य प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियग्राह्यत्वमतेष्यनन्धस्यापि मेर्वादौ घटतद्रूपाद्यभावस्य चाक्षुषत्वं किं न स्यात् । ननु तत्र प्रतियोगिनश्चाक्षुषत्वेऽप्यधिकरणस्याचाक्षुषत्वान्न तत्र रूपाभावश्चाक्षुष इति चेन् एवं तर्हि मन्मतेऽपि नान्धस्य त्वगिन्द्रियगृहीते घटादौ रूपाभावप्रतीतिः । प्रतियोगिग्राहकेणाधिकरणस्य घटादेरग्रहणान् । तर्हि घ्राणागोचरकुसुमादौ वायौ वाऽचाक्षुषे गन्धस्य रूपस्य चाभावप्रत्यक्षो न स्यादिति चेत् माभूत्तत्र प्रमाणान्तरवेद्यत्वेऽपि तद्व्यवहाराविरोधान् । नच सर्वत्र षष्ठप्रमाणवादिनामनुपलब्धिगम्य एवाभाव इति नियमः । व्यापकाभावाभ्याप्याभावस्य कारणाभावेन कार्याभावस्य वाऽनुमेयत्वाङ्गीकारान् ।

गुरुरयं पर्वतो वह्निमानित्यादिव्यवहारवदधिकरणप्रत्यक्षतामात्रेणोपपत्तेरित्यभिप्रेत्य परिहरति—**मैवमिति** । योगीन्द्रियव्यावृत्तयै अयोगीति पदम् । आपरोक्ष्यानुपपत्तेरनुदयमाह—**अभावेति** । स्वापारोक्षवद्भ्रान्ति-त्वादित्यर्थः । विशेषणादिभावे तु गत्यन्तर नास्ति आश्रयापरोक्ष्याच्च निर्घटं भूतलमिति प्रतीतिर्घटो गुरुरयमित्यादिवदिति भावः । अधिकरणविषयतयेन्द्रियान्वयव्यतिरेकयोरन्यथासिद्धिरयुक्ता, अतिप्रसङ्गादिति शङ्कते—**नन्विति** । यद्विद्यमानस्य नेन्द्रियग्राह्यता तद्वान्धस्यापि त्वगादिना घटादावधिकरणे गृहीते तत्र रूपाभावग्रहणप्रसङ्गः । तत्र हेतु—**अधिकरणस्येति** । अथेन्द्रियाभावान्नरूपाभावप्रत्यक्षमिति चेत्तत्राह—**इन्द्रियस्येति** । तस्माद्यद्वैकल्यादभावग्रहणं तदिन्द्रियमभावग्राहकं वक्तव्यमित्याह—**तस्मादिति** । तामिमामुदयनीयामनुपपत्तिं परिहरति—**मैवमिति** । यस्यापि मते प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियग्राह्यत्वमभावस्याभिमतं तस्यासन्निहितमेर्वादौ घटाद्यभाव किमिति चक्षुषा न गृह्यते इति पर्यनुयोगे य परिहार प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियाग्रहणमधिकरणस्य सोऽस्मन्मतेऽपि समान इति खण्डलकार्थः । यदि प्रतियोगिग्राहकेणाधिकरणे गृहीतेऽभावस्य योग्यानुपलब्धिगम्यत्वं तर्हि गन्धग्राहकेन्द्रियागोचरे कुसुमे रूपग्राहकेन्द्रियागोचरे च वायौ गन्धरूपयोरभावो न योग्यानुपलब्धिगम्य इति प्रत्यक्षो वक्तव्यः स न स्यात् प्रत्यक्षत्वं चैवंविधस्थलेषु समाहितमुदयनेनाकाशे शब्दाभावस्य श्रौतत्वसमर्थनात् । एवं हि मेने । ‘धर्मिसन्निकर्षो निदानं न पुनर्धर्मिग्रहणं भूतलादौ तु दैवगच्छा योग्यत्वात् घृणाक्षरन्यायेन धर्मिधिषणा समुन्मिषति नत्वभावग्रहणोपयोगितया तस्मादिन्द्रियसन्निकृष्टे धर्मिष्यभावः प्रत्यक्ष एवेति ततः शब्दाभावः प्रत्यक्ष’ इति । परिहरति—**माभूदिति** । अत्र तावद्वाग्व्यादौ रूपाद्यभावस्य चाक्षुषत्वे कोशपानमेव शरणम् । तद्व्यवहारस्य प्रमाणान्तरवेद्यत्वेनाप्युपपत्तेः । प्रत्युत प्रतियोगिवद्भिर्माण्यभावनिरूपकत्वात् तदप्रतीतावप्रतीतिरेव । नह्यस्त्येवं प्रतीतिर्घटाभाव इति इह घटाभाव इत्येव प्रतीतेः । उक्तं च वृद्धे ‘सञ्ज्ञामभावो निरूप्यते नासञ्ज्ञा’मिति । नचैतदुभयनिरूप्यसंयोगादिप्रतियोगिकाभावविषयम् । सकोचे प्रमाणाभावात् । तस्माद्धर्मिग्रहणमपि कारणमेवाभावग्रहणे तद्वहि-तेषु च प्रमाणान्तरवेद्यत्वमित्यपरिपन्थी पन्था प्रमाणान्तरं च कुसुमे गन्धानुपलब्धिरेव तदभावेऽनुमानं वायावपि द्रवत्वसमानाधिकरणद्रव्यत्वावान्तरजालनधिकरणत्वादिभिरनुमानमित्यादि स्यात् । एतद्यस्य वादिनः प्रत्यक्षानुमानागमैः यथायथमभावो गृह्यते इति मतं तस्यैव स्यात् । यस्य तु योग्यत्वे सत्यनुपलब्धैकवेद्योऽभावः प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियगृहीत एव धर्मिणि तस्य स्वरुद्धान्ते विरोधः स्यादिति तत्राह—**नचेति** ।

उक्तं हि भट्टपादैर्नियम्यत्वनियन्तृत्वे भावयोर्यादृशी मते । विपरीते प्रतीयेते ते एव तदभावयोः इति । तथाच ब्रह्मसिद्धौ मण्डनमिश्रैर्विपर्ययाभावस्तु युक्तोनुमातुं हेत्वभावे फलाभाव इति । तस्मादनुपलब्धेरनन्यथासिद्धान्वयव्यतिरेकबलादभावप्रतीतिहेतुतास्थ-
लविशेषेऽवसीयते । प्रस्तुते च स्वपुष्कलकारणादेव कार्योत्पत्त्युपपत्तौ न प्रतिबन्धकाभा-
वस्य कारणता अन्योन्याश्रयताचास्य मते दुर्बारा । यद्यपि मण्यादेः कार्यप्रतिकूलत्वमन्व-
यव्यतिरेकावसेयं तथापि विसामग्रीरूपतालक्षणं यदिदं प्रतिबन्धत्वं तत्तदीयाभावस्य
सामग्र्यन्तर्भावविज्ञानसापेक्षं प्रतिबन्धो विसामग्रीत्यङ्गीकारात् । तेन प्रतिबन्धत्वसाम-
ग्रीत्वयोरन्योन्यापेक्षयैवाधिगतिरिति परस्पराश्रयता कथं न स्यात् ।

ननु मण्याद्यभावस्य सामग्र्यन्तर्भावज्ञानसापेक्षमस्तु नाम मण्यादेर्विसामग्रीत्वज्ञानं त-
थापि तदभावस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यामेव बहिस्वरूपवत्सामग्र्यन्तर्भावावगतिसंभवान्नान्यो-
न्याश्रयतेति चेत् । मैवम् । विकल्पासहत्वात् । तथाहि किं मण्याद्यभावाः प्रत्येकमन्व-

अयमर्थः । यदिहि वक्ष्यमाणतत्तद्ब्रह्मसमतिवशात् प्रमाणान्तरगम्यत्वमप्यभावस्यास्ति तदा योग्यानुपलब्धि-
गम्यस्थल एव प्रतियोगिग्राहकेणाविकरणग्रहणनियमः तत्कस्य हेतो तत्तदविनाभूतकारणव्यतिरिक्तकारण
पौष्कल्यं हि योग्यत्वं तदन्तर्पाति चेन्द्रियमिति तदभावेऽपि योग्यत्वं न भवेत् ।

यत्र तु प्रमाणान्तरगम्यत्वं तत्र तद्विरहेऽपि शक्योऽभावो गृहीतुमिति व्यापकाभावाद्याप्याभावानुमाने
भट्टसंमतिमाह—उक्तंहीति । अग्निधूमयोर्भावयोर्यादृशी नियम्यत्वनियन्तृत्वे गम्यगमकत्वे समते ते
एव गम्यगमकत्वे तदभावयोर्विपरीते प्रतीयेते । धूमो गमको बहिर्गम्य इति हि भावयो स्थितिः । अभाव-
योस्तु तद्विपरीत्येनाभ्यभावो गमको धूमाभावो गम्य इति स्थितिरित्यर्थः । कारणाभावेन कार्याभावानुमाने
मण्डनमिश्रवचनमुदाहरति—तथाच ब्रह्मेति । ‘नहि कारणसद्भावे कार्यसत्तावियोगता’ इति श्लोकविवरणे
दोषाभावादप्रहाशङ्का निवर्तत इत्यख्यातिपक्षेऽविनिगम्यत्वमुक्त्वा स्वपक्षे वैषम्यमाह स दोषाभावाद्विपर्ययज्ञा-
नाभाव शक्योनुमातुं हेतोरभावे फलाभावस्य नियमादिति । अन्यथाऽनुपपत्तिबलादभावस्य कारणतासमर्थ-
नमुपसंहरति—तस्मादिति । प्रतिबन्धकाभावस्य तु न कारणत्वे किञ्चन प्रमाणमित्याह—प्रस्तुते चेति ।
उक्तान्योन्याश्रयमपि समर्थयते—अन्योन्येति । नन्वत्राप्युक्त एव परिहार कार्यप्रतिकूल्यस्वरूपप्रतिबन्ध-
कत्वमनुत्पत्त्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामेवावसीयते इति तत्राह—यद्यपीति । विसामग्र्यं हि प्रतिबन्धः । प्रतिब-
न्धाभावलक्षणकारणपौष्कल्यं च विसामग्र्यं तथाच मन्त्राद्यभावस्य सामग्र्यन्तर्भावज्ञानसापेक्षं मण्यादेर्विसामग्र्य-
रूपप्रतिबन्धत्वज्ञानं मण्यादेश्च प्रतिबन्धत्वज्ञानाधीनं तदभावस्य सामग्र्यन्तर्भावज्ञानं प्रतिबन्धाभावलक्षणकार-
णवैकल्येन विसामग्र्योपपादनादिति वक्तव्यमन्योन्याश्रयत्वमिति खण्डलार्थः ।

प्रतिबन्धत्वस्य स्वाभावस्य सामग्र्यन्तर्भावज्ञानापेक्षज्ञानत्वेऽपि तदभावस्य सामग्र्यन्तर्भावः प्रतिबन्धज्ञानान-
पेक्षः शक्यो ज्ञातुं न ह्यभ्यादे कारणत्वं तत्तदभावस्य विसामग्रीत्वज्ञानाधीनमिति परस्पराश्रयपरिहारपुरै-
वोक्तं स्मारयति पूर्ववादी—नन्विति । परिहरति—मैवमिति । अनुगतरूपमादाय ह्यन्वयव्यतिरेकौ
प्रतीयेते ननु व्यावृत्तम् । तस्यानन्तत्वेनाशक्यज्ञानत्वात्, घटविशेषचिकीर्षया सृष्टिशेषोपादानानुपपत्तेश्च । नह्ये-
तद्यक्तिं प्रत्येतद्यक्तेरन्वयव्यतिरेकावभूताम् । तद्विशेषस्य प्रागनुत्पत्तेः । अनुगतेनापि तादृशा भवितव्यं यदनति-
प्रसङ्गि तदिह प्रतिबन्धाभावस्यापि कार्यं प्रति हेतुत्व व्यावृत्ताकारेणाशक्यग्रहणं सदनुगतं पुरस्करोति रूप-
मभावत्वं चानुगतमयतिप्रसङ्गि । नचाभावेषु जातिरस्ति तत्प्रतिबन्धाभावत्वमनुगतमनुपाधिमदाय कार्ये-
णान्वयव्यतिरेकाववगन्तव्यौ । यदाहोदयन —‘माभूजातिः । न तदुपहितगृहीतानामेव व्यवहाराङ्गत्वम् । सर्वत्रो-

यव्यतिरेकाम्यां कारणतया अवसीथन्ते अथवा प्रतिबन्धाभावत्वोपाधिना क्रोडीकृताः । नाद्यः । मण्याद्यभावानामनन्तानामुपसंग्राहकं विना प्रत्येकमन्वयव्यतिरेकाध्यवसानस्य पुरुषायुषेणाप्यशक्यत्वात् । नापि द्वितीयः । तथासति विसामग्रीलक्षणप्रतिबन्धज्ञानाधीनप्रतिबन्धाभावत्वोपाधिज्ञानमन्तरेण मण्याद्यभावानां सामर्थ्यन्तर्भावस्य दुरधिगमतयान्योन्याश्रयताया दुरुत्तरत्वात् । नच शक्तिपक्षे प्रतिबन्धासंभवः । शक्तिमनभ्युपगच्छतामिव शक्तिमभ्युपगच्छतामपि कारणानां कार्यौदासीन्यस्यैव प्रतिबन्धनोपपत्तेः । वैसामर्थ्यस्य प्रतिबन्धस्योदीरितरीत्या निरस्तत्वान् ।

अतः प्रतिबन्धाभावस्य कारणत्वासंभवान्न कार्यार्थापत्तेरन्यथोपपत्तिः । उपादानोपादेयभावनियमानुपपत्तिरपि शक्तौ प्रमाणमेव । ननु तत्र स्वभावभेदादेवोपपत्तेरन्यथोपपत्तिरुक्तेति चेन्मैवम् । तथासति सर्वत्र स्वभाववादपादप्रसारिकया सामान्यसमवायविशेषादेरपि पराकरणप्रसङ्गान् । तथाहि । सत्तायां स्वभावभेदादेव सदिति व्यवहारवत् द्रव्यादिष्वपि सब्यवहारोपपत्तौ सत्तासामान्यापलापः प्रसज्येत । एवं समवायवानयं घट इत्यादाविव संबन्धमन्तरेणापि गुणकर्मादेर्विशेषणत्वोपपत्तौ समवायापह्नवः स्यान् । विशेषाणां विशेषान्तरेणैव व्यावृत्तिव्यवहारहेतुत्ववच्च नित्यद्रव्याणामपि स्वभावभेदादेव तथात्वोपपत्तौ विशेषपदार्थपरित्यागप्रसङ्गः । अथ यत्र यत्र प्रमाणमस्ति तत्र तत्र वस्त्वन्त-

पाधिमध्यवहारलोपप्रसङ्गादित्यतोयं दुष्परिहर एव दुरात्मा परस्पराश्रयस्तदेतद्विकल्पपूर्वकमाह—**विकल्पेत्यादिना** । यस्तु शक्तिपक्षे क प्रतिबन्ध शक्तेर्नाशश्चेत्यादिना प्रतिबन्धाभावोभिहितस्तत्राह—**नचेति** । ननु न परस्य कार्यौदासीन्यं प्रतिबन्धो येनेदं समीक्रियते अपितु वैसामर्थ्यमेव तत्राह—**वैसामर्थ्यस्येति** । उदीरितरीति परस्पराश्रय । यदत्र लीलावतीकारेणार्थापत्तिमाशङ्क्योक्तं तत्रान्यथैवोपपत्ते मणिमन्त्रादिना दाहप्रतिपक्षभूतस्य क्षेत्रसमवायिनो दृष्टभेदस्योत्पादनात् । अर्थ्यन्तरेणापि तस्य पुरुषस्य दाहो न स्यादिति चेन्न । प्रतिनियताभिसाध्यदाहप्रतिपक्षस्यैवादृष्टस्य जननादिति । तत्रत्वेतावद्वक्तव्यं किमभिविशेषोद्देशेन मन्त्रादिप्रयुक्तं किं दाहो न स्यादिति दाहकामिमात्रमुद्दिश्येति स्वयमेव परिभाव्यतामिति । किंच दाहानुकूलमहापातकनिकेतने पुंसि दाहप्रतिकूलक्षुद्रादृष्टप्रभावस्याप्यसंभवात् ओषधिलिप्तकाष्ठादिष्वदाहभावप्रसङ्गाच्च इदमपि तेनैव शङ्कितमिति चेत् सत्त्वं शङ्कितं परिहारस्त्वसंबद्ध । तत्राप्यौषधलेपकारिपुरुषसमवेतादृष्टस्य दाहप्रतिपक्षभूतस्योत्पादादिति हि परिहारस्तत्र किं पुरुषकृतौषधलेपाददृष्टोत्पत्तिरौषधलेपमात्राद्वा । नाद्यः । पवनाद्युपनीतौषधिसंपर्के काष्ठादावभिसंयुक्तेदाहभावप्रसङ्गात् । न द्वितीयः । काष्ठादावप्यदृष्टोत्पादापातान् । तदलमनेन लीलावतीविलासवतो विलपनेन ।

प्रथमार्थापत्तिसमर्थनमुपसहरति—**अत इति** । द्वितीयार्थापत्तिं समर्थयते—**उपादानेति** । तत्र किं शक्तिवादिनोप्यन्ततः स्वभावशस्त्रग्रहणमेव शरणं तद्वरमादावेव स्वभावाश्रयणमिति अभिसन्धिरायुष्मतामाहो क्वचिदपि स्वभावातिरिक्तशक्तौ प्रमाणं नास्तीत्याद्ये प्राह—**तथासतीति** । सामान्याद्यपलापं यथायथमुपपादयति—**तथाहीत्यादिना** । सत्तायामनवस्थाभयात्सत्तान्तरमन्तरेणैव स्वभावविशेषात्सब्यवहारहेतुत्वाङ्गीकारवदितरत्रापि स्यादिति सत्तापलापः तथा समवायवानयं घट इत्यत्रापि अनवस्थाभयादन्तरेणैव समवायान्तरं समवायस्य घट प्रति विशेषणत्ववच्छ्रुत् पटश्चलति चैलान्नलमित्यत्रापि गुणकर्मणो स्वभावभेदादेव विशेषणविशेष्यभावप्रसङ्गात् समवायापलापः । तथाचान्यविशेषेषु परस्पराव्यावृत्ति स्वभाववशात् तत्कस्य हेतोर्विशेषेषु विशेषान्तरस्वीकारे तेषामप्यनुगतरूपवत्तया रूपादिवदन्यविशेषत्वहानेरनवस्थानाच्च । क्वचित्त्वग-

राधीन एव तद्व्यवहारः यत्र तु तन्नास्ति तत्र तत्स्वभावभेदादेव व्यवहार इति व्यवस्थेति चेत् हन्तैवमत्रापि प्रमाणसद्भावादेव स्वरूपातिरेकिणी शक्तिरङ्गीक्रियतां कृतं स्वभाववा-
दपादावलम्बनकातरतयेत्यलमतिविस्तरेण ।

अनुमानमपि तत्र प्रमाणम् । तथाहि—‘स्थितिस्थापकधर्मान्यातीन्द्रियाद्विष्टसंश्रयः ।
दहनो गुणयोगित्वादुरुत्वाश्रयकुम्भवत्’ ॥ २४ ॥ बहिरद्विष्टातीन्द्रियस्थितिस्थापकेतरभा-
वाश्रयः गुणवत्त्वात् घटवत् ।

नचेश्वरवादिनामतीन्द्रियत्वमसिद्धम् । प्रमाणान्तरोपनीतविशेषणानालम्बनानुव्यव-
सायेतरास्मदादिप्रत्यक्षाविषयत्वस्यातीन्द्रियशब्दार्थस्य गुरुत्वादौ भावनादौ च प्रसिद्ध-
त्वात् ‘गुरुत्वधर्माधर्मभावना अतीन्द्रिया’ इति प्रशस्तपादैरुक्तत्वात् । ननु किमिहाश्रयश-
ब्देनाधारत्वमात्रं विवक्षितमुत तत्समवायित्वम् । नाद्यः । बह्वैः कदाचित्परमाण्वाधार-
त्वसम्भवेन सिद्धसाधनत्वात् । नापि द्वितीयः । समवायमनिच्छतो भाट्टस्याप्रसिद्धविशे-
षणत्वादिति चेन्मैवम् । समवायानङ्गीकारेपि स्वीयरूपादीनामिवायुतसिद्धतया बह्वैर्वि-
शिष्टधर्माधारत्वस्याश्रयशब्देन विवक्षितत्वात् । नचातीन्द्रियकर्माश्रयत्वेन मीमांसकस्या-
र्थान्तरता । शक्तिवादिनोरपि प्राभाकरवद्भाट्टवेदान्तिनोः कर्मातीन्द्रियत्वस्यासिद्धत्वात् ।

स्या निर्विशेषस्वीकारे च तेषामेवान्यविशेषत्वादिति तद्वन्नित्यद्रव्याणामपि स्वभाववशाद्वावृत्तिबुद्धिजनकत्वं
योगिनामिन्न्यविशेषापलाप इति खण्डलकार्थं । उपलक्षणं चैतत् कालादेस्तत्संबन्धमन्तरेण सत्ववदित-
रेषामपि स्यादिति कालाद्यपलाप इत्यपि द्रष्टव्यम् । द्वितीयमाशङ्क्य परिहरति—अथेत्यादिना । उपादाना-
दिग्रहणमुपलक्षणं चक्षुरादीना रूपादिग्रहणनियमस्यापि । नहि सन्निकर्षमात्रात्तत्सम्भव । रसादेरपि तत्स्यात् ।

एवमर्थापत्ति समर्थयित्वा अनुमानमपि समर्थयितुं श्लोकेन सगृह्णाति—स्थितिस्थापकेति । दहन इति
धर्मिनिर्देशः । पूर्वाद्धेन साध्यनिर्देशः । सङ्ग्रहं विवृणोति—बहिरित्यादिना । आकाशादिसंयोगव्यावृत्त्यर्थ-
मद्विष्टेत्युक्तम् । रूपादिव्यावृत्त्यर्थमतीन्द्रियेत्युक्तम् । प्रत्यक्षावयविन पक्षत्वाद् व्युत्पादितरूपेण नार्थान्तर-
रता । स्थितिस्थापकनिवृत्त्यै स्थितिस्थापकेतरेत्युक्तम् । अतीन्द्रियाकाशाद्यन्योन्याभावस्याभिगतस्य व्यावृत्त्यर्थ-
भावग्रहणम् । आश्रयग्रहणेन चायुतसिद्धतया सिद्धसंबन्धित्वं विवक्षितम् । तेन न वायुपरमाणुभिरर्थान्तरता ।
गुरुत्वमादाय घटादौ साध्यप्रसिद्धिः ।

आकाशादौ च परममहत्त्वादिना । पूर्ववाद्युक्तमनूय दूषयति—नचेत्यादिना । प्रमाणान्तरोपनीतविशेष-
णालम्बनव्यतिरिक्तमनुव्यवसायव्यतिरिक्तं च यदस्मदादिप्रत्यक्षं तदविषयत्वमतीन्द्रियत्वं •विवक्षितं तच्च
गुरुत्वादौ प्रसिद्धं तेन न पूर्वोक्तत्रिविधाप्रसिद्धविशेषणतावतार इति प्रशस्तपादवचनसंमतिपूर्वकं दर्शयति—
प्रमाणान्तरेति । भाष्ये भावनाग्रहणं स्थितिस्थापकस्याप्युपलक्षणम् । कुण्डमिव बदराणामाश्रयो भवति
वायोरप्यभिरिति तेनार्थान्तरता इति प्रथमं पक्षं दूषयित्वा द्वितीये भाट्टे प्रत्यक्षप्रसिद्धविशेषणतामाह—नापि
द्वितीय इति । अस्ति तावदग्नेर्वाय्वाश्रयत्वविलक्षणाश्रयत्वं स्वकीयरूपस्पर्शादि प्रति तन्मास्तु नाम सम-
वायित्वं स्वरूपादितुल्यमेवेदमाश्रयत्वमभिमतं तेन नार्थान्तरताऽप्रसिद्धविशेषणते इत्याह—मैवमिति ।
अयुतसिद्धतयेति । द्वयोरन्यतरस्य वा पृथगाश्रयित्वराहित्यं पृथग्गतमित्त्वराहित्यं वा अयुतसिद्धिस्तत्तयेत्य-
र्थः । ननु तथापि कर्माप्रत्यक्षवादिना प्राभाकरस्यार्थान्तरतोक्तेति तत्राह—नचेति । भाट्टवेदान्तिनोस्तावदक्षी-
णमिदमनुमानं तयो कर्मप्रत्यक्षवादित्वात् प्राभाकरस्य तु भ्रान्तिमात्रमप्रत्यक्षत्वाभिमानः । तथाहि कादा-
चित्कर्मातिशयः स्वाश्रयातिशयपूर्वक इति न तावद्व्याप्तिरस्ति । तस्यामेव क्रियाया व्यभिचारात् । या या

विपक्षे 'च' बहिस्वरूपस्यैव कारणत्वात्, प्रतिबन्धकाभावकारणत्वस्य पुरस्तान्निरस्तत्वात् । मन्त्रादिसमवधानासमवधानयोरविशेषेण कार्यजननप्रसङ्गो बाधकः । नचैवंविधधर्माश्रयत्वे गुणकर्मादेरपि द्रव्यत्वप्रसङ्गः । तेषां गुणानधिकरणत्वात् । नचैवंविधधर्माश्रयत्वाद्गुणाधिकरणत्वमपि स्यादिति वाच्यम् । प्रसङ्गस्य विपर्ययापर्यवसायित्वात् । नहि यद्गुणानधिकरणं तदेवंविधधर्माधिकरणं न भवतीति प्रतिवादिसंप्रतिपन्नमुदाहरणमस्ति येनायं प्रसङ्गो विपर्यये पर्यवसायी स्यात् । शक्तिव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य पक्षकोटिनिक्षिप्तत्वात् ।

द्वितीयानुमानेपि मायावादिनं प्रति नेश्वरकारणत्वेन सिद्धसाधनता । तस्योभयवा-
दिसंमतकारणातिरिक्तत्वाभावादीश्वरकारणत्वस्य वेदान्तिभिरभ्युपगमान्, जन्यभावजन्य
इति विशेषणान्तरप्रक्षेपेण भाट्टस्याप्यर्थान्तरपरिहारसम्भवात् । नचैवं सति नित्येषु
शक्त्यभावप्रसङ्गः । अनित्येषु शक्तिसिद्धौ तद्दृष्टान्तावष्टम्भत एव नित्येष्वपि तत्सिद्धेः,
सलिलपरमाणुरूपादिवन्नित्येषु तस्या अनित्यत्वोपपत्तेः । ब्रिहीन्प्रोक्षतीत्यादिवितीयाश्रुतिभिश्च
ब्रीह्यादिषु अतीन्द्रियशक्तिसद्भावसिद्धिः ।

क्रिया सा कादाचित्की न वा नचेत्तन्नित्यतया सयोगादिनित्यतापत्तिः । कादाचित्की चेदतिशयान्तरपूर्वकत्वे-
ऽनवस्था । अतत्पूर्वकत्वे हेतोस्तत्रैव व्यभिचार इति भावः । विपक्षे बाधकमाह—**विपक्षेचेति** । विपक्षे
मन्त्रादिसमवधानासमवधानयोरनादरे सप्तमी । अविशेषेण कार्यजननप्रसङ्गो बाधकः कुतोऽन्निस्वरूपस्यैव कार-
णत्वात् । प्रतिबन्धाभावकारणत्वस्य पुरस्तान्निरस्तत्वादिति योजना । दूषणान्तरमुक्तं निराकरोति—**नचैव-
मिति** । यद्यपि शक्तिवादिना गुणादिष्वप्येवं धर्मोभिमतस्तथापि माभूदुक्तव्यतिरिक्तत्वादेरुक्तत्वरूपतत्तदवा-
न्तरजात्याश्रयत्वमात्राद्रव्यत्वप्रसक्तिः । अथ तदप्यनेकवृत्तित्वाद्विधमपि भवतीति मतं तथापि गुणवत्त्वं
द्रव्यत्वप्रयोजकं नच तद्गुणादावप्यस्तीति न द्रव्यत्वप्रसक्तिरित्याह—**तेषामिति** । तर्ह्यनेनैव गुणाधिकरणत्वमपि
प्रसङ्गनीयमिति तत्राह—**नचैवमिति** । प्रशिथिलमूलतया आपादनं दूषयति—**प्रसङ्गस्येति** । एवं ह्यस्य
विपर्यय विप्रतिपन्नं गुणायैवंविधधर्मानविकरणं गुणानधिकरणत्वादिति । नचात्र व्याप्तिरस्ति । शक्तिगुरु-
त्वाश्रयव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य पक्षकोटिनिक्षिप्तत्वात् । अस्तु तर्हि शक्तिरेव विपर्ययपर्यवसानभूमिः । तस्या
गुणानधिकरणत्वाद्विद्वितीन्द्रियत्वादिविशिष्टधर्मानाश्रयत्वाच्च । तथा शक्तावपि शक्तिस्वीकारेणानवस्थापाता-
दिति चेन्मैवम् । नैयायिकादिमते तदसिद्धे । नच परसिद्धेन दृष्टान्तेन प्रसङ्गः प्रसरमासादयतीति साप्रतम् ।
उभयवादिप्रमितस्य साधनाङ्गतानियमभङ्गप्रसङ्गादिति भावः ।

एवं प्रथमानुमानं समर्थयित्वा स्फोटः सप्रतिपन्नस्फोटकारणातिरिक्तकारणजन्य इत्यनुमानेऽर्थान्तरतामुक्तां
परिहरति—**द्वितीयेति** । ननु भवतु वेदान्तिभिराज्ञाकारादुभयवादिसप्रतिपन्नत्वेन तदतिरिक्तत्वाभा-
वान्नेश्वरेणार्थान्तरता मीमांसकानां त्वनीश्वरवादित्वाद्वयत्वेव तेनार्थान्तरतेति तत्राह—**जन्यभाव इति** ।
तथाच न नित्येश्वरेणार्थान्तरतेति भावः । भाट्टस्यापीत्युपलक्षणम् । तर्हि नित्यगतनित्यशक्ताव्याप्तिरित्याश-
ङ्क्य निषेधति—**नचेत्यादिना** । नित्यद्रव्येषु द्रव्यत्वेन नित्यगुणेषु गुणत्वेन सामान्यादिषु च शक्त्यन्यनित्य-
त्वेन सप्रतिपन्नवदेव शक्त्यनुमानादिति भावः । स्यादेतत् साध्यता नाम नित्यता तु कथं स्यात् यावता
शक्त्युपाधावेकरूपाया नित्यत्वानित्यत्वविरोधादिति तत्राह—**सलिलेति** । इदमत्राकूतम् । नेयं शक्तिरेकैव
येनैकस्या शक्तेर्जन्यत्वमजन्यत्वं च विप्रतिषिध्यते अपितु प्रतिपदार्थविभिन्ना तथाचावयविषु अनित्यत्वेपि
रूपस्य पाथ पावकपरमाणुषु नित्यत्ववन्नित्यत्वं किं न स्यादिति । आधेयशक्तावागमं प्रमाणं समर्थयते—
ब्रीहीनिति ।

नचादृष्टस्य चेतनधर्मस्याचेतनेषु त्रीह्यादिष्वसंभवात् तद्विषयक्रियाजन्यतामात्रेण तदी-
यत्वप्रतिपत्त्युपपत्तेश्च द्वितीयाश्रुतिर्गौणीति वाच्यम् । धर्माधर्मलक्षणादृष्टविलक्षणस्यैव कस्य-
चिदतिशयस्य तण्डुलपिष्टपुरोडाशादिपरम्परया प्रधानापूर्वजननसामर्थ्यापरनामधेयस्याभ्युप-
गमात् । अन्यथा स्वरूपेणैव त्रीह्यादीनां तत्साधनत्वे प्रोक्षणादिविधानवैयर्थ्यप्रसङ्गात्,
दृष्टस्यासंभवे चादृष्टस्यैव कल्पनीयत्वात्, सम्भवति च मुख्ये लक्षणाश्रयणस्यानवकाशत्वात् ।

एतेन लीलावतीकारस्यापि निराकृतः प्रयोगः । प्रमाणानामागमार्थापत्त्यनुमानानां
दर्शितत्वेन प्रमाणेनानुपलभ्यमानत्वादिति हेतोरसिद्धेः । तदेवमर्थप्रत्यायनशक्तिसद्भावा-
त्पदानां तदभिहितेभ्यः पदार्थेभ्यः सन्निधानादिसहकारिवशात्पदार्थानामन्योन्यान्यवयव-
प्रतिपत्तिर्लक्षणया सिद्ध्यतीति सिद्धम् ॥ १३ ॥

यत्तु मुख्यार्थानुपपत्त्युपन्यासेनार्थान्तरत्वमुक्तं तदनूय दूषयति नचेत्यादिना—वाच्यमित्यन्तेन ।
तत्र हेतुमाह—**धर्माधर्मिति** । नास्माभिर्धर्माधर्मात्मकादृष्टं त्रीह्यादिष्वभ्युपेयते अपितु तद्विलक्षणम् । नह्यती-
न्द्रियातिशय सर्वो धर्माधर्माभिधान । गुरुत्वादेरपि तत्प्रसङ्गात् । यौहि सुखदुःखफलो पुरुषार्थावतिशयो
पुरुषसमवेतौ तौ नाम पुण्यापुण्याभिधानौ । एतादृशानि तु कृत्वर्थानि तथैव श्रुत्यादिप्रमाणैरवगमादित्यर्थः ।
यथाच प्रोक्षणादीनां गुणकर्मतया स्वतन्त्रापूर्वकल्पनानवकाश तथा भेदलक्षणे भावार्थपादे 'तानि द्वैधं गुण-
प्रधानभूतानी'त्यत्रोक्तम् । ननु त्रीहीणामेव प्रोक्षितानां तण्डुलादिपरंपरया प्रधानापूर्वनिर्वर्तकत्वमस्तु किम-
त्रादृष्टेन विनानुपपन्नमिति तत्राह—**अन्यथेति** । एतदनुपपत्त्यात्मकं प्रमाणान्तरमेव बोध्यते त्रिविधं ह्यङ्गं
दृष्टार्थमदृष्टार्थमुभयार्थं चेति । तत्र दृष्टार्थेष्वपि नियमादृष्टमस्त्येव । केवलं दृष्टे विधिवैयर्थ्यात्, अनन्यल-
भ्यस्य च शब्दार्थत्वात् । अतोविध्यन्यथानुपपत्तिरप्यदृष्टसाविकेत्यर्थः । ननु दृष्टसंभवेनादृष्टकल्पनाऽयुक्तेति
तत्राह—**दृष्टस्येति** । ननु भवतु विध्यन्यथानुपपत्त्या दृष्टं तच्च चेतनसमवायि चेतनधर्मत्वात् भावनाया
इति तत्राह—**संभवति चेति** । अयमर्थः । त्रीहीन्प्रोक्षतीति द्वितीयाश्रुत्या त्रीहीणामेव प्रोक्षणेन सस्कार्यत्वं
श्रुतं ननु सक्तूनामिव होमेन भस्मसाद्भूतानां विनियोक्ष्यमाणत्वानुपपत्तिं येन सक्तुभिरितिवद्गीहिभिरिति
श्रुतविनियोगभङ्गावकाशः । नच तीर्थस्नानादिवत्कर्तृवर्मेता । तदिह न विषयतामात्रेण द्वितीया श्रूयते किन्तु
सस्कारजन्यतिशयाधारतया । तथा सति लक्षणा स्यात् । नच विनाकारणं लक्षणा । अतिप्रसङ्गात् । नचाग-
मैकभूमिषु प्रमाणान्तरावतारो येन विरोधशङ्कापि स्यात् । तदुक्तं भाष्यकृद्भिः 'न विधौ पर शब्दार्थ' इति ।

यत्तु श्रीवल्लभेन शक्त्यपहवायानुमानमुक्तं तदयुक्तप्रकारेण दूषितमित्याह—**एतेनेति** । एतेनेत्येतद्वि-
वृण्वन्नसिद्धिमाह—**प्रमाणानामिति** । किञ्च यच्छब्दतच्छब्दयोस्तावदर्थपर्यालोचनायामनुमानशरीर
पूतिकृष्णान्धायते । तथाहि यत्तच्छब्दाभ्यां साव्यविवक्षायां यथा नीलं पीतरूपेणेति दृष्टान्तामङ्गति । नील-
रूपविवक्षायां तु पक्षासङ्गति । अन्यश्चानुगतोर्थोऽनतिप्रसङ्गी दुर्निरूप, सत्प्रतिपक्षत्वाच्च । तथाहि विवा-
दपदं स्वरूपमात्रसंबद्धातीन्द्रियसापेक्षं जन्यजनकत्वादात्मवदिति शक्यमनुमातुम् । नचात्रात्मत्वमुपाधि ।
स्वरूपमात्रसंबद्धातीन्द्रियगुरुत्वसापेक्षाणां पतने पाषाणादीनामात्मत्वाभावेन साध्याव्यापकत्वात् । नच विवा-
दपदं स्वरूपमात्रसंबद्धातीन्द्रियभावनासापेक्षमदृष्टसापेक्षमिति वा । जनकत्वादात्मवदित्यपि प्रसङ्गेनाभास-
समानयोगक्षेमता । आत्मत्वस्यैव तत्रोपाधित्वात् । यच्च तेनोक्तं शक्तेरपि शक्त्यन्तरापेक्षायामनवस्थिति-
अनपेक्षत्वे तथैव व्यभिचार इति । तदसत् । शक्तस्य कारणत्वाभ्युपगमात् । नचान्ततः प्रतीति प्रत्यपि कार-
णत्वमस्तीति वचनीयम् । प्रत्यक्षप्रतीतेरेवार्थजन्यत्वात्, शक्तेश्चाप्रत्यक्षत्वात् । अनुमानादीनां तु नार्थजन्य-
त्वमितरथाऽतीताद्यनुमानानुदयप्रसङ्गात् । नच योगिनामतीताद्यपि प्रत्यक्षमिति प्रत्यक्षेऽप्यर्थजन्यत्वं शक्य-
भजनम् । अतीतादीनां प्रत्यक्षत्व एव विवादात् । यथाह परमर्षिः—'विद्यमानोपलम्भना'दिति । वादार्थ-
मुपसहरन् शक्तिसमर्थनस्य समन्वयोपयोगमाह—**तदेवमित्यादिना** । अर्थप्रत्यायनशक्तिसद्भावात्पदानां

ननु पदानामेवान्योन्यान्वितस्वार्थाभिधायकत्वसंभवे किमिति पदार्थानां लक्षणयान्योन्यान्वयप्रतिपत्तिजनकत्वमास्थीयते । तथाहि योग्येतरान्वितस्वार्थेषु पदानामावापोद्धारदर्शनात्तत्रैव सामर्थ्यमध्यवसीयते । यद्यपि प्रतिप्रयोगं विशेषान्तरतत्संसर्गयोर्व्यभिचारः, तथापि योग्येतरान्वितस्य स्वार्थमात्रस्याव्यभिचारात् प्रथमावगतयोग्येतरान्वितस्वार्थाभिधानसामर्थ्यानुसारेण प्रयोगान्तरेष्वपि तथैव कल्पयिष्यते ।

ननु किमनभिहितेन पदार्थेनान्वितं स्वार्थमवबोधयति गोपदमुत्पदान्तराभिहितेन । नाद्यः । एकस्मादेव पदात्तत्तदर्थान्वितस्वार्थावबोधसंभवेन पदान्तरस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । न द्वितीयः । परस्पराश्रयप्रसङ्गात् । तथाहि गामानयेत्यत्र गोपदं यावदानयपदेन गोपदार्थान्वितस्वार्थो नाभिधीयते न तावत्तदन्वितस्वार्थमभिधातुमर्हति, एवं तदपि पदं यावत्स्वार्थान्वितमर्थं गोपदं नाभिदध्यात् तावत्तदन्वितस्वार्थं नाभिधत्ते ततश्च गोपदेन तदन्वितस्वार्थेऽभिहिते पश्चादानयपदेन तदन्वितः स्वार्थोऽभिधातव्यः, सति च तस्मिन् गोपदेन स्वार्थोऽभिधातव्य इति व्यक्तमेव परस्पराश्रयत्वम् । पदार्थमात्राभिधानपूर्वके तु तदन्विताभिधाने द्विरभिधानमप्रमाणमनुपपद्यमानं चापद्येत । ननु द्विरभिधानं न पदजातस्य

पदैरेव स्वाभिहितपदार्थेभ्यो द्वारभूतेभ्यः सन्निधानादिसहकारिवशात् पदार्थानामन्योन्यान्वयप्रतिपत्तिर्लक्षणया सिध्यतीति सिद्धमित्यन्वयः । 'इत्येपा सदसत्प्रकारविधुरा माया दुरुनीतितो मूलत्वात्प्रकृति प्रबोधभयतोऽविद्यासहायोहिता । शक्तिर्विश्वमयस्य यस्य विशदानन्दप्रबोधोदधेर्निर्धूतखिलभेदगन्धममलं वंदे भवानीपीतिम् ।

पदार्थान्वयप्रतिपत्तिः पदैर्लक्षणया सिध्यतीत्युक्तं तत्र पदार्थानामन्वितावस्थापि पदैरभिधेयैव न लक्ष्येति अन्विताभिधानवादिनः प्रत्यवतिष्ठन्तेतराम्—**नन्वित्यादिना** । श्रौतत्वसंभवे लक्षणा न न्याय्या मुख्या-मुख्ययोर्मुख्यस्याभ्यर्हितत्वादिति भावः । नन्वन्विते सामर्थ्याश्रयणाद्वर स्वरूपमात्रे सामर्थ्याश्रयणमतिलाघवात् इतरथा गौरवप्रसङ्गादिति तत्राह—**तथाहीति** । प्रमाणगर्भगौरवं न दोषायेति भावः । नन्वेकस्मिन्प्रयोगे बन्धनान्वितं गोत्वं प्रतीयते अपरस्मिन्ननयनान्वितम् अपरत्र दर्शनान्वितमिति व्यभिचारिणौ पदार्थान्तरतदन्वयौ अव्यभिचारि च गोत्वम् अव्यभिचारिणि सामर्थ्यं युक्तमाश्रयितुमैकरूप्यादतः पदार्थमात्रमेव पदशक्तिगोचर इति तत्राह—**यद्यपीति** । ननु किमित्येवं व्यभिचारिणोरपि पदार्थान्तरतत्संसर्गयोरनुगतमेकं रूपं आपाद्यानुगतशक्तिकल्पनानिर्बन्ध इति तत्राह—**प्रथमेति** । तदुक्तं वाक्यार्थमातृकाया नाथेन—'आकाङ्क्षासन्निधिप्राप्तयोग्यार्थान्तरसंगमात् । स्वार्थानाहुः पदानीति व्युत्पत्तिः सश्रिता यदा । अन्वयव्यभिचाराभ्या तदा दोषो न कश्चन ॥' इति । **प्रयोगान्तरेषु** तुरगमानयेत्यादिषु इत्यर्थः ।

अत्राभिहितान्वयवादिनामाक्षेपमवतारयति—**नन्वित्यादिना** । येन पदार्थान्तरेणान्वितं स्वार्थमभिदधाति गोपदं तत्किमन्येनानभिहितम् उताभिहितम् । आद्ये पदान्तरवैयर्थ्यं विनैव तदभिधानं तदन्वयलाभात् एकपदादेव सर्वार्थप्रतीतिप्रसङ्गात् । नच योग्येतरमात्रान्विताभिधानेपि तद्विशेषान्विताभिधानसिद्धये पदान्तरोपादानम् । विशेषान्विताभिधानेप्यभिहितानभिहितविकल्पस्य तुल्यत्वात् । द्वितीयं दूषयति—**नद्वितीय इति** । आनय इति पदेन गोत्वान्विततया नयनाभिधाने सति आनयनान्वितं गोत्वं गोपदमभिदध्यात् । एवं गोपदेनानयनान्विते गोत्वेऽभिहिते तदन्वितमानयनमानयेतिपदमभिदध्यादित्यन्योन्याश्रय इति खण्डलकार्थः । ननु नात्र परस्पराश्रयताया अवतारः परस्परेनिरपेक्षाणि प्रथमपदानि पदार्थानसंस्पृष्टानभिधाय पश्चादन्योन्यान्वितास्तानेव पदार्थानभिदधत इति तत्राह—**पदार्थमात्रेति** । न केवलमेवं कल्पनायां प्रमाणाभाव अपितु प्रमाणविरोधश्चेत्याह—**अनुपपद्यमानं चेति** । तथाहि संस्पृष्टाशेषि चेत्

साहचर्यवशात्स्वार्थेषु प्रथमं स्मारकाणां पश्चादन्विताभिधायकत्वाभ्युपगमादिति चेन्मै-
वम् । साहचर्यदर्शनदशायामन्वितानामेवानुभूततया तथैव स्मरणस्यावश्याश्रयणीयत्वात् ।
नहि पदं पदार्थमात्रप्रतिपत्तये प्रयुज्यते किंतु व्यवहाराय स चान्वित एवेति कथमन-
न्वितानामेव पदार्थानां पदेभ्यः स्मृतिः स्यात् । तथा च गां पश्येति प्रयोगे गोपदेन
पूर्वानुभूतानयनान्वितस्वार्थस्य स्मारितत्वात्पश्येति पदमनाकाङ्क्षितार्थमसङ्गतं प्रसज्येत,
एवं प्रासादं पश्येत्तत्र प्रासादान्वितस्वार्थाभिधायकत्वात्पश्येति पदस्य न गोपदं तेन
संबध्येत । तथाच वाक्यार्थः कापि परिनिष्ठितो न सिद्ध्येत् ।

नन्वव्यभिचाराद्गोपदं स्वार्थमात्रमेव स्मारयति नार्थान्तराणि तेषां व्यभिचारित्वादिति
चेत् । मैवम् । पदभ्यासादप्रत्ययैराहिताया भावनायाः प्रबोधवत्याः स्मरणहेतुत्वाङ्गी-
कारात् तत्प्रबोधस्य च व्यभिचारिण्यर्थान्तरे परिगणितप्रणिधानसाहचर्यादिजन्मनोऽवि-
शेषात् । परिगणिता हि स्मृतिहेतवः प्रणिधानाभ्यासलिङ्गलक्षणसादृश्यपरिग्रहाश्रिता-
श्रयसंबन्धानन्तर्यवियोगैककार्यविरोधातिशयव्याप्तिव्यवधानसुखदुःखेच्छाद्वेषभयार्थित्वक्रि-

पदानि गृहीतसंगतिकानि तमपि प्रथममेवाभिदध्यु अगृहीतसंगतिकत्वे पश्चादपि नाभिदध्यु इत्यस्त्येवानु-
पपत्तिः सकृत्प्रयुक्तशब्दस्य विरम्यव्यापारानुपपत्तिर्वानुपपत्तिः । ननु न प्रथममभिधायकानि पदानि येन
द्विरभिधानं प्रसज्येत अपितु प्रथमं पदार्थेषु स्मृतिरेव जायते सहचरितदर्शनात् सहचरितानि हि पदार्थैः
प्रथमं पदान्यनुभूतानि देवदत्तदर्शनाद्विवत्तत्सहचरितयज्ञदत्ते अनन्तरं तु ससृष्टदशया स्मारितानां पदार्था-
नामभिधानमिति तदेतच्छङ्कित्वा परिहरति—**मैवमिति** । अन्वितपदार्थैः साहचर्यमेवोपपादयति—**नहि
पदमिति** । व्यवहारसमर्थससृष्टपदार्थैः साहचर्यात्तादृगर्थस्मारकपदानां पदार्थमात्रस्मारकत्वमप्रसिद्धमित्यर्थः ।
अङ्गीकारे च दूषणान्तरमाह—**तथाचेति** । अयमर्थः । गामानयेति प्रयोगे गोपदस्यानयनान्वितगोत्वेन
साहचर्योपलम्भात् गां पश्येति प्रयोगेपि कारकाभिधायिगोपदमानयनान्वितमेव गोत्वं स्मारयेदिति पश्येति
पदमनाकाङ्क्षितार्थमसङ्गतं प्रसज्येत । एवं तस्मिन्नेव प्रयोगे गोपदमपि पश्येत्यनेन क्रियावाचिनानाकाङ्क्षितार्थ-
स्मारकमसङ्गतमेव स्यात्, पश्येत्यस्य प्रयोगान्तरैऽर्थान्तरसाहचर्यदर्शनादिति उक्तामव्यवस्थां सर्ववाक्येष्व-
तिदिशति —**तथाचेति** ।

साहचर्याविशेषेपि पदार्थान्तरवैषम्यं शङ्कते—**नन्विति** । व्यभिचारेपि भूयोदर्शनाद्याहितसंस्कारोद्बोधा-
दुत्पद्यमाना स्मृतिर्नान्वितान्वितपदार्थयोर्विशिष्यत इति परिहरति—**मैवमिति** । भावना संस्कारः सकृ-
द्गृहीतेपि तडिदादौ पटुप्रत्यय कण्डिकादावभ्यासप्रत्ययः अद्भुतेष्वादरप्रत्ययः तथाप्यप्रबुद्धस्य न स्मृतिज-
नकत्वमिति प्रबोधग्रहणम् । ननु भावनोद्बोध एव न तथा व्यभिचारिणि यथा अव्यभिचारिणि पदार्थमात्र
इति । तत्राह—**तत्प्रबोधस्येति** । प्रबोध उद्बोध परिगणितेभ्यः प्रणिधानसाहचर्यादिभ्यो जन्म यस्य प्रबो-
धस्य तस्येत्यर्थः । भगवदक्षपादेन परिगणितानेव शास्त्रान्तरे स्मृतिहेतुर्दर्शयति—**परिगणिता हीति ।
स्मृतिहेतवः** संस्कारोद्बोवनद्वारेति शेषः । प्रणिधानं मनोऽवधानम् । अभ्यासः प्रसिद्धः । लिङ्गाद्याप्तिस्मारकः ।
लक्षणं धवलच्छत्रादिचिह्नं राजादिसंस्कारोद्बोधकम् । सादृश्यं शुक्तिभास्वरतादिरजतादिसंस्कारोद्बोधकम् ।
परिग्रहः स्वीकारः कलत्रादिसंस्कारस्य । एवमाश्रिताश्रयावपि परस्परसंस्कारस्य । सम्बन्धः सहचारः सहच-
रितसंस्कारस्य । आनन्तर्यं पूर्वतनपदार्थसंस्कारस्य । वियोगः कामिन्यादौ । एककार्यमेकस्मादुत्पन्नकार्याणां
मन्यतमसंस्कारस्य । विरोधः सर्पनकुलादौ । अतिशयेनातिशयिते । व्याप्त्या व्याप्यव्यापकयोः । व्यवधानं प्रियतम-
व्यवहिते । सुखदुःखादि तज्जातीयस्य तद्धेतोश्च । अर्थित्वमर्थनीये । अर्थित्वं तु प्राप्तविषये पुनः पुनरिच्छा । तेने-

यारागधर्माधर्माः प्रामाणिकैरस्ति चेहयोग्येतरान्वयस्यापि साहचर्यं स्मरणहेतुः । तस्मा-
त्पदैरभिहिताः पदार्था एवाकाङ्क्षादिमन्तः परस्परान्वयं बोधयन्तीति युक्तमाश्रयितुम् ।

मैवं, त्वयापि पदार्थविषयाः प्रत्ययाः प्रमाणविपर्ययसंशयादिष्वनन्तर्भावात्स्मृतय एष्ट-
व्यास्ताश्चान्वितगोचरा न स्वरूपमात्रगोचरा इति तुल्यो दोषः । नच वाच्यमभिधानतः
स्मारितमेव वाक्यार्थान्वयिना साहचर्यमात्रादिति । गङ्गायां घोषः प्रतिवसतीत्यादौ पदा-
नभिहिततीरादीनां वाक्यार्थान्वयप्रसङ्गात् । अभ्यासातिशयश्च पदार्थस्मरणहेतुः ।
सच यथा पदानां स्वार्थेषु न तथार्थान्तरेषु । तेषां व्यभिचारित्वात् । तथा च स्वरूप-
मात्रेणैव पदेभ्यः स्मारिताः पदार्थाः आकाङ्क्षादिमन्तः पदैरन्विता अभिधीयन्त इति न
परस्पराश्रयता ।

नापि पदान्तरानाकाङ्क्षा । आकाङ्क्षा हि प्रतिपत्तुर्जिज्ञासा, साचाभिधानपर्यवसा-
नादभिहितार्थापर्यवसानाद्वा भवति यथा वृक्ष इत्यत्र प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमाविभक्तेस्म-

च्छया न पौनरुक्त्यम् । क्रियाराग क्रियासक्तिः स्वविषयस्य । धर्माधर्मौ शुभाशुभविषयसंस्कारोद्बोधकौ ।
यस्मादेवमन्विताभिधानपक्षो न घटतेऽतोभिहितान्वयपक्ष एव श्रेयानित्युपसहरति । अभिहितान्वयवादी—
तस्मादिति ।

अत्रान्विताभिधानवादी स्वपक्षदूषणं प्रतिबन्ध्या समादधाति—**मैवमित्यादिना** । पदार्था एव पदैरभि-
धीयन्ते तदन्वयस्तु लक्ष्यते इति यस्याभिहितान्वयवादिनो मतं तेनापि पदार्थविषयाः प्रत्ययाः प्रमाणत्वेन
नाभ्युपगन्तुं शक्या । अनधिगतार्थगन्तृत्वाभावात्, सर्वस्य सत्त्वप्रसङ्गाच्च । नापि विपर्ययसंशयत्वाभ्याम् ।
यथार्थनिश्चयत्वात् । अतः परिशेषात्स्मृतय एवैष्टव्या ताश्च न पदार्थमात्रगोचरा, सहचरितदर्शनात् खल्वयं स-
ंस्कारोद्बोध साहचर्यं चान्वितैः पदार्थैः न त्वनन्वितैरित्यायुष्मतैवावेदितम् । तथाच कथं त्वन्मतेपि पदार्थ-
मात्रस्य प्रथमं स्मरणं सोऽयमात्मीय एव बाणो भवन्तं प्रहरतीति भावः । ननु द्विविधा स्मृतिः पदजनिता साह-
चर्यादभिधानाच्च । तत्रसाहचर्यमन्वितेपि समानम् अभिधानं तु पदार्थमात्रे । अभिधानद्वारा च यत्स्मारितं तदेव
वाक्यार्थान्वयोपयोगि नेतरदिति ब्रूम, देवदत्त गामानयुत्यादौ तत्सहचरितयज्ञदत्तादेरन्वयादर्शनात्ततो वैप-
र्यमिति तत्राह—**नचेति** । हेतुमाह—**गङ्गायामिति** । यदि ह्यभिधानेन स्मारितमेव वाक्यार्थोपयोगि तर्हि
तीरादिपदार्थानां वाक्यार्थान्वयो न स्यात्तेषामभिधानाभावान्मुख्यार्थसाहचर्यादेव स्मारितत्वादित्यर्थः । तत्किमे-
वमनुपपत्तिसाम्यापादनेन निवृत्तो भवान् तथाच मतानुज्ञा राजयक्ष्मकक्षीकार स्यादित्यतः स्वपक्षे परिहारमाह
—**अभ्यासेति** । यस्मादव्यभिचारिपदार्थेष्वभ्यासातिशयात्तावन्मात्रस्य प्रथमं स्मरणोपपत्तिः । अतः पूर्वोक्त
परस्पराश्रयपरिहरः स्थित एवेत्याह—**तथाचेति** । तदुक्तं शाब्दनिर्णये—‘क्रमेणावगतानर्थान्युपपत्संहतानथ ।
प्रमिमीरन्पदानीति नान्योन्याश्रयदोषता इति । नाथैरपि—‘श्रूयमाणं पदं सर्वं स्मारितानन्वितार्थकम् । न्यायसपा-
दितव्यं पश्चाद्वाक्यार्थबोधकम् ॥ स्मृतिसन्निहितैरेवमर्थैरन्वितमात्मन । अर्थमाहपदंसर्वमिति नान्यो-
न्यसंश्रयः’ इति ।

यत्तु सर्वेषां पदानामन्योन्यानाकाङ्क्षितार्थसमर्पणमापादितं तत्र । अभिधानापर्यवसानाद्वा अभिहितार्था-
पर्यवसानाद्वा पदार्थान्तरे पुरुषस्य जिज्ञासा ह्याकाङ्क्षानाम यथाहुः —‘अभिधानावसाना हि जिज्ञासार्थाच्च जायते ।
प्रयोजनावसानाच्च पदार्थे सा निवर्तत’ इति । नाथेनापि ‘अन्वितस्याभिधानार्थ’मित्यादि । तदिहाभिधानान-
वसानजनिताकाङ्क्षा पदार्थान्तरेपि समाना तद्विशेषनिर्णयस्तु सन्निहितयोग्यपदावमर्शादित्यभिप्रेत्य परिहरति
—**नापीति** । नच पदत्रयाद्यात्मके अन्यतरानाकाङ्क्षाकारणद्वयाभावादिति वाच्यम् । अश्रूयमाणे हि तथा,
श्रूयमाणे तु रक्तपटन्यायेनाकाङ्क्षाकल्पनात् । अभिधानापर्यवसानोदाहरणमाह—**यथा वृक्षेति** । वृक्ष इति

रणात्तेनैव तस्यान्विताभिधानासम्भवादन्वयस्य चानभिधानादभिधानपर्यवसानायैवाकाङ्क्षा । यथा वा 'विश्वजिता यजेते'त्यत्र कार्यस्य विषयकरणान्विततया प्रतीतस्यैवापर्यवसानाद्विशिष्टाधिकारिकल्पना । तदेवंभूताकाङ्क्षावशात्पदानामन्विताभिधानं न विरुध्यते ।

ननु तथापि पदानामन्विताभिधाने सामर्थ्यं न कल्पनीयं पदस्मारितानामेव पदार्थानामाकाङ्क्षादिवशादन्योन्यान्वयप्रत्यायकत्वोपपत्तेरिति चेत् । मैवम् । मानान्तराधिगतानां पदार्थानां वाक्यार्थप्रत्यायकत्वादर्शनात् । ननु 'पश्यतः श्वेतोऽश्वो धावतीति धी'रितिन्यायादस्त्येव पदार्थानां संसर्गबोधजनकत्वमिति चेन्न । अनुमानादर्थोपपत्तेर्वा तत्र संसर्गावगमात् । तथाहि । एषां पदार्थानामेकाधिकरणतयावगतानां प्रत्यायकत्वेनानुमानानतिरेकः विशकलितावगतानां वार्थान्तराभावे निश्चितेर्थापत्तिरेव परिशिष्यते अनिश्चिते त्वनध्यवसाय एव ।

अपि च शब्दसामर्थ्याजन्यत्वे वाक्यार्थप्रत्ययस्य पदार्थाख्यं सप्तमं प्रमाणमभ्युपेयं स्यात् । प्रत्यक्षादिषु तस्यानन्तर्भावात् । किंच पदार्थानामनभिहितानां संसर्गबोधकत्वाभा-

पदेनापि हि पदत्वादन्वितो बृक्षोभिधातव्यः स च केनान्वित इति विमर्शं न तावद्बृक्षं बृक्षैरित्यादौ कर्मकरणादिभिरिव विभक्त्यर्थेन । प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमाविधानात् । 'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमे'ति प्रातिपदिकार्थादिष्वर्थेषु प्रथमा पाणिनिः स्मरतिस्म । नच पदार्थान्तरमभिहितमस्ति । तस्मादभिवानपर्यवसानायैव तत्र तिष्ठतीत्यादौ जिज्ञासेत्यर्थः । अभिहितापर्यवसानस्योदाहरणमाह—**यथावेति** । विषयो धात्वर्थः स एव करणं तत्र हि पदान्तरश्रवणादभिधानपर्यवसाने'यमभिहितापूर्वापर्यवसानमस्ति । विषयनियोज्यव्यावृत्तो हि नियोगः प्रतीयमानोऽनुष्ठानाय कल्पयत इति विषयवन्नियोज्ये'यस्येवाकाङ्क्षेत्यर्थः । प्रतिपादितामाकाङ्क्षा प्रकृतेऽपि दर्शयति—**तदेवमिति** ।

यद्यप्यन्योन्याश्रयादिदोषो नास्ति तथाप्यभिहितपदार्थेभ्य एव संसर्गसिद्धौ पदानामपि सामर्थ्यकल्पनायां कल्पनागौरवं दूषणमित्यभिहितान्वयवादी शङ्कते—**नन्विति** । यदि हि पदार्थानां संसर्गबोधकत्वं स्यात्तदा तदपहाय पदानामपि सामर्थ्यकल्पनाया स्यादेव गौरवं ननु तदस्ति प्रमाणान्तरगृहीतपदार्थेष्वदर्शनादित्याह—**मैवमिति** । उक्तं च नाथेन—'किंतु तेषां न दृष्टेष्वा शक्तिर्मानान्तरोद्गतौ । कल्या विशिष्टार्थपरपदसस्पर्शाभाविता' इति । प्रमाणान्तरगृहीतानाम'यस्येव संसर्गबोधकत्वमिति शङ्कते—**नन्विति** । अत्र हि दृश्यमानं श्वेतोऽश्वरूपमव्यक्तरूपं श्रूयमाणौ च हेषाखुरनिक्षेपशब्दौ श्वेतोऽश्वो धावतीति संसर्गबुद्धिं जनयन्तीत्यर्थः । अत्र किमेकनिष्ठतयावगतमेतत्त्रयं संसर्गबोधक विशकलिततया वा । प्रथमेऽनुमानता दर्शयति—**तथाहीति** । यत्र ह्येतत्त्रयमेकत्रावगतं तत्राश्वत्वं दृष्टमिति व्याख्या बोधकत्वादनुमानमित्यर्थः । द्वितीयेऽर्थापत्तितामाह—**विशकलितेति** । नन्वर्थान्तराभावे विनिश्चितेऽनुपपत्त्याश्वत्वबोधकत्वाद्भवेदर्थोपपत्तित्वमर्थान्तराभावोऽपि यदा न निश्चितस्तदा कथमर्थापत्तित्वमिति तत्राह—**अनिश्चितेति** ।

किंच शब्दाजन्यत्वे संसर्गबुद्धेरप्रामाणिकत्वं पदार्थाख्यसप्तमप्रमाणाभ्युपगमो वा प्रसज्येत प्रत्यक्षादिष्वनन्तर्भावादित्याह—**अपिचेति** । अथ पदस्मारितानामेवेदं सामर्थ्यं तर्ह्यनेकशक्तिकल्पनागौरवं स्यादित्याह—**किंचेति** । पदार्थानां तावत्संसर्गबुद्धिजननसामर्थ्यम् एकमपरमपि पदानां पदार्थेषु संसर्गप्रत्ययजननसामर्थ्यमुत्पादयितुं सामर्थ्यं पदैरेवाभिहितपदार्थेषु तादृशं सामर्थ्यमाधीयते । अनभिहितेषु सामर्थ्यादर्शनात् ।

वाद्भिहितानामेव तदेष्टव्यं तथाच पदार्थानां संसर्गप्रत्ययजननसामर्थ्यं पदानां च पदार्थेषु तत्सामर्थ्याधानसामर्थ्यमिति द्वयं कल्पनीयमिति कल्पनागौरवमभिहितान्वयवादिनः, अन्विताभिधानवादिनस्तु पदानां योग्येतरान्वितस्वार्थाभिधानसामर्थ्यमेकमेव कल्पनीयमिति कल्पनालाघवमित्यमेव पक्षः श्रेयानिति । अत्राभिहितान्वयवादिनः प्रत्यवतिष्ठन्ते—‘विनाभिधेयस्मरणमन्वयाप्रतिपत्तिः । तत्तत्पदार्थस्मृतयस्तेषामन्वयबोधिकाः ॥ २५ ॥’ पदकदम्बकश्रवणसमनन्तरमपि कुतश्चिन्मानसापराधादनुपजनितपदार्थस्मृतेर्वाक्यार्थप्रत्ययानुदयादुदयाच्चोपजातपदार्थस्मृतेरन्वयव्यतिरेकाभ्यां पदार्थस्मृतीनां वाक्यार्थप्रत्ययहेतुत्वं तावदवसीयते ।

नच पदार्थस्वरूपमात्रविषयस्मृतीनामन्योन्यान्वयबोधकत्वमनुपपन्नमन्यत्रादृष्टत्वादिति वाच्यम् । स्मरणमात्रस्य सामर्थ्याभावेऽपि समभिव्याहृतपदकदम्बकसमुपजन्तपदार्थस्मृतीनामाकाङ्क्षादिसहकारिणीनां संभवत्येव तद्वोधकत्वं सहकारिभेदोपादानात् कथमन्यथा संस्कारेन्द्रिययोरन्यत्र परस्परसंगतार्थाविषययोः प्रत्यभिज्ञायां पूर्वापरदेशकालसं-सृष्टैकवस्तुबोधकत्वं, परस्परसहकारितया तथात्वं तु प्रकृतेऽपि तुल्यम् । न च पदार्थस्मृतीनां स्मृतानां वा पदार्थानामन्वयबोधकत्वे सप्तमप्रमाणाभ्युपगमप्रसङ्गः । लिङ्गप्रकरणस्थानानामिव शब्दप्रमान्तर्भावोपपत्तेः । ननु लिङ्गादिषु श्रुति कल्पयित्वैव विनियोगप्र-

नैवम् । अस्मत्पक्षेऽन्वितस्वार्थेषु पदानामेकसामर्थ्याश्रयणात् । यद्यप्यर्थसामर्थ्यादन्विते सामर्थ्यकल्पनाया गौरवमस्ति तथापि न सामर्थ्यद्वित्वम्, अपितु स्थौल्यमात्रमिति भावः । अत्र च सामर्थ्यद्वयाभिधानं प्राथमिकपदार्थबुद्धे साहचर्यात्स्मृतिवत्त्वमभिप्रेत्य । तच्च परिहारावसरे स्वयमेव स्फुटीकरिष्यति । उभयसाधारणत्वाद्वावधीरितं पदार्थस्मृतिजननसामर्थ्यमिति अभिहितान्वयवादे अन्वयव्यतिरेकौ तावत्प्रमाणमाह—**विनेत्यादिना श्लोकेन** । अभिधेयपदार्थस्य स्मरणं विनान्वयस्य वाक्यार्थस्याप्रतिपत्तिरित्यत्राविगानमायुष्मतोऽपि । ततोवक्ष्यापेक्षणीयाभिधेयस्मरणै स्मृतैर्वाभिधेयैरन्वयव्यतिरेकवद्भिरन्वयो बोध्यत इत्ययमेव श्रेयानिति श्लोकार्थः । श्लोकं विवृणोति—**पदेत्यादिना** । कदम्बकं समूहः । एवं पूर्वार्थेनान्वयव्यतिरेकौ प्रदर्श्य उत्तरार्थं व्याचष्टे—**अन्वयेति** ।

पूर्वपक्षिणोऽनुशयबीजमुन्मूलयति—**नचेत्यादिना** । विशकलितपदार्थमात्रस्मृतीनामदर्शनेऽपि पदस्मारितपदार्थस्मृतीनां सहकारिवशादुपपद्यत इत्यर्थः । **सहकारीति** सहकारिणो भेदो विशेषस्तत्सबन्धादित्यर्थः । अन्यत्रादृष्टस्य कथं कल्पनमित्याशङ्क्यप्रतिबन्दी गृह्णाति—**कथमिति** । यथान्यत्र विभिन्नविषयनिष्ठतया दृष्टयोश्चक्षुःसंस्कारयोः प्रत्यभिज्ञाया सहकारिवैचित्र्यवशात्सोऽयं देवदत्त इत्येकार्थविषयत्वमेवमत्रापि समाव्यत इत्युपपाद्य सप्तमप्रमाणत्वं पदार्थानामाशदितं परिहरति—**नचेति** । तथाहि श्रुतिवाक्यसमाख्यानां शब्दरूपत्वेऽपि लिङ्गप्रकरणस्थानानां न शब्दरूपत्वम् । अथ च न शब्दात्पृथक्प्रमाणत्वं तथेहापीत्यर्थः । यद्यपि प्रकरणमप्यङ्गवाक्यापेक्षं प्रयानवाक्यमिति शब्दरूपमेव प्रतीयते तथापीतिकर्तव्यताकाङ्क्षाया अर्थरूपत्वादशब्दत्वमभिप्रेतमिति द्रष्टव्यम् । अविनियोजकत्वाद्वा । नहि लिङ्गादीनि साक्षाद्विनियोजकानीति लिङ्गादिभ्यो वैषम्यं दर्शयितुं तद्वृत्तान्तमाह—**नन्विति** । शब्दस्यार्थस्यापेक्षितोऽर्थः शब्देनैव समर्पणीयः न प्रमाणान्तरेण । नहि त्रयो ब्राह्मणा आगताः कठश्च माठरश्चेत्युक्त्वा तृतीयमङ्गुल्या निर्दिशन्तं सन्तः प्रशंसन्ति, प्रशंसन्ति तु कौण्डिन्य इति शब्देनैव समर्पयन्तम् । तदिहापि श्रुतिभिरेव चेत्तत्तदङ्गानि समर्प्यन्ते सम-

तीतेः स्वीकाराच्छाब्दत्वं न विरुद्ध्यते, इहतु पदार्थस्मृतीनां स्मृतानां वा पदार्थानामन्व-
यबोधकत्वमिति वैषम्यम्, शब्दावगतपदार्थजन्यत्वेनान्वयप्रतीतेः, शाब्दत्वे चक्षुषा-
वगतधूमजन्यस्यापि वह्निज्ञानस्य चाक्षुषत्वप्रसङ्ग इति चेन्मैवम् । अन्वयप्रतीति जनयतां
पदानामवान्तरव्यापारत्वात्पदार्थस्मरणानाम् । नचस्वव्यापारव्यवधानाद्व्यापारवतः करणत्वं
विहन्यते । यागादीनामपूर्वव्यवधानेन फलसाधकानामकरणत्वप्रसङ्गात् । नच चक्षुषो
लिङ्गज्ञानमवान्तरव्यापारः । अगृहीताविनाभावस्यानुमानानुदयात्, अचाक्षुषस्थलेपि
लिङ्गस्य बोधकत्वात् । गुरुमतानुसारिभिरपि लिङ्गप्रकरणादीनामन्तरेणैव श्रुतिकल्पनं
विनियोजकानां शब्दप्रमाणान्तर्भावाभ्युपगमाच्च ।

ननु त्वयाप्यभिहितान्वयवादे तिस्रः शक्तयः कल्पनीयाः पदानां तावदर्थस्वरूपानुभ-
वजननशक्तिरर्थानां चान्योन्यान्यवयवप्रत्यायनशक्तिस्तदाधानशक्तिश्चापरा पदानामिति । प-
दानां साहचर्येणार्थस्मारकत्वे पुनः शक्तिद्वयं कल्पनीयं पदार्थानामन्वयबोधनशक्तिस्तेषु
तदाधानशक्तिश्च पदानामन्विताभिधाने तु पदानामन्योन्यान्वितस्वार्थाभिधानशक्तिरे-

स्यन्ते तदा श्रुतप्रधानेन नेतरथेति श्रुतिकल्पनयैवैषा लिङ्गादीना विनियोजकत्वं न स्वातन्त्र्येण । श्रुतिकल्पनाया
च त्वरामन्थरतातारतम्येनैषा प्राबल्यदौर्बल्ये यथाह परमर्षि 'अर्थविप्रकर्षा'दिति । "अन्येपि एकद्वित्रिचतु-
ष्पञ्चवस्त्वन्तरायकारितं श्रुत्यर्थं प्रति वैषम्यं लिङ्गादीना प्रतीयत" इति । प्रकृतेतु वैषम्यमाह—इहत्विति ।
न शब्दस्येति शेष । नन्वशब्दत्वेपि पदार्थानां शब्दावगतत्वात्तज्जन्यप्रतीतिरपि शाब्दी एवेति नातिप्रसङ्ग
इत्याशङ्क्याह—शब्दावगतेति । तामिमां शङ्का परिहरति सिद्धान्ती—मैवमिति । नात्र शब्दावगतप-
दार्थजन्यत्वमात्रादन्वयप्रतीते शब्दत्वमुच्यते येनानुमितेरपि चाक्षुषत्वप्रसक्तिः किंतु शब्दावान्तरव्यापार-
रूपपदार्थस्मरणजन्यत्वात् । उक्तं हि 'साक्षाद्यद्यपि कुर्वन्ति पदार्थप्रतिपादनं वर्णास्तथापि नैतस्मिन्पर्यवस्यन्ति
निष्कले ॥ वाक्यार्थमिति ये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयक । पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनमिति । ततो नाति-
प्रसक्तिरिति भावः । ननु तथापि पदार्थैर्व्यवधानात् पदानां कथमन्वयप्रतीतिः प्रति करणत्वं तद्व्यनन्तरफल-
त्वमिति तत्राह—नचेति । यागादीनामिति । गुरुमतेपि यागस्य फलं प्रति करणत्वमस्त्येवेति भावः ।
पदार्थैर्न्यो लिङ्गज्ञानस्य वैषम्यमाह—नचेति । अथ किमिति न व्यापारस्तत्राह—अगृहीतेति । तज्ज-
न्यस्तदाश्रितो वा यस्तत्किंवाहेतुः स हि तद्व्यापारो नाम तथाच कथं चक्षुषि व्याप्रियमाणेप्यगृहीतव्याप्तिकस्य
लिङ्गज्ञानमनुत्पद्यमानं चक्षुर्व्यापारः स्यात् । नहि धूमज्ञानमात्रं लिङ्गज्ञानमपि तु व्याप्तस्य सतः पक्षधर्मतया
ज्ञानमिति भावः । चक्षुर्व्यतिरेकेणोत्पद्यमानत्वादपि न तद्व्यापारत्वमित्याह—अचाक्षुषेति । अथवा न
चक्षुर्जन्यानुमिति । तस्मिन्सत्यपि नियमेनोत्पद्यमानत्वात् । असति चोत्पत्तेरतो नेदं तस्य व्यापार इति प्र-
न्थार्थः । यत्तु लिङ्गप्रकरणादि उदाहृतं तदन्विताभिधानवादिनः प्राभाकरस्य भवत्येवोदाहरणम् । श्रुतिकल्प-
नाव्यतिरेकेणैव लिङ्गादीनि विनियोजकानीति हि गुरुणा मतमित्याह—गुरुमत इति ।

यत्तु शक्तिकल्पनागौरवमुक्तं तत्परिहर्तुमुत्थापयति—नन्विति । ननु कथं शक्तित्रयकल्पना यावता
साहचर्यवशादेव प्रथमं स्मृति पदार्थेषूपपद्यते भवतामिवेति तर्हि शक्तिद्वयमवश्यं भावीत्याह—पदाना-
मिति । यत्तु पूर्वपक्षे स्पष्टीकरिष्यतीत्युक्तं तदत्र स्पष्टीकृतम् । स्वपक्षे च लाघवं स्मारयति—अन्वितेति ।
अत्राभिहितान्वयवाद्यन्विताभिधानेपि शक्तित्रयकल्पनामापादयन्परिहरति—मैवमिति । स्यादेतत् यथा-
नित्यत्वेसत्यनेकसमवेतरूपजातिवाचकमपि पदं नानेकात्मकव्यक्तीनां तदन्वयस्य समवायस्य वा वाचकं गोत्व-
वाचकं यथा तद्व्यक्तिदन्वययोरवाचकं तद्वदन्यान्वितस्वार्थवाचकमपि पदं स्वार्थमात्रमेव वक्तीति न शक्तित्रयं

कैवेति कल्पनालाघवमिति चेन्मैवम् । त्वयाप्यर्थान्तरे तदन्वये स्वार्थे च पदशक्तीनां कल्पनीयत्वात् । नचार्थान्तरान्वितस्वार्थाभिधायकमपि पदं स्वार्थस्यैव वाचकं नार्थान्तर-तदन्वययोर्जातिवाचकमपि पदं व्यक्तितदन्वययोरिवेति वाच्यम् । विकल्पासहत्वात् । तथाहि किं जातिवाचकपदेन व्यक्तेरिव लक्ष्यत्वमर्थान्तरतदन्वययोरुत वाच्यत्वम् । नाद्यः । पदानामन्विताभिधानभङ्गप्रसङ्गात् । न द्वितीयः । वाच्यत्वे तयोरपि शक्तेरवश्यकल्पनी-यतया गौरवस्य तादवस्थ्यात् । किंचैकैकस्य पदस्य श्रूयमाणस्य स्मर्यमाणस्य वा तत्तत्प-दार्थस्मरणजननशक्तिः पुनरेकस्मरणगोचराणां च तेषामेव पदानामन्योन्यान्वितपदार्था-भिधानशक्तिः सकलपदगोचरस्य स्मरणस्य पदेष्वन्विताभिधानशक्त्याधानशक्तिश्चेति शक्ति-त्रयकल्पनान्विताभिधानवादेपि तुल्या । नचाभिहितान्वयवादेपि शक्तिकल्पनागौरवस्य तुल्यत्वात् विनिगमनाभाव आशङ्कनीयः । विशिष्टार्थप्रत्यायनप्रयुक्तपदकदम्बसमभिव्याहा-रान्यथानुपपत्त्या पदस्मारितानामर्थानामन्योन्यान्वयस्य लक्ष्यमाणत्वेनोपपत्तेः, 'शक्ते-रकल्पनीयत्वादनन्यलभ्यः शब्दार्थ' इति न्यायान् । उक्तं च 'विशिष्टार्थप्रयुक्ता हि समभिव्याहृतिर्जन' इति ।

ननु नेयं लक्षणा भवितुमर्हति, तल्लक्षणाभावात्, तथाहि 'वाच्यस्यार्थस्य वाक्यार्थे

कल्पनीयमिति तत्राह—**नचेति** । किं यद्वैवगत्यान्वितं तद्वाचकमित्यन्वयस्योपलक्षणत्वं आहोस्विदन्वितस्य वाचकमिति विशेषणत्वमिति विकल्प्याद्य दूषयति—**नाद्य इति** । अभिहितान्वयवादिभिरप्येवमभ्युपग-माद्भावस्येति भावः । द्वितीयेतु शक्तित्रयमवश्यमावीत्याह—**न द्वितीय इति** । स यदि ब्रूयान्नान्विता-भिधानवादे शक्तित्रयं नह्येतदर्थत्रयमपि तु एक एव विशिष्टार्थः परतु सविशेषणत्वमिव शक्तेरिति तं प्रकार-न्तरेण शक्तित्रयमापादयति—**किंचेति** । एषाहि अन्विताभिधानपरिपाटी । प्रथमं श्रूयमाणैः स्मर्यमाणैर्वा पदैरन्योन्याससृष्टार्था प्रत्याय्यन्ते अन्यपदोच्चारणानन्तरं चैकस्मृत्यारूढानि तान्येव पदानि पदार्थानन्यो-न्यान्विततया प्रतिपादयन्तीति । तथाच पदार्थमात्रेषु संसृष्टपदार्थेषु च प्रत्ययाधाने पदानां सामर्थ्यद्वयं सकलपदविषयस्मरणस्य सकलपदेष्वन्विताभिधानसामर्थ्याधानसामर्थ्यं तृतीयमेकस्मृत्यारूढपदानां तत्सा-मर्थ्याभावादित्यर्थः । ननु शक्तित्रयकल्पनायामुभयोः समानाया कोयमाग्रहः यदभिहितान्वयवाद एव श्रेया-निति तत्राह—**नचेति** । अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः, लभ्यते चान्येभ्योपि व्यवहारः समर्थसंसृष्टपदार्थबो-धार्थः प्रयुक्तपदस्मारितेभ्यः पदार्थेभ्यः । नच तस्याशाब्दत्वं, शब्दैरेव लक्ष्यमाणत्वादतो न शक्तित्रयमिति खण्डलकार्थः । एतदुक्तं भवति । पदानां पदार्थस्मृतिजनकत्वं तवापि तुल्यं स्मृतपदार्थानामन्वयप्रतिपत्ति-हेतुतामात्रमपि तुल्यमेव इतरथा प्राथमिकपदार्थस्मृतेस्तवापि वैयर्थ्यात् करणत्वं तु मयापि नेष्यते पदानां पदार्थेष्वन्वयप्रतिपत्तिजननसामर्थ्याधानसामर्थ्यं भवदीयसमुदायस्मृतिसामर्थ्येन तुल्यं पदानां स्मृतपदार्था-न्वयबोधने यत्सामर्थ्यमभिधानात्मकं त्वया परिकल्प्यते तन्मत्पक्षे नास्तीति मत्पक्षे लाघवमिति । जने मध्यमवृद्धे लोकव्यवहार इति वा पदसमभिव्याहृतिरुत्तमवृद्धस्य पदप्रयोगो वा विशिष्टार्थप्रयुक्तेति मण्डनमि-श्रोक्तियोजना ।

परस्परान्वये पदानां लक्षणैव वृत्तिर्नतु मुख्येत्युक्तं तदाक्षिपति मुख्यवृत्ति मन्वानोऽन्विताभिधानवादी—**ननु नेयमिति** । लक्षणाभावं दर्शयितुं शालिकनाथोक्तं तल्लक्षणमाह—**तथाहीति** । वाच्यस्यार्थस्य शङ्का-दिरूपस्य वाक्यार्थे घोषप्रतिवासादिरूपे सवन्धानुपपत्तौ सत्या वाच्यार्थसबन्धवशात्प्राप्तस्य वाक्यार्थान्व-

संबन्धानुपपत्तिः । तत्संबन्धवशप्राप्तस्यान्वयालक्षणोच्यते ॥' इति । नचौदनं चैत्रः प-
चति पिठर इत्यादौ चैत्रपिठरादीनामर्थानां वाक्यार्थसंबन्धानुपपत्तिः, नच पदार्थैर्लक्षि-
तायाः पदार्थानामन्वितावस्थायाः पुनरन्वयान्तरशालिता तेनेयं न लक्षणा तल्लक्षणविर-
हादिति चेन्मैवम् । अव्यापकत्वादेतस्य लक्षणा लक्षणत्वासंभवात् । नहि विषं भुङ्क्ते-
त्यादावेतल्लक्षणमस्ति । तत्र सर्वेषां पदानां लक्षकत्वेन वाच्यार्थाभावात्, वाच्यार्थावि-
नाभूतस्य वाक्यार्थेन पुनरन्वयाभावाच्च ।

यदपि 'मानान्तरविरोधे तु मुख्यार्थस्य परिग्रहे । मुख्यार्थेनाविनाभूते प्रतीतिर्लक्षणो-
च्यते ॥' इति लक्षणा लक्षणं तदप्यव्यापकम् । कुण्डपायिनामयने 'मासमग्निहोत्रं जुह्वती'-
त्येतल्लक्षणाव्यापकत्वात्, 'उपसद्भिश्चरित्वा मासमग्निहोत्रं जुह्वती'ति श्रूयमाणत्वात् प्रसि-
द्धाग्निहोत्रे चोपसदामभावात्कर्मान्तरेऽग्निहोत्रशब्दः प्रसिद्धाग्निहोत्रसाधर्म्याल्लक्षणया व-
र्तते । नच तत्र मानान्तरविरोधः, तदर्थस्य मानान्तरागोचरत्वात् ।

याद्वेतोर्या शब्दस्य तत्र प्रवृत्ति सा लक्षणेति श्लोकार्थः । प्रकृते च वाच्यार्थानां वाक्यार्थे संबन्धानुपपत्ति-
रूपलक्षणभागो नास्तीत्याह—**नचेति** । पिठरं भाण्डम् । यस्तु तत्संबन्धवशात् प्राप्तस्यान्वयादिति लक्ष्य-
माणार्थस्य पुनर्वाक्यार्थे योन्वय उक्त सोपि नास्तीत्याह—**नच पदार्थैरिति** । नह्यत्र वाक्यार्थद्वयमस्ति
येन लक्ष्यमाणवाक्यार्थस्य वाक्यार्थसंबन्धो भवेत् स्वेनैव स्वसंबन्धानुपपत्तेरिति भावः । लक्षणमेवेदं लक्ष-
णाया न संभवति अव्यापकत्वात् अतो नैतदभावमात्राल्लक्षणाक्षय इति परिहरति अभिहितान्वयवादी—
मैवमित्यादिना । वाक्यार्थे संबन्धानुपपत्तिः, अत्र कोऽयं वाक्यार्थोभिमतः किं न्यायपरिशोधनया निष्प-
न्नोर्थः किंवा क्रिया आहोस्वित्परिशिष्टपदवाच्योर्थः । नाद्यः । तदानीमनिष्पन्नत्वाद्वाक्यार्थस्येत्यभिप्रेत्याह
—**नहीति** । नापि द्वितीयः । विषं भुङ्क्तेत्यत्र क्रियाया अविबक्षितत्वात् भुङ्क्तेत्यस्यापि तन्निवृत्तिपर-
त्वात् । अत एव न तृतीय इत्याशयवानाह—**तत्रेति** । इतरोपि लक्षणाशो नास्तीत्याह—**वाच्यार्थेति** ।
नहि भोजननिवृत्तिव्यतिरेकेणापरो वाक्यार्थोऽस्ति येनान्वयादिति भावः ।

लक्षणान्तरमप्यनुवदति—**यदपीति** । मुख्यार्थस्य परिग्रहे मानान्तरविरोधे सति मुख्यार्थेनाविनाभूते
संबद्ध इति यावत् । मन्वा क्रोशन्तीत्यत्राविनाभावाददर्शनात् तस्मिन्नविनाभूते या प्रतीतिः सा लक्षणोच्यत
इति योजना । अस्ति कुण्डपायिनामयनगतं कर्म 'मासमग्निहोत्रं जुह्वती'ति श्रूयमाणं तत्र चाग्निहोत्रशब्दो
गौण्या प्रयुज्यते इति स्थितम् । उक्तं क्रियाभिधानमित्यत्र गौण्यपि हि गुणलक्षणयोगेन वर्तते इति लक्षणोच्यते ।
लक्षितलक्षणा हि गौणी नच तत्र एतल्लक्षणमस्तीत्यव्याह्या दूषयति—**तदित्यादिना** । ननु किमिति गौणो
मुख्य एवाग्निहोत्रशब्दः किं नस्यादत आह—**उपसद्भिश्चरिति** । एतच्च भाष्यकारीयं मतं वार्तिककारमतं
त्वनुपादेयमाससंबन्धात्, विच्छिन्नप्रकरणत्वाच्च, प्रत्यभिज्ञाभावाच्च कर्मान्तरमिति । तच्च दर्शितं प्रकरणान्तरा-
धिकरणमनुकामद्विरस्माभिर्मिथ्यात्ववादपूर्वपक्षावसरे अस्तु लक्षणात्वं लक्षणस्य तत्र कथमभाव इति माना-
न्तरविरोधाभावादित्याह—**नचेति** । यथाहि गङ्गायां घोष इत्यत्र तद्वाक्यव्यतिरेकेण मानान्तरविरोधो
मुख्यार्थपरिग्रहे न तथेह प्रमाणान्तरविरोधः तदर्थस्य तदयोग्यत्वात्, केवलमेतद्वाक्यव्यापारपर्यालोचनया
मुख्यार्थपरित्यागादिति भावः ।

तस्मात्पदानां पदार्थस्वरूपमात्रपरत्वे वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तिरेव लक्षणाक्षेपिकेति तदेव-
लक्षणं लक्षणायाः, सर्वलौकिकवैदिकलक्षणायां व्यापकत्वात् । तथाहि 'गङ्गायां घोषः
प्रतिवसति, आदित्यो यूषः, कुण्डपायिनामयने मासमग्निहोत्रं जुह्वती'त्यादावस्ति पदार्थमा-
त्रपरत्वे वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तिः । ननु तत्र वाच्यार्थान्वयानुपपत्तिरप्यस्ति तत्कथमिदमेव
लक्षणमिति नियम्यत इति चेन्मैवम् । वाच्यार्थान्वयानुपपत्त्यभावेपि लोकवेदयोर्लक्षणा-
दर्शनात् । तथाहि लोके 'सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः । शूरश्च कृतविद्यश्च
योऽभिजानाति सेवितुम् ।' इत्यादौ पदार्थानामन्वयसंभवेपि निष्प्रयोजने तात्पर्यासम्भवेन
वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तेः प्रतीयमानवाक्यार्थं हित्वा शूरादित्वं संपदो हेतुरिति ध्वनिना
सूच्यते । तथाच वेदे 'वायुर्वै क्षेपिष्ठे'त्यादौ संभवत्येव वाच्यार्थान्वये कैमर्थक्यवशेन देव-
ताप्राशस्त्यलक्षणया कर्मणः प्राशस्त्यं लक्ष्यते तस्माद्वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तिरेव लक्षणाक्षेपि-
केति निश्चिनुमः । अस्ति चेहापि लोकानुसारतो विशिष्टार्थप्रत्यायनप्रयुक्तसमभिव्याहृती-
नामर्थमात्रपरत्वे पदानां प्रामाण्यानुपपत्तिः 'विशिष्टार्थप्रयुक्ता हि समभिव्याहृतिर्जन'
इति न्यायात् । अस्ति च शब्दानामर्थरूपसंबन्धवशप्राप्तिरन्वितावस्थायां तथाचार्थरूप-
बोधनसामर्थ्यान्नाधिकसामर्थ्यद्वयकरुणामपि ।

एवं पराभिमतलक्षणं दूषयित्वा सर्वलक्षणानुगतं लक्षणमुपसहारफलेनाह—तस्मादिति । लौकिकवैदि-
कलक्षणासु लक्षणव्याप्तिमेव दर्शयति—तथाहीति । आदित्यो यूष इत्यत्रादित्यशब्दस्तेजस्वित्वलक्षणापरः ।
निर्णीतं खल्विदं प्रमाणलक्षणे नामधेयपादे—'तत्सिद्धिजातिसारूप्यप्रशंसाभूमलिङ्गसमवाया इति गुणाश्रया
इत्यत्र सारूप्यादादित्यशब्दो यूषे वर्तते' इति । नन्वेतेषूदाहरणेष्वस्मलक्षणमपि वाच्यार्थस्य वाक्यार्थं संब-
न्धानुपपत्त्यात्मकमस्ति तत्कथं निर्णय इति शङ्कयित्वा तल्लक्षणरहितेपि स्वकीयलक्षणानुवृत्त्या लक्षणान्वयं
लोकवेदयोर्दर्शयति—मैवमित्यादिना । सुवर्णपुष्पाप्तिरिति । सुवर्णमयपुष्पशालिनी पृथ्वी चिन्वन्तीति
तत्र योजना । अथवा पृथिवी सुवर्णपुष्पा चिन्वन्ति पृथिव्येव सुवर्णपुष्पा, यथा भवति तथा चिन्वन्ति
संपादयन्ति । एवंतु नाम बहुसुवर्णमुपार्जयन्तीत्यर्थः । ताश्च त्रीनाह—शूरश्चेत्यादिना । कैमर्थक्य-
वशेनेति । नहि वायो. क्षेपिष्ठत्वं प्रमाणान्तरेण विरुध्यते । अविहृद् एव तु तस्मिस्तावती निष्प्रयोजनतया
पर्यवसानाभावात् । किमर्थमिदमित्यपेक्षावशेन रक्तपटन्यायेन वा नष्टाश्चदग्धरथन्यायेन वा देवताप्राशस्त्यलक्षणया
कर्मप्राशस्त्यमिदं वाक्यार्थः । एवं लौकिकवैदिकलक्षणासु लक्षणस्यानुगतिं दर्शयित्वा प्रकृतेपि तदनुगतिमाह—
अस्तीति । विशिष्टार्थप्रत्यायनप्रयुक्ता समभिव्याहृतिरुच्चारणं येषां पदानां तानि विशिष्टार्थप्रत्यायनप्रयुक्त-
समभिव्याहृतीनि तेषामित्यर्थः । अर्थः पदार्थः । ननु वाक्यार्थे सबन्धानुपपत्तेः अन्वयान्तरशालित्वस्य च
सर्वलक्षणास्वनुगमेपि तत्संबन्धवशप्राप्तेरस्त्यन्वयः इह च पदार्थानामेव वाक्यार्थत्वात् न तत्संबन्धात्प्रा-
प्तिरिति तत्राह—अस्तिचेति । वाच्यार्थस्वरूपाणां परस्परं य. संबन्धः । तद्वशात्परंपरयान्वितावस्थाया
शब्दानां प्राप्तिरस्तीत्यर्थः । अथवा अर्थस्वरूपाणां यो वाक्यार्थेनान्वयः । विशिष्टस्वरूपयोस्तादात्म्याङ्गीकारात्
तद्वशाच्छब्दानामपि प्राप्तिरस्ति वाक्यार्थः इत्यर्थः । एवं च यदन्विताभिधानवादिनामतिरिक्तसामर्थ्यद्वयं
पदानामन्वितबोधनसामर्थ्यमेकं स्मृतेश्च पदेष्वन्वितबोधनसामर्थ्याधानसामर्थ्यमपरमिति तदपि निष्प्रयोजनं
नास्मन्मतेस्तीत्याह—तथाचेति ।

ननु पदानां संस्कारोन्मेषमात्रोपयोगान्नाभिधातृत्वं, पदार्थानामपि स्ववाचकपदसंस्कारोन्मेषकाणां तत्स्मारकतयाभिधायकत्वप्रसङ्गादिति चेन्न । पदानामेव पदार्थस्मारकाणामभिधातृत्वस्य लौकिकपरीक्षकप्रसिद्धिसिद्धस्यानिवारणीयत्वात्, शब्दविषयविज्ञानस्यैव पदार्थस्मरणजननशक्त्युपहितस्याभिधाव्यापारत्वेन स्वीकारात्, अन्यस्य च परिस्पन्दप्रयत्नलक्षणस्य व्यापारस्य विभौ विभुगुणे वा शब्दे चैतन्यानधिकरणे दुर्निरूपत्वात् । तस्मात्समभिव्याहृतपदकदम्बकस्मारितपदार्थानां परस्पराश्रयप्रत्ययो लाक्षणिकः शाब्दश्चेति सर्वमवदातम् । तथाचोक्तं मीमांसावार्तिककारमिश्रैः—‘न विमुञ्चन्ति सामर्थ्यं वाक्यार्थेपि पदानि नः । वाक्यार्थो लक्ष्यमाणो हि सर्वत्रैवेति च स्थिति’रिति ।

प्रयोगश्च—‘शब्दास्तात्पर्यविषयव्यतिषङ्गस्य लक्षकाः । तत्तात्पर्याभिधानत्वात्क्ष्वेत्तं भुङ्क्तेति शब्दवत् ॥ २६ ॥’ विवादपदानि पदानि लक्षणया पदार्थानामन्योन्याश्रयप्रतिपत्तिपराणि अन्वितप्रतिपत्तिपरत्वे सति पदत्वाद्विषं भुङ्क्तेति पदकदम्बवत् ।

स्यादेतत् । न पदानां पदार्थाभिधायकत्वं येन तत्सामर्थ्यादधिकं न कल्पनीयं स्यात् अपितु साहचर्यवशात्संस्कारोन्मेषकतया स्मारकत्वम् । नचैतदेवाभिधायकत्वम् । अर्थानामपि शब्दाभिधायकत्वप्रसङ्गात् । अस्ति च तेषामपि शब्दस्मारकत्वमिति ततश्च तदतिरिक्ताभिधाव्यापारस्वीकारेऽन्विताभिधानवादस्वीकार इत्यभिप्रेत्य शङ्कते—नन्वित्यादिना । यद्यपि स्मारकत्वं पदतदर्थयोः समानं तथापि पदानामेवाभिधायकत्वं लौकिकप्रसिद्धं नेतरस्येति परिहरति—न पदानामिति । नन्वन्य एवाभिधाव्यापार शब्दस्य भट्टैरभ्युपेयते तत्कथं स्मारकाणामेव प्रसिद्धिवशादभिधायकत्वमिति तत्राह—शब्देति । अथवा स्मृतिजननशक्तिविशिष्टं शब्दविज्ञानमभिधाव्यापार नचैवंविधो व्यापारोऽर्थस्यास्तीति कथमभिधायकत्वप्रसक्तिरित्याह—शब्दविषयेति । अथवाभिधायकत्वं न निवारयाम किंतु स्मरणजनकतातिरिक्तमेव तत्स्वीकर्तव्यमिति तत्राह—शब्दविषयेति । पदजनितविज्ञाने परिशेषात्स्मृतित्वेन तज्जनकत्वमेव शब्दस्याभिधायकत्वमित्यर्थः । अत्र वक्तृविशेषानुमापकशब्दविज्ञाने तदनभिधानरूपेति व्याप्तिनिवृत्त्यै पदार्थग्रहणम् । सहदृष्टवस्त्वन्तरज्ञानेऽतिव्याप्तिनिवृत्त्यै शब्दग्रहणम् । ननु परिस्पन्दः प्रयत्नो वा अन्य एव व्यापारो लोकप्रसिद्धः यथा तरुणा, यथा वा कौमारिलानामात्मनः, तत्कथं विज्ञानस्य व्यापारत्वमित्याशङ्क्याह—अन्यस्येति । विभाविति भट्टनये । विभुगुण इति काणादादिनये । तदनेन मूर्त्तग्रव्यानुविधायिपरिस्पन्दो निरस्तः । प्रयत्ननिरासायाह—चैतन्येति । अयमभिसन्धिः । तज्जन्यस्तदाश्रितश्च तत्क्रियाहेतुस्तद्व्यापार इति चक्षुःसंयोगादौ यद्यपि दृष्टस्तथापि श्रोत्रशब्दसन्निकर्षे तज्जन्यत्वाभावेपि तद्व्यापारत्वं दृष्टं, तथा अपूर्वस्य यागाश्रयत्वाभावेपि यागजन्यतया तद्व्यापारत्वमभ्युपगतं तदिहापि शब्दविषयविज्ञानस्य शब्दाश्रयत्वाभावेपि तज्जन्यत्वादपि भवति तद्व्यापारत्वमिति । स्वपक्षदूषणसमाधानमुपसंहरति—तस्मादिति । लाक्षणिकत्वेऽत एव शाब्दत्वे च भट्टपादसंमतिमाह—तथाचेति ।

ननु तथापि वाक्यार्थस्य लाक्षणिकत्वे किं प्रमाणं नह्येतदभियुक्तवचनैकगम्यमिति तत्राह—प्रयोगश्चेति । तात्पर्यविषयो व्यतिषङ्गः संबन्धस्तस्य लक्षका इति साध्यनिर्देशः । विषं भुङ्क्तेति शब्दवदित्यर्थः । श्लोकेन संपृहीतमनुमानं विवृणोति—विवादपदेति । विषं भुङ्क्तेत्यादौ सिद्धसाधनतानि वृत्त्यै विवादपदग्रहणम् । अन्विताभिधानेनार्थान्तरतानि वृत्त्यै लक्षणयेत्युक्तम् । पदार्थानामिति । अन्वयिनां न पुनः स्वस्मारितानाम् । तेन न दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यम् । पक्षे च सामर्थ्यात्स्वस्मारितान्वयसिद्धिः इतरस्यासंभवात् । गौरश्च इत्यादिपदैरनैकान्तिकतापरिहाराय हेतौ प्रथमं विशेषणम् । लिङ्गलिङ्गसंबन्धपरलिङ्गव्यवच्छेदाय पदग्रहणम् । अनन्वितानधिकरणेत्यपि विशेषणीयमिति केचित्, इतरथा स्वपुत्रानुमापकपदेषु व्यभिचारादिति ।

नच पदानि स्वार्थपरित्यागेन लक्षणयान्वयप्रतिपत्तिपराणि उक्तसाधनत्वात् त्वदुदाहृतवाक्यवदित्याभाससमानयोगक्षेमता । अस्यैव त्वदुदाहृतानुमानवाक्यस्य स्वार्थपरित्यागापरित्यागयोस्तदनुपपत्तेः । तथाहि । स्वार्थपरित्यागे विशिष्टसाध्यप्रतीयभावादेवाविधातकत्वात्, अपरित्यागे च तत्रैवानैकान्तिकत्वात्, मुख्यार्थबाधोपाधिप्रयुक्तत्वाच्च स्वार्थपरित्यागस्य । इह च बाधाभावान्न स्वार्थपरित्यागानुमानं तस्मादभिहितान्वयवाद् एव श्रेयानिति केचिदाचार्याः ।

नचैवमपसिद्धान्तः । भाष्यकारसंमतत्वात् । तथाच समन्वयसूत्रे वेदान्तवाक्यानि प्रस्तुत्य भाष्यकारः प्रतिपादयति स्म । नच तद्गतानां पदार्थानां ब्रह्मस्वरूपविषये निश्चिते समन्वयेवगम्यमानेऽर्थान्तरकल्पना युक्ता । श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गात् । तत्र च पदार्थानामेवान्योन्यान्वयप्रत्यायकताप्रतीयते मण्डनमिश्रादिभिरप्यङ्गीकृतत्वात् । ‘पदार्थान्तरतुल्यत्वाद्विव्याकाङ्क्षानिवन्धनः । न संसर्गः पदार्थानां स्वशब्दैस्तु प्रदर्शिताः ॥ संबन्धयोग्यरूपेण तस्मात्संबन्धभागिनः । विशिष्टार्थप्रयुक्ता हि समभिव्याहृतिर्जन’ इति । व्यवहारे भट्टनय इत्यङ्गीकारात् । भट्टपादैश्च वाक्यार्थस्य सर्वत्र लाक्षणिकत्वस्वीकारात् । ‘वाक्यार्थो लक्ष्यमाणो हि सर्वत्रैवेति च स्थिति’रिति । तस्मात्पौरुषेयवाक्येभ्य इवापौरुषेयेभ्यो वेदान्तवाक्येभ्यो लक्षणया यथोक्तलक्षणं ब्रह्म सिद्ध्यतीति सिद्धम् ॥ १५ ॥

आभाससमानयोगक्षेमतां निराकरोति—**नचेति** । उदाहृतानुमानवाक्ये वाच्यार्थपरित्यागापरित्यागयोः प्रकृताविधातं दर्शयति—**तथाहीत्यादिना** । **अनैकान्तिकत्वादिति** । तत एव व्याघातकाभावादव्याघात इति शेषः । उपाधिमप्याह—**मुख्यार्थेति** । साधनव्याप्ति परिहरति—**इह चेति** । किं चेदमन्विताभिधानं नाम न तावदन्वितप्रतिपादनमात्रम् । अविप्रतिपत्तेः । नापि पदार्थाभिधायकशब्दस्यान्विते तात्पर्यम् । अत्राप्यविवादादेव । नापि पदार्थमात्रे गृहीतसंगतिकस्यान्विताभिधायकत्वम् । पदार्थसंगतेस्तन्मात्रोपक्षीणत्वात्, इतरथाऽतिप्रसङ्गात् । अन्वितपदार्थसंगतिबलेन तत्प्रतिपादनं तदिति चेत् तत्र वक्तव्यं, किमन्वयविशेषवति संगतिग्रहं किं वान्वयमात्रवति । आद्ये वाक्यार्थस्यापूर्वत्वक्षति । अन्वयपदार्थप्रतीयोऽसमसमयतया योग्यतादिप्रतिसन्धानविरहिणामपि पदार्थप्रतीतिवदन्वयप्रतीत्यापत्तिश्च । द्वितीयस्त्वसमवतिरस्तः । नह्यन्वयमात्रवति गृहीतसंगतिकस्यान्वयविशेषवद्वाचकत्वं सम्भवति । जातौ गृहीतसंगतिकस्यापि व्यक्तिवाचकत्वप्रसङ्गात् । अन्वयमात्रवति गृहीतसंगतिकेन तावन्मात्रमभिधीयते विशेषस्तु लक्ष्यत इति चेत् हन्त पदार्थाभिधायिभिरेव शब्दैरयं लक्ष्यता कृतमन्तर्गडुनान्वयमात्रेण प्रमाणप्रयोजनरहितेनेत्यलम् । केचिदाचार्याः वाचस्पतिमिश्रप्रभृतयः ।

यदि चैवं न्यायं परिशुद्धेऽपि पक्षे विवरणकारादिमतमवलम्ब्यापसिद्धान्तगन्धितां कश्चिदादध्यात्तन्मुखं भाष्यकारप्रभृतिवृद्धवचनप्रतिबन्धेन पिदधाति—**नचेत्यादिना** । **पदार्थान्तरेति** । पदार्थानां संसर्गो न विव्याकाङ्क्षानिवन्धनः कुत विधेरपि पदार्थान्तरतुल्यत्वात् तस्मात्संबन्धयोग्यरूपेण स्वशब्दैः प्रकाशिताः पदार्थाः स्वयमेव संसर्गभागिनः । संबन्धयोग्यतया पदार्थप्रकाशे कारणमाह—**विशिष्टार्थेति** । सप्रयोजनकथनं वादार्थमुपसंहरति—**तस्मादिति** । ‘ससृष्टपरवाक्येषु ससृष्टार्थस्य लक्षणा । अखण्डार्थपरं वाक्यमखण्डस्यैव लक्षणम् ॥’ यद्वा ‘अखण्डार्थपरप्यादावस्ति संसर्गलक्षणा । तस्यापि च ततस्त्यागस्तेन नाखण्डखण्डना ॥’

ननु कथमपौरुषेयत्वं वेदान्तानां तत्प्रतिपादकप्रमाणाभावात्, नन्वपौरुषेया वेदाः-संप्रदायाविच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वादाख्यदित्यनुमानमस्तीति चेत् । मैवम् । विशेष-णासिद्धेः पौरुषेयवेदवादिभिः प्रलये संप्रदायविच्छेदस्याभ्युपगमात् । अस्मर्यमाणकर्तृकत्वं च किमप्रमीयमाणकर्तृकत्वं विवक्षितम्, उत स्मरणागोचरकर्तृकत्वम् । नाद्यः । 'तस्माद्यज्ञा-त्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे । छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत, त्रयो वेदा अजा-यन्त, ऋग्वेद एवाग्रेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्, इदं सर्वमसृजत ऋचो यजूंषि सामानी'त्यादिश्रुतिभिः कर्तुः प्रमीयमाणत्वात् । नापि द्वितीयः । विकल्पासह-त्वात् तथाहि किमेकेनास्मरणं विवक्षितमुतसर्वास्मरणम् । नाद्यः । मुक्तकश्लोकादावनैका-न्तिकत्वात् । न द्वितीयः । सर्वास्मरणस्यासर्वज्ञविज्ञानाविषयत्वात् ।

ननु 'वाचा विरूपनित्यया, यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै, नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम्, अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवे'-त्यादिश्रुतिस्मृतिवाक्येभ्यो वेदस्य नित्यत्वावगमात्, पौरुषेयत्वप्रतिपादकानि कल्पादौ तत्संप्रदायप्रवर्तकत्वपराणीति चेन्मैवम् । वाचा विरूपनित्ययेत्यस्य वाक्यस्य वृष्णे चोदस्व सुष्ठु स्तुतिमिति वाक्यशेषादग्निस्तुतिविधिपरत्वावगमात् अन्यार्थदर्शनस्य प्राप्त्यभावे प्रमा-णत्वानुपपत्तेः । यो वै वेदांश्च प्रहिणोतीत्यस्य च पौरुषेयत्वापौरुषेयत्वयोः साधारणत्वात् स्वयं निर्मायापि वेदानां प्रदानसंभवात् । 'मृत्युप्रोक्तं सनातन'मित्यस्य वाक्यस्योक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते' इति वाक्यात् उपाख्यानानुवचनश्रवणप्रशंसापरत्वात् । 'अनादिनिधना नित्ये'ति स्मृतेश्च 'प्रतिमन्वन्तरं चैषा श्रुतिरन्या विधीयत' इति स्मृत्यन्तर-विरोधेनानिर्णायकत्वात् । एवं च नित्यत्वप्रतिपादकानामन्यार्थतया पौरुषेयत्वप्रतिपादकवा-क्याबाधकत्वात् पौरुषेयत्वमेव वेदान्तानां निश्चिनुमः ।

अपौरुषेयेभ्य इत्युक्तममृत्युमाणा वैशेषिकादयः प्रत्यवतिष्ठन्ते—**ननु कथमिति** । जीर्णकूपारमादिव्य-भिचारवारणाय सम्प्रदायाविच्छेदे सतीत्युक्तम् । कालिदासादिवचस्सु व्यभिचारवारणायस्मर्यमाणकर्तृकत्वा-दित्युक्तम् । विशेषणासिद्धिमेवाह—**पौरुषेयेति** । अस्मर्यमाणेत्यत्रापि स्मृतिपदं किं मूलप्रमितिपरं किं वा मुख्यवृत्तीति विकल्प्याद्ये तदविषयत्वं वेदकर्तुरसिद्धमित्याह—**नाद्यस्तस्माद्यज्ञादिति** । तस्मात्प्रकृताद्यज्ञा-द्यज्ञरूपिणः परमेश्वरार्त्तं सर्वहुतः हुतं हुत् यस्मिस्तत्सर्वं विद्यते स सर्वहुत् ततः सर्वहुत् सकाशात्, अथवा सर्वं जुहोतीति सर्वहुत् यद्यपि स एवेति यावत् । प्रलयकाले वा सर्वं स्वमात्रतया जुहोतीति सर्वहुत् ततः ऋगा-दयो जज्ञिरे उत्पन्ना इति पुरुषसूक्तार्थः । त्रयो वेदा इति श्रुत्यन्तरम् । इदं सर्वमित्यपरा श्रुतिः । **मुक्तकेति** । विप्रकीर्णाः श्लोकाः मुक्तकश्लोकाः तेषु यैः कैश्चिदस्मर्यमाणकर्तृकत्वमस्ति नचास्त्यपौरुषेयत्वमित्यर्थः ।

नित्यत्वप्रतिपादकागमविरोधात् सृष्टिश्रुतीनामन्यार्थत्वं शङ्कते—**नन्वित्यादिना** । हे विरूप वृष्णे नित्यया वाचा सुष्ठु स्तुतिं चोदयस्वेत्यर्थः । तथा यः परमेश्वरो ब्रह्माणं हिरण्यगर्भं विदधाति विहिताय च तस्मै वेदान्प्रहिणोति प्रददाति । उपदिशतीति यावत् । ननु करोतीति श्वेताश्वतरोपनिषन्मन्त्रार्थः । नाचिकेतमिति कठवल्लीश्रुतिः । अनादिनिधनेति स्मृतिः । आदिनिधनरहिता अत एव नित्या उत्सृष्ट्युपदिष्टेत्यर्थः । अत-त्परत्वादासा न्यायसापेक्षाणा तदभावे नास्ति स्वार्थे प्रामाण्यम्, अतो न सृष्टिश्रुतिविनिवारकत्वमिति परिहरति—**मैवमित्यादिना** । **अन्यार्थेति** । अन्येषु वाक्ये यद्दर्शनं पदसमभिव्याहारमात्रात्तदन्वार्थदर्शनम् । साधारण्यमेव दर्शयति—**स्वयमिति** । **उपाख्यानेति** । उपाख्यानस्यानुवचनं श्रवणं च यत्तयो प्रशंसा-परत्वादित्यर्थः । स्मृतेः स्मृत्यन्तरविरोधमाह—**अनादीति** ।

१ सुष्ठुतिमिति पाठोभाति । २ वेदानामिति पाठान्तरम् । ३ मूलभूतप्रमिति परमिति पाठान्तरम् ।

अनुमानतोपि तथात्वमध्यवस्थामो वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि वाक्यत्वात् कालिदास-
वाक्यवदिति, वेदवाक्यान्याप्तप्रणीतानि प्रमाणत्वे सति वाक्यत्वान्मन्वादिवाक्यवत् । ननु
'वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम् । वेदाध्ययनरूपत्वादधुनाध्ययनं यथे'त्यनुमानात्सप्रति-
साधनतेति चेत् । मैवम् । सर्ववेदाध्ययनपक्षीकारे दृष्टान्तासिद्धेः, अतीतकालीनाध्ययन-
पक्षीकारे चांशतः सिद्धसाधनत्वात्, सर्गकालीनाध्ययनपक्षीकारे सर्गमनङ्गीकुर्वतो मी-
मांसकस्याश्रयासिद्धेः, 'भारताध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम् । भारताध्ययनत्वेन सांप्रताध्य-
यनं यथे'त्याभाससमानयोगक्षेमत्वात् । अथ तत्र कर्तृस्मृत्या बाधः 'कृष्णद्वैपायनं व्यासं
विद्धि नारायणं प्रभुम् । को ह्यन्यः पुण्डरीकाक्षान्महाभारतकृद्भवेत् ॥' तर्हि इहापि
सकर्तृकताप्रतिपादकश्रुतिभिर्बाध इति समानम् । विपक्षे चाप्ताप्रणीतत्वाद्बालोन्मत्तादिव-
दप्रामाण्यप्रसङ्गो बाधकस्तर्कः । अथ बालोन्मत्तादिवाक्यानामनाप्तप्रणीतत्वेनाप्रामाण्यम् इह
तदभावादाप्तवाक्यवत्प्रामाण्यमुपपद्यत इति चेत् । मैवम् । अनाप्ताप्रणीतवाक्यस्य जगत्या-
प्तप्रणीतत्वनियमदृष्टेः, अन्यथा वक्तुरभावे वाक्यस्योत्पत्तिप्रतीत्योरसंभवात् ।

अथाभिव्यक्तिरेव शब्दानां वक्तृव्यापारान्नोत्पत्तिः । मैवम् । एवं सति पाषण्डाद्याग-
मानामपि नित्यत्वप्रसङ्गात् । किंच शब्दो नित्यः कृतको वा सामान्यवत्वे सत्यस्मदादि-
बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् घटवदित्यनुमानेन शब्दानां कृतकत्वेन पौरुषेयत्वसिद्धिः । नच
मीमांसकं प्रति योगिव्यवच्छेदार्थमस्मदादिपदं व्यर्थं तेन योगिनामनभ्युपगमादिति वा-
च्यम् । स्वमते व्यभिचारनिवारणार्थत्वात् । तथाच चिरन्तनाचार्याणामपि स्वमते व्य-

एवं नित्यत्वानुमानागमदूषणपूर्वकमनित्यत्वागमं प्रदर्शयानुमानमप्यनित्यत्वे दर्शयति—अनुमानेति ।
गीतिरूपेषु हुंफडादिस्तोमभागेषु चासिद्धिपरिहारार्थं वाक्यानीति विशेषणम् । ईश्वरकृतत्वेप्यनुमानमाह—
वेदेति । उन्मत्तवाक्ये प्रत्यक्षादौ च व्यभिचारवारणाय विशेषणद्वयं गृहीतम् । सत्प्रतिपक्षता शङ्कते—
नन्विति । अत्र किं कृत्स्नं वेदाध्ययनं पक्ष, उतातीतकालीनम्, उत सर्गकालीनाध्ययनमिति विकल्प्य क्रमेण
दूषयति—मैवमित्यादिना । आभाससमानयोगक्षेमतया दौर्बल्यमाह—भारतेति । ननु तत्र व्यासः
कर्तेति स्मर्यते 'कोह्यन्यः पुण्डरीकाक्षान्महाभारतकृद्भवे'दित्यादौ तेन बाधाद्वैषम्यमिति तत्राह—अथेति ।
शङ्कितोपाधिता निराकरोति पूर्ववादी—विपक्षे चेति । सोपाधितया प्रशिथिलमूलता शङ्कते—अथेति ।
अनाप्ताप्रणीतं चेदाप्तप्रणीतमेवेति नित्यत्वाभावादवाक्यस्येति हृदि निधाय परिहरति—मैवमिति । आत्मा-
दिषु व्यभिचारवारणाय वाक्यग्रहणम् ।

ननु न वक्ता शब्दानां निष्पादनं क्रियते किंत्वभिव्यक्तिरेव तेन वक्तृभावो नानुत्पत्तिव्याप्त इति प्रशिथिलमू-
लतां शङ्कते—अथेति । अतिप्रसक्त्या परिहरति—मैवमिति । तदेवं सदोपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गं नित्यत्वे
बाधकमभिधायानित्यत्वेप्यनुमानमाह—किंचेति । अथायमभिव्यक्तिवादित्वान्मीमांसकः कृतकत्वे एव
विवदेत्तर्हि तदपि साधनीयमित्याह—कृतको चेति । ईश्वरप्रत्यक्षेष्वाकाशादिषु व्यभिचारनिवृत्त्यर्थमिन्द्रि-
यप्रत्यक्षत्वादित्युक्तम् । तथापि मनोप्राप्त्यात्मनि व्यभिचारस्तदर्थं बाह्येति । तथापि योगिबाह्येन्द्रियप्रत्यक्षपर-
माण्वादिषु व्यभिचारस्तदर्थमस्मदादीत्युक्तम् । तथापि सामान्ये व्यभिचारस्तदर्थं सामान्यवत्वे सतीत्युक्तम् ।
अत्रास्मदादीति विशेषणं मीमांसकं प्रति व्यर्थं तेन तन्निवर्त्य योग्यनङ्गीकारात्तदुद्दारे च त्वन्मते व्यभिचार
इति केचिदूषणमूचिरे तत्परिहरति—नचेति । ननु न स्वमतमात्रव्यभिचारनिवारणाय विशेषणं युक्तमदृष्टच-
रत्वादिति तत्राह—तथाचेति । ध्वनिषु तद्धर्मोदात्तादिषु च व्यभिचारनिवारणायोक्तं ध्वनिधर्मान्यत्वेस-

भिचारनिवारणार्थं विशेषणोपादानं दृश्यते नित्यः शब्दो ध्वनिधर्मान्यत्वे सति श्रावणत्वात् शब्दत्ववदिति । नहि वर्णानित्यत्ववादिमते वर्णातिरिक्ता ध्वनय उदात्तादयो वा तद्धर्माः सन्ति ये व्यावर्तेरन् स्वमते तु ध्वनेस्तद्धर्माणां चोदात्तादीनां सद्भावादुपपद्यते ध्वनिधर्मान्यत्वे सतीति विशेषणम् । नचोपान्यादिशब्देषु भागासिद्धिः । श्रोत्रग्राह्यशब्द-विशेषस्यैव पक्षीकरणात् ।

नचैवमपि विशिष्टधर्मिहेत्वोरसिद्धिस्तत्तच्छ्रोत्रेष्वेकस्यैव शब्दस्य समवायानङ्गीकारात्, एकस्य शब्दस्य बहूनां प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेरिति वाच्यम् । शब्दनित्यत्वानुमानेप्यस्य दोषस्य तुल्यतया स्वव्याघातकत्वेन जात्युत्तरत्वापत्तेः । तथाहि भवदिन्द्रियग्राह्यः शब्दः पक्षोऽस्मदिन्द्रियग्राह्यो वा । नाद्यः । प्रतिवादिनं प्रत्यसिद्धेः । न द्वितीयः । वादिनं प्रत्यसिद्धेः । तस्माद्भेदप्रसिद्धशब्दत्वजात्याधार एव शब्दो नित्यत्वसाधने पक्ष इति वाच्यम् । एवमनित्यत्वसाधनेपीति न कश्चिद्दोषः । नच स एवायं गकार इति प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षविरोधात् कालात्ययापदिष्टमनित्यत्वानुमानम् । प्रत्यभिज्ञाया जातिविषयत्वेन व्यक्तिविषयत्वेन च संदिग्धमानाया बाधकतानुपपत्तेः । ननु विवादाध्यासितः कालो वेदाध्ययनयुक्तः कालत्वात् । संप्रतिपन्नकालवदिति प्रत्यनुमानविरोध इति चेन्मैवम् । विकल्पासहत्वात् । तथाहि किं वेदप्रणयनात्प्राक्कालः किं वा तदुत्पादोत्तरकाल उत सर्गकालः पक्षीक्रियते । पक्षत्रयेपि मीमांसकस्य धर्म्यसिद्धिः, प्रथमे च प्रतिज्ञापदयोर्व्याघातोतिरिच्यते, कालिदासादिवाक्यपाठेऽप्येवमनुमानोत्थानादाभाससमानयोगक्षेमतानुमानस्य ।

तीति । स्वमतसंमतं व्यभिचारवारकत्वं दर्शयति—**नहीत्यादिना** । वर्णग्रहणं शब्दपरम् । एतदुक्तं भवति । व्यभिचारमात्रनिवृत्त्यापि भवति सार्थक्यं हेतोरिति । यच्च दूषणान्तरमुच्यतेऽस्मदादिवाह्येन्द्रियग्राह्यत्वमुपान्यादिषु नास्तीति भागासिद्धिरिति तत्राह—**नचोपान्यादीति** ।

ननु तथापि धर्म्यसिद्धिः भेरीदण्डसंयोगान्निमित्तकारणात् भेर्याकाशसंयोगादसमवायिकारणात् महाकाशप्रदेशे समवायिकारणे प्रथममेकः शब्द उत्पद्यते तस्य च शब्दस्य विभुगुणतया आश्रयद्वारा स्वतो वा गमनानुपपत्तेः प्रदेशान्तरोत्पन्नत्वात् स्वभावभेदाद्वा न श्रोत्रेण सबन्धः ततश्च तस्माच्छब्दादसमवायिकारणात् अदृष्टादिनिमित्तकारणादाद्यशब्दाश्रयाकाशप्रदेशानन्तराकाशप्रदेशेषु समवायिकारणेषु सर्वतो दिशि शब्दा उत्पद्यन्ते तेभ्यश्चान्ये तेभ्यश्चान्ये इति वीचीसंतानवत् यावन्श्चोत्रसमवेतशब्दः शब्दसंताना उत्पद्यन्ते तत्र यः कर्णशङ्कुल्यवच्छिन्नाकाशप्रदेशे शब्द उत्पद्यते स श्रोत्रसमवायात् श्रोत्रेण गृह्यते स च न श्रोत्रान्तरग्राह्यः तत्रासमवेतत्वात् स्वभावभेदाद्वेति वैशेषिकादिदर्शनं, ततश्च न वादिप्रतिवादिश्रोत्रग्राह्य एकः शब्दोऽस्तीति धर्म्यसिद्धिः, अतएवोभयसंमतहेत्वसिद्धिरिति तदेतदनुद्य निराकरोति—**नचैवमित्यादिना** । जात्युत्तरतां दर्शयितुं परपक्षेपि विकल्पसाम्यमुत्तरसाम्यं च दर्शयति—**तथाहीत्यादिना** । लोकप्रसिद्धः श्रावणत्वेन लोकप्रसिद्धः । ननु प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षबाधितमिदमनित्यत्वानुमानं स एवायं गकार इति प्रत्यभिज्ञाया गकारस्यैवमवगम्यत इति तत्राह—**नच स इति** । यथाहि ज्वालादौ जातिमवलम्ब्य प्रत्यभिज्ञा प्रवर्तमाना न व्यक्तिस्थैर्यसाधिका तद्वदिहापीत्याह—**प्रत्यभिज्ञाया इति** । न केवलं वेदप्रणयनोत्सादनं व्याकुर्वतो मीमांसकस्य प्रणयनात् प्राक्कालोत्पादोत्तरकालप्रणयनकालानामसिद्ध्या धर्म्यसिद्धिः किंतु प्रथमपक्षे वेदसर्गात्प्राक्कालोपि वेदाध्ययनप्रयुक्त इति प्रतिज्ञाविरोधश्चाधिक इत्याह—**प्रथमेचेति** । दूषणान्तरं चाह—**कालीति** ।

नन्वशरीरस्थेश्वरस्य ताल्वादिविवृतिरूपवर्णोच्चारणासम्भवात्कथं तत्प्रणीतत्वं वेदस्येति चेत् । मैवम् । स्वभावतोऽशरीरस्यापि परमेश्वरस्य भक्तानुग्रहार्थं लीलाविग्रहग्रहणोपपत्तेः । तदेवं वेदपौरुषेयतानुमानस्य निरस्तसमस्तदूषणतया वेदाः पौरुषेया इति प्राप्तम् । अत्र समाधिः । 'श्रुतीनामीश्वराज्जन्मकेवलं श्रुतिषु श्रुतम् । मानान्तरोपलब्धेयं रचना तु न मीयते ॥' २७ ॥ इति । किमिदं पौरुषेयत्वं नाम यत्र श्रुतयः स्मृतयश्च प्रमाणत्वेनोदाहृताः किपुरुषाधीनोत्पत्तिमत्त्वं वेदानां पौरुषेयत्वमुत प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचितत्वम् । तत्राद्योङ्गीक्रियते आकाशवन्नित्यत्वेन सर्वगतत्वेन कालतो देशतश्च क्रमशून्यानां वर्णानामनित्योच्चारणप्रतिपत्तिक्रमविशिष्टानां पूर्वपूर्वक्रमानुस्मृतिनिमित्ततत्त्वसदृशोत्तरोत्तरक्रमवतां वेदशब्दवाच्यानां सांप्रतमपि पुरुषाधीनोत्पत्तिमत्तया सर्गसमयेऽपि श्रुत्या तथात्वस्य प्रतिपादयितुमुचितत्वात् । द्वितीयस्तु न, प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य तत्रेश्वरेण वेदा विरचिता इति श्रुतिभिरप्रतिपादितत्वात् ।

नच पुरुषाधीनोत्पत्तिमत्त्वश्रवणान्यथानुपपत्त्यैव प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचितत्वं सिध्येत् । इदानीमस्मदादिभिश्चार्थमाणवेदवाक्येषु मालतीमाधवादिवाक्येषु च व्यभि-

ननु यदीश्वरो वेदकर्ता तर्हि शरीरी स्यादिति तर्कविरुद्धं वेदकर्तृत्वानुमानमिति शङ्कते—**नन्विति** । इष्टप्रसङ्गतया परिहरति—**मैवमिति** । लीलया विग्रहस्य ग्रहणं लीलाविग्रहग्रहणम् । सिद्धान्तयति—**अत्र समाधिरिति** । समाधि समाधानम् । अभिधीयत इति शेषः । अत्र किं पुरुषादुत्पन्नत्वमात्रं पौरुषेयत्वं सिषाधयिषितं यथास्मदादिभिरहरह उच्चार्यमाणो वेदः किं वा प्रमाणेनार्थमुपलभ्य तत्प्रकाशनाय विरचितत्वात्मकत्वं वेदानां पौरुषेयत्वं यथास्मदादिभिरेव बध्यमानग्रन्थपद्धतिः । आद्ये त्वविवादः । द्वितीयेपि किमागमबलात् तत्साधनमनुमानाद्वा । नाद्य इत्याह—**श्रुतीति श्लोकेन** । श्रुतिष्वीश्वरात् श्रुतीनां केवलं जन्मश्रुतं ननु पुनरुपलभ्यविरचनं तत्पुनरनुमीयते तच्चायुक्तं वक्तव्यदोषादित्यर्थः । विषयविवेचनपूर्वकं श्लोकं व्याचष्टे—**किमित्यादिना** । ननु नित्यस्य कथं पौरुषेयत्वमिमं विनुदन्नाद्याङ्गीकारमेव विवृणोति—**आकाशवदित्यादिना** । क्रमविशेषवान् शब्दराशिर्हि वेदः क्रमश्च कालतो देशतो वा नियतः स चोभयविधोप्यत्र न संभवति वक्ष्यमाणनित्यत्वप्रमाणबलान्नित्यानां विभूनां च शब्दानां कालतो देशतो वा क्रमासंभवात् । प्रतीयते च तेनाभिव्यञ्जकोच्चारणप्रतिपत्त्योरन्यतरक्रमोपरागात्क्रमवत्त्वं वक्तव्यं तत्रोच्चारणप्रतिपत्ती अनित्ये इति तत्क्रमविशिष्टः शब्दराशिरपि तदुपाधावनित्य एवेति इष्टमेवेदं पौरुषेयत्वमित्यर्थः । ननु प्रतिपुरुषं क्रमद्वारा नित्यत्वे कथं स एवायं वेद इति प्रत्यभिज्ञानमिति तत्राह—**पूर्वेति** । क्रमस्येदं प्रथमतयाऽपौरुषेयत्वमङ्गमाशङ्क्य चेदमुत्तरम्—**सांप्रतमपीति** । सृष्टिश्रुत्याप्येतदविरुद्धमेव प्रतिपादयितुमुचितमित्यर्थः । एवं पूर्वार्धे व्याख्यायोत्तरार्धं व्याचष्टे—**द्वितीय इत्यादिना** । अदर्शनं हेतुमाह—**प्रमाणेति** ।

स्यादेतत् यद्यपि न साक्षाच्छ्रुतोयमर्थः तथापि श्रुतोत्पत्त्यनुपपत्त्या कल्प्यते पौरुषेयत्वं सोपि हि भवति कश्चित् श्रुतो व्यापार यथाहु 'अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वा'दिति । तत्रैवं वक्तव्यम् । किं पुरुषाधीनोत्पत्त्यनुपपत्त्या कल्प्यते उत प्रमाणभूतवाक्यरचनान्यथानुपपत्त्या । नाद्य इत्याह—**नचेति** । प्रागुक्तनीत्या वेदवाक्यानि काव्यवाक्यानि च उच्चारणसमये सृज्यन्ते तत्र प्रमाणान्तरेणोपलभ्यविरचनव्यतिरेकेण पुरुषाधीनोत्पत्तिम-

चारात् । एतेन प्रमाणभूतवाक्यस्य रचनान्यथानुपपत्त्या मानान्तरोपलब्धेर्ये विरचित-
त्वकल्पनापि प्रत्युक्ता । अस्मदादिभिरुच्चार्यमाणमन्वादिवाक्येषु व्यभिचारात् । किंच यदि
विरचितत्वान्यथानुपपत्तिर्मानान्तरोपलब्धेर्ये रचनां कल्पयेत् हन्तैव 'भृग्वेद एवाग्नेरजा-
यत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्या'दिति वेदानामभ्यादिभ्यो जन्मश्रवणात् तत्तत्क-
र्तृकतया ईश्वरकर्तृकत्वनियमो न स्यात् ।

अथ 'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे'इत्यादिवाक्ये वेदानामीश्वरकर्तृ-
कत्वाधिगमादधिष्ठातृदेवतापरं तत्तद्वाक्यमिति कल्पयेत तर्हि 'ब्रह्म, स्वयंभु, वाचा वि-
रूपनित्यया, अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टे'त्यादिश्रुतिस्मृतिशतेभ्योपि वेदानां नित्य-
त्वावगमात् । तस्माद्यज्ञादित्यादिवाक्यं संप्रदायप्रवर्तकत्वपरमिति कल्पना न प्रकृतेपि
दण्डवारिता । नन्वेषामन्यपरत्वान्नैतेभ्यो नित्यत्वसिद्धिरिति चेन्मैवम् । देवताधिकरण-
न्यायेन प्रमाणान्तरप्राप्तिविरोधयोरसतोरन्यपराणामपि स्वार्थे प्रामाण्योपपत्तेः । एतेन
वाक्यत्वादिति पौरुषेयत्वानुमानमपि परास्तम् । पुरुषप्रणीतत्वमात्रसाध्ये सिद्धसाधनत्वात् ।

प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचितत्वसाधने च मालतीमाधवादिष्वनैकान्तिकत्वात् ।
तथा च प्रमाणत्वे सति वाक्यत्वादाप्तप्रणीतत्वानुमानेपि सिद्धसाधनता । आप्तेनोच्चार्य-

त्वमुपपद्यमानं न वेदेष्वपि तत्कल्पयतीत्यर्थः । द्वितीये पक्षेऽपीदमेव दूषणमतिदिशति—एतेनेति । किंच
भवतैवायमङ्गीकर्तव्योऽर्थ इत्युत्पत्तिश्रुतेरन्यथासिद्धौ प्रतिबन्दीमाह—किंचेत्यादिना ।

अथ श्रुत्यन्तरवशादन्यथा नेतव्यं तदिदमिति तदस्मन्मतेपि समानमित्याह—अथेत्यादिना । ब्रह्म
वेदः । पूर्वपक्षाशयमनुवदति—नन्वेषामिति । देवताधिकरणन्यायेनेति । द्वेधा हि वाक्यार्थौ द्वार-
भूत प्रधानं चेति । तत्र प्रधाने तात्पर्यं द्वारे त्वतत्परमपि प्रमाणम् । अबाधितासंदिग्धानधिगतार्थबोधकत्वं
हि प्रमाणत्वम् । नचान्यपरैरपि मन्त्रादिभिः प्रतीयमानो वज्रहस्तेन्द्रादिलक्षणोर्थः सदिग्धः, नापि विपर्यस्तः ।
बाधाभावात्, प्रमाणान्तरायोग्यत्वाच्चानधिगत इति प्रमाणमेव तस्मिन्नपि मन्त्रादयः । नचार्थभेदे वाक्यभे-
दप्रसक्तिः । प्रधानार्थस्य भेदाभावात्, अवान्तरवाक्यस्येष्टत्वाच्च । नचातत्परत्वादप्रामाण्यम् । अतत्परस्या-
प्यर्थवादस्य द्वारभूतार्थे प्रामाण्यस्वीकारात् । इतरथा तद्वारा तत्प्रधानेपि तत्प्रामाण्याभावाद्भुणवादस्तु त-
त्तिसिद्धि' रित्यादि सूत्राणामनारम्भप्रसङ्गात् । विशिष्टविधौ च तात्पर्याविषयेपि विशेषणे प्रामाण्यस्यावश्यस्वी-
कर्तव्यत्वात्तत्रापि विशेषणांशे तत्परं विध्यन्तरमुच्यते इति चेत् किं तदुन्नायकं विशिष्टविधानमेवेति चेत्
हन्त परस्परश्रयप्रसङ्गात्, विशिष्टविधिप्रवृत्तौ च विध्यन्तरोन्नयनं विध्यन्तरप्रवृत्तौ च विशिष्टविधानमिति ।
नच प्रमाणान्तरगोचरत्वं विशेषणस्य सर्वत्र संभवति । वारवन्तीयादौ तदभावात् तस्मादतत्परमपि प्रमाणा-
न्तरप्राप्तिविरोधयोरभावे प्रमाणमेवेति सोयं देवताधिकरणन्यायसारः । तेनासामपि श्रुतीनां वेदनित्यत्वे प्रामा-
ण्यमस्त्येवेत्यर्थः । ननु नेदं पौरुषेयत्वं श्रुतं श्रुतसामर्थ्यसिद्धं वेति अस्माभिः स्वीक्रियते कित्वनुमानबलादिति
तत्राह—एतेनेति । एतद्विशदयति—पुरुषेति ।

मालतीमाधवादिष्विति । यद्यपि प्रथमं कविकृतवाक्येषु साध्यभावान्न व्यभिचारः, तथाप्यस्मदुच्चार्यमा-
णमालतीमाधवादिवाक्ये व्यभिचारः । नहि तत्तद्वाक्यं, तस्यान्यत्वादित्यर्थः । कविकृतेष्वौत्प्रेक्षिकचित्रकथापारेषु
वाक्येषु व्यभिचार इत्यपि द्रष्टव्यम् । द्वितीयानुमानेऽपि सिद्धसाधनतामाह—तथेति । अत्रापि किमाप्तेनो-
च्चार्यमाणत्वं पौरुषेयत्वं किं बोधलभ्यविरचनम् । प्रथमे सिद्धसाधनता विशदयति—आप्तेनेति । स्यादेतत्
द्वितीय एव नः पक्षः सिद्धसाधयिषितः । नचेदानीमुच्चार्यमाणवेदवाक्यैरनैकान्तिकता । तेषामपि पक्षतुल्य-

माणतया तत्प्रणीतत्वस्यापौरुषेयवादिभिरप्यभ्युपगमात् । प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचितत्वानुमाने तु हेतोरन्यथासिद्धिः । अस्मदादिभिरुच्चार्यमाणेदानीतनवेदवाक्यानामिव सर्गकालीनानामपि तेषामीश्वरेणोच्चार्यत्वमात्रेणापि प्रमाणवाक्यत्वोपपत्तौ प्रमाणान्तराधिगतिपूर्वकविरचितत्वस्यानुमातुमशक्यत्वात्, तस्य च सर्वज्ञत्वादतीतकल्पान्तरगतवेदान्परोक्षसंभवात् ।

अविग्रहस्यापि तस्य भक्तानुकम्पितया लीलाविग्रहग्रहणेन तदुच्चारणोपपत्तेश्च । एतेन सर्गकालीनाध्ययनस्य पूर्वपूर्ववेदाध्ययनपुरःसरत्वमपि समर्थनीयम् । नचाश्रयासिद्धिः । वेदान्तिभिः सर्गाङ्गीकारात् । नच भारताध्ययनस्य तथात्वप्रसङ्गेनाभाससमानयोगक्षेमता । तत्र दृढतरकर्तृस्मरणेन बाधात् । नचेहापि कर्तृश्रुत्या बाधः । तस्याः संप्रदायप्रवर्तकत्वपरतयाप्युपपत्तेः, अन्यथा नित्यत्वप्रतिपादकवाक्यानामनवकाशत्वप्रसङ्गात्, भारतस्य नित्यत्वप्रतिपादकप्रमाणाभावाच्च ।

त्वेनान्तत परमेश्वरविरचितत्वस्येष्टत्वादिति तत्राह—प्रमाणेति । अन्यथासिद्धिमेव दर्शयति—अस्मदादीति । यदि हि विरचनं प्रमाणान्तरेणोपलभ्यविरचनेन व्याप्तं तदाम्मदादावपि तथा स्यात् नचास्ति ततोवगम्यते नूनमनयोः सबन्धोन्यप्रयुक्त इति भावः । स्यादेतत्कल्पाङ्गीकारे निर्लेप प्रलीनस्य चिरकालातीतस्य सस्कारप्रमोषात् कथमीश्वरेणापि शक्य पूर्ववद्वेद उच्चारयितुमिति तत्राह—तस्य चेति । न तावन्निर्लेपः प्रलय । तत्सस्काररजितमायोपवृंहितपरमेश्वरस्य मूलकारणस्य वा विद्यमानत्वात् । अतएव तत्सस्कारवशात् तत्सहशक्रमवद्वेदोच्चारणमपि संभवतीत्यर्थः ।

तथापि तालवादिकरणरहितस्य कथं कर्तृत्वं संप्रदायप्रवर्तकत्वं चेते तत्राह—अविग्रहस्यापीति । अभ्युपगम्येदमुच्यते वस्तुतस्त्वेश्वरस्य शरीरादिनोपदेष्टृत्वमेव नास्ति कल्पादिभुवामतीतकल्पानुष्ठितविशिष्टज्ञानपरपरापरितुष्टपरमेश्वरानुग्रहवशान्निरतिशयज्ञानसमृद्धानां हिरण्यगर्भप्रभृतीनां बुद्धौ यो वेदानामाविर्भावः स खलु परमेश्वरस्य वेदोपदेष्टृत्वं नाम । इदमेव च यो वै वेदाश्चेति श्रुत्याप्युच्यते न तत्र शरीरेण किञ्चित्कृत्यमिति । यत्तु वेदाध्ययनस्यानिर्द्वयप्रथमतया अनुमानमुद्भाव्य दूषितं पूर्ववादिना तदपि सस्काराप्रमोषादित्यादिना समर्थितमित्याह—एतेनेति । यत्तु तेनाश्रयासिद्धिरित्युक्तं तत्र भवतु मीमांसकं प्रत्ययं दोषो नाम्नाप्रतीति परिहरति—नचेति । तन्मतेपि यादृगहोरात्रादिपरिगणनाविशिष्टस्य सर्गकालत्वं पराङ्गीकृतं तत्कालः शक्यः पक्षीकर्तुमिति द्रष्टव्यम् । आभाससमानयोगक्षेमता परिहरति—नचेति । नन्तुमत्रापि कर्तृप्रतिपादकश्रुतिस्मृती विद्येते इति तत्राह—नचेहापीति । अथ किमित्युपलभ्यविरचिता कर्तृवाभि श्रुतिभि न स्वीक्रियते तत्राह—अन्यथेति । नित्यत्वं चेदं पुरुषास्वातन्त्र्यं न पुन सर्वथैव । निश्चितमित्यादिश्रुतिविरोधप्रसङ्गात् । उक्तं च वृद्धैः ‘यन्नतः प्रतिषेध्या न पुरुषाणां स्वतन्त्रते’ति । स्यान्मतं वयमपि तावद्वेदमुच्चारणद्वारेण विरचयाम परमेश्वरोपि चेत्तथैव रचयति नतु पूर्वक्रममन्यथयति नाप्युपलभ्यार्थं विरचयति कस्तर्हि विशेषः परमेश्वरस्य मादृशेभ्यः, येन निश्चितमित्यादिश्रुतयः परमेश्वरमेव कर्तारमावेदयन्तीति । उच्यते । उपादानत्वात्स खलु परमेश्वरः प्रतिसंचरसमये समस्तमेव जगत्संहरन् वियदादिवदेव वेदाद्यात्मकमपि शब्दराशि संहरति महासर्गसमये च तत्तद्वासनावासिताचिन्त्यशक्तिराशिमहामायासहायमापन्नः शब्दकारेण विवर्तते तदनु च पूर्वक्रमसदृशक्रमवच्छब्दराशिरूपवेदाकारेण विवर्तते सर्गादिभुवा हिरण्यगर्भप्रभृतीनां च तमुपदिशतीति शब्दकर्तृत्वं संप्रदायप्रवर्तकत्वं चेश्वरस्यैवेत्युच्यते । यद्यपि सर्वज्ञस्येश्वरस्य वेदार्थविषयमपि ज्ञानमस्ति तथापि न तस्य वेदनिर्माणे कारणभावः । पूर्वपूर्वक्रमानुसरणमात्रेण तत्सदृशक्रमनिर्माणक्षमत्वात् । अस्मदादीनामिवेदानीतनभारतादिक्रमनिर्माणे तेन नापौरुषेयत्वक्षतिः । नन्वेवं भारतस्यापि संप्रदायप्रवर्तयितैव व्यास नतु कर्तेति तस्याप्यपौरुषेयत्वं स्यादिति तत्राह—भारतस्येति ।

नच वेदानामनाप्ताप्रणीतत्वादाप्तप्रणीतत्वमनुमातुं युक्तम् । आत्माकाशादौ व्यभिचारात् । अथ शब्दत्वे सतीति विशेषणाददोषः । मैवम् । आप्तप्रणीततामात्रस्य पूर्वोक्तन्यायेन वेदेष्यङ्गीकारात् । नचैवंसति पाषण्डाद्यागमानामपौरुषेयत्वं मानान्तरेणार्थमुपलभ्य तत्तत्पुरुषविरचितत्वस्य सौगतादिभिः स्वयमेवाङ्गीकारात्प्रसिद्धेऽप्यत्र । नच सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिवहिरिन्द्रियप्रत्यक्षतया वर्णानां कृतकत्वानुमानम् । अस्मदादिवहिरिन्द्रियप्रत्यक्षस्य कालाकाशादेर्नित्यत्वेन भाट्टं प्रत्यनैकान्त्यात्, सत्प्रतिपक्षत्वाच्च । श्रोत्रं नित्यद्रव्यग्राहकं निरवयवेन्द्रियत्वात् मनोवदिति भाट्टमतेन प्रयोगसंभवात् । नच श्रोत्रं न नित्यद्रव्यग्राहकम्, अनित्यभूतविशेषगुणग्राहकं वा । बहिरिन्द्रियत्वादिन्द्रियत्वाद्वा चक्षुर्वदिति प्रत्यनुमानबाधः । प्रथमानुमाने नयनस्य नित्यगगनादिग्राहकत्वेन दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यात्, द्वितीये च ध्वनिग्राहकतया सिद्धसाधनत्वात् । व्यक्तिभेदासिद्धौ च स एवायं गकार इति प्रत्यभिज्ञाया जातिविषयत्वकल्पनानुपपत्तेः तद्विरोधश्च नित्यत्वानुमाने दुर्वारः । नच द्रुतो गकारो विलम्बितो गकार इति विरुद्धधर्मसंसर्गित्वाद्गकारव्यक्तिभेदसिद्धिः । तस्याः प्रतीतिर्ध्वनिविषयतया वर्णविषयत्वाभावेन प्रामाणिकविरुद्धधर्मसंसर्ग-

यच्चानाप्ताप्रणीतत्वे सत्याप्तप्रणीतत्वमेवायाति गत्यन्तराभावादित्युक्तं तत्र किमनाप्ताप्रणीतत्वमात्रेणाप्तप्रणीतत्वमनुमीयते शब्दत्वविशेषितेन वा । नाथ इत्याह—**नचेति** । द्वितीयं शङ्कते—**अथेति** । तत्रापि किमाप्तप्रणीतत्वमात्रमनुमीयते उपलभ्य विरचन वा । आद्ये ग्राह—**मैवमिति** । द्वितीये तु पूर्वोक्तमेव दूषणमिति भावः । यत्तु पाषण्डाद्यागमानामप्यपौरुषेयत्वमेवंसति स्यादित्युक्तं तत्राह—**नचेति** । अथ तदङ्गीकारे भ्रान्तो नैयायिकादीनामिव वेदपौरुषेयत्वे इति तत्राह—**प्रसिद्धेऽप्यत्रेति** । ननु सर्वमेतच्छब्दनि-
त्यत्वे सति स्यात्तदेव तु नास्ति अनुमानाच्छब्दानित्यत्वसाधनान्नित्यत्वप्रमाणदूषणाच्चेति तत्राह—**नचेति** । अत्र तावदेकदेशिमतेन दूषणमाह—**अस्मदादीति** । आकाशमस्मदादिप्रत्यक्ष प्रदेशवृत्तिविशेषगुणवत्त्वात् आत्मवत्, दिक्कालाकाशानि अस्मदादिप्रत्यक्षाणि विभुत्वादात्मवत्, श्रोत्रं विभुग्राहकमिन्द्रियत्वात्मानोवदित्यादिना च तेषां प्रत्यक्षत्वसिद्धेः । नच संबन्धासंभवो बाधः । अजसंयोगसंभवात् । वक्ष्यते च तत्र प्रमाणं द्वितीयपरिच्छेदे । तन्मतेनैव सत्प्रतिपक्षतामप्याह—**सदिति** । जातौ सिद्धसाधनतानिवृत्त्यै द्रव्यपदं प्राणेरूपे वानैकान्त्यनिवृत्त्यै हेतौ पदद्वयम् । प्रत्यनुमानविरोधं निराचष्टे—**नचेति** । अनित्यो यो भूतविशेषगुणस्तस्येत्यर्थः । वेदान्तिप्रभाकरयोर्मते सिद्धसाधनतापरिहाराय अनित्यग्रहणम् । शब्दनिष्ठद्वित्वादिना भाट्टं प्रत्यर्थान्तरतानिवृत्त्यै विशेषग्रहणम् । नभोगुणत्वार्थं भूतपदम् । मानसप्रत्यक्षात्मवादिना म्नसि व्यभिचारवारणाय बहिरिन्द्रियेत्युक्तम् । अत्रापि भाट्टमतेन दूषणमाह—**प्रथमेति** । नैयायिकादीनां च योगीन्द्रियैर्व्यभिचारः । अस्मदादिविशेषणं च परस्य व्यर्थमिति द्रष्टव्यम् । तावतापि तव मते किं दूषणमस्येत्याशङ्क्य प्रत्यभिज्ञाबाधं दर्शयितुं तस्या अपि जातिविषयत्वेनोक्तमन्यथासिद्धिः परिहरति—**व्यक्तीति** । अथ कथं व्यक्तिभेदासिद्धिर्यावतोदात्तानुदात्तादितारतम्यादिविरुद्धधर्माध्यासाद्भेद एव गकारादेरवसीयते इति तत्राह—**नचेति** । अत्र किं प्रामाणिकविरुद्धधर्माध्यासाद्भेदः साध्यते प्रातीतिकाद्वा । आद्येऽसिद्धिमाह—**तस्याः प्रतीतेरिति** । यदि व्यक्तिभेद स्यात्तदा द्वौ गकाराविति स्यात् न पुनर्द्विगं उच्चरित इति । तदिह स्वारसिकं प्रत्यभिज्ञैक्यं प्रतीयते विरुद्धधर्मसंसर्गस्तु परोपाधिकः । नच परोपाधिभेदेन स्वाभाविकमैक्यं विहन्यते माहि भूवभसोपि कुम्भाद्युपाधिभेदादाजानतो भेद इति तेनानुवृत्तिव्यवहारः स्वरूपेण व्यावृत्तव्यवहारस्तुपाधिनिदान इत्यनवयवम् । उक्तं च वृद्धैः 'तेन यत्प्रार्थ्यते जातेस्तद्वर्णदेव लभ्यते । व्यक्तिलभ्यं तु नादेभ्य इति

स्यासिद्धेः । प्रातीतिकस्य च तस्य मणिकृपाणादिविवाननस्य भेदासाधकत्वात् । वेदान्तवादिभिःसर्गस्य तद्विशेषितकालस्य चाङ्गीकारात् । अतीतकालशब्देन तत्पक्षीकारेणानुमानप्रवृत्तावपि न धर्म्यसिद्धिः । नचाभाससमानयोगक्षेमता । भारताध्ययनानामनादित्वनिरासेन पुरस्तान्निरस्तत्वात् ।

एवमपौरुषेयतया वेदान्तानामसंभाविताशेषपुरुषदोषसंसर्गभ्यस्तेभ्यो विगलितनिखिलभेदविशुद्धब्रह्मप्रमितिः सिद्ध्यतीति सिद्धम् ॥ ११५ ॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीज्ञानोत्तमपूज्यपादशिष्यश्रीचित्सुखाचार्यमुनिविरचितायां तत्त्वप्रदीपिकायां प्रथमः परिच्छेदः ॥

गत्वादिगीर्तयेति । द्वितीयेप्यनैकान्तिकतामाह—प्रातीतिकस्येति । यथाहि मणिकृपाणदर्पणादिषु तद्भेदेन भिन्नमिव प्रतीयमानमपि मुखं न स्वतो भिद्यते एवमित्यर्थः । एतेन तीव्रादिधर्मोपेतत्वादुत्कर्षनिकर्षवत्त्वादित्यादिकमनिलत्वसाधकहेतुजातमपहस्तितं मन्तव्यम् । तथाच 'प्रत्यभिज्ञा यदा शब्दे जागर्ति निरवग्रहा । अनिलत्वानुमानानि सैव सर्वाणि बाधते' । किञ्च सामान्यवत्त्वे सतीत्यनुमाने शब्दमात्रपक्षीकारेण ध्वन्यंशे सिद्धसाधनता तदितरत्वविशेषणे चानिष्टाव्यवच्छेदाद्वैयर्थ्यं हेतोश्चोपान्यादिवसिद्धिः । अन्यशब्दपक्षीकारे च पूर्ववदेव वैयर्थ्यं तथा स्वमतेन सोपाधिकत्वम् । अश्रावणत्वस्योपाधित्वात्, शब्दत्वादिनिवर्त्यसद्भावाच्च न पक्षेतरत्वम् । एतेनेदमप्यपास्तम् । यदाह मानमनोहरकार 'अनिल्य शब्दः' इन्द्रियविशेषगुणत्वात्, चक्षुरूपवदिति । तत्रापि हि समानं ध्वन्यंशे सिद्धसाधनत्वं तदितरविशेषणे वैयर्थ्यमश्रावणत्वोपाधिहृतत्वं चेति । उदयनस्तु आश्रयाप्रत्यक्षत्वेप्यभावस्य प्रत्यक्षता महता संरम्भेण समर्थयन्नेव निवृत्तकोलाहल, उत्पन्न शब्द इति व्यवहारचरणैकशरण प्रत्यक्षमेव शब्दानिलत्वे प्रमाणयति स सच विरुद्धधर्मसंसर्गस्योपाधिकत्वोपपादनन्यायेन दत्तबलिरिव वेतालः । योपि निलत्वे सर्वदोषलब्धनुपलब्धिप्रसङ्गो न्यायभूषणकारोक्तः सोपि ध्वनिसंस्कृतस्योपलम्भाभ्युपगमान्निरस्तः । यत्तु युगपदिन्द्रियसवद्धत्वेन प्रतिनियतसंस्कारसंस्कार्यत्वाभावानुमानं तद्भवमन्त एवात्मन्यनैकान्तिकमित्यलमतिकलकलेन । यत्तु वैदिक्यानुपूर्वी इदंप्रथमा वर्णानुपूर्वात्वात्संप्रतिपन्नवदित्यनुमानं नैयायिकानां तदसत् । विगीतः कालो वेदाध्ययनयुक्तः कालत्वादिदानीतनवदिति सत्प्रतिपक्षत्वात् । यत्तत्र पूर्वपक्षिणोक्तं तत्परिहरति—वेदान्तवादिभिरिति ।

वादार्थमुपसंहरन्प्रथमपरिच्छेदार्थं सकलयति—एवमपौरुषेयतयेत्यादिना । अत्र च पुरुषदोषसंभवग्रहणमितरशब्ददोषासंभवस्याप्युपलक्षणं तेन स्वतःप्रामाण्यशक्त्यभिहितान्वयापौरुषेयसिद्धार्थप्रामाण्यकार्याप्रामाण्यवादानां सग्रहः कृतः । विगलितनिखिलभेदग्रहणेनाखण्डवाक्यार्थप्रपञ्चमिथ्यात्वतदुपपादकभावरूपाज्ञानतदुपयोगितमख्यातिविशेषविचाराः सगृहीताः । परिशुद्धब्रह्मग्रहणेन विज्ञानात्मस्वप्रकाशवादौ सगृहीताविति परिच्छेदार्थः सकलः सकलित इति सर्वं निर्मलम् । विज्ञानं स्वप्रकाशं भवति च पुरुषस्तद्वपुर्भावरूपं ध्वान्तं मिथ्याप्रपञ्चो भ्रमभरनिलयोऽनादिभावोऽप्रबोधः । आरोपारोप्यसिद्धप्रमितिजनकताऽखण्डता स्वप्रमावं शक्तिर्लक्ष्य पदार्थान्वय इति कथिता पौरुषेयो न वेदः ॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यप्रत्यक्प्रकाशपूज्यपादशिष्यस्य प्रत्यक्प्रभगवतः कृतौ तत्त्वप्रदीपिकायां नयनप्रसादिन्या प्रथमपरिच्छेदः ॥

द्वितीयः परिच्छेदः ।

ननु कथं विगलितनिखिलभेदब्रह्मप्रतिपत्तिः, प्रत्यक्षादिविरोधात् । तथाहि प्रत्यक्षेण तावदिदमस्माद्भिन्नमिति नीलपीतादेर्भेदमध्यवस्यामः । अथ मतं किं प्रत्यक्षं भेदमेव गोचरयत्युत वस्त्वपि, तदापि भेदपूर्वकं तद्गोचरयेत्तत्पूर्वकं वा भेदं युगपदेव बोधयम् । नाद्यः । धर्मिप्रतियोगिवस्तुप्रतिपत्तिमन्तरेण भेदस्य प्रत्येतुमशक्यत्वात् । अतएव न भेदग्रहपूर्वको वस्तुग्रहः । नच वस्तुग्रहपुरस्सरो भेदग्रहः, बुद्धेर्विरम्यव्यापाराभावात् । नापि युगपदुभयग्रहः । कार्यकारणबुद्ध्योर्योगपद्यायोगात् । धर्मिप्रतियोगिप्रतिपत्तिर्हि भेदप्रतिपत्तेः कारणं सन्निहितेऽपि धर्मिण्यसन्निहितप्रतियोगिप्रतिपत्तिमन्तरेण भेदप्रतिपत्तिव्यतिरेकस्य वादिप्रतिवादिनोः संमतत्वादिति । मैवम् । स्वरूपभेदवादिनं प्रत्येतेषां विकल्पानामनवसरदुःस्थत्वात्, वस्तुग्रहस्यैव भेदग्रहत्वात् । नच वस्तुस्वभावस्यैव भेदत्वे तद्ग्रहस्य प्रतियोग्यनपेक्षत्वप्रसङ्गः । वस्तुस्वभावतया भेदस्यानपेक्षदृष्टिदृष्टस्य सविकल्पके व्यवहारे प्रतियोगिसापेक्षत्वोपपत्तेः । दृश्यते हि प्रादेशमात्र-

नमस्ये मानौघैः प्रमितममितं स्थाणुमनिशं

समस्तज्ञं लोकत्रितयनयनं सन्निनयनम् ।

सकालं कालारि सकलवपुषं निष्कलमुमा-

सहायं कामारि भवमभवमीशं पशुपतिम् ॥ १ ॥

ब्रह्मणि वेदान्तानामुदितोऽद्वैते समन्वयस्तस्य ।

भेदावगाहिमानैर्विरोधनुलैः पर परिच्छेद ॥ २ ॥

यद्यप्यद्वये ब्रह्मणि वेदान्तानां प्रामाण्यं साधितं तथापि भेदग्राहिप्रत्यक्षादिविरोधादसाधितसमं तदतोऽनुत्पत्तिलक्षणाप्रामाण्याभावेपि विरोधान्मिथ्यात्वलक्षणमप्रामाण्यं भवेत्क खलु विशेषः स्वगोचरशूराणां प्रत्यक्षादीनामागमेभ्य इति प्रामाणिकभेदवादिनः प्रत्यवतिष्ठन्ते—**ननु कथमित्यादिना** । अनेन परिच्छेदयोर्विषयविषयिभावलक्षणा संगतिरपि दर्शिता, पूर्वस्य विषयत्वादुत्तरस्य विषयित्वादिति । अत्र भण्डनमिश्रैर्भेदवस्तुनो किमेकैकग्राहकं प्रत्यक्षमुतोभयग्राहकम्, उभयग्रहपक्षेऽपि युगपत्क्रमेण वा, क्रमपक्षेऽपि किं पूर्वं किमपरमिति विकल्प्य दूषयद्भिर्भेदग्राहित्वमेव प्रत्यक्षस्य नास्तीत्युक्तं तदनुवदति पूर्ववादी—**अथ मतमिति** । वस्त्वेवेति तु पक्षस्तदनर्थबीजमिति परित्यक्त । धर्मिप्रतियोगिरूपं वस्तु धर्मिप्रतियोगिवस्तु । इदमेव दूषणमुभयग्रहेपि भेदपूर्वकवस्तुग्रहपक्षेऽप्यतिदिशति—**अतएवेति** । कार्यकारणभावमेवोपपादयति—**धर्मिप्रतियोगीति** । ननु यद्यपि भेदप्रतिपत्तिसमये धर्म्यादिज्ञानमन्वेति तथापि न तावता कष्टणत्वं शक्याध्यवसायं व्यतिरेकाभावादितरथा नभसोऽपि निमित्तकारणतापातात् अस्तिह्यन्वय इति तत्राह—**सन्निहितेऽपीति** । तमिममनूदितं पक्षं प्रतिक्षिपति—**मैवमिति** । किं वस्तुस्वरूपमेव भेद इति तस्य मतं प्रतीमा नि दूषणान्युच्यन्ते किं वा धर्मभेदवादिनं प्रति । प्रथमे चौरापराधान्माण्डव्यनिग्रहन्त्यायः, उच्यमानदूषणानां तदविषयत्वादित्याह—**स्वरूपभेदेति** । ननु वस्तुस्वभावत्वमेव भेदस्य न घटते तथासति घटस्वभाववदेव प्रतियोग्यनपेक्षितत्वप्रसङ्गात्, प्रतियोगिसापेक्षश्च सर्वत्र भेदः प्रतीयत इति तत्राह—**नच वस्तुस्वभावस्येति** । अत्र यदि वस्तुस्वभावो भेदः स्यात्तर्हि सापेक्षप्रतीतित्वं न स्यादिति ह्यापादनं तच्चायुक्तं, वस्त्वेव भेद इति वदन्तं मा प्रति व्याप्त्यसिद्धेः शशिथिलमूलत्वादित्याह—**वस्तुस्वभावतयेति** । प्रतीतिविशेषो व्यवहारविशेषप्रयुक्तः न वस्त्वतिरेकप्रयुक्त इति भावः । अथैवमापाद्यते—यदि हि निरपेक्षदृष्टिदृष्टं स्यान्न स्यात्तर्हि सापेक्षदृष्टिदृष्ट इति तत्रापि शशिथिलमूलतामाह—**दृश्यते हीति** । दीर्घमिति व्यवहारे न्यूनवस्तु-

परिमाणवस्तुनोऽनपेक्षदृष्टिदृष्टस्य ह्रस्वं दीर्घमिति सविकल्पके व्यवहारे न्यूनाधिकपरिमाणवस्तुग्रहसापेक्षता । नच धर्मभेदवादिनं प्रत्यप्येते विकल्पाः प्रसरमहन्ति । युगपदुभयग्रहेपि विरोधाभावात् । असन्निहिते धर्मिणि प्रतियोगिनि वा युगपदुभयग्रहाभावेऽपि सन्निहितस्थले दण्डी देवदत्त इतिवदपर्यायमेवोभयग्रहोपपत्तेः । नच धर्मभेदवादे तस्य तस्य भेदस्य भेदान्तरभेदत्वादनवस्थादोषापत्तिः । मूलक्षतेरभावात्, 'मूलक्षतिकरीं प्राहुरनवस्थां हि दूषण'मिति न्यायान् ।

ननु धर्मपक्षेपि धर्मिणो भेदेन प्रतिपन्नस्य प्रतियोगितायां परस्पराश्रयदोषः, स्तम्भात्कुम्भस्य भेदसिद्धौ कुम्भात्स्तम्भस्य भेदसिद्धिरिति । अप्रतिपन्नभेदस्य तु प्रतियोगितायां दुष्परिहरः स्वात्मनोऽपि तत्प्रसङ्ग इतिचेन्मैवम् । विद्यमानभेदयोरपि स्वरूपेण च स्फुरतोर्धर्मिप्रतियोगित्वोपपत्तौ एकस्मिन्भेदग्रहप्रसङ्गाभावात् । ननु क्षीरनीरयोर्विद्यमानभेदयोरपि स्वरूपग्रहणे भेदग्रहो न दृश्यत इति चेन्मैवम् । तत्र समानाभिहारलक्षणदोषप्रतिबन्धादेव तदग्रहोपपत्तेः । एतेन दूरस्थवनस्पत्योरपि भेदग्रहप्रसङ्गः प्रत्युक्तः । उक्तंच 'अतिदूरात्सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोनवस्थानान् । सौक्ष्म्याद्व्यवधानादभिभवात्समाना-

ग्रहापेक्षा ह्रस्वव्यवहारे त्वधिकग्रहापेक्षा । अधिकत्वं चात्र दीर्घत्वं विवक्षितमित्यर्थः । अस्तु तर्हि द्वितीयो नेत्याह—**नच धर्मभेदवादिनमिति** । ननु कथं युगपदुभयग्रह यावता कार्यकारणभावस्तदुभयग्रहयोर्वर्णितः असन्निहितप्रतियोगित्वस्थले स्थितव्यतिरेकत्वादिति तत्राह—**असन्निहिते धर्मिणीति** । यथाहि विभिन्नेन्द्रियग्राह्यासन्निहितविशेषणविशेष्यज्ञानयोर्विशिष्टज्ञानपूर्वभावित्वेप्येकेन्द्रियग्राह्यसन्निहितस्थले पूर्वभावित्वं नास्थीयते तत्कस्य हेतोर्व्याप्ते संकोचाद्याप्तिसंकोचश्च दर्शनबलादेव तथेहाप्यसन्निहितस्थले पौर्वापर्यदर्शनेन वस्तुभेदयोरभिनिविष्टपर्वतवत्प्रमाणान्तरगम्यत्वेपि सन्निहितस्थले यौगपद्यं भवतु को दोष इत्यर्थः । **मूलक्षतेरिति** । मूलं प्राथमिकभेदप्रतीतिस्तत्क्षतेरभावादज्ञायमानानामेव भेदानां प्रथमभेदोपपादकत्वादित्यर्थः ।

धर्मभेदपक्षे धर्मिप्रतियोगिज्ञानयो परस्पराश्रयदोषमाशङ्कते—**ननु धर्मपक्षेपीति** । परस्पराश्रयमेवाभिनयति—**स्तम्भादिति** । ननु न भेदेन प्रतिपन्नस्य प्रतियोगिता येनायमनन्तरो दोष प्रसज्येतापितु स्वरूपेण प्रतीत्येति तत्राह—**अप्रतिपन्नेति** । तदेतत्परिहरति—**मैवमिति** । न स्वरूपेण प्रतीतिमात्रं विवक्षितमपितु विद्यमानभेदत्वमपि । तथाच स्वस्य स्वस्मात्तदभावान्न भेदग्रहप्रसङ्गो नायन्योन्याश्रयतेत्यर्थः । तदप्यप्रयोजकमिति शङ्कते—**ननु क्षीरेति** । समानैरभिहारो मिश्रणम् । प्रतिबन्धे सति कार्यानुत्पादो न कारणत्वं विहन्तीति भावः । यच्च विद्यमानभेदस्य स्वरूपेण प्रतीते प्रतियोगित्वधर्मित्वप्रयोजकताया दूषणं कैश्चिदुच्यते दूरस्थवनस्पत्योरपि भेदग्रहप्रसङ्ग इति तत्राप्युक्तं परिहारमतिदिशति—**एतेनेति** । अत्र च प्रतिबन्धमात्रमतिदेश्यमतिदूरत्वप्रतिबद्धत्वात्तयो । **अतिदूरादिति** । अतिदूराद्विरिश्चिखरवर्तितर्वादौ अतिसामीप्याल्लोचननिनीलसलिलबिन्दवादौ इन्द्रियघातादन्धादेः मनोनवस्थानात्तीव्रदुःखाद्युदये अतिसौक्ष्म्यात्परमाण्वादौ व्यवधानादपवरकान्तरवर्तिषु अभिभवाद्विवादीपादौ समानाभिहाराक्षीराशये नीरदमुच्यमाननीरेषु यथावद्ग्रहणप्रतिबन्धो भवति । चत्वनुक्तसमुच्चयार्थः । तेन दुग्धादिषु दध्यादेरनुद्भवादग्रहोऽपि गृहीतः । तेन नानुपलब्धमात्रादतीन्द्रियप्रधानाद्यपलाप इति साख्यायार्थः । प्रकारान्तरेण परस्पराश्रयं परिहरति—

भिहाराच्चेति । किंचैकस्यामेव निर्विकल्पिकायां संविदि भेदस्य भेदिनोश्च युगपत्प्रती-
तिभासे सत्येकं भेदिनं प्रतियोगीकृत्यैतस्मादयं भिन्न इति सविकल्पकबोधोपपत्तौ कुतः
परस्पराश्रयो दोषः । एतेन भेदभेदिनोर्भेदान्तरप्रतीतिमन्तरेण विशेषणविशेष्यभावा-
संभवाद्भेदस्य विशेषणत्वेन विशेष्यत्वेन वा प्रतीतिनियमादनवस्था मूलक्षयकरी स्यादि-
त्यपि प्रत्युक्तम् । विद्यमानभेदयोः स्वरूपेण स्फुरतोरेव धर्मिप्रतियोगित्ववद्विशेषणविशे-
ष्यभावस्याप्युपपत्तेः । तदेवं प्रत्यक्षप्रमितिगौचरो भेदः ।

अनुमानमपि लिङ्गविशेषस्य लिङ्गविशेषप्रत्यायकत्वाद्भेदं प्रमाणम् । आगमोपि शब्दा-
न्तराभ्याससंख्यागुणप्रक्रियानामधेयैः कर्मोपासनादिभेदमेव बोधयति । उपमानमपि
प्रत्यक्षदृष्टगवयसादृश्यविशिष्टपरोक्षगोविषयमनेन सदृशी मदीया गौरिति भेदमेव
गृह्णाति । अर्थापत्तिरपि तिलेभ्य एव तैलं पयस एव दधीति व्यवस्थान्यथानुपपत्तिप्र-
भवा भेदमेवालिङ्गते । योग्यानुपलब्धिरन्योन्याभावलक्षणा भेदं बोधयत्येव । तदेवं
भेदग्राहकप्रत्यक्षादिविरोधान्नाद्वैतं प्रतिपादयितुमर्हन्ति वेदान्ताः । प्रयोगश्च घटः घटनि-
ष्ठमिथ्याभेदातिरिक्तभेदाश्रयः दृश्यत्वात् पटवत् । अत्राभिदध्महे—‘सापेक्षत्वात्सावधेश्च
तत्त्वेऽद्वैतप्रसङ्गतः । एकाभावादसंदेहान्न रूपं वस्तुनो भिदा’ ॥ १ ॥ न तावत्स्वरूपं

किंचैकस्यामेवेति । यदि धर्मिप्रतियोगिसापेक्ष एव सर्वदा भेद प्रतिभायात्तदा स्यादयं दोष नत्वेतदस्ति
निर्विकल्पकसंविदि निरपेक्षप्रतीतिसंभवादित्यर्थः । यच्च कैश्चिदुच्यते विशेषणतया विशेष्यतया वा सर्वत्र
भेदः प्रतीयते तच्च द्वयं भेदेन प्रतीतस्य । तथाच विशेष्यत्वेन विशेषणत्वेन वा प्राथमिकभेदप्रतीतिर्भे-
दान्तरप्रतीतिपूर्विका तदपि भेदान्तरं तथैवेत्यनन्तभेदप्रतीत्यापत्त्या मूलक्षतिकारिण्येवानवस्थेति तदप्युक्तेन
परिहृतमित्याह—एतेन भेदभेदिनोरिति । एतेनेत्यस्यैव विवरणं—विद्यमानेत्यादि ।

एवं प्रत्यक्षगम्यत्वं भेदस्योक्त्वाऽनुमानादिरपि भेदं गमयतीत्याह—अनुमानमपीत्यादिना । सुरभि-
धूमेन चन्दनदहनानुमानमितरव्यावृत्तवस्तुनि प्रमाणमित्यर्थः । शब्दान्तराद्यधिकरणान्यनुकान्तानि प्रपञ्च-
मिथ्यात्ववादे । यद्यप्युपासनान्यपि कर्मैव तथापि मानसत्ववैषम्येण भेदेन निर्दिष्टानि । आदिशब्देन निर्गु-
णविद्याया इतरेभ्यो भेदसंग्रहः । उक्तलक्षणमेवोपमानं दर्शयति—अनेन सदृशीति । अन्योन्याभाव
इत्युपलक्षणं, भूतलादौ घटादिससर्गाभावस्यापि बोधकत्वात् । अत्र च साक्षादेव प्रमेयो भेदो, भविष्यन्ति
चैतेषां प्रमाणानां लक्षणानि तत्तत्खण्डनसमये । भेदसत्यत्वेप्यनुमानं मानमाह—प्रयोगश्चेति । व्याख्यातं
चैतत्प्रपञ्चमिथ्यात्ववादे पूर्वपक्षावसरसमये । स्वरूपभेदपक्षे दूषणानि श्लोकेन सगृह्णाति—सापेक्षत्वा-
दिति । न रूपं वस्तुनो भिदेत्यनेनैषा हेतूनामन्वयः । सापेक्षप्रतीतित्वाद्भेदस्य वस्तुनश्च निरपेक्षप्रतीति-
त्वात् । तथा सावधेः सप्रतियोगिकस्य भेदस्य तत्त्वे वस्तुस्वरूपत्वे सति तद्वारा प्रतियोगिनामपि धर्मिस्वरू-
पत्वाद्द्वैतप्रसङ्ग इति द्वितीयो हेतुः । तथा विदारणात्मकस्य भेदस्य वस्तुस्वरूपत्वे तस्यापि विदीर्णतयैका-
भावात् तन्निमित्तानेकाभावाच्च शून्यतापातादिति तृतीयो हेतुः । तथा स्वरूपत्वे भेदस्य धर्मिणि दृष्टमात्र
एव तत्स्वरूपभेदोऽपि दृष्ट इति सदेहो न भवेत् । उपलक्षणं चैतत् विपर्ययस्यापि, विशेषाग्रहनिबन्धनौ हि
तौ तद्ग्रहणे न स्यातामिति चतुर्थो हेतुः । एतेभ्यो हेतुभ्यो न स्वरूपं वस्तुनो भिदा भेद इति श्लोकयोजना ।

भेदः । प्रतियोग्यनपेक्षत्वप्रसङ्गात् । नच प्रादेशमात्रपरिमाणस्य ह्रस्वदीर्घादिव्यवहार इव सविकल्पकव्यवहारे भेदस्यापि प्रतियोगिसापेक्षत्वम् । वैषम्यात् । तथाहि । प्रादेशमात्रपरिमाणं स्वतो न्यूनाधिकपरिमाणाभ्यामेकद्रव्यसमवायविरोधिधर्मद्वयविशिष्टतयोपलम्भे प्रतियोगिनमपेक्षत इत्यस्येव तत्र मेयभेदः । प्रकृते तु न तथा स्वरूपस्यैव भेदत्वात् । यदि चास्मादयं भिन्न इति प्रतियोगिघटिततया प्रतीयमानो भेदो वस्तुनः स्वरूपं स्यात्तदा तस्य सपरिकरस्य भेदस्य स्वरूपेन्तर्भावान् प्रतियोगिनोऽपि स्वरूपतया निमज्जनादद्वैतमेव पर्यवस्येत् ।

अथ प्रतियोगी भेदस्य स्वरूपे नान्तर्भूतः किंतु तदस्य एव तन्निरूपकस्ततो नाद्वैतापत्तिरिति । मैवम् । प्रतियोगिनो भेदस्वभावानन्तर्भावेपि स्वभावभूतस्य भेदस्य वस्तुस्वभाववदेवान्यनिरूप्यत्वानुपपत्तेः । किंच कुम्भं प्रति स्तम्भस्य यत्प्रतियोगित्वं तदपि स्तम्भस्य स्वरूपेन्तर्भूतं चेत्कुम्भस्यापि स्तम्भासना पर्यवसानादद्वैतापत्तिः । धर्मत्वे च कुम्भोऽपि स्तम्भधर्मतामनुप्रविशेत्कुम्भविशेषितस्य प्रतियोगित्वस्य स्तम्भधर्मत्वात् । अथ विशेष्यांशस्य धर्मतायामपि न विशेषणस्य तद्धर्मता, देवदत्तश्चित्रगुरित्यादौ बहुव्रीहिसमासाभिहितस्वामित्वस्य देवदत्तधर्मतायामपि गवां चित्रतायाश्च देवदत्ताद्विन्नत्वेन धर्मत्वाददर्शनादिति । सत्यम् । एषा विभीषिका तदा समुन्मिषेद्यदि लोके कापि कमपि भेदं परमार्थसत्यमभ्युपगच्छेम । यदा पुनरद्वैतमेव परमार्थमवलम्ब्य समस्तं भेदजातं प्रत्याचिख्यास्यामस्तदा घटस्य स्तम्भधर्मतायां गवां देवदत्तधर्मतायां वा कं विशेषमवलोकयसि

श्लोकं विवृणोति—**नतावदित्यादिना** । पूर्वपक्ष्याशयमुन्मूलयति—**नचेति** । वैषम्यमेव विवृणोति—**तथाहीति** । स्वतो न्यूनपरिमाणेन स्वतोधिकपरिमाणेन च सहैकद्रव्ये समवायविरोधि यद्धर्मद्वयं दीर्घत्वह्रस्वत्वात्मकम् अस्य प्रादेशमात्रपरिमाणस्य तद्विशिष्टतया प्रतीतावेव प्रतियोग्यपेक्षा न स्वरूपमात्रप्रतीताविति न भेदस्योदाहरणं तदित्यर्थः । सावधेश्वेत्यादि द्वितीयं हेतुं विवृणोति—**यदिचेत्यादिना** । घटिततयेति । विशिष्टतयेत्यर्थः ।

ननु न प्रतियोगिविशिष्टो भेदः किंतु तदुपलक्षितं तेन भेदस्य धर्मिस्वभावत्वेपि न प्रतियोगिनस्तदनन्तर्भूतस्य धर्मिस्वभावत्वेत्याह—**अथ प्रतियोगीति** । परिहरति—**मैवं प्रतियोगिन इति** । तदानीमद्वैतप्रसङ्गाभावेऽपि धर्मिवदेव तत्स्वरूपभूतभेदोऽपि न प्रतियोगिनिरूप्यः स्यादित्ययमेव दोषः स्यादित्यर्थः । तथा स्तम्भस्य यदिदं कुम्भं प्रति प्रतियोगित्वं नानावधिघटितं तदपि स्तम्भस्य स्वरूपं धर्मो वा । आद्ये सावधेस्तस्य तत्त्वे स्वभावत्वेऽद्वैतप्रसङ्गः । कुम्भस्यापि प्रतियोगित्वान्तर्भूततया स्तम्भान्तःपातित्वादिति योजनान्तरं विवक्षन्नाह—**किंच कुम्भमिति** । द्वितीये दूषणमाह—**धर्मत्व इति** । ननु कुम्भविशेषितप्रतियोगित्वस्य स्तम्भधर्मत्वेपि न विशेषणीभूतकुम्भस्य स्तम्भधर्मता, तथा लोके दर्शनाभावादिति शङ्कते—**अथ विशेष्यांशस्येति** । चित्रगुरित्यत्र चित्रा गावो यस्येति षष्ठ्या स्वामित्वं देवदत्तस्य विशेषणीभूतमभिधीयते स्वाम्यस्य विशेषणं चित्रा गावः । चित्रगवा स्वामीति तत्र चित्रगवा न देवदत्तविशेषणत्वं स्वविशेष्यस्वाम्यस्य तद्विशेषणत्वेऽपि तद्वदित्यर्थः । देवदत्तादिति स्वामित्वपरम् । धर्मिणो धर्मलक्षणया भिन्नत्वेनेति च युतसिद्धिपरम् । यस्य भेदमात्रमेवाप्रामाणिकमविद्याविजृम्भितमत एव तत्प्रयुक्तविशेषणादिव्यवहारोऽपि तादृश इति मतं तस्य कथं पक्षविशेष एव व्यभिचारभूमिः स्यादिति परिहरति—**सत्यम् । यदेत्यादिना** । किंचादर्शनादिति कोर्थः किं नियमेन किं वा कचिदपि । अन्त्ये व्याप्त्यभावादशक्यप्रसङ्गन-

येनैवमुपालभसे । दृष्टचरं चैतत् विशिष्टस्य धर्मतायां विशेषणानामपि तद्धर्मत्वं तेषु तेषु बहुषु स्थलेषु । तद्यथा । शब्दोऽनित्यः भावत्वे सति कृतकत्वात्, नित्यः ध्वनिधर्मान्यत्वे सति श्रावणत्वात्, अनित्यः सामान्यवत्त्वे सति अस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वादित्यादिषु । तदेवं स्तम्भस्य कुम्भधर्मता कुम्भस्यापि स्तम्भधर्मतेति सर्वस्यान्योन्यधर्मतायामशेषवस्तुधर्म-कमेकमेव धर्मि पर्यवस्येत् नचैवमुपलभ्यते । किंच विदारणात्मकभेदस्य भावस्वभाव-तायां न किंचनैकं वस्तु स्यात् । अभेदैकार्थसमवायिन्या एकताया भेदेन विरोधात् । परमाणुरपि नैक इति न तत्समाहाररूपोऽनेकोपि स्यात् । भेदस्य च वस्तुस्वभावत्वे-न्यापेक्षत्वनिरासादेवान्यापेक्षं वस्तुस्वरूपं भेदो नतु केवलमतो नोक्तदोष इत्यपि निर-स्तम् । यदि च स्वरूपं भेदस्तदा धर्मिणि दृष्टे स्वरूपं दृष्टं न कचिदपि संशयावकाशः तथा विपर्ययस्यापि भेदस्वभावस्य वस्तुनस्तथैवावभासनात्तस्मान्न स्वरूपभेदे प्रत्यक्षं प्रमाणं तथा धर्मभेदेपि—‘युगपद्ब्रह्मणायोगादनवस्थाप्रसङ्गतः । परस्परश्रयत्वाच्च धर्मभेदेऽपि नाक्षधीः’ ॥ २ ॥

मिति तत्र काचित्कादर्शनमतिप्रसङ्गकम् । प्रथमस्त्वसिद्ध इत्याह—दृष्टचरं चैतदिति । अत्र हि भावत्वा-दिविशेषणं कृतकत्वादेः । इतरथा विशेषणविशेष्यासिद्धोरभावप्रसङ्गात् । तथा शब्दस्यापि तद्विशेषणम् । तदेवं क्षुद्रोपद्रव समावाय प्रकृतदूषणोपजीवनेन दूषणान्तरमाह—कुम्भस्यापि स्तम्भधर्मतेत्यादिना । स्तम्भो धर्मो यस्यासौ कुम्भस्तद्धर्मा तद्भावः स्तम्भधर्मता । अयमर्थः । यदा हि स्तम्भं प्रति प्रतियोगित्वं कुम्भस्य तदा तस्य कुम्भस्वरूपत्वेऽद्वैतापातः । धर्मत्वेऽपि तद्वारा स्तम्भोऽपि कुम्भधर्म इत्यन्योन्यधर्मत्वं स्यात्ततश्च यद्दृष्टारूढो यः पटस्तपटारूढश्च स एव घट इति घटना स्यात् । एवमेकस्य विश्वप्रतियोगितायां विश्वधर्मकत्वं स्यात् एवमितरेषामपि स्यात् अतश्च न धर्मधर्मिभावादिकल्पनाऽस्यामनेकधर्मकमेव वस्तुपर्य-वस्येदिति । एकाभावादित्येतद्विवृणोति—किंचेति । तत्र हेतुः—अभेदेति । अभेदेन सहैकस्मिन्नर्थे वर्तत इति तथोक्ता । ननु मामूदेकमनेकमेव समस्तं वस्तु तथाच बौद्धैः स्वरूपभेदवादिभिरवयविव्यतिरेके-णैव परमाणुपुञ्जेष्वेकस्थूलादिप्रत्ययोभ्युपगम्यत इति तत्राह—परमाणुरपीति । अथवा निरवयवपरमाणू-नामविदारणात्मकत्वात्तत्समूहरूपानेकात्मकमस्तीत्याशङ्क्य तत्स्वरूपस्यापि भेदात्मकत्वादुक्तदोषोपपादनमनेन क्रियते । अत्र केचिदद्वैतैकाभावप्रसङ्गदूषणद्वयपरिहारायेदं वदन्ति—द्विविधं वस्तूनां स्वरूपं स्वारसिकमन्या-पेक्षं चेति तत्रान्यापेक्ष रूप भेदो न स्वारसिकमिति तत्राह—भेदस्येति । असदेहादिति हेतुं विवृणोति—यदिचेति । अयमर्थः । अस्ति यज्जदत्ते दृष्टे कदाचिद्दृष्टचरदेवदत्तस्य सोऽयं देवदत्तो न वेति सदेहः तत्कस्य हेतोस्ततो भेदाग्रहात्स न स्यात् । स्वरूपभेदवादिनः स्वरूपग्रहे तन्मात्रभेदस्यापि गृहीतत्वात्, भेददर्शनेन च सदेहानवकाशात् । एवं स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्यादौ तथा विपर्ययोपि सदेहग्रहणं विपर्ययस्याप्युपलक्षणमिति । एवं स्वरूपभेदं दूषयित्वा धर्मभेदेपि दूषणानि श्लोकेन संगृह्णाति—युगपदिति । धर्मभेदेपि न प्रत्यक्षा धी प्रमाणं कुतः धर्मिप्रतियोगिभेदानां युगपद्ब्रह्मणायोगात् दण्ड्यादावपि युगपत्प्रतिपत्तेः स्वपरासमतत्वात् तथानवस्थाप्रसङ्गतः भेदेन प्रतीयमानयोरेव विशेषणविशेष्यभावनियमादनन्तभेदप्रतीतिविना प्रथमभे-दप्रतीतेरसम्भवान्मूलक्षयाक्षतेः । तथा धर्मिप्रतियोगिनोरपि पूर्वन्यायेन प्रतीयमानयोरेव धर्मिप्रतियोगित्वप्र-तीतिनियमात् भेदस्य च निर्विकल्पके निरपेक्षप्रत्यक्षत्वे स्वभावहानिप्रसङ्गेन पूर्वोक्तपरस्परश्रयस्यापि विश्रा-न्तत्वादिति श्लोकार्थः ।

यद्यपि दण्डदेवदत्तौ तुल्योपलम्भयोग्यत्वेन युगपद्ब्रूते तथापि न तयोर्विशेषणविशेष्यभावस्तदैव प्रत्येतुं युक्तः । विशिष्टप्रत्ययस्य विशेषणविशेष्यस्वरूपप्रत्ययाधीनत्वात्—‘विशेषणं विशेष्यं च संबन्धं लौकिकी स्थितिम् । गृहीत्वा संकलय्यैतत्तथा प्रत्येति नान्यथे’ति भट्टमतानुसारिभिः स्वीकारात् । तथा तार्किकैरपि ‘समवायिनः श्रैत्यान् श्रैत्यबुद्धेः श्रैत्यबुद्धिस्ते कार्यकारणभूते इति काणादसूत्रात् । अस्यायमर्थः । पटसमवायिनः श्रैत्याच्छौक्यगुणात्कर्मकारणभूतात्तस्मिन्गुणे शौक्यमिति मतिरुपजायते तस्याश्च श्रैत्यबुद्धेर्हेतोरुणविशिष्टे शुक्लमिदमिति बुद्धिरुपजायते ते च बुद्धी कार्यकारणभूते इति ।

तथाच सुरभि चन्दनमिति सौरभस्य गुणस्य घ्राणेन्द्रियैकगोचरस्य चन्दनस्य लोचनगोचरस्यैकेन्द्रियाविषयत्वात्क्रमेण गृहीतयोरेव विशेषणविशेष्यभावप्रतीतिरित्यनिच्छताभ्युपेयम्, तथाच सर्वत्र विशेषणविशेष्यभावप्रतीतावयमेव न्याय इत्यस्मादिदं भिन्नमिति धर्मिप्रतियोगिज्ञानपुरस्सरमेव तद्विशिष्टभेदज्ञानमेष्टव्यम्, तथाच सति न युगपदुभयग्रहसंभवः । भेदभेदिनोश्च भेदेऽनवस्थापि तदवस्थैव । नचानन्तभेदाभ्युपगमेपि मूलक्षतेरभावादनवस्थाऽदोषाय । भेदस्येदमतो भिन्नमयमनयोर्भेद इति वा विशिष्टत्वेनैव प्रतीतिनियमान् भेदेनैव च प्रतिपन्नस्य विशेषणत्वान् । ततश्च पूर्वपूर्वभेदप्रतीतिमन्तरेणोत्तरोत्तरभेदप्रतीतेरसंभवान् युगपदनन्तभेदप्रतीतेरयोगाच्च जातैव मूलक्षतिः ।

आद्यं हेतुं विवृण्वन्पूर्वोक्तं दृष्टान्तं विघटयति—यद्यपीति । क खतिवन्थ कथयेद्विशेषणादिप्रत्ययानधीना विशिष्टप्रतिपत्तिरिति । किं भट्टभुजावलम्बी किं वा तार्किककरावलम्बी । प्रथमे भट्टाचार्यवचनविरोधमाह—विशेषणमिति । लौकिकी स्थितिमिति । विशेषणविशेष्यत्वयोग्यतामित्यर्थः । तेन च सयोगस्य द्विष्टत्वाद्दृष्टी पुरुष इतिवत्पुरुषी दण्ड इत्यपि स्यादिति गङ्गा परिहृता । सकलनमेकीकार सचैकज्ञानोपारोहः । द्वितीयेप्याह—तथा तार्किकैरपीति ।

न केवलं परैरङ्गीकरणं युक्तिरप्यत्रास्तीत्याह—तथाच सुरभीति । अस्तु तर्हि विभिन्नेन्द्रियग्राह्ययोरेवमेकेन्द्रियग्राह्येषु का वार्तेति तत्रापि विमतं विशिष्टप्रत्यक्ष विशेषणादिप्रत्ययान्तरकालीनं विशिष्टप्रत्ययत्वात्सुरभिचन्दनमिति प्रत्यक्षवदित्यनुमानं विवक्षन्नाह—तथाचेति । नच भिन्नेन्द्रियजन्तवमुपाधि । व्यतिरेके प्रकृतहेतुव्यतिरेकस्योपाधे । अस्तु प्रकृते किं स्यादत आह—इतीति । तदेवं युगपद्ब्रह्मणायोगादित्येतदुपपाद्य द्वितीयं हेतुं विवृणोति—भेदभेदिनोश्चेति । पूर्वपक्ष्याशयमनुवदति—नचानन्तभेदेति । हेतुमाह—भेदस्येति । प्रतीतिनियमादित्युत्तरत्रान्वयः । विशेषणादिभावेन हि भेदः प्रतीयते सच भेदेन प्रतीतस्य एवं द्वितीयो भेदः पूर्वभेदवद्विभिन्नतया प्रतीयमान एव प्रथम भेदं प्रति विशेषणं भवति एव तृतीयोपीत्यनन्तभेदप्रतीतिप्रसक्तिरित्यर्थः । अस्तु तर्ह्यनन्तभेदप्रतीतिस्तत्राह—युगपदिति । क्रमपक्षे विषयान्तरसंचारोच्छेदादिप्रसङ्गापादनार्थश्चकार । अत्र मानमनोहरकारो नृत्यतिस्रः ‘नच भेदानवस्था बाधिका, भेदान्तरप्रसक्तौ मूलाभावात्, भेदभेदिनौ भिन्नाविति व्यवहारादर्शनात् । नचैकभेदवलेनान्यभेदानुमानम्, दृष्टान्तभेदाविघातेनोत्थाने दोषाभावात् । सोऽयं पिण्याकयाचनार्थं गतस्य पाचिनः खारिकातैलदानुत्वाभ्युपगम इव दृष्टान्तभेदविमर्देत्वनुत्थानमेव । उपजीव्यस्य प्रबलत्वेन बाधात्, स्वात्मव्याघातकत्वेन जात्युत्तरत्वाच्च । एतेन दृश्यत्वादयो निरस्ता । नचानिर्वचनीयत्वं भेदस्य, तत्र प्रमाणाभावा’दिति गायनः तत्र तावद्भेदानवस्थाया बाधकत्वमुक्तरीत्या मूलक्षयकरित्वादित्यवेहि । नच व्यवहारादर्शनात्प्रसङ्गकाभावः, घटो भिन्नो घटस्य भेद

अथ विद्यमानभेदस्य स्वरूपेण गृहीतस्य विशेषणतोपपत्तौ भेदाप्रतीतिः किं करिष्यतीति तत्र । क्षीरनीरयोर्दूरस्थवनस्पत्योश्च तथात्वाप्रतीतिः । नच तत्र दूरत्वादिदोषप्रतिबन्धात्तदग्रह इति वाच्यम् । विद्यमानभेदयोरपि भेदेनाप्रतीतौ विशेषणविशेष्यभावाग्रहे सिद्धे कारणविशेषोपन्यासस्य निष्प्रयोजकत्वात् । नह्युभयवादिसंमतं तथाविधं स्थलमस्ति यत्र विद्यमानभेदयोः स्वरूपप्रतिपत्तिमात्रेण विशेषणविशेष्यभावग्रहणम् । एतेन भिन्नतया प्रतिपन्नयोरेव धर्मिप्रतियोगिभाव इतीतरेतराश्रयदोषो वञ्चलेपायते । नच निर्विकल्पिकायां संविदि भेदस्य भेदिनोश्च युगपदङ्गुलित्रयवदवभासनादिदमस्माद्विन्नमिति सविकल्पकव्यवहारोपपत्तेः कथमितरेतराश्रयतेति वाच्यम् । निष्प्रतियोगिकस्य भेदस्य प्रमाणागोचरत्वात्, नित्यं प्रतियोगिघटित एव तस्मिन्प्रमाणप्रसरात् ।

कश्चायं धर्मभेदः किमन्योन्याभावः किं वा वैधर्म्यमुत पृथक्त्वमाहोस्विद्विन्नलक्षणयो-

इति विशेषणविशेष्यभावेन भेदव्यवहारस्यैव विहस्तस्य समस्ताधस्तनभेदपद्धतिप्रसजकत्वात् । ननु तर्ह्यभेदानन्तभेदान्कल्पयन्नारूढमूल प्रौढो भवेत् । न जानीम किमारूढमूलतया प्ररूढ किवाऽनुपलब्धिपराहततत्तन्मूलतया निर्मूललूनसस्यवद्विकीयेतेति । यत्त्वेकभेदबलेनान्यभेदानुमानं मायावादमततया आशङ्क्य दृष्टान्ताव्याघातव्याघातयोर्वृषणमुक्तं तल्लोकोत्तरप्रज्ञस्य तवैव शोभते क खल्वनुन्मतोऽनिर्वचनीयसर्वभेदमायावादमततयैवमाशङ्क्यते । अथ योयं विशेषणविशेष्यभूतभेदव्यवहारो भेदपरंपराप्रसजक तत्रैवेद दूषणद्वयमास्तामिति चेन्न । दृष्टान्तभेदानङ्गीकारात् । तर्हि व्याप्तिराहित्यं स्वव्याघातकत्वंचेति चेन्न । प्रामाणिकत्वाभावेपि विशेषणादिभावस्य भिन्नतया प्रतीतिश्च व्यभिचाराभावात् । यत्र दृष्टं स एव प्रामाणिको भेद इति चेन्न । प्रामाणिकत्वासिद्धे । तर्ह्यसाधकमिति चेन्न । प्रतिबिम्बदेहात्मभावादीनामिव व्यावहारिकसतोपि लौकिकवैदिकव्यवहाराङ्गत्वोपपत्ते तत्रापि सुगोचरं मिथ्यात्ववादं व्याचक्षीत । व्याघातश्च यदि शून्यताकारणं तत्र । अन्यत्राकरणात् । यद्यनिरूपितरूपतापदानम् । अनुमोदय एव तत्र । एतेन दृश्यत्वादयोपि समर्थिता । नचानिर्वचनीयत्वे प्रमाणाभावः । तल्लक्षणप्रमाणयोरुद्धोपितत्वादनिर्वचनीयवादे । एवंचैतादृशमुत्तरदानं पिप्याकयाचिन्ने खारिकतैलदानं वा सकललोकवेदनिन्दितवैशेषिकदर्शनमदिरामत्ताय मरणान्तिकप्रायश्चित्तरूपतीव्रतरतर्कतप्तमदिराधारादानं वेत्तात्मनि परिभाषयेत्यलम् ।

पूर्वोक्तानवस्थापरिहारमुद्वाह्य दूषयति—अथेत्यादिना । यत्त्रापि तेनोक्तं समानाभिहारादिप्रतिबन्धादग्रहणमिति तदनुवृत्त दूषयति—नच तत्रेति । अयमभिसन्धिः । तत्र तेषां परस्पर भेदो गृहीतो न वा । यदि गृहीतस्तदा दोषशतैरपि न विपर्ययादि शक्यमुत्पादयितुम्, असाधारणाकारग्रहणेपि भ्रमोत्पत्तावतिप्रसङ्गात् । ततो भेद एव न गृहीतस्तदग्रहे चातिदूरत्वादि कारणमिति वक्तव्यं तथाचास्मदुक्तं प्रयोजकमनुसृत्यैव तत्र कारणवर्णनमनुकूलमेवेति । किञ्च भवदभिमतप्रयोजकस्य प्रयोजकत्वं क्वा दृष्टं येनास्य प्रतिबन्धकतेत्याह—नह्युभयवादीति । प्रतिबन्धरहितस्थलेऽपि क्षीरनीरयोः स्वरूपप्रतीतिमात्राद्धर्म्यादिभावाद्दृष्टेर्भेदप्रतीतिपूर्वकत्वेचान्योन्याश्रयता स्यादेवेत्यर्थः । यस्तु धर्मिप्रतियोगिभेदबोधयोरितरेतराश्रयपरिहारोभिहितः पूर्ववादिना तत्राप्युक्तदूषणमतिदिशन्परस्पराश्रयत्वादिति श्लोकावयवं विवृणोति—एतेनेति । तस्यैव विवरणम्—भिन्नतयेति । परिहारान्तरमुक्तं दूषयति—नच निर्विकल्पकायामिति । निष्प्रतियोगिकभेदसद्भावे प्रमाणमेव नास्तीत्यर्थः । एतेन प्रतियोगित्वेनाप्रतीतावधिकरणत्वेन प्रतीतिरधिकरणत्वेनास्मृतौ च प्रतियोगिसमृतिरित्यादि बौद्धधिकारस्थमुदयनीयसमाधानमपि निरस्तं भन्तव्यम् ।

तदेवं साधारण्येन धर्मभेददूषणमुक्त्वा विशेषतोऽपि दूषणानि दर्शयितुं विकल्पयति—कश्चायमिति । वैधर्म्यं घटत्वपटत्वनित्यत्वादिलक्षणां लक्षणसाधारणम् । लक्षणं त्वसाधारणम् । तेन च न द्वितीयचतुर्थस-

गित्वम् । तत्र तावत्—‘नान्योन्याभावरूपोऽयं द्वैताभावप्रसङ्गतः । तादात्म्यस्याप्यमानत्वा-
त्प्रतियोग्यनिरूपणात्’ ॥ ३ ॥ अन्योन्याभावोऽपि हि यस्माद्भेदस्तं प्रतियोगिनमपि धर्म-
तया स्वस्मिन्नन्तर्भावयेत् । तथाच विश्वप्रतियोगिघटितान्योन्याभावस्य वस्तुनो भेदोऽन-
वस्थाप्रसङ्गात् वस्तु तावन्मात्रत्वे कथं नाद्वैतं पर्यवस्येत् । किञ्च तादात्म्यप्रतियोगिको-
ऽभावोऽन्योन्याभाव इति तद्वादिभिरभ्युपेयते तथाचाभावप्रतियोगिभूतं स्तम्भकुम्भयोस्ता-
दात्म्यं यदि न प्रमाणगोचरस्तदा कथं तदभावः प्रामाणिकः स्यात् । एवं कुम्भस्य विश्व-
प्रतियोगिकं तादात्म्यमादावेव प्रमितमित्यद्वैतसिद्धावूर्ध्वमपि तद्विरोधिनोन्योन्याभावग्रहस्य
न समुदयः स्यात्, उपजीव्यविरोधात् ।

ननु कुम्भः स्तम्भो न भवतीति स्तम्भप्रतियोगिकोऽभावो यः कुम्भमाश्रितः सोऽन्योन्या-
भाव इति कथमप्रमितप्रतियोगित्वप्रसक्तिः । मैवम् । प्रतियोगिभेदाभावादन्योन्याभा-
वसंसर्गाभावयोर्भेदाभावप्रसङ्गात् । स्तम्भः कुम्भे नास्ति कुम्भः स्तम्भो न भवतीत्युभय-

ङ्कर । अन्योन्याभावभेदे दूषणं श्लोकेन सगृह्णाति—**नान्योन्येति** । अयं भेदोऽन्योन्याभावरूपो न भवति
कुत सप्रतियोगिकस्यान्योन्याभावस्य धर्मस्य धर्मस्वभावत्वे विश्वप्रतियोगिकान्योन्याभावद्वारा विश्वस्यापि
धर्मिभूतवस्तुमात्रत्वाद्वैतस्यैवाभावप्रसङ्गतं धर्मत्वे पूर्वोक्तानवस्था विश्वधर्मवत्ता च घटादेरित्यादि बहिरेव
दातव्यम् । किञ्चान्योन्याभावस्यैवानिरूपणात्तद्वृत्तौऽपि भेदो दुर्निरूप इति, कथं तादात्म्यप्रतियोगिको ह्यभा-
वोऽन्योन्याभाव तच्च सर्वत्र भेदवादिनस्तार्किकस्याप्रामाणिकम्, ततस्तन्निरूप्याभावोऽपि प्रतियोग्यनिरूपणादप्रा-
माणिक इत्याह—**तादात्म्यस्येति** । अथ तादात्म्यं घटपटयोः प्रमितं तर्हि तत एव तन्निषेधरूपोऽन्यो-
न्याभावस्तयोर्न घटते । एवं सर्वत्रेति, पुनरप्यद्वैतापात इति षट्कुटीप्रभातम् । नचान्यत्र प्रमिततादात्म्यस्या-
न्यत्र निषेध, ससर्गाभावत्वप्रसङ्गादित्यपि द्रष्टव्यम् । अस्तु तर्ह्यन्य एवान्योन्याभावप्रतियोगीति तत्राप्येतदे-
वावृत्त्या योजनीयम् । प्रतियोग्यनिरूपणादिति श्लोकयोजना । श्लोकं विवृणोति—**अन्योन्याभावोपीत्या-
दिना** । अन्योन्याभावोऽपि हि भेदो यस्मात्प्रतियोगिन सकाशादेष्टव्यं तमपि प्रतियोगिनं स्वस्मिन्नन्तर्भा-
वयन्कथं न धर्मतया स्वस्य घटधर्मत्वात्तमपि घटधर्मतयैवान्तर्भावयेत् । घटधर्मतामापादयेदित्यर्थः । तथापि
द्वैताभाव कथमित्यत आह—**तथाचेति** । यदुक्तमस्माभिर्वहिरेव दातव्यमिति तत्प्रथममाह—**वस्तुनो
भेद इति** । द्वितीयं हेतुं विवृणोति—**किञ्च तादात्म्येति** । अभाव निरूपयता प्रतियोगिना विशेषणे-
नोपलक्षणेन वा भवितव्यम् । उभयथापि तस्याप्रामाणिकत्वे तद्विशिष्टं तदुपलक्षितं वाऽप्रामाणिकमेव स्यादि-
त्यर्थः । वादीन्द्रस्तु पक्षधर्मत्वादीना धर्माणामभावत्वमुरीकृत्य प्रतियोगिपर्यनुयोगे प्राह—वस्तुतस्तु न
किञ्चिदिति । तन्प्रत्येतावद्वक्तव्यं वस्तुनो भावत्वमपीति । अनिषेधात्मकत्वेऽभावत्वव्याघातान्निषेधात्मकत्वे-
न निषेध्यप्रतियोगिनमनङ्गीकृत्य न निस्तार इति ।

प्रतियोग्यनिरूपणादित्यस्य द्वितीययोजना दर्शयितुं शङ्कामाह—**ननु कुम्भ इति** । न तादात्म्यप्रतियो-
गिकोऽन्योन्याभाव किन्तु स्तम्भादिप्रमितपदार्थप्रतियोगिकं ततश्च कथमप्रसिद्धप्रतियोगित्वम् । अथवा भवतु
तादात्म्यप्रतियोगिकत्वं तथापि नोक्तदूषणद्वयसम्भवः, स्तम्भादिस्वरूपमात्रत्वात्तस्यातिरिक्तातादात्म्ये प्रमाणा-
भावादिति शङ्कते—**नन्विति** । वृषयति—**मैवमिति** । प्रतियोग्यभेदमेव दर्शयति—**स्तम्भ इत्यादिना** ।
अयमभिसन्धिः । स्तम्भः कुम्भे नास्तीति ससर्गाभावोऽपि स्तम्भप्रतियोगिकं कुम्भाधिकरणक एव । नच
ससर्गप्रतियोगिकोऽसौ न स्तम्भप्रतियोगिक इति वाच्यम् । तथासति ससर्गमात्रस्यैव प्रलयप्रसङ्गात् । स्तम्भ-
विशेषितससर्गनिषेधे तु स्तम्भोऽपि प्रतियोगिकोऽपि टीकत इति पूर्वोक्तदोषतादवस्थम् । तथाचान्योन्याभा-

त्रापि स्तम्भस्यैव प्रतियोगिताङ्गीकारात् । प्रतियोगिनिष्ठोऽभावोऽत्यन्ताभावः प्रतियोग्यनिष्ठत्वे सत्यकादाचित्कोऽभावोन्योन्याभाव इति लक्षणभेदादभावयोर्भेद इति चेन्मैवम् । यत्किञ्चित्प्रतियोगिनिष्ठत्वस्यान्योन्याभावेपि भावादतिव्याप्तेः । स्वप्रतियोगिनिष्ठत्वं विवक्षितमिति चेन्मैवम् । स्वशब्देनात्यन्ताभावोपादानेन तत्प्रतियोगिनिष्ठत्वस्यान्योन्याभावेपि भावेनातिव्याप्तेस्तदवस्थत्वान् । पटे घटो नास्तीत्यत्यन्ताभावस्य घटः प्रतियोगी, पटप्रतियोगिकान्योन्याभावोऽपि घटे वर्तत इति । किंचेदं प्रतियोगित्वं निरूपकत्वं चेद्धर्मिणोपि प्रतियोगित्वप्रसङ्गः । अथ पञ्चम्यन्तशब्दवाच्यत्वं तर्हि घटः पटो न भवतीत्यत्रान्योन्याभावे पटस्य प्रतियोगिता न स्यात्, पञ्चम्यन्तशब्देनानिर्देशात् । अथ धर्मिणोन्यत्वे सति निरूपकत्वं प्रतियोगित्वं तदपि न । प्रतियोगित्वस्यानिरूपणादेव धर्मिप्रतियोगिकान्यत्वस्याद्याप्यसिद्धेः । तदेवं नान्योन्याभावो भेदः । नापि द्वितीयः । वैधर्म्ये

वोऽपि चेत्स्तम्भप्रतियोगिक व्यक्तमतिव्याप्तिस्तल्लक्षणस्येति । एतेन तादात्म्यं नाम घटस्वरूपमित्यपि निरस्तम् । घटमात्रोच्छेदप्रसङ्गादेव । नच स्तम्भस्य कुम्भे निषेधः । ससर्गाभावत्वापातात् । तस्माद्धटस्य स्तम्भस्वरूपत्वं निषेध्यं तथाचायमर्थो न क्वचित्प्रमित इति नोक्तदूषणलङ्घनजङ्घालता । नच प्रतियोग्यैक्येपि प्रागभावादिवदनयोरपि भेदः स्यादिति वाच्यम्, असिद्धे, पूर्वोत्तरकालत्रितयरूपविशेषणत्रयविशिष्टस्यैव घटस्य तत्रापि प्रतियोगित्वात्, तद्वदेव ससर्गाभावान्तरतापाताच्च । लक्षणभेदाद्भेदं शङ्कते—**प्रतियोगिनिष्ठ इति** । नहि स्वस्मिन्स्थं वर्ततेऽतः प्रतियोगिन्यपि वर्तत एवात्यन्ताभावः । नच प्रमेयत्वादावसंभवः । प्रमेयत्वादेस्सकलवस्तुनिष्ठत्ववादिना स्वस्मिन्निवान्यत्रात्यन्ताभावाभावात्, अन्यमते तु स्वस्मिन्नप्यत्यन्ताभावभावात् । एतेन चेतरेतराभावससर्गाभाववर्गोऽपि व्यवच्छिन्नः । नह्यन्योन्याभावः स्वप्रतियोगिनि वर्तते । तस्यैव तदन्यत्वापत्तेः । एवं प्रागभावप्रवृत्तिसाभाववपि तत्समये प्रतियोगिनोरेवाभावेन तत्र वृत्ते शङ्कितुमप्यशक्यत्वादिति सादृश्यादिव्यवच्छेदार्थमभावपदम् । अपरेतु रूपादिव्यवच्छेदार्थमभावपदं प्रागभावादिव्यवच्छेदायाकादाचित्कविशेषणं द्रष्टव्यमिति वदन्ति । इदं चान्योन्याभावनिरूपार्थोक्तम् । इतरथा प्रकृतानुपयोगात् । अन्योन्याभावलक्षणमाह—**प्रतियोगीति** । अकादाचित्केति प्रागभावप्रवृत्तिसाभावयोरुत्पत्तिविनाशवत्तया कादाचित्कयोर्व्यवच्छेदः तावतिचात्यन्ताभावेऽपि स्यादित्याद्यं विशेषणम् । तत्रात्यन्ताभावलक्षणं दूषयति—**मैवमिति** । प्रतियोगिनिष्ठत्वशब्देन यत्किञ्चित्प्रतियोगिनिष्ठत्वं स्वप्रतियोगिनिष्ठत्वं वा विवक्षितमिति विकल्प्याद्यं दूषयति—**यत्किञ्चिदिति** । द्वितीयं शङ्कते—**स्वेति** । अत्रापि स्वशब्देनाभावमात्रं विवक्ष्यते अत्यन्ताभावो वा । प्रथमे पूर्वोक्तमेव दूषणम् । द्वितीये ग्राह—**मैवं स्वशब्देनेति** । अत्यन्ताभावप्रतियोगिनिष्ठत्वमेवान्योन्याभावस्य दर्शयति—**पटे घट इत्यादिना** । तेनैव च तल्लक्षणादात्माश्रयभावात् । नचान्योन्याभावप्रतियोगिनिष्ठत्वं लक्षणं वाच्यम् । प्रागभावादावपि भावात् । अनेकान्योन्याभावपक्षे तेनैव चानैकान्तिकता । यस्मिन् प्रतियोगिनि वृत्त्यवृत्तिभ्यामभाववैलक्षण्यं विवक्षितं तदेव प्रतियोगित्वं दुर्निरूपमित्याह—**किंचेदमित्यादिना** । एतदपि प्रतियोग्यनिरूपणादित्यस्यार्थः । ननु निरूपकत्वमात्रं प्रतियोगित्वं येन धर्मिण्यपि प्रसङ्गः किंतु धर्म्यन्यत्वे सति निरूपकत्वमिति शङ्कते—**अथेति** । धर्म्यन्यत्वं हि धर्मिप्रतियोगिकान्योन्याभाववत्त्वं नच प्रतियोगित्वमद्यापि सिद्धमित्यात्माश्रयत्वमिति परिहरति—**तदपि नेत्यादिना** । एतेनान्योन्याभावलक्षणमपि निरस्तम् । तत्रापि प्रतियोगिप्रायुक्तदूषणानां सुवचत्वादिति । वैधर्म्यपक्षं दूषयति—**नापि द्वितीय इति** । वैधर्म्ययोरपि घटत्वपटत्वयोर्भेदोक्तिः नवा । आद्ये स्वरूपान्योन्याभावयोर्दूषितत्वात् वैधर्म्यमेव मन्तव्यम् । तथाचानवस्थेत्याह—**वैधर्म्य इति** । ननु नानवस्था

वैधर्म्यान्तराभ्युपगमेऽनवस्था । अनभ्युपगमे वा वैधर्म्ययोरेकतापत्त्या तद्धर्मिणोरप्येकतापत्तावद्वैतप्रसङ्गः । नापि तृतीयः । पृथक्त्वे पृथक्त्वान्तराभावादेव धर्मिणस्तस्यैकतापत्तेः । किंच पृथक्त्वस्य गुणत्वान्निर्गुणेषु गुणादिषु पृथक्त्वगुणासम्भवेन भेदो न स्यात् । तत्रान्योन्याभावनिवन्धनो भेदव्यवहार इति चेत्तर्हि द्रव्येष्वपि तन्निवन्धन एव तद्व्यवहारोस्तु कृतं पृथक्त्वेन तत्सत्तावेदकप्रमाणाभावाच्च ।

अथाकाशः स्पर्शवद्गुणासमवायिकारणाद्विष्टगुणयोराश्रयः द्रव्यत्वाद्भूतत्वाद्वा पटारम्भकतन्तुवत् । तेन वियद्गतयोरेकत्वपृथक्त्वयोः सिद्धिर्मानमनोहरकारः प्रत्यतिष्ठिपदिति चेन्न । वेदान्तिनं प्रति दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्, तेन कारणगुणानां कार्ये गुणान्तरारम्भस्यानभ्युपगमात्, स्पर्शवत्त्वोपाध्युपहृतत्वाच्च ।

नचान्यावयविनामनारम्भकत्वादेव तादृशगुणानधिकरणानामपि स्पर्शवत्त्वेन साध्यसमव्याप्त्यभावादेवानुपाधित्वम् । विषमव्यापकोपाध्यङ्गीकारेपि दोषाभावात् । नचैत-

वैधर्म्यान्तरास्वीकारात् । यथाहोदयनो बौद्धधिकारे 'अनवस्था हि प्रवाहं प्रापयति गन्धे गन्धान्तराभ्युपगमे इवे'ति । तत्राह—अनभ्युपगमे वेति । तयोर्हि भेदाभावे घटत्वमेव पटत्वमिति तदविकरणं घटोपि पटस्यादेवमितरदपीत्यद्वैतापात इत्यर्थः । पृथक्त्वपक्षं दूषयति—नापीति । पृथक्त्वस्य धर्मिणो भेदाङ्गीकारेऽनवस्थाभयादभेदापत्तिः स्यात् । तथा च घटस्वरूपमात्रं न भेदः प्रतिषिद्धत्वादित्यद्वैतापात इत्यर्थः । अत्र त्वधिकमपि दूषणमाह—किंचेति । तत्र गुणादिवित्यर्थः । पृथक्त्वमेव तावदप्रामाणिकं तद्रूपभेदः सुतरामप्रामाणिक इत्याह—तत्सत्तावेदकेति ।

अत्र मानमनोहरस्थमनुमानं शङ्कते—अथाकाश इति । स्पर्शवद्भूतगतगुणं प्रत्यसमवायिकारणभूतौ यावद्विष्टगुणौ तयोराविकरणमित्यर्थः । अद्विष्टगुणाविकरणमित्युक्ते शब्दपरममहत्त्वाद्यधिकरणत्वेनार्थान्तरता तदर्थमितरद्विशेषणम् । तावन्मात्रोक्तौ वाकाशतन्तुसंयोगविभागाभ्यामाकाशपटसंयोगविभागलक्षणस्पर्शवद्गुणौ प्रत्यसमवायिकारणाभ्यामर्थान्तरता । तन्निवृत्त्यर्थमद्विष्टेत्युक्तम् । तेनैकत्वसत्यैकपृथक्त्वयोः सिद्धिः । तथाहि । आकाशतदितरवृत्तित्वात्स्पर्शवद्गुणा भवन्ति द्वित्वद्विष्टपृथक्त्वादयस्तत्कारणे चैकत्वैकपृथक्त्वे इत्यर्थः । साध्यवैकल्यमेव विवृणोति—तेनेति । आरम्भवादिना खल्वित्यं प्रक्रिया यत्समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणत्रयात्कार्योत्पत्तिरिति । यस्य तु पुनरज्ञातरत्नेन पवनाशनादिभावेनैकमात्मतत्त्वमनादिभावाविद्यासहायं वियदाद्याकारेण निवर्तत इति मतं न तस्यैषा परिभाषेत्यर्थः । व्याप्यत्वासिद्धिं चाह—स्पर्शवत्त्वेति ।

यत्त्वममेवोपाधिमुद्भाव्य तेनोक्तं स्पर्शवता घटादीनामपि तथाविधगुणद्वयाश्रयत्वप्रसङ्गादिति तदेतत्प्रतिपादनमनूय दूषयति—नचान्यावयविनामिति । नचानुपाधित्वमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—विषमव्यापकेति । अयमर्थः पक्षादुपाधिव्यावृत्त्या साध्यस्य विनिवर्तनमुपाधिफलमस्मिन् समवद्विषमक्षम् । स्वव्यावृत्त्या साध्यस्य पक्षाद्यावृत्त्याऽव्यापकप्रमित्युत्पत्तिप्रतिबन्धो वा हेतोरपहतसाध्यतया विपक्षभूते पक्षे वर्तमानस्यानैकान्तिकतापादनोपाधेः कृत्यमिति हि नूतनोन्नयनम् । तच्च समव्याप्तिवद्विषमव्याप्तिरपि शङ्कोति सपादयितुमभिमत्त्वमिव निवर्तमानं धूमवत्त्वं व्यावर्तयितुमतो विषमव्याप्तिरपि सम्भवत्येवोपाधिरिति । अभ्युपगम्य चैतदुक्तम् । वस्तुतस्तु समव्याप्तिरेवायमन्यावयविना पक्षतुल्यत्वेन साध्याभावानिर्णयात् । विपक्षत्वे च द्रव्यत्वादेस्तत्रानैकान्तिकत्वात् सपक्षत्वे च तत्रोपाधेरपि वृत्ते समव्याप्तित्वादिति । नन्वधिकव्याप्तेरप्युपाधित्वे पक्षेतरत्वमप्युपाधिः स्यात् तथा च गतं धूमानुमानेनाधिकव्याप्तेरुपाधित्वानभ्युपगमेन हि पक्षेतरत्वनिवारणमिति तत्राह—नचैतत्पर्वतेति । यदि हि पक्षेतरत्वस्य साध्यव्यापकता स्यात्सादयं दोषः

त्पर्वतान्यत्वादेः पक्षेतरत्वस्याप्युपाधित्वप्रसङ्गो दोषः । य एतत्पर्वतोऽसावनभिमानिति व्यतिरेकासिद्ध्यैव तस्य दुष्टत्वात् । ‘एकसाध्याविनाभावे मिथः संबन्धश्नूनयोः । साध्याभावाविनाभावी स उपाधिर्यदत्यय’ इति चोपाधिलक्षणस्य समासमव्यापकयोस्तुल्यत्वात् ।

समवायः समवेतः संबन्धत्वात् संयोगवदिति प्रयोगे संबन्धत्वे सति समवेतत्वे कार्यत्वमुपाधिरिति विषमव्यापकोपाधेरुद्योतकराचार्यैरङ्गीकारात् । अपिचान्योन्याभावादयो भेदाः किं भिन्नमेव धर्मिणं परिरम्भन्ते उताभिन्नम् । नाद्यः । अनन्तभेदाभ्युपगमप्रसङ्गात् । अस्तु किं नः छिन्नमिति चेच्छृणु । क्रमेण तेषां धर्मिणा संबन्धे धर्मिणश्च घटादेः कादाचित्कत्वेन तत्संबन्धासम्भवः । संभवेवाऽतीतानागतानां च भेदानां क्रमसंबन्धाय घटोऽनादिरनन्तश्च स्यात् । अथ युगपदेव धर्मिणा सर्वे भेदास्संबन्ध्येरन्,

नत्वेतदस्ति एतत्पर्वतेतरत्वरहितेऽप्येतत्पर्वतेऽग्निसत्त्वविरहानिश्चयेन व्यतिरेकव्याप्त्यसिद्ध्या साध्याव्यापकत्वादीदृशश्च सर्वत्र पक्षेतर’ । यत्र तु साध्योपायोर्व्यतिरेकव्याप्तिनिर्णयस्तत्र न पक्षेतरत्वसङ्गा अपितुपाधित्वमेवेत्यभिसन्धिराह—य एतत्पर्वत इति । अत्रोदयनलक्षणविरोधमाशङ्क्य परिहरति—एकसाध्येति । मिथ परस्पर संबन्धश्नूनयोर्धर्मयोरेकेन साध्येनाविनाभावे निरूप्यमाणे सहभावो विनाभावः तस्मिन्सति यदत्यय यस्याभाव साध्याभावाविनाभावी साध्याभावेन व्याप्त स तदभावप्रतियोगी उपाधि अत्र च मिथः संबन्धश्नूनयोरिति साधनाव्यापकत्वमुक्तम् । अत्रापि साध्याभावस्य व्यापकत्वमुपाध्यभावस्य व्याप्यत्वं च प्रतीयते तेन च साध्यस्य व्याप्यत्वमुपाधेश्च व्यापकत्वं सिध्यति तच्च द्वयमभिधूमवद्विषमव्याप्तिवैपि घटत इति नायं समव्याप्तिवगमक इत्यर्थः ।

न केवलमगमको विषमव्याप्तितागमकश्चेतरथोद्योतकराचार्यवचनविरोधप्रसङ्गादित्यभिसन्धिस्तदीयग्रन्थमाह—समवायः समवेत इत्यादिना । संयोगे हि संबन्धत्वे सति समवेतत्वे कार्यत्वमुपाधिः । कार्यत्वं च समवायाद्भाववर्त्तमानं संबन्धत्वे सति समवेतत्वं व्यावर्त्तयति । तत्रापि संबन्धत्वमुभयवादिसंमतमिति संमवेतत्वव्यावृत्तिरुपाधिफलम् । यद्यप्ययं साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापको नतु केवलसाध्यव्यापकस्तथापि विषमव्याप्तिकत्वेन प्रकृतोदाहरणं साधनावच्छिन्नसाध्येन च विषमव्याप्तिकता कार्याणामपि गुणादीनामुक्तसाध्यकत्वाभावादिति । एतेन ‘समासमाविनाभाववेकत्र स्तो यदा समे । समे न यदि नो व्याप्तस्तयोर्हीनोऽप्रयोजक’ इति भट्टाचार्यवचनमपि प्रतिभटितं मन्तव्यम् । वस्तुतस्तु उभावपि प्रकारौ संग्राह्यौ । नह्येतत्सामान्यलक्षणमपि तु विशेषलक्षणं तस्य चानेकप्रकारत्वं न दोषाय सामान्यलक्षणं त्वत्यन्ताभावप्रतियोगिधर्म इति अभावमात्रप्रतियोगित्वं प्रमेयत्वादेरप्यस्त्यन्योन्याभाववत्त्वात् सच नोपाधि तस्य सर्ववस्तुनिष्ठतया साधनव्यापकत्वेन साध्यानपहारित्वादत उक्तमत्यन्ताभावेति । धर्मग्रहण तु परमाण्वादीनामनाश्रितानामुपाधित्वनिरसनार्थमिति नवीनानामुन्नयनम् । यथाचैतत्सर्वमविचारितरमणीयं तथोदकं दर्शयिष्यते । इदानीं सर्वस्य धर्मभेदस्य साधारणमाश्रयानिरूपणं दूषणमाह—अपिचेत्यादिना । किं परस्पर विभिन्नं घटादिकमालिङ्गन्ते भेदा उताभिन्नमित्यर्थः । ननूत्तरोत्तरभेदवर्त्तनार्थं पूर्वपूर्वाश्रयभेदेऽनन्तभेदश्चेत्प्रसज्येत तत्प्रसज्यता नाम अज्ञायमानतयोपपादकत्वेन मूलक्षयाभावादित्याशङ्क्य परिहरति—शृण्वति । तत्रानन्तानां भेदानां क्रमेण घटे वर्त्तमानत्वं युगपद्वा । क्रमपक्षे तु सावधिके वस्तुनि तेषामसम्भव इत्याह—क्रमेणेति । असम्भवेव विपक्षे बाधकेन द्रढयति—संभवेवेति । किमिति पक्षक्षतिरिति तत्राह—भेदसंबन्धमिति । यदीदानीमेव निष्पन्नं घटमाश्रयते भेदस्ततः पूर्वमभिन्नत्वात्तस्य स्यादेव पक्षक्षतिरित्यर्थः । ननु यद्यपीयं प्रथमेव प्रवृत्तिस्तथापि प्रथमः स्वपरनिर्वाहकतया स्वस्य परस्य चाश्रयभेदं सपादयति तदुपरि चोत्तरोत्तरमुत्तरोत्तरस्य,

तर्हि भिन्ने भेदस्थितिरिति पक्षक्षतिः । भेदसंबन्धं विना तस्य भिन्नत्व नुपपत्तेः । तत्संबन्धेनैव च भिन्नत्वे किं भेदविशिष्टे किं भेदस्थितिरिति नियामकाभावादेकोपि भेदो न भवेत् । उत्तरोत्तरेणैव च भेदेन पूर्वपूर्वभेदोपयोगोपपत्तावनन्तभेदाभ्युपगमोपि निष्फलः स्यात् । एवमपि भेदाः स्वीक्रियेरन् यदि भेदपरंपराभरमन्थरा कापि संविदुदयमासादयेत् । तथाचाहुः खण्डनकाराः—‘प्राग्लोपाविनिगम्यत्वप्रमाणापगमैर्भवेत् । अनवस्थितिमास्थातुरचिकित्सा त्रिदोषते’ति । न द्वितीयः अभिन्नेपि चेद्भेदो निविशेत्तदा तदपि नैकं स्यादित्येकाभावादनेकमपि न सिद्ध्येत् । नापि वैलक्षण्यं भेद आत्माश्रयत्वान् । नानालक्षणयोगो हि वैलक्षण्यं नानात्वं च भिन्नत्वापरपर्यायमद्याप्यसिद्धं तेन च तत्सिद्धौ तत्सिद्धिरिति । किंच नानालक्षणयोगोपि दुर्निरूपः । तथाहि । द्रव्यादीनां षण्णां लक्षणानि नानाविधान्यभ्युपगम्यन्ते । तत्र तावद्गुणाश्रयो द्रव्यमित्यलक्षणं यतः—‘अव्याप्तेरप्यतिव्याप्तेर्द्रव्यं नैव गुणाश्रयः । आद्ये क्षणे गुणाभावाद्गुणादावपि वीक्षणान् ॥ ४ ॥’ उत्पन्नमात्रं द्रव्यं क्षणमगुणं तिष्ठतीत्यङ्गीकारादव्याप्तेः । गुणादिष्वपि चतुर्विंशतिर्गुणा

यथाखल्वतिशर पदाति परदुर्गेषु परेपामात्मनश्च कपाटविघटनेन द्वारमापादयति तद्वदिति तत्राह—**तत्संबन्धेनेति** । स्यादेवं यदा पदातिरिव कश्चिद्भेद प्रमाणेन प्रथमप्रवृत्त इति निर्णयेत नत्वेतदिति भावः । केन भेदेन विशिष्टे घटादौ कस्य भेदस्य स्थितिरिति योजना । युगपदववक्ष्यमानैर्भेदैरेवाधारभेदशङ्काया वायं ग्रन्थः । एवमविनिगम्यत्वमुक्त्वा प्राग्लोपापत्तिं चाह—**उत्तरोत्तरेति** । प्रतीतिकमापेक्षयोत्तरमुपपादकं पूर्वमुपपाद्यं घटपटयोर्भेदव्यवहारमिद्विहिं प्रथमभेदोपयोग सचोपपादकेन द्वितीयेन सिध्यतीति मुधा प्राथमिकभेदः । एवमधोघोपीत्यर्थः । तदुक्तं श्रीहर्षकविभिः ‘अग्रे धावन्पश्चादुप्यमानो विस्मरणशीलश्चतुर्वत्सभेदप्रवाह किमालम्बेते’ति । प्रमाणापगममपि दूषणमाह—**एवमपीति** । विषयभूतया भेदपरंपरया मन्थरा अलसेत्यर्थः । उक्तदूषणत्रितयं श्रीहीरतनयोक्त्योपोद्बल्यति—**तथाचाहुरिति** । भेदानवस्थितिमास्थातुं प्राग्लोपादिभिर्दोषैरचिकित्सात्रिदोषता चिकित्सामतिक्रान्तो यस्त्रिदोषो वातपित्तश्लेष्मणां प्रकोप सन्निपातस्तद्वाह स्यादिति श्रीहर्षोक्तैरर्थः । धर्मरूपो भेदो भिन्ने वर्तते इति प्रथमपक्षो निरस्तः । अभिन्ने वर्तते इति द्वितीयं पक्षं दूषयति—**न द्वितीय इति** । यदि पटादभिन्ने घटे वर्तमानः पटाद्घटं भिन्यात्पटमपि पटाद्भिन्न्यात्समानयोगक्षेपत्वादिति भावः । भिन्नलक्षणयुक्तत्वं भेद इति चतुर्थं धर्मभेदविकल्पं दूषयति—**नापीति** । अत्र चान्योन्याश्रयद्वारा तत्फलमात्माश्रय सच ज्ञप्तौ आत्माश्रयमेव सुबोधेन ग्रन्थेन विवृणोति—**नानालक्षणेति** । लक्षणानामेव दुर्निरूपत्वात्तद्रूपोपि भेदो दुर्निरूप इत्याह—**किंचेति** । तानि च दूषयितुं नानालक्षणानि सकलयति—**तथाहीति** । यानि नानालक्षणानि अभ्युपगम्यन्ते तानि द्रव्यादीनां नतु लक्षणानि तत्प्रधानत्वादतस्तेषां दुर्निरूपत्वे दुर्निरूपतराणि तद्वान्तरलक्षणानीत्यभिप्रायः । ‘भेदज्ञाने प्रविध्वस्ते भेदज्ञानेकविभ्रमान् । आगमापायिनः सर्वानागमा बाधितुं क्षमाः ।’ द्रव्यलक्षणं दूषयति—**तत्र तावदिति** । आश्रयत्वं गुणकर्मणोरप्यस्ति तत्तज्जात्याधारत्वादत उक्तं गुणाश्रय इति । तथा गुणो द्रव्यमित्युक्ते व्याघातस्तदर्थं गुणस्येत्युक्तम् । तथापि तत्सबन्धिष्वतिव्याप्तिस्तदर्थमाश्रयग्रहणम् । श्लोकेन दूषणं सगृह्णाति—**अव्याप्तेरिति** । गुणाश्रयो द्रव्यमिति यत्तन्नैव नभवत्येव तल्लक्षणं कुतोऽव्याप्तेरतिव्याप्तेः चेति योजना । ते एव क्रमेणोत्तरार्धेन विवृणोति—**आद्ये इति** । आद्यक्षणे गुणाभावं दर्शयन्नव्याप्तिमेव विवृणोति—**उत्पन्नमात्रमिति** । कार्यस्य गुणस्य समवायिकारणं वक्तव्यं तच्चाश्रयभूतं द्रव्यमेवेति तस्य गुणात्प्राक्क्षणावर्तित्वं वक्तव्यं नियतप्राक्क्षणसत कारणत्वादित्यवयविषु गुणवत्त्वं लक्षणं नास्तीत्यव्याप्तिः ।

इत्यादि संख्यागुणान्वयवीक्षणादतिव्याप्तेः । नच तत्र संख्यावत्त्वप्रतीतिर्विभ्रमः । नवैव द्रव्याणीत्यादाविव बाधकादर्शनात् ।

अथ मतमास्तामिदमृजुपथप्रस्थितानां दूषणाभिधानमस्माकं पुनरभिनववक्त्रनयवर्णानुसारिणां नैषा विभीषा समुन्मिषति, यतो गुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणतामेव गुणाधिकरणतामाचक्ष्महे तेन नाव्याप्तिर्नाप्यतिव्याप्तिः । गुणादीनां पञ्चानामपि निर्गुणत्वनिष्क्रियत्वे इति प्रशस्तपादभाष्यदर्शनादिति । मैवम् । तत्रैवात्यन्ताभावेऽतिव्याप्तेः । सोपि हि गुणवत्त्वात्यन्ताभावस्तस्यानधिकरणं स्वस्य स्वस्मिन्नवृत्तेः । अथानेकत्वादत्यन्ताभावानामत्यन्ताभावेऽप्यत्यन्ताभावोस्ति । मैवम् । विकल्पासहत्वात् ।

किमेकैकगुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वं द्रव्यलक्षणमुत सर्वगुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वम् । नोभयम् । उभयत्राप्यव्याप्तेः । तथाहि रूपादीनां गुणानामनेकत्वात्तदेकगुणाधिकरणस्यापि तदितरगुणात्यन्ताभावाधिकरणत्वादेव तदत्यन्ताभावानधिकरणत्वाभावात् । सर्वगुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वस्य सर्वस्मिन्नसम्भवात् । सति हि सर्वगुणाधिकरणत्वे सर्वगुणात्यन्ताभावानधिकरणता स्यात् । नच सर्वगुणाधिकरणत्व-

ननु केनैवमुक्तं यावद्वक्ष्यं लक्षणेन भवितव्यमिति । यथाहि कादाचित्कमपि पतनभावत्वं गुरुद्रव्यलक्षणमेवमत्रापि किं न स्यादिति । उच्यते । लक्षणं हि केवलव्यतिरेक्यनुमानविशेष तथाचाद्यक्षणवर्त्यपि द्रव्यं पक्ष एव नच तत्र हेतुवृत्तिरित्यसिद्धिः स्यात् । पतनस्यापि लक्षणत्वमसप्रतिपन्नं किञ्चित्तरक्षणे गुणोत्पत्तौ उत्पन्नमात्रस्यानुत्पन्नगुणस्यापि क्वचिद्विनाशसंभवात्तत्र सर्वथैवाव्यापकमिदं स्यात् । अपिच गुणस्य क आश्रय इति पृष्टे किमुत्तरं देयं यदि द्रव्यमिति तदा परस्पराश्रयम्, अथान्यत्किञ्चित्सकलगुणाश्रयानुगतमनतिप्रसक्तं चाभिधीयेत तर्हि तदेव भवतु लक्षणमितीत्यर्थम् । द्रव्यविलक्षणगुणान्ते च लक्षणासिद्धिः । तज्ज्ञाने च चक्रकपरस्पराश्रयात्माश्रयाणीति तदेतच्छ्लोकस्थापिना दर्शितम् । गुणादावपीत्येतद्विवृण्वन्नतिव्याप्तिं दर्शयति—**गुणादिष्वपीति** । स्यादेतत् अगुणा गुणा इति लक्षणात्तेषु संख्यावत्त्वप्रतीतिर्भ्रान्तेति तत्राह—**नच तत्रेति** । बाधाभावान्न भ्रमत्वमितरथाऽतिप्रसङ्गात् ।

अत्र लीलावतीकार प्राह—‘गुणाश्रयो द्रव्यमत्र यद्यपि संबन्धो न सदातन योग्यता तु स्वरूपमननुगतं च द्रव्यत्वं तु क्लिष्टं तथाप्यत्यन्तायोग्यवच्छेदो लक्षणार्थः’ इति । तदेतद्धृदि निधाय शङ्कते—**अथ मतमिति** । अभिनवं वक्तुं च यन्नयवर्त्मन्यायमार्गस्तदनुसारिणामित्यर्थः । वक्तुमार्गमेव दर्शयति—**यत इत्यादिना** । तथाप्यतिव्याप्तिरित्याह—**मैवं तत्रैवेति** । किं गुणवत्त्वात्यन्ताभावोऽनेक किं वैक । एकत्वे तावदाह—**सोपि हीति** । योपि हि गुणवत्त्वात्यन्ताभावोऽपि हि स्वस्यानधिकरणमेव स्वस्मिन्स्वस्यावृत्तेरिति । नच प्रमेयत्वादिवत्केवलान्वयित्वं येनाधुनिकनीत्यापि स्ववृत्तिता स्यात् । केवलान्वयित्वे च भ्रमं द्रव्यलक्षणमिति भावः । अनेकत्वपक्षमुद्भाव्य दूषयति—**अथानेकत्वादित्यादिना** ।

अत्र तावत्प्रतियोगिभेदादभावभेदो वक्तव्यः । नह्यभावस्य स्वतो भेदोऽस्ति निर्विशेषत्वात् तथाच गुणवत्त्वभेदो वक्तव्य इति स्थिते विकल्पयति—**किमेकैकेत्यादिना** । रूपादिगुणानां मध्ये यदेकैकगुणवत्त्वं तत्प्रतियोगिकोत्यन्ताभावस्तदनधिकरणत्वं वा उत चतुर्विंशतिगुणैर्यानि चतुर्विंशतिगुणवत्त्वानि तेषां योत्यन्ताभावस्तदनधिकरणत्वं वेत्यर्थः । प्रथमेपि किं नियतस्य कस्यचित् अत्यन्ताभावानधिकरणत्वमनियतस्य वा । नियमपक्षे दूषणमाह—**रूपादीनामिति** । रूपात्यन्ताभावानधिकरणत्वस्य लक्षणत्वे बाध्यादिष्वसिद्धिरेवमितरत्रापीति भावः । सर्वगुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वपक्षं दूषयति—**सर्वेति** । सर्वगुणवत्त्वात्य-

मेकैकस्यास्तीति कथं नाव्याप्तिः । अथ चतुर्विंशतिगुणानामन्यतमगुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणता विवक्षिता तदपि न । अन्यतमशब्देन रूपादेरैकैकस्य सर्वस्य वा विवक्षायां पूर्वाभिहिताव्याप्तिदोषस्य तदवस्थत्वात् । किञ्चास्मिन्नपि वक्रलक्षणे गुणादिष्वपि सङ्ख्यापृथक्त्वगुणयोः प्रतीतेः कथं नातिव्याप्तिः ।

नच प्रशस्तपादभाष्यं मनुवचनं येन निर्गुणता गुणादीनां प्रामाणिकी स्यात् । नच मन्तव्यं गुणेष्वपि गुणाभ्युपगमेऽनवस्थाप्रसक्तेः सङ्ख्यापृथक्त्वप्रतीतिर्भ्रान्तिरिति । रूपादिषु तदभ्युपगमेपि सङ्ख्यापृथक्त्वयोस्सङ्ख्यापृथक्त्वान्तरानभ्युपगमेनैवानवस्थापरिहारात् । यथा भवतां सम्बन्धे सम्बन्धान्तरमङ्गीकुर्वतामपि समवाये तदनभ्युपगमादेवानवस्थापरिहारः । द्रव्यगतसङ्ख्यापृथक्त्वाभ्यामेव तदेकार्थसमवायलक्षणप्रत्यासत्त्या गुणादिष्वपि तद्व्यवहारोपपत्तौ व्यर्था तत्कल्पनेति चेन्मैवम् । विपर्ययस्यापि सुवचत्वात् ।

न्ताभावानधिकरणत्वं तत्प्रतियोगिसर्वगुणाधिकरणत्वे सति स्यात् नचैतदस्ति । नहि तदस्ति किञ्चिद्द्रव्यं यच्चतुर्विंशतिगुणाधिकरणमिति असंभव एव लक्षणस्येत्यर्थः । अनियतपक्ष शङ्कते—अथेति । किमन्यतमशब्देन प्रत्येकं समुदितं वा विहायान्यस्य कस्य चिन्निर्देश उतैतयोरेवान्यतरस्योभयस्य वा । नाथ । तथाविधस्य तस्य नियमेनादर्शनात् उत्तरत्र तूक्तमेव दूषणमित्याह—अन्यतमशब्देनेति । अथ भावत्वे सति गुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वमित्युच्येत । तन्न । रूपादावतिव्याप्तेर्वक्ष्यमाणत्वात् । ननु सयोगाल्यन्ताभावानधिकरणत्वस्य लक्षणत्वे को दोषः । तदत्यन्ताभावस्यैकत्वे तस्मिन्नेवातिव्याप्तिरनेकत्वे पुनः किमेकैकसयोगाल्यन्ताभावः सर्वसयोगाल्यन्ताभावोऽन्यतमसयोगाल्यन्ताभावो वेति विकल्पैरुन्मूलनात् । एतेन विभागपरिमाणसङ्ख्यापृथक्त्वैरपि लक्षणनिरुक्तिप्रत्याशानवकाशीकृता वेदितव्या । किञ्चैवं विवक्षायामपि न पूर्वोक्तातिव्याप्त्युपशम इत्याह—किञ्चेति ।

यत्तु प्रशस्तपादवचनान्निर्गुणत्वं गुणानामुक्तं तत्राह—नच प्रशस्तेति । अत्र किरणावलीकार प्राह—‘समानजातीयगुणाभावस्तावदनवस्थाप्रसङ्गाद्रूपादौ रसादिवेगान्तभावे मूर्तत्वप्रसङ्गात् । बुद्ध्यादीनां च प्रति-सन्धात्रात्मगुणत्वेन व्यवस्थितेरप्रसक्तिरेव शब्दस्य नभोनियमात् गुणेषु गुणयोगे च समवायिकारणत्वप्रसक्तौ द्रव्यत्वापत्तेर्गुणत्वव्याघातः, एवं रूपावयविरूपेष्वेव वर्तते इति घटादेर्निरूपत्वप्रसङ्ग इत्यादि, एवं निर्गुणत्वे निष्क्रियत्वे च रसादयो गच्छन्ति चतुर्विंशतिगुणा महान्शब्द इत्यादयो व्यवहारास्तदेकार्थसमवायादिना साधर्म्येण गौणाः समर्थनीया’ इति । तदेतदाशङ्क्य दूषयति—नच मन्तव्यमिति । अनवस्थाग्रहणं तदुक्तबाधकान्तराणामप्युपलक्षणम् । नच मन्तव्यमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—रूपादिष्विति । अयमर्थः । सत्त्वं सजातीयगुणाङ्गीकारेऽनवस्था विजातीयसंख्यापृथक्त्वयोराश्रयणे किं बाधकम् । नच समवायिकारणत्वप्रसक्तिर्बाधिका । इष्टत्वात्संख्यादिसमवायिकारणत्वस्य । अतएव द्रव्यत्वप्रसक्तिरपि नानिष्टाय । कथं च द्रव्यत्वप्रसक्तिः यदि ह्येतद्द्रव्यलक्षणं स्यात्स्याद्द्रव्यत्वप्रसङ्गः तदेव त्वयापि न निर्णीतम् । नच रूपाद्यारब्धत्वे सङ्ख्याया रूपादिवृत्तित्वान्न द्रव्ये संख्या स्यादिति वचनीयम् । गुणेपि पर्यनुयोगस्य तुल्यत्वात्, प्रत्ययसाम्याच्च । यथा तु तन्तुशौक्यव्यतिरेकेण पटेपि शौक्यमङ्गीक्रियते । प्रतीतिबलादेवमत्रापि सङ्ख्याद्वयं किन्न स्यात् । नच सङ्ख्यायां सङ्ख्यान्तरस्वीकारादनवस्थाप्रसक्तिः । तत्र पृथक्त्वस्वीकारात् पृथक्त्वे च सङ्ख्यास्वीकारादिति, भवदुररीकृताचेयं रीतिरित्याह—यथा भवतामिति । अन्यथोपपत्तिः शङ्कते—द्रव्यगतेति । द्रव्यगतसङ्ख्यादिप्रतीतेरपीयं समाना गतिरित्याह—मैवमिति । गुणगतसङ्ख्याया द्रव्ये संख्याप्रतीतिरशक्योपपादना । गुणानामनेकत्वेपि तदाश्रयद्रव्यस्यैकत्वात्, अन्यथा आश्रयद्रव्यस्यानेकत्वप्रसङ्गाच्चि. २३

अथ गुणानामनेकत्वेऽपि द्रव्यस्यैकत्वदर्शनात्कथं गुणसङ्ख्यायां द्रव्ये तद्व्यवहारः । तर्ही-
हापि माध्यस्थ्यमवलम्ब्य किमिति न दीयते दृष्टिः । नवैव द्रव्याणि चतुर्विंशति-
गुणा इति सङ्ख्यावैषम्यात् । अथावान्तरद्रव्यसङ्ख्यासंभवनिमित्तोऽयं व्यवहारः । तर्हि
परार्द्धसङ्ख्याव्यवहारोऽपि गुणेषु स्यात् द्रव्येषु तत्संभवात् द्रव्यगतसत्तासामान्यादिभि-
रेव गुणकर्मणोरपि सङ्ख्यावहारोऽप्यतौ तत्र सत्तासामान्यकल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च । एतेन
समवायिकारणं द्रव्यमित्यपास्तम् । जातमात्रस्य तदभावात्तदत्यन्ताभावानधिकरणत्वस्य
चात्यन्ताभावे एव व्यभिचारान्, रूपादिगुणानामपि सङ्ख्यापृथक्त्वसमवायिकारणत्व-
संभवात् ।

अस्तु तर्हि द्रव्यत्वजातियोगित्वं द्रव्यलक्षणम् । न । यतः ‘द्रव्यत्वजातियोगित्वमपि
नो द्रव्यलक्षणम् । तज्जातिव्यञ्जकाभावात्तन्मानस्यानिरूपणात्’ द्रव्यत्वं ॥५॥ जातिमभ्युप-
गच्छता तज्जातिव्यञ्जकं किञ्चिदवश्यमभ्युपेयं नच तन्निरूपणं सुशकम् । गुणविशिष्टस्य
तद्व्यञ्जकत्वे विशेषणभूतस्य गुणस्यापि तद्व्यञ्जकतया द्रव्यत्वापत्तेः, रूपादीनामपि सङ्ख्या-
दिगुणवतां तद्व्यञ्जकतया द्रव्यत्वप्रसङ्गाच्च । एतेन समवायिकारणस्यापि तद्व्यञ्जकता
निरस्ता । स्वातन्त्र्येण प्रतीतियोग्यत्वं व्यञ्जकमिति चेत्किमिदं स्वातन्त्र्यं किमाश्रयप्रती-

दिति शङ्कते—अथगुणानामिति । एषानुपपत्तिरत्रापि तुल्या । यदि हि द्रव्यसङ्ख्यैव गुणेषु सख्या
स्यात्तदा द्रव्याणां नवसङ्ख्यावत्त्वादतिरिक्तगुणा न भवेयुरिति परिहरति—तर्हीति । नन्वान्तरद्रव्येषु चतु-
र्विंशतिसङ्ख्यासद्भावात्तन्निमित्तो व्यवहार इति शङ्कते—अथावान्तरेति । तर्हि चतुर्विंशतित्वनियम कि
कृत अधिकसङ्ख्यानामपि द्रव्येषु विद्यमानत्वात् । नच चतुर्विंशतिजातिनिमित्तं चतुर्विंशतित्वम् । जातेरेव
चतुर्विंशतित्वासंभवादित्यभिप्रेत्य परिहरति—तर्हि परार्द्धेति । अतिप्रसङ्गं चाह—द्रव्यगतेति । तदेवं
क्रियावद्गुणवत्समवायिकारणं द्रव्यमिति काश्यपसूत्रोक्तलक्षणेऽपि गुणवत्त्वलक्षणं दूषयित्वा तदीयलक्षणान्तरेऽपि
तदेव दूषणमतिदिशति—एतेनेति । अतिदिश्यमानाभ्यास्यतिव्याप्ती विशदयति—जातमात्रस्येति ।

लक्षणान्तरं शङ्कते—अस्तु तर्हीति । जातियोगित्वं गुणकर्मणोरप्यस्तीति द्रव्यत्वग्रहणम् । नियतव्यञ्ज-
कप्रमाणयोरभावाद्द्रव्यत्वजातिरेवासिद्धा ततस्तद्युक्तलक्षणमप्यसिद्धमिति श्लोकेन दूषयति—द्रव्यत्वेति ।
तज्जातिव्यञ्जकाभावादित्येतद्विद्वद्विरोधोति—द्रव्यत्वं जातिमिति । नच व्यञ्जननियमो नास्तीति युक्तम् ।
तथासति किं त्वया दृष्टं किं वा श्रुतमिति पृष्ठे न जानामि दृष्टं श्रुतं वेति ज्ञातं तावदिति प्रत्यक्षत्वादौ सन्दिग्धम् ।
नच व्यञ्जकास्फुरणव्यतिरेकेण संदेहकारणं तत्रास्ति । ज्ञानस्याश्रयभूतस्य मानसप्रत्यक्षेणानुभूयमानत्वात् ।
तस्माज्जातिमिच्छता नियतव्यञ्जकं वक्तव्यमेव । तत्र किं गुणवत्त्वं तद्व्यञ्जकं समवायिकारणत्वं वा स्वातन्त्र्येण
प्रतीतियोग्यत्वं वा । नाय इत्याह—गुणविशिष्टस्येति । तद्व्यञ्जकतयेति । द्रव्यत्वजातिव्यञ्जकतये-
त्यर्थः । यस्य हि विशेषणाद्यनतिरिक्तं विशिष्टं तस्यायं दोषः यस्य त्वतिरिक्तं तस्य घटादिव्यक्तेरप्यद्रव्यता-
पातः । तन्मात्रस्य विशिष्टताभावादित्यपि द्रष्टव्यम् । द्वितीयं दूषयति—एतेनेति । तत्र हि समवायवि-
शिष्टस्य कारणस्य तद्व्यञ्जकत्वे समवायस्यापि तद्व्यञ्जकत्वाद्व्यत्वप्रसङ्गः । सङ्ख्यादिसमवायिकारणत्वाद्गुणक-
र्मणोरपि तद्व्यञ्जकतया द्रव्यत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः । तृतीयं शङ्कते—स्वातन्त्र्येणेति । शब्दादेरपीति । शब्दस्य
वायुस्पर्शस्य रसगन्धयोश्चेति गुणानामेवाश्रयप्रतीतिनिरपेक्षप्रतीतीनां स्वातन्त्र्यसंभवे न तद्व्यञ्जकतया द्रव्य-
त्वप्रसङ्ग इत्यर्थः । अवयविष्वव्याप्तिः, तेषामप्यवयवप्रतीतिव्यतिरेकेणाप्रतीतेरिति केचित् । अनाश्रितत्वं

तिमन्तरेण प्रतीतियोग्यत्वमुतानाश्रितत्वमेव । नाद्यः । शब्दादेरपि तत्संभवात् । न द्वितीयः । अवयविनामद्रव्यत्वापत्तेस्तेषामवयवाश्रितत्वात् । तदेवं न व्यञ्जकं द्रव्यत्वजातेः । नापि प्रमाणमस्ति । द्रव्यं द्रव्यमित्यनुगतप्रत्ययः प्रमाणमिति चेन्न सुवर्णमुपलभ्य मृत्तिकामुपलभ्यमानस्य लौकिकस्य तदेवेदं द्रव्यमिति प्रत्ययाभावात्, परीक्षकाणां चानुगतप्रत्यये विप्रतिपत्तेः । रत्नतत्त्वमिवोपदेशसहकृतप्रत्यक्षेणैव द्रव्यत्वमीक्षत इत्यपि स्वशिष्यधीबन्धनमेव । रत्नतत्त्वस्येवजातेः सर्वपरीक्षकासंमतत्वात्, धर्माधर्मयोरदृष्टत्वजातेरभ्युपगमप्रसङ्गाच्च । अदृष्टमदृष्टमित्युभयोरप्यनुगतप्रत्ययदृष्टेः ।

यदपि लीलावतीकारमतम्, आकाशकालदिशः सत्तेतरजातिमत्यः संयोगविभागजनकत्वात्कर्मवत् । नच कर्मत्वमप्रसिद्धम् । चलतीत्यनुगतप्रत्ययवेद्यत्वादिति । तदपि मन्दम् । कर्माप्रत्यक्षवादिनां चलतीति प्रत्ययस्य संयोगविभागप्रवाहविषयतया कर्मविषयत्वानङ्गीकारात्कर्मत्वासिद्धौ दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वान् । आत्मा शाबलेयवृत्त्यवृत्तिशाबलेयनिष्ठजातिमानसंयोगित्वाच्छाबलेयवत् । जलादेश्च पक्षतुल्यत्वान्न तेन व्यभिचारः । तथा, सत्ता दिक्कालाकाशनिष्ठजातेरन्या मेयत्वात्पटवत् । आत्माऽनात्मवृत्तिरूपावृत्तिजाति-

स्वातन्त्र्यमिति द्वितीयं दूषयति—**न द्वितीय इति** । अवयवाश्रितावयविना स्वातन्त्र्याभावेन द्रव्यत्वाव्यञ्जकत्वात्तत्र तज्जात्यभावेनाद्रव्यत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः । तन्मानस्यानिरूपणादित्येतद्विवृणोति—**नापि प्रमाणमिति** । तत्र प्रमाणं प्रत्यक्षं शङ्कते—**द्रव्यं द्रव्यमिति** । अनुगतप्रत्ययवेदनीयं हि सामान्यम् । अस्ति चात्रानुवृत्तप्रत्यय इत्यर्थः । अत्र किं तदेवेदमिति बुद्ध्या जातिसिद्धिं किं वैकारप्रत्ययमात्रात् । प्रथमे लौकिकानामियं बुद्धिः परीक्षकाणां वा । नाद्य इत्याह—**न सुवर्णमिति** । द्वितीये प्राह—**परीक्षकाणामिति** । यत्तु श्रीबलभेनोक्तं जातिसमवायस्य रत्नतत्त्ववद्भावादिति तं प्रत्याह—**रत्नतत्त्वमिवेति** । यत्तु तेनोक्तं प्रतारणैवेति चेन्न रत्नशास्त्रेऽपि प्रतारणप्रसक्तैरिति तत्र रत्नतत्त्वे वैषम्यमाह—**रत्नतत्त्वस्येवेति** । द्वितीये दूषणमाह—**धर्माधर्मयोरिति** । यदि ह्येकाराकारबुद्धिमात्राजातिसिद्धिस्तर्हि धर्माधर्मयोरप्यदृष्टमदृष्टमित्येकाराकारबुद्धेरदृष्टत्वं नाम जाति स्यात्, नचैतदिष्टमनुगतजातिव्यञ्जकाभावादित्यर्थः ।

एवं प्रत्यक्षं निरस्यानुमानमपि द्रव्यत्वजातौ निरस्यति—**यदपीति** । जातिमत्य इत्युक्ते सत्तया सिद्धसाधनत्वं तन्निवृत्त्यर्थं सत्तेतरेत्युक्तम् । तथाचाकाशत्वादेरभावाद्द्रव्यत्वजातिसिद्धिरित्यर्थः । अत्रच संयोगजनकत्वं संयोगप्रागभावस्याप्यस्ति एवं विभागप्रागभावस्यापि विभागजनकत्वमस्तीति तद्व्यभिचारपरिहारायोभयजनकत्वादित्युक्तं हेतुद्वयं वात्र विवक्षितम् । दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यं स एव परिहरति—**नचेति** । अत्र प्राभाकरमते दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यमाह—**तदपि मन्दमिति** । किञ्च कालाकाशदिशः सत्ताद्रव्यत्वातिरिक्तजातिमत्यः संयोगविभागजनकत्वात्कर्मवदित्यनुमानसम्भवादाभाससमानयोगक्षेमत्वम् । विपक्षबाधकाभावाच्च शङ्कितप्रयोजकमित्यपिना सूचितम् । द्रव्यत्वजातावनुमानान्तराणि शङ्कते—**आत्मेत्यादिना** । शाबलेयनिष्ठजातिमानित्युक्ते सत्तयार्थान्तरता तदर्थं शाबलेयवृत्त्यवृत्तीत्युक्तम् । तस्याश्च शाबलेयवृत्तित्वे सति गुणकर्मणोरपि वर्तमानत्वाच्चवच्छेदः । तावन्मात्रोक्तावात्मत्वेन सिद्धसाधनता तदर्थं शाबलेयनिष्ठेत्युक्तम् । तथापि शाबलेयात्मवृत्तिद्वित्वादिधर्मैरर्थान्तरता तदर्थं जातिग्रहणम् । दृष्टान्ते गोत्वेन साध्यप्रसिद्धिः । पक्षे च तद्व्याघातादुभयनिष्ठद्रव्यत्वसिद्धिः । ननु संयोगित्वमस्ति जलादौ नास्ति चैवंविधा जातिरिति तत्राह—**जलादेरिति** । द्वितीये तु जातेरन्येत्युक्ते घटत्वान्यत्वेनार्थान्तरता तदर्थं दिक्कालाकाशनिष्ठेत्युक्तम् । तावत्युक्ते तन्निष्ठगुणादन्यत्वेनार्थान्तरता तदर्थं जातिग्रहणम् ।

मान् रूपान्यत्वे सति सामान्यवत्त्वाद्धटवदिति द्रव्यत्वजातिसिद्धिरित्येवेत् । मैवम् । संयोगित्वहेतोर्वैगवत्त्वोपाधिहृतत्वात् । मेयत्वहेतोश्च सत्तामनङ्गीकुर्वतामाश्रयासिद्धेः । दिक्कालाकाशनिष्ठजातित्वेन तस्या एव विवक्षितत्वे चाप्रसिद्धविशेषणत्वाच्च । प्रमेयत्वगुणवत्त्वज्ञानाधारत्वोपाधिभिरेव यथायोग्यं सद्रव्यमासेति व्यवहारोपपत्तौ तत्तत्सामान्यस्वीकारवैयर्थ्येन सामान्यवत्त्वहेतोरप्यसिद्धेः ।

तदेवं जातौ व्यञ्जकप्रमाणयोरसंभवेनाकाशवृत्तिसत्ताव्याप्यजातियोगिक्रियासमानाधिकरणसत्तावान्तरजातियोगिसंयोगवद्भूतिसत्तावान्तरजातियोगिद्रव्यमित्येवमादीनि जातिपुरस्कारप्रवृत्तानि महाविद्यालक्षणानि निरस्तानि वेदितव्यानि ।

अत्रचानुमानत्रयसूचनाय तथेति ग्रहणम् । इतरथा वैयर्थ्यादिति या सा ढिगादिनिष्ठा जाति तद्रव्यत्वमिति द्रव्यत्वजातिसिद्धिः । तृतीये तु जातिमानित्युक्ते सत्तयार्थान्तरता तदर्थं रूपावृत्तीत्युक्तम् । तावति चात्मत्वेनार्थान्तरता तदर्थं अनात्मवृत्तीत्युक्तम् । रूपान्यत्वेनार्थान्तरतापरिहाराय जातिग्रहणम् । रूपेनैकान्तिकतापरिहाराय रूपान्यत्वे सतीत्युक्तम् । रूपत्वानधिकरणत्वे सतीत्यर्थः । सामान्यादिषु व्यभिचारवारणाय सामान्यवत्त्वग्रहणम् । तत्राद्यहेतोर्व्याप्यत्वासिद्धिमाह—**मैवं संयोगीति** । द्वितीयानुमानं दूषयति—**मेयत्वेति** । नचाजातिरूपस्यापि पक्षत्वान्नाश्रयासिद्धिः । दृष्टान्ते साध्यवैकल्यात् । किंच दिक्कालाकाशनिष्ठजाल्यन्यत्वं किं सत्तान्यत्वेन किं वा द्रव्यत्वान्यत्वेन । उभयथाप्यप्रसिद्धविशेषण पक्षः । तत्र प्रथमे व्याघाताच्चरमेऽसिद्धेरित्याह—**दिक्कालेति** । सत्ता गुणवृत्तिदिक्कालाकाशनिष्ठजातेरन्या मेयत्वादित्यपि संभवादाभाससमानता चेति द्रष्टव्यम् । तृतीयहेतौ स्वरूपासिद्धिमाह—**प्रमेयत्वेति** । अयमभिसन्धिः । तिसृभिः खलु जातिभिरात्मनः सामान्यवत्त्वमभिमतं तासु च न किञ्चित्प्रमाणमस्ति अनुवृत्तप्रत्ययस्य च पुरस्तादेव निरस्तत्वादनुमानस्य चैतादृशत्वात् । अस्तुवानुवृत्तव्यवहारस्तथापि प्रमेयत्वादितत्तदुपाधिभिरेवायं व्यवहारः शक्यसमर्थनः । नच प्रमेयत्वस्य सत्तात्वे चाक्षुपत्वं न स्यात्, प्रमाविषयत्वस्याचाक्षुपत्वादिति वचनीयम् । सामान्यत्वेप्यचाक्षुपत्वस्य तदवस्थत्वात् । स्वरूपसद्विशेषो हि सामान्यं नाम । नच प्रमेयत्वातिरिक्तं स्वरूपसत्त्वमस्ति । रूपैकार्थसमवायाच्चाक्षुपत्वमितरत्रापि तुल्यम्, अभावत्वं तु प्रमेयत्वादेः शपथसाध्यमिति, यानि च महाविद्यानुमानानि द्रव्यत्वजातौ प्रवर्तन्ते तान्यपि परमाणुनिराकरणवादे निवेदनीयदूषणदृष्टितानीति नोदाहृतानि आचार्येण ।

तदेवं व्यञ्जकप्रमाणयोरसिद्ध्या द्रव्यत्वजातेरसिद्धौ तत्पुरस्कारेण यानि शिवादित्यमिश्रेण लक्षणानि लक्षणमाख्यामुक्तानि तान्यपि निरस्तानीत्याह—**तदेवमिति** । अत्र चाकाशवृत्तीत्याद्येकं लक्षणं क्रियासमानाधिकरणत्वाद्यपर संयोगवद्भूतित्यादिलक्षणान्तरम् । तत्र सत्ताव्याप्यजातियोगिद्रव्यमित्युक्ते गुणादावतिव्याप्तिः गुणत्वकर्मत्वादीनामपि सत्ताव्याप्यत्वात्तदर्थमाकाशवृत्तीत्युक्तम् । तावत्युक्तेपि गुणादावतिव्याप्तिः, तेषामप्याकाशवृत्तिसत्ताजातियोगित्वात्तदर्थं सत्ताव्याप्येत्युक्तम् । आकाशगुणान्यान्यत्वमित्याद्याकाशवृत्तिसत्ताव्याप्याभ्यामन्याभावादिरूपधर्मयोगिगुणादावतिव्याप्तिपरिहाराय जातिग्रहणम् । द्वितीये सत्तावान्तरजातियोगीत्युक्ते गुणादावतिव्याप्तिः, तदर्थं क्रियासमानाधिकरणेत्युक्तम् । तावति च सत्तायुक्तगुणादावतिव्याप्तिः स्यात् तदर्थं सत्तावान्तरेत्युक्तम् । अत्र च सत्तासाक्षाद्याप्यत्वं सत्तावान्तरत्वम् । अनेन न घटत्वादिकमादायाव्याप्तिभ्रमः । तृतीयेपि गुणादावतिव्याप्तिपरिहाराय संयोगवद्भूतीति विशेषणम् । सत्तामादाय गुणादावतिव्याप्तिपरिहाराय सत्तावान्तरग्रहणम् । आदिग्रहणेन जातिमन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोग्याकाशवृत्तिजातियोगित्वं कार्यसमानाधिकरणसत्तावान्तरजात्यधिकरणं वा रूपसमानाधिकरणसत्तावान्तरजातियोगि वा स्पर्शसमानाधिकरणसत्तावान्तरजात्यधिकरणं वा रससमानाधिकरणसत्तावान्तरजात्यधिकरणं वेत्यादीनि लक्षणानि सृष्टीतानि । महा-

तथा गुणलक्षणमपि न युक्तं लक्षयामः । 'सामान्यवानगुण इत्याद्यप्यस्य न लक्षणम् । अन्योन्याश्रयतापत्तेर्गुणस्याद्याप्यसिद्धितः' ॥ ६ ॥ सामान्यवानगुणः संयोगविभागयोर्निरपेक्षो न कारणं गुण इति कंदलीकारस्य गुणलक्षणं तावदयुक्तम् । सिद्धे गुणे अगुण इति लक्षणसिद्धिस्तत्सिद्धौ च गुणसिद्धिरितीतरेतराश्रयत्वदूषणप्रस्तत्वात् । यत्तु लीलावतीकारेणोक्तं सामान्यवानचलनात्मकः समवायिकारणताहीनो गुण इत्यपि न । रूपादीनामपि समवायिकारणत्वस्य दर्शितन्यायेन संभवात्तद्धीनतालक्षणस्य लक्षणांशस्यासंभावितत्वात् ।

सामान्यवानस्पर्शरहितो द्रव्याश्रयः कर्मातिरिक्तो गुण इत्यपि न । गुणात्कर्मणो

विद्यालक्षणातीति । महाविद्यारीत्या प्रवृत्तानीत्यर्थः । द्रव्यलक्षणखण्डनेन च तद्विशेषपृथिव्यादिलक्षणान्यपि खण्डितानि वेदितव्यानि । सामान्याभावे तद्विशेषस्य सुतरामसंभवात्तत्तल्लक्षणानामपि जातिपुरस्कारेण प्रवृत्तत्वाच्च । गन्धसमानाधिकरणद्रव्यत्ववान्तरजातिमती पृथिवीत्यादिरूपाणि हि तानि तत्र द्रव्यत्वजातिदूषणेन तदवान्तरत्वमपि दूषितमेव । प्रदर्शयिष्यते च जातिमात्रस्य खण्डनं ततोपि तद्वर्माणि लक्षणानि दुर्भागानि । वादीन्द्रस्तु एतानि लक्षणानि दूषयित्वा स्वमतेन कार्याश्रयो द्रव्य गुणाश्रयो द्रव्यमित्यादिलक्षणान्युदाजहार तानि च तत्रैव निरस्तप्रायार्णति ।

नन्वेतावतापि न नानालक्षणवत्त्वेन भेदासिद्धिः, गुणलक्षणवत्त्वभेदसिद्धे, गुणलक्षणानामधीनत्वात्तदर्थं तान्यपि खण्डयति—तथा गुणलक्षणमपीति । तत्र 'द्रव्याश्रयी न गुणवान् संयोगविभागेष्वकारणं निरपेक्ष' इति गुणलक्षणपर सूत्रम् । तदर्थतया च कंदलीकाराद्यभिमतलक्षणं तावदूषयति—सामान्यवानित्यादिना । अन्योन्याश्रयतायामेव हेतु गुणस्येति । यदि हि गुणो ज्ञातः स्यात्तदा गुणरहितत्वज्ञानं स्यात् स चैतल्लक्षणव्यतिरेकेण नाद्यापि सिद्धः । एतल्लक्षणेन सिद्धावन्योन्याश्रयतेत्यर्थः । श्लोकं विवृणोति—सामान्येत्यादिना । सामान्यादिव्यावृत्त्यर्थं सामान्यवानिति विशेषणम् । द्रव्यव्यवच्छेदायागुण इत्युक्तम् । कर्मव्यवच्छेदाय संयोगविभागेत्यादिविशेषणम् । संयोगविभागयोर्हि निरपेक्षकारणं कर्म तन्नभवति यत्सगुण इत्यर्थः । वादीन्द्रस्तु पृथक्त्वानाश्रय सङ्ख्यानाश्रय संयोगकारणत्वे सति विभागनिरपेक्षकारणत्वरहितो गुण इत्यादिप्रत्यवाकीत् । तत्र । सङ्ख्यापृथक्त्वाद्याश्रयत्वस्य पूर्वमेवोपवर्णनात् । अन्योन्याश्रयतापरिहाराय श्रीवल्लभीयलक्षणमुवदति—यत्त्विति । उक्तं च वैधर्म्यपरिच्छेदे इति शेषः । अत्रापि सामान्यादिव्यावृत्त्यै सामान्यवानित्युक्तम् । द्रव्यव्यवच्छेदाय समवायिकारणताहीन इत्युक्तम् । कर्मव्यवच्छेदायाचलनात्मक इत्युक्तम् । तत्र कार्यं यत्र समवेति तत्समवायिकारणमिति परेषां समवायिकारणलक्षणं तच्च पूर्वोक्तन्यायेन पृथक्त्वादि प्रति गुणादेरप्यस्तीत्यसंभव इत्यर्थः । एतेन केवलनिमित्तकारणे वर्तमानापरजातीयत्वं वा समवाय्यसमवायिकारणतारहिते वर्तमानापरजातीयत्वं वेति मानमनोहरकारोक्तलक्षणमपि परिभूतं मन्तव्यम् । उक्तन्यायेन सर्वगुणानामपि पृथक्त्वादिसमवायिकारणतया केवलनिमित्तकारणत्वसमवायिकारणत्वरहितत्वयोरभावादिति ।

किरणावलीयं लक्षणं दूषयति—सामान्यवान्स्पर्शरहित इत्यादिना । कर्मातिरिक्त इत्युक्ते द्रव्येऽतिव्याप्तिस्तदर्थं द्रव्याश्रय इत्युक्तम् । तथापि कार्यद्रव्याव्यावृत्तिस्तदर्थं स्पर्शरहित इत्युक्तम् । यदि गुणाद्भेदेन कर्मज्ञानं स्यात्कर्मातिरिक्तता गुणस्य ज्ञायेत नचैतदस्ति गुणानिर्णये तद्व्यतिरेकस्यापि कर्मणो ज्ञातुमशक्यत्वादेतल्लक्षणेन च गुणं निश्चित्य ततोतिरिक्तं कर्म ज्ञात्वा तदतिरिक्तत्वविशेषणज्ञानं वाञ्छितश्चक्रापत्तिरित्यभिसन्धिवाह—गुणात्कर्मण इति । यदि गुणादज्ञातभेदादपि कर्मण सकाशादतिरिक्तत्वं सिद्धवद्व्यपदिश्येत तदा रूपातिरिक्तो रसातिरिक्त इत्यपि किमिति न विशेषणं क्षिप्यते लक्षणे । समानं ह्युभयोरपि गुणादज्ञातभे-

भेदासिद्धौ कर्मव्यावृत्तेरयुक्तत्वात् । अन्यथा रूपातिरिक्तो रसातिरिक्त इत्यपि विशेषणोपादानप्रसङ्गात् । तथाच गुणपदार्थे किरणावलीकारस्त 'स्माद्गो भूपणः कर्मापि गुणस्तल्लक्षणयोगा'दिति । ननु गुणत्वजातियोगी गुणः नच व्यञ्जकाभावः, सामान्यवत्त्वे सति संयोगविभागकार्यद्वयाजनकत्वस्यैव गुणत्वव्यञ्जकत्वात् । नापि गुणत्वजातौ प्रमाणाभावः, संयोगः संयोगत्वातिरिक्तावान्तरजातिमान्, जातिमत्त्वात्कर्मवदिति तत्सिद्धिरिति चेदत्र ब्रूमः । 'गुणत्वजातियोगोपि न भवेद्गुणलक्षणम् । अन्योन्याश्रयदुष्टत्वाज्जातेस्तद्व्यञ्जकस्य च' ॥ ७ ॥ सिद्धे हि सत्तासामान्ये गुणत्वसामान्ये वा तद्विशिष्टव्यञ्जकसिद्धिस्तत्सिद्धौ च सामान्यसिद्धिरिति परस्पराश्रयत्वात्, अनिष्टवियोगेष्टसंयोगोद्देशेनानुष्ठानसमुपजनितधर्मे संयोगविभागहेतौ लक्षणस्यासंभवित्वात्, तथाभिचारादिजनितेदुरिते शत्रोरिष्टवियोगानिष्टसंयोगहेतौ च लक्षणस्यासंभवित्वान् । नच तयोर्निमित्तत्वेनैव जनकत्वं ननु समवायिकारणतयाऽसमवायिकारणतया वेति वाच्यम् । आत्मनिष्ठसंयोगविभागहेतोरदृष्टस्य कार्यैकार्थसमवायिनोऽसमवायिकारणलक्षणोपपत्तेः, समवायित्वासमवायित्वकारणभेदस्याद्याप्यसिद्धेश्च ।

दत्तं व्यतिरेकानङ्गीकारश्च प्रतिवादिन इत्याह—अन्यथेति । उक्तश्चायमर्थो गुणपदार्थपूर्वपक्षोपसहारसमये किरणावलीकारेणेत्याह—तथाचेति । यस्मान्न कर्मणो भेदकमस्ति तस्माद्गुणो वर श्रेष्ठ । कथं कर्मापि गुणस्तल्लक्षणयोगादिति हि तन्मतमित्यर्थः । तस्माद्वादिन सकाशादिति वार्थः । एतेन कर्मान्यत्वे सति सामान्यैकाश्रयो गुण इति सर्वदेवीयमपि लक्षणं प्रतिक्षिप्तम् । पृथक्त्वाद्याश्रयतया सामान्यैकाश्रयत्वस्यासिद्धेरिति । ननु गुणत्वजातिरेव नास्ति तद्व्यञ्जकप्रमाणयोरभावादिति तत्राह—नच व्यञ्जकेति । द्रव्यकर्मणोर्व्यवच्छेदाय संयोगविभागकार्यद्वयाजनकत्वमित्युक्तम् । द्रव्यं हि संयोगविभागयो समवायिकारणं भवति कर्मत्वसमवायिकारणं गुणस्तु न तथा । यद्यपि संयोगविभागयोरस्ति तज्जनकत्वं तथापि संयोगजनकत्वे सति विभागजनकत्वरूपोभयजनकत्वं न संयोगस्यास्ति । संयोगस्य संयोग प्रत्येवासमवायिकारणत्वात् । एवं विभागस्यापि विभागं प्रत्येव । अजनकत्वं च समवाय्यसमवायिकारणत्वरहितं तेनेश्वरेच्छादिसग्रह इति नाव्याप्त्यतिव्याप्ती इतिभावः । संयोग इति । संयोगो जातिमानित्युक्ते सत्तयार्थान्तरता तदर्थमवान्तरजातिमानिति कृतम् । तथाच संयोगत्वेनार्थान्तरता तदर्थं संयोगत्वातिरिक्तैत्युक्तम् । यासाववान्तरजातिस्तद्गुणत्वमिति तत्सिद्धिरिति भावः । गुणत्वजातेस्तद्व्यञ्जकस्य चान्योन्याश्रयदुष्टत्वाद्वगुणत्वजातियोगोपि गुणलक्षणं न भवेदिति श्लोकेन दूषयति—गुणत्वजातियोगोपीति । अन्योन्याश्रयं विशदयति—सिद्धेहीति । येन गुणत्वजातिर्नाद्रियते तेन सत्तापि जातिर्नाद्रियते एवेति तद्वर्भव्यञ्जकस्य तद्व्यञ्जजातेश्चासिद्धिरित्यर्थः । व्यञ्जकस्याव्यापकता चाह—अनिष्टवियोगेति । संयोगविभागद्वयाजनकत्वं तत्रासंभवीत्यर्थः । सत्तासामान्यमात्रं विवक्षित्वा अन्योन्याश्रयपरिहारमाशङ्क्य वायं ग्रन्थः । ननु तदुभयासमवायिकारणत्वसमवायिकारणत्वयोरभावो लक्षणं विवक्षितं अस्ति चाहृष्टस्यापि तदभाव निमित्तकारणत्वात्तस्येति तत्राह—नच तयोरिति । समवायिकारणप्रत्यासन्नमवधृतसामर्थ्यमसमवायिकारणम् । प्रत्यासत्तिश्च द्विविधा लघ्वी बृहती च उत्पत्त्येन कार्येण सहैकार्थे कारणे स्वस्य यः समवाय सा लघ्वी प्रत्यासत्तिः यथा तन्नुसंयोगस्य तत्कार्यस्य पटस्य चैकतन्नुसमवायः, तत्कारणेन सहैकार्थे समवायो बृहती यथा पटगतशौक्यासमवायिकारणस्य तन्नुसौक्यस्य तत्कारणेन पटेन सहैकत्र तन्तौ समवायः तदत्र संयोगं प्रति विभागं प्रति च समवायिकारणे आत्मनि संयोगेन सह वर्तमानस्यादृष्टस्यास्ति लघ्वी प्रत्यासत्तिरित्यसमवायिकारणं भवत्येवादृष्टमित्यर्थः । किंच यस्य द्रव्यगुणादिभेदमात्रमेवाद्याप्यसिद्धं तस्य समवाय्यसमवायिकारणविभागोपि न सिद्ध इत्याह—समवायित्वेति ।

नापि तत्र प्रमाणम् । जातिमत्त्वहेतोरसिद्धेः । कर्मत्वादेरसिद्धौ दृष्टान्तस्य साध्यवि-
कलत्वात् गुणत्वजातेरसिद्धौ संयोगाजन्यसंयोगासमवायिकारणवृत्तिसंयोगासमानाधिकर-
णजातिमान्विभागाजन्यविभागासमवायिकारणावृत्तिविभागासमानाधिकरणजातिमान्गुण
इत्येवमादीनि जातिपुरस्कारप्रवृत्तानि गुणलक्षणानि निरस्तानि ।

तथा, कर्मलक्षणमपि दुर्लक्ष्यम् । न तावत्संयोगविभागयोरनपेक्षकारणं कर्मेति । यतः—
'यथाश्रुतेऽसंभवित्वान्निरुक्तेरप्ययुक्तिः । नानपेक्षतया हेतुः कर्म योगविभागयोः' ॥ ८ ॥

एवं व्यञ्जकं दूषयित्वा नुमानं दूषयति—**नापीति** । वक्ष्यमाणसामान्यमात्रखण्डनेन सत्ताकर्मत्वजात्यो-
रप्यसिद्धिरिति भावः । एतेन रूपाद्यो रूपत्वाद्यतिरिक्तावान्तरजातिमन्त सामान्यवत्त्वात्कर्मवदिति लीलाव-
तीकारानुमानमपि निरस्तम् । गुण कर्मव्यावृत्तजातिमान्कार्यत्वात्तुरगवदिति सर्वदेवस्तदपि द्रव्यत्वजात्यन-
ङ्गीकारेण परिहृतम् । संयोगित्वाद्युपाधितत्वाच्च प्रध्वंमेनानैकान्तं च रूपत्वादिनार्थान्तरत्वाच्चेति, यानि
शिवादित्यमिश्रेण गुणत्वजातिगर्भाणि गुणलक्षणानि विवक्षितानि तान्यप्येकप्रहारेण परिहरति—**गुणत्व-
जातेरित्यादिना** । जातिमान्गुण इत्युक्ते द्रव्येतिव्याप्तिस्तदर्थं संयोगासमानाधिकरणेत्युक्तम् । एवं सति
कर्मव्यतिव्याप्तिस्तदर्थं संयोगासमवायिकारणावृत्तीत्युक्तम् । एवं च सति संयोगेऽव्याप्तिस्तस्य संयोगासमवा-
यिकारणत्वेन तदवृत्तिजातिमत्त्वस्यासम्भवात् तत उक्तं संयोगाजन्येति संयोगाजन्यो य संयोगस्तं
प्रत्यसमवायिकारणं यत्तदवृत्तिजातिमानित्यर्थः । एतच्च संयोगस्याप्यस्त्येव तस्य संयोगजन्यसंयोगासमवा-
यिकारणत्वेपि संयोगाजन्यसंयोगं प्रत्यसमवायिकारणत्वाभावात्संयोगाजन्यसंयोगासमवायिकारणावृत्तिजाति-
मत्त्वसम्भवादतो नाव्याप्तिरिति भावः । द्वितीयेपि लक्षणे विभागविशेषेऽव्याप्तिपरिहाराय विभागाजन्येति
विशेषणम् । शेषं पूर्ववत् । आदिग्रहणेनापक्षेपणावृत्तिसंयोगासमानाधिकरणसत्तासाक्षाद्व्याप्यजातिमानित्यादि
संगृह्यते । यत्तु तेन रूपाद्यन्यतमत्वं वा तच्च तदन्यान्यत्वमिति रीत्या सर्वत्र लक्षणनिर्वचनं कृतं तदप्यनन्त-
रोक्तान्योन्याश्रयग्रस्तम् । रूपादिज्ञानं तदन्यत्वज्ञानं तदन्यत्वज्ञाने च रूपादिज्ञानमिति । किंच रूपादिविशिष्टा-
न्योन्याभावो वा तदुपलक्षितान्योन्याभावो वा लक्षणोपयोगी । आद्ये कर्मादीनां रूपादिमत्त्वं रूपादीनामपि
कर्मादिमत्त्वं स्यात् । अन्योन्याभावद्वयं प्रति वर्गद्वयस्य विशेषणत्वात् । द्वितीयेप्युपलक्षितत्वं विशेषणमुपल-
क्षणं वा । द्वितीयेऽनवस्था । प्रथमे परपरयोभयोरप्युभयवत्त्वं स्यात् । अन्योन्याभावात्यन्ताभावयोश्च प्रागेव
प्रत्युक्तं निर्वचनं प्रत्याख्यास्यते च । यद्वादीन्द्रेण तदुभयान्यतरत्वं नामैकान्योन्याभाववत्त्वे सति इतरा-
न्योन्याभाववत्त्वानधिकरणत्वमिति निर्वचनं कृतमेतदन्योन्याभावानित्यत्वान्यतराधिकरणं शब्दत्वात्यन्ताभा-
वानित्यत्वान्यतराधिकरणमित्यादिषु तदप्ययुक्तम् । तथा सति हि रूपाद्यन्यतमत्त्वं नाम रूपाद्योन्याभावाधि-
करणत्वे सति रसादित्रयोविशेष्योन्याभावाधिकरणत्वरहितत्वमिति लक्षणार्थं स्यात् । तथाच सत्यन्योन्या-
भावद्वयानधिकरणत्वं वा एकैकान्योन्याभावानधिकरणत्वं वा लक्षणं विवक्ष्यते उभयथाप्यनुपपत्तिः ।
उभयान्योन्याभावानधिकरणत्वस्याव्याप्ते । नहि रूपे रसान्योन्याभावो नास्तीति शक्यं वक्तुं नापि रूपाद्यो-
न्याभावो रसादौ नास्तीति । एकैकान्योन्याभावानधिकरणत्वपक्षे रूपादिप्रतियोगिकाभावविशेषविवक्षाया रसा-
दिष्वव्याप्तिस्तदवस्था । अनियतविवक्षाया तु अनुगतलक्षणक्षय इति । 'ततो वादीन्द्र दर्पस्ते तदन्यतरतादिषु ।
अखण्डतनिरुक्त्युत्थं पण्डितं मन्य खण्डितं ॥'

क्रमप्राप्त कर्मलक्षणं खण्डयति—**तथा कर्मलक्षणमपीति** । श्रीधराचार्याभिप्रेतं लक्षणं तावदूपयति
—**न तावदिति** । अनपेक्षपदेन द्रव्यव्यावृत्तिः । संयोगविभागद्वयग्रहणेन संयोगविभागव्यावृत्तिस्तयोत्स-
योगजनकत्वे सति विभागाजनकत्वात् । तस्य चेहेष्टत्वादित्यर्थः । **योगविभागयोः** संयोगविभागयोरनपेक्ष-
तया यो हेतुः तत्कर्मेति न लक्षणं कुत यथाश्रुतेऽसंभवित्वात् । स्वातिरिक्ते कस्मिंश्चिदप्यनपेक्षाया अस-
म्भवित्वात् । तथा निरुक्तेरपि स्वात्पत्त्यनन्तरमुत्पद्यमानानपेक्षेत्यादिरूपाया अययुक्तिः इति श्लोकयोजना ।

नानपेक्षतया संयोगविभागहेतुत्वं कर्मणः । समवायिकारणेश्वरेच्छादेशकालादृष्टापेक्षणात् । अथैवं निरुच्यते पश्चाद्भावि निमित्तं नापेक्षते कर्म तेन चेश्वरेच्छासमवायिकारणादयो व्यावर्त्यन्ते तेषां पूर्वभावितया पश्चाद्भावित्वाभावादिति । मैवम् । उत्तरसंयोगे कर्तव्ये पश्चाद्भाविन्याः पूर्वसंयोगनिवृत्तेरपेक्ष्यमाणत्वात् । पश्चाद्भाविवारूपं निमित्तं नापेक्षत इति चेन्न । पूर्वसंयोगनिवृत्तिक्षणस्य भावस्यैव पश्चाद्भाविनोप्यपेक्ष्यमाणत्वात् । यदनन्तरं संयोगविभागयोरुत्पत्तिस्तत्कर्मैति च कर्मलक्षणे तत्सामग्र्यामपि तत्संभवादितिव्याप्तिः । नच कर्मैव सामग्री । तथा सति विभागोत्पत्तिसमसमयमेव पूर्वसंयोगनिवृत्तेरुत्तरसंयोगस्य चोत्पत्तिप्रसङ्गात्, सत्यां सामग्र्यां कार्ये विलम्बायोगात् ।

अस्तु तर्हि संयोगविभागयोरसमवायिकारणं कर्मैति लक्षणम् । नच संयोगविभागयोरतिव्याप्तिः, तयोरेकैकारणत्वात्, अत्र चोभयकारणत्वस्य विवक्षितत्वादिति चेन्मैवम् । कर्मविशेषे लक्षणस्याव्याप्तेः । तथाहि । यदा पटारम्भकावयवतन्त्वादिनिष्ठेन कर्म-

श्लोकं विवृणोति—**नानपेक्षतयेति** । द्वितीयं पादं शङ्कापूर्वकं विवृणोति—**अथैवमित्यादिना** । व्यावर्त्यन्ते अनपेक्षात इति शेषः । कर्मत्वादिति वा तेषां पश्चाद्भाविकर्मपेक्षितत्वात् । दूषयति—**मैवमुत्तरेति** । एषा हि परिपाटी वैशेषिकाणां 'मुत्पन्नमात्रात्कर्मणः स्वाश्रये पूर्वसंयुक्ताद्विभागो जायते ततः पूर्वसंयोगनाशस्ततः उत्तरसंयोगोत्पत्तिरिति' । तत्रोत्तरसंयोगोत्पत्तौ पूर्वसंयोगनाशं पश्चाद्भाविनमपेक्षते कर्मैत्यसिद्धिलक्षणस्येत्यर्थः । ननु भावरूपं पश्चाद्भाविनं नापेक्षत इत्यनपेक्षाशब्दार्थो विवक्षितस्ततो नासम्भव इति शङ्कित्वा परिहरति—**न पूर्वसंयोगेति** । यस्मिन्क्षणे पूर्वसंयोगनाशः स कर्मणः पश्चाद्भावी औपाधिकस्योत्पाद्यत्वाद्भाव्यत्वात्तदपेक्षत्वात्कर्मणस्तदवस्थ एव पूर्वदोष इत्यर्थः । स्यादेतद्यदनन्तरं संयोगविभागयोरुत्पत्तिस्तत्कर्मैति लक्षणम्, नचेश्वरेच्छादिषु प्रसक्तितेः सत्त्वपि यावत्कर्मोत्पत्त्यनुपपत्तेः । नाप्यनपेक्षाक्षिप्तक्षुद्रोपद्रवावसर इति तत्राह—**यदनन्तरमिति** । ननु नात्र कर्मातिरिक्तसामग्र्यस्ति यत्रातिव्याप्तिरुच्येतेति तत्राह—**नच कर्मैवेत्यादिना** । यदि हि कर्ममात्रं सामग्री तदासति भवत्येवेति नियमात् विभागोत्पत्तिसमसमयमेव पूर्वसंयोगनाशोत्तरसंयोगोत्पत्तौ स्याता नचैवमिष्यते युज्यते वा पूर्वसंयोगस्य विभागव्यतिरेकेण नाशकाभावात्, आश्रयस्य चानष्टत्वादनिवृत्ते च पूर्वसंयोगे नोत्तरसंयोगोत्पत्तिः । अतः पृथगेव सामग्री तथाचातिव्याप्तिरिति भावः । पूर्वसंयोगनाशस्य च समसमयत्वापादनं पूर्वभावित्वस्योपलक्षणम् । तद्यतिरेकेणोत्तरसंयोगानुपपत्तेः । वादीन्द्रः प्राह—'विभागकुर्वद्रूपत्वापरपर्यायविभागजननशीलत्वस्य धर्मविशेषस्यानपेक्षकारणत्वशब्दार्थत्वात् तस्य पदार्थान्तरव्यावृत्तस्य कारणमात्रविभागकारणाकारणविभागजनकविभागकारणकर्मनिष्ठस्यैतद्विभागानपेक्षकारणम् । इदं विभागानपेक्षकारणमित्यनुभवसिद्धत्वादिति तदसत् । न खलु त्वत्कुतर्कानुपपत्तवुद्धेरेवमनुभवोक्तिः । विभागजनकत्वं च विभागस्य विभजयिष्यते । यातु महाविद्यानपेक्षकारणत्वसाधनायोक्ता सा तदीयविडम्बनोक्तदोषविडम्बितेति नादरणीया ।

तदेवमेकद्रव्यमुणं संयोगविभागानपेक्षकारणमिति सौत्रं लक्षणं दूषयित्वा लीलावतीलक्षणमुद्गावयति—**अस्तुतर्हीति** । निमित्तकारणेश्वरेच्छादौ समवायिकारणद्रव्ये चातिव्याप्तिपरिहारायसमवायिकारणग्रहणम् । ननु तथापि संयोगविभागयोरतिव्याप्तिस्तयोरपि यथायथं तयोरसमवायिकारणत्वादिति तत्राह—**नचेति** । उभयं प्रत्यक्समवायिकारणत्वं विवक्षितं ततो नातिव्याप्तिरित्यर्थः । उक्तं च लीलावतीकारेण द्वित्वे तात्पर्यं तेन संयोगविभागव्युदास इति । मिलितसंयोगविभागजनकत्वरूपकर्मलक्षणस्याव्याप्तिमाह—**मैवमित्यादिना** । कर्मविशेषमेव दर्शयन्नव्याप्तिं विवृणोति—**तथाहि यदेति** । अत्र तावदवयवकर्मानन्तरमवयविन्यपि कर्म संभवतीति वक्ष्यन्ते तथासत्यवयवभूततन्तुकर्मणा अवयविभूतपटारम्भकसंयोगविरोधिविभागोत्प-

णावयवान्तराद्विभागोद्भवस्तस्मिन्समये तदारब्धावयविनिष्ठं कर्म यदि भवति तदावयवानां विभागादवयव्यारम्भकसंयोगनिवृत्तिसमयेऽवयविकर्मणा तस्मिन्नेवावयविनि यतः कुतश्चिद्विभागो जायते तत्रसमवायिकारणावयवसंयोगनिवृत्त्यनन्तरमवयविनो नाशान्नोत्तरसंयोगोत्पत्तिः । संयोगिनोऽवयविन एवाभावान् । तत्रावयविनिष्ठस्य कर्मण उभयासमवायिकारणत्वाभावादव्याप्तिः कथं न भवेत् । नचावयवकर्मानन्तरमवयविनि कर्म न जायत इति वाच्यम् । हस्तचलनानन्तरं देवदत्तचलनस्य शाखाचलनानन्तरं शाखिचलनस्य दृष्टत्वात् ।

नचोत्तरसंयोगानुत्पत्तौ कर्मणोऽनुपयोग्यत्वप्रसङ्गः । विभागजननेनापि पुरुषार्थत्वोपपत्तेः । नहि यावदशेषप्रयोजनसिद्धिस्तावद्वस्तुनोऽवस्थाननियमः । बीजादेरङ्कुराद्यजननेपि नाशानुपलम्भात् । अस्तु बोभयकारणत्वं कर्मणस्तथाप्यसमवायिकारणता निरूपणीया । समवायिकारणप्रत्यासन्नमवधृतसामर्थ्यं तदसमवायिकारणमिति चेत्केयं प्रत्यासत्तिः कार्यैकार्थसमवायः कारणैकार्थसमवायश्चेति चेन्न । विकल्पासहत्वात् । तथाहि । उभयविधप्रत्यासन्नता असमवायिकारणशब्देन कर्मलक्षणेपि विवक्षिता उतान्यतरा । नाद्यः । अनङ्गीकारादसंभवाच्च । नह्यन्त्यावयविनिष्ठस्य कर्मणः संयोगविभागसमवायिकारणेनान्त्यावयविना सहैकस्मिन्नर्थे समवायः संभवति । कर्मण एकद्रव्यमात्रवृत्तित्वान् । न द्वितीयः । कारणैकार्थसमवायस्यानङ्गीकारादेव । कार्यैकार्थसमवायस्य तु लक्षणान्तर्भावेऽतिव्याप्तेः यन्निष्ठौ संयोगविभागौ तन्निष्ठतया संयोगविभागयोर्यत्कारणं तत्कर्मेति हि तथालक्षणार्थः

तिसमयेऽवयवगतकर्मणापि विभाग शक्योत्पादः । अवयविनोऽविनष्टत्वात् । उत्तरसंयोगोत्पत्तिस्तु असंभवविनी । तदानीमाश्रयस्यावयविन पटस्यासमवायिकारणभूतावयवसंयोगनाशान्नष्टत्वादसमवायिनाशात्समवायिनाशाद्वाऽवयविनाश इति सिद्धतात्, ततश्च तस्मिन्कर्मण्यव्याप्तिरुभयजनकत्वलक्षणस्येत्यर्थः । अवयविनो नाशादित्यस्यैव विवरणं । संयोगिनोऽवयविन इति—यत्तद्वक्ष्यत इत्युक्तं तदाह—**नचावयवेति** । अवयवावयविनोर्युगपत्कर्मात्पत्तावप्येषा समानैव । उत्तरसंयोगोत्पत्त्यनुपपत्तेस्तत्रापि तुल्यत्वात् ।

ननु नास्ति तथाविधं कर्म यद्विभागमात्रमेवोत्पाद्योपरमेत्, स्वप्रयोजनासमर्थस्य सृष्टिवैयर्थ्यात्, यथाहुर्विभागप्रकरणे प्रशस्तपादाः 'उत्तरसंयोगानुत्पत्तावनुपयोग्यत्वप्रसङ्ग' इति तत्राह—**नचोत्तरेति** । यदि मन्येत विभागमात्रजननेऽपि समस्तप्रयोजनानिष्पत्तेर्वैयर्थ्यमेवान्यत्र कर्मणस्तथैव दृष्टत्वादिति तत्राह—**नहि यावदिति** । सप्रत्यतिव्याप्तिं दर्शयितुमसमवायिकारणतामत्रत्या निष्कर्षेति—**अस्तुवेत्यादिना** । ननु किमत्र निरूपणीयमस्ति प्रसिद्धं तल्लक्षणमित्याह । पूर्ववादी—**समवायिकारणेति** । कार्येणोत्पद्यमानेन पदादिना सहैकस्मिन्नर्थे यः समवायस्तन्तुसंयोगादे सा तावदेका लब्ध्यभिधाना प्रत्यासत्तिः । तथोत्पद्यमानपटशौक्ल्यादेर्यत्समवायिकारणं पटादि तेन सहैकार्थं तन्त्वादौ तन्तुशौक्यादेर्यत् समवायः स बृहत्समवायिना इति द्वितीया प्रत्यासत्तिरित्यर्थः । कारणैकार्थसमवायाभावं दर्शयन्नुभयाभावं विवृणोति—**नह्यन्त्यावयविनिष्ठस्येति** । पटगतसंयोगकारणं कर्म पट एव प्रवर्तते न तन्तुषु तेन न कारणैकार्थसमवाय इत्यर्थः । अन्यतरपक्षे बृहती दूषयित्वा लब्ध्यामतिव्याप्तिमाह—**कार्येति** । अदृष्टेऽतिव्याप्तिं दर्शयितुं लक्षणं निष्पन्नं दर्शयति—**यन्निष्ठाविति** । कार्यैकार्थसमवायमदृष्टे स्रपादयति—**कार्येणेति** । नच प्रत्यासत्तावपि कर्मण चि. २४

संपद्येत तथाचात्मनसोः संयोगविभागजनकादृष्टेऽतिव्याप्तिः कथं न स्यात्कार्येण संयोगविभागाख्येन सहतज्जनकादृष्टस्यात्मन्येकस्मिन्नर्थे समवायात् । गुणान्यत्वे सतीति विशेषणाद्यमदोष इति चेन्न । तदोभयकारणताभिधानस्य वैयर्थ्यापातान्, गुणान्यत्वपदेनैव विभागजनकविभागस्य संयोगजनकसंयोगस्य च व्यवच्छेदात् । एवं विभागाजन्यविभागासमवायिकारणं कर्मेत्यपि लक्षणं निरस्तम् । असमवायिकारणताया दुर्निरूपत्वात् । विभागाजन्यत्वविशेषणं च व्यर्थम् । व्यवच्छेद्याभावात् । नच विभागजविभागव्यवच्छेदार्थमिति वाच्यम् । कर्मण एव तदुत्पत्तौ विभागजविभागस्यैवाप्रामाणिकत्वात् ।

ननु यत्तावदिह वंशावयवेषु प्रवर्तमानं कर्म तद्व्यारम्भकसंयोगविरोधिनं विभागमुत्पादयत्तदैव नाकाशादिभिः सह विभागमुत्पादयति यस्मादाकाशादिविभागजनकत्वं

एवासमवायिकारणता नादृष्ट्येति निर्वचनीयम् । तल्लक्षणस्यातिव्याप्यापातात्, उभयोरपि तदुपपत्तेश्च । नचादृष्टचरकल्पना । उभयासमवायिकारणत्ववदुपपत्ते । नच कल्पनागौरवम् । अवयवनिष्ठरूपादीनामनेकेषामप्यवयविरूपादिकं प्रत्यक्षसमवायिकारणत्वकल्पनावदुपपत्ते । नच विभिन्नजातीयादेककार्यानुत्पाद । बहुत्वप्रचयाभ्या महत्वस्येवोत्पत्तिसमवात्, उभयासमवायिकारणत्वस्य वस्त्वन्तरेऽनुपलब्धचरस्यापि कर्मणि कल्पनावत्संयोगविभागविशेषेऽदृष्टस्य च प्रत्यासत्तेरसमवायिकारणत्वकल्पनाया दोषाभावात् । नचादृष्टस्यासमवायिकारणत्वे सर्वनिमित्तकारणत्वानुपपत्तिः । कालादीनां स्वगुणसमवायिकारणानामपि निमित्ततावदुपपत्तेरिति । अतिव्याप्तिमदृष्टे परिहरति पूर्ववादी—**गुणान्यत्वे सतीति** । गुणत्वानधिकरणत्वे सतीत्यर्थः । दूषयति—**न तदेति** । एकैकजनकसंयोगविभागव्यवच्छेदाय हि उभयकारणता कर्मलक्षणे विवक्षिता । तौ च गुणान्यत्वग्रहणेनैव निरस्तौ ततश्चोभयकारणत्वविशेषणं व्यर्थं स्यादतो द्वित्वे तात्पर्यमिति केवलं लीलावत्या विलपितमेव भवेदिति भावः । गुणान्यत्व चासिद्धम् । अद्यापि कर्मलक्षणा निर्णयात् । गुणलक्षणानां च परागुच्छिन्नत्वादिति वा भावः । उक्तं लक्षणमन्यत्राप्यतिदिशति—**एवमिति** । अतिदिश्यमानमेव विवृणोति—**असमवायिकारणताया इति** । **दुर्निरूपत्वादिति** । यथाऽदृष्टेन सम्भवति तथा निरूपयितुमशक्यत्वात्तत्तद्वादृष्टेऽतिव्याप्तिस्तदवस्थागुणान्यत्वविशेषणे च पूर्ववद्वैयर्थ्यमित्यर्थः । व्यर्थविशेषणात्वं चाह—**विभागाजन्येति** । ननु त्रिविधो विभाग अन्यतरकर्मज उभयकर्मजो विभागजश्चेति, तत्राय सक्रियेण नि क्रियस्य, यथा स्थाणो ज्येनेन । द्वितीयस्तु सक्रिययोः, यथामल्लयोर्मैपयोर्वा । तृतीयस्तु कारणमात्रविभागजः कारणाकारणविभागजश्चेति । तत्राद्यो य खलु पटावयवस्य स्वगतकर्मणा पटावयवान्तराद्विभागो जायते स तु विभाग पूर्वतनारम्भकसंयोगनाशानन्तरकालीनावयविनाशसहकृत स्वाश्रयस्याकाशदेशाद्विभागमारभते । द्वितीयस्तु हस्तावयवाकाशयोर्विभागाद्विभागाद्विभाग इति एवंच सति यदि विभागासमवायिकारणं कर्मेत्येवोच्यते तदाविभागेतिव्याप्तिः स्यात्तदर्थं विभागाजन्येति विशेषणमिति तत्राह—**नच विभागजेति** । अत्र च विभागजशब्दस्तत्कारणविभागोपलक्षणार्थः । हेतुमाह—**कर्मण एवेति** । न कचिदपि विभागो विभागाजन्यः किंतु वंशदलविभागजनकादेव कर्मणो वंशदलादेराकाशस्य च विभाग इत्यर्थः ।

अत्र वंशदलाकाशविभागस्य कर्मजन्यत्वं दूषयन्विभागजन्यत्वं वैशेषिक परिशेषयति—**ननु यत्तावदित्यादिना** । तत्रावयवगतं कर्म किमवयवान्तराद्विभागजननसमय एवाकाशादिभ्यो विभागमारभते समयान्तरे वा । द्वितीये तु प्रथमपक्षदूषणमेवातिदेश्यति । प्रथमं दूषयति—**तदैव नेति** । द्रव्यस्य वंशावयविनः आरम्भको यो वंशावयवयोः संयोगस्तद्विरोधिनं विभागमुत्पादयतीति योजना । ननु किमिति नोत्पादयतीत्याशङ्क्य तत्रानुमानं बाधकं दर्शयितुं व्याप्तिं तावत्सपादयति—**यस्मादिति** । **आकाशादिविभागेति**—द्रव्यानारम्भकसंयोगविरोधिविभागोपलक्षणम् । तथाच किरणवलीकार —‘यत्कर्म द्रव्यानारम्भकस-

कर्मणो द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागानारम्भकत्वेन व्याप्तमुपलभ्यते नलिनदलेषु । नहि तत्र द्रव्यविनाशः प्रत्यक्षाधिगतः । तदेवेदं नलिनमिति प्रत्यभिज्ञानात् । नाप्यनुमानतः । दध्यादिष्विव व्यूहान्तरस्य तदुन्नायकस्य लिङ्गस्यादर्शनात् । तथाच पद्मपत्रस्य पत्रान्तराद्विभाग उपलभ्यमानो न द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधी किंतु स्पर्शवद्रव्यसंयोगजातकर्मण उत्पन्नो यः संयोगः सत्येव द्रव्ये द्रव्यारम्भके च संयोगे पद्मपत्रयोर्वर्तते तमेव निवर्तयति यथाङ्गुल्योर्विभागः प्रयत्नोत्पादितं संयोगमेव निवर्तयति नतु द्रव्यारम्भकसंयोगं, तस्मादङ्गुलिविभागवत्पद्मपत्रक्रियाजनितो विभागो न द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधीति व्याप्तिनिश्चये प्रयोगः, विवादाध्यासिता वंशदलक्रिया नाकाशादिविभागारम्भिका द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागारम्भकत्वाद्यत्रैवं न तदेवं यथापद्मपत्रक्रिया । एककर्महेतुकत्वे च विभागयोर्द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधित्वाविरोधित्ववैलक्षण्यमनुपपन्नं कारणावैचित्र्ये कार्यवैचित्र्यस्याकस्मिकत्वप्रसङ्गादिति विपक्षे बाधकस्तर्कः तदेवमवयवक्रियावयवविभागकाले पश्चाद्वा नाकाशादिविभागमारभते तस्मादाकाशवंशावयवयोर्विभागो न क्रियाजः । नचासमवायिकारणमन्तरेण कार्योत्पत्तिः शक्याभ्युपगन्तुम् । नचान्तरेण क्रियामन्यदसमवायिकारणमवयवविभागातिरेकि शक्यमुत्पादयितुम् । अवयवविभागस्त्ववशिष्यते

योगविरोधिनं विभागमारभते न तद्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिनं यत्त्वेवं न तत्तद्विरोधिनमिति विकसत्कमलकुञ्जलादौ तथा तद्दर्शनाच्चैतदवधारणीयमिति । अथ कथं कमलकुञ्जलदलविदलेनेपि विभागस्य द्रव्यानारम्भकसंयोगविरोधित्वं न पुनरारम्भकसंयोगविरोधित्वमिति तत्राह—**नहि तत्रेति** । यदि हि द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधी स्यात्ततो विकसनसमये नलिनावयवी नश्येत् न चैतत्प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वावसातुं शक्यते अतो न तदारम्भकसंयोगविरोधी स विभाग इत्यर्थः । व्यूह आकारः । कार्यद्रव्यान्तरमिति यावत् । कस्य तर्हि विरोधीत्यत आह—**किंत्विति** । स्पर्शवद्रव्यं चन्द्रातपादि । द्रव्यारम्भकसंयोगे च सत्येव यः संयोगस्पर्शवद्रव्यसंयोगजातकर्मण उत्पन्न पद्मदलयोर्वर्तते तमेव निवर्तयतीत्यर्थः । अत्र च सप्रतिपन्नमुदाहरणमाह—**यथाङ्गुल्योरिति** । तदेवं कमलकलिकाविकासकर्मणि समर्थिता व्यतिरेकव्याप्तिमुपसह्य प्रयोगमारचयति—**विवादाध्यासितेति** । नाकाशादीति । न द्रव्यानारम्भकसंयोगविरोधिविभागारम्भकेत्यर्थः । पद्मपत्रकर्मणि विभागारम्भके व्यभिचारवारणाय द्रव्यारम्भकेति विशेषणम्—**यन्नैवमिति** । यद्रव्यानारम्भकसंयोगविरोधिविभागजनकं न तद्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागोत्पादकमित्यर्थः । विपक्षे बाधकमाह—**एककर्ममिति** । उक्तं च किरणावल्या—‘कार्यविपर्ययाद्भवितव्यं कारणविरोधेन नहि कार्यं विरुद्धमविरुद्धजातीयं कारणमिति सम्भवती’ति । उपपादितं कर्मानारभ्यन्वमुपसहरति—**तदेवमिति** । यत्तद्वोचामद्वितीयेतिऽदेक्षतीति तदाह—**पश्चाद्वेति** । तत्रापि समानोऽयमविनाभाव इति भावः । तथापि विभागजन्यत्वं कथमित्याशङ्क्य तत्र परिशेषं दर्शयिष्यन्सामान्यतो दृष्टानुमाने प्राप्ते हि परिशेषावसर इति तदाह—**नचासमवायिकारणमिति** । प्रसक्तप्रतिषेधे सत्यन्यत्राप्रसङ्गाच्छिष्यमाणे सप्रत्ययः परिशेष इति परिशेषविद् । तदिह प्रसक्तं कर्म प्रतिपिद्धमन्यत्राप्रसङ्गमाह—**नचान्तरेणेति** । उभयं हि प्रत्यासन्नतयाऽऽसमवायिकारणं सम्भवति एकं वंशदलकर्म अपरं तु कर्मोत्पन्नस्तद्वतो विभागस्तत्रकर्मण ईदृशी दशा ततो विभागातिरेकि न सम्भवतीत्यर्थः । अन्यत्राप्रसङ्गमुक्त्वा शिष्यमाणे सप्रत्ययमाह—**अवयवेति** । अत्र

स च तस्य प्रत्यासन्न एकार्थसमवायादिति सिद्धो विभागजो विभागस्तद्व्यावृत्त्यर्थं च विभागजन्यत्वविशेषणमिति चेत् । 'मैवं व्याप्तेरसिद्धत्वादनध्यवसितत्वतः । यौगपद्यप्रतीतेश्च प्रत्यक्षत्वमुपेयुषाम् ॥' न तावदाकाशादिविभागजनकस्य कर्मणो द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागानुत्पादकत्वं कचित्प्रत्यक्षसिद्धम् । आकाशादिविभागस्यातीन्द्रियस्य क्रियान्वयव्यतिरेकयोः प्रत्यक्षतोधिगन्तुमशक्यत्वाद्वाप्त्यसिद्धेः । अनध्यवसितश्चायं हेतुः आकाशादिविभागानारम्भके रूपादौ सत्यपि सपक्षे ततो व्यावृत्तत्वात् । अपिच क्रमकल्पनेयमनुपपन्ना । आकाशादिविभागप्रत्यक्षवादिनां विभागद्वयस्यापि यौगपद्यप्रतीतेः ।

नच शतपत्रपत्रशतव्यतिभेदानुभववद्विभ्रमोयमनुभवः । बाधकाभावात् । नचोपन्यस्तानुमानं बाधकम् । तस्यानध्यवसितत्वेनापहस्तित्वान् । विवादाध्यासितं विभागजन्यगुणाधिकरणं नित्यद्रव्यत्वादासवत् । 'अस्ति ह्यात्मनो विभागविषयं प्रत्यक्षज्ञानं तत्कर्मकारकजन्यं तेन न साध्यविकलो दृष्टान्त' इति मानमनोहरकारोक्तमनुमानं बाध-

चासमवायिकारणलक्षणं सपादयति—**सच तस्येति** । उपसहरति—**सिद्ध इति** । परनिष्पादितपरिश्रमस्य प्रकृतोपयोगमाह—**तद्व्यावृत्त्यर्थं चेति** । तत्रानुमानं तावदूपयति । कर्मजत्वसमवेन परिशेषं विघटयितुं—**मैवमित्यादिना श्लोकेन** । अत्र किं व्यतिरेकभूमावाकाशादिविभागारम्भकत्वस्य द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागानारम्भकत्वोपाधौ व्याप्तिरुच्यते किंवा द्रव्यानारम्भकसंयोगविरोधिविभागारम्भकत्वस्य द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागानारम्भकत्वोपाधौ । आद्ये ग्राह—**व्याप्तेरसिद्धत्वादिति** । आकाशादिविभागस्याप्रत्यक्षत्वेन तज्जनकत्वमपि कर्मणो प्रत्यक्षमतो न प्रत्यक्षत्वसिद्धिर्व्याप्तेरित्यर्थः । द्वितीये दूषणमाह—**अनध्यवसितत्वत इति** । आकाशादिविभागानारम्भकत्वमस्ति रूपादौ नच तत्र हेतुरस्तीत्यर्थः । किं च वंशदलयोर्विभागस्याकाशवंशदलविभागस्य च हेतुहेतुमत्वकल्पनापि अनुपपन्ना, आकाशप्रत्यक्षवादिनामुभयोरपि विभागयोः प्रत्यक्षेण यौगपद्यप्रतीतेरित्याह—**यौगपद्येति** । अथवाकाशप्रत्यक्षवादिमते व्याप्ति-सिद्धिमाशङ्क्येदमुक्तं योजना तु पूर्वैव । श्लोकं विवृणोति—**न तावदित्यादिना** । दिक्कालादिर्बु सर्वोत्पत्तिमन्निमित्तकारणतया उभयविधविभागजनकेषु व्यभिचारोपि द्रष्टव्यः । अनध्यवसितत्वत इत्येतद्विवृणोति—**अनध्यवसित इति** । अत्रचोक्तो विशेषो न प्रविस्मर्तव्यः । उपलक्षणं चैतत्सत्प्रतिपक्षस्यापि । तथाहि । विमतं कर्म आकाशादिदेशेन विभागमारभते आरम्भककर्मत्वात् संप्रतिपन्नवत्, विभागो वा कर्मजन्यः विभागत्वात्संप्रतिपन्नवत् इति शक्यं सत्प्रतिपक्षयितुम् । तेन च पदार्थतत्त्वनिर्णयोक्तदोषोपि परिहृतः । एतेन व्यभिचारानध्यवसितत्वनिवारणाय कर्मणा हेतुसाध्ययोर्विशेषणमपि निष्फलीकृतम् । नच द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागानारम्भकत्वमुपाधि, उभयविधविभागजनकेश्वरादौ साध्याव्याप्तेरिति उत्तरार्थं व्याचष्टे—**अपिचेति** ।

ननु पूर्वापरीभूतयोरपि विभागयोरतिसौष्ट्याद्यौगपद्यविभ्रमोयं यथातितीक्ष्णसूच्या कमलदलशतवेधे गुगपद्विद्धत्वाभिमान इति तत्राह—**नच शतपत्रेति** । शतपत्रं कमलम् । व्यतिभेदः वेधः । अपहस्तितत्वाद्धस्तपरिहारमात्रेण परास्तत्वात् । उपलक्षणं चैतद्यौगपद्यप्रत्यक्षबाधव्यभिचारसत्प्रतिपक्षत्वानाम् । विभागजन्यत्वेऽनुमानान्तरविरोधः शङ्कते—**विवादाध्यासितमिति** । आत्माकाशव्यतिरिक्तनित्यद्रव्याणि पक्षः । दृष्टान्ते साध्यं दर्शयति—**अस्ति ह्यात्मन इति** । विभागविषयं यत्प्रत्यक्षज्ञानं तद्विभागजन्यगुणे । एवमाकाशे शब्दो विभागजन्यगुणः । नच तान्यामेवार्थान्तरतापरमाण्वादेर्ज्ञानशब्दाधिकरणत्वाभावात्ततश्च योसौ

कमिति चेत् । मैवम् । वेदान्तिनं प्रति हेतोरसिद्धेः । तेनात्मव्यतिरिक्तनित्यानङ्गीकारात्, आत्मनो गुणानधिकरणत्वेन दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वाच्च । किञ्च नित्यविशेषणं व्यर्थम् । जीवाकाशव्यतिरिक्तस्य द्रव्यजातस्य विभागजन्यगुणाधिकरणतया विप्रतिपद्यमानस्य पक्षीकृततया पक्षव्यापकद्रव्यत्वहेतुमात्रेणैव साध्यसिद्धेर्नित्यपदव्यावर्त्याभावात् । अस्तु तर्हि द्रव्यत्वमात्रं हेतुरिति चेन्न । विभुत्वोपाध्युपहतत्वात् । नच दिक्कालेश्वरेषु पक्षैकदेशेषु साधनव्यापकता । पक्षीकृतपरमाण्वादिषु तदभावात् । किञ्च कर्मणो द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागजनकस्य नभोभागविभागाजनकत्वे द्रव्यारम्भकसंयोगजनकस्य तदजनकसंयोगजनकत्वमङ्गुल्याकाशसंयोगजनककर्मण इव न स्यात्, तथाच तन्तुद्रव्यसंयोगजनकात्कर्मणस्तन्त्वाकाशसंयोगो न स्यात् ।

नन्वङ्गुल्याकाशसंयोगाच्छरीराकाशसंयोगवत्तन्त्ववयवाकाशसंयोगादेव तन्त्वाकाशसंयोगोपपत्तेर्नायं दोष इति चेत्, एवं तर्हि व्यणुकजनकसंयोगासमवायिकारणात्परमाणुकर्मणः परमाण्वाकाशसंयोगो न भवेत् । नहि तत्रावयवसंयोगात्परमाण्वाकाशसंयोगः निरवयवत्वात् । अपिचैवं वंशदलावयवाकाशविभागादेव दलाकाशविभागोपपत्तेर्दलयोर्विभागस्याकाशविभागं प्रति हेतुता न स्यादिति दलयोर्विभागादाकाशविभागः स्वाभिमतो न सिद्ध्येत्, तस्मादसमवायिकारणापेक्षिणो वंशदलाकाशविभागस्य वंशदलक्रियैवासमवायिकारणमिति न पारिशेष्याद्विभागस्य विभागजनकत्वसिद्धिः । नच कर्मैकहेतुकत्वे

विभागजन्यो गुण परमाण्वादिनिष्ठ स विभागजन्यविभाग इत्यर्थः । ब्रह्माद्वैतवादिवेदान्तिमते परमाण्वादीना नित्यत्वमसिद्धमिति विशेषणासिद्ध्या हेतुं दूषयति—**मैवमिति** । दूषणान्तरमाह—**आत्मन इति** । व्यर्थविशेषणतया चासिद्धिमाह—**किञ्चेति** । अनित्यद्रव्यव्यावृत्त्यर्थं नित्यपदम् । अद्रव्यस्य द्रव्यपदेनैव व्यावृत्ते । नच तद्व्यावृत्त्यर्थं पक्षतुल्यत्वादतो वैयर्थ्यमित्यर्थः । आत्माकाशयोरुक्तगुणवत्त्वे विभुत्वमुपाधि । नच साधनव्यापकता, पक्षीकृतपरमाणुमनसोरुपाधेरभावादित्याह—**न विभुत्वेत्यादिना** । ननु कालो विभागजन्यगुणाधिकरणं द्रव्यत्वादात्मवदित्यत्र को दोष विशेषगुणवत्त्वोपाधिहतत्वं विहाय न किञ्चिदन्यत् । आभाससमानयोगक्षेमता चाह—**किञ्चेति** । विमतं कर्म न द्रव्यानारम्भकसंयोगजनकं द्रव्यारम्भकसंयोगजनकत्वात् न यदेवं न तदेवं यथाङ्गुल्याकाशसंयोगजनकं कर्मैत्यपि शक्यमनुमातुमिति खण्डलार्थः । भवत्वेवं किं नशिष्टमिति तत्र गूढाभिसन्धिस्तावदाह—**तथाचेति** । द्वितन्त्वारब्धपटारम्भको यस्तन्तुद्रव्यसंयोगस्तज्जनकात्कर्मणस्तन्त्वाकाशसंयोगस्य द्रव्यानारम्भकस्योत्पत्तिर्न स्यादित्यर्थः ।

अभिसन्धिमविद्वान् श्रीवल्लभ शङ्कते—**नन्विति** । अयमर्थः—यथा हि संयोगजसंयोगविशेषस्य शरीराकाशसंयोगस्य तदवयवाङ्गुल्याकाशसंयोगादेव जन्म न कर्मणः, तथा तन्त्वाकाशसंयोगोपि तदवयवाकाशसंयोगादेव भवेदिति कर्माजन्यत्वमिष्टमेवेति । अभिसन्धिसुद्धाटयन्परिहरति—**एवंतर्हीति** । अवश्यं हि निरवयवपरमाण्वाकाशसंयोगस्य तदवयवसंयोगजन्यत्वासमवात् व्यणुकारम्भकपरमाणुसंयोगजनकपरमाणुकर्मजनितत्व वक्तव्यं तदेव मम प्रतिबन्दीमूलमस्त्विति भावः । अनिष्टान्तरं चाह—**अपिचेति** । शक्यते हि तत्रापि वक्तुं न वंशदलयोर्विभागाद्वंशदलाकाशयोर्विभागः किन्तु वंशदलावयवाकाशयोर्विभागादिति तस्य च वृद्धिमिष्टवतो मूलमपि नष्टं स्यादिति भावः । तदेवं कर्मजन्यत्वसमवात्परिशेषासिद्धिसुपसहरति—**तस्मादिति** । यस्तु विपक्षे बाधकस्तर्क उक्तस्तं प्रशिथिलमूलयति—**नचेति** । यथा कर्मैकहेतुत्वेपि सयोः

विभागयोरुक्तवैलक्षण्यानुपपत्तिः । कर्मैकहेतुकयोः संयोगविभागयोरिव वैलक्षण्योपपत्तेः । तस्माद्विभागजविभागाभावात्तद्व्यावृत्त्यर्थं विभागाजन्यत्वविशेषणं कर्मलक्षणे व्यर्थम् । व्यञ्जकप्रमाणयोर्निरस्तत्वाच्च कर्मत्वजातेरभावे तद्योगित्वमपि लक्षणं परास्तम् ।

सामान्यस्य दुर्लक्ष्यत्वाच्च तद्विशिष्टानि लक्षणानि सर्वाण्यपि निरस्तानि वेदितव्यानि । तथाहि किमिदं सामान्यं किमनुवृत्तप्रत्ययकारणमुतानुवृत्तप्रत्ययप्रमाणकमथवानुवृत्तत्वमाहोस्विन्नित्येवे सत्यनुवृत्तत्वमथवा नित्यमेकमनेकसमवेतम् । तत्र ‘अतिव्याप्त्या निराकुर्यादाद्यं पक्षचतुष्टयम् । अनेकत्वानिरुक्तेश्च पक्षमन्यं प्रतिक्षिपेत् ॥ १० ॥’ न तावदाद्यः । सामग्र्या तदेकदेशेषु चातिव्याप्तेस्तेषामपि तत्प्रत्ययकारणत्वान् । नापि द्वितीयः । अनुवृत्तप्रत्ययस्य स्वकारणानुमापकतया कारणस्यापि तत्प्रमाणकत्वादतिव्याप्तेः । न तृतीयः । अनुवृत्तत्वस्य संयोगादिष्वपि भावात् । नापि चतुर्थः । नित्येष्वनेककार्यवृत्तिषु परमाणुषु व्यभिचारान् । नापि पञ्चमः । विकल्पासहत्वान् । तथाहि किमनेकत्वसंख्याविशिष्टेषु समवेतत्वमनेकसमवेतत्वमुताश्रयप्रतियोगिकान्योन्याभाववत्समवेतत्वमाहोस्वि-

गविभागयो परस्पर वैपम्यं तथेहापीत्यर्थं । एतेन कार्यविरोधात्कारणविरोधोन्नयनमपि किरणावलीयं निरस्तम् । विरुद्धयोरेव संयोगविभागयोरेककर्मजन्यत्वात्प्रासङ्गिकस्यास्य विचारस्य प्रकृतोपयोगमाह—**तस्मादिति** । ननु संख्याऽवृत्तिसंयोगासम्भनाधिकरणसत्तासाक्षाद्वाप्यजातिमदिति वा संयोगाजन्यसंयोगासमवायिकारणवृत्तिसंयोगत्वासमानाधिकरणजातिमद्वेत्यादीनि शिवादित्यमिश्रोक्तलक्षणानि भविष्यन्तीति तत्राह—**व्यञ्जकेति** । उक्तलक्षणानि खलु व्यञ्जकानि भवन्ति तानि च यथायथं दूषितानि, प्रमाणं च प्रत्यक्षं द्रव्यखण्डनावसरे दूषितम्, अन्यच्च न निरूप्यते अतस्तादृशी नास्ति जातिरित्यर्थः ।

किञ्च सामान्यमेव यदा दुर्लक्ष्यं तदा दुर्लक्ष्यतराणि तदवान्तरकर्मत्वादिसामान्यानि दुर्लक्ष्यतमानि च तद्गर्भलक्षणातीत्यभिसन्धाय सामान्यखण्डनं प्रस्तावयति—**सामान्यस्येति** । तत्र किञ्चनुवृत्तज्ञानं प्रति कारणं सामान्यं तज्ज्ञानेन प्रमीयमाणं वा अनुवृत्तं वा नित्यत्वे सत्यनुवृत्तं वा नित्यमेकमनेकसमवेतं वा इति विकल्प्य दूषयति—**तथाहीत्यादिना** । असमवेतस्यापि समवायवदनुवृत्तिसमवाय चतुर्थपञ्चमपौनरुक्त्यम् । तत्र तेषु मध्ये इत्युत्तरश्लोकस्योपकारः । पक्षचतुष्टयेऽप्यतिव्याप्तिं दर्शयन्पूर्वार्थं व्याचष्टे—**न तावदित्यादिना** । तदेकदेशा धर्मादयः । इदं चासाधारणसाधारणकारणविवक्षयोर्यथायथमुत्तरम् । नच विषयतया कारणमिति विशेषणीयम् । गौरिति विशिष्टव्यवहारे व्यक्तेरपि तथात्वापातात् । **नापि द्वितीय इति** । यथाऽनुवृत्तप्रत्ययः कारणतया सामान्यमनुमापयति, एवं सामग्री तदेकदेशाश्चेति तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थः । **न तृतीय इति** । अनेकवृत्तिर्ह्यनुवृत्तिः सा च संयोगविभागद्वित्वादिष्वप्यस्तीति तेष्वतिव्याप्तिरित्यर्थः । **अनेककार्यवृत्तिष्विति** । संयोगिनामपि वृत्तिरस्त्येव इतरथा कुण्डेषु बदराणां वृत्त्यभावप्रसङ्गादिति भावः । समवायेऽप्यतिव्याप्तिः । असबन्धत्वविशेषणेपि पूर्वमुत्तरम् । नन्वस्तु पञ्चमस्तथा च नातिव्याप्तिः । समवेतशब्देन परमाण्वाकाशादिव्यावृत्तेर्नित्यपदेनैव संयोगादेरिति । तथाच श्रीबल्लभ — ‘नित्यमेकमनेकसमवेतं सामान्यमिति एकपदेन चान्यविशेषव्यावृत्तेरिति तत्राह—**नापीति** । दूषणपरतयोत्तरार्थं योजयति—**किमनेकत्वेत्यादिना** । अनेकत्वसंख्या द्वित्वादिसंख्या । स्वाश्रयेति स्वस्य सामान्यस्य य आश्रयस्तत्प्रतियोगिकान्योन्याभाववान् यस्मात्सिन्समवेतत्वम् । एवं ह्यनेकाश्रयत्वमुक्तं भवति तस्यैव तस्मादन्यत्वायोगादित्यर्थः । अनेकत्वसंख्याविशिष्टे समवेतत्वमनेकसमवेतत्वमित्युक्तम् । गुणत्वकर्मत्वतदवान्तरजा-

त्वाश्रयप्रतियोगिकान्योन्याभाववत्समवेतत्वम् । न प्रथमः । गुणकर्मवृत्तिसामान्येष्व-
व्याप्तेः, अद्रव्यत्वेन गुणकर्मणोः संख्यानधिकरणत्वात् । नापि द्वितीयः । अन्यैर्विशेषैः
परमाणुरूपैश्च व्यभिचारान्, तेषामपि यत्किञ्चिदाश्रयप्रतियोगिकान्योन्याभाववत्सम-
वेतत्वान् । न तृतीयः । स्वशब्देन जातिविवक्षायामाश्रयत्वप्रसङ्गात् । नित्यत्वं च
स्वप्रच्युत्यनुपलक्षितसत्तायोगित्वं प्रध्वंसप्रतियोगित्वानधिकरणत्वं वा स्वप्रध्वंसप्रतियोगि-
त्वानधिकरणत्वं वा । न प्रथमः । जातेर्जात्यनधिकरणत्वेन लक्षणस्यासंभवेति । न
द्वितीयः । विकल्पासहत्वात् । किं तत्प्रतियोगित्वं यदनधिकरणत्वं नित्यतामभिधासि
किं तन्निरूपकत्वमुत तेन सहानवस्थितत्वम् । नाद्यः जातेर्ध्वंसोऽन्यो इत्यत्र जातेरपि
ध्वंसनिरूपकत्वात् । न द्वितीयः । सत्ताद्रव्यत्वपृथिवीत्वानां घटध्वंसेन सह पृथिव्याम-
नवस्थानात् । नापि तृतीयः । जातिप्रध्वंसस्यैवाप्रसिद्धतया तत्प्रतियोगित्वस्याप्रसिद्धेः ।
ननु ब्रह्मणि तवापि नित्यत्वं सिद्धं तत्किं जातावपलपसि । मैवम् । ब्रह्मणो निर्धर्मकतया
नित्यत्वधर्मानधिकरणत्वान् । कथं तर्हि तद्व्यपदेश इति चेत् विनाशस्य दुर्निरूपत्वादिति

तिष्ठु तद्गर्भलक्षणस्याव्याप्तेरित्याह—**न प्रथम इत्यादिना** । तत्र हेतु — **अद्रव्यत्वेनेति** । अन्यैर्विशेषैरिति दं
ह्यन्यविशेषाणामपार्थिवपरमाणुविशेषगुणानामीश्वरज्ञानादीनां नित्यद्रव्यसमवेतैकत्वसंख्यापृथक्त्वपरिमाणाना-
मुपलक्षणम् । तेषां नित्यत्वात्तदाश्रयाणां च यत्किञ्चिदाश्रयप्रतियोगिकान्योन्याभाववत्त्वादतोतिव्याप्तिस्तेष्वि-
त्यर्थः । **स्वशब्देनेति** । स्वाश्रयेत्यत्र स्वशब्देन यत्किञ्चिद्विवक्षायां पूर्वोक्तदोष, जातिविवक्षायां तेनैव
तल्लक्षणादात्माश्रय, पूर्वोक्तातिव्याप्तिश्च । तेषामपि सामान्याश्रयप्रतियोगिकान्योन्याभाववत्समवेतत्वादिति
भावः । एवमनेकसमवेतत्वानिरुक्त्या लक्षणं दूषयित्वा नित्यत्वानिरुक्त्यापि तदूषयति—**नित्यत्वं चेति** ।
इदमपिश्लोकस्य स्वशब्देनासूचि प्रच्युतिर्विनाश, तेनानुपलक्षितसत्तायुक्तत्वं सत्तायामसंभवि, नि सा-
मान्यत्वात् सामान्यस्येति प्रथमं पक्षं दूषयति—**न प्रथम इति** । आत्मादिब्रह्मव्याप्तिः । तत्र वर्तमान-
सत्ताया अपि घटादिप्रच्युत्युपलक्षितत्वान् । एतेन स्वरूपसत्ताविवक्षापि प्रतिक्षिप्ता । प्रमेयत्वरूपस्य तस्या-
नुवृत्तस्य तथात्वात्, इतरस्य च व्यावृत्तस्यानुगतनित्यशब्दार्थत्वायोगात् । स्वप्रच्युतीति विशेषणं चात्माश्र-
यत्वमित्यपि द्रष्टव्यम् । प्रतियोगित्वविकल्पस्य प्रकृतोपयोगित्वमाह—**यदनधिकरणत्वमिति** । किं प्रध्वं-
सानिरूपकत्वं किंवा प्रध्वंससहानवस्थितत्वमित्यर्थः । आद्ये प्रध्वंसानिरूपकत्वं तत्प्रतियोगित्वानधिकरणत्व-
मिति यावत्, तच्चसिद्धमित्याह—**नाद्यो जातेरिति** । ध्वंसोऽन्य इत्यत्र कस्मादन्यत्वमित्यपेक्षायां जाते-
रिति जातिनिरूपिकेत्यर्थः । नचान्यत्वं प्रत्येयं तदिति वाच्यम् । सतो घटस्य ध्वंस इत्यादौ विशेषणतया
तस्यापि तथात्वात्, स्वरूपभेदवादिना तस्यापि भावाच्चेति द्वितीयेपि ध्वंसासमानाधिकरणत्वस्य तत्प्रतियो-
गित्वे तदनधिकरणत्वं नाम ध्वंसासमानाधिकरणत्वानधिकरणत्वं वक्तव्यम् । नचैतदित्याह—**न द्वितीय**
इति । यद्यपि कपाले सामानाधिकरण्यमस्ति तथापि तन्त्वादिरूपपृथिव्यादौ तदभावादसमानाधिकरणत्वान-
धिकरणत्वं नास्तीत्यर्थः । स्वध्वंसेनेति तु तृतीयपक्षदूषणेनैव दूषयिष्यते । यत्किञ्चित्प्रध्वंसाप्रतियोगित्वं
सयोगादेरायसीति तत्र लक्षणस्यातिव्याप्तिरिति द्रष्टव्यम् । स्वध्वंसप्रतियोगित्वानधिकरणत्वं नित्यत्वमिति
तृतीयं पक्षं दूषयति—**नापीति** । ननु ब्रह्मणो निर्धर्मकतया नित्यत्वं नास्तीति वक्तुमयुक्तम्, 'आकाशवत्स-
र्वगतश्च नित्यः, नित्यं विभुं सर्वगतं चे'त्यादिश्रुतिविरोधादिति शङ्कते—**कथं तर्हीति** । नात्र नित्यत्वं नाम
धर्मो विवक्षितः, अद्वैतश्रुतिविरोधात् किंतु दुर्निरूपविनाशत्वादीति परिहरति—**विनाशस्येति** । ननु

ब्रूमः । ननु घटादेरपि विनाशो दुर्निरूपः । सत्यम् । स्वरूपेण परमार्थस्य तदनिरूपणे नित्यत्वव्यपदेशात्, घटादेश्चातथात्वात् ।

त्वं पुनः सामान्यादीनां त्रयाणां स्वात्मसत्त्वं बुद्धिलक्षणत्वमित्यादिभाष्यदर्शनान्नित्यत्वं साधर्म्यमिच्छसि । अस्तु तर्हि मनस्वात्मत्वातिरिक्तनित्यमात्रसमवेतान्यत्वे सति समवेतं सत्तानाश्रयः सामान्यमिति सामान्यलक्षणं चेन्न । यतः ‘जातेरद्याप्यसिद्धेश्च सत्तादेरप्यसिद्धितः । तदनाश्रयतान्यत्वलक्षणेऽन्योन्यसंश्रयः ॥ ११ ॥’ जातिमात्रलक्षणसिद्धौ सत्तात्मत्वमनस्त्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ चात्मत्वमनस्त्वातिरिक्तसत्तानाश्रय इति लक्षणविशेषणसिद्धिरिति परस्पराश्रयता । तथाहि घटवृत्तिवृत्तित्वे सत्यावृत्तिर्जातिः सत्तेति परैरभ्युपेयते, न धर्ममात्रं भावमात्रं वा । धर्ममात्रत्वे घटवृत्तिरूपादेरात्मनश्चान्योन्याभावेत्विद्याप्तेः । भावमात्रत्वे वा परजातिमत्त्वलक्षणे धर्मे गुणकर्मणोरात्मनि च वर्तमानेऽतिव्याप्तेस्तादवस्थ्यात्, अतः परिशेषादेवं विशेषिता जातिः सत्तेति वाच्यं, तथासति

ब्रह्मव्यतिरिक्तनिर्वाच्यत्ववादिनो घटादेरपि विनाशो दुर्निरूप इत्याशङ्क्य परिहरति—**सत्त्वं स्वरूपेणेति** । यथाहि रज्जुसर्पादेर्नाशो दुर्निरूपः, नचैतावता तेषु नित्यत्वव्यपदेशस्तत्कस्य हेनोर्वमिणो दुर्निरूपत्वात्तथा वियदादेरपि ब्रह्मणस्तु स्वरूपेणापि परमार्थत्वात् स्वरूपेण परमार्थत्वे सति दुर्निरूपविनाशत्वलक्षणनित्यत्वसंभवान्नित्यत्वव्यपदेश इत्यर्थः ।

नन्वस्मन्मतेऽपीदमेव नित्यत्वं सामान्यस्य भवत्विति तत्राह—**त्वं पुनरिति** । तथाहि सामान्यादीनां त्रयाणां स्वात्मसत्त्वं बुद्धिलक्षणत्वमकार्यत्वमकारणत्वमसामान्यविशेषवत्त्वं नित्यत्वमर्थशब्दानभिधेयत्व चेति प्रशस्तपादभाष्यम् । तत्र च स्वात्मसत्त्वं स्वरूपसत्त्वम् । बुद्धिलक्षणत्वं बुद्धिभिर्हेतानि लक्ष्यन्ते । अनुवृत्तप्रत्ययकारणं सामान्यम् । अत्यन्तव्यावृत्तबुद्धिहेतवोन्त्या विशेषा । इहप्रत्ययहेतु समवाय । अकारणत्वं चानात्मगुणकार्यं प्रति तत्र च नित्यत्वं साधर्म्यमभिप्रेतम् । साधर्म्यं समानो धर्म इत्यर्थः । एतेन नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतमिति मानमनोहरकारोक्तलक्षणमपि निरस्तम् । शिवादित्यमिश्रोक्तलक्षणमुद्गाढयति—**अस्तु तर्हीति** । सत्तानाश्रय सामान्यमित्युक्ते अभावसमवाययोरतिव्याप्ति स्यात्तदर्थं समवेतमित्युक्तम् । तावति चान्यविशेषेष्वतिव्याप्तिस्तदर्थं नित्यमात्रसमवेतान्यत्वे सतीत्युक्तम् । एवंचात्मत्वमनस्त्वयोरव्याप्तिस्तयोर्नित्यमात्रसमवेतत्वात् अत उक्तात्मत्वमनस्त्वातिरिक्तेति, अत आत्मत्वमनस्त्वातिरिक्तं यन्नित्यमात्रसमवेतं तदन्यत्वे सतीत्यर्थः । द्रव्यगुणकर्मव्यावर्तनाय सत्तानाश्रय इत्युक्तम् । जातिरेव तावदद्यापि न सिद्धा अत एव तद्विशेषसत्तात्मत्वमनस्त्वानामप्यसिद्धिस्ततश्च सत्तानाश्रयत्वेनात्मत्वमनस्त्वातिरिक्तत्वेन च सामान्यलक्षणेऽन्योन्याश्रयः स्यादिति सप्रहृष्टोक्तार्थः । अन्योन्यसंश्रयं विशदयति—**जातिमात्रेति** । ननु यद्यपि सत्तादीनां जातिभेदः तथापि न तेषां सामान्यज्ञानाधीननिरूपणमतो नान्योन्याश्रयतेति तत्राह—**तथाहीति** । जाति सत्तेत्युक्ते गुणत्वादावतिव्याप्तिरत उक्तात्मवृत्तीति तथाप्यात्मत्वेऽतिव्याप्तिस्तदर्थं घटवृत्तीत्युक्तम्, तथापि द्रव्यत्वेतिव्याप्तिस्तदर्थं घटवृत्तिवृत्तीत्युक्तम् । घटवृत्तिनी ये गुणकर्मणी तद्वतीत्यर्थः । ननु घटवृत्तिवृत्तिरात्मवृत्तिभावः सत्ता अथवा तथाविधो धर्मविशेष कश्चिदिति सत्तालक्षणमस्तु न जातिविशेषणं युक्तं येनान्योन्याश्रयता स्यादिति तत्राह—**न धर्ममात्रमिति । घटवृत्तीति** । रूपादेरात्मनश्च यो धर्मभूतो घटान्योन्याभावस्तत्रैतलक्षणमस्तीत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः । भावमात्रत्वे दूषणमाह—**भावेति** । अस्ति हि गुणकर्मणोरात्मनश्चापरजातिमत्त्वं धर्मं सच भावरूपोऽप्रतिषेधात्मकत्वादितरथातिप्रसङ्गात् । किंच विशिष्टरूपमिदं विशिष्टं च विशेषणविशेष्यतत्सबन्धात्मकम्, नच तेषां नियमेनाभावत्वमिति कथमीदृशानामभा-

कथं नान्योन्याश्रयता, तथासत्वमनस्त्वलक्षणे च । तथाहि । घटावृत्तित्वे सत्यात्मनिष्ठा-
त्यन्ताभावाप्रतियोगिनी जातिरासत्त्वं एवमाकाशावृत्तित्वे सति मनोनिष्ठेत्यन्ताभावप्रति-
योगिनी जातिर्मनस्त्वं, नतु धर्ममात्रं भावमात्रं वा, तदुभयनिष्ठान्योन्याभावे बहुत्वसं-
ख्यायां च व्यभिचारात्तथाच तदतिरिक्तत्वलक्षणे कथं न प्राचीनदोषानुपपन्नः कथं च
सत्सदित्यवाधितप्रत्यये सति सत्ताया गोत्वादावभावः । नचैकार्थसमवायात्सदिति प्रत्ययो
गुणकर्मणोरपि तथोपपत्तौ सत्ताभावप्रसङ्गात्, सत्तासमवाययोः सदिति व्यवहाराभा-
वप्रसङ्गाच्च । विवादाध्यासितं सत्तारहितमपरजातिरहितत्वात् सत्तावदिति बाधकमिति
चेन्मैवम् । सद्गोत्वं सदश्वत्वमित्यादिप्रत्यक्षविरोधे कालात्ययापदिष्टत्वादन्यथा गुणकर्मणी
सत्तारहितेअद्रव्यत्वात्सत्तावदित्यपि स्यादथ तत्रानुभवविरोधः स न प्रकृतेऽपि दण्डवारितः,
तस्मादसंभवितात्सत्तानाश्रय इत्यलक्षणमेतत् । विशेषलक्षणमपि दुर्निरूपम् । तथाहि ।
नित्येष्वेव द्रव्येष्वेव वर्तन्ते एव ये ते विशेषा इति न लक्षणं यतः—‘नित्यद्रव्यैकवृत्ति-
त्वमयोगपरिहारतः । न लक्षणमतिव्याप्तेस्तत्वात्सत्वमनस्त्वयोः ॥ १२ ॥’ आसत्त्वं मनस्त्वं

वान्तर्भाव । यथाह ‘विशेषणं विशेष्यं च तत्सबन्धफलार्पकम् । ज्ञानरूपं स्वसामर्थ्याद्विशिष्टमिति कीर्त्यते’
इति । ततश्च तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थः । आत्मत्वमनस्त्वातिरिक्त्येव न्योन्याश्रयमाह—**तथात्मत्वेति** ।
तयोरपि जातिगर्भत्वालक्षणस्येत्याह—**तथाहीति** । सत्ताद्रव्यत्वयोरतिव्याप्तिपरिहाराय घटावृत्तीत्युक्तम् ।
उदकत्वगुणत्वाद्यतिव्याप्तिवारणाय आत्मनिष्ठेत्यन्ताभावाप्रतियोगिनीत्युक्तम् । मनस्त्वलक्षणमाह—**एवमिति** ।
अत्रापि सत्ताद्रव्यत्वाद्यतिव्याप्तिनिवृत्त्यर्थमाकाशावृत्तीत्युक्तम् । घटत्वादिष्वतिव्याप्तिपरिहाराय मनोनिष्ठेत्या-
दिविशेषणम् । यदि हि धर्ममात्रमात्मत्वमनस्त्वे स्याता तदा तदुभयनिष्ठात्समनोनिष्ठौ यावन्त्योन्याभावौ
आत्मनि घटान्योन्याभावौ मनसि चाकाशान्योन्याभावस्तयोरतिव्याप्ती स्याताम् । अथ भावमात्रं तदात्मवृत्तिज्ञाने
मनोनिष्ठबहुत्वसंख्याया चातिव्याप्ती स्यातामित्यर्थः । बहुत्वसंख्याग्रहणं ज्ञानादेरप्युपलक्षणम् । प्राचीनदोषोन्यो-
ऽन्याश्रय । सत्तानाश्रय इति विशेषणं सत्ताव्यतिरिक्तगोत्वादिष्वसिद्धं गोत्वसद्रव्यत्वं सदित्यवाधितानुवृत्तप्रत्ययव-
शात्तेषामपि सत्ताश्रयत्वप्रतीतेरित्याह—**कथं च सत्सदिति** । ननु गोत्वादियु सदिति प्रत्ययो न सत्तानिमित्त
किंतु सत्ताया सहैकस्मिन्नर्थे गवादौ समवायादिति तत्राह—**नचैकार्थेति** । गुणकर्मणोरपि द्रव्ये तदेकार्थ-
समवायात्तदुपपत्त्या सत्ताभावः प्रसज्येत एवमवयविष्वपीति भावः । किंच यदि सत्तैकार्थसमवायात्तत्र
सदिति व्यवहारस्तर्हि सत्तायाः सत्तान्तराभावेन समवायस्य चासमवायित्वेन सत्तैकार्थसमवायो नास्तीति सद्बु-
द्धिस्तत्र न स्यादित्याह—**सत्तासमवाययोरिति** । किंच सत्तायामेवाव्याप्तिस्तस्या सत्ताश्रयत्वात् । नचा-
त्माश्रयान्योन्याश्रयानवस्था उत्पत्तिज्ञानप्रतिबन्धकतया प्रमेयत्वादाविव भवन्मते दूषणत्वाभावादिति । विवा-
दाध्यासितमिति गोत्वं विवक्षितं, जातिरहितत्वादित्युक्ते साध्याविशिष्टता तदर्थमपरग्रहणम् । नहि द्रव्यत्वादिषु
द्रव्यत्वादिकमस्तीति तेषां मतमिति भावः । यदि प्रतीतावनादरस्तर्हि गुणादावपि न जातिसिद्धिकृत्तानुमानस्य
तत्रापि प्रचारादित्याह—**अन्यथेति** । शिवादित्यमिश्रलक्षणमुपसहरति—**तस्मादिति** । कन्दलीकारोक्तै-
लक्षणमनुवदति—**नित्येष्वेवेति** । द्रव्येषु ये वर्तन्ते ते विशेषा इत्युक्तेऽभावसामान्यसमवायेष्वतिव्याप्ति-
स्तदर्थं द्रव्येष्वेवेत्युक्तम् । तथापि गुणकर्मणो प्रागभावप्रध्वंसयोश्चातिव्याप्तिस्तदर्थं नित्येष्वेवेत्युक्तम् । तथा-
प्यात्मत्वमनस्त्वयोनित्यद्रव्यगतगुणविशेषेषु चातिव्याप्तिरत उक्तं वर्तन्ते एवेति । अनेन कदाचिद्वृत्ति क्वचि-
द्वृत्तिश्च व्यावर्त्यते । तेन नित्यद्रव्ये कदाचित्कक्वाचित्कानां ज्ञानादीनामकादाचित्कानामपि क्वाचित्कानां
मनस्त्वादीनां व्यवच्छेदस्तेषां कालतो देशतश्चावृत्तेरपि विद्यमानत्वाद्वर्तते एवेत्ययमंशो न संभवतीति भावः ।

च नित्यद्रव्येष्वेव वर्तत एवेति तयोरतिव्याप्तिः । ननु कालाकाशादिषु नित्यान्तरेष्वस-
त्त्वान्नतत्सर्वत्र नित्येषु वर्तते विशेषास्तु नैवं, वर्तन्त एवेति नियमादिति चेन्न । प्रतिवि-
शेषमव्याप्तेः । सर्वेषां विशेषाणां सर्वत्राभावात् । यज्जातीयमेवं स विशेष इति लक्षणार्थ
इति चेन्न । विशेषत्वजातेरनङ्गीकरणात् । उपाधेर्विवक्षितत्वाददोष इति चेन्न । तदुपाधि-
सिद्धौ तदुपजीविनो लक्षणस्य वैयर्थ्यापातात्, असिद्धौ च लक्षणस्य दुरवधारणत्वात् ।
एकद्रव्याः स्वभावसन्तो विशेषा इत्यपि न लक्षणम् । एकद्रव्यत्वस्य दुर्निरूपत्वात् ।
तथाहि ।

किमिदमेकद्रव्यत्वं किमेकत्वसंख्याविशिष्टद्रव्यसमवेतत्वमुताद्विष्टत्वम् । नाद्यः । द्रव्य-
निष्ठसामान्येष्वतिव्याप्तेस्तान्यपि ह्येकत्वसंख्याविशिष्टद्रव्यसमवेतानि स्वभावसन्ति च
सत्तासामान्यरहितत्वात् । नापि द्वितीयः । विकल्पासहत्वात् । तदपि कचिद्वृत्तित्वे सत्य-
न्यावृत्तित्वमुताश्रयप्रतियोगिकान्योन्याभाववद्वृत्तित्वम् । न प्रथमः । प्राचीनदोषानुप-
ज्जात् । सामान्यान्यपि हि किचिन्निष्ठत्वे सति तदन्यावृत्तीनि सर्वत्रावृत्तेः । अत एव न
द्वितीयः । सर्वावृत्तित्वेनाश्रयप्रतियोगिकान्योन्याभाववद्वृत्तित्वस्यापि सामान्येषु भावात्

तदलक्षणमित्युक्तम् तत्र दूषणं श्लोकेन सगृह्णाति—नित्यद्रव्येति । यदिदं वर्तन्त एवेत्ययोगपरिहारतो
नित्यद्रव्यैकवृत्तित्वं लक्षणमुक्तं तत्र लक्षणम् । कुत । त्वन्मते आत्मत्वमनस्त्वयोरतिव्याप्तेरिति श्लोकयो-
जना । अद्वैतवादिनो मनसो नित्यत्वं नास्ति नाप्यात्मत्वं जातिरित्यत उक्तं तवेति । सग्रहं विवृणोति—
आत्मत्वमिति । पूर्ववादीहृदयं शङ्कते—ननु कालेति । तर्हि सार्वनित्यद्रव्यवृत्तित्वं किमेकैकविशेषलक्षणं
किं वा सभूयमानानाम् । नान्यत् । अनुगतलक्षणयोगात् प्रथमे प्राह—प्रतिविशेषमिति । नन्वन्य एव
पक्षः, नचानुगतलक्षणासिद्धिः, अयोगान्ययोगव्यवच्छेदेन नित्यद्रव्यावृत्तित्वानधिकरणत्वे सत्ययोगव्यवच्छेदेन
नित्यद्रव्यवृत्तिवृत्तिजातिमत्वमिति लक्षणादिति शङ्कते—यज्जातीयमिति । अनङ्गीकरणादिति । सा-
मान्यादीना त्रयाणामित्युपक्रम्यासामान्यविशेषवत्वमिति प्रशस्तपादैः साधर्म्याभिधानादन्त्यविशेषत्वहानेश्च
जातिमत्त्वे ह्यत्यन्तव्यावृत्तत्वं न स्यात् । अत एवाश्रयस्यापि नात्यन्तव्यावर्तका स्युः । ननु यज्जातीयमित्यत्र
यदुपाधिकमित्युपाधिसामान्यं विवक्षितमित्याशङ्क्य तस्यैवाव्याप्त्यतिव्याप्तिरहितस्य लक्षणत्वमस्त्ववस्थाश्रयणी-
यत्वात् कृतं तदुपजीविनानेनेति दूषयति—न तदुपाधिसिद्धाविति । एतदेव विपक्षे बाधकतर्केण
द्रवयति—असिद्धौ चेति । श्रीवल्लभोदयनयोर्लक्षणमनुवदति—एकद्रव्या इति । स्वभावसन्तो विशेषा
इत्युक्ते सामान्यसमवाययोरतिव्याप्तिरत उक्तं एकद्रव्या इति । एकमेव द्रव्यं आश्रयो येषां नत्ववयविसयो-
गादिवदनेकं ते तथोक्ता । एकद्रव्या इत्येवोक्ते रूपादिगुणकर्मणोरतिव्याप्तिस्तदर्थं स्वभावसन्त इत्युक्तम् ।

तदेतदेकद्रव्यानिरुक्त्या दूषयति—किमिदमित्यादिना । एकत्वसंख्यावति वर्तमानत्वे सति स्वभाव-
सत्त्वं द्रव्यगतसामान्येष्वस्तीत्यतिव्याप्तिरित्याह—द्रव्यनिष्ठेति । स्वभावसत्त्वे हेतुः—सत्तासामान्येति ।
सामान्यादीना त्रयाणां स्वात्मसत्त्वमिति भाव्यमिति भावः—अद्विष्टत्वमिति कोर्थं कचिद्वर्तमानत्वे सति
कचिद्वर्तमानत्वं द्विष्टत्वं तदभावोऽद्विष्टत्वमिति, किंवा स्वाश्रयान्योन्याभाववति वर्तमानत्वं द्विष्टत्वं तदभावो-
ऽद्विष्टत्वमिति । नाद्य इत्याह—न प्रथम इति । प्राचीनदोषमेवानुपपन्नयति—सामान्यान्यपि हीति ।
सामान्यान्यपि गुणादिषु वर्तमानानि गुणादिष्वेकत्र वृत्तित्वे सति तदन्याभावाद्यवृत्तीत्युक्तलक्षणकानीत्यर्थः ।
अत एवेत्यतिदिष्टं विशदयति—सर्वावृत्तित्वेनेति । सामान्यादिष्ववृत्तित्वेन सर्ववृत्तित्वाभावादिति

स्वाश्रयप्रतियोगिकान्योन्याभाववद्वृत्तित्वानधिकरणत्वं विवक्षितमिति चेन्न । स्वशब्देन विशेषविवक्षायामात्माश्रयप्रसङ्गान् । एतदात्मवृत्तित्वे सत्येतदन्यनित्यद्रव्यावृत्तिरेतद्विशेष इति प्रतिव्यक्तिलक्षणं विवक्षितमिति चेन्न । अन्योन्याश्रयत्वात् । नित्यद्रव्याणां भेदाधिगतिहेतवो विशेषाः परैरभ्युपगम्यन्ते ततश्च विशेषसिद्धौ नित्यद्रव्याणां भेदाधिगतिस्तत्सिद्धौ च विशेषाधिगतिरिति कथं नान्योन्याश्रयः ।

अन्यत एव चेद्वेदाधिगमस्तदा विशेषाधिगमो व्यर्थः स्यात् । आत्मत्वमनस्त्वातिरिक्तत्वे सति नित्यमात्रसमवेतः सत्तारहितो विशेष इत्यपि न लक्षणम् । परममहत्त्वसामान्येतिव्याप्तेः । अस्ति हीदं परममहद्दिदं परममहदित्यनुवृत्तप्रत्ययबोद्ध्या परममहत्परिमाणेषु परममहत्त्वं जातिः ।

भाव । ननु तादृग्वृत्तित्वमात्रमत्र न विवक्षितं किंतु स्वाश्रयप्रतियोगिकान्योन्याभाववद्वृत्तित्वानधिकरणत्वं, न तत्सामान्येष्वस्ति तेषामनेकवृत्तित्वेनोक्तरूपत्वाभावादिति शङ्कते—**स्वाश्रयेति** । अत्र स्वशब्देन किं प्रकृतविशेषा गृह्यन्ते यत्किञ्चिद्वा । द्वितीये त्वसंभव । प्रथमे विशेषेरेव विशेषलक्षणादात्माश्रयत्वमित्याह—**न स्वशब्देनेति** । एकैकविशेषस्य सर्वनित्यद्रव्यवृत्तित्वासंभवेन यदुपगममुक्तं तन्निवृत्त्यर्थं प्रतिविशेषं पृथक्-लक्षणं शङ्कते—**एतदिति** । नित्यद्रव्यावृत्तिरेतद्विशेष इत्युक्ते व्याहृति अस्मिन्नप्यवर्तनप्रसङ्गात्तन्निवृत्त्यर्थं एतदन्यनित्यद्रव्यावृत्तीत्युक्तम् । तथाप्येतदात्मन्यतिव्याप्तिस्तदर्थमेतदात्मवृत्तित्वे सतीत्युक्तम् । एतदात्मवृत्तिरित्येवोक्तावात्मत्वादिनार्थान्तरता तदर्थमेतदन्यनित्यद्रव्यावृत्तिरित्युक्तम् । अत्र सत्ताराहित्यमप्यवगन्तव्यम् । वृत्तिशब्देन समवायस्य च विवक्षा इतरथा तन्मात्रवृत्त्यन्योन्याभावादौ सुखादौ चातिव्याप्तिप्रसङ्गात् । अन्योन्याश्रयं विवृणोति—**नित्येति** । तथाहि । अनित्यद्रव्याणामाश्रयविशेषैरेव व्यावृत्तिसिद्धेर्न तेषु विशेषसद्भावे प्रमाणं गुणकर्मणोरपि स्वाश्रयविशेषैरेव व्यावृत्तिसिद्धेः, सामान्यमात्राश्रयत्वाच्च, तेषु न विशेषसिद्धौ किञ्चिदस्ति प्रमाणं, नित्यानामपि विभिन्नलक्षणानां पार्थिव्यायपरमाण्वादीनां पार्थिवत्वादिनैव व्यावृत्तिरित्यतस्तुल्यलक्षणनित्यद्रव्यावृत्तिहेतवो विशेषा स्वीक्रियन्ते । एवं च सति तादृग्विशेषसिद्धावेतदात्मसिद्धिरेतदात्मज्ञप्तौ च विशेषज्ञप्तिरिति परस्परश्रयत्वमित्यर्थः ।

अथानुमानादिप्रमाणान्तरेणैतदात्मादिरूपनित्यद्रव्यव्यावृत्त्यधिगतिस्तर्हि विशेषकल्पनं मुग्धा । नच योगिना प्रत्यक्षतया व्यावृत्त्यधिगत्यर्थं तत्कल्पनम् । पृथक्त्वेनैव तदुपपत्तेर्वैक्यमाणत्वादित्यभिसन्धिराह—**अन्यत एव चेदिति** । किञ्चेतदात्मविशिष्टस्यैतदलक्षणमुपलक्षितस्य वा । आद्ये विशेषणासिद्धिः । न ह्येतदात्मविशिष्टस्यैतदात्मवृत्तित्वं संभवत्यंशतः, आत्माश्रयत्वप्रसङ्गात् । द्वितीये त्वसंभव एतदात्मोपलक्षितस्याप्येतदात्मवृत्तित्वाभावात्तत्कस्य हेतोः, तदपि ह्येतदुपलक्षितत्वविशिष्टं तदुपलक्षितं वा स्यात् । अन्येऽनवस्था । आद्ये फलतो विशेषणपक्षान्न विशेष इति शिवादित्यमिश्रोक्तलक्षणमुद्गाढ्य दूषयति—**आत्मत्वेति** । सत्तारहितो विशेष इत्युक्ते समवायाभावयोरतिव्याप्तिस्तदर्थं समवेत इत्युक्तम् । तथापि सामान्येतिव्याप्तिस्तदर्थं नित्यमात्रेत्युक्तम् । तथाप्यात्मत्वमनस्त्वयोरतिव्याप्तिरत उक्तमात्मत्वमनस्त्वातिरिक्तत्वे सतीति । सत्तारहित इति द्रव्यादिव्यवच्छेद तदेतदतिव्याप्त्या दूषयति—**परममहत्त्वेति** । ननु परममहत्त्वं नाम न सामान्यमस्ति प्रमाणाभावादिति तत्राह—**अस्तीति** । अनुवृत्तप्रत्ययस्यासति बाधके जातिविषयत्वमिति हि त्वदङ्गीकारः सचात्राप्यस्तीत्यर्थः । परममहत्परिमाणं महत्त्वावान्तरजातिमन्महत्परिमाणत्वाद्विस्तारितस्यादिपरिमाणवदित्यनुमानादपि तत्सिद्धिरवगन्तव्या ।

नच तत्र व्यञ्जकाभावः । नित्यमहत्परिमाणस्यैव तद्व्यञ्जकत्वात् । तर्हि तेनैव परम-
महद्व्यवहारोपपत्तौ व्यर्था जातिकल्पनेति च न वाच्यम् । व्यञ्जकमादाय जातिनिरासे
गोत्वादेरपि प्रत्याख्यानप्रसङ्गात् । नचैवं परमाणुत्वजातेरभ्युपगमप्रसङ्गः । तत्र पृथिवी-
त्वादिना परापरभावस्यानिरूपणात् । यदि पृथिवीत्वं परं तर्हि परमाणुत्वस्य पृथिवीत्वा-
व्यभिचारात्सलिलादिपरमाणुषु परमाणुत्वं न स्यादथापरं तर्हि परमाणुत्वस्य परत्वे
पृथिवीत्वं परमाणुत्वं न व्यभिचरेदिति सर्वा पृथिवी परमाणुरेव स्यात्तेन न परमाणुत्वं
जातिः । नचैवमत्र बाधकमस्तीति परममहत्त्वजातौ भवेदेवातिव्याप्तिः । नित्यमात्रस-
मवेतत्वं च किञ्चिन्नित्यसमवेतत्वं सर्वनित्यसमवेतत्वं वा । उभयथापि लक्षणस्याव्याप्तिः ।
सर्वेषां विशेषाणां एकनिष्ठत्वाभावात्सर्वनिष्ठत्वाभावाच्च । किं चात्र प्रमाणम् ।

समानजातिगुणकर्मकार्याः परमाणवोऽन्योन्यव्यावर्तकधर्मसमवायिनः द्रव्यत्वाद्भा-
वित् । तथा 'सत्ता सामान्यसमवायातिरिक्तभावासंसर्गिणी जातित्वाद्गोत्वव'दिति लीला-

ननु नात्र नियतव्यञ्जकमस्ति नित्यपरिमाणत्वस्य पारिमाण्डल्यसाधारण्यादिति तत्राह—**नच तत्रेति ।**
न नित्यपरिमाणत्वं व्यञ्जकमपि तु नित्यमहत्परिमाणत्वमिति भावः । ननु तर्हि तेनैव व्यञ्जकेनानुवृत्तव्यव-
वहारसिद्धावधिकजातिकल्पना मुधेति तत्राह—**तर्हीति ।** आभाससमानयोगक्षेपमाशङ्क्य परिहरति—
नचैवमिति । तत्र जातिसङ्करप्रसङ्गो बाधकः नेह तथास्ति किञ्चिदित्याह—**तत्रेति ।** परापरभावाभावमेव
विवृणोति—**यदीति ।** पृथिवीत्वस्य परत्वे तदभ्युपगमं परमाणुत्वस्य तद्रहितसलिलपरमाणुषु वृत्तिर्न स्या-
दस्ति च तदित्यर्थः । परमाणुत्वस्य परत्वे दूषणमाह—**अथापरमिति ।** परमाणुत्वस्य परत्वेन तदभ्युपगमं
पृथिवीत्वस्य तद्रहितद्व्यणुकादिषु वृत्तिर्न स्यादित्यर्थः । समुदायद्वयणमुक्त्वाऽवयवानिरूपणादपि दूषयति—
नित्यमात्रेति । एकनित्यवृत्तित्वं सर्वनित्यवृत्तित्वं वा विवक्षितम् । आद्ये सर्वविशेषाव्याप्तिः । सर्वविशे-
षाणां एकनित्यद्रव्यवृत्त्यभावात् । द्वितीये न कापि संभवः । एकैकविशेषस्य सर्वनित्यद्रव्यावृत्तेरिति खण्ड-
लकार्थः । एकनित्यद्रव्यवृत्तित्वमपि किमेकत्वनित्यत्वविशिष्टद्रव्यवृत्तित्वं तदुपलक्षितद्रव्यवृत्तित्वं वा द्रव्यमा-
त्रवृत्तित्वं वा । आद्ये सख्यानिर्लक्ष्योरपि विशेषाधारत्वप्रसङ्गादसंभवि लक्षणम् । द्वितीयतृतीययोस्तु द्रव्य-
मात्रवृत्तित्वं स्यादुपलक्षणस्य कार्यानन्वयात् । तथाच सर्वद्रव्यसामान्येऽतिव्याप्तिः । तथा सत्ताविशिष्टे तज्ज्ञा-
नमुखादावतिव्याप्तिः तेषामप्युक्तलक्षणवत्त्वात्, सत्ताश्रयत्वं तत्रास्तीति चेन्नूनं बधिर इव भवानाभाति
कथमन्यथा सत्ताविशिष्ट इति विशेषणं शृण्वत शङ्का स्यात् । नहि सत्ताविशिष्टेऽपि सत्तास्ति अशत आत्मा-
श्रयप्रसङ्गादिति । नच नित्यत्वानधिकरणसमवेतत्वं तदिति वाच्यम् । नित्यमात्रनिष्ठकार्यप्रतियोगिकप्रागभा-
वप्रध्वंसयोर्व्यभिचारात् । नच भावत्वविशेषणम् । पूर्वोक्तजातावतिव्याप्तेः । किञ्च किमेतैर्लक्षणैर्लक्ष्यं द्रव्या-
दिपञ्चकमुतातिरिक्तम् । नाद्यः । असिद्धेः । नान्यः । तत्र प्रमाणाभावेनासिद्धत्वादित्यभिसंधिराह—**किंचा-
त्र प्रमाणमिति ।**

श्रीवज्रभीयमानमुनद्रव्यं शङ्कते—**समानेति ।** अत्र च जातिभिर्गुणैः कर्मभिस्तदारब्धकार्यैश्च व्यावर्तकै-
रर्थान्तरतापरिहारापत्तेः समानताग्रहणम् । निरवयवद्रव्यत्वादिभिर्घटादिव्यावर्तकैरर्थान्तरतापरिहारायान्यो-
न्येत्युक्तम् । गवादिषु च गोत्वादिना साध्यप्रसिद्धिः तथा सत्तेति । भावासंसर्गिणीत्युक्ते सामान्यसमवाया-
संसर्गित्वसाधनेन तत्सिद्धिपर्यवसानादर्थान्तरता तथा संसर्गिणीत्युक्तेऽभावासंसर्गित्वपर्यवसायितयार्थान्त-
रतां तदुभयनिवृत्त्यर्थं सामान्यसमवायातिरिक्तभावासंसर्गिणीत्युक्तम् । यस्माच्च भावात्सा व्यावर्त्यते सोऽन्य-

वतीकरोत्रीतमनुमानं प्रमाणमिति चेन्नैवम् । आद्यप्रयोगे पृथक्त्वेन सिद्धसाधनत्वात् । नच वाच्यं पृथक्त्वस्य पृथक्त्वान्तरसदृशत्वान्न ततो व्यावृत्तत्वबुद्धिसिद्धिः । याहि यतो व्यावृत्तिबुद्धिः सा न तत्सदृशधर्मकार्या यथाश्वात्कुञ्जरस्य । तदणोरपि नाण्वन्तराध्या-
वृत्तबुद्धिः सदृशधर्मकार्येति । अयं विशेषोयं च विशेष इति विशेषेष्वपि सदृशबुद्धेः स्वीकारात् द्वितीयोपि प्रयोगः ‘आश्रयासिद्धिदुष्टत्वादप्रसिद्धविशेषणात् । प्रमाणतामश्रु-
वीत न प्राभाकरभाट्टयोः ॥ १३ ॥ सत्ताजातेरनङ्गीकारात्प्राभाकरं प्रत्याश्रयासिद्धिरुदिता ।
एवं समवायस्य चानङ्गीकाराद्वाटं प्रति समवायातिरिक्तभावासंसर्गिणीत्यप्रसिद्धविशे-
षणः पक्षः । विशेषाख्यभावानभ्युपगमेपि तदसंसर्गित्वसिद्धेरर्थान्तरता च । किञ्च सामा-
न्यसमवायातिरिक्तभावशब्देन द्रव्यगुणकर्माण्यभिधीयन्ते किं वा विशेषाभावमात्रं वा ।
नाद्यः । अपसिद्धान्तापातात् । सत्ताया द्रव्यगुणकर्मसु वृत्तेः स्वयमङ्गीकृतत्वात् । न
द्वितीयः । विशेषाणामद्याप्यसिद्धेरप्रसिद्धविशेषणत्वात् । नापि तृतीयः । विकल्पासहत्वात् ।
असंसर्गित्वपदेन किमसंसर्गितामात्रं विवक्षितमुत संसर्गित्वात्यन्ताभावाधिकरणत्वम् ।

विशेष । द्रव्यादित्रयासंसर्गित्वस्य व्याघातादिति दूषयति—**मैवमित्यादिना** । अत्र किमयोगिन प्रति-
व्यावर्तकधर्मसमवायित्वं विवक्षितं योगिन प्रति वा । नाद्य । तेषा परमाणुसाक्षात्काराभावात् । द्वितीये तु
योगिनः परमाणुव्यावृत्तिज्ञानमेव कुत सिद्धं येन व्यावर्तकधर्मपेक्षा । अथ ब्रूयात्समानजातिगुणकर्मकार्याः
परमाणवोऽन्योन्यव्यावर्तकसमवायिधर्मविशिष्टबुद्धिविषया द्रव्यत्वाद्वद्वदिति तत्राह—**पृथक्त्वेनेति** । त-
दाह पतञ्जलि योगिविवेकज्ञानविषयं दर्शयन्पृथक्त्वदूषणावसरे—‘तत्रापि देशकाललक्षणभेदो मूर्तिविवधि
जातिभेदश्चान्यत्वधीहेतु’रिति । तत्त्वसारटीकाकारोपि—‘इति सर्वभेदप्रत्ययस्यान्यथासिद्धेर्नान्यविशेषकल्पने’ति
‘भूतचरेण देहसम्बन्धेन मुक्तात्मभेदो योगिबुद्धिगम्य उन्नेय’ इति । च इममपि दोष स एव परिजहार यत आह
‘नच पृथक्त्वात्किमेव परमाण्वन्तरात्परमाणोर्व्यावर्तकबुद्धिजनकमस्तु तस्य परमाण्वन्तरवृत्तिपृथक्त्वादना
सदृशत्वात् । या हि यतो व्यावृत्तिबुद्धिः सा न तत्सदृशधर्मकार्या यथाश्वात्कुञ्जरस्य । तदणोरपि नाण्वन्त-
राध्यावृत्तिस्तत्सदृशधर्मकार्ये’ति । तदेतदन्वय निराचष्टे—**नच वाच्यमित्यादिना** । न तत्सदृशेति ।
तद्धर्मसदृशं धर्मस्तत्सदृशधर्म । नच वाच्यमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—**अयं विशेष इति** । एतेन नित्य-
द्रव्यव्यावृत्तिहेतवोन्त्यविशेषा इत्यपि लक्षणं प्रतिक्षिप्तम् । द्वितीयोपि प्रयोग इत्यस्य प्रमाणता नाश्रुवीतेत्यु-
त्तरश्लोकस्थपदेनाद्भव । तत्र हेतुभूतानि दूषणानि श्लोकेन सगृह्णाति—**आश्रयेति** । आश्रयासिद्ध्यप्रसिद्ध-
विशेषणतयोर्यथायर्थं प्राभाकराणां भाट्टानां च संबन्ध । इदमेव दूषणद्वयं विवृणोति—**सत्ताजातेरित्या-
दिना** । सर्वसाधारणं चार्थान्तरत्वं दूषणमाह—**विशेषाख्येति** । सामान्यसमवायातिरिक्तभावासंसर्गित्वं
साध्यमानं न नियमेन तत्सत्ता साधयति तदभावेपि तदसंसर्गित्वोपपत्ते । नहीदमसंसर्गित्वं नाम विभाग
येन समवायिकारणतया तस्यापि सत्त्वमपेक्षेत । नच तदसंसर्गित्वस्य तन्निष्ठाल्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य धर्म-
पेक्षेति वाच्यम् । अत्यन्तासतोपि प्रतियोगित्वधर्मित्वयोरुपपत्तेरिति भावः । भङ्ग्यन्तरेणाप्रसिद्धविशेषणता-
माह—**किचेति** । अपसिद्धान्तापत्तिमेव दर्शयति—**सत्ताया इति** । **अङ्गीकृतत्वादिति** । द्रव्यादीना
त्रयाणां सत्तासम्बन्ध इति भाष्यमतस्तादृशभावात्सत्ताया व्यावृत्तिसाधनमयुक्तमिति भावः । ननु न विशेषा-
त्मकभावात्संसर्गित्वं साधयामो येनाप्रसिद्धविशेषणता, अपित्वविवक्षितविशेषाद्भावमात्रादिति तृतीयं पक्षं
दूषयति—**नापि तृतीय इति** । भावासंसर्गिणीत्यत्रासंसर्गित्वं संसर्गित्वाभावमात्रं किं वा संसर्गित्वात्यन्ता-

नाद्यः । सिद्धसाधनत्वात्, अतीतानागतव्यक्तिभिः सत्ताया अप्यसंसर्गित्वस्वीकारात् । नापि द्वितीयः । दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्, गोत्वस्यापि किञ्चिद्भावसंसर्गित्वेन तदत्यन्ताभावाधिकरणत्वाभावात् । आकाशं गुणसामान्यव्यतिरिक्तसमवायिद्रव्यत्वाद्भट्टवदितिमानमनोहरकारोक्तमनुमानान्तरमस्तीति चेन्मैवम् । प्राभाकरं प्रति शक्त्या सिद्धसाधनत्वात्तेन शक्तेर्गुणसामान्यव्यतिरिक्ताया वियदाश्रयताश्रयणात्समवायमनभ्युपगच्छतोर्भाट्टवेदान्तिनोरप्रसिद्धविशेषणत्वात्, वेगवत्त्वोपाध्युपहतत्वाच्च । तस्मान्न विशेषलक्षणमपि साधु । नापि समवायलक्षणम् । तथाहि । अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिहप्रत्ययहेतुर्यः संबन्धः स समवाय इति समवायलक्षणपरं परेषां भाष्यम् । अस्य चायमर्थः । युतसिद्धिरुभयोरपि संबन्धिनोः परस्परपरिहारेण पृथगाश्रयाश्रयित्वं सा ययोर्नास्ति तावयुतसिद्धौ तयोः संबन्धः समवायः यथा तन्तुपटयोः । तत्र यद्यपि तन्तवः स्वारंभकावयवाश्रितास्तथापि पटस्य तन्त्वाश्रितत्वान्न द्वयोः परस्परपरिहारेण पृथगाश्रयाश्रयित्वम् । तेनानित्यानां द्वयोः पृथगाश्रयाश्रयित्वं युतसिद्धिरयुतसिद्धिस्तु तद्विपरीता । नित्यानां तु पृथग्गमनयोगित्वं युतसिद्धिस्तद्विपरीतायुतसिद्धिः । यथाकाशद्रव्य-

भाव इति विकल्पार्थं दूषयति—**नाद्य इति** । तामेव विवृणोति—**अतीतेति** । भावमात्रादसंसर्गित्वमात्रं हि सत्ताया सिसाधयिपितं तच्चातीतादिभ्यः सिद्धमिति न विशेषसिद्धिः सिद्धसाधनं चेदमर्थान्तरत्वम् । साध्यवैकल्यमेव दर्शयति—**गोत्वस्यापीति** । बाधश्च द्रष्टव्यः । किञ्च सत्ता सामान्यसमवायविशेषातिरिक्तभावासंसर्गिणी जातित्वाद्भोत्ववदित्यनुमानसमवादाभाससमानयोगक्षेमत्वं विपक्षे बाधकतर्काभावाच्छङ्कितप्रयोजकता च । मानमनोहरकारीयमनुमानं शङ्कते—**आकाशमिति** । एतच्च तदीयविवादपदविवरणम् । एतच्च विमुद्रव्यामात्रोपलक्षणम् । समवायीत्युक्ते शब्दादिगुणस्य सामान्यस्य च समवायित्वेनार्थान्तरता तदर्थगुणसामान्यव्यतिरिक्त्युक्तम् । घटे च कर्मणा साध्यसिद्धिः । आकाशे च तदभावाद्दिशेषसिद्धिः । अस्यार्थान्तरत्वमाह—**मैवमिति** । शक्तिः पदार्थान्तरमिति हि गुरुणा मतं तत्समवायिप्रयुक्तं च दूषणमाह—**भाट्टेति** । व्याप्यत्वासिद्धिमाह—**वेगवत्त्वेति** । इदमप्याभाससमानयोगक्षेमं शक्यतेऽनुमातु आकाशं गुणसामान्यविशेषव्यतिरिक्तसमवायिद्रव्यत्वाद्भट्टवदिति । यं च समवायमवलम्ब्यामुकसमवाय्यमुकसमवायीति निरर्गलं जल्पसि सोपि समवायो दुर्निरूप इत्याह—**नापि समवायेति** । तत्र प्रशस्तपादोक्तं लक्षणमनुवदति—**तथाह्ययुतसिद्धानामिति** । भाष्यं व्याचक्षाण कृत्स्नस्य तस्य लक्षणपरता दर्शयति—**अस्य चायमर्थ इति** । तत्रायुतसिद्धेः युतसिद्धिज्ञानाधीनत्वं तावद्दर्शयति—**युतसिद्धिरिति** । ननु कथं तन्तुपटयोरयुतसिद्धिर्यावता पटसंबन्धिव्यतिरेकेण तन्तूनां स्वावयवाश्रितत्वमिति तत्राह—**तत्र यद्यपीति** । उभयोः पृथगाश्रयाश्रितत्वं युतसिद्धिः । नचेह तथात्वं पटस्य संबन्धितन्तुव्यतिरिक्तानाश्रितत्वादित्यर्थः । फलितमाह—**तेनेति** । द्वयोरपि संबन्धितिरिक्ताश्रयाश्रयित्वं युतसिद्धिस्तद्विपरीता अयुतसिद्धिरित्यर्थः । नन्वियं चेद्युतसिद्धिर्गतं तर्हि परमाणूनां युतसिद्ध्या, भवितव्यं च तथा, इतरथा परमाण्वो संयोगाभावेन व्युत्पादिकार्यानां रम्भप्रसङ्गात्सदातनभावप्रसङ्गात् व्युत्पादिरयुतसिद्धिपरमाणुसंबन्धस्य सदातनत्वादित्यत आह—**अनित्यानामिति** । का तर्हि नित्यानां परमाणुमनसामाकाशादिभिः परस्परं च युतसिद्धिरिति तत्राह—**नित्यानां त्विति** । यथाकाशद्रव्यत्वयोरिति । नहि तत्रान्यतरस्यापि पृथग्गतिमत्त्वमस्ति यथाकाशपरमाण्वोरिति भावः । उक्तश्चायं विभागस्तदीयभाष्ये । सा पुनर्द्वयोरन्यतरस्य वा पृथग्गतिमत्त्वमित्यं

त्वयोः तत्रायुतसिद्धयोः संबन्ध इत्येतावति लक्षणे सुखस्य धर्मस्य च कार्यकारणभावं संबन्धोपि समवायः स्यात् । आत्मैकाश्रिततया तयोरयुतसिद्धत्वात्तदर्थमाधार्याधारभूतानामिति पदम् । एवमप्याकाशस्याकाशपदस्य च वाच्यवाचकसंबन्धः समवायः स्यात्तन्निवृत्त्यर्थमिहप्रत्ययहेतुरिति पदम् । नहि तस्मात्संबन्धादिहेदमिति बुद्धिर्जायते । केवलाकाशस्यैव प्रतीतेः । आधार्याधारभूतानामिहप्रत्ययहेतुरित्येतावति लक्षणे कुण्डवदरसंबन्धेऽतिव्याप्तिस्तन्निवृत्त्यर्थमयुतसिद्धानामिति पदम् । न समस्तमेवेदं समवायलक्षणमिति कन्दलीकारः तदसत् । ‘न स्यादयुतसिद्ध्यादि समवायस्य लक्षणम् । विशेषणविशेष्यत्वसंबन्धे व्यभिचारतः ॥ १४ ॥ इह भूतले घटाभाव इति विशेषणविशेष्यभावलक्षणपि संबन्धे लक्षणस्यातिव्याप्तिः । अस्ति हि तत्रायुतसिद्धिर्भूतलघटाभावयोर्भूतलस्य स्वावयवाश्रितत्वेऽप्यभावस्य भूतलातिरिक्ताश्रयाभावात् । अस्तिचाधार्याधारभाव इहप्रत्ययश्च । अथ भावयोरीदृशः संबन्धः समवायः तथापीह पटे रूपसमवायो रूपसमवायवान्पट इति विशेषणविशेष्यभावे लक्षणस्यातिव्याप्तिः । उक्तलक्षणस्य तत्रापि संभवात् । अथ गुणगुणिनोः क्रियाकारकयोरवयवावयविनोर्जातिजातिमतोर्विशेषतद्वतोश्च यः संबन्ध उक्तरूपः समवाय इति चेन्न । तेषामेवान्योन्यविशेषणविशेष्यभावेतिव्याप्तेः ।

तु नित्याना, अनित्याना तु युतेष्वाश्रयेषु समवायो युतसिद्धिरिति । इदानीं श्रीधराचार्यरीत्या विशेषणानामुपयोगं दर्शयति—तत्रेत्यादिना । ननु कथं सुखधर्मयोरयुतसिद्धिरिति तां दर्शयति—आत्मैकेति । उभयोः परस्पराश्रयत्वे सति परस्पराश्रयातिरिक्ताश्रयत्वं हि युतसिद्धिस्तद्वाहितं चानयोरस्तीति भावः । इदं तु चिन्त्यम् । कथमनयो परस्पराश्रयातिरिक्तानाश्रययोरयुतसिद्धिरिति । द्वयोः पृथगाश्रयाश्रयित्वाभावस्यैवायुतसिद्धत्वोपपत्तौ परस्परपरिहारविशेषणवैयर्थ्यात् । नच नित्यरीत्या, अनित्यत्वात् । तृतीयविशेषणकृत्यमाह—एवमपीति । अस्याकाशतद्वाचकाकाशादिपदयोरयुतसिद्धिराधाराधेयभावश्चाकाशविशेषगुणत्वात्तस्येति भावः । इत आत्म्यासिद्धान्तोपक्रमं निगदव्याख्यातम् । कन्दलीकार इति किरणावलीकारपक्षे हि न समस्तमिदं भाष्यं लक्षणमपि त्वयुतसिद्धानां संबन्ध इत्येतावत् । तेन च नित्य संबन्ध इति लक्षणमुक्तं भवति । इहप्रत्ययहेतुरिति च तत्र प्रमाणोपन्यासः । इहप्रत्ययस्य च निर्विपर्ययत्वेनासम्भवरिहारायाधाराधेयभावानामिति विषयनिर्देश इति भाष्ययोजनेति भावः । तदेतदूपयति—तदसदिति । युतसिद्धिं पुरस्कृत्य यदिदं लक्षणमुक्तं तन्न स्यात् । कुत । विशेषणविशेष्यत्वसंबन्धे व्यभिचारादिति श्लोकयोजना । उत्तरार्धं निवृत्तौ—इह भूतल इति । ननु यद्यपि तयोराधाराधेयभावः प्रतीयते तथापि कथमयुतसिद्धिरिति तत्राह—अस्तिर्हीति । अन्यतरस्य पृथगाश्रयाश्रयित्वाभावे भवत्येवायुतसिद्धिरिति भावः । निगदव्याख्यानेन ग्रन्थेन लक्षणविशेषं तत्र वर्तयति—अस्ति चेति । विशेषणान्तरं शङ्कते—अथेति । तथापि भावरूपगुणगुण्यादिनिष्ठसमवायसमवायिगतविशेषणविशेष्यभावेतिव्याप्तिरित्याह—तथापीति । शङ्कते—अथ गुणगुणिनोरिति । क्रियाकारकयोः कर्मतद्वतोरित्यर्थः । ननु किमनेनाधिकरणमाशङ्कते यावताऽत्रैव पूर्वमन्यतिव्याप्तिरुदीरितेति सत्यम् । दुष्टोऽस्याभिप्रायः । सत्ताभिप्रायदोषोऽनन्तरमेवाविर्भवति । पञ्चसु हि स्थलेषु समवायसम्भवस्तदेतेषूपेक्षितं संबन्ध समवायो विशेषणविशेष्यभावस्त्वतिरिक्तेष्वपि व्यवहारप्रसवितेति नातिव्याप्तिरिति भावः । तथाप्युक्तातिव्याप्तितादवस्थमिति परिहरति—न तेषामेवेति ।

तत्र समवायस्यैव हेतुप्रत्ययहेतुत्वं नेतरस्येति चेन्न । एवमपीहाकाशे शब्द इत्यत्रेह शब्दस्याकाशस्य च वाच्यवाचकसंबन्धे इह प्रत्ययहेतावतिव्याप्तेस्तादवस्थ्यात् । तत्र हि गुणगुणिनोराधार्याधारभूतयोर्युतसिद्धयोरिह प्रत्ययहेतुरिहेति शब्दाकाशयोरस्ति वाच्यवाचकलक्षणः संबन्धः । किंचाधार्याधारभूतानामिति व्यर्थं विशेषणम् । अयुतसिद्धयोरिह प्रत्ययहेतुः संबन्ध इत्येतावत्यपि लक्षणे भवतामव्याप्त्यतिव्याप्त्यभावात्, अनाधार्याधारभूतयोरिह प्रत्ययस्यैवानुदयात् । अस्तु तर्ह्येतावलक्षणमिति चेन्न । तत्रापि प्रागुक्तवाच्यवाचकसंबन्धेऽतिव्याप्तेः ।

भवतु तर्ह्यर्वाचीनमतानुसारेण नित्यः संबन्धः समवाय इति लक्षणमिति चेन्न । विशेषणविशेष्यभाव एव व्यभिचारात्सोऽनित्यः प्रतियोगिनोरनित्यत्वादिति चेत्तथापि नित्यप्रतियोगिकविशेषणविशेष्यभावे व्यभिचारस्य तुल्यत्वात् प्रतियोगिनोरनित्यत्वेन संबन्धानित्यत्वापादनस्य समवायेपि समानत्वाच्च । भावरूपत्वे सतीति विशेषणादयमदोष

योसावभिप्रायदोषः पूर्वमुद्धृतस्तमुद्विरन्पर्यनुयुक्ते—तत्र समवायस्यैवेति । यद्यपीह पटे रूपमित्यादौ विशेषणविशेष्यभावोप्यस्ति तथापि नासाविह प्रत्ययहेतु तत्कस्य हेतो, अमुख्यत्वात् । औपचारिक खल्वय विशेषणविशेष्यभाव संबन्धः । न च मुख्यसमवेत्तौपचारिकाश्रयणं युक्तम् । न खलु बलवर्मणि क्रौर्यशौर्यरोषविस्तृततरोन्नद्धस्कंधादिगुणयोगात्सिद्धशब्द प्रवृत्त सिद्धेपि तन्निमित्तं प्रयुज्यते, अस्ति हि तदिति, तस्मात्समवाय एव तत्र हेतुरित्यत्र तावदिदं वक्तव्यम् । कथं विशेषणविशेष्यभावस्यौपचारिकत्वमिति न्यायमकत्वं वा सबद्धबुद्धिजनकत्वं वा संबन्धत्वं तच्च सर्वं संयोगादिभ्यो विशेषणविशेष्यभावस्य न विशेष्यते । न च मूलसंबन्धापेक्षत्वादौपचारिकत्वम् । संयोगस्यापि तथात्वप्रसङ्गात् । न च मूलसंबन्धाभावादौपचारिकत्वम् । सर्वत्रासिद्धे, समवायेपि तथाभावप्रसङ्गाच्च । तदेतदपि ना सूचयन् दूषणान्तरमाह—एवमपीति । यद्यप्याकाशवाचकपदमात्रवाच्यवाचकभावस्येह प्रत्ययहेतुत्वं नास्ति तथापीहाकाशे शब्द इत्यत्रेह शब्दस्याकाशस्य च वाच्यवाचकसंबन्धेतिव्याप्तिरित्यदित्यर्थः । एतदेव विवृणोति—तत्र हीति । “गुणगुणिनोरिति । इहेति शब्दाकाशयोरित्यर्थः । न च तत्रापि समवाय एवेह प्रत्ययहेतुर्न वाच्यवाचकभाव इति वचनीयम् । तथा सति अगृहीतसगतिकानामपीहेति पदश्रवणादिहेति बुद्ध्युदयप्रसङ्गादस्ति हि समवाय इति । किंचाधाराधेयभूतानामिति विशेषणं व्यर्थम् । इह प्रत्ययहेतुरित्यनेनैवाधार्याधारभावस्यापि सिद्धत्वादित्याह—किंचेत्यादिना । उत्तरौ चोद्यपरिहारौ विशदौ ।

लक्षणान्तरं शङ्कते—भवत्विति । एतच्चैतद्वाक्यार्थतयोदयनेन समर्थितं लक्षणं तदेव श्रीवल्लभवादिवागीश्वरसर्वदेवानां समतं लक्षणम् । अत्र च संयोगव्यवच्छेदाय नित्यग्रहणम् । आत्मादिव्यवच्छेदाय संबन्धग्रहणम् । ननु न विशेषणविशेष्यभावे लक्षणप्रसक्तिस्तस्य नित्यत्वाभावाद्व्यतिरूपप्रतियोगिको ह्यर्थः संबन्धः संच प्रतियोग्यनित्य इत्यनित्य एवायमिति शङ्कते—सोऽनित्य इति । तत्रायमेकोऽनेको वा । एकत्वे नित्यवृत्तिलोभान्नित्यत्वस्यापि वक्तव्यं, तथाच तत्रातिव्याप्तिरनेकत्वे प्राह—तथापीति । न खलु सर्वत्रानित्ययोरेव विशेषणविशेष्यभावः, नित्यानामप्यात्मतज्जातिप्रभृतीनामात्मत्वजातिमानित्यादौ विशेषणविशेष्यभावदर्शनात्तत्तत्र तत्र न प्रतियोगिद्वाराप्यनित्यत्वमित्यर्थः । किंचानित्यप्रतियोगिस्थलेपि न विशेषणविशेष्यभावस्यानित्यता, समवायेपि तथाभावप्रसङ्गादित्याह—प्रतियोगिनोरिति । शिवादित्यमतं शङ्कते—भावरूपत्वे सतीति । तथाप्यजसंयोगेतिव्यापकं स हि विभुद्रव्यसंयोगत्वान्नान्यतरोभयकर्मभ्यां जायते

इति चेन्न । अजसंयोगे व्यभिचारान् । स एव नास्तीति चेन्मैवम् । प्रमाणसिद्धत्वात् आकाशमात्मना संयुज्यते संयोगित्वाद्वदवत् । नच क्रियावत्त्वमूर्तत्वादिरुपाधिः । तद्व्यतिरेकेऽसंयोगित्वस्यैवोपाधित्वान् । किंचाकाशमात्मना संयुज्यत इत्यासंबन्धाधार इति साध्ये क्रियावत्त्वमूर्तत्वयोरुपाधित्वमेव नास्त्यासनि साध्याव्याप्तेस्तस्मादुक्तयुक्त्या न समवायस्य लक्षणसंभवः । प्रमाणमपि तत्र प्रत्यक्षमनुमानं वा । नाद्यः । तदभावात् ।

इह तन्तुषु पट इति प्रत्यक्षमस्तीति चेन्न । विचारासहत्वात् । समवायो ह्याधारबुद्धिं कुर्यादाधेयबुद्धिं वोभयबुद्धिं वा । सर्वथापि नोपपद्यते । तन्तुपटयोरुभयोरप्याधारबुद्धे-

नापि संयोगजः कारणाकारणसंयोगाज्जायमान खलु कार्याकार्यसंयोगः संयोगजसंयोगः । नच विभुद्रव्य-संयोगस्यैवंभावः, तेषामकारणत्वेन तत्संयोगस्य कारणाकारणसंयोगजन्यत्वाभावादतस्तत्रातिव्याप्तिरीत्याह —नाजसंयोग इति । नन्वजसंयोग एव नास्ति प्रमाणाभावाद्यथाह भाष्यकार —‘नाजः संयोगोस्ति नित्य-पारिमाण्डल्यवत्पृथगनभिधाना’दिति । तदेतच्छङ्कते—स एवेति । विभुद्रव्ययोरपि संयोगेनुमान मानमाह —आकाशमिति । इदमनुमानमाशङ्क्य मानमनोहरकारो दूषयामास । तत्र क्रियावत्त्वस्य मूर्तत्वस्य पर-त्वापरत्वयोर्वोपाधे आत्माकाशेन न संयुज्यते अमूर्तत्वाद्रूपादिवदिति ब्रुवाणस्तत्रोपाधि दूषयति—नचेति । उपाध्यभावसाध्याभावयोरपि व्याप्तिरेष्टव्या अन्यथा साध्याव्यापकत्वप्रसङ्गात्सा च नास्ति सोपाधिकत्वादित्याह—व्यतिरेक इति । रूपादावमूर्तत्वात्मसंयोगित्वयोर्व्याप्तावसंयोगित्वमुपाधिस्तथा च व्यतिरेकव्याप्तिमङ्गात्साध्याध्यापकयोरपि व्याप्तिमङ्ग इत्यर्थः । एतेन मानमनोहरोक्तं प्रत्यनुमानमपि निरस्तम् । स्पष्टं च साध्याव्यापक उपाधि । आत्मना संयुज्यते इति कथं आत्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वानाक्रान्तसंयोगाधिकरणमिति । तथाच कथं मूर्तत्वाद्युपाधिः संभवति आत्मन्येव साध्याव्याप्ते । यच्च तेन स्वानुमानेऽद्रव्यत्वमुपाधिमाशङ्क्योक्तमाकाशे तदभावेन साध्याव्याप्तेरिति तदप्येवं साध्यव्याख्याने क्रियमाणे निरवकाशमुपाधिवदेव साध्यस्याप्याकाशेऽभावेन साध्यव्याप्तेरीक्ष्यमाणत्वात् । मूर्तत्वं च पक्षेतरत्वान्नोपाधि । तथाहि । परिच्छिन्नपरिमाणवत्त्वं मूर्तत्वं तत्र परिमाणवत्त्वमित्यनेनैव साध्यव्याप्तिरिति परेच्छिन्नग्रहणं पक्षीकृताकाशतत्तुल्यविभुद्रव्यव्यावृत्त्यर्थमिति कथं न पक्षेतरः । सोयमविदितस्वपरसाध्यसत्त्वो निर्विषयानेव दूषणाभासानाहोपुरुषिकयैव भाषमाणो ‘निमित्तादपराद्धेयोर्धानुष्कस्येव बलितमि’ति न्यायविषयता नातिवर्तते । नित्यत्वानिरूपणाच्च तद्विशिष्टलक्षणासिद्धिः । तथाहि तत्किं ध्वंसाप्रतियोगित्वं स्वध्वंसाप्रतियोगित्वं वा । आद्ये संयोगेतिव्याप्तिः । तस्यापि यत्किञ्चिद्ध्वंसाप्रतियोगित्वात् । नेतरः । आत्माश्रयात्, प्रतियोगिध्वंसादेश्वानिरूपणात् । किंच ‘तत्तल्लक्षणवच्छेदे तत्तल्लक्ष्म न विद्यते । आत्माश्रयादतो व्याप्तिस्तेषु स्यात्सर्वलक्ष्मणम् ॥ १ ॥ नच तेषामलक्ष्यत्वं षट्पदार्थातिरेकतः । नचात्यन्तमसत्त्वं तद्बुद्धेर्वाधायभावतः ॥ २ ॥ नाभाववर्गनिक्षेपस्तेषामप्रतियोगिनः । प्रतियोग्यनिरूप्यस्याभावता नातिशक्तिः ॥ ३ ॥’ किंच ‘तत्तत्कालेषु लक्ष्माणि वर्तेरन्वा न वा वद । वर्तेरन्यदि च तत्तत्कालेऽतिव्याप्तिरापतेत् ॥ ४ ॥ न चेत्तदा तदा त्वेषु लक्ष्येष्वव्याप्तिरक्षता । न च तत्समवायित्वं तत्तद्वर्मेध्वसमवात् ॥ ५ ॥’ नित्यः सबन्ध इति, लक्षणं किं सप्रतिपन्नसंयोगादिसबन्धस्य तदतिरिक्तस्य कस्यचिद्वा । नाद्यः । अपसिद्धान्तापातात् । न द्वितीयः । तस्मिन्प्रमाणाभावादित्यभिसधिराह—प्रमाणमपीति ।

ननु किमिति प्रमाणाभावः प्रत्यक्षस्य सत्त्वादिति शङ्कते—इह तन्तुष्विति । यथाहि तन्तुबुद्धेः पट-बुद्धेश्च विषयतया हेतुभूतौ तन्तुपटौ प्रतीयते तथेहेति बुद्धेर्जनकतया समवायोपि प्रतीयते इत्यभिमानः प्रत्यक्षवादिनः, दूषयति—नेति । पक्षत्रयेपि दूषणमाह—तन्तुपटयोरिति । आधारबुद्धिमात्रजनकत्वे चि. २६

राधेयबुद्धेरुभयबुद्धेश्चाविशेषण प्रसङ्गात् । जातिजातिमन्तौ मिथःसंबद्धावित्यस्येवानु-
भवान्तरमिहेति चेन्मैवम् । विकल्पासहत्वात् । तथाहि । अस्मिन्ननुभवे समवायस्तदीय-
त्वेन वान्यदीयत्वेन वा स्वरूपेण वा प्रथत इति वक्तव्यम् । नाद्यः । तदीयत्वस्य संब-
न्धान्तराद्यत्वेनानवस्थापातात् । न द्वितीयः । अन्यत्रैव संबन्धबोधप्रसङ्गात् । न
तृतीयः । कचिदपि संबन्धप्रत्ययानुपपत्तेः । असत्येव संबन्धे तदीयत्वमनुभवसिद्धमिति
चेन्न । जालादेरप्यसत्येव संबन्धे तदीयत्वानुभवप्रसङ्गात्, असत्ख्यातिप्रसंगाच्च । अस-
त्येव संबन्धे संबन्धिभ्यां निरूपणात्तदीयत्वव्यवहारे जातेरपि संबन्धान्तरमन्तरेण
व्यक्त्या निरूपणात्तदीयत्वव्यवहारप्रसङ्गः ।

नानुमानमपि । लिङ्गाभावात् । विवादाध्यासित इहप्रत्ययः सबन्धपुरःसरोऽबाधिते-
हप्रत्ययत्वादिहकुण्ड बदराणीति प्रत्ययवदित्यनुमानमस्तीति चेन्न । विशेषणविशेष्यभा-
वाधाराधेयभावसंबन्धादिना सिद्धसाधनत्वात् । विशेषणविशेष्यदेरेव मूलसंबन्धपुरःस-

इहतन्तुषु पटेषु इत्युभयत्राप्याधारबुद्धि कुर्यात् । द्वितीये तु तन्तव पटे वर्तन्त इत्याधेयबुद्धिमेव कुर्यात् ।
तृतीये तु तन्तुष्वधाराधेयबुद्धि पटेष्वधाराधेयबुद्धि कुर्यादित्यर्थः । अविशेषणोभयबुद्धेरिति चान्वयः ।
प्रत्यक्षान्तर शङ्कते—जातिजातिमन्ताविति । तदीयत्वेनेति । जातिजातिमदधीनत्वेनेत्यर्थः । स्व-
रूपेण वेति । अपराधीनतया वेत्यर्थः । नाद्य इति । तत्संबन्धं विना तदीयत्वानुपपत्तेः समवायस्यापि
संबन्धान्तरवत्त्वेऽनवस्था स्यादित्यर्थः । अनवस्थापि द्वितीयपक्षे द्रष्टव्या । प्रथमपक्षेऽनवस्थापरिहार शङ्कते—
असत्येव संबन्ध इति । इह गवि गोत्वमित्यादौ तदीयत्वेनैव समवायः प्रतिभाति नच तावता संबन्धव-
न्त्वमप्रतीते । नच संबन्धाभावे तदीयत्वबुद्ध्यभावः । जातिव्यक्तिसमवायबुद्धीनामेव स्वभाववशात्तदीयत्व-
व्यवहारजनकत्वादिति भावः । एवं तर्हि समवायोपि न सिद्ध्यति तत्तत्स्थलेपि संबन्धिबुद्धिभिरेव जालादीना
तदीयत्वबुद्धिसमवादिनि दूषयति—न जालादेरपीति । दूषणान्तरमाह—असत्ख्यातीति । यदि हि
संबन्धव्यतिरेकेण तदीयत्वं प्रतीयते तदा सबन्धाभावे एव तत्संबन्धित्वप्रतीतिरित्युक्तं स्यात्ततोऽन्यत्र सद-
न्यत्र प्रतीयत इत्यन्यथाख्यातिर्त्याग असत्ख्यातिस्वीकारश्च स्यात् । नचान्यत्र सतः समवायस्य तत्र प्रती-
तिरन्यत्रापि तदभावस्यापादितत्वादिति भावः । विषयाभावे जायमानशुक्तिरजतससर्गप्रत्ययवद्भ्रान्तित्वं वा
असत्ख्यातित्वम् । ननु समवायस्य समवायिभ्या यदिदं निरूप्यत्वं तत्कृतेयं तदीयत्वख्यातिस्तेन नासत्ख्या-
तिप्रसङ्गः, निरूप्यनिरूपकभावस्यैव तदालम्बनत्वादिति तत्राह—असत्येवेति ।

तदेवं प्रत्यक्षं दूषयित्वाऽनुमानं दूषयति—नानुमानमिति । अनुमानं शङ्कते—विवादेति । इहपटे
रूपसमवाय इत्यादीहप्रत्यये बाधपरिहाराय विवादाध्यासितग्रहणम् । जालादिप्रतियोगीत्यर्थः । इह शङ्के पीत-
मित्यादिप्रत्ययेषु व्यभिचारपरिहारायाबाधितग्रहणम् । असंबद्धपदार्थप्रत्ययव्यवच्छेदायेहेति विशेषणम् ।
तथाच कुण्डबदरादिवज्जातिषु सयोगासमवायसमवायसिद्धिरित्यर्थः । नेदं समवायसाधकं जालादेर्विशेषणवि-
शेष्यभावादिसाधकतयाप्यर्थान्तरत्वादिति परिहरति—न विशेषणेति । नन्विहप्रत्ययस्य संबन्धपुरस्सर-
त्वमनुमिन्वतामयमभिप्रायः—यत्तत्रत्यविशेषणविशेष्यभावस्य मूलभूत संबन्ध सेत्स्यतीति । शङ्कते—विशे-
षणविशेष्यादेरिति । तत्किमिदानीं जालादिगोचरो विशेषणविशेष्यभाव संबन्धान्तरपूर्वक विशेषण-
विशेष्यभावत्वाद्दृष्ट्यादिष्विवेत्यनुमिनोषि तथाचानैकान्तिकत्वम् । इहभूतले घटाभाव इहपटे रूपसमवाय
इत्यादिविशेषणविशेष्यभावस्य संबन्धान्तरपूर्वकत्वाभावादिति दूषयति—नेति । अत्र च शङ्कायामपि विष-

रत्वं सिसाधयिषितमिति न सिद्धसाधनत्वमिति चेन्न । इहभूतले घटाभाव इत्यस्मिन्नेव विशेषणविशेष्यभावप्रत्ययेऽनैकान्त्यात् ।

यच्च लीलावतीकारेणानुमानमुक्तं जालादिगोचरो विशिष्टव्यवहारः संबन्धनियतो भावमात्रविषयाबाधितविशिष्टव्यवहारत्वात्सघटं भूतलमिति व्यवहारवत् । सामानाधिकरण्यज्ञानमबाधितसंबन्धज्ञानपुरःसरमबाधितसामानाधिकरण्यज्ञानत्वाद्दण्डकुण्डले देवदत्तसंस्तुष्टे इति ज्ञानवदिति । तदप्ययुक्तम् । प्रागुक्तनीत्या सिद्धसाधनत्वान् । अथ विशेषणविशेष्यभावादेः संबन्धत्वमेव नास्त्यद्विष्टत्वात् द्विष्टत्वे चोभयत्रापि विशेषणबुद्धेर्विशेष्यबुद्धेः अविशेषेण जननप्रसङ्गात्, एवमाधाराधेयभावेपि ततो न सिद्धसाधनतेति चेन्मैवम् । द्विष्टत्वेपि कुण्डे बदराणीति प्रतिनियताधाराधेयभावबुद्धिजनकसंयोगवत्, तन्तुषु पट इति

यवाचकपदं विषयिप्रत्ययस्य लक्षकं प्रत्ययशब्दो वा परिहारे प्रमादलिखितः । अतो विषयस्य लक्षकत्वे तत्प्रत्ययेनैकान्तिकत्वाभिधानमयुक्तमिति नाशङ्कितव्यम् ।

अत्र लीलावतीकार पूर्वपक्षावसरे स्वयमेवैतानि दूषणानि उद्गीर्य सिद्धान्तेऽनुमिमांय । तदनुवदति—**यच्च लीलावतीकारेणेति** । अघटं भूतलमित्यादिषु बाधपरिहारार्थं जालादिगोचर इत्युक्तम् । अबाधितविशिष्टव्यवहारत्वादित्युक्ते अघटं भूतलमिति विशिष्टव्यवहारेऽनैकान्तिकत्वं तदर्थं भावमात्रेत्युक्तम् । भावमात्रविषये विशिष्टव्यवहारत्वादित्युक्ते पीतं शङ्ख इत्यादिव्यवहारेऽनैकान्तिकता तदर्थमबाधितेत्युक्तम् । इमौ घटपटवित्यादिव्यवहारव्यावर्तनाय विशिष्टपदम् । सघटं भूतलमित्यत्र संयोगमादाय साध्यसिद्धिः । अनुमानान्तरमपि तदीयमुद्गावयति—**सामानाधिकरण्यज्ञानमिति** । अबाधितसामानाधिकरण्यज्ञानं पक्षः । इतरथा भ्रान्तिस्थले बाधासिद्धौ प्रसङ्गात् । रूपं समवेतमिदं रजतमित्यादिस्थलेष्विवारोपितसंबन्धज्ञानेनार्थान्तरतानि वृत्त्यर्थमबाधितग्रहणम् । तादृशस्थलेष्वनैकान्तिकतानि वृत्त्यर्थं च हेतावबाधितग्रहणम् । घटं पट इत्यादिज्ञानव्यवच्छेदाय सामानाधिकरण्यपदम् । इदं समवायस्य प्रत्यक्षत्वसाधनाय प्रयुक्तम् । न्यायनये—‘ननु प्रत्यक्ष एव समवाय’ इत्युपक्रम्य नैयायिकमतेन समवायप्रत्यक्षतोपन्यासात्तदेव दूषयति—**तदप्ययुक्तमिति** । प्रागुक्तनीतिविशेषणविशेष्यभावः संबन्धः । ननु विशेषणविशेष्यभावादेः संबन्धत्वमेव नास्ति तत्कुतस्तेनार्थान्तरतेति शङ्कते—**अथेति** । नन्वद्विष्टत्वमेव कुतस्तत्राह—**द्विष्टत्वे चेति** । विशेषणविशेष्यत्वनियमो न स्यादित्यर्थः । इममेव न्यायमाधाराधेयभावेऽप्याह—**एवमिति** । तत्रापि बदरादेराधारत्वं कुण्डादेराधेयत्वं च प्रतीयेत इत्यर्थः । दूषयति—**मैवमिति** । यथा हि कुण्डबदरसंयोगस्य द्विष्टत्वाविशेषेपि कुण्ड एवाधारबुद्धिं करोतीति ब्रूषे ननु बदरेषु बदरेष्वेवाधेयबुद्धिं ननु कुण्डे तत्कस्य हेतोः, स्वभावविशेषादेव । एवमाधाराधेयभावादेरपीत्यर्थः । स्यान्मतं न संयोगित्वमात्रात्कुण्डादेराधाराधेयभावः, किं तर्हि बदरपतनप्रतिबन्धकत्वं कुण्डस्य तदाधारत्वं बदराणां च तत्प्रतिबद्धगुरुत्वाधिकरणत्वं तदाधेयत्वं तच्च द्वयं प्रतिनियतमेवेति वैषम्यमिति तत्राह—**तन्तुषु पट इतीति** । नहि तत्रावयविगुरुत्वमवयवै प्रतिबध्यते । नित्यप्रतिबन्धप्रसङ्गेनावयविनो नियमेन पतनाभावप्रसङ्गात्, रूपाध्याधारत्वाभावप्रसङ्गाच्च । नहि तेषां पतनमस्ति यत्प्रतिबन्धकतया तदाधारत्वं स्यात् । नचौपचारिकत्वम्, मुख्ये बाधाभावात्, वैपरीत्यस्यापि सुवृत्तत्वाच्च । तस्मात्तन्तुषु पट इत्यत्रोभयो समवायाश्रयत्वाविशेषेपि समवाये स्वभावविशेषादेव तन्तुष्विहबुद्धिं पटे चाधेयबुद्धिरित्यङ्गीकार्यं सच स्वभावविशेषोत्रापि समानः । अथ तत्र समवायस्यैकत्वेपि व्यञ्जकशक्त्यैवैचित्र्यात्प्रतिनियमः । यथोक्तं भाष्यकृता समवायैकत्वेन द्रव्यत्वगुणकर्मसङ्कराशङ्काया परिहारमुपसंहारता ‘यथा कुण्डदध्नो संयोगैकत्वेपि भवत्याश्रयाश्रयिभावनियमः, तथा द्रव्यत्वादीनां समवायैकत्वेपि व्य-

प्रतिनियतप्रतीतिजनकसमवायवच्च बुद्धिवैचित्र्यजननोपपत्तेः, प्रतिवादिनाङ्गीकृतस्य वा-
द्यनङ्गीकारमात्रेण सिद्धसाधनतायाः परिहर्तुमशक्यत्वात् ।

किंचेदमबाधितत्वं सर्वानुमानेषु विवक्षितं किं प्रत्यक्षेणाबाधितत्वमुत युक्त्या किं वा
व्यवहारे बाधराहित्यम् । नाद्यः । नीलं नभः प्रादेशिकः सवितेत्यादिविशिष्टव्यवहारे
व्यभिचारात् । नापि द्वितीयः । युक्तिबाधविरहस्यात्राप्यसिद्धेः । तथाहि समवायः
स्वतन्त्रः परतन्त्रो वा । नाद्यः । समवायिभ्यामसंबन्धे पदार्थान्तरवत्तद्वटकत्वाभावप्रसङ्गात् ।
नापि द्वितीयः । संबन्धिभ्यां संबन्धे संबन्धान्तरसापेक्षत्वेनानवस्थाप्रसङ्गात् । अथ सम-
वायः संबन्धिभ्यां संबन्धे संबन्धान्तरं नापेक्षते, तस्य संबन्धिसंबन्धनपरत्वात्, नहि
तस्मिन्सतिसंबन्धिनावसंबद्धौ भवतोऽतो नानवस्थेति चेन्न । संयोगस्याप्युक्तनीत्या संब-
न्धान्तरानपेक्षत्वप्रसङ्गात् । नापि तृतीयः । नीलं नभ इत्यादावपि व्यवहारे बाधाभावे-
न व्यभिचारस्य तादवस्थ्यात् । 'घटस्तद्वृत्त्यनित्यान्यभावसंबन्धवानयम् । संबन्धित्वादिति
स्याच्चेन्नाभावे व्यभिचारतः' ॥ १५ ॥ अयं घट एतद्वटनिष्ठानित्यत्वानधिकरणभावरूप-

ज्ञय्यज्जकशक्तिभेदादाधाराधेयत्वनियम इति मतं तर्हि इहाप्याधाराधेयभावस्यैकत्वेपि व्यज्जकशक्तिवैचित्र्या-
द्वैचित्र्यव्यवहार' इति समं समाधानमन्यत्राभिनिवेशादिति भावः । किंच प्रतिवादिना स्वसिद्धान्तानुरोधेना-
धाराधेयादिसंबन्धेष्वर्थान्तरत्वेऽभिहिते न वैशेषिकेण खानङ्गीकारमात्रात्तच्छक्यपरिहारम्, तस्य स्वसिद्धान-
न्तात्प्रच्यावनाभावादित्याह—प्रतिवाद्दीति ।

एवमर्थान्तरतामुक्त्वानुमानत्रयहेतुष्वबाधितेति विशेषणप्रयुक्तदूषणान्याह—किंचेदमिति । नाद्य इति ।
प्रत्यक्षेणाबाधितविशिष्टव्यवहारत्वं नीलं नभ इत्यादिष्वस्ति नहि तत्र प्रत्यक्षेण वैपरीत्यमनुभूयते तदयोग्य-
त्वात्तेषामथापि न साध्यमस्तिनैल्यादेर्विद्यदादेशं सबन्धासंभवादित्यर्थः । युक्तिबाधविरहितत्वमबाधितत्वं
प्रकृत्येवसिद्धमिति सप्रपञ्चं दर्शयति—नापि द्वितीय इत्यादिना । यदि समवायः स्वतन्त्रस्तदा स्वत-
न्त्रयोः संयोगव्यतिरिक्तसंबन्धाभावादद्रव्यत्वेन तस्याप्यसंभवात्संबन्धिभ्यामसंबद्ध इति वक्तव्यम् । असब-
द्धस्य च न तद्वटकत्वमिति प्रसङ्गादित्याह—नाद्यः समवायिभ्यामिति । परतन्त्रपक्षे दूषणमाह—नापि
द्वितीय इति । परार्थीनं हि परतन्त्रं नाम नचासबद्धस्य तदधीनता, अतिप्रसङ्गात् । तथाचानवस्थेति भावः ।
ननु संबन्धिभ्यां संबद्धोपि समवायो न संबन्धान्तरेण येनानवस्था स्यादपि तु संबन्धात्मकतया स्वभावादेव ।
यथाहुर्भाष्यकाराः 'यथा द्रव्यगुणकर्मणा सदात्मकस्य स्वभावस्य नान्यः सत्तायोगोस्ति एवमविभागिना वृत्त्या-
त्मकस्य समवायस्य नान्या वृत्तिरस्ती'ति । तदेतच्छङ्कते—अथेति । संबन्धिनोर्यत्संबन्धनं घटनं तत्पर-
त्वात्तत्स्वरूपत्वादित्यर्थः । एतदेव विवृणोति—नहि तस्मिन्निति । अयमत्र प्रथितोर्थः । समवायः सब-
न्धान्तरेण सबद्धः संबन्धित्वाद्वटवदिति सिद्धान्तिनोऽभिमतम् । तत्रचासबन्धत्वमुपाधिरिति पूर्वपक्षिणोभि-
प्रेतं तत्र सिद्धान्ती संयोगे साध्याव्यापकतामाह—न संयोगस्यापीति । नचासमवायत्वमुपाधिः, पक्षे-
तैरत्वात् । नचातेजस्त्वन्यायः, संप्रतिपन्नबाधकाभावादिति । व्यवहारे बाधाभावोऽबाध्यत्वमिति तृतीयपक्षे
व्यभिचारमाह—नापि तृतीय इत्यादिना । एतेन विवादाध्यासितं नित्यसंबन्धेन संबद्धं द्रव्यत्वादाका-
शवदिति मानमनोहरकारोक्तमपि निरस्तम्, विशेषणविशेष्यभावानर्थान्तरत्वादिति । अनुमानान्तरमुद्भाव-
यति श्लोकेन—घट इत्यादिना । सप्रहीतमनुमानं विवृणोति—अयं घट इति । एतद्वटनिष्ठानित्यत्वान-
धिकरणं च भावरूपश्च यः संबन्धस्तदधिकरणमिति योजना । विशेषणविशेष्यादिरूपाभावात्मकसंबन्धेना-
र्थान्तरतानिवृत्त्यै भावप्रवृत्तम् । भावरूपसंबन्धवानित्युक्ते संयोगेनार्थान्तरता तदर्थमनित्यत्वानधिकरणमि-

संबन्धवानसंबन्धित्वात्पटवदिति चेन्नैवम् । अभावे हेतोर्व्यभिचारान्तस्यापि विशेषणविशेष्यभावसंबन्धेन संबन्धित्वाङ्गीकारात् । अथ भावत्वादिति हेतुस्तथापि समवाये व्यभिचाराद्रव्यत्वादिति प्रयोगेपि संयोगनित्यतापादकतयार्थान्तरत्वप्रसङ्गः । नचानित्यस्य घटादेर्नित्यसंबन्धाधिकरणत्वानुपपत्तिः । समवायाधारत्ववत्तदुपपत्तेः । अतो यथा समवायस्य स्वभावसामर्थ्यादेवास्मिन् परत्र च संबन्धव्यवहारहेतुत्वमेवं गुणगुण्यादेरपि स्वभावसामर्थ्यादेव संबन्धव्यवहारहेतुत्वोपपत्तेर्न कल्पनागौरवानवस्थादुःस्थसमवायस्वीकारावकाशः । तदेवं लक्षणसंभवात्प्रमाणाभावाच्च न समवायस्य द्रव्यादिभ्यो भेदसिद्धिः । अतो न कापि लक्षणभेदाद्भेदसिद्धिरिति सिद्धम् ।

त्युक्तम् । तथाचाप्रसिद्धविशेषणता । तन्निवृत्त्यर्थ एतद्वदनिष्ठेत्युक्तम् । घटान्तरसंयोगे साध्यप्रसिद्धि तस्यानित्यत्वाधिकरणत्वेपि एतद्वदनिष्ठत्वे सत्यनित्यत्वानधिकरणत्वमस्त्येव, एतद्वदनिष्ठत्वानधिकरणत्वात् गुणादयश्च पक्षतुल्या इति न व्यभिचाराशङ्कावकाशः । नाभावे व्यभिचारत इत्यंशं व्याचष्टे—अभाव इति । नहि तस्य भावरूपसंबन्धाधिकरणत्वसंभवः, अभावस्य भावानधिकरणत्वात् । अथ च विशेषणविशेष्यभावेन तत्र सबद्धत्वमस्तीत्यर्थः । अभावे हेतोर्वृत्तिमेव दर्शयति—तस्यापीति । हेत्वन्तर शङ्कते—अथेति । तथापि समवायेनैकान्तिकता, अद्रव्यत्वेनासयोगित्वादनवस्थाभयाच्च न समवायवत्त्वम्, अथ च भावत्वं समवायस्यास्तीत्यर्थः । अस्तु तर्हि द्रव्यत्वादिति हेतुस्तथा च न व्यभिचारोपद्रवस्तत्राह—द्रव्यत्वादितीति । इदं हि भावरूपे नित्ये कस्मिंश्चित्संबन्धे विश्राम्यतीति, तथाच संयोगनित्यतयापि सार्थक्यादर्थान्तरमित्यर्थः । ननु कथमर्थान्तरता यावता संयोगस्य नित्यतैकं न संभवति तन्नित्यत्वेऽनित्यघटादिनिष्ठत्वानुपपत्तेः । अथ कथमनुपपत्तिः । घटाद्यभावदशायामनाधारस्य स्थित्यनुपपत्तेरसमवेतस्य च गुणत्वानुपपत्तिः कदाचिदसमवेततया स्थितस्य युतसिद्धतया कदाचिदप्यसमवायादिति तत्राह—नचानित्यस्येति । तत्किमियं राजाज्ञा नेत्याह—समवायेति । अयमभिसन्धिः । षण्णामपि पदार्थानामित्युपक्रम्याश्रितत्वं चान्यत्र नित्यद्रव्येभ्य इति भाष्यकारैर्माषणात्समवायस्याश्रितत्वं वक्तव्यं तत्रानित्यघटादिविगमे यः परिहारस्सचात्रापि भविष्यति । अथ तत्र समवायस्यैकत्वात्कतिपयनित्यपदार्थद्वयाश्रिततया नाश्रितस्वभावताव्याघातः । संयोगस्यैक्यं केन वार्यते । अथ तत्र घटसंयोगः पटसंयोग इति बुद्धिभेदात्संयोगभेदः, समवायेपि दीयता दृष्टिः । अस्ति रूपसमवायः गोत्वसमवाय इति बुद्धिभेदः । अथ घटासमवेतसंयोगस्य घटगुणत्वानुपपत्तिर्युतसिद्धतया च समवायानुपपत्तिरिति नूनं बधिर इव भवांलक्ष्यते कथमपरथा समवायमेव निराकुर्वन्तं प्रत्यननुरुपाणि ईदृशानि च वचनानि जल्पसि । किंच 'असंसिद्धस्य रूपादेः समवायो न सिद्ध्यति । असिद्धस्यापि रूपादेः समवायो न सिद्ध्यति, अलब्धात्मकस्य रूपादेः संबन्धित्वाभावालब्धात्मकस्य संबन्धो वक्तव्यस्तथाचोष्ट्रलगुडवृत्तान्तापात इति तस्मात्साधूक्तं—समवायाधारत्ववत्तदुपपत्तेरिति । तत्किं समवायनाममात्र एवायुष्मतः प्रद्वेषो न त्वर्थं यावता भवतापि भावरूपनित्यसंबन्धः संयोगो नाम स्वीकृत इति तदिदं भिक्षुकपादप्रसारणं पूर्ववादिनः परिहरन्नुपसंहरति—अतोयथेति । नास्माभिस्तादृश संयोग स्वीक्रियते कथं तर्हि न गुणादीनामनन्यत्वापत्तिस्तत्संबन्धव्यवहारस्य वा । न निर्विषयता तत्तत्स्वभाववशादेव तथोरुपपत्तिरित्येवेहि । तथासति धर्मधर्मिभावस्यैवोद्धारप्रसङ्ग इति चेन्नोच्चैर्भणितव्यं यदिकोप्यभ्यर्णमाकर्णयेन्महदेतदद्वैतवादिभ्योऽस्मभ्यो मर्मोद्धाटितं स्यादिति अवश्यं च समवायं स्वीकृत्यापि स्वभाववाद एवालम्बनं तदवस्थापेक्षणीयस्वभाव एव सर्वत्राश्रीयता किमनवस्थाकल्पनागौरवलोहगन्धाधायिनाऽप्रामाणिकेन समवायकल्पनादुर्व्यसनेनेत्यर्थः । समवायदूषणमुपसंहरति—तदेवमिति । भिन्नलक्षणयुक्तत्वं भेद इति पक्षदूषणमुपसंहरति—अतो न कापि लक्षणभेदादिति । किंच लक्षणानामेव तावदनुगतलक्षणमस्ति न

अन्ये मन्यन्ते माभूलक्षणभेदाद्भेदस्तथापि सामर्थ्यासामर्थ्यलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गा-
द्वीजादीनां भेदः सिद्ध्यति । तथाहि । यदि कुसूलनिहितं बीजं तदानीमङ्कुरजनने समर्थं
तर्हि तदेवाङ्कुरं जनयेत् यद्यदा यज्जननसमर्थं तत्तदैव तत्करोति यथा सामग्री नच कुर्व-

वा । न यदि तदा तेषामितरव्यावृत्ततया ज्ञानं न स्यात्तदन्तरेणापि वा, तथा ज्ञाने पदार्थेष्वपि तथैव स्या-
दिति लक्षणक्षतिः । अथास्ति किञ्चिदनुगतं लक्षणलक्षणं किं तत्सजातीयविजातीयव्यावर्तकत्वमिति चेन्न,
सामान्यादिलक्षणेष्वाप्तेः । नहि ते जातिमन्तः येन तत्सजातीयमन्यतैर्लक्षणैर्व्यवच्छेद्यं स्यात् । किंचैवं
द्रव्यादीनामपि लक्षणं न स्यात् सामान्याद्यव्यवच्छेदकत्वात् । नहि सामान्यादयं सजातीयतया विजातीय-
तया वा व्यवच्छेदमर्हन्ति । जातिरहितत्वादेव प्रमेयाभिधेयादिलक्षणेषु चाप्याप्तिः । नहि तत्र किञ्चिदव्यवच्छे-
द्यस्य प्रमितौ प्रमेयतयाऽव्यवच्छेद्यत्वादप्रमितौ च किं व्यवच्छेद्यं स्यात् एवमभिधेयत्वेपि । किंचेदं साजात्यम-
भिमतं व्यवच्छेद्यस्य किं लक्ष्यमात्रवृत्तिजात्या किं वा यथा कयाचन । नाद्यः । लक्ष्यस्यापि व्यवच्छेदापातात् ।
न द्वितीयः । विजातीयपदवैयर्थ्यात् । अन्ततः सत्तयापि जातिमता साजात्याद्विजातीयव्यावर्तकमिति चेन्न ।
सामान्यादिलक्षणेष्वाप्तेः । नहि ते जातिमन्तः, जातिरहितानां च वैजात्यस्याप्यभावात् । जातिशब्दस्यो-
पाधिपरत्वेप्येते दोषा दुरुद्धराः । एतेन लक्ष्यलक्षणमपि प्रत्युक्तम् । तस्याप्युक्तदूषणलङ्घनाजङ्गलत्वात् ।
नच सामान्यादीनामपि सामान्यवत्ता, अनवस्थानात् । नचेद्वगनवस्थादीनामदूषणत्वम्, अवैयर्थ्याददर्शन-
नियमसाम्यात् । एवमुपाधानुपाधिस्वीकारेपि तत्तल्लक्षणानिरुक्तेष्व जातिलक्षणं च खण्डितं खण्डयिष्यते च
जातिः । तेन जातिद्वारोपाधिद्वारा वा वादीन्द्रादिभिरुत्प्रेक्षमाणलक्षणान्यपि क्षुण्णानि मन्तव्यानि । अपि च
'वादीन्द्रस्येष्टदा तावन्महाविद्या पुलोमजा । सा च सव्यभिचारादिदोषैस्सद्वृषितात्मनाम् ॥ १ ॥ तामेव
दूषयन्नेष तत्पादे निपतन्नपि । कथंकार मदोन्मत्तः श्रद्धेयवचनो भवेत् ॥ २ ॥ पक्षतद्विन्नवृत्तित्वाद्युप-
ज्ञामिश्च रीतिभिः । आत्तासाधकतासीमा एता पारिलवावहा ॥ ३ ॥ नोपादेया महाविद्यामुद्रिता जातु
जातयः । तत्त्वं चापि स्वीययत्नाज्जिगीषयिषुभिर्बुधैः ॥ ४ ॥ शक्यते च सर्वप्रकारविप्रबो महाविद्याभिः ।
साधयितुं ग्रन्थगौरवमयान् प्रपश्यते सः ॥ ५ ॥' तस्मात् 'लक्ष्यलक्षणभावोयमलक्ष्योऽभिन्नवस्तुनि । त्वद्यु-
क्त्यैवान्वितमनिर्वाच्याविद्याविजृम्भितम् ॥ ६ ॥ इति षट्पदार्थमतखण्डनया परिशुद्धचिद्धनसुखैकनिधिः ।
प्रतिषिद्धभेद इह यः परमः प्रतिपादितस्तमभिन्नौमि भवम् ॥ ७ ॥'

ननु वैधर्म्यभेदनिरसनैव क्षणभङ्गवादिनामपि भेदहेतुर्विभजित एव सामर्थ्यासामर्थ्ययोरपि वैधर्म्यरूप-
त्वादतो मुधैवायं क्षणभङ्गवादावतार इति । उच्यते । न तावत्सुगतमते वैधर्म्यरूपो भेदः, स्वरूपभेदवादि-
त्वात्तथागतानाम् । नापि सामर्थ्यासामर्थ्ययोर्धर्मरूपत्वम्, यतस्तयोः सत्त्वासत्त्वात्मकतया स्वरूपत्वमतः
स्वरूपभेदस्यैवायं विशेषो भङ्ग्यन्तरेण निराक्रियते । अथवा प्रत्यक्षतो भेदाधिगति निराकृत्यानुमानिकभेदाधिगति-
विध्वंसोऽनेन क्रियते । तत्र क्षणभङ्गवादिनो वावदन्ति 'एकस्वभावत्वायोगात्सामर्थ्यस्य च स्वभावत्वात्समर्थस्व-
भावस्यासमर्थस्वभावत्वमुक्तं, स्वभावहानिप्रसङ्गादत एकत्वेन भवद्विरभिमन्यमानमपि भिन्नमेव । यदा च
समर्थक्षणादसमर्थक्षणमेव प्रत्याभिज्ञायमानमपि भिद्यते तदा किमु वक्तव्यमप्रत्यभिज्ञायमानतया अप्रतीयमानै-
क्यानां घटपटप्रभृतीनां भेद इति तदेतदाह—अन्ये मन्यन्त इति । धर्मेनिर्देशश्चायं परकीयरीत्या । स्यादे-
तद्यदि विरुद्धधर्मसंसर्गः स्यात्स्यात्तदा बीजक्षणाणां भेदः स एव तु कुत, यावता समर्थमेव कुसूलनिहितमपि
बीजमङ्कुरजनन इति तत्राह—यदि कुसूलनिहितमिति । तत्र जनकत्वेन सामर्थ्यस्य व्याप्तिः दर्शय-
न्यापकजनकत्वनिवृत्त्या व्याप्यसामर्थ्यनिवृत्तिमनुमिनोति—यद्यदेत्यादिना । कुसूलनिहितं बीजमसमर्थ-
मङ्कुरोत्पादे तदानीं तदजनकत्वाद्यदेवं तदेवं यथा पदार्थान्तरमिति पररीत्या च प्रयोगः, स्वीकरीत्या तु
यद्यत्र जनयति तत्तत्रासमर्थं यथा पदार्थान्तरं, न जनयति चेदं कुसूलनिहितं बीजमिति स्वभावहेतुः । तदेवं

दुपलभ्यते तस्मादसमर्थं सहकारिसमवधाने च समर्थमिति सामर्थ्यासामर्थ्यलक्षणवि-
रुद्धधर्मसंसर्गः । नच समर्थस्यापि सहकारिसमवधानाभावादजनकत्वमिति संदिग्धव्य-
तिरेकिता । जनकस्वभावत्वे तस्य सहकारिसमवधानाभावेपि स्वभावविरोधादेवाजनक-
त्वानुपपत्तेः । सहकारिसमवधाने जनकमजनकं चान्यदेति स्वभाव इति चेन्मैवम् ।
एकस्यानेकस्वभावतानुपपत्तेः । किञ्च यदि सहकारिसमवधानमपि स्वभावान्तर्भूतं तदा
तदपि तदैव संपद्येत स्वभावस्यानपायात् । अथाजनकत्वं स्वभावस्तदा न कदाचिदप्य-
ङ्कुरं जनयेत् । अथ सहकारिसमवधानानन्तरभाविनः कार्यात्समनन्तरपूर्वक्षणवर्तित्वं
स्वभावस्तर्हि कुसूलनिहितावस्थायामपि बीजस्य यथावर्णितस्वभावो भवेत् तत्स्वभावस्य
तदानीमभावे स्वभावपरित्यागप्रसङ्गात् । अथ सहकारिसमवधानं न स्वभावस्तर्हि तत्का-
रणस्योपकरोति नवा । नचेदनपेक्षणीयत्वम् । उपकरोति चेदुपकारो वस्तुनो भिन्नो
नवा । भिन्नत्वे प्राप्ताप्राप्तविवेकेन स एव कार्यजनक इति न स्थिरस्य कारणता । अभिन्नत्वे

प्रसङ्गतद्विपर्ययाभ्यामसामर्थ्यमुपपादितम् इदानीं क्षणान्तरस्थस्य सामर्थ्यं दर्शयति विरुद्धधर्माध्याससिद्धये—
सहकारीति । तत्रापि यदि सहकारिसमवेतं बीजमसमर्थमङ्कुरजनने स्यान्नजनयेदिति प्रसङ्गः । यद्यजन-
येत्तत्र समर्थं यथा सामग्री, जनयति चेदमिति विपर्ययः । धर्मद्वयप्रतिपादनमुपसहरति—**इति साम-**
र्थ्येति । ननु तदानीं तदजनकत्वादिति हेतुरनैकान्तिको विपक्षाद्याहृते. संदिग्धत्वात् । यदि हि समर्थस्या-
जनकत्वमसम्भवेति निर्णीयेत तर्ह्येव विपक्षव्यतिरेकनिर्णयो न च तदस्ति समर्थस्यापि सहकारिमेलनाभावा-
दजनकत्वसंभवात् तस्मात्संदिग्धविपक्षव्यतिरेकित्वात्संदिग्धानैकान्तिकमेव । यथाहुः—यावच्चाव्यतिरेकित्वं
शताशेनापि शङ्कते । विपक्षस्य कुतस्तावद्धेतोर्गमनिकाबलमिति । तत्राह—**नच समर्थस्यापीति** । तत्र
वक्तव्यं किं बीजस्य जनकत्वं स्वभाव उत जनकत्वमजनकत्वं चाहोस्विदजनकत्वमेवेति । तत्र प्रथमं दूषयति
—**जनकस्वभावत्व इति । स्वभावविरोधादेवेति** । स्वभावभूतेन जनकत्वेन विरोधादजनकत्वानु-
पपत्तिरित्यर्थः । द्वितीयं शङ्कते—**सहकारीति** । दूषयति—**मैवमेकस्येति** । खोहि भावः स्वभावः
असाधारण इति यावत् । तथाचोभयस्वभावत्वे किं युगपदुभयं स्वभावभूतं पर्यायेण वा । नाद्यः । भवद्विरेव
सहकारिसमवधानासमवधानावस्थतया व्यवस्थापनात्, नित्यं कार्यसत्त्वासत्त्वयोः प्रसङ्गाच्च । द्वितीये तु नोभ-
योरपि स्वभावता, तस्योभयत्रानुगच्छतोपि तयोरननुगमनेन भेदावसायादिति भावः । यदि च सहकारि-
समवधानासमवधानव्यवस्थया जनकत्वाजनकत्वयोरप्येकत्र व्यवस्थाभिप्रेयते सापि न सम्भवतीत्याह—
किञ्चेति । तथान्न तदसमवधानाभावात्तत्प्रयुक्ताजनकत्वमपि तस्य नास्तीति जनकैकस्वभावत्वं स्यात्तथा च-
पूर्वोक्तमेव दूषणमिति भावः । सहकारिसमवधानस्याप्यस्वभावत्वपक्षमुत्तरत्राशङ्क्य निराकरिष्यति । अजनक-
त्वमेव स्वभाव इति तृतीयं पक्षं शङ्कते—**अथाजनकत्वमिति** । ननु नात्यन्तजनकत्वमजनकत्वं वास्य
स्वभावः किं तर्हि सहकारिसमवधाने सति यत्कार्यं भवति तस्मादनन्तरपूर्वक्षणवर्तित्वं स्वभावस्तेन न सह-
कारिसमवधानाभावेपि जनकत्वं नापि सहकारिसमवधानेप्यजनकत्वमित्याह—**अथ सहकारीति** । दूषयति
—**तर्हीति** । एवं विधः स्वभावः कुसूलनिहितावस्थायामप्यस्य विद्यत इति तदापि कार्यजनमप्रसङ्ग
इत्यर्थः । विपक्षे बाधकमाह—**तत्स्वभावस्येति** । यत्तदाशङ्क्य निराकरिष्यतीत्युक्तं तदाह—**अथेति** ।
ननु यद्यनुपकारिण्यपेक्षानुपपन्ना तर्ह्युपकुर्वन्त्येव सहकारिणः कारणस्येति शङ्किते परिहरति—**उपकारो**
वस्तुन इति । उपकारस्य वस्तुनो भिन्नत्वे वस्तुनः कारणत्वं न स्यादन्वयव्यतिरेकाभ्यां तस्यैव कारणत्वा-
दिति परिहरति—**भिन्नत्व इति** । द्वितीये दूषणमाह—**अभिन्नत्व इति** । अत्र वक्तव्यं किं वस्तुन उप-

तु पूर्वावस्थस्य वस्तुनः सांप्रतमुपकाराभिन्नतयोत्पत्त्यसंभवाद्वस्त्वन्तरोत्पत्तेः क्षणिकस्यैव कारणताप्रसंगः । उपकारस्य वस्तुतन्मात्रत्वे च सहकारिसमवधानात्पूर्वमपि तद्भावात्तद्वापि कार्यजननं, सहकारिसमवधानवैयर्थ्यं च प्रसज्येत ।

अथोपकारो वस्तुनस्तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीयस्तदा तस्यैव कारणत्वमिति न वस्तुनः कारणता । नच वस्तुनोप्यन्वयव्यतिरेकित्वात्कारणता, केवलव्यतिरेकाभावात्सत्युपकारे ब्रह्मभावापराधेन कार्याभावानुपलम्भात् । तदेवं सामर्थ्यासामर्थ्यलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गाज्जनकाजनकयोर्भेदसिद्धिः ।

कारादभेद उपकारस्य वा वस्तुनोऽभेदः । प्रथमे प्राह—**पूर्वावस्थस्येति** । उपकार खल्विदानीमुत्पद्यते पूर्वसिद्धस्य च वस्तुनस्तदभेदे तस्यैव पुनरुत्पत्तिः प्रसज्येत तच्चायुक्तं द्विरुत्पत्त्यभावादतो न्यस्यैवोत्पत्तिर्वक्तव्या तथाच कथय कथं न क्षणिकस्य कारणतापत्तिरित्यर्थः । द्वितीये दूषणमाह—**उपकारस्येति** । वस्तुनः पूर्वमेव विद्यमानत्वात्तदभिन्नोपकारोपि पूर्वमेव विद्यत इति तदापि कार्यात्पत्तिप्रसङ्ग इत्यर्थः । दूषणान्तरमाह—**सहकारिसमवधानेति** । वस्तुस्वभावस्य तस्य तत्पूर्वमपि भावादिति भावः ।

भेदाभेदप्रयुक्तदूषणपरिजिहीर्षोरनिर्वाच्यमतमुद्गावयति—**अथेति** । दूषयति—**तदेति** । यथा भेदेनानिर्वचनीयत्वं तथाऽभेदेनापीति न वस्तुस्वरूपत्वमुपकारस्य । तथाच क्षणिकस्य कारणत्वं दुरपवादं वस्तुनश्चाकारणतापत्तिरिति चिन्त्यत इति न भिन्नपक्षात्फलतो भेद इति भावः । ननु किमिति वस्तुनोऽकारणता यावता न्वयव्यतिरेकाभ्या तस्यापि कारणत्वमवसीयत इतरथोपकारस्यापि तन्न स्यादिति तत्राह—**नच वस्तुनोपीति** । हेतुमाह—**केवलेति** । तदेव विवृणोति—**सत्युपकार इति** । यथा हि बीजे विद्यमानेष्युपकाराभावादनुत्पत्तिमभ्युपैषि न तथोपकारे विद्यमानेपि वस्तुनो भावादनुत्पत्तिः शक्यनिदर्शना, अभेदवादिनो व्याघातात् भेदवादेऽप्युपकार्याभावे उपकारस्यैवासम्भवात्, अनिर्वचनीयेपि भेदपक्षप्रयुक्तदूषणानुषङ्गादिति भावः । तदित्यं बार्धक्यपद्धतिभिः सद्विधव्यतिरेकितानिरसनेनाजनकत्वादसामर्थ्यानुमानमप्रत्यूहमिति स्थितं तथाच विरुद्धधर्माध्यासः सिद्ध इत्याह—**तदेवमिति** । एवमुपपादितप्रकारेण यदा विरुद्धधर्मसंसर्गः सिद्धस्तदा तस्मादेव हेतोर्भेदसिद्धिरपि भवतीति योजना । सहकारिभिराधीयमाने बीजस्यातिशये बीजमुत्पादकमन्यथा तदभावे तदुदयापत्तेः । बीजं चातिशयमादधानं सहकारिणोऽपेक्षते अन्यथा सर्वदोषप्रकारवृत्तावङ्कुरस्यापि सर्वदोषोत्पत्तिप्रसङ्गात् । तस्मात्तदतिशयार्थमपि सहकारिभिरपेक्ष्यमाणैः सहकारिभिरतिशयान्तरमाधेयं बीजे तस्मिन्नप्युपकारे पूर्वन्यायेन बीजं सहकारिसापेक्षं जनकमित्युपकारजनकोपकारजननार्थमपेक्ष्यमाणैः सहकारिभिरुपकारान्तरं बीजे जनयितव्यमिति तत्तदतिशयार्थमपेक्ष्यमाणसहकारिसंपाद्यबीजवृत्ततिशयानवस्थेति । यद्वा बीजवर्तिनि सहकारिभिरतिशये क्रियमाणे बीजमपि सहकारिभिरपेक्षणीयमिति बीजेन सहकारिष्वतिशय आधेय एवं बीजेन सहकारिष्वतिशय आधीयमाने सहकारिणोऽपेक्षणीया इति तैर्बीजे पूर्वमतिशयान्तरमाधेयं तस्मिन्नप्यतिशये सहकारिभिर्बीजस्य क्रियमाणे बीजमपेक्षणीयमिति बीजेन पूर्व सहकारिष्वतिशयान्तरमाधेयमित्यनवस्थितिः । उपकारः कार्यार्थमपेक्ष्यमाणो बीजनिरपेक्ष कार्यं जनयति बीजसापेक्षो वा । आद्ये बीजादेरहेतुतापातः । द्वितीये तु बीजादिनापेक्ष्यमाणेनोपकारेणातिशय आधेयः । एवमाहितोप्यतिशयः कार्यार्थं बीजादीनपेक्षत इति बीजादीना तत्राप्यतिशयान्तरमाधेयमित्यप्यनवस्थितिरेत्यपि ज्ञेयं वादीन्द्रस्थम् ।

प्रयोगश्च कुसूलस्थं बीजं सहकारिमध्यमध्यासीनाद्भिन्नं विरुद्धधर्मसंसृष्टत्वाद्हननु-
हिनवत् । तथा कुसूलस्थं बीजमङ्कुरजनकबीजाद्भिन्नं कार्याव्यवहितातीतक्षणातिरिक्तक्ष-
णसंबन्धित्वाद्भवत् । एतामेव व्याप्तिमुपजीव्य यत्सत्तत्क्षणिकमिदं ननुमानेन क्षणिकता-
माचक्षते क्षणभङ्गवादिनः ।

नच य एवाहं रूपमद्राक्षं स एवाहमिदानीं स्पर्शमनुभवामि इति स एवायं घट इत्या-
दिप्रत्यभिज्ञाविरोधः सामग्रीभेदात्पारोक्ष्यापारोक्ष्यलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गाच्च प्रत्यभिज्ञान-
स्यैकत्वानुपपत्तेः । तथाहि सा मे माता स मे पितेत्यादाविन्द्रियनिरपेक्षस्य संस्कारस्य
स्मरणकारणत्वादयं घट इत्यादिप्रत्यक्षज्ञानेष्विन्द्रियस्य संस्कारनिरपेक्षस्य कारणतावग-
मादुभयोः संभूय कारणतानुपपत्तिः । स इत्ययमिति च पारोक्ष्यापारोक्ष्यविरुद्धधर्मसं-
सर्गस्य स्फुटमुपलम्भाच्च । ज्ञानभेदात्प्रत्यभिज्ञायाः प्रत्यक्षत्वाभावाच्च प्रकृतानुमानस्य प्रत्य-

ननु किमनेन प्रमाणं भेदसिद्धान्तं भवति तत्राह—प्रयोगश्चेति । बीजमात्रस्य सहकारिमध्यनिष्ठबी-
जाद्भेदसाधनेर्थांतरता । यत्किञ्चिद्बीजस्य ततो भेदसाधनेनाप्युपपत्तेः । बाधापत्तिश्च तत एव तस्य भेदप्रस-
ङ्गात् । हेतोरसिद्धिश्च तत उक्तम्—कुसूलस्थमिति । तथा यत कुतश्चिद्भेदसाधने बीजमात्राद्भेदसाधने
चार्थान्तरता तदर्थं सहकारिमध्यमध्यासीनादिति विशेषणम् । बीजादिति चाव्याहर्तव्यम् । अत्र च तदेवेद-
मिति परेपा प्रत्यभिज्ञास्पदस्य भेदसाधनान्न ध्रुवोपद्रव । यदि कश्चित्तदोरन्वयस्य दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वे-
कता मन्वानो न परितुष्येत् त प्रत्येवमनुमातव्य—विप्रतिपन्नबीजं सहकारिमध्यमध्यासीनाद्भिन्नं तदङ्कुर
प्रत्यममर्थत्वात्सप्रतिपन्नवदिति । अनुमानान्तरमाह—तथेति । अत्राप्यङ्कुरजनकबीजाद्भिन्नत्वेनाभिन्नत्वेन
विप्रतिपन्न बीजं पक्षः । कार्यापेक्षया व्यवहितातीतक्षणातिरिक्तो य क्षणस्तत्संबन्धित्वादित्यर्थः । अङ्कुरज-
नकबीजे स्वान्योन्याभावरहिते व्यभिचारवारणायातीतपदम् । तस्यापि कार्याव्यवहितोत्तरक्षणातिरिक्तकार्यो-
त्पत्तिपूर्वक्षणसंबन्धित्वात् । जनकबीजे व्यभिचारनिरासार्थमसिद्धिपरिहारार्थं चातिरिक्तपदम् । ननु क्षणि-
कत्वसिद्धावेतस्याद् यदजनकावस्थातो जनकावस्थं भिन्नमिति स्थितिपक्षे तदनुपपत्तेः, नच क्षणिकत्वे मान-
मस्तीति तत्राह—एतामेवेति । यदा हि अर्थक्रियाकारित्वाकारित्वयोः सामर्थ्यासामर्थ्याभ्यां व्याप्तिः
सामर्थ्यासामर्थ्ययोश्च धर्मिभेदेन, तदार्थक्रियाकारित्वात्मक सत्त्वं समर्थक्षणस्य क्षणिकता साधयति
क्षणान्तरसत्त्वे तस्यैवासमर्थत्वप्रसङ्गादसमर्थस्य चानर्थक्रियाकारित्वादनर्थक्रियाकारिणश्चार्थक्रियाकारित्वं व्या-
हृतमिति सत्त्वक्षणिकत्वयोः प्रतिबन्धसिद्धिः स्थिरस्य च क्रमाक्रमेण्यमर्थक्रियाकारित्वाऽकारित्वानुपपत्ते-
र्विपक्षव्यतिरेकसिद्धिरिति भावः ।

ननु प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षेणात्मानात्मपदार्थाजातस्य स्थैर्यमवसीयते ततस्तदपवावितविषयं कालात्ययापदिष्टमि-
दमनुमानमिति तत्राह—नच य एवाहमिति । अत्र किं ज्ञानद्वयमिदमेकमेव वाभिप्रेयते ! द्वित्वपक्षे
तत स्थैर्यशासनं षण्डमुद्वाह्यं मुग्धयोषितं पुत्रप्रार्थनमिव । तदा हि स एवाहं स एवायमिति बाहुकावद्वि-
शकलितयोरैक्यानवगाहित्वात् । द्वितीयस्त्वसिद्ध इत्याह—सामग्रीत्यादिना । स इत्यंशे संस्कारादिवेव
सामग्री अयमंशे च सप्रयोगादिरिति तथा स इत्यंशे पारोक्ष्यमयमित्यंशे चापारोक्ष्यमिति सामग्रीभेदाद्विरुद्ध-
धर्माध्यासाच्च न प्रत्यभिज्ञानमेकमित्यर्थः । ननु संस्कारसंप्रयोगयोः संभूयैकसामग्रीत्वात्कर्तुं सामग्रीभेद इति
तत्राह—तथाहीत्यादिना । अन्यत्र पृथक्कार्यजनकतयावधृतस्वभावयोरत्रापि विभिन्नकार्यजनकत्वमेवे-
त्यर्थः । विरुद्धधर्माध्यासे तु विप्रतिपत्तिश्चैव नास्तीत्याह—स इति । फलितमाह—ज्ञानभेदादित्या-
दिना । प्रत्यक्षत्वाभावादिति । समस्तस्येति शेषः । पूर्वपक्षमुपसहरति—तस्मादिति । विरुद्धधर्मा-
चि. २७

क्षविरोधस्तस्माद्विरुद्धधर्मसंसर्गाद्वस्तूनां भेदसिद्धिरिति । अत्रोच्यते—‘सिद्धे भेदे विरोधे च धर्मयोर्धर्मिभेदधीः । तयोर्नाद्यापि संसिद्धिर्धर्मिभेदस्तदा कुतः ॥ १६ ॥’ अशेषभेदानपाकुर्वतोऽद्वैतवादिनो यदा भेदमात्रमेव नास्ति तदा कुतो धर्मयोर्भेदः कुतस्तरां विरोधः कुतस्तमां च तदधीनो धर्मिभेदाध्यवसायः । अन्यतो वा भेदविरोधयोः सिद्धौ तत एव धर्मिभेदसिद्धिः कृतमनुमानेनाजागलस्तनायमानेन विरुद्धधर्माध्यासेन ।

कश्चायं धर्मयोर्विरोधो येन विरुद्धधर्मसंसर्गित्वेन भेदोऽभिधीयते किं सहानवस्थायित्वं वध्यघातकभावो वा भावाभावरूपत्वं वा तदत्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वं वा । प्रथमे किमेकस्मिन्काले सहानवस्थायित्वमुतैकस्मिन्नधिकरणे । नाद्यः । एकस्मिन्नपि क्षणे धर्मिभेदेन जनकत्वाजनकत्वयोः सहावस्थानात् । नेतरः । एकजनकस्याप्यन्याजनकत्वेन जनकत्वाजनकत्वयोरेकस्मिन्नधिकरणे सहभावात् । एककार्यप्रतियोगिजनकत्वाजनकत्वयो-

ध्यासाद्वस्तुभेदसाधनेऽन्योन्याश्रय श्लोकेन सगृह्णाति सिद्धान्ती—सिद्धे भेद इति । धर्मयोर्जनकत्वाजनकत्वाद्यात्मकयोः परस्पर भेदे सिद्धे सति विरोधसिद्धिरभिन्नस्य विरोधाभावात्तयोः सिद्धे विरोधे तदाश्रयतया धर्मिणो कुमूलनिहितसहकारिसमेतबीजयोर्भेदबुद्धिः स्यात् । यदा च तयोर्भेद एव न सिद्धस्तदा विरोधस्य तद्वारकधर्मिभेदस्य च कुत सिद्धिः परस्पराश्रयादित्यर्थः । श्लोकं विवृणोति—अशेषेत्यादिना । अभेदवादिन इति पदच्छेदः । ननु कथमन्योन्याश्रयता यावता प्रत्यक्षेण धर्मयोर्भेदः सिद्ध्यति ततश्च विरोधसिद्धिस्ततश्च धर्मिभेदसिद्धिरित्यत आह—अन्यत इति । तत्र वक्तव्यं कीदृशं तद्वेदप्राहिप्रत्यक्षमभिमतं किं निर्विकल्पकं सविकल्पकं वेति । न तावत्सन्निकल्पकं तस्य प्रामाण्याभावाद्भवन्मते । नापि निर्विकल्पकं तस्य वस्तुमात्रप्राहितया खलक्षणातिरिक्तविकल्पागोचरत्वात् । यथाहुः ‘कल्पनापोटमभ्रान्तं प्रत्यक्षं मिति । भेदस्यापि खलक्षणमात्रत्वे स्वरूपभेदविमर्दनप्रस्तावोक्तदोषानञ्छस्याम । एतेनेदमप्यपास्तं यथाहुस्तथागता —‘वर्तमानं परिच्छिददवर्तमानताव्यावृत्तिमपि परिच्छिन्नन्ती’ति । अवर्तमानताव्यावृत्तेर्वर्तमानतायाश्च वर्मत्वे प्रत्यक्षागोचरत्वात्स्वरूपत्वे चैकस्योभयस्वभावत्वायोगात् । नच वर्तमानतैवावर्तमानताव्यावृत्तिः । भावाभावयोरैक्यायोगात् । यथाहात्मतत्त्वविवेककृत्—‘विधिरात्मास्य भावस्य निषेधस्तु ततः परः । सोऽपि चात्मेति कः प्रेक्षः शृण्वन्नपि न लज्जतः’ इति । भूतभविष्यतोश्चावर्तमानत्वात् तद्व्यावृत्तेरप्युभयविधायाः एकरूपवर्तमानतात्मकत्वायोगात् भविष्यतश्चावर्तमानभूतव्यावृत्तत्वेऽपि वर्तमानत्वाभावात् भूतस्य च भविष्यदवर्तमानव्यावृत्तत्वेऽपि वर्तमानत्वाभावात् वर्तमानतावगाहिताया उत्पन्नावगाहितारूपतया उत्पन्नबुद्धेरवर्तमानव्यावृत्त्यवगाहितया पुनरुत्पत्त्यभावात् जन्ममात्रव्यापारत्वाच्च बुद्धेस्तस्मान्न प्रत्यक्षं भेदावभासनायालम्, अनुमानं त्वनन्तरमेव निराकरिष्यते तदेतादृशी दर्शनस्थितिः । आचार्यस्तु—‘भवतु वा यत्किञ्चित्प्रमाणं तथापि तत एव धर्मिभेदस्यापि सिद्धेरुक्ता धर्मिभेदोपन्यासः’ इति प्रौढिमारूढः प्राह—अन्यतो वेति ।

पूर्वं भेदासिद्ध्या विरोधासिद्धिरुक्ता । अधुना धर्मिभेदापादनकोविदः कोऽपि विरोधो दुःसाध्यः इत्यभिप्रेत्याह—कश्चायमित्यादिना । किं सहानवस्थायित्वमिति । जनकत्वात्यन्ताभाववति धर्मिण्यजनकत्वस्य वृत्तिरिति चतुर्थविकल्पार्थः । प्रथमे पक्षे यदिदमवस्थानस्य साहित्यं निषिध्यमानं तत्किं देशतः कालतो वा इति विकल्पयति—प्रथम इति । एकस्मिन्नपि क्षणे बीजवीरणयोरङ्कुरः प्रति जनकत्वाजनकत्वयोर्वर्तमानत्वादित्यर्थः । द्वितीयेऽपि विरोधोऽसिद्धः । एकस्मिन्नपि धर्मिणि जनकत्वाजनकत्वयोः कार्यभेदापेक्षया वर्तमानत्वादित्याह—नेतर इत्यादिना । नन्वेकधर्मित्ववदेकविषयत्वमप्यपेक्षितं तादृशश्च विरोधो जनकत्वाजनकत्वयोरस्त्येवेति शङ्कते—एककार्येति । ईदृशश्च विरोधो न क्वापि सप्रतिपन्नः स्थायिवादिनामेकस्यैक-

रेकत्र धर्मिणि सहानवस्थायित्वमिति चेन्न । स्थायिवादिनं प्रत्यसिद्धेः । क्षणभङ्गवादि-
नोपि तत्कार्यजनकस्यैकस्य क्षणान्तरे तदजनकत्वेन तयोरेकत्रैव वस्तुनि साहित्यात् ।
नापि द्वितीयः । वध्यघातकभावस्य युगपदेकधर्मिनिष्ठयोरेव धर्मयोः संभवेनाश्रयभेदा-
साधकत्वात् । नापि तृतीयः । कार्यभेदं प्रति जनकत्वाजनकत्वयोर्भावाभावरूपयोरेक-
स्मिन्नपि भावान् एककार्यप्रतियोगिजनकत्वाजनकत्वयोरेकस्मिन्वस्तुनि क्षणभेदेन भावाच्च ।
नापि चतुर्थः । स्थायिवादिनं प्रत्यसिद्धेः । किञ्च सहकारिसमवधाने यः कार्यमुत्पाद-
यति स भावः सहकारिविरहकाले तत्र समर्थो न वा । समर्थश्चेत्तदापि जनयेन्नचेत्तदेव
वस्तु शक्तमशक्तं चेति दुर्निवारो विरोधः सहकारिविरहकाले सोऽसन्नत्वसमर्थ इति
चेन्न । सहकारिविरहकाले येयमसद्रूपता सा सहकारिसन्निधानकालेपि विद्यते न
वा । विद्यते चेत्स्वकाल एवासत्त्वप्रसङ्गः । नचेन्न तर्हि सहकारिविरहकाले तदसद्रूपमसद्रू-
पाभावेऽप्यस्य भावान् । अथैकमेव वस्तु सहकारिभावाभावयोः सदसद्व्यवहारयोग्यं तथैव
तर्हि स्थिरमपि शक्ताशक्तव्यवहारयोग्यमिति तुल्यम् । नचासामर्थ्यं विहायान्यदसत्त्व-

प्रत्येव कालभेदेन जनकत्वाजनकत्वयोः सर्वत्रैवाङ्गीकारादित्याह—न स्थायिवादिनमिति । क्षणभङ्गवा-
दिनं प्रत्यसिद्धिमाह—क्षणभङ्गेति । यदिदमिदानीतनाङ्कुरजननसमर्थं बीजं तत्कालान्तरे तं जनयेन्न वा ।
यदि जनयेत्सिद्धान्तमनुसन्धत्स्व । ननु क्षणान्तरे तदेव नास्ति कथं तस्य जनकत्वं मास्तु स्वक्षण एव तं
किमिति न जनयेत्स्थानन्तरक्षणवर्तिनं प्रत्येव समर्थं तदिति चेदेवं तर्ह्यसमर्थं तत्तत्रेति वचनीयम् । तथाच तस्यैव
बीजस्य तत्कालीनमङ्कुरं प्रतिजनकत्वमन्यकालीनं तमेव प्रत्यजनकत्वमिति तादृशमपि सहावस्थानं त्वयैवा-
नुमतमित्यर्थः । वध्यघातकभावपक्षं निषेधति—नापि द्वितीय इति । अज्ञातस्य भिन्नाविकरणस्य वा
घातकत्वाभावादेकाधिकरणं वर्तमानयोरेव वध्यघातकभावो वक्तव्यः तदिहेतुशो विरोधोऽनयोः संभवति
नवेति तावदास्ता विचार । संभवेपि नाधिकरणभेदकः प्रत्युत तदैक्यापादक इत्यर्थः । भावाभावरूपो
विरोध इति तृतीयं पक्षं निषेधति—नापि तृतीय इति । ननु विषयभेदेन वर्तमानयोरजनकत्वाजनकत्व-
योर्भावाभावरूपत्वेपि न विरोधः । परस्परनिषेधरूपत्वाभावात् । नहि पटाभावे घटश्च परस्परं विरुध्यते
अस्ति भावाभावरूपतेति तस्मादेकविषययोरनयोर्विरोध इति तत्राह—एककार्येति । कृतोपपादनं चेदम-
नन्तरमेव । जनकत्वाजनकत्वयोः परस्परात्यन्ताभावसामानाधिकरण्यं विरोध इति चतुर्थं पक्षं निषेधति—
नापि चतुर्थ इति । यस्य हि स्थायिवादिनो जनकत्वमजनकत्वं चैकत्र वर्तत इति नियमस्त प्रति कथं
तयोः परस्परात्यन्ताभावसामानाधिकरणत्वं सिद्धवदुदाह्रियेतेत्यर्थः । तदेव स्वपक्षे विरुद्धधर्माध्यास परिहृत्य
परपक्ष एव तमासञ्जयति—किञ्चेति । ननु सहकारिविरहकालीनकार्ये प्रत्यसमर्थं तत्किं तर्हि सहकारिवि-
योगसमये तदेव नास्ति ततो न विरुद्धधर्माध्यास इति शङ्कते—सहकारीति । तर्हि सहकारिविरहसमये
येनासद्रूपेण भवति तत्कारणं तत्सहकारिसमवधानसमयेपि विद्यते न वा । प्रथमे सद्रूपावस्थायामाश्रयसत्त्वं
स्यात् । द्वितीये तु पूर्वसिद्धस्य वस्तुन पश्चाद्भाव्यसत्त्वं न स्वभाव सत्त्वावस्थायाः पूर्वमपि वस्तुनो विद्यमा-
नत्वादिति परिहरति—नेत्यादिना । ननु यद्यपि तदेकं तथाप्युभयव्यवहारालम्बनं भवति सहकारिसमव-
धानासमवधाननिबन्धनत्वेन विरोधाभावादिति शङ्कते—अथैकमेवेति । स एव तर्हि न्याय सामर्थ्यासा-
मर्थ्ययोरपीत्याह—तर्हीति । स्यादेतद्यदि च सत्त्वासत्त्वयोर्निर्दर्शनेन सामर्थ्यासामर्थ्ययोरश्रयणं भवति ।
तर्हि सहकारिविरहकालेऽसत्त्वं तथाच क्षणिकतैवेति गतं स्थिराशयेति, तत्राह—नचासामर्थ्यं विहा-
येति । यदिदं सहकारिविरहकालेऽसत्त्वं तद्भवन्नये तावदसामर्थ्यरूपमर्थक्रियासामर्थ्यस्य सत्त्वाभ्युपगमात्त-

मस्ति । अथैकस्मिन्नेव वस्तुनि सहकारिसमवधानानन्तरं कार्यजननस्वभावता तद्विरहे चासमर्थस्वभावतेत्युभयमप्यविरुद्धं तुल्यमिदमस्मन्मतेऽपि तथापि सहकारिसमवधाने यत्समर्थरूपं तदेव चेत्प्रागप्यस्ति पूर्वमपि कार्यप्रसवप्रसङ्ग इति चेन्न । सहकारिविरहे यत्तव कार्येऽसमर्थं रूपं तदेव चेत्सहकारिसमवधानेपि ततोऽजननप्रसंग इति तुल्यत्वात् ।

नच सहकारिणां स्वभावेन्तर्भावो येन गले पादुकान्यायेन तेषामपि तदैव समुदयः स्यात्किंतु भवन्मते समर्थक्षणेत्पादकानां क्षितिपवनपाथस्तेजसामिव सहकारितैव । नच सहकारिकृतोपकारस्य भेदाभेदविकल्पानुपपत्तिः । वस्तुनस्तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीयत्वात्, लोकसिद्धकारणताया अप्रत्याख्येयत्वात् । नच केवलव्यतिरेकाभावः । उपकारवस्तुनोर्भेदानभ्युपगमात्, उपकारकारणताया एव वस्तुकारणताभ्युपगमात् । प्रयोगस्तु धर्मयोर्विरोधनिरासेनैव निरस्तः अनैकान्तिकश्च सहकारिमध्यमध्यासीनस्य विरुद्धधर्मसंसृष्टत्वेपि स्वतो भेदाभावात् ।

थाचैतादृशासत्त्वमेतादृशक्षणिकत्वं च नास्मभ्यमपि दृढ्यतीति भावः । अथ वा सहकारिविरहकाले यदिदमसत्त्वं तदेवासमर्थं ततश्चासदेव तन्नासमर्थमित्युक्तमुक्तमित्याह—**नचासामर्थ्यमित्यादिना** । सामर्थ्यं हि सत्त्वमङ्गीक्रियते ततश्चासत्त्वमप्यसामर्थ्यमेवेत्यर्थः । शङ्कते—**अथैकस्मिन्निति** । इयं च निरुद्धगतिः सौगतशङ्का । अहो मामकभाग्योद्गमसमयोऽयं यदायुष्मतैवास्मत्समीहितं स्वीकृतमित्यभिप्रेत्याह—**तुल्यमिदमिति** । यद्यपीदमावयो समानं तथापि स्थिरपक्षेऽनुपपत्त्यन्तरमस्तीति शङ्कते—**तथापीति** । स्थैर्यवादिना सहकारिसमवधाने सामर्थ्यमेव रूपं प्रागपि वर्तते इति वचनीयं तथाच प्रागपिकार्यप्रसवप्रसङ्ग इत्यर्थः । अस्य मिथो विरोधेन तर्काभासता दर्शयितुं प्रतिप्रसङ्गमाह—**न सहकारीति** । अङ्कुरक्षणेत्पादकमपि बीजं क्षण सहकारिविरहे तस्मिन्नेवासमर्थमिति वक्तव्यं अन्यथा तद्विरहेपि जनकत्वप्रसङ्गात्, तस्माद्यत्तदसमर्थं तदेव समर्थमपि तथाच तस्मादुत्पत्तावसामर्थ्यादध्युत्पत्तिप्रसङ्ग इत्यर्थः । अजननप्रसङ्ग इति वा पदच्छेदः । एवं सहकारिसमवधानासमवधानयोः सामर्थ्यासामर्थ्यं चाविरुद्धमिति प्रौढिमार्कण्डेणोक्तम् । वस्तुतस्तु समर्थमेव समर्थमपि सहकारिवैकल्येन जनकमिति स्थितिः ।

यत्तु समर्थस्यापि सहकारिसाकत्य एव जनकत्वमित्युक्तमयुक्तं, सहकारिणा स्वभावान्तर्भावे यावत्कारणभावित्वेन सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसङ्गादिति पूर्वपक्षिणोक्तं तदनङ्गीकारपरास्तमित्याह—**नच सहकारिणामिति** । यथाहि सौगतानां मते क्षित्वादिवनुविन्धधातूनां समर्थबीजक्षणेत्पादकत्वमेव न समर्थक्षणस्वभावान्तर्भावः । एवमस्मन्मतेपि सहकारित्वमेव न स्वरूपत्वम् । इयास्तु विशेषः । भवन्मते तज्जनकत्वमस्मन्मते तदुपकारकत्वमित्यर्थः । यच्चोपकारकत्वपक्षेपि तेनोक्तं तदनूय निराचष्टे—**नच सहकारिकृतेति** । अनुपपत्तिरुपकारस्येति शेषः । नन्वनिर्वचनीयोपकारस्य कारणत्वे कारणस्य कारणत्व न स्यादित्युक्तमेव तत्राह—**लोकसिद्धकारणताया इति** । कारणस्येति शेषः । नन्वत्राप्युक्तं केवलव्यतिरेको नास्तीति तत्राह—**नच केवलेति** । कैवल्यं चेदमनौपाधिकत्वमितरथानुपयोगात्केवलस्य वस्तुमात्रस्येति वा यदि कारणादुपकारस्य भेदः स्यात्स्यात्तदा कारणस्यापि पृथक्केवलव्यतिरेकप्रार्थनं न त्वेतदस्ति भेदेनाप्यनिर्वचनीयत्वादित्यर्थः । ननु तथाप्यनुमाने किं दूषणमिति तत्राह—**प्रयोगस्त्विति** । पूर्वोक्तप्रकारेण विरोधानिरूपणे कचिदसिद्धिः कचिद्विरुद्धत्वं कचिदनैकान्तिकत्वमित्यर्थः । अविवक्षितविशेषेपि विरोधेनैकान्तिकतामाह—**अनैकान्तिकश्चेति** । तद्धि सहकारिमध्यमध्यासीनं कालान्तरीयमङ्कुरं न जनयति जनयति च तात्कालिकमिति विरुद्धधर्माध्यासवत् । अथ च स्वयं स्वस्मान्न भिद्यते इति तत्रानैकान्तिकत्वमित्यर्थः । सहा-

कार्याव्यवहितातीतक्षणातिरिक्तक्षणसंबन्धित्वादित्यपि हेतुः स्थायिवादिनो मते तस्यैव तथाविधक्षणसंबन्धित्वात्तस्मिन्नेवानैकान्तः । तदेवं, प्रसङ्गतद्विपर्यययोरपास्तत्वात्क्षणिकत्वानुमानं दूरोत्सारितम् । किंचेदं क्षणिकत्वं किं क्षणसंबन्धित्वं क्षणान्तरासंबन्धित्वे सति क्षणसंबन्धित्वं वा क्षणान्तरमात्रासंबन्धित्वे सति क्षणसंबन्धित्वं वा उत्पत्तिक्षणे सत्त्वं वा स्वोत्पत्तिक्षणे सत्त्वं वा स्वोत्पत्तिक्षणमात्रसत्त्वं वा एकक्षणावस्थायित्वं वा अनेकक्षणानवस्थायित्वविशेषितं वा । न तावत्प्रथमः । सिद्धसाधनत्वाद्नेकक्षणावस्थायिनोपि घटादेः क्षणसंबन्धित्वान् । न द्वितीयः । अर्थान्तरत्वान् । क्षणान्तरासंबन्धित्वेऽप्यनेकक्षणसंबन्धित्वाविरोधान् । घटादीनामनेकक्षणसंबन्धिनामपि स्वप्रध्वंसादिक्षणासंबन्धित्वस्याभ्युपगमान् । न तृतीयः । व्याघातान् । तत्संबन्धिक्षणस्यापि क्षणविशेषत्वेन क्षणान्तरत्वे सति क्षणान्तरमात्रासंबन्धाभावात् । न चतुर्थः सिद्धसाधनत्वान् अनेकक्षणसंबन्धेऽप्युत्पत्तिक्षणसंबन्धाविरोधान् । अत एव न पञ्चमः । नापि षष्ठः । स्वगव्देनाङ्कुराद्यैकैकविवक्षायां तदुत्पत्तिक्षणमात्रसत्त्वस्य घटादिष्वभावेन क्षणिकत्वाभावप्रसङ्गात् । सर्वविवक्षायां तु लक्षणासंभवत्वमेकैकस्य सर्वोत्पत्तिक्षणसत्त्वासंभवेन तन्मात्रसत्त्वासंभवात् । नापि सप्तमः । अनेकक्षणसत्त्ववादिभिरप्येकक्षणावस्थायित्वाङ्गीकारात् । नाप्यष्टमः । प्रध्वंसाद्यनेकक्षणानवस्थायित्वस्यैकक्षणावस्थायिनि स्थायिन्यपि सम्भवान् ।

नवस्थायित्ववध्यघातकत्वभावाभावविरोधेषु यथायथमसिद्धादयो ज्ञेयाः । यद्वा कुसूलनिहितसहकारिसमवहितबीजयोः परस्परविरुद्धधर्मसमुच्चयस्याविशिष्टत्वात्मन्यपि विरुद्धधर्मसंसर्गं सहकारिसमवहितस्य स्वप्रतियोगिकभेदानधिकरणत्वादनैकान्तिकत्वं मित्याह—अनैकान्तिकश्चेति ।

द्वितीयानुमानेऽप्यन्यतरानैकान्तिकतामाह—कार्याव्यवहितेत्यादिना । यत्सत्तत्क्षणिकमित्यनुमानेऽप्युक्तं दूषणमतिदिशति—तदेवमिति । यदि सहकारिसहितं बीजं तद्विरुद्धकालीनबीजान्न भिद्येताथं क्रियाकारित्वरूपसत्त्वं न स्यादिति प्रसङ्गस्तच्चेदं तस्माद्विद्यते इति तद्विपर्ययस्तयो स्थायिन्यपि जनकत्वमर्थनेन निरासात्सत्त्वहेतुकं क्षणिकत्वानुमानमपि निरस्तमित्यर्थः । साध्यनिष्ठक्षणिकत्वस्याप्रसिद्धविशेषणत्वसिद्धसाधनत्वयोरन्यतरापात इति दिदर्शयिषुर्विकल्पयति—किंचेत्यादिना । क्षणान्तरासंबन्धित्वमात्रत्वे सति क्षणसंबन्धित्वं द्वितीयः पक्षः । तृतीयस्तु क्षणान्तरसंबन्धित्वात्यन्ताभावाधिकरणत्वे सति क्षणसंबन्धित्वमिति विशेषः । सिद्धसाधनतामेव विवृणोति—अनेकक्षणेति । न केवलं क्षणान्तरेण केनचिदसंबन्धोऽनेकक्षणसंबन्धेन न विरुध्यत इति सभावनामात्रम्, किं तदुत्पत्तिगतत्वानित्येषु पदार्थेषु स्थायिवादिभिरित्याह—घटादीनामिति । व्याघातमेव दर्शयति—तत्संबन्धीति । क्षणान्तरत्वाकान्तं यत्तत्संबन्धात्यन्ताभावमेव सति क्षणसंबन्धित्वमिति हि तृतीयः पक्षस्तच्च व्याहृतम् । येन हि क्षणेन संबध्यते सोऽपि यत्किञ्चित्क्षणापेक्षया क्षणान्तरमेव । तथाच तेनाप्यसंबन्धः संबन्धश्चेत्यापातान् व्याघातः स्यादित्यर्थः । अत एवेति । यत एवानेकक्षणसतोऽप्युत्पत्तिक्षणसत्त्वसम्भवः, अत एव स्वोत्पत्तिक्षणसत्त्वमपि सम्भवतीति सिद्धसाधनमित्यर्थः । नापि षष्ठ इति । स्वोत्पत्तीत्यत्र स्वगव्देन किं प्रतिनियतः कश्चिदभिधीयते सर्वे वा पदार्था आद्येऽव्याप्तिः । सर्वपदार्थानामेकपदार्थोत्पत्तिक्षणसत्त्वाभावेन तेषु क्षणिकेषु लक्षणाभावादित्यर्थः । द्वितीयेऽसंभवाद्माह—सर्वेति । सप्तमपक्षेऽपि सिद्धसाधनतामाह—नापि सप्तम इति । नाप्यष्टम इति । उत्पत्तिक्षणवस्थायित्वेन तावदेकक्षणावस्थायित्वमस्ति प्रध्वंसक्षणमारभ्योत्तरानेकक्षणानवस्थायित्वं चास्तीति स्थायित्वेऽप्युपपत्तेरर्थान्तरत्वमित्यर्थः ।

उत्पत्तिक्षणानन्तरक्षणवर्तिध्वंसप्रतियोगित्वं क्षणिकत्वमित्यपि न । स्थिराणामपि यस्य कस्यचिदुत्पत्त्यनन्तरक्षणवर्तिध्वंसप्रतियोगित्वोपपत्तेः । एतेन खोत्पत्त्यनन्तरक्षणवर्तिध्वंसप्रतियोगित्वमपि निरस्तम् । स्वशब्दखण्डनस्य पूर्ववदत्रापि तुल्यत्वात् । अथास्य घटस्यैतद्वटोत्पत्त्यव्यवहितानन्तरक्षणवर्तिध्वंसप्रतियोगित्वं क्षणिकत्वमेवं प्रतिव्यक्तिक्षणिकत्वलक्षणमूहनीयमिति चेन्मैवम् । एवंविधक्षणिकत्वसाधने सत्त्वसाधनस्यानैकान्तिकत्वापातात् । नह्यतीतानागतानां च सतामेतदुत्पत्त्यव्यवहितानन्तरक्षणवर्तिध्वंसप्रतियोगित्वमस्ति । तत्तद्धंसानामेतद्वटोत्पत्त्यनन्तरक्षणेऽनुत्पन्नत्वात् । एतेनोत्पत्तिक्षणध्वंसासमानकालीनत्वं क्षणिकत्वमित्यपि निरस्तम् । यत्किञ्चिदुत्पत्तिक्षणध्वंसासमानकालीनत्वस्य स्थायिष्वपि भावात् स्वशब्देन विशेषणेपि पूर्वोक्तदोषानुषङ्गात् प्रतिव्यक्तिलक्षणे च सत्त्वसाधनस्यानैकान्तिकत्वात् । घटत्वात्पटत्वादित्यादिप्रयोगसाधनाभ्यूहने चानागतघटपटादिष्वनैकान्तिकता तदवस्थैव । सर्वश्चायमुदितो हेतुकलापः पूर्वोदितप्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षविरोधितया कालात्ययापदिष्टः । यत्पुनरुक्तं सामग्रीभेदाद्विरुद्धधर्मसंसर्गाच्च प्रत्यभिज्ञाज्ञानस्यैकत्वानुपपत्तिरिति तदयुक्तम् । संप्रयोगसंस्कारयोः संभूयसामग्रीत्वात् । नचान्यत्र संप्रयोगसंस्कारयोः प्रत्येकमन्योन्यनिरपेक्षयोः कारणत्वादेकज्ञानकारणतानु-

लक्षणान्तरदूषयति—उत्पत्तिक्षणेति । उत्पत्तिक्षणसमनन्तरक्षणवर्तिध्वंसप्रतियोगित्वं स्थायिनि न सम्भवतीत्यभिमानः । अत्र किमुत्पत्तिक्षणशब्देन यथाश्रुतोऽर्थो विवक्षितः खोत्पत्तिक्षणो वा । आद्ये प्राह—स्थिराणामपीति । स्थिरस्यापि हि यो ध्वंसक्षणस्तत्पूर्वक्षणोपि यस्यकस्यचिदुत्पत्तिक्षणो भवतीत्यर्थान्तरमित्यर्थः । द्वितीयं दूषयति—एतेनेति । तत्रापि स्वशब्देन किं ध्वंसप्रतियोगी विवक्षितः किं वा प्रतिनियतः कश्चित् । आद्येऽनन्तरदोषानुषङ्गः । द्वितीये तु पष्ठपक्षोक्ताव्याप्तिरित्याह—स्वशब्देति । ननु न समस्तक्षणकेषु अनुगतमिदमाचक्ष्महे लक्षणं येनैवमव्याप्तिः स्यात्किंतु प्रतिविशेषं पृथगेवेत्यभिप्रेत्य शङ्कते—अथेति । अनन्तरत्वं चात्रोत्तरत्वं विवक्षितं तस्य, स्थैर्येषुपपद्यमानतया अर्थान्तरतापरिहाराव्यवहितग्रहणम् । तत्किं यत्सत्तत्क्षणिकमित्यत्र सत्त्वहेतुना एतादृशं क्षणिकत्वं सिद्धायिषितं तथाचानैकान्तिकत्वम् । गणरात्रान्तरितपदार्थानां चैतद्वटोत्पत्त्यव्यवहितोत्तरक्षणवर्तिध्वंसप्रतियोगित्वलक्षणक्षणिकत्वाभावेन विपक्षत्वात्सत्त्वहेतोश्च तत्र वर्तमानत्वादित्याह—एवंविधेत्यादिना । साध्यविकलश्च दृष्टान्त इति च द्रष्टव्यम् । अथ किमिति तत्र नास्ति तत्राह—तत्तद्धंसानामिति । उक्तं दूषणं लक्षणान्तरेप्यतिदिशति—एतेनेति । उत्पत्तिक्षणस्य प्रध्वंसस्तेनासमानकालीनत्वं यदुत्पद्यमानस्य तत्क्षणिकत्वं स्थिरस्य ह्यनेकक्षणावस्थायिनो नोत्पत्तिक्षणप्रध्वंसासमानकालीनत्वं तेन नार्थान्तरत्वमित्यर्थः । असम्भवपरिहारार्थं चोत्पत्तिपदम् । एतेनेत्येतद्विवृणोति—यत्किञ्चिदित्यादिना । पूर्वोक्तदोषो व्याप्तिः । अथ विशेषलक्षणमिदं विवक्ष्यते तदा पूर्वोक्तमनुमानदूषणं स्यादित्याह—प्रतिव्यक्तीति । ननु विशेषलक्षणविवक्षायां न सत्त्वादिति हेतुरभिधित्सितः किंतु घटत्वात्पटत्वादित्यादिव्यावृत्तधर्मा अतो नानैकान्तिकता तत्राह—घटत्वादिति । तथाप्यनागतेषु घटेष्वभिप्रेतसाध्यरहितेष्वनैकान्तिकता । एव पटत्वादेरपीत्यर्थः । एतद्वटत्वादित्यादिहेतुविवक्षायां व्याप्त्यसिद्धिरित्यपि द्रष्टव्यम् । एव साध्यप्रयुक्तदूषणान्युक्त्वा बाधमप्याह—सर्वश्चायमित्यादिना—ननु कथं संस्कारसंप्रयोगयोः संभूयसामग्रीत्वं यावतान्यत्र निरपेक्षयोर्द्विष्टयोरत्रापि तयोः साह्यत्वाभावो वर्णित इति तत्राह—नचान्यत्रेति । किमन्यत्र निरपेक्षकारणत्वेनात्रापि निरपेक्षमनुमित्सितं तद्वनैकान्तिकं लिङ्गस्य श्रूयमाण-

पपत्तिः । यस्मात् 'अन्यत्र लिङ्गेन्द्रिययोरन्योन्यनिरपेक्षयोः । दृष्टं संभूयकारित्वं विशिष्टानुमितिं प्रति ॥ १७ ॥'

श्रूयमाणस्य स्मर्यमाणस्य वा लिङ्गस्याक्षनिरपेक्षस्यानुमानज्ञानहेतुत्वं दृष्टं, दृष्टं चेन्द्रियस्यानपेक्ष्यापरोक्षज्ञानकरणत्वं, तथापि संभूयोभाभ्यामयं पर्वतो वह्निमानित्येकमनुमानज्ञानं जायमानमुपलभामहे । नह्यन्तरेणेन्द्रियसंप्रयोगमयमिति पुरोवर्त्याकारोपलभसंभवः । नच विरुद्धधर्मसंसर्गाद्भेदः । अस्मिन्नेवानुमानवेदने वह्निमानिति चायमिति च पारोक्ष्यापारोक्ष्यविरुद्धधर्मसंसर्गोपलब्धेः । तदेवं प्रत्यभिज्ञाज्ञानस्यैकत्वेन प्रामाण्यसंभवात्तद्विरुद्धं भेदानुमानं कालात्ययापदिष्टं न भेदप्रत्यायनायालम् ।

तथा स्मर्यमाणतया वा कचिदिन्द्रियनिरपेक्षतयानुमित्युत्पादकस्येन्द्रियस्य च घटादौ लिङ्गनिरपेक्षतया परोक्षज्ञानजनकस्यायमभिमान्यवत इत्यनुमित्युत्पत्तौ संभूयकारित्वदर्शनादित्याह—अन्यत्रेति । •

इममेव श्लोक विवृणोति—श्रूयमाणस्येत्यादिना । ननु किमित्यनुमितावपि तयो साहित्यमिति तत्राह—नह्यन्तरेणेति । यद्ययं पर्वतो वह्निमानिति प्रतिज्ञात्मकोऽवयवो नानुमन्यते गोतमगोत्रिभिस्तथापीदृशं ज्ञानं प्रत्यात्मवेदनीयमभ्यनुज्ञायत इति न निदर्शने विप्रतिपत्तिः । यत्तु पारोक्ष्यापारोक्ष्यलक्षणविरुद्धधर्माध्यासाद्भेद इति तत्राह—नच विरुद्धेति । एतेन विषयभेदाद्भेदोन्नयनमपि निरस्तम् । अयं पर्वतो वह्निमानित्यत्रैव व्यभिचारत्वाच्च चात्र पारोक्ष्यमविगतम् । नहि तदित्युल्लेखमात्रात्पारोक्ष्यापारोक्ष्ययोरप्यभिमान्यवत सोमिमान्यवत इति ज्ञानयोस्तदन्वयानन्वयदर्शनात् । नच प्रत्यभिज्ञात्वादेव ज्वालाप्रत्यभिज्ञावदप्रामाण्यानुमानम् । विरुद्धधर्मसंसर्गविषयत्वोपाधिहृतत्वात्, अत्र न तदभावस्य निवेदितत्वात्तथापि चाप्रामाण्ये सर्वत्रैकान्तात् कचिदेकक्षणस्याप्यसिद्धे क्षणिकस्यापि क्षयरोगप्रसङ्गात् । प्रत्यभिज्ञावाधमनुमानस्य समर्थितमुपसहरति—तदेवमिति । एतेन विज्ञानक्षणिकत्वानुमानमपि प्रत्युक्तं वेदितव्यम् । विनष्टविनष्टत्वलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गस्योपाधेर्विषयतया अस्तिद्धेर्नीलपीतादेश्च विज्ञानबहिर्भावात् । अस्तु तर्हि प्रत्यक्षं न स्वतः परतो वा । असिद्धे । किं विज्ञानस्य स्वयमेवोत्पत्तिनाशौ सिद्ध्यत ज्ञानान्तरेण वा । न तावदन्य । अपसिद्धान्तात्तद्विज्ञानस्योत्पत्तिविनाशौ गृह्यतद्विज्ञानमपि गृह्णीयादपरथा किनीयाविमावित्यावेदयेत् । नच विज्ञानस्य विज्ञानान्तराद्यत्वं स्वप्रकाशदर्शने शोभनम् । स्वग्राहक विज्ञानं स्वोत्पत्तिविनाशावप्यवगाहन् इति चेत् तत्किं स्वसमये स्वाभावसमये वा । न तावदन्य । असंभवादतिप्रसङ्गाच्च । किं नाम न शक्यसाधनमसता ज्ञानेन । नापि प्रथम । सवित्समये तदुत्पत्तेरतीतत्वात् निधनस्य चानागतत्वादयोगिप्रत्यक्षस्य चातीताद्यगोचरत्वात् । कथं च तदिन्द्रियसन्निकर्षजन्यस्य तत्प्रत्यक्षत्वम् । नहि ज्ञानोत्पत्ते प्राक् तद्वृत्तौ स्थितेन तदिन्द्रियसन्निकर्षादुत्पद्येत । अस्तु तर्हि योगिप्रत्यक्षं तस्य च त्रैकात्म्यगोचरत्वाद्यदाह कीर्तिन्यायविन्दौ प्रत्यक्षचातुर्विध्यं वदन्—'तदनुभूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानं चेति तेन न कोपि कलङ्कलेप' इति तदपि चार्तम् । तथाहि किं तदीयनीलादिसवेदनानामुत्पत्तिविनाशविषयत्वम्, उत्पत्तिविनाशमात्रविषयस्य वा कस्यचित् । नाथ । नीलादिसवेदनानां तत्तन्मात्रविषयत्वेन स्वोत्पत्त्याद्यगोचरत्वात् । अथान्या सवित् । सापि किं स्वोत्पत्त्यादिविषयिणी परोत्पत्त्यादिविषयिण्यपि वा । नान्य । परबुद्धीनां तदविषयत्वात् विषयत्वे चापराधान्तात् । अथ सा स्वोदयाद्येव विषयीकरोतीति योगिज्ञाननिदर्शनेन चेताराखनुमीयत इति मतम्, अस्तु तर्हि तदीयतादृशसविदि प्रमाणपर्यनुयोगः । ननु यो यदभिनिविशमानोभ्यस्यति स तस्य परा काष्ठा प्राप्नोति चित्रकार इव शिल्पकर्माभ्यासी । अभ्यस्यति च कश्चिद्वहितो ध्यानमित्यनुमानं प्रमाणम् । न । नष्टपुत्रादिशोकवशेनातिभावयत कूटसाक्षात्कारस्यापि दर्शनात् । अभ्यस्यति च कश्चिदिति च शपथसाध्यम् । अस्तु तर्हि बुद्धनिबद्धागमवशात्तादृशसर्वज्ञ इति सिद्धिः । स एव तर्हि सर्वज्ञ केन सिद्धः । ननु सोपि तदी-

कथं च व्याप्यव्यापकभावभेदोपलम्भाधीनाललाभमनुमानमसिद्धे भेदे भेदं गोचरयेत् ।

आगमोप्यभिधानाभिधेयभेदावगमपुरःसरस्तस्मिन्नेवासिद्धे कथं तत्र प्रामाण्यमश्रुवीत । शब्दान्तरादिकमपि सिद्धशब्दादिभेदोपजीवनेन प्रवर्तमानं तदसिद्धौ कथं कर्मोपासनादिभेदमावेदयेत् । नहि भेदासिद्धौ यजति ददाति जुहोत्यर्थानां भेदः सिद्ध्यति येन 'धात्वर्थभेदे सर्वत्र विज्ञेयं भावनान्तरमिति' वार्तिककारोक्तो भावनाभेदः सिद्ध्येत् । उपमानमपि मानान्तरावसितगोगवयादिवस्तुद्वयावच्छिन्नसादृश्यगोचरत्वात् । तदसिद्धौ न वस्तुभेदावभासनाय प्रभवति तिलेभ्य एव तैलं पयस एव दधीत्यर्थक्रियान्यथानुपपत्तिप्रभवत्वादर्थपत्तिरपि नान्तरेण तिलादिकारणभेदावभासं व्यवस्थासिद्धिरित्यन्योन्यसंश्रयान्न कारणभेदावभासे प्रामाण्यं भजते । अभावोपि नेदमिह, नेदमिदमिति धर्मिप्रतियोगिभेदाधीनसिद्धिर्न वस्तुभेदं साधयत्यन्योन्याश्रयान् ।

यागमादेव, अहो दुर्भगोसि यत्तावकगोत्रधुराधुरैर्मरिजिल्लोकजिदित्यादीन्युदारगुणग्रामनामान्युपाजितानि त्वया तु साप्रतं मन्दाक्षजिदिति नाम निर्लज्जेनोपाजितं कथमपरथा तत्प्रणीतागममेव तत्सिद्धावभिदधासि परस्परश्रयादपि न विभेषि तदित्थं—'स्वनस्तावन्न विज्ञप्ते सिद्ध्येतामुदयव्ययौ । परतोपि न विज्ञप्ते सिद्ध्येतामुदयव्ययौ ॥'

तदेवं विरुद्धधर्मससर्गाद्भेदानुमानं निरस्तम्, इदानीं भेदशङ्कितानुमानजातस्य साधारणं दूषणमाह—**कथं-नेत्यादिना ।** व्याप्यव्यापकयोर्भेदोपलम्भ तमुपजीव्य प्रवर्तमानं कथं भेदमात्रे प्रमाणं स्यादन्योन्याश्रयादित्यर्थः ।

इममेव दोषमागमेऽप्याह—**आगमोऽपीति । तस्मिन्निति ।** अभिधानाभिधेययोर्भेद इत्यर्थः । यत्तु शब्दान्तरादिभेदसाधकमित्युक्तं तत्परिहरति—**शब्दान्तरादीति ।** एतेषां चोदाहरणानि सिन्ध्यात्ववादिर्दशितानि तत्र च शब्दान्तरेण धातुभेदेन धात्वर्थभेदात्तदुपरक्तभावनाभेदाधिगतित्वात् शब्दादिभेदोऽप्याप्यसिद्धस्ततः कथं तदुपजीविन समस्तभेदसाधकत्वमित्यर्थः । उपलक्षणं चैतदभ्यासादेरपि, तेषामपि हि पुनः श्रुतिसङ्ख्याविशेषज्ञानान्तरगुणान्तरासन्निधिविशेषरूपाणामभ्याससङ्ख्यासङ्गाज्ञप्रकरणान्तराणां भेदोपजीवनेनैव प्रवर्तमानानां तदसिद्धावप्रवृत्ते । उपमानेऽप्युक्तन्यायमतिदिशति—**उपमानमपीति ।** मानान्तरावसितयद्गोगवयादिवस्तुद्वयं तदवच्छिन्नसादृश्यगोचरत्वात्तस्य च वस्तुद्वयस्यासिद्धावुपमानमपि न समस्तभेदावभासनाय प्रभवतीति योजना । अर्थापत्तेरपि भेदेऽप्रामाण्यमाह—**तिलेभ्य एवेत्यादिना ।** अर्थापत्तिरपि न कारणभेदावभासे प्रामाण्यं भजते कुतस्तिलेभ्य एव तैलं पयस एव दधीति तैलदधिलक्षणार्थक्रियाया व्यवस्थानियतिः, तदन्यथानुपपत्तिप्रभवत्वात् । भवतु तावतापि किमायातमित्यत आह—**नान्तरेणेति ।** तिलेभ्य एव दुग्धेभ्य एवेत्यत्र यदि तिलदुग्धयोर्भेदो न प्रतीतः ततः किं कुत्र व्यवस्थाप्येत प्रत्युताव्यवस्थैव तस्मिन्त्ययोर्भेदसिद्धावेव व्यवस्थासिद्धिर्व्यवस्थान्याथानुपपत्तिलक्षणार्थापत्त्या च कारणयोर्भेदसिद्धिरभिप्रेतेत्यन्योन्याश्रयादिति योजना । नचाभावप्रमाणगम्योस्तु भेदः तस्य च परस्परव्यावृत्तिरूपभेदे सम्भवति प्रवृत्तिरिति तत्राह—**अभावोपीति ।** ससर्गाभावेऽन्योन्याभावे वा प्रवर्तमानोऽभावो धर्मिप्रतियोगिभेदज्ञानाधीनप्रवृत्तिस्ततश्च भेदसिद्धावन्योन्याश्रयतेत्यर्थः । 'निर्भ्रमं क्षणमङ्ग एष विषमो बद्धोतिदुर्वुद्धिभिर्बौद्धैर्विभ्रमविभ्रमालयमहमायाविमूढान्तरैः । यं विव्वस्तसमस्तभावविकृति व्याकीर्णमायाकथं लब्ध्वाऽविक्रियबोधमोदजलविः स्थाणु स्थिरं तं भजे ॥ २ ॥

अपि च 'मानाधीना मेयसिद्धिर्मानसिद्धिश्च लक्षणान् । तच्चाध्यक्षादिमानेषु गीर्वाणैरपि दुर्भणम् ॥ १८ ॥' प्रत्यक्षादिप्रमाणाधीना तत्प्रमेयव्यवस्थितिः प्रमाणानि च लक्षणाधीनाधिगमानि लक्षणं च दुर्निरूपणम् । तथाहि । तत्र न तावदिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यभिचारीत्यक्षपादोदितं प्रत्यक्षलक्षणं घटते । अव्यभिचारित्वस्य दुरधिगमत्वात् । तदव्यभिचारित्वं किमदुष्टसामग्रीजन्यत्वेन ज्ञायते किं वा बाधरहितत्वेनाहोस्वित्प्रवृत्तिसामर्थ्येनोतान्येन केन चित् । न प्रथमः । अप्रत्यक्षसामग्रीनिष्ठदोषाभावस्याध्यक्षेणाध्यवसातुमशक्यत्वात् । नापि ज्ञानाख्यलिङ्गेन । ज्ञानमात्रेणादुष्टसामग्रीजन्यत्वसाधने विभ्रमज्ञानेष्वनैकान्तिकत्वात् । नाप्यव्यभिचारित्वज्ञानेन तदवगमः । परस्पराश्रयत्वान्, अदुष्टकरणजन्यत्वेन ज्ञानस्याव्यभिचारित्वसिद्धिरव्यभिचारित्वज्ञानाच्चादुष्टकरणजन्यत्वसिद्धिरिति । नापि द्वितीयः । विकल्पासहत्वान् । किं सर्वपुरुषवाधरहितत्वमुत प्रतिपत्तुः । नाद्यः । सर्वपुरुषवाधरहितत्वस्यासर्वज्ञाविज्ञेयत्वात् । न द्वितीयः । प्रतिपत्तुर्देशान्तरगमननिधनादिना बाधानुदये तदीयमरुमरीचिकाविभ्रमाणामप्यर्थाव्य-

प्रत्यक्षादिप्रमाणानां भेदविषयत्वाभावाद्भेदस्य च दुर्निरूपत्वान्नाद्वैतप्रतिपादकागमानां तैर्विरोध इत्यधस्तादभ्यधायि, इदानीं यैः प्रमाणैर्विरोधं ब्रूये तान्येव दुर्निरूपाणि, कैर्विरोध स्यादित्याह—अपि च मानाधीनेति । तच्चेति । तच्च लक्षणमध्यक्षादिषु देवैरपि वक्तुं न शक्यत इत्यर्थः । अनेन प्रमाणादिषोडशपदार्थव्युत्पादनरूपन्यायदर्शनविरोधोऽपास्यते । वैशेषिकदर्शनविरोधो हि षष्ट्यपदार्थनिर्मथनेन पुरो निवारितः । श्लोकं विवृणोति—प्रत्यक्षादीति । यद्यपि प्रमाणसमानलक्षणखण्डनानन्तरं तद्विशेषप्रत्यक्षादेः खण्डनं युक्तं तथापि प्रत्यक्षलक्षणखण्डनप्रसङ्गेन तदपि खण्डयिष्यत इति लाघवमभिप्रेत्य न्यायसूत्रोक्तं प्रत्यक्षलक्षणं दूषयति—तत्रेति । तेषु प्रमाणेषु मध्य इत्यर्थः । यद्यपीन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षमिति सूत्रं तथापीयानेवागो लक्षणोपयोगी । अव्यपदेश्यपदस्य निर्विकल्पकप्रत्यक्षभेदसूचकत्वात् । व्यवसायात्मकपदस्य रूपं रस इत्यादिप्रत्यक्षज्ञानस्य शब्दानुबोधेन गान्धर्वगङ्गानिवर्तनेन सविकल्पकप्रत्यक्षप्रामाण्यसमर्थनार्थत्वात्, इति हृदि निधायैतावदुदाहृतम् । तत्र चैव्यभिचारीति शुक्तिरजतज्ञानादिव्यवच्छेदः । सुखादिव्यावृत्त्यै ज्ञानपदम् । अनुमानादिव्यावृत्त्यर्थमाद्य विशेषणम् । एकदेशस्य दुर्ज्ञानत्वादसिद्धिः लक्षणस्याह—अव्यभिचारित्वस्येति । अत्र प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वेदमधिगम्यत इत्यग्रे विकल्प्य दूषयिष्यत इदानीं तूभयानुगुणतज्ज्ञापकत्वेनाभिमतान्धर्मान्विकल्प्य दूषयति—तदव्यभिचारित्वमित्यादिना । ननु कथं प्रत्यक्षपक्षे धर्माणामानुगुण्यमिति चेत् रजतत्वोपदेशस्येव तन्प्रत्यक्षसाचिव्यमित्यवेहि । प्रवृत्तेश्चेष्टायां फलेन तोयादिना अव्यभिचारस्तत्प्राप्तिनियमः प्रवृत्तिसामर्थ्यम्, अदुष्टसामग्रीजन्यत्वेनेति प्रथमपक्षे यदिदमदुष्टसामग्रीजन्यत्वं तत्किं प्रत्यक्षेण ज्ञायते उतानुमानेन । आद्ये प्राह—अप्रत्यक्षेति । कार्यैकगम्यसाम्य्या दोषाशानां च प्रत्यक्षत्वाभावात् तन्निष्ठदोषाभावोप्यप्रत्यक्ष अतस्तज्जन्यत्वमपि ज्ञानगतमप्रत्यक्षमिति भावः । द्वितीयेपि किं ज्ञानत्वलिङ्गेन तदनुमीयते किंवाऽव्यभिचारिज्ञानत्वेन । नाद्य इत्याह—नापीति । तत्र हेतुः—ज्ञानमात्रेणेति । भावपरो निर्देशः । द्वितीयं दूषयति—नाप्यव्यभिचारित्वेति । परस्पराश्रयमेव विवृणोति—अदुष्टेति । बाधरहितत्वेनाव्यभिचारित्वावगम इति द्वितीयं पक्षं दूषयति—नापीति । उत प्रतिपत्तुरिति । यो हि येन प्रत्यक्षेणार्थं प्रतिपद्यते तत्र तस्य बाधाभावाद्वैत्यर्थः । प्रतिपत्तुर्देशान्तरेति । यदा हि मरुमरीचिकाविभ्रमोदयानन्तरं प्रतिपत्तुर्देशान्तरगमनं देहव्यापत्तिर्वा भवति तत्र तस्य न बाधोदय इति तद्विभ्रमाणामव्यभिचारित्वं स्यादित्यर्थः । आदिग्रहणेन स्वस्थस्यैव जिज्ञासाद्यभावो

भिचारित्वप्रसङ्गात् । नापि तृतीयः । तस्याप्यनिरुक्तेः । तथाहि । प्रवृत्तिर्नाम पुंसः समी-
हा, चेष्टा तस्याः फलेनोदकादिनाभिसंबन्धः प्रवृत्तिसामर्थ्यं तेनोदकादिविज्ञानस्यार्थाव्य-
भिचारित्वमवगम्यत इति स्थितिः । तच्चेदं प्रवृत्तिसामर्थ्यं लिङ्गत्वादवगतं सदव्यभिचा-
रित्वं बोधयतीति वाच्यम् । तथा सति किं ज्ञानमात्रावगतं सत्तदव्यभिचारितां विज्ञान-
स्यावगमयेदुताव्यभिचारिज्ञानावगतम् । नाद्यः । भ्रान्तिस्वप्नादिज्ञानेनानैकान्त्यात् ।
नापि द्वितीयः । परस्पराश्रयत्वात् ।

किंचायमन्वयव्यतिरेकी हेतुः केवलव्यतिरेकी वा । नाद्यः । सर्वज्ञानानामव्यभि-
चारित्वे विप्रतिपन्नं प्रति सपक्षसंभवात् । अस्तु तर्हि द्वितीयस्तथाचार्यवाचस्पतेस्तात्प-
र्यटीकायां प्रयोगः—‘विवादाध्यासितं ज्ञानमर्थाव्यभिचारि । समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात् ।
यदि भुनरेवं नाभविष्यन्न समर्था प्रवृत्तिमकरिष्यद्यथा प्रमाणाभास’ इति । मैवम् ।
हेतोर्विरुद्धत्वात् । दृश्यते हि मणिप्रभायां मणिबुद्ध्या प्रवर्तमानस्य मणिप्राप्तेः प्रवृत्ति-
सामर्थ्यं न चाव्यभिचारित्वम् । उक्तं हि मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः मिथ्या-
ज्ञानाविशेषेपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रतीति ।

कश्चायं फलाभिसंबन्धः । ज्ञानप्रतिभासितार्थस्य प्राप्तिरुत तज्जातीयस्य । नाद्यः ।
वृषभमहिषपरिवर्तनादिना क्रियाविभागन्यायेन विज्ञानावभासितसलिलावयविनो विना-

गृह्यते । प्रवृत्तिसामर्थ्येनेति तृतीयं पक्षं दूषयति—नापि तृतीय इति । पूर्ववाच्यमितं प्रवृत्तिसामर्थ्यं
विवेचयति तदनिरुक्तिं दर्शयितुं—प्रवृत्तिर्नामेत्यादिना । समीहेत्यस्यैव विवरणं चेष्टेति । भवत्वित्दं
प्रवृत्तिसामर्थ्यं तत किं तत्राह—तच्चेदमिति । लिङ्गत्वादिति । व्याप्तत्वपक्षधर्मतया ज्ञातं हि लिङ्गं
भवति इतरथाऽसिद्धत्वप्रसङ्गादित्यर्थः । तच्च प्रवृत्तिसामर्थ्यं किं ज्ञानत्वलिङ्गेनावगतं सत्सामर्थ्यं बोधयति किं
वा अव्यभिचारिज्ञानत्वेनावगतमिति विकल्प्याद्येऽनैकान्तिकतामाह—भ्रान्तीति । अत्र च प्रवृत्तिसामर्थ्यं
समर्थप्रवृत्तिजनकत्वमभिमतस्मिन्नतथा वैयधिकरण्यं स्यात् ।

पूर्वं प्रवृत्तिसामर्थ्यलक्षणो हेतुर्दुर्ज्ञान इत्युक्तम्, इदानीं भवतु सुज्ञानत्वं तथापि कीदृशो हेतुरिति विकल्पयति
—किंचायमिति । च किंचार्थः । पञ्चरूप खल्वन्वयव्यतिरेकी । अत्र च सपक्षे सत्त्वलक्षणं द्वितीयं ना-
स्तीत्यभिप्रेत्याह—सर्वज्ञानानामिति । नच तदनुभवाभावे सदेहाभावः । विपर्यासादपि प्रत्यवस्थानस-
भवात् । नच सोप्यन्यत्र सत एवानिर्वचनीयवादात् । नच सर्ववादविधिनिषेधप्रसङ्गः । उक्तवक्ष्यमाणस-
माधानत्वात्, एतेनोदयनोद्गारोपि चिकित्सितः । केवलव्यतिरेकिपक्षं शङ्कते—अस्तु तर्हि । तात्पर्यटीका-
न्यायवार्तिकटीका । उदाहृतश्चायं ग्रन्थः स्वतःप्रामाण्यवादे । भ्रान्तिव्यावृत्त्यै समर्थपदम् । तदेतद्दूषयति—
मैवमिति । विरुद्धत्वं दर्शयति—दृश्यते हीति । या हि मणिप्रभाया मणिबुद्धि सा तावदर्थव्यभिचा-
रिणी, अयथार्थत्वात् । नच मणिप्रभैव मणिः । अथ च समर्थप्रवृत्तिजनकत्वमस्ति मणिप्रापकत्वादित्यर्थः ।
अत्र सौगतवार्तिकसंमतिं दर्शयति—उक्तं हीति । यदि हि मणिप्रभाया प्रदीपप्रभाया च मणिबुद्धिभ्यां
पुरुषावभिधावतस्तदा तयोरुभयोरपि विज्ञाने मिथ्याज्ञाने एव तथाप्यर्थक्रिया प्रति विशेषोस्ति मणिप्रभाया
मणिबुद्धेर्मणिप्रापकत्वात् इतरत्र तदभावादित्यर्थः ।

प्रवृत्तिसामर्थ्यस्य हेतुविशेषान्तर्भावो दुर्निरूप इत्युक्तम्, इदानीं प्रवृत्तिसामर्थ्यमेव सर्वज्ञानानुगतमशक्य-
निरूपणमित्याह—कश्चायमिति । वृषभमहिषेति । अयमर्थः । वैशेषिकादिमते विज्ञानप्रतिभासितार्थ-

शेन ज्ञानस्य फलाभिसंबन्धाभावप्रसङ्गान् । न द्वितीयः । ग्रहतारादिविज्ञाने तस्य तज्जातीयस्य वा प्राप्त्यभावात् । नापि चतुर्थः । अन्यदप्यनुमानान्तरमुत प्रत्यक्षम् । नाद्यः । लिङ्गस्याव्यभिचारित्वलक्षणसाध्येन व्याप्तिग्रहणदशायामेवाव्यभिचारस्य गृहीतत्वे पुनरनुमानानुपयोगात् । अगृहीतत्वे वानुमानस्याप्रवृत्तेः । न द्वितीयः । ज्ञानग्राहकेणैव मानसप्रत्यक्षेण तस्यार्थाव्यभिचारित्वग्रहणेऽभ्यासदशायामिवानभ्यासदशायामपि संशयानुदयप्रसङ्गात् ।

किंचेदमव्यभिचारित्वं नाम विज्ञानस्य, किं प्रमात्वापरपर्याया जातिरुतोपाधिः । न तावज्जातिः । जातिसङ्करप्रसङ्गात् । तथाहि । सर्वं ज्ञानं धर्मिण्यभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्यय इति वदद्भिरिदं रजतमिति विभ्रमज्ञानमिदमंशे प्रमाणमप्रमाणं च रजताशेभ्युपगम्यते परीक्षकैः तथाच—“अन्योन्यपरिहारेण भिन्नव्यक्तिनिवेशिनोः सामान्ययोः समावेशो जातिसङ्कर उच्यते” इत्युक्तन्यायेन स्मृतौ प्रमात्वपरिहारेणैवाप्रमात्वस्य वृत्तेरप्रमात्वपरिहारेण च प्रत्यक्षादौ प्रमात्ववृत्तेरेकस्यां विभ्रमव्यक्तावुभयसमावेशे कथं न जातिसङ्करः स्यात् । उपाधिश्चाबाधितत्वाविसंवादिवादिप्रागुक्तप्रकारेणैवापाकरणीयः । अस्तु वा

प्रापकत्वं फलाभिसंबन्धरूपप्रवृत्तिसामर्थ्यमित्युक्तम् । अव्यापकत्वात् । यदा हि दूरतरे सरसि य सलिलं दृष्ट्वा तत्तिपासया सर्पति तदा समसमयमेव यदि महिषेण वृषभेण वा तदम्भ क्षोभितं भवेत्तत्तदम्भो-व्यव्यारम्भकावयवेषु क्रियोत्पद्यते ततश्च पूर्वतनद्रव्यारम्भकसयोगविघातकविभागोत्पत्तिस्ततश्च सयोगनाशस्तदनु च तदारब्धावयविनाश उत्तरसयोगोत्पत्त्याचावयव्यन्तरोत्पत्तिरिति तेषां दर्शनं, ततश्च पूर्वज्ञातं सलिलावयवी विलीन एव पीयमानश्चान्य एवेति पूर्वज्ञानजनितप्रवृत्तेः फलाभिसंबन्धो न स्यादस्ति च तदितरथा व्यभिचारितयाऽप्रामाण्यप्रसङ्गादिति । विज्ञानप्रतिभासितार्थसजातीयार्थप्रापकत्वं फलाव्यभिचार इत्यप्युक्तम् । ग्रहतारकादिविज्ञानस्य सजातीयस्य वा विजातीयस्य वा ग्रहादे प्रापकत्वाभावेनाव्यापकत्वादित्याह—ग्रहेति । पक्षद्वयेषुपेक्षाज्ञानस्य प्रामाण्यं न स्यादित्यपि द्रष्टव्यम् । अन्येनेति पक्षं निषेधति—**नापीति** । यत्तत्त्वोचाम प्रत्यक्षमनुमानं वेति विकल्प्य दूषयिष्यतीति, तदाह—**अन्यदपीति** । येन हि लिङ्गेनाव्यभिचारित्वमनुमीयते तस्य तेन व्याप्तिर्गृहीता न वा । आद्ये प्राह—**लिङ्गस्येति** । नहि ज्ञानविशेषेऽव्यभिचारित्वं विप्रतिपन्नं येनाभिमतत्वादिवदन्यत्र प्रसिद्धमेवान्यत्रानुमीयेतापि त्वव्यभिचारित्वमात्र इति भावः । द्वितीये प्राह—**अगृहीतत्वे इति** । प्रत्यक्षपक्षं दूषयति—**न द्वितीय इति** । प्रत्यक्षत्वे ज्ञानप्रतीतिसमसमयमेव तस्यापि निर्णीतत्वादनभ्यासदशायामव्यभिचारित्वे संशयो न स्यादित्यर्थः ।

तदित्थमव्यभिचारित्वस्य ज्ञापकाभावादसिद्धिरभिहिता इदानीमव्यभिचारित्वमेव दुर्निरूपमित्याह—**किंचेदमिति** । प्रमात्वमित्यपर पर्यायो यस्या सा तथोक्ता । प्रमात्वमिति नामिकेति यावत् । प्रमात्वरूपमव्यभिचारित्वं न जातिः । इदं रजतमित्यादिभ्रमेषु धर्म्यंशेऽव्यभिचारित्वरूपप्रामाण्याङ्गीकारादितराशे चाप्रामाण्याङ्गीकारात् । उभयोश्च परस्परव्यभिचारिणोरेकत्र वृत्तौ जातिसङ्करादित्याह—**न तावज्जातिरित्यादिना** । जातिसङ्करस्वरूपमेव वृद्धवचनेन द्रढयति—**अन्योन्यपरिहारेणेति** । नच स्वतः प्रामाण्यवादोक्तपरिहारः । इदमंशे तद्व्यवहारस्यौपाधिकत्वेऽन्यत्रापि तत एव तद्व्यवहारोपपत्तौ जातिसङ्कावे प्रमाणाभावात् । नच गोत्वाद्युच्छेदप्रसङ्गः । इष्टत्वात् । नचाप्रमात्वमुपाधि प्रमात्व च जातिरिति वक्तुं युक्तम् । वैपरीत्यस्यापि सभवात् । उपाधिपक्षं दूषयति—**उपाधिश्चेति** । प्रागुक्तप्रकारेणेति । अबाधितत्वं किं सर्वस्य किं वा प्रतिपत्तुः, एवमविसवादिन्वमपि किरवैपामुत प्रतिपत्तुरिति विकल्पोक्तदूषणेनेत्यर्थः । एवमवयवशो दूषणमुक्त्वा समुदितेऽपि दूषणं वक्तुमुपक्रमते—**अस्तुवेति** । अनीश्वरप्रत्यक्षलक्षणमिदमतो नाव्याप्तिरिति

यथाकथंचिद्विचारितरमणीयमव्यभिचारित्वं तथापीश्वरज्ञानेऽव्याप्तिः । तस्य नित्यत्वा-
देवेन्द्रियसन्निकर्षाजन्यत्वात् । जन्यप्रत्यक्षलक्षणमिति चेत्तथाप्यनुमितावतिव्याप्तिः मनो-
लक्षणेन्द्रियस्यालक्षणेत्यर्थेन सन्निकर्षादनुमितेर्जायमानत्वात् ।

संयुक्तेर्ये इति विशेषणान्नातिव्याप्तिरिति चेन्न । युक्तावस्थायामुपजायमानपरमाणु-
विषययोगिप्रत्यक्षेऽव्याप्तेः । अयोगिप्रत्यक्षलक्षणमिति चेन्न । प्रत्यभिज्ञाने तत्तांशेऽव्याप्तेः ।
तत्रापि संयुक्तविशेषणतालक्षणः सन्निकर्षोऽस्तीति चेन्मैवम् । अयमग्निमान्पर्वत इत्यनु-
मानेऽतिव्याप्तेस्तत्रापि संयुक्तविशेषणतालक्षणसन्निकर्षस्य तत्तांश इव सद्भावात् । लिङ्गा-
द्यजन्यत्वे सतीति विशेषणाददोष इति चेन्न । इन्द्रियार्थसन्निकर्षपदवैयर्थ्यप्रसङ्गात् ।
तेनाप्यतद्वावृत्तिमुखेन लिङ्गाद्यजन्यत्वमेवोच्यत इति चेन्न । यत्किंचिदपेक्षया सर्वस्यापि
लिङ्गत्वसंभवेन लक्षणस्यासंभित्वप्रसङ्गात् ।

पारोक्ष्यानधिकरणप्रमाप्रत्यक्षफलं तत्करणं च प्रत्यक्षप्रमाणमिति सूत्रेण सूत्रितं लक्ष-
णमिति चेन्न । प्रमात्वपरोक्षत्वयोर्दुर्निरूप्यत्वेन तदधीननिरूपणस्यापि लक्षणस्य दुर्निरू-
पत्वात् । नच प्रमात्वस्य जातित्वेन निरुक्तिः । भ्रमज्ञाने जातिसङ्करस्योक्तत्वात् ।
न तत्रेदमंशादिप्रत्यये प्रमात्वं जातिः, कितूपाधिनिबन्धनः प्रमाव्यवहार इति चेन्न ।

शङ्कते—जन्येति । अनुमिताविन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्वं दर्शयन्नतिव्याप्तिमेव विवृणोति—मनोलक्षणेति ।
उपलक्षणं चैतत्समृत्यादेरपि ।

नन्विन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं संयुक्तेर्ये प्रत्यक्षमिति लक्षणं विवक्षितं, नचैवमनुमानमतो नातिव्याप्तिरिति
शङ्कते—संयुक्तेर्ये इतीति । एतदुक्तं भवति । इन्द्रियार्थेत्यादिविशेषणयुक्तं संयुक्तार्थावभासकं प्रत्यक्ष-
मिति । तर्हि योगिप्रत्यक्षविशेषेऽव्याप्तिरित्याह—न युक्तावस्थायामिति । आत्ममनः सन्निकर्षमात्राद-
शेषार्थग्रहणमिति भवतामभ्युपगम । युक्तं च नहि तदा परमाण्वादीन्द्रियसंयुक्तम् । बहिरिन्द्रियाव्यापारा-
न्मनसश्च बहिः स्वातन्त्र्याभावादिति भावः । तर्हि अयोगिप्रत्यक्षस्यैवेदं लक्षणमस्त्विति शङ्कते—अयो-
नीति । तर्ह्ययोगिप्रत्यक्षेऽप्यव्याप्तिरित्याह—न प्रत्यभिज्ञान इति । ननु कथमव्याप्तिः यावता तत्तायाम-
पीदानीं चक्षुषा संयुक्तदेवदत्तविशेषणतया पारपर्येणेन्द्रियसन्निकर्षोऽस्तीति शङ्कते—तत्रापीति । तर्हि प्रत्य-
क्षधर्मिकानुमानेष्वतिव्याप्तिरित्याह—मैवमिति । ननु लिङ्गाद्यजन्यत्वे सत्युक्तविधिसन्निकर्षजन्यत्वं तल्लक्षणं
तथा च नानुमितावतिव्याप्तिरित्याह—तर्हि लिङ्गाद्यजन्यत्वे सति प्रमितित्वमित्येतावदेवास्तु प्रत्यक्षलक्षणं
व्यभिचाराभावात् वृथेतरेदिति परिहरति—नेन्द्रियार्थेति । नन्विन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमित्यत्र लिङ्गाद्यजन्यत्वं
विवक्षितमतो न वैयर्थ्यम् । यदि हि लिङ्गाद्यजन्यत्वमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्वं चोभयं विवक्ष्येत स्यात्तदा
वैयर्थ्यं नत्वेवमिति शङ्कते—तेनापीति । तर्ह्यसिद्धिरेव लक्षणस्य चक्षुरादेरपि यत्किंचित्प्रति लिङ्गत्वेन सर्व-
प्रत्यक्षाणां लिङ्गजन्यत्वादित्याह—न यत्किंचिदिति । तल्लिङ्गाद्यजन्यत्वे सति तदिन्द्रियसन्निकर्षजन्यत्वस्य
लक्षणत्वविवक्षायां तच्छब्दार्थानुगम्यसंभवेन लक्षणस्याव्याप्तिरित्यपि द्रष्टव्यम् ।

फलद्वारालक्षणं शङ्कते—पारोक्ष्येति । अनुमित्यादिव्यावृत्तये पारोक्ष्यानधिकरणेत्युक्तम् । भ्रान्तिविशेष-
व्यवच्छेदाय प्रमाग्रहणम्, इन्द्रियेत्यादिविशेषणेन पारोक्ष्यानधिकरणत्वसूचनादव्यभिचारितया भ्रमादिव्युदासेन
प्रमात्वलाभात्प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानीति सूत्रे करणस्य च प्रकान्तत्वादित्दं लभ्यत इति भावः ।
भ्रमज्ञान इति । तत्र हीदमंशज्ञाने प्रमात्वमितरत्राप्रमात्वमिति जातिसङ्कर उक्त इत्यर्थः । ननु न तत्र प्रमात्वं
जातिरस्ति येन जातिसङ्करः स्याद्व्यवहारस्तूपाधिनिबन्धन इति शङ्कते—न तत्रेति । आदिग्रहणेन पीतः

सर्वप्रमाव्यवहारस्यापि तथात्वोपपत्तौ जातेरपलापपत्तेः । नचैवं गोत्वापलापप्रसङ्गः । जातिमन्तरेणोपाधिसामान्यनिवन्धनतया गोव्यवहारस्य कचिदप्यनङ्गीकारान् । मृदवाद्गो गोव्यवहारो न जातिनिवन्धनो नाप्युपाधिनिवन्धनः कित्त्वौपचारिक इति न किञ्चिदुच्यते नच प्रमात्वजातेर्व्यञ्जकमस्ति । तथाहि । तत्किमबाधितानुभूतित्वं किं वा यथार्थानुभूतित्वमाहोस्विदव्यभिचार्यनुभूतित्वमविसंवाद्यनुभूतित्वं वा संशयविपर्ययव्यतिरिक्तस्मृतित्वानधिकरणज्ञानत्वं वा एतद्वटज्ञानवृत्तित्वे सत्येतद्धूमजन्ये वह्निज्ञानवृत्तिसंशयावृत्तिजातिमत्त्वं वा ।

न प्रथमः । इदानीं बाधविरहस्यातिप्रसङ्गकत्वान् । कालान्तरे बाधविरहस्य दुरवधारणत्वात्सर्वपुरुषावाधस्य पुरस्तादेव निरस्तत्वान् । न द्वितीयः । यथार्थत्वानिरुक्तेः, तत्किमर्थसत्तामात्रविषयत्वमुन यावत्प्रतीयमानार्थसत्त्वमाहोस्विदबाधितार्थवत्त्वम् । न तावदर्थसत्तामात्रविषयत्वम् । भ्रमस्यापि प्रमात्वप्रसङ्गान् । नापि यावत्प्रतीयमानार्थसत्त्वं प्रत्यभिज्ञायामतीतानागतानुमानेषु वैधज्ञाने च तदभावेन तेषामप्रमात्वापातान् ।

शङ्क उष्णं जलमित्यादौ पीतोष्णतादिप्रत्यया सगृह्यन्ते । मसर्गमात्रप्रत्यये हि तत्राप्रमात्व तर्हि तेनैवोपाधिना सर्वत्र प्रमाव्यवहारोऽस्त्वनुगतनिमित्तलाभात् अल जातिकृत्पनया अर्धजरतीयदुष्टयेति परिहरति—**नेति** । ननु कथं कचिदपि गोत्वव्यवहारस्योपाधिनिवन्धनताभाव यावता मृदादिविनिमित्तगवादौ गोत्वव्यवहारस्यौपाधिकत्वात् तत्र जातेरभावादिति तत्राह—**मृदवादाविति** । न तावन्मृदवाद्गो गवादिवुद्धिरस्ति शब्दप्रयोगस्तु परम्, नच सोपि जातिमुपाधि बाधलभ्य कितूपचारात् । नहि सिंहशब्दो बलवर्मणि उपचारात्प्रयुक्त इति उपाधिनिवन्धनो जातिनिवन्धनो वा भवति, विभ्रमेदमंशादौ पुनर्मुख्यत्वं प्रमाव्यवहारस्य स्वीक्रियत इति विशेष इति भावः । जातिसङ्करान्न प्रमात्व जातिरित्युक्तम्, इदानीं व्यङ्ग्यकामावाच्च न प्रमात्व जातिरित्याह—**नचेति** । पक्षचतुष्टयेऽनुभूतिग्रहण स्मृतित्वव्यावृत्त्यर्थम् । विपर्ययादिव्यावृत्त्यर्थं च विशेषणान्तरम् । संशयाद्विपर्ययाच्च व्यतिरिक्तत्वे सति स्मृतित्वस्यानधिकरणं यज्ज्ञानं तत्त्वमिति पञ्चम पक्षः । **एतद्वटज्ञानेति** । एतच्च घटज्ञानं चेति प्रत्यक्षज्ञानविशेषो विवक्षितः । एतच्च धूमजन्यवह्निज्ञानं चेत्यत्राद्यनुमानज्ञानविशेषः । तयोर्वर्तमानत्वे सति संशयावृत्तिर्या जातिः प्रमात्वं तदधिकरणत्वं प्रमात्वव्यञ्जकमित्यर्थः । अत्र च घटज्ञानवृत्तिजातिमत्त्वमित्युक्ते अनुमेयघटज्ञानवृत्त्यनुमितित्वजातिमत्वमनुमितित्वव्यञ्जकमादायार्थान्तरता तदर्थमेतद्वटज्ञानवृत्तीत्युक्तम् । तथापि प्रत्यक्षत्वजातिमत्त्वं प्रत्यक्षत्वव्यञ्जकमादायार्थान्तरता तदर्थं धूमजन्यज्ञानवृत्तीत्युक्तम् । तथापि प्रत्यक्षधूमज्ञाने पूर्वोक्तार्थान्तरता तदर्थं धूमजन्यवह्निज्ञानेत्युक्तम् । तथापि तथाविधस्मृतौ प्रसक्तिस्तदर्थमेतदित्युक्तम् । तथापि गुणत्वादिमत्त्वमादायार्थान्तरता तदर्थं संशयावृत्तीत्युक्तम् । संशयावृत्तित्वे सति परोक्षाऽपरोक्षानुभववृत्तिजातिमत्त्वमिति लक्षणार्थः । **न प्रथमपक्षमबाधितत्वानिरुक्त्या दूषयति—न प्रथम इति । अतिप्रसङ्गकत्वादिति** विपर्ययादा ।

वपीदानीं बाधविरहसभावेन प्रमात्वव्यञ्जकत्वप्रसङ्गादित्यर्थः । **पुरस्तादेव निरस्तत्वादिति** । असर्वज्ञाविज्ञेयत्वादित्यर्थः । वादीन्द्रस्तु बाधितत्वाल्यन्ताभावोऽबाधितत्वमित्याह—तस्य वक्ष्यमाधेवाधानिरुक्त्या निरासः । अथाबाधितमबाधितमित्यनुवृत्तबुद्ध्या जातिरुपाधिर्वाऽबाधितत्व न । बुद्धिमात्रादसिद्धे । अबाधितत्वे च चक्रकम् । **भ्रमस्यापीति** । भ्रमज्ञानेपीदमंशस्यार्थस्य विद्यमानत्वात्तत्रापि व्यञ्जकसत्तया व्यङ्ग्यप्रमात्वप्रसङ्गादित्यर्थः । द्वितीयं दूषयति—**नापीति** । प्रत्यभिज्ञायां तत्ताविशिष्टोऽर्थः प्रत्यभिज्ञोदयसमये नास्त्यतीतत्वात्तथातीतानागतार्थविषयानुमानेऽपि तदानीमर्थो नास्ति तथा विविवाक्यजन्यज्ञानेपि साध्यार्थविषयत्वात्तदानीमर्थो नास्तीति तेषामव्यञ्जकतयाऽप्रामाण्यप्रसङ्गादव्याप्तिरित्यर्थः । द्वितीयतृतीयं दूषयति—

अबाधितार्थवत्त्वं तु पुरस्तादेवापहस्तितम् । नापि तृतीयः । ज्ञानार्थयोर्विभिन्नदेश-
कालयोर्धूमाभ्योरिवाविनाभावाभावात् । चतुर्थेऽपि पक्षे ज्ञानान्तरेण तथैवोल्लिख्यमानत्वं
विपरीततया वा उल्लिख्यमानत्वमविसंवादित्वम् । नाद्यः । रजतं रजतमिति धारावा-
हिकविभ्रमेष्वपि भावात् । न द्वितीयः । असंजातबाधस्यापि भ्रमस्य प्रमात्वापातात् ।
नापि पञ्चमः । संशयविपर्ययव्यतिरिक्तस्मृतित्वानधिकरणज्ञानत्वस्य विभ्रमेऽपि धर्म्यं
भावात् । अन्यथा सर्वं ज्ञानं धर्मिण्यभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्यय इत्यभ्युपगमपरित्याग-
प्रसङ्गात् । संशयविपर्ययस्मृतीनामनिरुक्तेश्च तदतिरिक्तत्वमपि दुर्भणम् । तत्र किमन-
वधारणज्ञानं संशयः विरुद्धोभयकोटिसंस्पर्शिज्ञानं वा अनिर्धारितत्वविशेषितं वा जिज्ञा-
साजनकं मिथ्याज्ञानं वा विपर्ययेतरमिथ्याज्ञानं वा संशयत्वजातियोगि वा सर्वथापि न
निरूपणपथमवतरति । ‘अनिरुक्तेरवधृतेरतिव्याप्तेर्द्वयोरपि । अव्याप्तेर्विभ्रमाभेदाज्जाति-
साङ्ख्यसंस्कितः’ ॥ १८ ॥

नाद्यः । अवधारणानिरुक्तावनवधृतत्वस्याप्यनिरूपणात् । तथाहि । किं ज्ञानमात्रम-
वधारणमुत एकाकारप्रतिनियतमाहोस्वित्संशयविरोधिज्ञानं वा संशयविरोधिप्रमाणज्ञानं
वा । आद्ये व्याघातः । ज्ञानं भवति न भवति चेत्युक्तत्वात् । द्वितीये चित्रः पटश्चैत्रो

अबाधितार्थवत्त्वं त्विति । अव्यभिचार्यनुभूतित्वमिति तृतीयं पक्षं दूषयति—नापि तृतीय
इति । किं यत्रार्थस्तत्र ज्ञानमिति देशतोऽव्यभिचारित्वं विवक्षितं किं वा यदार्थस्तदा ज्ञानमिति
कालतः, नोभयमपीत्याह—ज्ञानार्थयोरिति । यद्यपि सुखादिषु देशतोऽविनाभावो वर्तमानेषु च
कालतः संभवति तथापि न सर्वप्रमितीनामेवंभाव इति तात्त्व्याप्तिरित्यर्थः । अविसवाद्यनुभूतित्वमिति
चतुर्थेऽपि पक्षेऽविसंवादित्वं विकल्प्य दूषयति—चतुर्थेऽपीति । किं सवादाभावो विसवादित्वं तदभावो-
ऽसवादादित्वमिति प्रथमविकल्पाभिप्रायः । द्वितीये तु विपरीतसवादो विसवादस्तदभावोऽविसवादित्वमिति तत्र
प्रथमं दूषयति—नाद्य इति । अस्ति हि इदं रजतमिदं रजतमिति धारावाहिकविभ्रमे ज्ञानान्तरेण पूर्वज्ञा-
नप्रतीतिार्थस्य तथेत्युल्लेख इत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः । द्वितीये देशान्तरगमनादिनानुत्पन्नबाधे भ्रमेऽप्यतिव्याप्तिरित्याह
—न द्वितीय इति । पञ्चमपक्षेऽप्यतिव्याप्तिः । सर्वभ्रमाणामधिष्ठानांशे त्वदुक्तलक्षणवत्त्वेन प्रमात्वप्रसङ्गात् ।
न चेष्टापत्तिः, जातिसङ्करोक्तेरित्यभिप्रेत्याह—नापि पञ्चम इति । किंच संशयादेरपि दुर्निरूपत्वात्तद्व्यति-
रिक्तत्वमप्रसिद्धमित्यसिद्धिलक्षणस्येत्यभिप्रेत्याह—संशयेति । तत्र संशयलक्षणानि संभवन्ति विकल्पयति
—तत्र किमित्यादिना । निश्चयव्यावृत्त्यर्थमाद्यं पदम् । अवधारणाभावव्यावृत्त्यै ज्ञानपदम् । घटपटौ
स्थानुरेवेत्यादिव्यावृत्त्यै विरुद्धोभयग्रहणम् । अनिर्धारितत्वविशेषितमिति । अनिर्धारितोभयकोटि-
संस्पर्शि ज्ञानमित्यर्थः । मिथ्याज्ञानमित्युक्ते विपर्ययेऽपि प्रसङ्गस्तदर्थं जिज्ञासाजनकेत्युक्तम् । तावत्युक्ते तर्केऽपि
प्रसक्तिः तदर्थं मिथ्याज्ञानमिति । सर्वथापि दुर्निरूपणमित्युक्तं तत्र यथासंभवं दूषणानि श्लोकेन सगृह्णाति—
अनिरुक्तेरित्यादिना । प्रथमे पक्षेऽवधृतेरनिरुक्त्या अनवधृतेरप्यनिरुक्तेरसिद्धिस्तथा द्वितीयतृतीययोरति-
व्याप्तिश्चतुर्थे चाव्याप्तेः पञ्चमे विभ्रमाभेदात् षष्ठेऽपि जातिसङ्करप्रसक्तिः इति योजना ।

सगृहीतानि दूषणानि विवृणोति—नाद्य इत्यादिना । अवधारणानिरुक्त्याऽनवधारणानिरुक्तिं दर्शयि-
तुमवधारणलक्षणानि विकल्पयति—किं ज्ञानमात्रमित्यादिना । ज्ञानमात्रमवधारणमिति पक्षे ज्ञानत्वान-
धिकरणं ज्ञानमनवधारणज्ञानं स्यात्, तथाचानवधारणज्ञानं संशय इति वदतो न्यायभूषणकारस्य वदनस-
रोरुहं व्याहतिहिमाहतमित्याह—आद्ये व्याघात इति । नहि चित्रं पट इत्यादिज्ञानानामेकाकारप्रतिनि-
यमस्ततोऽनवधारणज्ञानतापत्त्या संशयलक्षणमतिव्यापकमिति द्वितीयं पक्षं दूषयति—द्वितीय इति ।

मैत्रश्रेत्यादिप्रमाणज्ञानानामपि संशयत्वापातः । एकाकारप्रतिनियमाभावान् । नापि तृतीयचतुर्थौ । संशयानिरुक्तौ तद्विरोधस्यानिरुक्तेः । किं चैवंसति संशयविरोधिज्ञानादन्यज्ज्ञानं संशय इत्यापत्तेः । तथाचानुत्पन्नसंशयस्य संशयाविरोधितया जायमानप्रमाणज्ञानमपि संशयः स्यात् । नापि द्वितीयः । भेदाभेदशीतोष्णादिविषयप्रमाणज्ञानानां विरुद्धोभयकोटिसंस्पर्शानां संशयत्वप्रसङ्गान् । नापि तृतीयः । निर्धारणानिरुक्तावनिर्धारितत्वस्यैवानिरुक्तेः । अनिर्धारितत्वशब्देन कोटिद्वयस्याव्यवस्थितत्वं विवक्षितमिति चेत्तदेव विविच्यताम् । किमव्यवस्थितत्वं कोटिद्वयस्य स्वरूपमुत धर्मः । न प्रथमः । कोटिद्वयस्वरूपनिश्चयस्यापि संशयत्वापत्तेः । नापि द्वितीयः तादृग्धर्मविशिष्टकोटिद्वयग्राहिज्ञानविषयप्रमाया अपि संशयत्वापातान् । नापि चतुर्थः । अजिज्ञासोरपि स्थाण्वादौ संशयदर्शनेन लक्षणस्याव्यापित्वात् । नापि पञ्चमो विकल्पासहत्वात् । तथाहि । संशयस्य विपर्ययाद्विषयविशेषेण कारणविशेषेण जातिविशेषेण वा भेदः स्यात् । नाद्यः । विषयविशेषानिरुक्तेः ।

तथाहि न तावदुभयविधिर्विषयः । एतौ स्थाणुपुरुषाविति समुच्चयनिश्चयस्यापि संशयत्वापातात् । नाप्युभयनिषेधः । न स्थाणुर्न पुरुष इति प्रत्ययप्रसक्तेः । नाप्यन्यतरनिषेधः । तदितरावधारणापत्तेः । नाप्युभयविधिनिषेधौ स्थाणुर्भवति न भवति पुरुषो

संशयविरोधिज्ञानत्वं तथाविधप्रमाणत्वं वेति यदिदमवधारणस्य लक्षणद्वयं तत्संशयानिरुक्त्या न सिद्ध्यति आत्माश्रयप्रसङ्गादित्याह—**नापि तृतीयेत्यादिना** । किञ्च यदि संशयविरोधिज्ञानमवधारणज्ञानं तदा संशयविरोधिज्ञानादन्यज्ज्ञानं संशय इति लक्षणं स्यात्तथा चानुत्पन्नसंशयस्योत्पद्यमानं निर्णयज्ञानमपि संशयः स्यात्तस्य सर्वसंशयाविरोधित्वादित्याह—**किंचेति** । तदेवमनिरुक्तेरवधृतेरित्ययमंशो विवृत्त एतेन । च कोटिद्वयानवधारणज्ञानं संशय इति लीलावतीकारलक्षणमपि निरस्तम् । अतिव्याप्तेर्द्वयोरपीत्येतद्व्याक्रमं विवृणोति—**ग्रापीत्यादिना । निर्धारणेति** । निर्धारणविषयो हि निर्धारितं नाम तद्विपरीतं चानिर्धारितं निर्धारणं चावधारणापरपर्यायम्, तस्य च दुर्निरूपत्वमनन्तरमेव निवेदितमिति तदुपजीविलक्षणमपि दुर्निरूपमित्यर्थः । ननु कोटिद्वयाव्यवस्थितत्वमनिर्धारितत्वं तेन न पूर्वोक्तान्योन्याश्रयत्वमिति शङ्कते—**अनिर्धारितेति** । यदि हि कोटिद्वयस्वरूपमव्यवस्थितत्वं तदा स्थाणुरेवायं पुरुष एवायमिति कोटिद्वयनिश्चयस्यापि संशयत्वापत्तेरतिव्याप्तिरित्याह—**कोटिद्वयेति** । अव्यवस्थितत्वं कोटिद्वयधर्म इति द्वितीये पक्षे दूषणमाह—**तादृग्धर्मेति** । अव्यवस्थितत्वविशिष्टकोटिद्वयग्राहि यज्ज्ञानं तद्विषयप्रमाणमपि परंपरयाऽव्यवस्थितकोटिविषयज्ञानमित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः । यदि च पुरुषत्वादिवदव्यवस्थितत्वमपि पारमार्थिको धर्मस्तदा तद्विशिष्टकोटिद्वयप्रमाणेऽप्यतिव्याप्तिः । आरोपितत्वे तद्विपर्ययेऽपि प्रसक्तिरित्यपि द्रष्टव्यम्, एतेन साक्षादिति विशेषणमपि निरस्तम् । अव्याप्तेरित्येतदपि विवृणोति—**अजिज्ञासोरिति** । नहि सर्वत्र संशयानन्तरं जिज्ञासोदेति उपेक्षाया अपि सम्भवादिति भावः । विभ्रमाभेदादित्येतद्विवृणोति—**नापि पञ्चम इत्यादिना** । विषयविशेषनिमित्तं संशयस्य विपर्ययाद्विशेष इति पक्षं दूषयति—**नाद्य इति** ।

तत्र संशयस्य किमुभयविधिर्विषयः यथा स्थाणुश्च पुरुषश्चेति किमुभयनिषेधः किं वान्यतरनिषेधः उतोभयविधिनिषेधौ । नाद्य इत्याह—**न तावदिति** । द्वितीयेऽसिद्धिमाह—**न स्थाणुरिति** । तदितरेति । यदि ह्यन्यतरनिषेधः स्यात्तदान्यतरस्यावधारणं पर्यवस्येत्तथाच संशयत्वव्याघातः । चतुर्थेऽप्यसिद्धिमाह—**स्थाणुरिति** । तथाप्युभयविधिनिषेधयोरवधारणतया संशयत्वव्याघातः इत्यर्थः । न केवलं व्याघातोऽसम्भ-

भवति न भवतीत्युभयविधिनिषेधावधारणप्रसङ्गात् । नित्योऽनित्योवेत्यत्रैकतरनिषेधस्या-
न्यतरविधिरूपतयोभयविधिनिषेधयोरसंभवाच्च । न द्वितीयः । कारणविशेषानिरुक्तेः ।
स हि सामग्री वा तदेकदेशो वा । नाद्यः । अतीन्द्रियत्वेन तस्याः प्रत्यक्षत्वायोगात् ।
लिङ्गाभावेनानुमानतोप्यसिद्धेः । नच संशयज्ञानं लिङ्गम् । तस्येदानीमेव निरूप्यमा-
णत्वात् । नापि द्वितीयः । प्रत्यक्षस्य तदेकदेशस्य साधारणधर्मदर्शनादेः स्वविषयतया-
नुव्यवसायप्रत्यक्षजनकत्वेनातिव्यापकत्वाद्प्रत्यक्षस्य च तदेकदेशस्य सामग्रीनिरासेन नि-
रस्तत्वात् । नापि तृतीयः । जातिसङ्करापत्तेः । अयं स्थाणुः पुरुषो वेत्यत्र धर्म्यंशे तस्यैव
ज्ञानस्य निश्चितत्वं विशेषांशे विकल्पांशे च संशयत्वमित्येकस्यैव ज्ञानस्य विरुद्धजातिद्वय-
लिङ्गिनः प्रसङ्गात् । एतेन षष्ठोपि पक्षो निरस्तः । तस्मान्नसंशयलक्षणनिरुक्तिः ।

नापि विपर्ययस्य ! तथाहि । मिथ्याध्यवसायो विपर्यय इति भूषणकारभाषितं
लक्षणं तावदयुक्तं मिथ्यात्वानिर्वचनात्तत्किमप्रमात्वमुतार्थव्यभिचारित्वमथोपदर्शितार्था-
प्रापकत्वमर्थक्रियाशून्यार्थत्वं वा । ‘आद्यकल्पेष्वतिव्याप्तेरव्याप्तेश्चान्ययोर्द्वयोः । न
मिथ्याध्यवसायत्वं विपर्यासस्य लक्षणम्’ ॥ २० ॥ नाद्यः । अप्रमात्वे सत्यध्यवसाय-

वश्वेत्याह—नित्य इति । नित्यत्वानित्यत्वयोः परस्परप्रतिक्षेपरूपत्वादेकतरविधावेकतरनिषेध उभयविधा
नमुभयनिषेधश्च न संभवति, उभयविधनातिरिक्तोभयनिषेधाभावादित्यर्थः । एवं विषयविशेषाद्विशेषं निरा-
कृत्य कारणविशेषाद्विशेष इति पक्ष निराचष्टे—न द्वितीय इति । कारणशब्देन किं सामग्री विवक्ष्यते सा-
मर्थ्येकदेशो वा । आद्ये प्रत्यक्षतस्तज्ज्ञानमनुमानतो वा । नोभयथापीत्याह—स हीत्यादिना । ननु किमिति
लिङ्गाभाव यावता कार्यात्संशयज्ञानात्सामर्थ्या शक्यानुमानमिति तत्राह—नच संशयेति । सामर्थ्येकदेश
कारणमिति पक्षेऽपि किं प्रत्यक्षगम्यस्तदेकदेशस्तदगम्यो वा । नाद्य इत्याह—प्रत्यक्षस्येति । तदा हि ताद-
श्कारणजनितं ज्ञानं संशय इति पर्यवस्येत् । तथाचातिव्याप्तिः । तस्य साधारणधर्मदर्शनादेः स्वविषयानुव्यव-
सायं प्रत्यपि जनकत्वात् । तस्य च प्रत्यक्षप्रमितित्वेन संशयत्वाभावादित्यर्थः । आदिशब्देन च विशेषस्मर-
णविशेषदर्शने गृह्येते । सामग्रीनिरासेनेति । न प्रत्यक्षतस्तत्सिद्धिः नाप्यनुमानतः । लिङ्गाभावात् ।
नच संशय एव लिङ्गम् । अद्याप्यनिरूपणादित्यर्थः । जातिविशेषाद्विशेष इति पक्षं दूषयति—नापि
तृतीय इति । जातिसङ्करमेव विवृणोति—अयं स्थाणुरिति । संशयत्वजातियोगिसंशय इति षष्ठेपि पक्षे
सङ्करप्रसङ्गमतिदिशति—एतेनेति ।

एवं संशयानिरुक्तिमुपपाद्य विपर्ययानिरुक्तिं प्रतिज्ञातामुपपादयति—नापि विपर्ययस्येति । प्रमाण-
ज्ञानसंशययोर्मिथ्याध्यवसायपदाभ्यां निरासः । उपदर्शितेति । यद्वि ज्ञानं स्वेन प्रकाशितमर्थं न
प्रापयितुं शक्नोति स विपर्यय इति किं विवक्षितमित्यर्थः । अर्थक्रियेत्यत्रोत्तरार्थशब्दो विषयपरः, समासश्च
बहुव्रीहिः । सर्वपक्षेषु दूषणानि श्लोकेन सगृह्णाति—आद्येति । प्रथमद्वितीयतृतीयेष्वतिव्याप्तेरन्ययो-
स्तृतीयचतुर्थयोरव्याप्तेरिति योजना । चतुस्तृतीयपक्षस्यैवातिव्याप्तिश्च समुच्चिनोति । सप्रहं विवृणोति—
नाद्य इत्यादिना । अप्रमात्वं मिथ्यात्वमिति पक्षे अप्रमारूपाध्यवसायो विपर्यय इत्युक्तं स्यात्
तथाच स्मृतावतिव्याप्तिरित्याह—अप्रमात्व इति । अतीतादिज्ञानानामर्थव्यभिचारिणामध्यवसायरूपाणां

रूपायां स्मृतावतिव्याप्तेः । न द्वितीयः । देशतः कालतोऽर्थव्यभिचारिषु प्रमाणज्ञानेष्वपि विपर्ययत्वप्रसङ्गान् । न तृतीयः । चन्द्रतारकादिप्रमाणज्ञानेष्वतिप्रसक्तेः । इदं रजतमित्यादिज्ञानेषु चोपदर्शितेदमंशप्रापकत्वादव्याप्तेः । नापि चतुर्थः । मिथ्याऽहिदंशप्रतिसूर्यकाद्यनेकार्थानां निधनप्रकाशनाद्यर्थक्रियादर्शनात् । नच ज्ञानमेवार्थक्रियाकारि नार्थ इति वाच्यम् । ज्ञानमात्रस्य तद्वेतुत्वेऽतिप्रसङ्गादर्थविशेषितस्य तद्वेतुत्वे चार्थस्यापि तद्वेतुत्वापातान् । तदेवं तृतीयचतुर्थयोरव्याप्तिः ।

‘अतस्मिस्तदिति प्रत्ययो विपर्यय’ इत्युद्घोतकरीयमपि लक्षणमयुक्तम् । अतिव्याप्तेः । भवति हि वल्मीकादौ स्थाणुर्वा पुरुषो वेति संशयः, न स्थाणुर्न पुरुष इत्युभयबाधदर्शनात् अतस्मिस्तदिति प्रत्ययः, न चासौ विपर्ययः । अतस्मिन्निति च स्वात्यन्ताभावाधिकरणे तदिति प्रत्ययविवक्षायां संयोगविभागशब्दात्मविशेषगुणेषु प्रदेशवृत्तिषु स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणेषु प्रमारूपोपि प्रत्ययो विपर्ययः स्यात् । एतेन बाध्यं ज्ञानं दुष्टकरणजन्यं वा ज्ञानं विपर्यय इति लक्षणं निरस्तम् । संशयेऽतिव्याप्तेर्दर्शितत्वात्, बाधानिरुक्तेश्च । किं विरोधिप्रमाणज्ञानं बाधः किं वा विपर्ययविरोधिप्रमाणज्ञानं विषयापहारो वा । आद्ये पूर्वोत्तरप्रमाणज्ञानानां बाध्यघातकलक्षणेऽतिव्याप्तिः । द्वितीये परस्परश्रयता । न तृतीयः । तथाहि—विषयापहारो नाम पूर्वज्ञानोपदर्शितार्थासत्त्वबोधन-

विपर्ययत्वापत्त्यातिव्याप्तेर्द्वितीयपक्षोपपन्न इत्याह—देशत इति । चन्द्रतारकेति । नहि तदर्थोः ज्ञानसमये प्राप्तुं शक्यन्त इति पूर्वमेवोक्तमिति भावः । अस्यैव पक्षस्याव्याप्तिं चाह—इदं रजतमिति । चतुर्थेऽव्याप्तिमाह—मिथ्याहिदंशेति । अस्ति तावन्मिथ्याहिदंशादपि कस्यचिन्मरणं दर्पणादिप्रतिबिम्बितसूर्यस्य च प्रकाशकत्वं ‘उपसूर्य’ वा दृश्यमानः सूर्यः प्रतिपत्तिस्तस्याप्युपरि नरपति’मित्यादिशास्त्रान्मरणादिहेतुत्वावगमात्प्रकाशकत्वाच्चातस्तत्र त्वदभिमतमिथ्यात्वाभावादव्याप्तिरित्यर्थः । ननु कथमव्याप्तिर्यावता तत्राप्यर्थस्यार्थक्रियाशून्यत्वाज्ज्ञानस्यैव तद्वेतुत्वादिति, तत्राह—नचेति । किं ज्ञानमात्रं मरणादिहेतुस्वाद्यर्थविशेषितं वा । आद्ये प्राह—ज्ञानेति । द्वितीये प्राह—अर्थेति । प्रतिपादितामन्तिमयोरव्याप्तिमुपसंहरति—तदेवमिति । एतेनैककोट्यवल्मी जाग्रतो मिथ्याज्ञानं विपर्यय इति श्रीवल्मीकरीयमपि लक्षणं निरस्तम् । मिथ्यात्वानिरुक्ते ।

एवं भूषणकारलक्षणं दूषयित्वोद्घोतकराभिमतं दूषयति—अतस्मिन्निति । वल्मीकादौ स्थाणुत्वपुरुषत्वरहिते स्थाणुर्वा पुरुषो वेति प्रत्ययस्तावदतस्मिस्तदिति प्रत्ययो भवति । नच विपर्ययोसौ । संशयत्वात् । अतोऽतिव्याप्तिरित्यर्थः । ननु प्रत्ययशब्देनावधारणं विवक्षितं तेन न संशयेऽतिव्याप्तिरिति मन्वानं प्रत्याह—अतस्मिन्निति । अतस्मिस्तदिति प्रत्यय इति कोर्थः—यत्तदत्यन्ताभावाविकरणे तदिति प्रत्यय इति । तथाच मा भूत् संशयेऽतिव्याप्तिं प्रत्ययशब्देनावधारणस्य विवक्षितत्वात्, तथापि प्रमाणज्ञानेष्वतिव्याप्तिः । प्रदेशवृत्तिविशेषगुणेषु संयोगवियोगयोश्च स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणतया तत्प्रामेयिना विपर्ययत्वेवापातादित्यर्थः । एतेनेत्यस्यैव विवरणं—संशये इति । सोपि हि बाध्यो दुष्टकरणजन्यश्चेति भावः । अथात्रापि ज्ञानशब्देनावधारणविवक्षा । तत्र । तदनिरुक्तेर्वर्णितत्वात् । भवतु वा तथापि बाधानिरुक्तेरेवेदं दुष्टमित्यभिप्रेत्याह—बाधेति । पूर्वमेव बाध्यत्वं विकल्प्य दूषितं तथाप्यत्र भङ्गयन्तरेण दूषणं क्रियत इति । पूर्वोत्तरेति । यदिहि विरोधिज्ञानमात्रं बाधस्तदा पूर्वज्ञानानामुत्तरज्ञानविनाशतया बाध्यत्वात्सर्वज्ञानेषु लक्षणमतिपतेदित्यर्थः । उत्तरो ग्रन्थः स्पष्टार्थः । विषयापहारो बाध इति पक्षमपि विकल्प्य दूषयति—तथा हीत्यादिना ।

मात्रमुत तथा प्रमितिरुत यद्देशकालविशिष्टतया यत्प्रतीतं तस्य तत्रैवासत्त्वबोधनम् । नाद्यः । नायं देवदत्तो न जीवतीति विभ्रमप्रत्ययेन देवदत्तादिप्रत्ययानां बाधितत्वेनाप्रमात्वप्रसङ्गात् । न द्वितीयः । देशान्तरकालान्तरयोस्तदसत्त्वप्रमित्या घटादिज्ञानानामप्रमात्वप्रसङ्गात् । नापि तृतीयः । देशकालविषयबाधेष्वव्याप्तेर्देशकालयोर्देशकालान्तराभावात् । यत्तदादिशब्दानां च सर्वविषयत्वे कतिपयविषयत्वे चाव्याप्तिरेव । एतेन फलापहारोपि व्याख्यातः । अनुत्पन्नफलस्यापि ज्ञानस्य बाध्यत्वाङ्गीकाराच्च विपर्ययत्वजातियोगी विपर्यय इत्यपलक्षणं । इदं रजतमित्यादौ धर्म्यशेषे प्रत्यये जातिसङ्करप्रसङ्गात् । तस्मान्न विपर्ययस्य लक्षणं पश्यामः ।

तथा स्मृतेरपि । तथाहि । किं प्रमाकरणाजन्यत्वे सति संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिरुत दोषाजन्यत्वविशेषितमथवा स्वसमानविषयसंस्कारजन्यं ज्ञानं किं वा प्रमित्यवृत्तिपदजन्यज्ञानवृत्तिजातिमदाहोस्वित्स्मृतित्वजातियोगि । ‘आद्ये कल्पे ऽधिकव्याप्तेर्द्वयोश्चासंभवित्वतः । तुर्येऽतिव्याप्तिश्चान्त्येऽभावाच्चञ्जकमानयोः ॥’ २१ ॥ नाद्यः । भ्रमस्यापि स्मृतित्वप्रसङ्गात् । तस्यापि प्रमाणाजन्यत्वे सति संस्कारजन्यत्वात् । नापि द्वितीयः । असंभवित्वापातात्, संस्कारस्यापि स्वसामर्थ्यनुमापकतया प्रमाकारणत्वात् । नापि तृतीयः ।

तथाप्रमितिरिति । पूर्वज्ञानोपदर्शितार्थस्यासत्त्वप्रमितिरिति वार्थः । **नायं देवदत्त इति ।** यदा हि देवदत्त इति वा जीवतीति वा प्रतीतिरेकस्योदेत्यपरस्तु भ्रान्त प्राह नायं देवदत्त नच जीवतीति तत्रोत्तरस्य बाधकत्वं पूर्वस्य बाध्यत्वाद्विपर्ययत्वं च स्यादितिष्टसिद्धिकारोक्तातिव्याप्तिरित्यर्थः । द्वितीयेऽप्यतिव्याप्तिमाह—**देशान्तरेति ।** अनित्यानानामभिभूना कालान्तरदेशान्तरयोरसत्त्वप्रमितिरस्तीति तज्ज्ञानेष्वतिव्याप्तिरित्यर्थः । यदा हि देशकालविषयो भ्रमो जायते न तत्र तद्बाधस्योक्तरूपत्वमित्यव्याप्त्या तृतीयपक्षं दूषयति—**नापि तृतीय इति ।** किंच यद्देशकालेत्यत्र यत्प्रतीतमित्यत्र च तस्य तद्देशकालेत्यत्र च यत्तच्छब्दानां सर्वदेशकालसर्ववस्तुपरत्वे सर्वबाधाव्याप्तिरेकैकेन सर्वाबाधात् निष्कृष्टविशेषविवक्षाया च तदितरबाधाव्याप्तिरित्याह—**यत्तदादीति ।** लक्षणान्तरेऽप्युक्तं दूषणमतिदिशति—**एतेनेति ।** तत्राप्यभिवदनं प्रवृत्तिरुपादानमर्थक्रियेति चतुर्विधफलानामेकैकापहारे सर्वापहारे वाऽव्याप्तिरित्यर्थः । अव्याप्त्यन्तरमाह—**अनुत्पन्नेति ।** प्रवृत्तेषु विपर्ययज्ञानेषु फलं प्राक् तस्याभावात् तच्चानुत्पादितप्रवृत्तिकमपि क्वचिद्बाध्यं दृश्यते विरक्तादीनां तत्राव्याप्तिरित्यर्थः । अस्तु तर्हि विपर्ययत्वजातियोगी विपर्यय इति तत्राह—**विपर्ययेति ।** सशयत्वसमानयोगक्षेममिति भावः ।

सशयविपर्ययव्यतिरिक्तस्मृतित्वानधिकरणं प्रमात्वव्यञ्जकमिति पञ्चमपक्षे सशयविपर्ययानिरूपणादलक्षणासिद्धिरुक्ता, इदानीं स्मृत्यनिरूपणादपि तत्त्वानधिकरणत्वमप्रसिद्धमित्यभिप्रेत्याह—**तथा, स्मृतेरपीति ।** संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिरित्युक्ते प्रत्यभिज्ञादिष्वतिव्याप्तिस्तदर्थं प्रमाकरणाजन्यत्वे सतीत्युक्तम् । अननुभूतविषयभ्रमनिवृत्त्यै द्वितीयं विशेषणम् । द्वितीये विपर्ययेतिव्याप्तिपरिहाराय दोषाजन्यत्वे सतीत्युक्तम् । ज्ञानपदेन घटादेः संस्कारजन्यपदेनानुवादस्य प्रत्यभिज्ञाया आद्येन पदेन निरासात् । तृतीयेऽपि संस्कारजन्यत्वमनुमानादावस्तीति तद्व्यवच्छेदार्थं स्वसमानविषयग्रहणम् । नहि तत्र व्याप्तिसंस्कारादेरनुमितिसमानविषयत्वमिति भावः । चतुर्थेऽपि पदजन्यज्ञानवृत्तिजातिमत्त्वं शाब्दप्रमित्यादीनामस्तीति तद्व्यवच्छेदाय प्रमित्यवृत्तीत्युक्तम् । श्लोकेन दूषणानि सगृह्णाति—**आद्य इति ।** अधिकव्याप्तेः अतिव्याप्तेः द्वयोर्द्वितीयतृतीययोः । आद्यपक्षेऽधिकव्याप्तिर्निगदव्याख्यातग्रन्थेन दर्शयति—**भ्रमस्यापीति ।** द्वितीयेऽसंभवं दर्शयति—**संस्कारस्यापीति ।** इदं च प्रथमपक्षेऽपि समानम् । समानेऽप्यस्मिन्पक्षान्तरोपस्थापकं तदिति दूषणान्तरं तत्रोक्तम् ।

असंभवित्वादेव सा मे माता स मे पितेत्यादिस्मृतीनां पूर्वानुभवसंस्काराधिकविषयत्वान् । नहि पूर्वानुभवे स इत्याकारोऽयमिति वर्तमानताया एवानुभवात् । नच स इत्याकारः कारणान्तरोपनीतः । पदात्पदार्थस्मृतौ हरिहरादिस्मृतौ चाभावादिति वाच्यम् । तत्कारणानिरूपणात् । सोऽयं देवदत्त इति प्रत्यभिज्ञाप्रत्यये तदित्यंशस्य संस्कारानुपनीतत्वे सत्ययमित्याकारस्य च संयोगमात्राधीनतया विशिष्टप्रत्यभिज्ञास्वरूपासिद्धिप्रसङ्गात् । अनुमिततत्तायां स इत्यभिलाप इति चेन्न । संस्कारस्य प्रत्यभिज्ञां प्रत्यकारणत्वप्रसङ्गात् । स इत्यंशेऽनुमानस्यैव सहकारित्वात् तं घटं स्मरामीत्यनुव्यवसायानुपपत्तेश्च । नहि तत्रानुमानव्यवधानमस्ति तथा सति स्मरणस्यातीतत्वेनानुव्यवसायविषयत्वानुपपत्तेः ।

तृतीयेऽसंभवं दर्शयति—सा मे मातेति । अथ कथं स्मृते पूर्वानुभवसंस्काराधिकविषयता तत्राह—**नहीति** । ननु स इत्यत्र तद्देशकालवैशिष्ट्यं प्रतीयते सच देशादि पूर्वानुभवसमयेऽप्यनुभूत इति कथं तमं शमादायाधिकविषयताऽत आह—**अयमिति** । न तद्देशादिवैशिष्ट्यमात्रं तत्ता अयं स इति अयमिति चोभयोरविशेषप्रसङ्गात्कत्वसन्निहितदेशकालावच्छेद पूर्वानुभवसंभेदो वा । नच तत्पुरस्तादनुभूतम् । वर्तमानतयैवानुभवात्, स्वविशिष्टाग्राहकत्वाच्च पूर्वानुभवस्येति भावः । ननु स इत्याकारः स्मृतेर्विषय एव न भवति पदात्पदार्थस्मृतावदर्शनात्तस्मात्कारणान्तरप्रयुक्त एवायमतो न स्मृतेरधिकविषयतेति तत्राह—**नचेति** । कुतो न वाच्यमिति तत्राह—**तत्कारणेति** । नच पदात्पदार्थस्मृतावदर्शनात्कारणान्तरप्रयुक्तिकल्पना । पदजनितबुद्धे स्मृतित्वाप्रसिद्धे । अनुवादोह्यं या पदात्पदार्थबुद्धिः । युक्तं चैतदितरथा शक्तिवशादभिधायकत्वप्रसिद्धिर्न स्यात् । नहुपाध्यायस्मारकस्य शिष्यस्य तदभिधायकत्वप्रसिद्धिरस्ति । सत्यपि स्मारकत्वे शक्तिवैचित्र्यादभिधायकत्वप्रसिद्धिरिति चेत्तयैव तर्हि शक्त्याभिधानमात्रमेवास्तु कृतस्मारकत्वेन । अत एव चैतदन्यथानुपपत्त्या वाक्यार्थाभिधायकत्वं शालिकनाथोक्तं प्रत्युक्तम् । अनेकत्वाच्चाभिधात्रादीनां सवन्धिना न नियमेनार्थस्मृति स्मारकत्वपक्षे स्यात् । नच नियमेन सवन्व्यन्तरदर्शने संबन्ध्यन्तरस्मृतिर्भवति भवति च नियमेन गृहीतसगतिकस्य शब्दस्य स्मरणेऽर्थबुद्धिः । तदुक्तं 'नियमाच्छब्दतो बुद्धिर्न तथान्वयिदर्शना'दिति । तस्मादनुवादत्वात्पदजन्यबुद्धेर्न तत्रादर्शनात्तत्ताया कारणान्तरप्रयुक्तिकल्पना । न केवलं कारणान्तरानधीनता, संस्कारानधीनत्वे बाधकं चास्तीत्याह—**सोयमिति** । तत्र तदित्यंशस्य संस्कारानधीनत्वे सप्रयोगस्य च तत्रासत्त्वात्तद्भ्रमप्रत्यभिज्ञाशरीरं न स्यादित्यर्थः । ननु नखनेत्रपादच्छायादिनां लिङ्गेनानुमानात्तत्तोपस्थापिता साच स इति परामृश्यत इति शङ्कते—**अनुमितेति** । तर्हि तत्ताया अनुमानसिद्धत्वादिदंतायाश्च सप्रयोगसिद्धत्वात्संस्कारस्य चाकारणतया राक्षान्तविरोध इति परिहरति—**न संस्कारस्येति** । आनुमानिकत्वे तत्ताया दूषणान्तरमाह—**तं घटमिति** । तत्र किं प्रथमतस्तत्तानुमानमथ घटस्मरणं ततस्तं स्मरामीत्यनुव्यवसायः । किं वा प्रथमतस्तत्स्मरणं तत्तत्तानुमानं ततोऽनुव्यवसाय इति । न प्रथमः । निर्धर्मिकतत्ताग्रहणाशक्तेस्तत्ताविशिष्टघटविषयानुमानं घटमात्रविषयं च स्मरणमिति तत्ताविशेषितघटविषयस्मृतिग्राहकानुव्यवसायानुपपत्तिरिति, द्वितीय निषेधति—**नहि तत्रेति** । अथ किमिति तत्रानुमानव्यवधानं न स्यात्तत्राह—**तथासतीति** । तत्र हि घटस्मृतिरेवानुव्यवस्यते सा चेत्स्वोदयेप्यानुमानिकतत्तावती सत्यनुव्यवस्येत तथासति चिरातीततया विनश्यदवस्थात्वात्स्याप्यभावात्, वर्तमानस्मरणग्राहकानुव्यवसायविषयत्वं न स्यात् । अस्मार्थमित्येवानुव्यवसायप्रसङ्गाच्चेत्यर्थः । संस्कारस्य

संस्कारस्यासंविद्रूपत्वात्, निर्विषयत्वाच्च समानविषयत्वासिद्धिः । न ह्यसंविद्रूपस्य सविषयत्वम् । इच्छादिषु तज्जनकज्ञानविषयेण सविषयत्वोपचारात् ।

तर्हि संस्कारजनकानुभवसमानविषयत्वे सति संस्कारजन्यत्वं लक्षणार्थं इति चेन्न । तत्तांशे समानविषयतायाः खण्डितत्वात् । गरुडादिसाक्षात्कारे चातिव्याप्तेः, तस्य दीर्घकालनैरन्तर्योपचितसंस्कारविषयविषयत्वात् । नापि चतुर्थः । अनाप्तवाक्योत्थविभ्रमप्रत्ययेऽनेकार्थाक्षादिपदजन्यसंशये चातिव्याप्तेः । नापि पञ्चमः । तज्जातौ व्यञ्जकप्रमाणानिरूपणात् । तदेवं संशयविपर्ययस्मृतीनामनिरुक्तौ तदतिरिक्तत्वविशेषणं दुर्निरूपम् । नापि षष्ठः । तथाहि । एतद्वटज्ञानवृत्तित्वे सत्येतद्भूमजन्यवह्निज्ञानवृत्तिसंशयावृत्तिजातिमत्त्वमित्यपि न । विकल्पासहत्वात् । तथा हि किं घटज्ञानवह्निज्ञानशब्दाभ्यां ज्ञानमात्रं विवक्ष्यते । किं वा प्रमात्वेन व्यवह्रियमाणमाहोस्विद्बाधितप्रमाव्यवहारास्पदम् । नाद्यः । विभ्रमज्ञानानामप्येवं भावात् । नापि द्वितीयः । उक्तदोषानुषङ्गात्, विभ्रमज्ञानेष्वपि तात्कालिकप्रमात्वव्यवहारदर्शनात् । नापि तृतीयः । अबाधितत्वस्य दुर्निरूपतायाः प्रागेवाभिहितत्वात् । तदेवं प्रमात्वस्य न निरुक्तिः ।

विषयाभावादपि समानविषयत्वमसिद्धमिति प्रौढ्या प्राह—संस्कारस्येति । असंविद्रूपत्वादिति । ज्ञानत्वाभावादित्यर्थः । ननु तर्हि तत्कथमिच्छादिषु सविषयत्वं समानं हि तेषामप्यसंविद्रूपत्वमिति तत्राह—इच्छादिष्विति ।

तदेवं स्वसमानविषयसंस्कारजं ज्ञानमिति लक्षणं दूषितमेव । एतत्परिहाराय भङ्गयन्तरं शङ्कते—तर्हि—**ति** । न स्वसमानविषयसंस्कारजन्यत्वमत्राभिप्रेयते येनासिद्धिरभिधीयते किं तर्हि, संस्कारजनको योऽनुभवस्तेन समानविषयत्वे सति तत्संस्कारजत्वमित्यर्थः । प्रत्यभिज्ञाव्यावर्तनायार्थं विशेषणम् । समानविषयत्वं चान्यूनानतिरिक्तविषयत्वम् । संस्कारजनकानुभवसमानविषयधारावाहिकज्ञानव्यावृत्त्यै संस्कारजन्यपदम् । इदमपि पूर्वोक्तदूषणेन दूषितमित्याह—**न तत्तांश इति** । अतिव्याप्तिं चाह—**गरुडादीति** । गरुडादिध्यानाद्यः साक्षात्कारो जायते स पूर्वपूर्वभावनाजनितः तत्र संस्कारजनकपूर्वानुभवस्य साक्षात्कारस्य चास्ति समानविषयत्वम्, अथ च न स्मृतिः । साक्षात्कारिज्ञानस्य स्मृतित्वव्याघातादित्यर्थः । संस्कारशब्देनात्र तज्जनकानुभवो लक्ष्यते । संस्कारस्य सविषयत्वमङ्गीकृत्य वा । प्रमित्यवृत्तीत्यादि चतुर्थं लक्षणं दूषयति—**नापि चतुर्थ इति** । पदजन्येत्यत्र एकत्वमविवक्षितं विवक्षितं बोधयथापि क्रमेण व्यभिचारमाह—**अनाप्तेत्यादिना** । अनाप्तवाक्यजनितं यद्विज्ञानं विपर्ययरूपं तत्र विपर्ययत्वादिरिति, प्रमित्यवृत्तिपदजन्यज्ञानवृत्तिजातिर्भवति तस्यैव ज्ञानस्याप्रमितत्वात्, पदजन्यत्वाच्च, अतस्तद्योगिनि विपर्यये चातिव्याप्तिः । तथाक्षगवादिशब्दैरनेकार्थवाचकैः श्रवणमात्राद्यः संशयो जायते किं विभीतकं किं वा देवनमिति तत्राप्यतिव्याप्तिरित्यर्थः । स्मृतित्वजातियोगित्वमिति पञ्चमं पक्षं दूषयति—**नापीति** । प्रासङ्गिकस्य प्रकृतोपयोगमाह—**तदेवमिति** । एतद्वटज्ञानवृत्तित्वे सतीत्यादिषष्ठं प्रमात्वव्यञ्जकमाशङ्कितं दूषयति—**नापि षष्ठ इति** । तमेव पक्षं दूषयितुमतिव्यवहित इत्यनुवदति—**तथाहीति** । एतद्वटज्ञानैतद्भूमजन्यवह्निज्ञानशब्दार्थं विकल्पयति—**किं घटज्ञानेत्यादिना** । विभ्रमेति । येन हि विपर्ययत्वं नाम जातिरङ्गीक्रियते तस्य विपर्ययेत्येतल्लक्षणं गच्छति । ज्ञानत्वाधिकरणवृत्तिसंशयावृत्तिजातिमदिति हि तदा, लक्षणार्थः । सच विपर्ययेत्यस्तीति भावः । प्रमात्वेन व्यवह्रियमाणं ज्ञानमिति द्वितीयपक्षेपीदमेव दूषणमतिदिशति—**उक्तदोषेति** । ननु विभ्रमेषु कथं प्रमात्वव्यवहार इति तत्राह—**विभ्रमज्ञानेष्वपीति** ।

नापि परोक्षतायाः । तस्या जातित्वे जातिसङ्करप्रसङ्गात् । तथाहि । किं प्रमात्वं परं पारोक्ष्यमपरं विपरीतं वा । नाद्यः । पारोक्ष्यभ्रमाभावप्रसङ्गात् । यत्र परोक्षत्वजातिर्व्याप्या तत्र व्यापकं प्रमात्वमस्त्येवेति नियमात् । नापि द्वितीयः । तथा सति प्रमात्वं परोक्षतां न व्यभिचरेदिति प्रत्यक्षप्रमाभावप्रसङ्गात् । नच विभ्रमेषूपाधिनिबन्धन एव परोक्षत्वव्यवहारः । तथासति सर्वत्र तन्निबन्धनतयैव तद्व्यवहारोपपत्तौ जातिकल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गात् । तदेवमन्योन्यपरिहारेण वर्तमानयोर्मनोगगनवर्तिनोर्मूर्तत्वभूतत्वयोः पृथिव्यादावेकत्र समावेशे जातिसङ्करः स्यात् । नच परोक्षताया जातेर्व्यञ्जकमस्ति । तत्किमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्वे सति प्रमात्वमुत लिङ्गादिप्रमाकरणजन्यत्वम् । नाद्यः । ईश्वरज्ञानस्यापि परोक्षत्वप्रसङ्गात् । नापि द्वितीयः । स्मृतेः परोक्षत्वाभावप्रसङ्गात् । एतेन परोक्षत्वस्योपाधित्वमपि निरस्तम् । व्यञ्जकनिरासेन तयोरुपाधित्वस्यापि निरस्तत्वात् । ईश्वरज्ञानवृत्तित्वे सत्ययोग्यनुव्यवसायातिरिक्तपरमाणुप्रमित्यवृत्तिर्जातिः साक्षात्त्वं तदधिकरणं प्रत्यक्षमित्यपि न । यतः—‘प्रमितेर्दुर्निरूपत्वाच्च व्यञ्जकस्यानिरूपणात् । साक्षात्त्वं

पारोक्ष्यानधिकरणप्रमाकरणं प्रत्यक्षमिति लक्षणे प्रमात्वदुर्निरूपतोपपादिता, पारोक्ष्यदुर्निरूपता प्रतिज्ञातामुपपादयति—**नापि परोक्षताया इति** । जातिसंकरमेव दर्शयति—**किं प्रमात्वमित्यादिना** । परोक्षप्रमाभावप्रसङ्गमेवोपपादयति—**यत्रेति** । व्याप्यपरोक्षत्वजातिमत्त्वे सर्वत्र व्यापकप्रमात्वनियमात्पारोक्ष्यरूपभ्रमो न स्यादित्यर्थः । द्वितीये प्रत्यक्षरूपप्रमा न स्यात् । यत्र यत्र व्याप्यप्रमात्वं तत्र तत्र व्यापकपारोक्ष्यवृत्तित्वनियमादित्याह—**नापि द्वितीय इत्यादिना** । ननु प्रमात्वं परमेव तद्रहितेषु विभ्रमेषु पारोक्ष्यव्यवहारस्वैरुपाधिक इति तत्राह—**नच विभ्रमेष्विति** । प्रतिपादितजातिसङ्कर सनिर्दर्शनमुपसंहरति—**तदेवमिति** । यथाहि भूतव्यतिरिक्ते मनसि वर्तमानमूर्तत्वस्यामूर्तैऽपि गगने वर्तमानस्य भूतत्वस्यैकत्र पृथिव्यादौ वृत्त्या जातिसङ्करप्रसङ्गात् न जातित्वम्, एवमनयोरपि परस्परपरिहारेण वर्तमानयोरेकत्रानुमित्यादौ दर्शमानतया जातिसङ्करप्रसङ्ग इति योजना । नियतव्यञ्जकाभावादपि न पारोक्ष्य जातिरित्याह—**नचेति** । प्रत्यक्षप्रमिते परोक्षप्रमस्य च निरासाय विशेषणद्वयम् । प्रत्यक्षप्रमिति व्यावृत्त्यै घटादिव्यावृत्त्यै वा विशेषणद्वयम् । नित्यस्येश्वरज्ञानस्य नेन्द्रियादिसन्निकर्षजन्यत्वमस्ति अस्ति च प्रमात्वमिति तस्यापि परोक्षत्वप्रसक्तिरिति प्रथमं पक्षं दूषयति—**ईश्वरेति** । लिङ्गादिप्रमाकरणजन्यत्वं पारोक्ष्यव्यञ्जकमिति पक्षे स्मृतेः पारोक्ष्यं न स्याद्व्यञ्जकाभावादित्याह—**स्मृतेरिति** । एतेनेत्यस्य विवरणं—**व्यञ्जकेति** । पारोक्ष्यस्योपाधिकत्वेऽप्यनयोरेवोपाधित्वसंभावनात्तच्च द्वयं निरस्तमित्यर्थः । प्रत्यक्षफलस्य लक्षणान्तरं शङ्कते—**ईश्वरेति** । अत्र च साक्षात्कारत्वजात्यधिकरणं प्रत्यक्षमिति लक्षणम् । साक्षात्कारत्वस्य लक्षणमीश्वरेत्यादि, जाति साक्षात्कारत्वमित्युक्ते सत्तादावतिव्याप्तिस्तदर्थं प्रमित्यवृत्तीत्युक्तम् । तथाच व्याघातः प्रत्यक्षप्रमितिवृत्तित्वात्तदर्थं परमाणुप्रमित्यवृत्तीत्युक्तम् । तथाप्यसिद्धिः । परमाणुमहं जानामीत्यनुव्यवसायप्रत्यक्षस्य परमाणुविषयतया साक्षात्कारित्वस्य परमाणुप्रमितिवृत्तित्वात्तदर्थमुक्तमनुव्यवसायातिरिक्तेति । तथाप्यनुव्यवसायातिरिक्तयोगिप्रत्यक्षमादायासिद्धिरत उक्तमयोगीति । तथापि घटत्वादावतिव्याप्तिस्तदर्थं ज्ञानवृत्तीत्युक्तम् । तथापि विपर्ययत्वमृत्तित्वादिष्वतिव्याप्तिस्तदर्थमीश्वरज्ञानवृत्तीत्युक्तम् । नहि तेषामपरोक्षेश्वरज्ञानवृत्तित्वमित्यर्थः । ईश्वरज्ञानवृत्तित्वे सत्युक्तविधपरमाणुस्मरणरूपज्ञानावर्तिनि प्रमात्वे प्रसङ्गनिरासाय परमाणुप्रमितीत्युक्तम् । पारोक्ष्यानधिकरणत्वादिरूपोपाधिनिरासाय जातिपदम् । परोक्षज्ञानवृत्तित्वानधिकरणत्वे सति ईश्वरज्ञानवृत्तिजातिरिति फलितार्थः । दूषणानि सगृह्णाति—**प्रमितेरित्यादिना** ।

जातिसाङ्कर्यान्न प्रत्यक्षस्य लक्षणम् ॥' २२ ॥ प्रमितेरेवानिरूपणे परमाणुप्रमित्यवृत्तिविशेषणस्य दुर्ज्ञानत्वात्, इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्वादेश्चाभिव्यञ्जकस्यापास्तत्वात्, साक्षात्त्वस्य च प्रमात्वेन परापरभावाभावाज्जातिसङ्करप्रसङ्गाच्च नेदमपि प्रत्यक्षलक्षणम् ।

सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमित्यपि न प्रत्यक्षलक्षणम् । प्रत्यक्षाभासेऽपि सत्त्वात् । वृत्तिकारमतेन तत्सतोर्व्यत्ययेऽपि लक्षणस्याव्याप्तिरतिव्याप्तिर्वा । तथाहि । यदाभासविज्ञानं तद्यदि तत्संप्रयोगादेव भवति तत्समीचीनं प्रत्यक्षमिति तदा सूत्रार्थः । तत्र किं प्रतिभासमानेनाकारेण कृत्स्नेन संप्रयोगाज्जायमानत्वं विवक्षितमुतैकदेशेनापि । नाद्यः । सोयं देवदत्त इति प्रत्यभिज्ञाया तत्तांशे संप्रयोगाभावादव्याप्तेः । नच तत्रापि तत्तांशे संयुक्तविशेषणतालक्षणः संप्रयोगोस्तीति वाच्यम् । षष्ठप्रमाणवादिना तस्य प्रत्यक्षतानङ्गीकारादङ्गीकारे वा निर्घटं भूतलमित्यत्र तथाभूतसन्निकर्षभावादभावस्य प्रत्यक्षतोपपत्तौ षष्ठप्रमाणाभ्युपगमवैयर्थ्यापातात् । न द्वितीयः । विभ्रमेष्वपि भावादतिव्याप्तेस्तत्राप्यधिष्ठानसंप्रयोगस्य भावात् । अथोच्येत संप्रयोग इत्यत्र समिति-विशेषणेन दुष्टेन्द्रियसंप्रयोगजन्यत्वस्य व्यावर्तितत्वादुष्टेन्द्रियसंप्रयोगजन्येषु विभ्रमेषु

प्रमितेर्दुर्निरूपत्वादित्येतद्विवृणोति—**प्रमितेरिति** । व्यञ्जकस्यानिरूपणं विवृणोति—**इन्द्रियार्थेति** । अव्यभिचारित्वखण्डनादीश्वरज्ञानाव्यापकत्वाच्चेत्यर्थः । इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्वासिद्धेश्च । तथाहि । न तावत्प्रत्यक्षतस्तदधिगमः । इन्द्रियार्थसन्निकर्षयोरप्रत्यक्षत्वेन तज्जन्यत्वस्याप्यप्रत्यक्षत्वात् । नाप्यनुमानतो ज्ञानत्वप्रमितित्वादीना व्यभिचारित्वात्साक्षात्कारित्वस्याद्याप्यसिद्धेरिति । तृतीयं हेतुं विवृणोति—**साक्षात्त्वस्य चेति** । तथा 'साक्षात्प्रतीतिः प्रत्यक्षं मेयमातृप्रमासु सा । मेयेष्विन्द्रिययोगोत्था द्रव्यजातिगुणेषु सा ॥ १ ॥ सर्वविज्ञानहेतूत्थमितौ मातरि च प्रमा । साक्षात्कारत्वसामान्यात्प्रत्यक्षत्वेन समता ॥ २ ॥' इति शालिकनाथलक्षणमपि परिगुणं मन्तव्यम् । एतेन साक्षात्प्रतीतिसाधकतममध्यक्ष सम्यगपरोक्षानुभवसाधनं प्रत्यक्षमित्यादिश्रीवत्सभभूषणप्रभृतिभिरभिहितं लक्षणजातं प्रत्याचक्षीत । साक्षात्त्वानिरुक्तेरेव प्रत्यक्षत्रमस्य परोक्षप्रमाया वाऽभावप्रसङ्गादिति भावः ।

एवं तार्किकप्रत्यक्षलक्षणानि दूषयित्वा मीमांसकाभिमतं लक्षणं दूषयति—**सत्संप्रयोग इति** । 'सतावर्तमानेनार्थेनेन्द्रियाणां संप्रयोगे सति पुरुषस्य यद्बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्ष'मिति लोकसिद्धप्रत्यक्षलक्षणानुवादपरजैमिनीयसूत्रस्यार्थः । अत्र च जन्मग्रहणं जन्मैव बुद्धेर्व्यापार इति प्रदर्शनार्थम् । उक्तं हि—'व्यापारः करणानां तु दृष्टो जन्मातिरेकतः । ज्ञानेऽपि हि तथा मा भूदिति जन्मान्युपेयते ॥' इति । अस्यातिव्याप्तिमाह—**प्रत्यक्षाभासेपीति** । अस्ति हि तत्रापि वर्तमानेन संप्रयोगाद्बुद्धिजन्म । यथाहुः—'केनचित्संप्रयोगे हि भ्रान्त्यादि स्यान्नियोगतः ।' इति । ततोऽतिव्याप्तिरित्यर्थः । स्यादेतत् यद्यपीदं भाष्यकारमते दूषणं संभवति तथापि वृत्तिकारमते न संभवति । तेहि तत्सतोर्व्यत्ययं कृत्वा व्याचख्युः । तत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म सत्प्रत्यक्षमिति । तदा चार्यं सूत्रार्थः । 'तत्संप्रयोगात्तद्विषयविज्ञानं सत्प्रत्यक्षमन्यसंप्रयोगादन्यविषयं ज्ञानं प्रत्यक्षाभास' इति । ततः कथमतिव्याप्तिः, नहि शुक्तिकारजतज्ञानं रजतसंप्रयोगादुत्पन्नमिति तत्राह—**वृत्तिकारमतेनेति** । अव्याप्त्यतिव्याप्ती दर्शयितुं सूत्रार्थमाह—**तथाहीति** । विकल्प्य दूषणे दर्शयति—**तत्रेत्यादिना** । ननु किमित्यभावप्रमाणवादिभिस्तस्य प्रत्यक्षाशत्वं नाङ्गीक्रियते तत्राह—**अङ्गीकारे वेति** । इदं चासाधारणं, साधारणं तु प्रत्यक्षधर्मिकानुमानोच्छेदात्मकं दूषणमनेकवारमुक्तमेव । एकदेशेनापि संप्रयोगे जन्मेति पक्षं दूषयति—**न द्वितीय इति** । विभ्रमेष्वेकदेशसंप्रयोगमाह—**तत्रापीति** । तत्संप्रयोग इत्यत्र समित्युपसर्गादतिव्याप्तिपरिहारः शङ्कते—**अथोच्येतेत्यादिना** । सम्यक् प्रयोगो हि संप्रयोग इति भावः ।

नातिव्याप्तिः । यथाहुर्भट्टपादाः—‘सम्यगर्थे च सशब्दो दुष्प्रयोगनिवारणः । प्रयोग इन्द्रियाणां च व्यापारोर्थेऽपु कथ्यते ॥ दुष्टत्वाच्छ्रुक्तिकायोगो वार्यते रजतेक्षणादि’ति । तदपि न । उक्तोत्तरत्वान्, प्रत्यभिज्ञायां तत्तांशेन तथाभूतसंप्रयोगाभावादव्याप्तेः, इन्द्रियेषु दोषाभावस्य प्रागुक्तन्यायेन दुरवधारणत्वान् । तदेवं प्रत्यक्षलक्षणं प्रत्युक्तम् ।

नाप्यनुमानस्य लक्षणं निरूपयितुं शक्यम् । तथाहि । करणपक्षे तृतीयलिङ्गपरामर्शः, परामृश्यमानं वा लिङ्गमनुमानमिति नैयायिकाः । न तावत्तृतीयलिङ्गपरामर्शोऽनुमितेः करणम् । अव्यापारत्वान् । व्यापारवत् एव हि सर्वत्र करणत्वं तदिह महानसादौ धूमधूमध्वजयोः प्रथमं संबन्धं गृहीतवतः शिखरिशिखरपरिवर्तितया पुनस्तमेव धूममवलोकयतस्तदनुचानुसंहितव्याप्तेर्योऽयं लिङ्गविषयः परामर्शः ‘तथाचायं धूमवा’निति न तस्य व्यापारान्तरमुपलभामहे, येन तस्यानुमितिकरणता स्यात् । नच व्याप्तस्य पक्षधर्मतावगमेऽप्यनुमानानुदयस्त्वयाभ्युपगम्यते, येन व्यापारान्तरं तत्र कलयेत । अथानुसंहितव्याप्तिकस्य लिङ्गविषयो निर्विकल्पकप्रत्ययः करणं तस्य ‘तथाचायं धूमवा’निति

अत्र वार्तिकसमितिमाह—यथाहुरिति । पादशब्द पूजार्थः । ‘पादा इति नामान्ते देवा भट्टारका वापी’त्यभिधानात् । सम्यगर्थे प्रसिद्धोऽयं समिति शब्दो दुष्टयोगस्य निवारकः । अथ कोऽयं प्रयोगः, यस्यायं सम्यक्त्वमाचक्षीत सशब्द इति तत्राह—प्रयोग इति । बुद्धीन्द्रियाणामर्थेषु यो व्यापारः स प्रयोगोऽभिमत इत्यर्थः । कस्तर्हि दुष्टप्रयोगोऽनेन निवर्त्येत इति तत्राह—दुष्टत्वादिति । कथं तर्ह्यस्य दुष्टत्वमिति तत्राह—रजतेक्षणादिति । तन्निमित्तं रजतं ज्ञायत इति दुष्टो योऽसौ प्रयोगोऽतस्तद्व्यवर्तकोऽयं सशब्द इति वार्तिकयोजना । अनेनापि हि सम्यक्संप्रयोगः समर्थितः । सच तत्तांशे नास्तीति पूर्वमेवोक्तमित्याह—तदपि नेति । उक्तमेव दर्शयति—प्रत्यभिज्ञायामिति । ननु विस्मरणशील इव भवानालोच्यते कथमन्यथा एकदेशसंप्रयोगपक्षमुपक्षिप्य तत्तांशे तादृशसंप्रयोगाभावादव्याप्तिमाचष्टे इति तत्राह—इन्द्रियेऽपि । प्रागुक्तन्यायो दुष्टसामग्रीजन्यत्वावधारणनिरसनन्यायः । इन्द्रियसंप्रयोगयोरप्रत्यक्षत्वेन तन्निष्ठदोषाग्रहेण दोषाभावास्याप्यप्राह्यत्वादित्यर्थः । प्रत्यक्षखण्डनमुपसहरति—तदेवमिति । प्रत्यक्षधर्मिकानुमानेऽप्येकदेशसंप्रयोगसंभवादतिव्याप्तिः । संप्रयुक्त एवायं इति विशेषणे च प्रत्यभिज्ञाऽव्याप्तिरित्यपि द्रष्टव्यम् । अथवा भाष्यकारपक्ष एवातिव्याप्तिपरिहारमाशङ्क्येदमव्याप्तिदानम् । इन्द्रियेऽपि दूषणान्तरान्वाच्यः । ‘अध्यक्षे सर्वमानानामध्यक्षेऽस्मिन्प्रार्थयिते । अनुमानादिषु त्वक्षमनुमानेषु का कथा ॥’ ११ ॥

क्रमप्राप्तमनुमानलक्षणं खण्डयितुमुपक्रमते—नाप्यनुमानस्येति । प्रमाणखण्डनस्य प्रस्तुतत्वादनुमितिं विहाय तार्किकानुमितिकरणलक्षणमुद्भावयति—करणेति । इदमेव वाचस्पत्युदयनयोर्मतम् । इमं च तृतीयं परामर्शमुत्तरत्र स्वयमेव दर्शयिष्यति । ननु मास्तु व्यापार करणत्वं किमिति न स्यादत आह—व्यापारवत् एव हीति । व्यापारवत्कारणं हि कारकमुच्यते कारकविशेषश्च करणं ततो व्यापारवत् एव करणत्वमित्यर्थः । अस्तु तर्ह्यस्यापि व्यापार इति तत्राह—तदिहेत्यादिना । धूमध्वजो वह्निः, शिखरी पर्वतः । तृतीयलिङ्गपरामर्शमेवाभिनयति—तथाचायमिति । ननु यद्यपि व्यापारान्तरं तस्य न दृश्यते तथापि करणत्वसिद्धये कल्पयाम इति तत्राह—नच व्याप्तस्येति । यदि व्याप्ततया पक्षधर्मतया चावगतस्य लिङ्गस्य कदाचिदनुमितिजनकत्वं न दृश्येत कल्प्येतापि तदा व्यापारान्तरं केवलव्यतिरेकवत्वात्तथापि तत्कल्पनेऽतिप्रसक्तिरिति भावः । ननु द्विविधस्तृतीयलिङ्गपरामर्शो निर्विकल्पकः सविकल्पकश्चेति, तत्र निर्विकल्पकः करणं सविकल्पकस्तु तस्य व्यापार इति शङ्कते—अथेति । अनुसंधानं प्रत्यभिज्ञानम् । एतच्च लिङ्गपरामर्शस्य तृतीयत्वसिद्धये शक्यमेव लक्षयितुं प्रत्यक्षलिङ्गोपलब्धिस्थले । यत्र तु शब्दादनुमानाद्वा

सविकल्पकप्रत्ययो व्यापारः । मैवम् । शब्दानुमानाभ्यामवगतलिङ्गेष्वव्याप्तेरादावेव सविकल्पकेन तेषां विषयीकरणाच्छब्दानुमानयोर्निर्विकल्पकप्रत्ययाजनकत्वात् । अथोच्येत—तस्मादयमग्निमानिति निगमनेन तस्मादित्युपनयार्थस्य लिङ्गाधिकरणत्वस्य परामर्शादुपनयार्थस्य पूर्वभाविनस्तृतीयलिङ्गपरामर्शस्य तज्जनकतया तद्व्यापारोपपत्तिरिति । तदपि न । आप्तवाक्यादस्ति धूम इत्यधिगतवतोपि विनैव तस्मादिति परामर्शमात्रादस्ति धूमध्वज इति प्रतीतेरुदयात् । न चैषा प्रतीतिः प्रत्यक्षा । अनैन्द्रियकत्वात् । नापि शाब्दी । आप्तवाक्यस्य धूमसद्भावमात्रपर्यवसितत्वात् । नापि स्मृतिः । तत्राग्निसद्भावस्य पूर्वमननुभूतत्वात् । अतः परिशेषादनुमितिरेवेत्याख्येयं तत्कथं तत्र व्यापारसंभवः । लिङ्गपरामर्शस्य करणत्वेन प्रमाणेषु ज्ञाताज्ञातकरणविभागश्च न स्यात् । नयनादीनामेव हि करणत्वमज्ञाततया, ज्ञाततया तु लिङ्गशब्दादीनामिति विभागः परामर्शस्य करणतायां न सिद्ध्येत् । नच परामर्शोपि ज्ञाततया करणम् । ज्ञानस्य निलीनस्यैव नयनादिवत्स्वरूपफलजनकताङ्गीकारात्, अन्यथाऽनवस्थाप्रसङ्गात् । अथ परामृश्यमानं लिङ्गमनुमितेः करणम् । तदपि न । तत्रासीद्धूम इत्याप्तादुपश्रुत्य वह्निर्वाऽतत्रासीदित्यनुमितावविद्यमानस्य कारणत्वानुपपत्तौ तत्परामर्शस्यैव कारणतायास्तस्यावश्याश्रयणीयत्वात् । एकप्रयोजकतानुरोधेन धूमादेर्वर्तमानदशायामपि तत्परामर्शस्यैव कारणतायाः स्वीकरणीयत्वात् ।

किंचेदं लिङ्गं, यस्य परामर्शः परामृश्यमानं वालिङ्गमनुमितिकरणम्, व्याप्तिपक्षधर्मतावल्लिङ्गमिति चेत्केयं व्याप्तिः, किमविनाभावः किवा स्वाभाविकः संबन्धः निरुपाधिकः

लिङ्गावगमः न तत्रैवं द्वैविध्यम् । प्रत्यक्षगोचरत्वादस्याः कथायास्ततस्तत्र करणस्यैवाभावप्रसङ्गादव्याप्तिरित्याह—**मैवमिति** । स्यादेतत्, 'तथाचायं धूमवानिति च 'तस्मादग्निमिति च याविमानुपनयनिगमनाख्यावयवौ तत्र निगमनगतस्तस्मादिति परामर्शो व्यापारस्तज्जनकश्चोपनयगतलिङ्गपरामर्शः । सन्निकल्पक करणमिति शङ्कित्वा तादृशपरामर्शं विनैवाप्तवचनादवगतधूमादनुमित्युदयेऽव्याप्त्या परिहरति—**अथोच्येतेत्यादिना—उदयादित्यंतेन** । ननु तादृशपरामर्शव्यतिरेकेणोत्पद्यमानप्रतीतिरनुमितिरेव न भवतीत्याशङ्क्या परिशेषादनुमितित्वमाह—**न चैषेत्यादिना** । परिशेषादनुमितित्वं दर्शयित्वा तत्राव्याप्तिं दर्शयति—**तत्कथमिति** । किंच यदि परामर्शं करणं तदा तस्याज्ञायमानतया करणत्वात् प्रत्यक्षाद्वैलक्षण्यं स्यादित्याह—**लिङ्गपरामर्शस्येति** । अस्तु तर्हि परामर्शोपि ज्ञायमानतया करणमिति नेत्याह—**नच परामर्शोपीति** । ननु निलीनतया फलजनकस्याप्यपेक्षितस्थले ज्ञायमानतया जनकता किं न स्यादित्यत आह—**अन्यथेति** । स्वप्रकाशतानङ्गीकारादिति भावः । केवलव्यतिरेकाभावस्याप्युपलक्षणमिदम् । सति लिङ्गपरामर्शे तदबोधापराधेनानुमित्यनुदयादर्शनात् । ननु न परामर्शः करणं येनायं दोषः स्यादपि तु परामृश्यमानं लिङ्गं तस्य च ज्ञायमानत्वान्नोक्तदोष इत्युदयनमतं शङ्कित्वा अतीतादिधूमेनानुमानस्थलेऽविद्यमानस्य कारणत्वाभावात्परामर्श एव करणं मन्तव्यं तत्सामान्याद्वर्तमानस्थलेऽपि तस्यैव करणत्वं वक्तव्यं तथाचापरिहार्य एव पूर्वोक्तदोष इत्याह—**अथ परामृश्यमानमित्यादिना** ।

एवं लिङ्गमङ्गीकृत्य तत्परामर्शस्य करणत्वं नास्तीत्युक्तम्, इदानीं लिङ्गानिरूपणादपि तत्परामर्शस्य करणत्वं न संभवतीत्यभिप्रेत्याह—**किंचेदमिति** । लिङ्गस्य लक्षणमुद्भावयति—**व्याप्तीति** । व्याप्तिमल्लिङ्गमित्युक्ते करतलं स्पर्शवत्त्वरूपवत्त्वात्, सुरभि गगनारविन्दं अरविन्दत्वात्कासारारविन्दवदित्यादिसिद्धसाधनताश्र-

संबन्धो वा । नाद्यः । विकल्पासहत्वान् । तथाहि 'किं व्यक्तयोरथवा जात्योस्तद्वतोर्वा विशेषयोः । व्याप्तिस्त्वयेष्यते किं वा साध्यसाधनवत्त्वयोः ॥ २३ ॥ सा न व्यक्तयोस्तदानन्त्यान्न जात्योस्तदसंभवान् । न तद्वतोरुक्तदोषान्न चतुर्थोऽनिरूपणान् ॥' २४ ॥ किं धूमधूमकेतनस्वलक्षणयोर्व्याप्तिरुत धूमत्ववह्नित्वजात्योरथ तज्जातीययोराहोस्विन् धूमवत्त्ववह्निमत्त्वयोः । नाद्यः । व्यक्तीनामनन्तत्वात्तत्र संबन्धग्रहणासंभवान् । नह्यसर्वज्ञेन सर्वा व्यक्तयो विशेषतो ज्ञायन्ते । अथ व्याप्तिग्रहणसमये सामान्यलक्षणया प्रत्यासत्त्या तास्ता व्यक्तयस्तत्तदिन्द्रियैरवभासन्तेऽन्यथा सर्वोपसंहारवती व्याप्तिरेव नावगता इत्यानुमानिकोपादानादिव्यवहारविरहविरोधप्रसङ्गान्, नहि परिदृश्यमानकदलीफलादेः प्रत्यक्षेण दृष्टमिष्टसाधनत्वं येनैतदुपाददीत । किं नामानुमेयं, न च प्रतिबन्धमिद्विमन्तरेणानुमानप्रवृत्तिः, नचान्तरेण विशेषप्रतिभासं तन्नियमावगमः । तत्सिद्धं व्याप्तिग्रहणसमये एव सकलविशेषाः प्रतिभासन्ते । तदयुक्तम् । प्रमेयत्वाभिधेयत्वयोर्व्याप्ति गृह्यतः सर्वज्ञत्वप्रसङ्गान् ।

ननु प्रमेयतया सर्वं ज्ञायते ननु रूपान्तरेणेति चेन्मैवम् । रूपान्तरस्यापि प्रमेयत्वा-

यासिद्धोरनित्यः शब्द सावयवत्वादित्यादिस्वरूपासिद्धौ चातिव्याप्तिस्तदर्थं पक्षधर्मतावदित्युक्तम् । तावत्युक्ते चानित्यः शब्द प्रमेयत्वात्, नित्यः शब्द कृतकत्वादित्यादिसव्यभिचारविरुद्धादिष्वतिव्याप्तिस्तदर्थं व्याप्तिग्रहणम् । अविनाभावो व्याप्तिरिति पक्षं दूषयति—**नाद्य इति** । विकल्पदूषणे श्लोकाभ्यां सगृह्णाति—**किं व्यक्तयोरित्यादिना । तद्वतोरिति** । जातिविशिष्टव्यक्तयोरित्यर्थः । **साध्यसाधनवत्त्वयोरिति** । धूमवत्त्वव्याप्तिमत्त्वयोरित्यर्थः । **तदानन्त्या** व्यक्तीनामानन्त्यादसर्वज्ञेन तत्संबन्धग्रहणाशक्तेरित्यर्थः । **तदसंभवादिति** । अमित्रधूमत्वयोरैकाधिकरण्यभावेन व्याप्तेरसंभवादित्यर्थः । आनन्त्यमुक्तदोषः । श्लोकौ व्याकरोति—**किं धूमेत्यादिना** । धूमकेतनो वह्निः । असर्वज्ञेनापि प्रमेयत्वाद्याकारेण सर्वा व्यक्तयो ज्ञातुं शक्यन्त इति तन्निवृत्त्यर्थं विशेषतः इति । ननु यदा व्यक्तिद्वयं गृह्यते तदा तद्वतसामान्यद्वयसंबद्धा सर्वा व्यक्तयः प्रत्यक्षीक्रियन्ते तत्र च सामान्यामिकैव प्रत्यासत्तिः चक्षुःसंबद्धधूमवह्निव्यक्तिसमये तत्सामान्यद्वयद्वारा संबद्धविशेषणतया प्रत्यासन्नत्वाद्यक्तीनां ततो व्यक्तयोरेव व्याप्तिग्रहेऽपि न कश्चिदोष इति शङ्कते—**अथेति** । ननु माभूत्सर्वोपसंहारव्याप्त्यवगमः किं नश्छिन्नमिति तत्र श्रीवल्लभोक्तैवाधकमाह—**इत्यानुमानिकेति** । अथ कथमुपादानादीनामानुमानिकत्वमिति तत्राह—**नहि परिदृश्यमानेति** । **किं नाम** । किन्त्वर्थः । प्रतिबन्धो व्याप्तिः । सर्वव्यक्तिनिष्ठव्याप्तिग्रहणसमर्थनमुपसहरति—**पूर्ववादी** । **तत्सिद्धमिति** । इदमौदनादि मम समीहितसाधनमौदनादित्वात् ह्यस्तनौदनादिवदित्यनुमाय तदादित्सते—**एवं परिवर्जनीयेपि** । नचैतत्सकलौदनादिगतहितसाधनतावगमः विना शक्यमनुमानमुदेतुम् । नच तदवगमे कथितोपायमन्तरेणोपायान्तरमस्तीति खण्डलकार्थः । तदेतदूषयति—**तदयुक्तमिति** । ग्रहादिविमतं प्रत्यक्षं प्रमेयत्वादभिधेयत्वादेर्व्याप्ति गृह्णाति तदा प्रमेयत्वादेः सर्ववस्तुनिष्ठत्वात्तद्वरणे सर्वं गृहीतमेवेति कापि न ते सशयादि स्यात्, अस्ति च तन्मच्चित्तवार्तिपदार्थेष्वनभिधानलिङ्गानुमितमत एव न प्रतिकृत्येति भावः ।

ननु प्रमेयत्वाकान्ताकारेण सर्वं ज्ञायते तदाकारेण च व्याप्तिग्रहणं ननु रूपान्तरेण तदभावादिति शङ्कते—**नन्विति** । तत्र वक्तव्यम् । येनाकारेण तानि न ज्ञायन्ते स किं प्रमेयो न वा । आद्ये सोपि ज्ञात एवेति न पूर्वोक्तदोषात्रिमोक्षः । उत्तरस्मिन् स एव नास्ति येन न ज्ञायेरस्तानीत्याह—**मैवमिति** ।

धारतया ग्रहणप्रसङ्गात्, अप्रमेयत्वे च सप्तमरसादिवत्तदसिद्धेः । येन येन रूपेण यद्य-
दस्ति तेन तेनाकारेण तत्तत्प्रमेयमिति स्यादेव सर्वज्ञता । किंच व्याप्तिप्रदर्शनसमय
एवाशेषग्रहणे पर्वतनितम्बगोचरोपि कृशानुर्गृहीत एवेति पुनर्धूमदर्शने तस्य स्मृतिगो-
चरतैव स्यान्नलनुमेयता । नापि द्वितीयः । यद्धूमत्वं यत्र वा धूमत्वं तद्वह्नित्वं तत्र वा
वह्नित्वमिति नियमासंभवात्तयोर्भिन्नत्वाद्भिन्नाधिकरणत्वाच्च । नापि तृतीयः । व्यक्ती-
नामिव तद्वतामपि अनन्तत्वात्संबन्धग्रहणानुपपत्तेः । अस्तु तर्हि चतुर्थः । नहि तत्र
संबन्धग्रहणानुपपत्तिर्धूमवत्त्ववह्निमत्त्वलक्षणयोरुपाध्योः कतिपयव्यक्तिग्रहणेपि गोत्वादि-
जातीनामिव ग्रहणोपपत्तेरिति चेन्मैवम् । संभवेपि तत्संवेदनस्य तत्समय एव पर्वतनि-
तम्बसंबन्धिनो वह्निमत्त्वस्य गृहीतत्वात्पुनरनुमानाप्रवृत्तेः । वह्निमत्त्वमात्रमेव धूमवत्त्वव्या-
पकतया गृहीतं ननु पर्वतगतवह्निमत्त्वमिति चेत्तत्किमिदानीं बहूनि वह्निमत्त्वानि, हन्तैवं
धूमवत्त्वान्यपि बहून्येवेति तदानन्त्यात् संबन्धग्रहणानुपपत्तिस्तदवस्थैवेति घट्टकुट्ट्यां

सप्तमेति । रसषट्कव्यतिरिक्तद्रव्यादे रसत्वस्याप्रमेयस्यासिद्धिवदित्यर्थः । किंच व्याप्तिग्रहणसमये सर्वव्यक्तिग्रह-
णपूर्वकं तन्निष्ठव्याप्तिग्रहणमाशंसता पक्षीकृतपर्वतेऽपि सा गृहीता न वा । न यदि तदा सर्वोपसहारिणी
व्याप्तिरेव न गृहीता । अथ गृहीता तत्राह—**किंच व्याप्तिग्रहणेति ।** नितम्ब सानु । नच वारावाहि-
वत्सद्ववादेऽनुमानप्रवृत्तिः । परार्थानुमाने तं प्रति सिद्धसाधनतापातात् । जात्योरिति द्वितीयं पक्षं दूषयति
—**नापि द्वितीय इत्यादिना ।** वृक्षशिशपयोरिव स्वभावाविनाभावो वा धूमाभ्योरिव सादेश्यनियमो वा
वक्तव्यः । कालकृताविनाभावस्य जात्यन्तरेणापि साधारण्यात् । तच्च द्वयं न संभवति । भिन्नस्वभावत्वात् ।
भिन्नदेशत्वाच्चाभित्वधूमत्वयोरिति भावः । जातिविशिष्टव्यक्त्योरिति तृतीयं दूषयति—**नापि तृतीय इति ।**
यत्तत्र लीलावतीकारेणोक्तं 'नच प्रतिबन्धासंवेदनं व्यक्तिमात्रसहिततज्जातिनिर्भासा'दिति । तदसत् । सर्वव्य-
क्तिग्रहणाग्रहणप्रयुक्तदोषपरिहारात् । धूमवत्त्ववह्निमत्त्वयोरिति चतुर्थं पक्षमुद्धाटयति—**अस्तु तर्हि ।**
ननु तयोर्युपाधिसामान्यत्वात्समस्तधूमवदभिमलक्षणोपधेयग्रहणव्यतिरेकेणाशक्यग्रहणत्वात् । पूर्वोक्तदोष-
स्तदवस्थ इति तत्राह—**नहि तत्रेति ।** यथाहि कृतिपयव्यक्तिग्रहणेऽपि समस्ता जातिर्गृह्यते तत्कस्य हेतोः,
प्रत्येकं परिसमाप्यवृत्तित्वात्तद्वदत्रोपीति भावः । अत्र तावत्कतिपयव्यक्तिग्रहणे जातिर्गृह्यते इत्यत्रापि नास्ति
संप्रतिपत्तिः । अथ तत्र परिसमाप्यवृत्तित्वाद्ब्रूयत इति मतं तर्हि वक्तव्यं केयं परिसमाप्तिः, यदि तत्रैव
वर्तमानत्वं, गतं तर्हि गवान्तरगतगोत्वेन । अथ पर्यवसिततया प्रमीयमाणत्वम्, अर्थाभावे तत्प्रमितत्वे
कथमाश्वासः । किंच सा किं व्यक्तिः सर्वगताऽसर्वगता वा । अन्त्ये तु नैकस्या व्यक्तौ परिसमाप्तिः । नहि
सर्वगताया गृहोदरे परिसमाप्तिर्वास्तवी । व्यक्तिः सर्वगतत्वपक्षे गोद्वये वर्तमाना तयोरन्तराले वर्तते न वा ।
न यदि तद्वच्छिन्नदेशाया कथमेकत्वम् । द्वितीयेतु प्रागुक्त एव दोष उत्पद्यमानाया च व्यक्तौ कुत एध्य-
तीति पतिष्यतीत्यपि चितनीयम् । तत्रापि तत्सत्त्वे प्रागुक्तदोषः । प्रतीत्यप्रतीती वृत्त्यवृत्तौ नान्ये इति
चेत्किं योगाचारनगरगोपुर प्रविशति । अचिन्त्यमहिमेयं वस्तुस्वभाववैचित्र्यं, यद्यपिद्वये वर्तमानाप्यन्तराले
न वर्तत एकत्वं न जहाति व्यक्त्यनुत्पत्तिदेशाया तत्र तत्कारणेषु वा नास्ति व्यक्त्यनुत्पत्तौ चास्तीत्यादीति चे-
त्सत्यम् । अचिन्त्यमहिमैव सा न केवलं सैव भवदनवबोधोप्यचिन्त्यमहिमैव यत्स्यैवंविधमहामहेन्द्रजा-
लता । नावकल्पयसि प्रमाणं युक्तीश्च तत्र सचारयन्विचारकताभिमानं च न मुञ्चसीति वक्ष्यते चायमुपरि-
ष्टात्सर्विस्तरोर्यः । तदेतादृशदोषराशिकालुष्यकर्षणमपिना सूचयन्दोषान्तरमाह—**मैवम् । संभवेपीति ।**
ननु वह्निमत्त्वमात्रमत्रापि गृहीतमेव पर्वतगतवह्निमत्त्वं तु न गृहीतमित्यनुमानसार्थक्यमिति शङ्कते—**वह्नि-
मत्त्वेति ।** बहून्येवेति मन्यमानं प्रत्याह—**हन्तैवमिति ।** शक्यते हि पर्वतगतधूमवत्त्वमन्यदेवेति वक्तु-

प्रभातमनुसरति । अथैकैव धूमवत्ता एकैव वह्निमत्ता न सा पर्वतसंबन्धिनी गृहीताऽतः सैवानुमानालम्बनमिति चेन्मैवम् । विकल्पासहत्वात् । तथाहि । संबन्धसंवेदनसमये यत्र यत्र धूमवत्त्वं तत्र तत्र वह्निमत्त्वमिति वीप्साविषयतया पर्वतादिप्रदेशोऽपि प्रतीतो न वा । आद्ये पर्वतेऽपि वह्निमत्त्वमधिगतमिति कृतमनुमानेन । द्वितीये तु पर्वते धूमवत्त्वस्य प्रतीतावपि वह्निमत्त्वप्रतीतिर्न स्यात् व्याप्तेरगृहीतत्वादित्यलमतिप्रसङ्गेन ।

कश्चायमविनाभावः, किं साधनसद्भावेन साध्यसद्भावः किं वा साध्याभावेन साधनाभाव उतोभयम् । नाद्यः । केवलव्यतिरेकिणि तदभावान्, पक्षादन्यत्रापि भावे केवलव्यतिरेकित्वव्याकोपात् । नापि द्वितीयः । केवलान्वयिन्यभावान् । न तृतीयः । अन्वयव्यतिरेकिणि तदभावेऽपीतरयोस्तदभावान् । एतेन स्वाभाविकः संबन्धो व्याप्तिरिति द्वितीयः कल्पोऽपि परास्तः । तत्रापि जातिव्यक्त्यादिविकल्पानां दूषणानां तुल्यत्वात्, स्वाभाविकशब्दार्थानिरुक्तेश्च । स्वाभाविकशब्देन किं संबन्धिस्वभावजन्यत्वं

मिति भावः । अनेकत्वपक्ष परित्यज्यैकत्वपक्ष एव पूर्वोक्तदोषस्य परिहार शङ्कते—अथैकैवेति । धूमवत्त्वव्यापकतया प्रतीतवह्निमत्त्वस्य पर्वतसंबन्धबोधनमनुमानार्थमिति भावः । तत्र धूमवत्त्वान्निमत्त्वयोर्व्याप्तिग्रहणसमयेऽपि यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरित्येव गृह्यते वीप्साचानुक्तोपसंहारार्था तथा च तया संगृहीतार्थान्तर्भावेऽनन्तर्भावे च पर्वतस्यानुमानानुपपत्तिरिति दूषयति—मैवम् । विकल्पासहत्वादित्यादिना । व्याप्तेरगृहीतत्वादिति । यत्र धूमस्तत्राग्निरिति व्याप्तिग्रहणसमये यत्रेत्येतदर्थान्तर्गततया अगृहीतव्याप्तिकत्वादित्यर्थः । एतेनास्य वह्निविशेषस्य पूर्व प्रतीतत्वेऽपि एतत्पर्वतनिष्ठतया पूर्वमप्रतीतिरिति वदन्वादीन्द्रोऽपि विद्रावितः । अथ केवलव्यतिरेक्यनुमानादेतद्वह्निमत्त्वसिद्धिस्तत्किमयं पर्वत एतद्वह्निमानेतद्धूमवत्त्वादिति सिसाधयिषसि, ओमिति चेदन्तात्माश्रयता पर्वतस्यापि पर्वताश्रितत्वप्रसक्तैरिति ।

एवमविनाभावप्रतियोग्यनिरूपणाद्व्याप्तिरुक्ता, इदानीमविनाभावशब्दार्थं विकल्प्य दूषयति—**कश्चायमित्यादिना** । किमविनेति विनाशब्दाभिधेयसाधनाभावस्याभावं साधनसद्भावं विवक्षित्वा तत्र साध्यसद्भावो भावशब्देनाभिधीयत इति साधनसद्भावे एव साध्यसद्भावरूपान्वयव्याप्तिस्तयाऽविनाभावशब्दार्थो विवक्षितः किं वा विनाभाव साध्यव्यतिरेकेण साधनस्य भावस्तदभावोऽविनाभाव इति व्यतिरेकव्याप्तिर्विवक्षिता साध्याभावे साधनाभावस्य तत्त्वात् । उतोभयमपि रीतिरित्यर्थः । ननु केवलव्यतिरेकिण्यपि साध्यसाधनयोः सत्त्वात्सम्भवत्यन्वयव्याप्तिरिति तत्र वक्तव्यम् । किं पक्ष एवोभयो सहभावनिश्चय अन्यत्र वा । नाद्यः । तत्र साध्यानिर्णयात् । द्वितीये प्राह—**पक्षादन्यत्रेति । केवलान्वयिनीति ।** अविद्यमानविपक्षत्वादित्यर्थः । **इतरयोरिति ।** केवलान्वयिकेवलव्यतिरेकिणोरित्यर्थः । एवमविनाभावो व्याप्तिरिति प्रथमं पक्षं दूषयित्वा द्वितीयेऽपि तदेवातिदिशति—**एतेनेति ।** तस्यैव विवरणम्—**तत्रापीति ।** स्वाभाविकोऽपि हि सबन्ध कयोरिति विवेचनीयमिति भावः । उम्बकस्तु 'सबन्धो व्याप्तिरिष्टात्र लिङ्गधर्मस्य लिङ्गिने'त्यत्र लिङ्गधर्मस्येति दर्शनाद्याप्यैकधर्मा व्यापकनिरूप्यो व्याप्तिर्न पुनरुभयनिष्ठेत्यब्रवीत् । अत्र किं निर्देशमात्रं प्रमाणमन्यद्वा । नाद्यः । नहि घटेन पटस्य सबन्ध इति निर्देशात्पटकिष्ठ एवायं न घटनिष्ठ इति शक्याङ्गीकारम् । नाप्यन्यत् । प्रत्युत सबन्धत्वसिद्धिरेवोभयनिष्ठता गमयेत् । भवतु वा यथातथा तथाप्युक्तदोषान्न निर्मोक्षः । तत्रापि हि किं धूमव्यक्तिनिष्ठा किं धूमत्वजातिनिष्ठा किमभिव्यक्तिनिरूप्येत्याद्युक्तविकल्पानामप्रतिबद्धप्रसरत्वादिति । एवं साधारण दूषणमुक्त्वाऽस्मिन्पक्षेऽसाधारणदूषणमाह—**स्वाभाविकेति ।** स्वाभावशब्दस्य साधारणभावमात्रवाचकत्वात्प्रस्तुतसबन्धद्वारोत्थापितसबन्धिनो, स्वभावे विश्रान्तिस्तथाच

विवक्ष्यते यद्वा तत्स्वभावाश्रितत्वमथवा तत्स्वभावप्रयुक्तत्वमाहोस्वित्तद्व्याप्यत्वं किं वा तदनतिरिक्तत्वम् । नाद्यः । एकार्थसमवायेन रसाद्रूपानुमाने तत्संबन्धस्य समवायस्याजन्यत्वेनाव्याप्तेः, व्यभिचारिणोर्घटपटयोः संयोगेऽतिव्याप्तेश्च । तस्य तद्रूपत्वेऽपि व्याप्तिरूपत्वाभावात् । नापि द्वितीयः । घटपटयोः संयोगे संयोगिस्वभावाश्रिते व्यभिचारात् । नापि तृतीयः । प्रयुक्तत्वशब्देन जन्यत्वविवक्षायामाद्यपक्षोक्तदूषणप्रसङ्गात्तद्व्याप्तत्वविवक्षायां तु व्याप्तेरद्याप्यनिरुक्तेरात्माश्रयः । अत एव न चतुर्थः । किञ्च संबन्धस्य व्याप्यत्वे संबन्धिनोस्तद्व्यापकत्वेनाभिमतयोः क्वचित्तदधिकदेशकालावस्थानसंभवेन संबन्धं विनाप्यवस्थानोपपत्तौ व्यभिचारात्तदेकतरदर्शनेनान्यतरानुमानं न स्यात् । नापि पञ्चमः । भूतलघटाभावयोर्विशेषणविशेष्यभावलक्षणसंबन्धेऽतिव्याप्तेः । तस्य परैस्तदतिरिक्तत्वानङ्गीकारात् । समवायतद्वतोः संबन्धे च रसाद्रूपानुमानादावेकार्थसमवायेऽव्याप्तेः, तस्य संबन्धिस्वरूपातिरिक्तस्यापि व्याप्तिरित्युक्तम् । अतोऽनौपाधिकः संबन्धो व्याप्तिरिति तृतीयः कल्पो न युक्तः । तत्रापि संबन्धिनोर्दुर्निरूपत्वात्, इतरेतराश्रयप्रसङ्गाच्च ।

तदुपरितनतद्धितप्रत्ययेन तज्जन्यत्वादिष्वन्यतमो वक्तव्यः संबन्धमात्रविधानेऽपि विशेषपर्यवसितत्वादिति विकल्पयति—**स्वाभाविकशब्देनेत्यादिना** । नच जन्यत्वेन प्रयुक्तत्वस्य पौनरुक्त्यम् । अजन्यजनकयोरेक्यनित्यत्वकृतकत्वयोः प्रयुक्तिदर्शनादित्यवगन्तव्यम् । **तदनतिरिक्तत्वमिति** । स्वार्थ एव विहितोऽयं प्रत्यय इत्यर्थः । **नाद्य इति** । विप्रतिपन्नं रूपवद्रसवत्त्वादित्यत्र हेकार्थसमवाय एव व्याप्तिरूपः संबन्धः, नच तत्र लक्षणमस्ति तस्याजन्यत्वादित्यर्थः । घटपटसंयोगस्य लक्षणवत्तामलक्ष्यता चाह—**तस्येति** । **सबन्धिस्वभावाश्रितः** संबन्धो व्याप्तिरिति द्वितीयपक्षेऽपि घटपटसंयोगेऽतिव्याप्तिमाह—**नापि द्वितीय इति** । नचाव्यभिचारितसंबन्धिस्वभावाश्रितत्वेन संबन्धो विशेषणीयः । अव्यभिचारस्यैव तथासति व्याप्तिरिति संबन्धेन तदतिरिक्तत्वात्, अव्यभिचारस्य निरतिष्यमाणत्वाच्च । ननु तत्प्रयुक्तत्वं नाम न तज्जन्यत्वं येन पूर्वोक्ताव्याप्त्यतिव्याप्तिदोषौ स्यातां किंतु संबन्धिस्वभावव्याप्तत्वं गुणवत्त्वप्रयुक्तत्वमिव द्रव्यत्वस्येति तत्राह—**तद्व्याप्तत्वेति** । इममेवात्माश्रयं चतुर्थेऽप्यतिदिशति—**अतएवेति** । यदि च संबन्धिभ्यामव्याप्तः संबन्धः तदा संबन्धिनोर्व्यापकयोरधिकवृत्तित्वापि सभाव्यते इति संबन्धं विनापि संबन्धिनोरवस्थानं स्यात्तथा चान्यतरदर्शनादन्यतरानुमानं न स्यात्तत्संबन्धं विनापि तयोः स्थितिसंभवादित्यसिद्धिलक्षणस्येत्यभिसन्धिमाह—**किंचेत्यादिना** । नच समव्याप्तिरित्या व्याप्यत्वविवक्षायामदोषः । रूपरसयोरेकार्थसमवायलक्षणव्याप्तौ तदभावात्समवायस्य नित्यत्वेन द्रव्यादिपञ्चकवृत्तित्वेन च कालतो देशतो वा रूपरसाधिकवृत्तित्वात् । संबन्धिस्वरूपानतिरिक्तत्वमिति पञ्चमपक्षेऽप्यतिव्याप्तिमाह—**भूतलेति** । नच तस्य व्याप्तिरिति भूतलघटाभावयोर्व्यभिचारितत्वादिति भावः । तस्य च स्वभावानतिरिक्तत्वे पराङ्गीकारमाह—**तस्य परैरिति** । नचाभावान्तर्भावो निष्प्रतियोगिकत्वात्, अभावत्वसमानाधिकरणत्वादभाव इति वादीन्द्रमतेऽपि तद्व्यञ्जकतया सप्रतियोगिकत्वं मन्तव्यम् । अभाव इति बुद्धेश्चात्रासिद्धत्वादिति भावः । अतिव्याप्त्युदाहरणान्तरमाह—**समवायेति** । तयोरपि स्वभाव एव संबन्धः । नच तयोर्व्याप्तिः । भूतलादौ घटसंयोगे तत्समवायाभावात्समवायेऽपि रूपादौ घटाभावादिति भावः । अव्याप्तिं चाह—**रसादिति** । तत्र लक्षणाभावं दर्शयति—**तस्येति** । एवं स्वाभाविकः संबन्धो व्याप्तिरिति द्वितीयः पक्षो निरस्तः । तृतीयं दूषयति—**अनौपाधिक इति** । **तत्रापि** । अनौपाधिकः संबन्धो हि संबन्धिनिष्ठः । तथाच किं व्यक्त्योरित्यादिसंबन्धविकल्पदूषणानि समानानित्यर्थः । दूषणान्तरमाह—**इतरेतरेति** । अत्र ह्यनौपाधिकत्वज्ञानं व्याप्तेरुपाधिज्ञानाधीनमुपाधि-

उपाधिर्हि साधनाव्यापकत्वे सति साध्यव्यापकः, एवं च व्याप्तिसिद्धावुपाधिसिद्धिस्त-
त्सिद्धौ च तद्रहितसंबन्धस्य व्याप्तित्वसिद्धिरिति कथं नान्योन्याश्रयत्वम् । अथ मतं
साध्यव्यापकत्वं नामोपाधेरदृष्टव्यभिचारसाध्यत्वं नतु वस्तुतो व्यापकत्वं तस्मान्नेतरेत-
राश्रयत्वमिति । मैवम् । व्यभिचरितसाध्यस्यापि वस्तुगत्यापाततोऽदृष्टव्यभिचारसाध्य-
त्वापत्तेस्तस्याप्युपाधित्वप्रसङ्गान् । साध्यव्यभिचारदर्शनविषयत्वात्यन्ताभाववत्त्वं विवक्षि-
तमिति चेन्न । तस्य दुरवधारणत्वान् । नहि देशान्तरे कालान्तरे पुरुषान्तरे वा तयो-
र्व्यभिचारदर्शनं न भविष्यतीत्येवेति शक्यं विज्ञातुमसर्वज्ञेन । किंच व्याप्तिग्रहणसमये-
ऽभिमत्त्वादेर्निश्चितत्वेन साध्यत्वाभावात्साध्यव्यापक उपाधिरिति निर्धारयितुमशक्यम् ।
व्यापकत्वमिह साध्यशब्देन विवक्षितमिति चेन् । न । व्याप्त्यनवगमे व्यापकत्वानिरुक्तेः ।

एतेन साध्यवन्निष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं साध्यव्यापकत्वं साधनवन्निष्ठात्यन्ताभा-
वप्रतियोगित्वं साधनाव्यापकत्वमित्याधुनिकानां वक्रनयोऽपि निराकृतः । साध्यसाधन-
योरनिरुक्तेरेव तद्रूपेण संभावितत्वमुभयत्रापि विवक्षितमिति चेन्मैवम् । तद्रूपस्यानिरुक्तौ
तद्रूपेण संभावितत्वस्यापि दुर्भणत्वान् ।

ज्ञानं च व्याप्तिज्ञानाधीनमितीतरेतराश्रय विवृणोति—उपाधिर्हीति । व्याप्तिसिद्धाविति । अव्याप-
कत्वं व्यापकत्वं च व्याप्तिज्ञानाधीनज्ञानं तत्प्रतियोगित्वादित्यर्थः । ननूपाधे साध्यव्यापकत्वं नाम नाप्तिम-
त्वादीनामिव व्याप्तिप्रतियोगि किंचिद्रूपम्, किं नाम साध्येनादृष्टव्यभिचारित्वं तथा च नान्योन्याश्रयतेति
शङ्कते—अथ मतमिति । अदृष्टव्यभिचार सार्थं येनोपाधिना स उपाधिस्तथा अत्र किमदृष्टव्यभिचार-
साध्यत्वं व्यभिचारदर्शनविषयत्वाभावमात्रं किं वा व्यभिचारदर्शनविषयत्वात्यन्ताभाववत्त्वम् । नाद्य । व-
स्तुतः साध्यव्यभिचारिण्यपि तददर्शनसम्भवेनोपाध्याभासे गततद्गतिव्यापकत्वादित्याह—मैवम् । व्यभि-
चरितेति । द्वितीयं शङ्कते—साध्येति । एवंविधसाध्यव्यापकत्वं कापि न सम्भवति दुरवधारणत्वादि-
त्याह—न तस्येति । किंच साध्यव्यापक इत्यत्र किमिदं साध्यत्वं विवक्षितं किं सिमाधियधित्वं किं वा
व्यापकत्वम् । नाद्य । उपाधेरभिमत्त्व प्रति व्यापकत्वनिश्चयसमये महानसादाभिमत्त्वादे सिद्धत्वेन साध्य-
त्वाभावादित्याह—किंचेति । द्वितीयं शङ्कते—व्यापकत्वमिति । धूमवत्त्वादि प्रति यदिदं व्यापकत्व-
मभिमत्त्वादेस्तदेव तस्य साध्यत्व विवक्षितमित्यर्थः । तत्र लक्षणवाक्यस्येदृशोर्थः पर्यवस्यति । व्याप्याव्यापको
व्यापकव्यापक उपाधिरिति । तथाच व्याप्तिज्ञान उपाधिज्ञानम् उपाधिज्ञाने च व्याप्तिज्ञानमिति स एव दुरात्मा
परस्पराश्रय परावृत्त इत्यभिसन्धिराह—न व्याप्त्यनवगम इति ।

यत्त्वत्र शिवादित्यभिप्रेत परिहारोऽभिहितः । परस्पराश्रयस्य तत्रायुक्तं दूषणमितिदिशति—एतेनेति ।
साध्यवद्यत्थत्वं तन्निष्ठात्यन्ताभावस्तदप्रतियोगित्वं तत्र वर्तमानत्वं साध्यव्यापकत्वं तथा साधनवद्यत्तन्निष्ठा-
त्यन्ताभावप्रतियोगित्वं तत्रावर्तमानत्वं साधनाव्यापकत्वमिति योजना । अस्यापि साध्यसाधनगर्भत्वात् न
तत्प्रयुक्तपूर्वोक्तदोषः शक्यपरिहार इत्याह—साध्यसाधनेति । एतेन 'साध्यकृत्तसहचारिण साधनैक-
देशवृत्तित्वमुपाधित्वमिति लीलावतीकारलक्षणमपि निरस्तं साध्यसाधनशब्दार्थानिरुक्तेरेव । ननु यद्यपि
व्याप्तिनिर्णयदशाया साध्यत्वं साधनत्वं च नास्ति तथापि तद्रूपेण संभावितत्वं विवक्षितं तच्च तदानीमप्य-
स्त्येवेति शङ्कते—तद्रूपेणेति । विद्यमानस्य खलु संभावना प्रमितिर्वा, नच व्याप्तिग्रहणदशाया साध्यत्व-
मप्यस्तीति केनाकारेण संभावनापि स्यात्, नापि व्यापकतया, परस्पराश्रयत्वादित्यर्थः । अथ वा सर्वोपस-
हारव्याप्तिग्रहणसमय एव धूमवत्त्वाभिमत्त्वयो सर्वत्र सिद्धत्वेन साध्यसाधनभावस्य दुर्निरूपतया संभाव-

भवतु नाम या काचन व्याप्तिस्तस्या व्याप्तेरनुमितेश्च व्याप्तिरेष्टव्येत्यासाश्रयः । सत्यामेव व्याप्तावनुमितिभावादसत्यामभावात् । किंच तद्व्याप्तिग्राहकं प्रमाणं 'न प्रत्यक्षमशक्यत्वान्नानुमाप्यनवस्थितेः । नागमस्तद्वत्ते भावान्नोपमाऽतत्प्रमेयतः ॥ २५ ॥ नार्थापत्तिरनन्यत्वाद्नुमाफललोपनात् । नाभावो दुर्निरूपत्वान्न तर्कस्तर्कबाधनात् ॥' २६ ॥

न तावत्प्रत्यक्षं व्याप्तिग्राहकं सर्वव्यक्तिनिष्ठस्यान्वयस्य व्यतिरेकस्य वा सर्वव्यक्ती-

नाया सुतरामसिद्धेरित्यर्थः । किंच साध्यसाधनशब्दाभ्यामविशेषेण सर्वसाध्यसाधनविवक्षा तद्विशेषविवक्षा वा । नाद्यः साधनस्यापि यत्किञ्चित्प्रति साध्यतया तद्व्यापकत्वे साधनाव्यापकत्वव्याकोपात्, तथा साध्यस्यापि यत्किञ्चित्प्रति साधनतया तद्व्यापकतया साध्यव्यापकत्वव्याकोपात् । नापि द्वितीयः । तथासति धूमवत्त्वाव्यापकोन्मिमतत्त्वव्यापक उपाधिरित्युक्तं स्यात् तथाच नानुगतलक्षणसिद्धिः । नच विशेषलक्षणत्वाददोषः । नामान्यलक्षणासिद्धौ तदसिद्धेः । नचात्यन्ताभावप्रतियोगिधर्मत्व सामान्यलक्षणम् । व्यर्थविशेषणत्वात् । नच प्रमेयत्वादिव्यवच्छेदार्थमत्यन्ताभावविशेषणम् । तस्याप्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वादान्ततः स्वस्मिन्नेवाभावादात्माश्रयप्रसङ्गात् । नचोत्पत्तिज्ञप्तिप्रतिबन्धकस्यैव तस्य दूषणता । सकोचे प्रमाणाभावात्, नियतानुपलब्धेरुभयत्र समानत्वात् । नच केवलान्वयिताभङ्गप्रसङ्गः । इष्टत्वात्, केवलान्वयिनि प्रमाणाभावात् । नहि प्रमेयत्वादीना सकलवस्तुनिष्ठत्वे प्रत्यक्षप्रमाणमस्ति । अस्मदादेरसकलवेदितृत्वात्, सर्ववस्तुश्च तद्विषयप्रमाणेऽस्मदादीना प्रमाणाभावात् । नाप्यनुमानम् । अप्रसिद्धविशेषणतादिदोषप्रप्रासात् । सकलवस्तुनिष्ठत्वं प्रमेयत्वादिनिष्ठमित्यादेश्चाश्रयासिद्धत्वात् । सकलवस्तूनि प्रमेयत्वाधार इत्यादेश्चासिद्धिर्दृष्टान्ताभावप्रसङ्गात् । किंच धूमानुमाने तत्साधनाव्यापकस्तत्साध्यव्यापकश्च कश्चिदुपाधिः प्रमितो न वा । आद्येऽनुमानभङ्गः । द्वितीये प्रतियोग्यप्रमित्या निर्हपाधिकसबन्धरूपव्याप्त्यसिद्धिः । यावन्त एतत्साधनाव्यापकास्तावन्त एतत्साध्यं प्रत्यप्यव्यापका यावन्तश्चैतत्साध्यव्यापकास्तावन्त एतत्साधनं प्रत्यपि व्यापका इति साधिते भवत्युपाधेरुद्धार इति चेदेतावतापि परिश्रमेण किं प्रतियोगिप्रमितिरापादिता नवेत्यात्मनि परिभावयेत्यलमतिकलकलेन । विध्वंसिते च निश्चितोपाधौ शङ्कितोपाधिरिदानीं ध्वस्यत एवेति मन्तव्यम् । क्वचिदप्यनिश्चितस्य संशयायोगात् ।

एवं व्याप्तिलक्षणं दूषयित्वात्माश्रयादितर्कबाधादपि व्याप्तेरनुमित्यङ्गत्वासिद्धिमाह—भवतु नामेति । व्याप्तेरनुमितेश्च व्याप्तिरस्ति न वा । यदि न तदा तामन्तरेणाप्यनुमितिर्हदीयात् । अथास्ति तदा सैव व्याप्तिस्तत्र वर्तते तदात्माश्रयः ज्ञप्तौ चायमथान्या तत्रान्योन्याश्रयचक्रकानवस्थाश्चेति भावः । एष्टव्या च व्याप्तिरित्याह—सत्यामिति । नच व्याप्तौ प्रमाणमपि किंचन निरूपयितुं शक्यमित्याह—किंचेति । सभवत्प्रमाणानि श्लोकाभ्यां निरस्यति—न प्रत्यक्षमित्यादिना । सर्वव्यक्तिनिष्ठव्याप्तेरसर्वज्ञेन प्रहीतुमशक्यत्वान्न प्रत्यक्षतस्तदधिगमः । नाप्यनुमानम् । अन्योन्याश्रयात् । अथान्यैवानुमानगता व्याप्तिस्तर्हि तत्राप्यनुमानान्तरमेव तद्व्याप्तावपीत्यनवस्था स्यात् । नाप्यागम आगमव्यापारव्यतिरेकेणापि पाभरपशुशकुन्तादीनामनुमित्युदयात् । नाप्यनुमानम् । तस्य सादृश्यविषयतया सज्ञासङ्गिसबन्धविषयतया चैतादृशानां तत्प्रमेयत्वाभावात् । नाप्यनुमितिः । अनुमानानन्यत्वात् । अथ परमते न पार्थक्यं तथैवानुमानफलस्यान्मिमतत्त्वस्यापि सिद्धिः, शङ्कोति ह्यभिप्यतिरेकेण धूमोऽनुपपद्यमानस्त कल्पयितुमित्यनुमाफललोपः स्यात् । नाप्यभावः । यस्यकस्यचिद्वा सर्वेषां वा योग्यानुपलब्धेर्वा अनुपलब्धिमात्राद्वा दुर्निरूपत्वात् । नापि तर्कः । तस्य व्याप्तिमूलत्वेऽनवस्थालक्षणतर्कबाधनात् । अतन्मूलत्वे तर्काभासतया तर्कबाधनात् । भावपरो निर्देश इति श्लोकार्थः ।

सग्रहं विवृणोति—'नतावदित्यादिना । अनवस्थामेव विवृणोति—अन्तरेणेति । वेदाप्तवचनेति

नामग्रहे प्रहीतुमशक्यत्वात्तद्गृहे वानुमानस्य वैयर्थ्यान् । नाप्यनुमानम् । अनवस्थानादन्तरेण व्याप्तिग्रहमनुमानानुदये तत्तद्व्याप्तिग्राहकानुमानपरम्पराया दुर्वारत्वान् । नाप्यागमः । वेदाप्तवचनाकर्णनविधुराणामपि व्याप्तिदृष्टिदृष्टेः । नाप्युपमानम् । तस्य सादृश्यमात्रविषयतया व्याप्तिजमावजागरूकत्वान् । नाप्यर्थापत्तिः । तस्या अनुमानानतिरेकान् । अतिरेकेपि तयानुमानावसेयार्थाधिगतेरनुमानस्यानुदयप्रसङ्गान् । तथाहि । व्यापकव्यतिरेकेण व्याप्यस्यानुपपत्तिरिहार्थापत्तिरभिमतता तथा च तथैवानुपपत्त्या लिङ्गिनोऽधिगतौ कृतमनुमानेन । नाप्यभावः । एवं हि स प्रमाणयितव्यः यदि वह्निधर्मिव्यतिरेकेण धूमः स्यात्तदा तथोपलम्भः स्यात्तद्भावान्नायं तद्व्यतिरेकेणेति । तच्च न । तथाहि किं सर्वेषां व्यभिचारानुपलम्भः किं वा स्वस्यैवानुपलम्भः उत योग्यानुपलम्भः । नायः । सर्वानुपलम्भस्य निश्चेतुमशक्यतया संशयानिवृत्तेः । न द्वितीयः । व्यभिचारान् । नहि नगरगतेन स्वेनानुपलब्धमित्येतावतारण्यकोपलब्धगवयादेरपलापसंभवः । नापि तृतीयः । सार्वत्रिकयोग्यानुपलब्धेरसंभवान् । उक्तं च लीलावतीकारेण—‘सर्वदृष्टेश्च संदेहात्स्वादृष्टैर्व्यभिचारतः । योग्यादृष्टेरसत्त्वाच्च प्रतिबन्धो न सिध्यतीति । नापि विपक्षवाधकतर्कान् । तर्कस्य व्याप्तिमूलत्वेनानवस्थानादतन्मूलत्वे च मूलशैथिल्येन तर्काभासत्वान् ।

अथ मतं यदि धूमोऽग्निं व्यभिचरेदकारणः स नित्यः स्यान्न स्यादेव वा ननु कदाचित्स्यात् । नच विनापि कारणं कार्यं गङ्गितुं शक्यम् । व्याघातान् । तदेव हि कार्यं यत्कारणाधीनस्वात्मलाभम् । अतः कार्यं च कारणरहितं चेति व्याघातः । तदेव चाश-

विभागो मीमांसकमतेन । अजागरूकत्वान् । अप्रबुद्धत्वादित्यर्थः । अभावस्यात्रासम्भवं दर्शयितुं तन्प्रवृत्तिप्रकारं दर्शयति—एवं हीति । तथेति । वह्निरहिततयेत्यर्थः । तद्व्यतिरेकेणेति । वर्तन इति शेषः । स्वस्येति । प्रतिपत्तुरित्यर्थः । स्वानुपलम्भपक्षेऽप्यनुपलम्भमात्रादुत योग्यानुपलम्भादित्याह—उतेति । व्यभिचारादिति । स्वानुपलम्भमात्रस्यार्थाभावेन नियमाभावादित्यर्थः । व्यभिचारमेवाह—नहीति । योग्यानुपलब्धिपक्षं दूषयति—नापीति । उक्तं चेति । उपाधिविधूनेन प्रतिबन्धसिद्धिमीश्वरानुमाने समर्थयता कार्यमात्रस्य कारणमात्रेणापि सबन्धः । उपाधिविधूनेनेत्युक्त्वा विपक्षवाधात्तत्र व्याप्तिसिद्धिमाशङ्क्य व्याप्त्यसिद्धावुक्ताया सहेतुकत्वादाचित्कत्वयोर्व्यभिचारानुपलम्भाभ्याप्तिसिद्धिमाशङ्किता परिहरतेति शेषः । अन्तिमपक्षं निराकरोति—नापीति । यदि व्याप्तिमूलस्तर्कस्तदा तद्व्याप्तावपि तर्कान्तरमेवित्यमित्यनवस्था । इतरथा प्रशिथिलमूलत्वमित्यर्थः ।

तत्र यथा तर्कानवस्था नावतरति तथा कुसुमाज्जलावुदयनेन बाधकस्त्वंऽभिहितस्तमुद्भावयति—अथ मतमिति । यद्यदकारणं तत्सदेकरूपमसदेकरूपं वा । आकाशवत्तत्कुसुमवच्च तदिह यदि धूमोऽग्निं व्यभिचरेदकारणतया नित्यसत्त्वासत्त्वयोरन्यतरत्वप्रसक्तिरित्यर्थः । उक्तं हि—‘नित्यसत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षया । नियामकाद्धि भावानां कादाचित्कत्वमसम्भवं’ ॥ १ ॥ इति । नन्वकारणकस्यापि सदातनत्वेन व्यभिचारशङ्काया किमुत्तरमिति तत्राह—नच विनेति । व्याहृतिमेव दर्शयति—तदेव हीति । यो व्याघातादपि न विभेति तं प्रत्याह—तदेव चेति । यदि हि कारणं विना कार्योत्पादस्तदा परप्रत्ययोत्पादनार्थं सामग्रीप्रयोगो व्याहृतः । सेयमत्र क्रियाव्याहृतिः । आदिशब्दान्मूकोऽहमिति वचनव्याहृतिः स्वभावव्याहृतिश्च संगृह्यते । उक्तं च तेनैव—‘शङ्काचेदनुमास्त्येव नोचेच्छङ्का ततस्तस्मात् । व्याघाता बधिराशङ्का तर्कः शङ्काव-

ङ्कितव्यं यस्मिन्नाशङ्कमाने क्रियाव्याघातादयोपि नावतरन्तीति । मैवम् । अस्यापि तर्कस्य व्याप्तिमूलत्वेन तदसिद्धावसिद्धेः । तथाहि । यत्कार्यं तत्कारणपूर्वकमिति व्याप्तौ सिद्धायां यदकारणं तन्नित्यं स्यादिति प्रसङ्गप्रसरात्सैवाद्यापि न सिद्धा । सर्वकार्यकारणव्यक्तिग्रहणस्याशक्यत्वात्, कतिपयव्यक्तिग्रहणे चादृष्टवज्रस्य पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयो-
रिव व्याप्तेरनिश्चयात् । नन्वेवंभूतोपि व्यभिचारो यत्र न दृश्यते कतिपयव्यक्तिषु सह-
भावः प्रदृश्यते नचोपाधिर्निरूप्यते तत्र व्याप्तिर्निश्चीयते तत्रैवंसत्यन्यत्र व्याप्तिग्रहण-
मन्यत्र चानुमितिरिति । एवं च 'षण्डकमुद्राह्य मुग्धायाः पुत्रप्रार्थनमिवे'ति वाचस्पते-
रुपालम्भोऽप्यनवकाशः । व्याप्तेः सर्वत्रैकत्वात्तस्याश्च कतिपयव्यक्तिषु गृहीतत्वात् ।
गृहीतव्याप्तिकलिङ्गसामर्थ्यादेव संदिग्धसाध्यधर्मिणि व्यापकस्यापि प्रतीतिः सिद्धेति
चेन्मैवम् । व्यभिचारादर्शनस्योपाध्यनिरूपणस्य च दुर्निरूपत्वात्सर्वादृष्टेश्च संदेहादिति
न्यायस्योभयत्रापि तुल्यत्वात् । उपाधेश्च व्याप्तिनिरूपणमन्तरेण दुर्निरूपत्वस्य दर्शितत्वात् ।

किंच विनापि धूमध्वजं धूमोऽन्यस्मादपि हेतोर्भविष्यतीति शङ्कायाः कः प्रतीकारः ।
अथ मन्यसे विभिन्नसामग्रीजन्यत्वे धूमस्यैकजातीयताप्रतीतिर्न स्यादिति । मैवम् ।

विमर्त' इति । एवमपि पूर्वोक्तदोषो दुष्परिहर इत्याह—**मैवमिति** । ननु किमिति कार्यस्य कारणेन व्याप्ति-
रसिद्धेति तत्राह—**सर्वकार्येति** । ननु कतिपयव्यक्तिग्रहणेऽपि किमिति व्याप्त्यसिद्धिस्तत्राह—**कतिप-
येति** । तथाहि विमर्तं लोहलेख्यं पार्थिवत्वादित्यत्र स्तम्भादिकतिपयव्यक्तौ व्यभिचारादर्शनेपि न व्याप्ति-
निश्चयः । प्रशिथिलावयवारब्धत्वोपाधिहृतत्वात् । ननु तत्र वज्रमणौ व्यभिचारदर्शनादेव व्याप्त्यनिश्चयो न
पुन सर्वव्यक्त्यपरिज्ञानात् नचेह तथा व्यभिचारदर्शनमिति तत्राह—**अदृष्टवज्रस्येति** । येन हि हीरम-
णिर्न दृष्टस्तेन यो व्याप्त्यनभ्यवसायः स सर्वव्यक्त्यदर्शननिमित्तः । अध्यवसाये च भ्रान्तिमात्रत्वादित्यर्थः ।
कतिपयव्यक्तिग्रहणेपि व्याप्तिग्रहणोपायं नवीनमतावलम्बनेन शङ्कते—**नन्वेवमिति** । तत्किं हि सात्वानर्थ-
साधनत्वयोरपि व्याप्तिरस्तु अस्ति चात्र रूपद्वयमिति तत्राह—**नचोपाधिरिति** । स्यादेतत्कतिपयव्यक्तिषु
व्याप्तिग्रहणेऽनुमेयस्थले व्याप्तेरग्रहादन्यत्र व्याप्तिरन्यत्रानुमानमिति स्यात् तथा च गृहीतापि व्याप्तिरनुमित्य-
समर्थेति वाचस्पत्युक्तोपालम्भप्रसङ्ग इति तत्राह—**तत्रैवं सतीति** । षण्डक पण्ड तत्र यथावृत्त षण्डक
पुत्रासमर्थं समर्थश्च न वृत्तस्तद्वदित्येतावत्ययं दृष्टान्तः तत्तु योगभाष्यकृदभिप्रायेण । ननु तथापि कथम-
न्यत्र व्याप्तिग्रहणमन्यत्रानुमानमिति तत्राह—**गृहीतेति** । स्यादेवं यदि व्यभिचारो न दृश्यत उपाधिश्च न
दृश्यते इत्ययमर्थः सिद्ध्यति स एव दुःसाध्य इति परिहरति—**मैवमिति** । **उभयत्रापीति** । व्यभिचार-
वदुपाधावपि सर्वादर्शनं यस्यकस्यचिद्वेत्युक्तत्वादित्यर्थः । उपाधावधिकमग्याह—**उपाधेरिति** ।

एवं व्याप्त्यसिद्ध्या तर्काप्रवृत्तिमुक्त्वा धूमस्याभिव्यभिचारशङ्कायामकारणकत्वापत्त्या व्याघातोऽप्यापादयितुं
न शक्यत अन्यस्मादप्युत्पत्तिसंभवेन विरोधासिद्धेरित्याह—**किंचेति** । स्यादेतत् यद्यन्यस्मादपि धूमोत्पत्ति-
स्तर्हि परिदृश्यमानधूमानामेकत्वान्तरजातीयता न स्यात् । कार्यैकजात्यस्य कारणैकजातिनियतादन्यथा तदै-
कजात्यस्याकस्मिन्कत्वप्रसङ्गात् । अत एव हि तृणारणिमणिभ्योऽप्युत्पद्यमानदहनेष्ववान्तरजातिभेदकल्पनमिति
तदेतदुद्भावयति—**अथ मन्यसे इति** । नियम एवायमसिद्ध इति परिहरति—**मैवमिति** । अस्ति ताव-
त्सर्वज्ञानेषु ज्ञानैकजात्यं नचात्रानुगतमनतिप्रसङ्गि कारणं शक्यं निरूपयितुम् । इन्द्रियादीनां व्यावृत्तत्वात्,
आत्ममनः सन्निकर्षस्य च सुखादिसाधारण्यात् । ततस्तत्र यथाकारणैकजात्याभावेपि कार्यैकजात्यमेव तृणाद्युत्पन्ना-

इन्द्रियत्वगादिजन्यविज्ञानस्येव तृणारणिमणिप्रभवस्याऽऽशुशुक्ष्णेरिव चैकजातीयतोप-
पत्तेः । तस्मान्न व्याप्तिलक्षणं नापि तद्वाहकं प्रमाणमस्तीति सिद्धम् ।

पक्षधर्मत्वमपि दुर्निरूपम् । तथाहि कोयं पक्षो यद्धर्मता पक्षधर्मता । संदिग्धसा-
ध्यधर्मा धर्माति चेत् किं वादिप्रतिवादिनोः संदेहः किं वा मध्यस्थानाम् । नाद्यः । नि-
श्चितौ हि वादं कुरुत इति स्वीकारान् । नापि द्वितीयः । तेषामपि दर्शनद्वयतत्त्ववेदिनां
संदेहानुपपत्तेः, किचान्तरेणापि संशयं धूमदर्शनमात्रादग्निमनुमिमानस्य संदेहविशेषि-
तधर्मिणि हेतोरवृत्तेः पक्षधर्मत्वाभावादनुमानानुदयप्रसङ्गः । एतेन ज्ञापनीयधर्मविशिष्टो
धर्मा पक्ष इति प्रत्युक्तम् । स्वार्थानुमाने प्रज्ञापनाभावात् । प्रमित्सितधर्मविशिष्टः पक्ष
इत्यपि न । अप्रमित्सतोप्यनिष्ठविषयेनुमानोदयदर्शनान् ।

साध्यधर्मविशिष्टः पक्ष इत्यपि न । साध्यपदेन संदिग्धत्वप्रज्ञापनीयत्वप्रमित्सितत्वा-
द्यन्यतमविवक्षायामुक्तदोषानुषङ्गान् । अप्रमितत्वं साध्यमिति चेन्न । प्रमाणसंप्रववादिनो
नैयायिकस्य प्रमितेऽप्यनुमानप्रवृत्तेरनुमितेऽप्यनुमानप्रवृत्तेश्च । नच तत्रापि तत्तत्कालवि-
शिष्टतयानधिगतिः । कालानुमाने तदभावान् ।

मेरपि । यथा च तत्रावान्तरजातिभेदकल्पनाऽयुक्ता तथाग्रे वक्ष्यते । तदिहाप्यनुगतकारणव्यतिरेकेण व्या-
वृत्तेभ्य एव कारणेभ्यः स्वभाववशात्सजातीयधूमा समुत्पद्यन्तामिति भावः । ननु तर्ह्यग्निप्रयोज्येषु धूमेष्वि-
तरेभ्यो व्यावृत्त कश्चिद्विशेषो दृश्येतेति चेन्न । तददर्शनस्य प्रतियोगिधूमादृश्यतयाप्युपपत्तेरिति शङ्काया
निरङ्कुशत्वादिति व्याप्तिखण्डनमुपसहरति—तस्मादिति ।

इदानीं पक्षधर्मतालक्षणलिङ्गावयवं खण्डयति—**पक्षधर्मत्वमपीति** । अनवसरतां निराचष्टे—**यद्धर्म-
तेति** । संदिग्धसाध्यधर्मा पक्ष इत्युक्ते विशेषणीभूतसाध्यधर्मस्यापि पक्षता स्यान्नचैतद्युक्तम् । साध्यस्य
पक्षनिष्ठत्वाभावप्रसङ्गात् आत्माश्रयात् हेतोर्वैयधिकरण्यापाताच्च । अतस्तद्धर्मत्वमात्रस्य पक्षत्वदर्शनाय
धर्माति विशेषणम् । अत्र यदिदं संदिग्धत्वं साध्यस्य तत्कंप्रतीति विकल्प्य दूषयति—**किं वादीत्या-
दिना** । किंच संदेहः किमुपलक्षणं विशेषणं वा । आद्ये कदाचित्सदिग्धे प्रत्यक्षेण निर्णयिष्येतिऽपि प्रवर्तमाना-
नुमानस्य न सिद्धसाधनता स्यात्, तदापि पक्षत्वापातात् । द्वितीये त्वनुमित्यनन्तरमप्रवृत्तेः स्यात् । धर्मि-
नाशवद्विशेषणनाशेन पक्षस्य नष्टत्वात् । स्वार्थानुमानेऽप्यापि चाह—**किंचेति** । एतेनैवैतद्विवृणोति—
स्वार्थेति । प्रज्ञापनमित्यत्र णिच्चा यदिदं प्रयोजककर्तृत्वमभिधीयते न तत्स्वार्थानुमानेऽस्ति । तत्र परं प्रति
बोधनाभावादित्यर्थः । तर्हि प्रमित्सितधर्मविशिष्ट इत्येवास्तु तस्य स्वार्थानुमानेपि भावादिति तत्राह—
प्रमित्सितेति । तथाप्यप्यापि । प्रमातुमनिच्छतोपि दुर्गन्धादिलिङ्गककुणपाद्यनुमानगतपक्षाव्याप्तेरित्यर्थः ।

सर्वज्ञीयं लक्षणमुद्गाढ्य दूषयति—**साध्येति** । अत्रापि साध्यपदेन पूर्वोक्तार्थविवक्षाया पूर्वोक्तदूषणानु-
षङ्ग एवेत्यर्थः । अर्थान्तर शङ्कते—**अप्रमितत्वमिति** । एतदव्यापकमित्याह—**प्रमाणेति** । यस्य हेतु-
स्मिन्नपि प्रमेये बहूनि प्रमाणानि वर्तन्त इति मतं तस्य प्रमितेऽप्यनुमानमिष्टमेव । यथाहुः—‘आगमेनानु-
मानेन ध्यानात्प्रत्यक्षेण च । त्रिधात्मनि प्रमाणानां सङ्गवः स्वार्थ इष्यते’ इति । ततस्तत्राव्याप्तिरित्यर्थः ।
ननु तत्रापि तत्तत्कालविशिष्ट एवानुमीयत इत्यप्रमितमेव तदिति तत्राह—**नचेति** । यदा हि कालो बहु-
भिरनुमानैरनुमीयते नच तत्रैतदस्ति काले कालवैशिष्ट्यस्यैवाभावादित्यव्याप्तिरित्याह—**कालेति** ।

अस्तु वा यः कश्चित्पक्षस्तथापि तद्धर्मता दुरधिगमा । तथाहि । पक्षाश्रितत्वं पक्ष-
धर्मत्वं चेत्तथा सति प्रमेयत्वहेतौ तन्न स्यात् । प्रमेयत्वस्य प्रमाविषयत्वलक्षणस्य ज्ञान-
ज्ञेयानतिरिक्तत्वाभ्युपगमेन तदाश्रितत्वायोगात् । प्रमान्योन्याभाववत्त्वं प्रमेयत्वं ततस्तस्य
ज्ञानज्ञेयाश्रितत्वमुपपन्नमिति चेन्न । अन्योन्याभावस्यैकत्वे तस्य तदवृत्तौ प्रमेयत्वहेतुना
कस्यचित्प्रत्यक्षत्वानुमानं न स्यात्, तस्यैवान्योन्याभाववत्त्वाभावात् । अनेकत्वे चान्यो-
न्याभावानां सर्वान्योन्याभाववत्त्वं प्रमेयशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमुतान्यतमत्वम् । नाद्यः ।
सर्वग्रहणासंभवात् । न द्वितीयः । अन्यतमशब्देन निर्धारितैकविशेषोक्तौ तदितरप्रमेय-
शब्दप्रवृत्त्ययोगात् । एकं निमित्तमन्तरेण बहुष्वेकशब्दप्रवृत्तौ गोत्वादेरपलापप्रसङ्गात् ।

व्याप्तिबलेन प्रवृत्ताया व्यापकसामान्यविषयायाः प्रतीतिर्विशेषपर्यवसानाय व्याप्यस्य
सामर्थ्यं । पक्षधर्मतेति चेत् । मैवम् । विकल्पासहत्वात् । किं प्रथमं सामान्यमात्राल-
म्बना प्रतीतिर्या सा सामर्थ्यात्पञ्चाद्विशेषमवगाह्यत इति ब्रूषे किं वा विशेषविषयप्रती-

एवं पक्षं दूषयित्वा पक्षधर्मतां दूषयति—अस्तु वेति । प्रमेयत्वं नाम प्रमाविषयत्वं विषयविषयिभावश्च
स्वभावानतिरिक्त इति प्रमा च विषयश्च प्रमेयत्व नातिरिक्तं, तथाचादृष्टादि कस्यचित्प्रत्यक्षं प्रमेयत्वादित्यस्य
हेतोरपक्षधर्मता स्यात् । आत्मव्यतिरिक्तस्यार्थजातस्य प्रमाश्रयत्वानुपपत्तेरर्थस्यापि स्वाश्रयत्वानुपपत्तेः ।
अतः पक्षाश्रितत्वं पक्षधर्मत्वमित्यव्यापकमित्याह—प्रमेयत्वेति । ननु प्रमेयत्वं नाम प्रमाव्यतिरिक्तत्वं
तेन नोक्तदोषः । नच प्रमायामव्याप्तिस्तस्या अपि यत्किञ्चित्प्रमाव्यतिरिक्तत्वादिति शङ्कते—प्रमान्योन्येति ।
तत्र किमेक एव प्रमान्योन्याभावः किं वानेकः । आद्ये प्राह—अन्योन्येति । तदापि हि प्रमान्योन्याभावे
प्रमेयत्वं न वर्तते स्वस्मिन्स्ववृत्त्यभावात्, अभिमता च स्ववृत्तिरानुष्मत् इतरथाऽभावप्रत्यक्षताया विप्रति-
पन्नं मीमांसकं प्रति प्रत्यक्षता कथं भवता साधनीया, सर्वज्ञं वा कथं समर्थयते, ततोऽव्याप्तिरिति भावः ।
अनेकत्वे दूषणमाह—अनेकत्व इति । सर्वग्रहणेति । तदा हि प्रमेयत्वादिति कोऽर्थः सर्वप्रमान्योन्या-
भाववत्त्वादिति । न चैतदसर्वज्ञेन शक्यग्रहणमित्यर्थः । किञ्च यदैका प्रमा पक्षीकृत्य प्रमेयत्वेन नित्यानु-
मेयस्वप्रकाशवादिनं प्रति प्रत्यक्षत्वं साध्यते तदा तस्यां न सर्वे प्रमान्योन्याभावाः सन्ति स्वान्योन्याभावाभा-
वादित्यव्याप्तिः । अन्यतमपक्षं दूषयति—न द्वितीय इति । तदा किमन्यतमशब्देन नियतं कश्चिदभि-
धीयते अनियतो वा, नियतपक्षे तदितरान्योन्याभावानां प्रमेयशब्दार्थत्वाभावात्तद्वता प्रमेयत्वं न स्यात् ।
नच स एव सर्वत्र प्रवर्ततामिति वाच्यम् । स्वस्मिन्स्वप्रतियोगिनि च वृत्त्यभावादित्यभिसंधिराह—अन्य-
तमशब्देनेति । अथानियमेन कदाचित्कश्चित्प्रवृत्तिनिमित्तं तत्राह—एकमिति । दूषणान्तरं चेदम् ।
नान्योन्याभाववत्त्वमनुगतं जातिरिति युक्तमिदम् । उपाधित्वेपि तत्र प्रमेयत्वावृत्तिप्रसङ्गः । स्ववृत्त्यभावा-
दुपाध्यन्तरस्वीकारे चाननुगतिरित्यपि द्रष्टव्यम् ।

लक्षणाद्वरं शङ्कते—व्याप्तिबलेनेति । द्विविधं हि हेतोः सामर्थ्यमेकं व्याप्तिबलेन बोधकत्वम् । यथा
हि यद्भूमवत्तदग्निमदिति सामान्येनाग्निमत्त्वप्रतीतिजनकत्वं तत्कस्य हेतोः । विशेषाणां व्यभिचारित्वेनान-
ग्न्येन च व्याप्तेरशक्यग्रहत्वात् । अपरं तु तामेव प्रतीतिं पर्वताग्निमत्त्वलक्षणविशेषे पर्यवसाययितुमनुगुणं
निर्विशेषं न सामान्यमिति न्यायात् तच्चेह पक्षधर्मत्वं विवक्षितमित्यर्थः । दूषयति—मैवमिति । किं पक्ष-
धर्मतया सामान्यविषयिण्येव प्रतीतिः पञ्चाद्विशेषविषयिण्यपि क्रियत उत विशेषविषयिण्येव प्रतीतिरुत्पाद्यत
इति विकल्पाद्ये दूषणमाह—प्रतीतेरिति । शब्दबुद्धिकर्मणा विरम्यव्यापाराभावाज्जातस्य पुनर्जन्माभा-
वाच्चेति भावः । यदि विशेषविषयं बुद्ध्यन्तरमुत्पाद्यते तर्हि प्रमाणान्तरमेव । तद्व्यापकसामान्यप्रतीत्यनुपपत्तेः,

तिरनन्तरं जायत इति । नाद्यः । प्रतीतेर्विरम्यव्यापारापत्तेः । न द्वितीयः । प्रमाणा-
न्तरप्रसङ्गात् । किंच पक्षधर्मता चेद्विशेषप्रत्यायिका केवलव्यतिरेकी तर्हि निरवकाशः
स्यात् । शब्दः क्वचिदाश्रितो गुणत्वादित्यादिसामान्यतो दृष्टानुमानेषु हेतोः पक्षधर्मता-
बलादेवाष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितत्वस्यापि सिद्धेः । बाधकान्तराधीनमेव तदितराष्टद्रव्या-
श्रितत्वनिरसनमित्युभयवादिसंप्रतिपन्नतया तदितराश्रितत्वनिरासेपि केवलव्यतिरेकिणो
निरवकाशत्वात् ।

तदेवं न व्याप्तिर्नापि पक्षधर्मता शक्यनिरूपणेति व्याप्तिपक्षधर्मतावल्लिङ्गं तत्परामर्शो-
नुमानमिति लक्षणं न सिद्ध्यतीति सिद्धम् । शाब्दव्युत्पत्तिश्च न स्मृतिकरणिका प्रमि-
तिरनुमितिस्तत्करणमनुमानमित्यपि न लक्षणम् । व्युत्पन्नस्यानुमितौ तत्करणे चाव्याप्तेः ।
तादृशप्रमितिवृत्तिप्रमात्वावान्तरजात्यधिकरणज्ञानमनुमितिस्तत्करणमनुमानमिति चेन्न ।
प्रमात्वजातेः पुरस्तादेव निरस्तत्वात् ।

एतेन 'अनुमेयेन संबद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते । तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमा-

प्रतीतिव्यापकसामान्यानुपपत्तेर्वार्थापत्तित्वादित्यनुमितिव्यतिरिक्त्याह—न द्वितीय इति । पक्षधर्मताया
विशेषप्रत्यायकत्वे बाधकान्तरमाह—किंचेति । यत्र हि सामान्यतो दृष्टेन सामान्यतः साध्यसिद्धौ केवल-
व्यतिरेकिणा विशेषसमर्पणम् । यथा तावच्छब्द क्वचिदाश्रितो गुणत्वादिति क्वचिदाश्रितत्वे सिद्धे केवल-
व्यतिरेकिणाष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितत्वं साध्यते तत्र स्यात् । सामान्यतो दृष्टहेतोः पक्षधर्मताबलादेव विशेष-
स्यापि सिद्धेरित्यर्थः । ननु यद्यप्यष्टद्रव्यव्यतिरिक्तद्रव्याश्रितत्वमपि सामान्यतोऽनुमानेनैव सिद्ध्यति तथापि
नानर्थकत्वं केवलव्यतिरेकिण, आकाशव्यतिरिक्ताष्टद्रव्याश्रितत्वनिरसनार्थत्वात्तस्येति तत्राह—बाधका-
न्तरेति । न तत्रापि केवलव्यतिरेकिण कश्चिदुपयोगः । श्रोत्रं विशेषगुणग्राहकमिन्द्रियत्वाच्चक्षुरादिवदिति
विशेषगुणत्वे सिद्धे शब्दो न दिक्कालमनोगुण प्रत्यक्षत्वाद्विशेषगुणत्वाच्च रूपादिवत्, नापि स्पर्शवद्विशेषगुणः
प्रत्यक्षत्वे सत्यकारणगुणपूर्वकत्वात् । अथावद्व्यभिचावित्वादाश्रयादन्यत्रोपलब्धेः । नचात्मगुणः । बाह्येन्द्रि-
यवेद्यत्वादित्यादिबाधकान्तरनिबन्धनत्वात्तस्येत्यर्थः । पक्षधर्मताखण्डनेन महाविद्याजीवनमपि खण्डितं वेदि-
तव्यम् । केवलान्वयिनि व्यापके प्रवर्तमानो हेतुः पक्षे व्यापकप्रतीत्यपर्यवसानबलादन्वयव्यतिरेकि साध्यवि-
शेषं बाधभिमत्तं साधयन्ति महाविद्येत्युच्यते । तथा च व्यापकप्रतीत्यपर्यवसानानिरुक्तौ तासामप्यनिरुक्तेः
दग्धसार चेद वादीन्द्रदावानलेन महाविद्याविपिनमिति नास्माभिस्तद्गन्तव्यं भावाय सरभ्यते । तथा 'पक्षधर्म-
त्वसामर्थ्यात्सर्वज्ञेश्वरसाधकम् । ईश्वरानुमितिना च ज्वरभारातुर वपुः' ॥

व्याप्तिपक्षधर्मताखण्डनस्य प्रकृतोपयोगं दर्शयितुमुपसहरति—तदेवमिति । तर्करीत्यानुमानलक्षणान्तरं
शङ्कते—शाब्देति । अनुमितिकरणमनुमानं का पुनरनुमितिरेत्यतस्तल्लक्षणमाह—शाब्दव्युत्पत्तीति ।
प्रत्यक्षव्यवच्छेदाय स्मृतिकरणिकेत्युक्तम् । शाब्दप्रमितेरपि पदार्थस्मृतिकरणत्वमस्तीति तद्व्यवच्छेदाय शाब्द-
व्युत्पत्तिश्च न्येत्युक्तम् । उभयोरप्यव्याप्तिमाह—व्युत्पन्नस्येति । शाब्दव्युत्पत्तिमत इत्यर्थः । व्युत्पन्नग-
तयोरपि सप्रहार्थं विशेषं शङ्कते—तादृशेति । पूर्वोक्तप्रमितिर्वार्तिनी प्रमात्वावान्तरजातिरनुमितित्वं तद्यो-
गिज्ञानमनुमितिरेति चेदं व्युत्पन्नानुमितावपीत्यर्थः । अत्र च प्रत्यक्षभ्रमसंगयव्यवच्छेदाय प्रमात्वावान्तर-
जातिप्रहणं प्रत्यक्षागमादिव्यवच्छेदाय तादृशप्रमितीत्युक्तं प्रमात्वजातेरित्युपलक्षणमनुमितिव्यतिरिक्त्यापीति ।

तर्ह्यनुमितित्वं तावन्न जातिः अयमभिमान्यते इति ज्ञाने अयमंगे प्रत्यक्षत्वेन सङ्करप्रसङ्गात् । नाप्यु-
पाधि उद्भावितापार्थीना निरसनमिति, वर्णितानुमानलक्षणखण्डनं प्रशस्तपाददिद्वागश्वरस्वामिसमतलक्षणे-
ष्वतिदिशति—एतेनेत्यादिना । अनुमेयेन पक्षे सर्वस्मिन्संबद्धं पक्षधर्मतावदित्यर्थः । तदन्विते अनुमे-

पक्षम् ॥' 'अनुमानं त्रिरूपाल्लिङ्गतोऽर्थदृक्' 'ज्ञातसबन्धस्यैकदेशदर्शनादेकदेशान्तरे बुद्धि'रित्येवमादीनि वैशेषिकवैभाषिकजैमिनीयलक्षणान्यपि प्रत्युक्तानि । पक्षधर्मत्वसपक्ष-सत्त्वव्याप्यव्यापकसंबन्धानां पुरैव निरस्तत्वात् । तदेवं नानुमानलक्षणमपि निर्वोदुं शक्य-मिति सिद्धम् ।

एतेन परार्थानुमानमपि प्रत्युक्तम् । स्वार्थानुमानमुपजीव्य तत्प्रवृत्तेः । तथाहि । प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनरूपपञ्चावयवात्मकं तत्, तत्र तावत्पक्षवचनं प्रतिज्ञा इत्य-लक्षणम् । 'पूर्वोदितेन न्यायेन पक्षस्यैवानिरूपणे । कथं तद्वचनं वाच्यं प्रतिज्ञेति विप-श्चिता ॥' २७ ॥ किं पक्षप्रतिपादकं वचनमात्रं प्रतिज्ञा प्रतिपिपादयिषया वा तद्वचन-मुत हेत्वाकाङ्क्षाजनकं किं वा साध्यधर्मविशिष्टधर्मिप्रतिपादकं तदेव हेत्वाकाङ्क्षाजनकत्व-विशिष्टं निगमनान्यत्वविशिष्टं वा । नाद्यः । अयं पक्ष इत्यादेरपि वचनस्य प्रतिज्ञात्व-प्रसङ्गात्, पक्षलक्षणवचनस्यापि तत्त्वप्रसक्तेश्च । अत एव न द्वितीयः । प्रतिपादनेच्छया पक्षवचनत्वस्य तत्रापि भावात् । न तृतीयः । कस्मादयं पक्ष इत्यादेरपि तत्त्वप्रसङ्गात् । नापि चतुर्थः । निगमनस्यापि तद्भावप्रसङ्गात् । नापि पञ्चमः । कस्मादयं साध्यधर्मवा-

यधर्मवति पदार्थान्तरे सर्वस्मिन्नेकदेशे वा प्रसिद्धम् । सपक्षे सदिति यावत् । चकारस्तु पक्षधर्मत्वेनेदं रूपं समुच्चिनोति । तथा तदभावे साध्याभाववति नास्त्येव । सर्वथा व्यावृत्तं विपक्षाद्यावृत्तमित्यर्थः । अत्रापि च* पक्षधर्मतयैतत्समुच्चिनोति नतु सपक्षे सत्त्वेन, केवलव्यतिरेक्यभावापातात् । एवं पूर्वोपि । केवलान्व-यिलाभात् । एवंविधं यल्लिङ्गं तदनुमापकमिति काश्यपः कणादोऽब्रवीदित्युत्तरश्लोकस्थेनान्वयः । 'विपरीत-मतो यत्स्यादेकेन वा द्वयेन वा । विरुद्धासिद्धसंदिग्धमल्लिङ्गं काश्यपोब्रवी'दिति ह्युत्तरश्लोकः । तथा त्रिरूपात्प-क्षधर्मतादिरूपत्रयवत् । समासस्तु बहुव्रीहिः । 'यदर्थदृग्दर्शनं तदनुमान'मिति वैभाषिकाणां सूत्रकृतो दिङ्मागस्य सूत्रम् । तथा ज्ञातसबन्धस्य ज्ञाताविनाभावस्य पुंस एकदेशदर्शनाद्भूमविशिष्टाशदर्शनादेकदेशा-न्तरे अभिविशिष्टाशे बुद्धिरनुमानमेकस्यैव खलु पर्वतस्यैकदेशदर्शनेनैकदेशोऽनुमीयते । तथानाहुर्वार्तिककृतः 'स एव चोभयात्मायं गम्यो गमक एव च । असिद्धेनैकदेशेन गम्यः सिद्धेन बोधक' इति । यद्यपि 'प्रमाता ज्ञातसंबन्ध एकदेश्यत्वोच्यते । कर्मधारयपक्षे वा सबन्धिन्येकदेशता ॥ द्वयं वा ज्ञातसबन्धमुपलब्धं पर-स्परम् । तस्यैकदेशशब्दान्यामुच्येते समुदायिना'विति वार्तिककारैर्बहुविधं भाष्यं योजितम् । तथापि वि-स्तरभयादेकैव रीतिरत्र प्रदर्शिता । एतेनेत्यतिदिष्टाशं विशदयति—**पक्षेति** । अत्रहि त्रैरूप्यमुखेनाद्ये लक्षणे प्रवृत्ते तृतीयमपि व्याप्तिपुरस्कारेण ज्ञातसंबन्ध इत्यत्र व्याप्तेर्विवक्षितत्वात् । तच्च रूपं व्याप्तिश्चेति द्वयं पुर-स्ताद्येव खण्डितम् । पक्षधर्मत्वखण्डनन्यायेन सपक्षविपक्षयोस्तत्र सदसत्त्वयोश्च खण्डितप्रायत्वादिति भावः ।

यद्यप्यनुमानमात्रखण्डनेन परार्थानुमानमपि खण्डितमेव तथाप्यधिकदूषणविवक्षया अखण्डितवदतिदि-शति—**एतेनेति** । स्वार्थानुमानोपजीवनं दर्शयितुं परार्थानुमानं दर्शयति—**तथाहीति** । परोपदेशापेक्ष-मनुमानं तदित्यर्थः । तत्रोपजीवनदर्शनपूर्वकं दूषणमतिदिशन्प्रतिज्ञा खण्डयति श्लोकेन—**पूर्वेति** । तद्वचनं पक्षवचनम् प्रतिज्ञेति विपश्चिता कथं वाच्यं नकथमपीत्यर्थः । इदानीमधिकदूषणं दर्शयितुं प्रतिज्ञालक्षणाणि विकल्पयति—**किं पक्षेत्यादिना** । निगमनव्यवच्छेदाय द्वितीयतृतीययोर्विशेषणद्वयम् । अयं पक्ष इत्या-देरपीति । इदमपि वचनं पक्षप्रतिपादकमित्यर्थः । पक्षस्य यल्लक्षणवचनं तस्मिन्नप्यतिव्याप्तिरित्याह—**पक्षलक्षणेति** । अत एवेत्यस्यैव विवरणम् । **प्रतिपादनेति** । **कस्मादिति** । तदपि हेत्वाकाङ्क्षाजनकमि-त्यर्थः । **निगमनस्यापीति** । तत्रापि तस्मादयमभिमानिति साध्यविशिष्टधर्मिप्रतिपादनमस्तीत्यर्थः । ननु

निति वचनस्यापि तथात्वापातात् । अप्रश्नरूपं तथाभूतवचनं विवक्षितमिति चेत् । न । आक्षेपवचनस्यापि प्रश्नं मन्वानं प्रति तद्रूपत्वान्, लक्षणवचनेपि व्यभिचाराच्च । नापि षष्ठः । परस्पराश्रयप्रसङ्गात् । उपनयानन्तरं प्रतिज्ञावचनं निगमनं सहेतुकं प्रतिज्ञावचनमिति वा लक्षणम् । तथाच प्रतिज्ञासिद्धौ निगमनसिद्धिस्तत्सिद्धौ च तदन्यत्वविशेषितप्रतिज्ञासिद्धिरिति कथं न परस्पराश्रयस्तस्मान्न प्रतिज्ञालक्षणनिरुक्तिः । नापि हेतोः । तथाहि । किं लिङ्गवचनं हेतुरुत तृतीयापञ्चम्योरन्यतरविभक्तयन्तं साधनत्वख्यापकं लिङ्गवचनं वा । नाद्यः । अस्ति लिङ्गमयं धूम इत्यादेरपि वचनस्य हेतुत्वप्रसङ्गात् । नापि द्वितीयः । अन्यतरशब्देनैकस्य द्वयोर्वाभिधाने तल्लक्षणस्याव्याप्तेः । न तृतीयः । साधनशब्देन हेतुविवक्षायामात्माश्रयात् । तृतीयापञ्चम्योरन्यतरान्तार्थाभिधाने पूर्वोक्तदोषापत्तेः, लिङ्गविवक्षायां त्वेतल्लिङ्गमस्ति वास्य लिङ्गमित्यादेरपि वचनस्य तथात्वापातात् । नाप्युदाहरणलक्षणं दृष्टान्तानिरुक्तौ तद्वचनमुदाहरणमिति वक्तुमयुक्तत्वात् । तथाहि । किं लौकिकपरीक्षाणां यत्र बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः । किं वा निश्चितसाध्यसाधनवान् । नाद्यः । स्वर्गापूर्वदेवतादीनां लौकिकासंमतानामपि दृष्टान्तत्वात् । नापि द्वितीयः । निश्चितसाध्यसाधनाभाववतो वैधर्म्यदृष्टान्तत्वाभावप्रसङ्गात् । साध्यसाधनशब्दाभ्यां तदभावयोरपि संग्रहाद्दोष इति चेन्न । निश्चितत्वानिरुक्तेः । तथाहि । किं वादिनो निश्चय एत प्रतिवादिनः किं वा सर्वेषाम् । नाद्यः । साध्यधर्मिणोपि दृष्टान्तत्वप्रसङ्गात्, वादिनस्तत्र निश्चयसद्भावात् । न द्वितीयः । विकल्पासहत्वात् । किं निश्चयमात्रं किं वा-

यद्यपि कस्मादयं साध्यवानिति वचनस्य हेत्वाकाङ्क्षाजनकत्वे सति साध्यविशिष्टधर्मप्रतिपादकत्वमस्ति तथापि प्रश्नरूपमिदमप्रश्नरूपमप्यपेक्षितं लक्षणेऽतो नास्त्यतिव्याप्तिरिति शङ्कते—अप्रश्नरूपमिति । तथाप्याक्षेपवचनेतिव्याप्तिरित्याह—आक्षेपेति । ननु तस्य कथं हेत्वाकाङ्क्षाजनकत्वमिति तत्राह—प्रश्नं मन्वानं प्रतीति । नचाभ्रान्तं प्रतीति विशेषणीयम् । भ्रान्तं प्रवि प्रयुज्यमानप्रतिज्ञायामव्याप्ते । लक्षणवचन इति । तत्रापि हेत्वाकाङ्क्षास्ति लक्षणवचनमात्रादर्थसिद्धेरित्यर्थः । निगमनान्यत्वविशिष्टमिति पक्षं दूषयति—नापि षष्ठ इति । परस्पराश्रयमेवाह—उपनयानन्तरमिति । द्वितीयमप्यवयवं खण्डयति—नापि हेतोरिति । लिङ्गवचनं हेतुरिति लक्षणवचनस्य लिङ्गमस्तीत्यादिवचनेतिव्याप्तिमुक्त्वा द्वितीये दूषणमाह—अन्यतरशब्देनेति । साधनत्वख्यापकं लिङ्गवचनमिति भासर्वज्ञाभिमततृतीयलक्षणे साधनशब्देन हेतुविवक्ष्यते तृतीयापञ्चम्योरन्यतरान्तार्थत्वं वा लिङ्गत्वं वा । आद्ये दूषणमाह—साधनेति । द्वितीये प्राह—तृतीयेति । तृतीये प्राह—लिङ्गेति । तृतीयमप्यवयवं खण्डयति—नाप्युदाहरणं लक्षणमिति । तत्र सम्यग्दृष्टान्ताभिधानमुदाहरणमिति भूषणप्रभृतयो बभाषिरे तत्र दृष्टान्तानिरुक्तौ तद्वचनमपि दुरुक्तीति दृष्टान्तलक्षणं विकल्प्य दूषयति—किं लौकिकेत्यादिना । निश्चितेति । निश्चिते साध्यसाधने यस्मिन्स दृष्टान्त इत्यर्थः । ननु साध्यसाधनशब्देन व्याप्यव्यापकावभिप्रेतौ, तथाच भाववदभावावपि व्याप्यव्यापकभूताविति वैधर्म्यदृष्टान्तोपि सगृहीत इति शङ्कते—साध्येति । शक्यमत्र विवक्षितुं भावविवक्षाया वैधर्म्योदाहरणाव्याप्तिः अभावविवक्षाया साधर्म्योदाहरणाव्याप्तिरुभयविवक्षायासुभयाव्याप्तिरिति, तथाप्यतिस्फुटमिदमिति दूषणान्तरमाह—निश्चितत्वेति । वाद्यपेक्षया निश्चितसाध्यसाधनत्वं न दृष्टान्तः पक्षस्यापि दृष्टान्तत्वप्रसङ्गात् । ‘निश्चितौ हि वार्दं कुरुत’ इति न्यायेन वादिनस्तत्रापि निश्चितसाध्यवत्त्वादित्याह—नाद्यः । साध्यधर्मिणोऽपीति । प्रतिवाद्यपेक्षया निश्चितसाध्यवत्त्वमिति द्वितीयपक्षे किं यदाक-

नुमितिकालविशेषितो निश्चयः । आद्ये कालान्तरे निश्चितसाध्यसाधनवतोपि कालान्तरे-
ऽन्यथाभूतस्य दृष्टान्तत्वप्रसङ्गात् । न द्वितीयः । कालस्य निश्चितसाध्यसाधनवतोपि
दृष्टान्तत्वाभावप्रसङ्गात्काले कालविशेषितनिश्चयस्याभावात् । नापि तृतीयः । सर्वनिर्ण-
यस्यासर्वज्ञेन निश्चेतुमशक्यत्वात् ।

यो यदा निश्चितसाध्यसाधनवान्स तदा दृष्टान्त इत्युक्तम् । यदा तदेति कालाभि-
धाने काले तदभावाद्यत्तच्छब्देन चानुगतरूपस्य तद्वतो वाभिधाने तयोरेव प्रत्येकमदृष्टा-
न्तत्वापातात् । एवं दृष्टान्तानिरुक्तौ तत्प्रतिपादकं वचनमुदाहरणमित्युक्तम् । नाप्युप-
नयलक्षणम् । तथाहि । किं दृष्टान्तानन्तरं हेतुवचनमुपनयः किंवा दृष्टान्ते प्रसिद्धाविना-
भावस्य साधनस्य दृष्टान्तोपमानेन पक्षे व्याप्तिख्यापकं वचनं व्याप्तस्य पक्षधर्मताप्रतिपा-
दकं वा । नाद्यः । दृष्टान्तवचनानन्तरं धूमवत्त्वादित्यपि वचनस्योपनयत्वप्रसङ्गात् । नापि
द्वितीयः । दृष्टान्तवैधर्म्येण न तथाचायमधूमवानित्यादिवचनस्यानुपनयत्वप्रसङ्गात् । उपमा-
नशब्देन च साधर्म्यवैधर्म्ययोरुभयोर्विवक्षितत्वेऽन्यतरवचनस्यानुपनयत्वप्रसङ्गः । दृष्टा-
न्ताविनाभावलक्षणयोः पुरस्तान्निरस्तत्वाच्च । नापि तृतीयः । व्याप्तो धूमः पक्षेस्तीति वच-
नस्यापि तथात्वप्रसङ्गात्, व्याप्तिपक्षधर्मतयोश्च पुरैव निरासात् । नापि निगमनलक्षणम् ।
तत्किमुपनयानन्तरं प्रतिज्ञावचनमुत सहेतुकं प्रतिज्ञावचनम् । नाद्यः । उपनयानन्तरम-
ग्निमान्पर्वत इत्येतावद्वचनस्यापि निगमनत्वप्रसङ्गात् । नापि द्वितीयः । व्युत्क्रमोदितस्यापि
तथात्वापातात्, प्रतिज्ञाहेत्वोश्च पुरैव निरासात् ।

दाचिन्निश्चितसाध्यवत्त्वमुत कालविशेषकथासमयादाविति विकल्प्य प्रथमं दूषयति—कालान्तर इति ।
तथासति कथाप्रवृत्तिसमये विप्रतिपन्नसाध्यस्यापि दृष्टान्तता स्यात् यदाकदाचिदत्रापि निश्चयसंभवादित्यर्थः ।
द्वितीये तु कालस्य दृष्टान्तत्वं न स्यात् । नहि कालः कालविशेषे निश्चितसाध्यः कालस्य कालान्तराभावा-
दित्याह—न द्वितीय इति ।

सर्वनिश्चयपक्षमसंभवेन दूषयित्वा पक्षान्तरं शङ्कते—यो यदेति । यो यदेत्यादिलक्षणे यदातदेत्यंशं
दूषयित्वा यः स इत्यंशं दूषयति—यत्तच्छब्देनेति । अत्र किं यत्तच्छब्देन प्रत्येकं व्यावृत्ता साध्यसाध-
नवन्तोऽभिधीयन्ते किंवा कौचिदनुगतौ धर्मौ तयोश्च दृष्टान्तत्वमिति विवक्ष्यत उत रूपवतः कस्यचित् ।
अत्रोऽनुगतलक्षणाभावः । द्वितीये रूपिणस्तृतीये रूपयोर्दृष्टान्तत्वं न स्यादित्यर्थः । दृष्टान्तखण्डनस्योदाहरण-
खण्डनशेषतामाह—एवमिति । चतुर्थमवयवं खण्डयति—नापीति । दृष्टान्तोपमानेनेति । तथा-
चायमिति महानसाद्युपमानेनेत्यर्थः । नापि द्वितीय इति । द्विविधो ह्युपनयः साधर्म्यवैधर्म्यभेदा-
त्तथा चायं धूमवानिति साधर्म्योपनयः न तथायमधूमवानिति वैधर्म्योपनयः । तत्र वैधर्म्योपनये दृष्टान्तो-
पमानं नास्तीत्यव्याप्तिरित्यर्थः । अथोपमानशब्देन वैधर्म्यमपि विवक्षितं तदैकैकाव्याप्तिरित्याह—उपमान-
शब्देनेति । दूषणान्तरमाह—दृष्टान्तेति । व्याप्तो धूम इति व्याप्तस्य पक्षधर्मता तदपि वचनं प्रतिपा-
दयेदित्यर्थः । दूषणान्तरमाह—व्याप्तीति । पञ्चमावयवं खण्डयति—नापीत्यादिना । अग्निमान्पर्वत
इत्येतावदिति । तस्मादित्येतदशविधुरतयेत्यर्थः । व्युत्क्रमेति । यदा हि उपनयानन्तरमग्निमानयं
तस्मादिति व्युत्क्रमेणोच्यते तत्रापि प्रसक्तिः । नच तदपि निगमनमेव विपर्यस्तवचनतया अप्राप्तकालत्वप्रस-
ङ्गादित्यर्थः । दूषणान्तरमाह—प्रतिज्ञेति ।

किंच 'अनुमानाङ्गयोः सिद्धेर्याप्तिपक्षगतत्वयोः । उदाहृतेरुपनयात्पञ्चावयवता मुधा' ॥ २८ ॥ पञ्चावयववाक्यमपि न प्रयोजनवदवश्यमिति पश्यामः । साधनानुपयुक्तवचनस्याधिकनिग्रहत्वात् । तथाहि । वादिप्रतिवादिनोः पक्षप्रतिपक्षसमयबन्धस्वीकारसमनन्तरं प्रतिवादिनः किमत्र प्रमाणमिति प्रमाण एव जिज्ञासा यावदङ्गविशिष्टं च प्रमाणं तावदेव वक्तव्यम् अङ्गं च द्वयमेव व्याप्तिः पक्षधर्मता चेति तच्चोभयमुदाहरणोपनयाभ्यामेवाभिहितमिति किमपरमवशिष्यते यदर्थमुपाददीत । ननु पक्षधर्मत्वं सपक्षसत्त्वम् विपक्षाद्यावृत्तिरवाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं चेति पञ्चरूपाणि हेतोरवश्यं वक्तव्यानि अन्यथाऽसिद्धविरुद्धानैकान्तिकानध्यवसितकालात्ययापदिष्टप्रकरणसमानामनिरासे हेतोरसाधकत्वप्रसङ्गात् । तत्र यद्यपि व्याप्तिपक्षधर्मताप्रदर्शनेन रूपत्रयोपपादनादसिद्धविरुद्धानैकान्तिकानि परिहृतानि तथापि बाधितविषयत्वसत्प्रतिपक्षत्वयोरविशिष्टयोरनिरासे कालात्ययापदिष्टप्रकरणसमयोर्हेत्वाभासयोः परिहाराय निगमनमपेक्षणीयमेव स च तस्मा-

तदेवं दण्डकसूत्रस्थावयवानां लक्षणानि खण्डितानि, इदानीं यत्तेषां पञ्चत्वं तैराद्रियते स एव परमो न्यायो यद्विप्रतिपक्षं प्रति पञ्चावयवं वाक्यमिति वदद्भिः सोप्ययुक्तं प्रमाणाभावात्तत्प्रयोजनस्य च द्वाभ्यामेव शक्यसंपादनत्वादित्याह—**किं चेत्यादिना ।** व्याप्तिपक्षधर्मत्वयोरनुमानाङ्गयोरुदाहृतेरुदाहरणात्, उपनयाच्च सिद्धे । पञ्चावयवता, त्रित्वस्यापीदमुपलक्षणम् । मुधा वृथेति श्लोकयोजना । एतदेव विवृणोति—**पञ्चेति ।** न केवलमनुपयोग निग्रहस्थानं च स्यात् । हेतूदाहरणाभ्यामधिकमधिकमिति हि सूत्रम् । हेतूदाहरणग्रहणस्य चोपलक्षणत्वादुपयुक्तापुनरुक्तकृतकार्याभिधानमिति सूत्रार्थं सपद्यत इतरथा निग्रहान्तरसंकरप्रसङ्गात् । तदिह द्वाभ्यां सिद्धस्यैवान्येभ्योपि साधनेधिकं प्रसज्यत इत्याह—**अधिकनिग्रहत्वादिति ।** एतदेवाकाङ्क्षाकमेणोपयुक्ताङ्गजातं विवेचयन्विशदयति—**तथाहीत्यादिना ।** समयबन्धो नाम अपशब्दो वर्जनीयः एतावन्ति च निग्रहस्थानानि उद्भावनीयानीत्यादिरूप । एतेनेत्यप्यपास्तम् । यदाह लीलावतीकारः—'अत्यन्तं बुभुत्सितसाध्यप्रतिपादोपयोगित्वादित्यादिभङ्गीसहस्रेणापि साधनानुपयुक्तवचनस्याधिकनिग्रहताया दुम्परिहरत्वा'दिति । यच्च न्यायवाचस्पतायुक्तं 'मनित्यं शब्दं बुभुत्समानाये'त्यादि तदप्येतेनैव परिहृतम् । पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहवलेनैव प्रतिज्ञार्थस्य बुभुत्सितस्य लब्धत्वादिति । अविकोपयोग निगमनस्य दर्शयति पूर्ववादी—**नन्वित्यादिना ।** पक्षे व्याप्यवर्तनं पक्षधर्मत्वं सप्रतिपक्षसाध्यस्थलं सपक्षस्तत्र सर्वस्मिन्नेकदेशे वा हेतोर्वृत्ति सपक्षे सत्त्वम् । साध्यात्यन्ताभाववान्विपक्षे तत सर्वस्माद्यावर्तनं विपक्षाद्यावृत्तिस्तथा बाधितविषयत्वं विषयशब्देन हेतुर्विषयः साध्यमभिधीयते तस्मिन्मानान्तरेणाबाधिते प्रवर्तमानत्वं तथा सन्विद्यमानः प्रतिपक्षो यस्यासौ सत्प्रतिपक्षस्तद्वहितत्वमसत्प्रतिपक्षत्वमित्येतानि पञ्चरूपाणि हेतौ वक्तव्यानीत्यर्थः । किमियं राजाज्ञा नेत्याह—**अन्यथेति ।** तथाहि । पक्षधर्मत्वाभावेऽनिश्चितपक्षवृत्तिरूपासिद्धिप्रसक्तिः, सपक्षे सत्त्वाभावे पक्षविपक्षयोरेव वर्तमानत्वरूपविरुद्धत्वप्रसक्तिः, विपक्षाद्यावृत्त्यभावे पक्षत्रयवृत्तित्वलक्षणसाधारणनैकान्तिकता स्यात्, एवमितरयोरप्यभावे प्रकरणसमतातीतकालत्वयोः प्रसक्तिरित्यर्थः । ननुदाहरणोपनयाभ्यां व्याप्तिपक्षधर्मत्वयोरुपपादनादपि भवत्येवासिद्ध्यादीनां निरासः व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वाभ्यामप्रतीतस्यैवासिद्ध्यादिमत्त्वाद्याप्तिनिर्णयेन च विरुद्धत्वादीनां निरासादिति तत्राह—**तत्र यद्यपीति ।** तत्रोभयविधोदाहरणेनोभयविधव्याप्तेर्दर्शनाद्वितीयतृतीयरूपयोः सिद्धिरुपनयनेन च पक्षधर्मतासिद्धिरिति विभागः । अनैकान्तिकग्रहणमनध्यवसितस्याप्युपलक्षणम् । तस्याप्यव्यभिचारविरहपत्वात्सपक्षवृत्तिविपक्षव्यावृत्तिनिर्णये च तस्याप्यभावादिति । ननु निगमनवचनादपि कथं तयोर्निरासस्तत्राह—**सचेति ।** तस्मादग्निमाने-

दयमग्निमानेव न पुनस्तस्मादन्यस्माद्वानग्निमानपीति निगमनेनावद्योयत इति चेन्मैवम् । पूर्वमेव हि सिद्धत्वादसंभवित्वाच्च । तथाहि । साधनसद्भावे साध्यसद्भावनियमलक्षणान्वयव्याप्तेः साध्याभावे साधनाभावलक्षणव्यतिरेकव्याप्तेश्चोदाहरणेनैव प्रदर्शितत्वेन कालात्ययापदिष्टस्यानैकान्तिकेन्तर्भूतस्य कृत एव परिहारः । बाधिते पक्षे वर्तमानो हेतुर्हि कालात्ययापदिष्टः बाधश्च पक्षनिष्ठसाध्याभावनिश्चय एवेति निश्चितसाध्याभाववद्भूतिः कथमनैकान्तिको न स्यात् ।

ननु साध्याभावनिश्चयो बाधः स च पृथग्दूषणम्, अनैकान्तात्, निश्चिते साध्याभावे तद्वति वर्तमानोनैकान्तिकः, ततश्च पुरःस्फूर्तिकबाधेनैवोपहतो हेतुः कथमनैकान्तिकेन पुनरुपहन्येत, नहि मृतो मार्यत इति चेत् । हन्तैवं बाधवदेव विपक्षग्राहकप्रमाणमपि पृथक् दूषणं स्यात् । प्रमिते विपक्षे तदुपजीविनस्तद्वृत्तेरनैकान्तिकत्वाङ्गीकारात् । व्याप्तिपक्षधर्म-

वेति हि निगमनरूपं तत्र सिद्धे सत्यारम्भो निर्णयार्थ इति न्यायेन तस्मादेवाग्निमानान्यत्वादिति सिद्धसाधनताव्युदासस्तस्मादयमग्निमानेवेति न पुनरन्यस्मादनग्निमानपीति द्विविधोपि सत्प्रतिपक्षो निरस्तः । द्विविधो हि सत्प्रतिपक्षः स्वात्मना परात्मनाचेति । आद्यो यथाऽनित्य शब्दः पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वात् एव नित्यः शब्द इत्यत्रापि । द्वितीयस्तु नित्यं मनो निरवयवद्रव्यत्वादाकाशवत् अनित्यं मनो मूर्तत्वाद्धटवदितीदमेव विरुद्धाव्यभिचारीत्यभिधीयते । तथाग्निमानेवेत्यनग्निमत्त्वनिषेधाद्वाधोपि विध्वस्त इत्यवश्यमपेक्षणीयं निगमनमित्यर्थः । एवं समर्थितं निगमनोपयोगं दूषयति—**मैवमिति** । अन्यतः सिद्धिं विवृणोति—**तथाहीत्यादिना** । ननु यदि कालात्ययापदिष्टस्यानैकान्तिकेन्तर्भावः स्यात्तदा तन्निरसने निरासः स एव तु कथमिति तत्राह—**बाधित इति** । सद्भुतेनिरासाय बाधितग्रहणम् । ततः किमिति तत्राह—**बाधश्चेति** । पक्षत्रयवृत्तिर्ह्यनैकान्तिकः यथा नित्यः शब्दः प्रमेयत्वादिति । तदिहाग्निरनुष्णः पदार्थत्वादित्यत्र प्रत्यक्षसिद्धोष्णमतया विपक्षतामापन्नेऽग्नौ पक्षे सपक्षे च घटादिषु वर्तमानः कथमनैकान्तिकानन्तर्भूतः स्यात्कथंतरां तन्निवर्तकोदाहरणेन न निवृत्तिः कथंतामा च तन्निवर्तकतया निगमनस्य सार्थक्यमिति भावः ।

बाधस्यानैकान्तिकाद्बहिर्भावमाह पूर्ववादी—**नन्विति** । बाधिते पक्षे वर्तमानो हेतुः कालात्ययापदिष्टस्तथाच बाधमुपजीव्य तद्विपक्षत्वनिर्णयानन्तरमनैकान्तिकत्वप्रतीतिः । तथाचोपजीव्यमेव निग्रहस्थानम् । प्रथमोद्भाव्यत्वात् । न चरमोद्भाव्यम् । इतरथा निग्रहस्थानानां सकरापत्तेरित्यर्थः । तदेतदतिप्रसङ्गेन दूषयति—**हन्तैवमिति** । तत्साध्याभावज्ञापनं नाम विपक्षत्वज्ञापनमेव तथाच बाधोपि दूषणमिति, किमुक्तं भवति विपक्षग्राहकं प्रमाणमपि भवति दूषणमिति, तथाच प्रसिद्धानैकान्तिकस्थले विपक्षग्राहकं प्रमाणमेव किमिति निग्रहस्थानं न स्यादस्ति हि तस्यापि तेनोपजीव्यत्वमिति भावः । ननु यद्यपि बाधे विपक्षत्वज्ञानमप्यस्ति तथापि न तेनाकारेण दूषणत्वं येनातिप्रसक्तिः स्यात् किन्तु नुमित्तितस्थले तदभावबोधकतया तदेव ह्यनुमानप्रयोजनं यदनुमित्तिसार्थसिद्धिस्तथा च तमेवापहरतो नाङ्गवैकल्यान्तर्भावेन दूषणत्वमपि तु शिरश्छेदनमिव स्वतिष्ठेयेनेति तत्राह—**व्याप्तिपक्षधर्मतेति** । अयं भावः । न तावद्बाधसहस्रेणापि स्वाभावव्याप्तिकाविनाभाववति हेतौ जीवति साध्यमपहर्तुं शक्यम् । स्वभावव्याप्त्यपहारे पदार्थत्वादिति हेतोरेवापहारप्रसङ्गात् । तस्मादनेन बाधेनापि निरुपाधिकसंबन्धाभाव एव बोधनीयः । एतमर्थमभिप्रेत्याहुः—‘बाधेन चोपाधिरुनीयते अन्यथा चेति न कश्चिद्विशेषः’ इति । तथाच व्याप्त्यपहारेण दूषणत्वान्नानैकान्तिकत्वाद्भेदः न चासिद्धावन्तर्भावः । व्याप्त्यपरिहारलिङ्गत्वाभावात्तस्य व्याप्त्यपरिहाररूपो ह्यसौ येयमसिद्धिः । उक्तं च लीलावतीकारेण—‘सर्वोपसंहारप्रवृत्तबाध्याभ्यन्तरनियमस्यानुमानसहायत्वात्तद्देशप्रवृत्तेर्विपरीतपरिच्छेदस्य बाधस्य

ताप्रहारेणैव च सर्वदूषणजातस्य दूषणता अन्यथासिद्धसाधनताया अपि पृथग्दूषणत्व-
प्रसङ्गान् । साहि सिद्धस्य साध्यत्वाभावेन पक्षत्वप्रच्युत्या दूषणमुपेयते तथा बाधोपीति
अबाधितविषयत्वस्य दुर्निरूपत्वाच्च । पक्षे विषयापहारलक्षणबाधस्य प्रमितौ तदभावस्य
वस्तुमशक्यत्वात् अप्रमितौ चाप्रमितप्रतियोगितया तदभावस्यासिद्धेः । तदुक्तमभियुक्तैः
—‘बाधश्च पक्षे विषयापहारो यद्यस्ति नाबाधिततात्र सिद्धा । नोचेदसिद्धप्रतियोगिकत्वा-
देतस्य सिद्धिर्न कथंचन स्या’दिति । सत्प्रतिपक्षप्रकरणसमावप्यसंभविनावेव निरुपाधेस्त्व-
नुमानद्वयस्यैकत्रासंभवित्वान् संभवे वा वस्तुनो द्वैरूप्यापत्तेः । प्रकरणसमेपि वस्तुनो द्वैरू-
प्यापत्तिरेव । पक्षविपक्षयोर्व्याप्तिग्राहकप्रमाणसद्भावान् । अन्यतरग्राहकप्रमाणाभावे च
तत एव व्याप्तिभङ्गान् ।

किञ्च नित्यः शब्दोऽनित्यः शब्दो वा पक्षयोरन्यतरत्वात्सपक्षवदित्येवं रूपोऽसाविष्यते
तत्र चार्थभेदान्न पक्षप्रतिपक्षयोरेकरूपो हेतुः । नित्यत्वप्रतिज्ञायां नित्यस्यानित्यत्वप्रतिज्ञा-
यामनित्यस्य सपक्षशब्देनाभिधानान् । शब्दसाम्यमात्रेण च हेतौरेकरूपत्वे गोगब्दवा-

व्यभिचारत्वात्स च व्यभिचारो बहिरन्तश्चेति सव्यभिचारदेहान्तर्भूतत्वादिति । अथवा—‘प्रतिज्ञादोषमेवाहु-
केचित् प्रत्यक्षबाधन’मिति वार्तिककारमतेन प्रतिज्ञादोषतैवास्यास्तु नानैकान्तिकतेत्यागङ्ग्य तथाप्यपक्ष-
धर्मतयास्यासिद्धावेवान्तर्भाव न पृथग्दूषणतेत्याह—**व्याप्तीति** । एवमनङ्गीकारे चातिप्रसक्तिमाह—
अन्यथेति । तस्यापि पक्षत्वप्रच्यवक्तव्यसाम्यादित्याह—**सा हीति** । अतस्तस्य यथातथाविधस्याप्याश्र-
यासिद्धिलक्षणासिद्धावेवान्तर्भाव एवमस्याप्यनैकान्तिकान्तर्भाव इत्यास्तु विशेषस्तस्य पक्षमात्रापहारकत्वाद-
सिद्ध्यन्तर्भावः । अस्य व्याप्यपहारकत्वादनेकान्तिकान्तर्भाव इति । असंभवित्वाच्चेत्येतद्विद्वृणोति—**अबाधि-**
तेति । प्रतियोगिप्रमितावप्रमितौ च नेदं संभवतीत्यर्थः । एतदेव वृद्धवचनेन द्रष्टव्यति—**तदुक्तमिति** ।
असत्प्रतिपक्षत्वस्यापि दुर्निरूपता दर्शयितुं प्रतियोगिनो दुर्निरूपतामाह—**सत्प्रतिपक्षेति** । स्वात्मना
सत्प्रतिपक्ष प्रकरणसम इति विवक्षितस्तत्र हि नित्यत्वानित्यत्वग्राहकमनुमानद्वयं निरुपाधिकं सोपाधिकं वा ।
आद्ये ग्राह—**निरुपाधेरिति** । कथमिति न संभवति तत्राह—**संभवे वेति** । स्वाभाविकसंबन्धव्याप-
कापहारे हेतोः स्वाभावपरित्यागप्रसङ्गात् । तदेव मनो नित्यमनित्यं च स्यान्नचैतत्संभवति धर्म्येव भिद्येते-
त्यर्थः । प्रकरणसमे उभयत्र व्याप्तिरस्ति न वा । प्रथमे पूर्वोक्तदूषणमतिदिशति—**प्रकरणसमेपीति** ।
उत्तरस्मिन्दूषणमाह—**अन्यतरेति** । एतेन सत्प्रतिपक्षे द्वितीयविकल्पोपि निरस्तः । एतेन हेत्वाभासान्त-
रान्तर्भावोपि वेदितव्यः ।

यच्च प्रकरणसमस्य लक्षणं तैरुच्यते स्वपरपक्षनिर्द्धौ त्रिरूपो हेतुरेक प्रकरणसम इति तदप्यसिद्धमित्याह—
किंचेति । अर्थभेदमेव दर्शयति—**नित्यत्वेति** । नित्य शब्द पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वादित्यत्र हि शब्द-
नित्यान्यतरत्वादिति हेत्वर्थः । तथाऽनित्य शब्द पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वादित्यत्र शब्दानित्यान्यतरत्वादि-
त्यर्थः । तथाच नोभयत्रानुगत कश्चिदेको हेतुरस्तीत्यसिद्धिर्लक्षणस्येत्यर्थः । ननु पक्षत्वसपक्षत्वे कौचिन
धर्मौ तदधिकरणे च पक्षसपक्षौ तयोरन्यतरत्व च हेतुः, अन्यतरत्वं च तदुभयान्योन्याभावानविकरणत्वं
तथाच कथमननुगतिस्तत्राह—**शब्दसाम्यमात्रेण चेति** । अयं भावः—न तावदेवंविधौ भावाभावयो-
रन्तर्भूतौ शक्यनिरूप्यौ सकलभाववृत्तित्वेन षट्पदार्थबहिर्भावेन भावानन्तर्भावात् निःप्रतियोगिकत्वेनानि-
षेधात्मकत्वाच्चाभावानन्तर्भावात् निःप्रतियोगिकमभावमिच्छतो दत्तचरमुत्तरम् । अन्यतरत्वनिरुक्तिश्च खण्डि-
तचरी । नच तद्धर्मसिद्धावपि तस्य हेतुता । अनित्यत्वप्रतिज्ञायामाकाशादावपि तद्भावेनानैकान्त्यात् । एव-
चि. ३२

च्यत्वाद्वागादीनामपि विषाणित्वानुमा प्रसज्येत । तदेवं व्याप्तिपक्षधर्मताभ्यामेव सकल-
हेत्वाभासनिरासे नावयवान्तरकृत्यमस्तीति पश्यामस्तेन पञ्चावयववाक्यं परार्थानुमान-
मिति प्रत्युक्तम् ।

उपमानलक्षणमपि दुर्घटं, तथाहि—नगरानुभूतचरगोपिण्डस्य वनमुपेयुषः साक्षाद्-
वयमीक्षमाणस्थानेन सदृशी मदीया गौरिति प्रत्यक्षदृष्टगवयसादृश्यविशिष्टासन्निकृष्टगो-
पिण्डग्रहणमुपमानमिति मीमांसकाः । नचेदं स्मरणं पुरा गोपिण्डमात्रानुभवेऽपि प्रति-
योगिगवयाद्यनवगतत्वेन तत्सादृश्यविशिष्टतयानुभवात् । नाप्यनुमानम् । तद्व्याप्तिलङ्घना-
भावात् । नापि शाब्दम् । अन्तरेणापि शब्दव्यवहारमुपपत्तेः । मैवम् । ‘भूयोवयवसा-
मान्यं सादृश्यं यच्च गोगतम् । विज्ञातमविकल्पेन प्रत्यभिज्ञायते यतः’ ॥ ३० ॥ न
तावत्तौतान्तिकमते सादृश्यमस्ति पदार्थान्तरं किन्तु भूयोवयवसामान्ययोग एव । तदुक्तं
—‘सादृश्यस्य च वस्तुत्वं न शक्यमपवाधितुम् । भूयोवयवसामान्ययोगो जात्यन्तरस्य

मितरत्रापीति तस्मात्तद्वस्तुविशेषवाचका एवैते शब्दा इति मन्तव्यम् । तथाचात्र यद्यनुगतिः स्यात्पर
शब्दमात्रेणैव सा चातिप्रसङ्गिनी । पशुत्वेन शशादीनामपि विषाणित्वानुमानापातात्, गोत्वेन च वागादी-
नामपीति, नैरर्थक्यसमर्थनमुपसहरति—तदेवमिति । अत्र च पक्षखण्डनेन च साध्यखण्डनेन चोपाधि-
खण्डनेन च व्याप्तिखण्डनेन चासिद्धविरुद्धानैकान्तिकप्रकरणसमा. खण्डिता । बाधखण्डनेन च कालातीतः
खण्डित इति वेदितव्यम् । अवयवखण्डनस्यानुमानखण्डनोपयोगमाह—तेन पञ्चेति ।

क्रमप्राप्तमुपमानं खण्डयति—उपमानलक्षणमपीति । तत्र सदृशदर्शनादसन्निकृष्टार्थज्ञानमुपमानमिति
मीमांसकानामुपमानलक्षणं तत्सोपपादनमनुवदति—तथाहीत्यादिना । उपेयुषः प्राप्तस्येत्यर्थः । प्रत्य-
क्षदृष्टेति । प्रत्यक्षदृष्टो यो गवयस्तत्सादृश्यविशिष्टतयाऽसन्निकृष्टस्य प्रमाणान्तरेणानधिगतस्य नगरगतगो-
पिण्डस्य ग्रहणमिति योजना । अत्र च गवयगतगोसादृश्यज्ञानस्य प्रतियोगिगोपिण्डज्ञानसापेक्षत्वादुक्तमनुभू-
तचरगोपिण्डस्येति । युगपत्प्रत्यक्षावगतगोवयस्थलव्यवच्छेदायासन्निकृष्टपदम् । ननु नगर एव यदा गोपि-
ण्डोऽनुभूयते तदा गवयसादृश्यविशिष्टतयाऽनुभूत एव स गवयसादृश्यस्य गोगतस्येन्द्रियसन्निकृष्टतयाऽनुभ-
वितुं शक्यत्वादतोरप्यस्य तत्र स्मृतिरेव परमुदेति न प्रमितिरिति न तत्करणं किञ्चित्प्रमाणमतिरिक्तमस्ति
तत्राह—न चेदमिति । यद्यपि सादृश्यमस्ति गोपिण्डे तथापि प्रतियोगिज्ञानाधीनतया प्रतियोग्यनवग-
मेन पूर्वं नानुभूयते तेन न स्मृतिरित्यर्थः । अथानुमानमेवेदं किं न स्यादित्यत्राह—नाप्यनुमानमिति ।
न तावत्सा गौरनेन सदृशी अस्य तत्सदृशत्वादिति शक्यानुमानम् । तस्य व्यधिकरणत्वान्नामि गोत्वात्सप्रति-
पन्नवदित्यनुमानं गवान्तरे गवयग्रहणव्यतिरेकेण सादृश्याग्रहणादिति भावः । अन्तरेणापीति । न ह्यर-
ण्यगतदशायामस्ति कश्चिदुपदेष्टेत्यर्थः । एवं समर्थितमुपमानं दूषयति—मैवमिति । भूयोवयवानां यानि
सामान्यानि खुरत्वकर्णत्वादीनि तानि गोगवयावयवेषु वर्तमानानि गोगवययो सादृश्यं द्रव्यादिचतुष्टयतत्त्व-
वादिनो भाट्टस्य तादृशसादृश्यमाश्रयग्रहणेन योग्यतया च पूर्वमेव गवि गृहीतम्, इयांस्तु विशेषः, पूर्वमनेन
सदृशीति प्रतियोगिवैशिष्ट्यव्यतिरेकेण निर्विकल्पकमनुभूतमिदानीं तु सविकल्पतया प्रत्यभिज्ञा जायते यतो-
ऽतो न पृथक्प्रमाणमिति श्लोकयोजना । श्लोकं विवृणोति—न तावदित्यादिना । तौतान्तिका कौमा-
रिला । प्राभाकरमते हि सादृश्यं द्रव्याद्यतिरिक्तमिति तौतान्तिकग्रहणम् । पदार्थान्तरमिति । सामान्यप-
दार्थादतिरिक्तमित्यर्थः । अत्रैव वार्तिकसमतिमाह—तदुक्तमिति । गवयात्सकाशाज्जात्यन्तरस्य गोपदार्थस्य
गवयगतभूयोवयवसामान्यैर्गोः सादृश्यमतस्तस्य वस्तुत्वमपवाधितुमशक्यं भाट्टमतानुसारिभिरिति योजना ।

तदिति । तच्च बुद्ध्यनारूढेऽपि प्रतियोगिनि गोत्ववन्निर्विकल्पकेनाकलितं पुनर्गवयस्य प्रति-
योगिनो दर्शने परामृश्यते सविकल्पकेन तत्किमपरमवशिष्यते यत्रोपमानमिष्येत । ननु
निर्विकल्पकेनापि न सादृश्यमनुभूतं सविकल्पकवत्तस्यापि तदाकलने प्रतियोगिसापेक्ष-
त्वादिति चेन्न । हस्तवितस्स्यादिवत्कर्णस्फुरादिसामान्यस्य स्वरूपावधारणे प्रतियोगिनिर-
पेक्षत्वान् । अन्यथा भेदस्यापि निर्विकल्पकेनाकलनाभिनिवेशो भवतां प्रलीयेत ।

ये तु प्रतिजानते । सादृश्यं नाम पदार्थान्तरं तद्धि न द्रव्यं, गुणवृत्तित्वादत एव न
गुणोऽपि नापि कर्म नापि सामान्यादित्रयम् । तत्रापि वृत्तेः । नापि शक्तिः शक्तेरप्र-
त्यक्षत्वात्प्रत्यक्षत्वाच्च सादृश्यस्य । नापि संख्या । संख्यावृत्तित्वान्, इदमेकत्वमेकत्वा-
न्तरसदृशमिदं च द्वित्वं द्वित्वान्तरसदृशमिति तत्रापि व्यवहारान् । तच्च सविकल्पकै-
कवेद्यम् इदमनेन सदृशमिति प्रतियोगिघटितस्यैव व्यवहारनियमदर्शनादिति । मैवम् । वि-
कल्पासहत्वात् । तत्किं स्पर्शवदुत न । आद्ये द्रव्यत्वम् । द्वितीये एकवृत्तित्वे गुणकर्म-
विशेषाणामन्यतमत्वम् । अनेकवृत्तित्वे तु सामान्यसमवाययोरन्यतरत्वापत्तिः । एतेन
पदार्थान्तरत्वं संख्याया अपि प्रत्याख्येयम् ।

तत किमिति तत्राह—तच्चेति । तदुक्तं तत्त्वकौमुदीकारेण—‘नह्यन्यद्रविसादृश्यमन्यच्च गवये भूय सामा-
न्ययोगो जात्यन्तरवर्ता जात्यन्तरे सादृश्यमुच्यते सामान्ययोगश्चैकं स चेद्रवये प्रत्यक्षो गव्यपि तथेति
नोपमानस्य प्रमेयान्तरमस्तीति । ननु यद्यपि भावरूपत्वान्निर्विकल्पकवेद्यत्वमस्ति तथापि सप्रतियोगिक एव
निर्विकल्पकेनापि गृह्यते प्रतियोगिसापेक्षस्य निर्विकल्पके सविकल्पके वा स्वभावापरित्यागात्, नच प्रतियोगी
पूर्वमुपलब्धस्तेन निर्विकल्पकेनाप्यननुभूतमेवेति शङ्कते—नन्विति । यथा हस्तवितस्स्यादिरस्मादयं दीर्घ इति
व्यवहारे प्रतियोगिसापेक्षग्रहणेऽपि न स्वरूपमात्रग्रहणे प्रतियोगिनमपेक्षते एवमत्रापीति परिहरति—न हस्तेति ।
अतश्चैतदङ्गीकर्तव्यमितरथा भेदस्यापि सप्रतियोगिकतया निर्विकल्पकवेद्यत्वाभावप्रसङ्गात् । स्वीकृतं च तन्नि-
र्विकल्पकबोधेऽपि व्यात्मकस्यापि वस्तुनः ग्रहणमिति वदद्भिरित्यभिप्रायाह—अन्यथा भेदस्यापीति ।

एवं भाट्टपक्षे दूषणमुक्त्वा प्राभाकरमतमुत्थापयति दूषयितुम्—ये तु प्रतिजानत इत्यादिना ।
द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायशक्तिसंख्याऽपूर्वसादृश्यात्मका हि पदार्थस्तैः परिगणितास्तत्र सादृश्यस्य
पदार्थान्तरत्वं परिशेषतः साधयामास गालिकानाथ प्रमाणपारायणे—‘विषयोऽस्य वित्तिसिद्धो भिन्नो द्रव्या-
दिभावेभ्यः’ इत्यादिना, तदनुवदति—तद्धीति । गुणवृत्तित्वादिति । केतकीगन्धसदृश सर्पगन्ध इत्या-
दावित्यर्थः । अत एव गुणवृत्तित्वादेव । अगुणा हि गुणा इत्यर्थः । नापि कर्मगुणवृत्तिर्वात्कर्मवृत्तित्वाच्चेति
द्रष्टव्यम् । तत्रापि । सामान्यादिष्वपीत्यर्थः । अस्तु तर्हि शक्त्यन्तर्भावस्तत्राह—नापि शक्तिरिति ।
संख्यावृत्तित्तामेव दर्शयति—इदमेकत्वमिति । अपूर्वत्वं तु चोदनालक्षणत्वाभावादतिदूरनिरस्तमिति
भावः । ननु भवतु पदार्थान्तरं तथापि पूर्वमेव गृहीतत्वात्प्रत्यभिज्ञान्तर्भावे किमुक्तमुत्तरमिति तत्राह—
तच्च सविकल्पकेति । तत्र परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिरिति न्यायेन षट्स्वेव सादृश्यमन्त-
र्भावयन्पदार्थान्तरता दूषयति—मैवमित्यादिना । अत्र तावदाश्रिततया प्रतीतेर्न नित्यद्रव्यमिति स्थिते
विकल्पयति—तत्किं स्पर्शवदित्यादिना । द्रव्यत्वमिति । गुणादीनां निर्गुणत्वादित्यर्थः । स्पर्शरहि-
तत्वेऽपि किमेकवृत्तिः किं वानेकवृत्तिः । प्रथमे प्राह—गुणकर्ममिति । यद्यपि सयोगादेरनेकवृत्तित्वमस्ति
तथाप्येकवृत्तिगुणाद्यन्यतमादावतिव्याप्तेर्न व्यभिचार इति भावः । द्वितीये दूषणमाह—अनेकेति । एतच्च
नित्यत्वे, अनित्यत्वे तु द्वित्वादियुगविशेषत्वापत्तिरपि द्रष्टव्या । नन्वस्पर्शवत्त्वे सत्येकवृत्तित्वमनेकवृत्तित्वं च
न गुणादिपञ्चकव्याप्तं, संख्याया व्यभिचारादित्यत्राह—एतेनेति ।

यत्पुनः षट्पदार्थान्तर्भावे सामान्यादिवृत्तित्वं न स्यादिति तत्र ब्रूमः । किमिदं प्रस-
ङ्गमात्रमुत विपर्ययपर्यवसायितया प्रमाणमेव । नाद्यः । तर्कमात्रस्यासाधकत्वात् । न
द्वितीयः । सामान्यमेव सादृश्यमिति वादिनं प्रति सामान्यवृत्तित्वस्यासिद्धेः । ननु गव-
यत्वमिव गोत्वमित्यनुभवादेव सादृश्यस्य सामान्यवृत्तिता सिद्धेति चेत्किमनुभवादेव-
सिद्धिरुताबाधितात् । नाद्यः । गगननीलिमादेरपि सिद्धिप्रसङ्गात् । न द्वितीयः । प्रति-
वादिनं प्रत्यबाधासिद्धेः । किंच यत्र सौवर्णकर्णाभरणया सौवर्णकर्णाभरणा सदृशीत्यु-
पमीयते तत्र द्रव्यं सादृश्यं नच तद्वृत्तिवृत्ति तथा रसः पनसशर्करयोः सादृश्यं तस्य च
द्रव्यवृत्तित्वेन गुणवृत्तित्वादित्यसिद्धो हेतुः । यत्र च हंसगमनेन हंसगमनमुपमीयते तत्र
कर्मैव सादृश्यमिति तत्रापि हेतोरसिद्धिः । किंच दृश्ये प्रतियोगिनि धर्मिस्वरूपग्रहणमे-
वाभावव्यवहारनिदानमिच्छन्कि नेच्छसि अधिगतविषयस्य गोस्वरूपावधारणमेव सादृ-
श्यव्यवहारकारणमिति । भवतु वा यत्किंचित्सादृश्यं तथापि गोपिण्डस्य तद्विशिष्टताप्र-
तीतिरनुमानमेव किं न स्यात्सा गौर्गवयसदृशी गोत्वात् गवयेन सहोपलभ्यमानगवान्त-
रवदिति प्रयोगोपपत्तेः । गवयोपलम्भसहकालमप्रमीयमाणगवान्तरस्य गवयसदृशी गौ-
रित्यवगतिरूपमिति चेन्मैवम् । अर्थापत्तेरेव तत्रापि प्रामाण्योपपत्तेः । गवयनिष्ठगो-
सादृश्यस्य परिदृश्यमानस्य गोगवयसादृश्यव्यतिरेकेणानुपपत्तेः । नच गवयनिष्ठं गोसा-
दृश्यमप्रत्यक्षमप्रत्यक्षत्वात्प्रतियोगिनो गोरिति वाच्यम् । स्मर्यमाणेपि प्रतियोगिनि धर्मि-

एवं षट्स्वेवान्तर्भावमुक्त्वा यत्तेनान्तर्भावे कारणमुक्तं तदूषयति—यत्पुनरिति । न द्वितीय इति ।
विप्रतिपन्नं सामान्याद्यनन्तर्भूतं सामान्यादिवृत्तित्वादिति हि विपर्ययपर्यवसायि प्रमाणं तत्र चासिद्धो हेतुः ।
सामान्यवादिनानङ्गीकारादित्यर्थः । वृत्तिमनुभवेन साधयति पूर्ववादी—ननु गवयत्वमिवेति । किं
प्रतीतिमात्रं वृत्तिसाधकमबाधितप्रतीतिर्वा । नाद्यः । अतिप्रसङ्गादिति दूषयित्वा द्वितीयं दूषयति—प्रति-
वादिनं प्रतीति । एवं सामान्याद्यनन्तर्भावे हेतुमुद्धृत्य द्रव्यादित्रयानन्तर्भावे हेतुं गुणवृत्तित्वमप्यसिद्धयति
—किंचेत्यादिना । हंसगमनेनेति । 'हंसीव गच्छति चारुहासिनी'त्यादौ हंसगमनेन हेतुना हंसगमना
हंसीत्युपमीयते यत्रेत्यर्थः । हंसगमनेन पुरुषेणेत्यन्ये । द्रव्यगुणकर्मणामेव तत्र तत्र सादृश्यव्यवहारहेतुत्वा-
त्तेषां च द्रव्यवृत्तित्वेन गुणवृत्तित्वासिद्धिरिति खण्डलकार्थः । किंचास्तित्वव्यवहारहेतौ प्राभाकराणामस्तित्वे-
प्ययं प्रसङ्गः समानः । तस्य भवदभिमतसर्वपदार्थवृत्तित्वात् । अथेतारान्तर्भूतस्यैव तस्य तथा व्यवहारहेतुत्वं
तत्सादृश्येपि समानमित्यपि द्रष्टव्यम् । इदानीमभावप्रतिबन्धा वस्तुत्वमेव सादृश्यस्य नास्त्यतोपि पदार्था-
न्तरत्वं दूषापेतमित्याह—किंचेति । विषयो गवयः । इदानीं सादृश्यमुपेक्ष्य तत्प्रमितिकरणस्य प्रमाणान्त-
रत्वं दूषयति—भवतु वेति । इदं च पूर्वोक्तप्रत्यभिज्ञानान्तर्भावमङ्गीकृत्याधिकमभिधीयते न त्वव्याप्तिम-
भिप्रेत्य । ननु नास्त्यत्र लिङ्गमित्युक्तं तत्राह—सा गौरिति । गवयसन्निधानुपलब्धगोपिण्डे प्रत्यक्षेण
शक्या गोत्वस्य गवयसादृश्येन व्याप्तिर्गृहीतुमिति भावः । तथाप्यनुपलब्धगोपिण्डं प्रत्युपमानोपयोगं शङ्कते
—गवयोपलम्भेति । अप्रमीयमाणगवान्तरस्य पुरुषस्येति शेषः । अर्थापत्तिमेव सविकल्पिका दर्शयति
—गवयनिष्ठेति । स्यादेतत् यदि गवयनिष्ठगोसादृश्यं प्रत्यक्षेण गृह्यते ततस्तदन्यथानुपपत्त्या शक्यं गोगतं
गवयसादृश्यं ज्ञातुं नत्वेतदस्ति तस्यापि प्रतियोगिगोसापेक्षग्रहणतया तद्व्यतिरेकेण ग्रहणमेवाशक्यमिति त-
त्राह—नच गवयनिष्ठमिति । माभूत्प्रतियोगिनस्तदानीं ग्रहणं गृह्यगृहीतगोः स्मरणसहायमिन्द्रियमेव

ग्रहणादेव सादृश्यस्य भेदवत्प्रत्यक्षत्वोपपत्तेः । सादृश्यज्ञानकरणमुपमानमित्यभ्युपगच्छता च सादृश्यप्रतीतेरवश्याभ्युपेयत्वान् ।

तथाचार्थापत्त्यैव तत्प्रतीत्युपपत्तेः कृतमुपमानेन, अन्यथा वैधर्म्यप्रतीतेरपि प्रमाणान्तरत्वप्रसङ्गः । तथाहि । यत्र परोक्षादपरोक्षे भवति वैधर्म्यावगतिस्तस्माद्यमन्यथेति भवति एतस्मादन्यथा स इत्यपि मतिः सापि प्रमाणान्तरं स्यात् । सार्थापत्तिरिति चेत्प्रकृतेपि समानम् । यथोदितमुद्यनेन—‘साधर्म्यमिव वैधर्म्यं मानमेवं प्रसज्यते । अर्थापत्तिरसौ व्यक्तमिति चेत्प्रकृतेन किंमिति ।

तदास्तां मीमांसकाभिमतोपमानापाकरणप्रपञ्चः, नैयायिकोदीरितमुपमानमपि दुर्निरूपम् । अनवगतसंगतिसंज्ञासमभिव्याहृतवाक्यार्थप्रमितिरुपमितिस्तत्करणमुपमानमिति ते वर्णयन्ति । तथाहि । नागरिकस्य यादृशी गौस्तादृशी गवय इति श्रुतातिदेशवचसः कानने वस्तुतो गोसदृशं गवयमालोक्यतो नूनमयमसौ गवयपदाभिधेयो यः पुरामेन गोसदृशो गवय इत्युपदिष्ट इति प्रमितिरुपजायते । नचेयमागमजा, अपरिदृष्टगवय-

सप्रयुक्तसादृश्यप्रत्यक्षकरणे समर्थं यथा प्रत्यभिज्ञाया यथा वाऽसन्निहितप्रतियोगिकं सन्निहितभेद इत्यर्थः । यदि च तत्र धर्मिणो गृहीतत्वात्तद्गतभेदस्य सप्रयुक्तत्वाच्च युज्यते ग्रहणमिति मतिस्तदत्रापि समानमिति भावः । अथ सादृश्यमेव प्रत्यक्षायोग्यमिति ब्रूयात्तं प्रत्याह—सादृश्यज्ञानेति ।

एवमुपपन्नदर्शनं समर्थयित्वाार्थापत्तिमुपसंहरति—तथाचेति । अवश्यं चैवमर्जाकर्तव्यम्, इतरथाऽतिप्रसङ्गादित्याह—अन्यथेत्यादिना । अतिप्रसक्तिमेव विवृणोति—तथाहीति । यदाहि परोक्षात्कमेलकादेः सकाशादपरोक्षहस्यादावनतिदीर्घाऽवक्रवन्धुरग्रीवासमपृष्ठस्थविष्टशरीरस्थूलपादादिवैधर्म्यं ज्ञातं भवति तदा सन्निहितहस्यादेः सकाशादसन्निहितकरभादावपि वक्रास्तिदीर्घकृशग्रीवाविकटपृष्ठकृगरीरदीर्घपादादिवैधर्म्यप्रतीतिर्भवति तत्करणमप्यपरं प्रमाणं स्यादित्यर्थः । अत्र च शङ्कायमाणार्थापत्त्युपयोगितयाऽपरोक्ष इत्युक्तम् । एवं प्रतिवन्दी गृहीत्वा परिहारसाम्यं वक्तुं तन्मुखेन तमुद्गावयति—सेति । उद्यनेन कुसुमाञ्जलायुक्तं चैतदित्याह—यथोदितमिति । अत्र साधर्म्यवैधर्म्यशब्दाभ्यां तज्ज्ञापकप्रमाणे निवर्त्येते ।

एवं मीमांसकाभिमतमुपमानं दूषयित्वा नैयायिकाभिमतमुपमानं फलविवेचनपूर्वकं दर्शयति दूषयितुम्—अनवगतेति । अनवगता संगतिः स्वार्थेन वाच्यवाचकभावो यस्या गवय इति संज्ञायाः सा तथोक्ता तथा समभिव्याहृतं सहोच्चारितं यद्वाक्यं यथा गौस्तथा गवय इति तस्य योर्थस्तत्प्रतिपाद्यो गवयशब्दार्थस्तत्प्रमितिस्तस्य तच्छब्दवाच्यताप्रमितिरुपमिति । यच्च तादृशप्रमितिकरणं तत्सन्नास्मरणसहायं गोसादृश्यलक्षणार्थस्य संज्ञिन्यनुसधानात्मकं तदुपमानमित्यर्थः । अत्र च शाब्दप्रमितिव्यवच्छेदार्थमनवगतेत्योदिविशेषणम् । प्रत्यक्षानुमितिव्यावृत्त्यै वाक्यार्थग्रहणम् । इममेवार्थं विवृणोति—तथाहीत्यादिना । श्रुतातिदेशवचस इति । आरण्यकसकाशाद्यथा गौस्तथा गवय इति वाक्यं श्रुतवत् इत्यर्थः । अत्र चालोक्यत इत्यन्तेन करणशरीरमुक्तम् । शेषेण च फलकथनम् । ननु यथा गौस्तथा गवय इत्यारण्यकवचनादियं प्रमितिरुपपद्यतेऽतो न प्रमाणान्तरमिति तत्राह—नचेयमिति । नेयं वचनजनिता । तथासति नगरगतसमय एवोत्पत्तिप्रसङ्गादित्यर्थः । ननु नायमनिष्टप्रसङ्गो योगो सदृशोसौ गवयशब्दार्थ इति सामान्येन वा-

स्यापि प्रसङ्गात् । भवत्येवाप्तवचनात्सामान्यतस्तन्निश्चय इति चेत् मैवम् । सामान्यतः प्रतीतावपि व्यक्तिविशेषस्य तत्पदाभिधेयत्वाप्रतीतेः । अन्यथा यो यो धूमवानसावसा-
वन्निमानित्याप्तवचनाधिगताविनाभावस्य पर्वते वह्निप्रतीतिरागमजैव स्यात् । अस्तु तर्हि
प्रत्यक्षेणैव गवयशब्दवाच्यत्वाधिगतिरिति चेन्मैवम् । अश्रुतातिदेशवाक्यस्यापि प्रसङ्गात् ।

उपदेशसंस्कारसङ्घीचीनं प्रत्यक्षमेव रत्नतत्त्वस्येव तदवगतिहेतुरिति चेत् । न । वा-
च्यत्वस्य प्रत्यक्षानवगाह्यत्वात् । नहि प्रत्यक्षेपि घटे घटशब्दवाच्यता प्रत्यक्षा येन प्रकृ-
तेपि तथा स्यात् । नाप्यनुमानतस्तदधिगतिः । गोसादृश्यस्य गव्यपि संभवेन विपक्ष-
वृत्तित्वात् । नार्थापत्तिरनुमानाव्यतिरेकादिति चेन्मैवम् । अनुमानतस्तथात्वप्रतीत्युपपत्तेः ।
तथाहि—‘वाचको गवयस्यायं तत्र वृत्त्यन्तरेऽसति । वृद्धैः प्रयुज्यमानत्वाद्गोत्वे गौरिति
गीरिव’ ॥ ३१ ॥ यो यत्रासति वृत्त्यन्तरे वृद्धैः प्रयुज्यते स तस्य वाचको यथा गो-
शब्दो गोत्वस्य प्रयुज्यते चायमसति वृत्त्यन्तरे गवयशब्दः पुरोवर्तिनि तस्मात्तस्य वा-
चक इत्यनुमानादेव संबन्धाधिगतिसिद्धेः । न च विशेषणासिद्धो हेतुः । शङ्क्यमानगो-

क्यार्थप्रत्ययस्य तथाप्युपपद्यमानत्वादिति शङ्कते—भवत्येवेति । न सामान्यप्रतीतिर्व्यवहारोपयोगिनी
विशेषनिष्ठत्वात्तस्य अतो व्यक्तिविशेषस्य शब्दवाच्यत्वमेव बुभुत्सितं तत्प्रतीतिश्च न वाक्यजन्यात् करणा-
न्तरनिबन्धनैवेति परिहरति—मैवमिति । ननु यद्यपि तदा नोत्पद्यते तथापि श्रुतवाक्यसामर्थ्यादेव
पश्चादुत्पद्यमानत्वादागमजन्यैवेति तत्राह—अन्यथेति । अथवा सामान्यनिश्चायकादेव विशेषनिश्चयसंभ-
वेनोपमानवैयर्थ्याशङ्कायामिदमुत्तरम् । ‘स्यादेतत्सप्रयुक्तगवयनिष्ठं गवयशब्दवाच्यत्वं तद्गतसामान्यादिवत्प्र-
त्यक्षेण किमिति न गृह्यत इति शङ्कित्वा परिहरति—मैवमश्रुतेति ।

अतिदेशवाक्योपदेशसदृकतत्त्वप्रत्यक्षजन्यत्वं शङ्कते—उपदेशेति । विषय उपन्यास । रत्नतत्त्वे ह्यवय-
वविशेषो वा रूपविशेषो वा सामान्यविशेषो वा तच्चिह्नं प्रत्यक्षयोग्यमिह तु न वाच्यवाचकभावस्य प्रत्यक्षता,
घटादावदर्शनात् वृद्धव्यवहारलक्षणानुमानैकावसेयत्वात्तस्येत्यभिधाय परिहरति—न वाच्यत्वस्येति ।
अस्तु तर्हि घटादिगतवाच्यत्ववदत्राप्यनुमानगम्यत्वमिति तत्राह—नाप्यनुमानेति । अयमभिसंधि । न
तावन्मानवक समिधमाहरे’ति वाक्यश्रवणसमनन्तरमेव मध्यमवृद्धमाणवकसमिदाहरणप्रवृत्तिवदेतच्छ्रवण-
समनन्तरमस्ति कार्चित्प्रवृत्तिर्येन मार्गेण गवादिशब्दानामिवानुमानादस्यापि गवये सगतिर्गृह्येत । तत्कस्य
हेतोरप्रवर्तकत्वादिति हेतावदवशिष्यते विमत पुरोवर्तिपिण्डो गवयशब्दवाच्य गोसदृशत्वात् यदेव न तदेवं
यथा करभादीनि व्यतिरेक्यनुमानाधिगतिरिति । तच्च न संभवति । गवान्तरेऽपि गवयशब्दवाच्ये
गोसदृशत्वहेतोर्वर्तनेन विरुद्धत्वादिति । अनुमानाव्यतिरेकादिति तन्निरसनेन निरासादिति भावः । एवं
समर्थितं नैयायिकोपमानलक्षणं दूषयति—मैवमनुमानत इति । अनुमानमेव श्लोकेन संगृह्णाति—वा-
चक इति । तत्र वृत्त्यन्तरेऽसतीति । गोसदृशपदार्थे लक्षणागुणवृत्त्योरसंभवे सति तत्र प्रयुज्यमान-
त्वादित्यर्थः । निमित्तान्तरेण वृत्तिर्वा वृत्त्यन्तरमिदं च गङ्गाया घोषः प्रतिवसतीति सिद्धो बलवर्मेत्यादिषु
लक्षणागुणवृत्तिभ्यामेवावाच्येष्वपि तीरादिषु प्रयुज्यमानगङ्गादिपदैर्व्यभिचारपरिहाराय विशेषणम् । संग्रहं
विवृणोति—यो यत्रेति । ननु विशेषणासिद्धो हेतु असति वृत्त्यन्तरे इत्यस्य दुर्ज्ञानत्वादिति तत्राह—
नच विशेषणेति । अत्र तावल्लक्षणावृत्तिर्न शङ्कामप्यधिरोहति तदाहि गोसादृश्यवाचकस्य सतो गवयत्वै
तदविनाभूते लक्षणया प्रयोग इति शङ्कितव्यं तच्च न संभवति, अदृष्टगोपदार्थानामरण्यैकनिवासिना गोसादृ-
श्यानधिगमे गवयपदाप्रयोगप्रसङ्गादित्यर्थः । द्वितीययोजनाया तु सुगमम् । ननु किमित्यप्रयोगः यावता

सादृश्यस्य गवयशब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वानुपपत्तेः, अप्रतीतगूनामारण्यकानां गोसादृश्या-
नधिगतौ गवय इति व्यवहाराभावप्रसङ्गान् । गवयत्वस्यापि निमित्तत्वाददोष इति चेत् ।
मैवम् । अप्रतीतगोपदार्थस्य गवयत्वं निमित्तं प्रतीतगोस्तु तत्सादृश्यं निमित्तमित्युभ-
यत्र शक्तिकल्पनायां गौरवप्रसङ्गात् । गोविशेषितसादृश्यस्य गवयशब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वे
गवि तत्सादृश्ये च शक्तिः कल्पनीयेत्यपि गौरवं स्यात् । अन्यथोपमानस्य मानान्तर-
त्वेऽपि गवयशब्दस्य गोसादृश्यस्य निमित्तताशङ्कायाः दुष्परिहरत्वात् गवयत्वं निमि-
त्तीकृत्य गवयशब्दोत्र प्रवृत्त इत्युपमानादपि निर्द्धारणा न सिद्ध्येत् । किञ्चानवगतसंग-
तित्वविशेषणं व्यर्थम् । अभ्युपगतप्रमाणसंज्ञववादिनः प्रत्यक्षाधिगतेषु पुनः प्रत्यक्षवदनु-
मितेभ्यनुमानवच्चोपमितेऽपि पुनरुपमानप्रवृत्त्युपपत्तेः । अपि 'चेह प्रभिन्नक्रमलोदरे मधूनि
मधुकरः पिबती'त्यत्राप्रसिद्धमधुकरपदार्थस्य प्रसिद्धेतरपदार्थस्य च प्रसिद्धपदसमभिव्या-
हारात्मधुकरशब्दार्थप्रतीतिवद्वयशब्दार्थप्रतीतिः किं न स्यात् । नच सर्वत्र समभिव्या-
हारादधिगतिरुपमितिस्तत्करणस्य सादृश्यज्ञानस्य तत्राभावान् । असत्यपि च सादृश्य-
ज्ञाने संज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रतिपत्तिरेवोपमिति रित्याधुनिकमतानुप्रवेशे सूत्रवार्तिकप्रसिद्धसि-
द्धान्तविरुद्धाभ्युपगमो वज्रलेपायते । तथाच भगवदक्षपादप्रणीतं सूत्रं 'प्रसिद्धसाध-

गवयत्वमपि प्रवृत्तिनिमित्तं तच्च तैरग्यधिगतमिति शङ्कते—**गवयत्वस्यापीति** । अत्र किमुभय मिलित्वा
निमित्तं किं वा प्रत्येकम् । नाद्य । पूर्वोक्तदोषानतिवृत्तेः । द्वितीये स्वन्यायश्चानेकार्थ इति मीमांसकमुद्रा-
भङ्ग कल्पनागौरवं च बाधके स्यातामित्याह—**मैवमित्यादिना** । गौरवान्तरं चाह—**गोविशेषि-**
तेति । न सादृश्यमात्रं गवयशब्दार्थत्वेन शङ्क्यतेऽपितु गोसादृश्यं, तथाच विशेषणस्यापि निमित्तत्वप्रस-
क्तिरिति भावः । किञ्चोपमानं पृथक्प्रमाणमिच्छतापि गवयत्वमेव प्रवृत्तिनिमित्तं न गोसादृश्यम् इतरथा शा-
ब्दत्वप्रसङ्गात् । यथाहोदयन—'सादृश्यस्यानिमित्तत्वान्निमित्तस्याप्रतीतिः । समयो दुर्ग्रहः पूर्वं शब्देनानु-
मयापि वे'ति । टीकाकृतापि 'किंतु गवयत्वं निमिनीकृत्य पिण्डे प्रवर्तते इति परमार्थ' इति । तत्र च तवा-
प्येता युक्त्य शरणमिति न त्वा प्रति विशेषणात्तिद्विरित्याह—**अन्यथोपमानस्येत्यादिना** । एतेन
संबन्धस्य परिच्छेदं संज्ञायां संज्ञिना सह प्रत्यक्षादेरसाध्यत्वादुपमानफलं विदुरित्युद्वेगनीयं प्रयासोऽपह-
स्ति । तदुक्तं तत्त्वकौमुदीकृता—'यो हि शब्दो यत्र वृद्धे प्रयुज्यते सोऽसति वृत्त्यन्तरे तस्य वाचकः
यथा गोशब्दो गोत्वस्य प्रयुज्यते चैष गवयशब्दो गोसदृश इति तस्यैव वाचक इति ज्ञानमनुमानमेवेति ।
अव्याप्तिं चाह—**किञ्चानवगतेति** । प्रमाणसमववादिनोनुमितेनुमानप्रवृत्तिवदुपमितेभ्युपमानप्रवृत्तिसम-
वात्तस्मिन्वानवगत इति विशेषणभावादव्याप्तिरित्यर्थः । किञ्चेदमनवगतसगतिज्ञासमभिव्याहृतवाक्यमभि-
मतं किं सादृश्यबोधकं किं वा वैसादृश्यबोधकमपि किं वा व्युत्पत्त्यौपाधिकधर्ममात्रबोधकम् । नाद्यः ।
वैसादृश्यप्रतीतिकरणकेऽव्याप्तेः । अथ द्वितीयस्तत्राह—**अपिचेह प्रभिन्नेति** । विवृतोयमर्थः कार्यवादे,
संभवति मधुपानकर्तारि शृङ्गे मधुकरपदव्युत्पत्तिवद्गोसादृश्यवति गवयपदव्युत्पत्ति कल्पनालाघवादिना च
मधुकरत्ववद्वयत्वस्य प्रवृत्तिनिमित्तता चातोतिव्याप्तिरिति भावः । तृतीयं दृश्यति—**नच सर्वत्रेति** ।
ननु केनोक्तं सादृश्यज्ञानमुपमिति रिति यावता संज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रतिपत्तिरुपमितिस्तत्करणं चोपमानमिति नवी-
नैरुनीयते । आह ह्युदयन—'संबन्धस्य परिच्छेद'मिति । टीकाकारोपि साधर्म्यग्रहणं च धर्ममात्रोपलक्षण-
मिति करभसंज्ञाप्रतीतिफलमप्युपमानमेवेति नाव्याप्तिरिति तत्राह—**असत्यपीति** । सूत्रं दर्शयति—
तथाचेति । प्रसिद्धेन गवा गवयस्य साधर्म्यात्साध्यस्य प्रज्ञापनीयस्य गवयशब्दवाच्यत्वस्य ज्ञापनमुपमा-

मर्यात्साध्यसाधनमुपमानमिति । व्याख्यातं चैतदुद्द्योतकारेण वार्तिककृता—‘आगमाहितसंस्कारस्मृत्यपेक्षं सादृश्यज्ञानमुपमानमिति । अथावधीरितापसिद्धान्तप्रसङ्गभीतेरियं पृथिवीशब्दवाच्या गन्धवत्त्वाद्यत्रैवं तत्रैवमित्यादि केवलव्यतिरेक्यनुमानमपि संज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रतिपत्तिफलमुपमानमापद्येतेत्यलमतिविस्तरेण ।

शब्दप्रमाणमपि दुर्निरूपम् । तथाहि शास्त्रं ‘शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेयं विज्ञानमिति मीमांसकाः । शब्दविषयं विज्ञानं शब्दविज्ञानं तस्मादसन्निकृष्टेयं श्रोतुरनधिगतेऽबाधिते च विषये यद्विज्ञानं तच्छाब्दप्रमाणमिति यावत् । उक्तं हि वार्तिककारैः—‘असन्निकृष्टवाचा च द्वयमत्र जिहासितम् । ताद्रूप्येण गृहीतत्वं तद्विपर्ययतोपि वेति ।

यद्वा शब्दाज्जनितं पदार्थविषयं यद्विज्ञानं तस्मादसन्निकृष्टेयं बुद्धिः शब्दमिति । तदयुक्तम् । शब्दलिङ्गकवक्तृविशेषानुमानेऽतिव्याप्तेः । भवति हि बहिष्पञ्चाध्ययनध्वनिश्रवणाद्भवान्तर्वर्तिपुरुषविशेषानुमानम् । द्वितीयेपि । धूमादिपदात्तदर्थविज्ञाने धूमध्वजादौ

नमिति सूत्रार्थः । वार्तिकं दर्शयति—व्याख्यातं चैतदिति । आगमोऽतिदेशवाक्यम् । ननु प्रामाणिकत्वेनाभ्युपगतोर्थं सिद्धान्तो नाम, प्रामाणिकश्चायमस्त्वप्यसूत्रादीनि तु एतदनुसारेणोपलक्षणतया व्याख्येयानि, तथाच यथा मुद्रस्तम्ब तथा मुद्रपर्णात्युपमानस्य सादृश्यं विषयमभिधायैवमन्योप्युपमानस्य विषयो लोके बुभुत्सितव्य इति भाष्यकारेण विषयान्तरेप्युपमानाभ्यनुज्ञानात् धिक् करभमतिदीर्घवक्त्राविवं प्रलम्बोष्ठं कठोरकण्ठकाशिन कुत्सितावयवसन्निवेशमपसदं पशूनामिति वाक्यश्रवणसमनन्तरं तथाभूते द्विरदादिसमवस्तु-विसदृशे करभपदार्थे वैधर्म्यात्करभशब्दवाच्यत्वप्रतीतिमप्युपमानत्वेनैवोवाचाचार्यवाचस्पतिरुपमाविनोदे इति मन्वानं प्रति सर्वलक्षणवाक्येषु केवलव्यतिरेकितया प्रसिद्धेष्वतिव्याप्तिरित्याह—अवधीरितेत्यादिना ।

कमप्राप्तं शब्दप्रमाणं खण्डयति—शब्देति । तत्र शबरस्वामिसमतं लक्षणमुद्रावयति—तथाहीति । ननु परार्थानुमानेतिऽव्यापकमिदं लक्षणं तस्यापि पञ्चावयवात्मकवाक्यजनिताद्विज्ञानादसन्निकृष्टे प्रमाणान्तरेणानधिगतेयं लिङ्गिनि बुद्धिरूपत्वादितिमाशङ्का परिहरन्भाष्यं व्याचष्टे—शब्दविषयं विज्ञानमित्यादिना । नात्र शब्दजनितविज्ञानमिति विवक्षितम्, अपितु शब्दविषयं विज्ञानं तेन नातिव्याप्तिरिति भावः । असन्निकृष्टपदं व्याचष्टे—श्रोतुरिति । प्रमाणान्तरेण तथा वाऽतथावानधिगत इत्यर्थः । अत्रैव वार्तिकसंमतिमाह—उक्तं हीति । अर्थग्रहणं चार्थासस्पशौ वार्थोपेक्षितस्वभावो वा शब्द इति वदता बौद्धानामतनिरासार्थम् । एवं हि वर्णयन्ति अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्त इति वचसोऽर्थ एव नास्ति नद्यास्तीरे पञ्चफलानि सन्तीत्यादिवाक्यानां कदाचिदर्थवत्ता कदाचिन्नेत्यर्थासस्पशोऽर्थोपेक्षितस्वभावो वा शब्द तस्मान्नार्थप्रम्माप्यं किंतु वक्तुरभिप्राये तत्रापि न शब्दतया किंतु तत्कार्यतया तदनुमापकः । यथाह कीर्ति—‘नान्तरीयकताऽभावात् शब्दानां वस्तुभि सह । नार्थसिद्धिस्ततस्ते हि वक्त्रभिप्रायसूचका इति । तन्निरासार्थमर्थग्रहणम् । निरासप्रकारश्चात्र एव विवक्षायां प्रामाण्यं निराकुर्वता स्वयमेवाचार्येण दर्शयिष्यते ।

एवमन्वेताभिधानाभिहितान्वयसाधारण्येन भाष्यं योजितम्, इदानीमभिहितान्वयानुसारेण योजयति—यद्वेति । पदात्पदार्थस्मरणस्य शब्दाभासस्य च निवृत्त्यर्थमसन्निकृष्टाबाधितेति विशेषणद्वयम् । प्रत्यक्षानुमानादिव्यावृत्त्यै शब्दविज्ञानादिति । तत्र प्रथमं दूषयति—तदयुक्तमिति । शब्दादेव लिङ्गाद्वस्तुविशेषेऽनुमानं जायते तदपि हि शब्दज्ञानादसन्निकृष्टार्थे बुद्धिर्भवतीत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः । एतदेव विवृणोति—भवति हीति । तदुक्तं विशेषतोऽदृष्टविशेषानुमानं दर्शयता वार्तिककारेण ‘स्वपुत्राद्यनुमानं यद्गृहभ्यन्त-रगोचरम् । वेदस्वरविशेषेण बहिष्ठस्येह लक्ष्यत’ इति । द्वितीययोजनायामप्यतिव्याप्तिमाह—द्वितीयेऽपीति ।

जायमानानुमानादावतिव्याप्तिः । लिङ्गाद्यजन्यत्वे सतीति विशेषणाददोष इति चेत्तर्हि तावदेवास्तु लक्षणं किमनेन शब्दविज्ञानादित्यादिना विशेषणेन कण्ठशोषकरेण । कश्चायं शब्दो नाम यद्विज्ञानादसन्निकृष्टेर्धे बुद्धिः । न तावत्पदम् । पदमभ्यधिकाभावात्स्मारकान्न विशेष्यत इति स्वयमेव तस्यासन्निकृष्टार्थविज्ञानजनकत्वानभ्युपगमान् । नापि वाक्यम् । तस्यानिरुक्तेः । तथाहि किं पदसमुदायमात्रं वाक्यमुतैकार्थप्रतिपादकत्वावच्छिन्नः पदसमुदाय उताकाङ्क्षासन्निधियोग्यतावन्ति पदानि । नाद्यः । गौरश्वः पुरुषो हन्मीत्यादेरपि वाक्यत्वप्रसङ्गात् । नापि द्वितीयः । अर्थस्यैकत्वविषयत्वावच्छिन्नत्वानामनिरुक्तेः । तत्रैकत्वं नाम किमेकत्वसंख्यावत्त्वमुताभेदः किं वा स्वरूपमेव । नाद्यः । गौरश्वः पुरुष इत्यादेरप्येकत्वसंख्याविशिष्टतया तद्वाचकपदसमुदायस्यापि वाक्यत्वप्रसङ्गात्, एकत्वादिसंख्याप्रतिपादकवाक्याव्यापनाच्च । नह्येकत्वद्वित्वादावेकत्वसंख्यान्तरमस्ति येन • तत्प्रतिपादकपदसमूहो वाक्यं स्यात् । न द्वितीयतृतीयौ । गौरश्वः पुरुष इत्यादावभेदस्वरूपयोर्भावान् विषयविषयिभावस्य च पूर्वमेव निरस्तत्वात् । किंचेदमवच्छिन्नत्वं विशिष्टत्वमिति चेन्न देव किं विशेषणेन संबद्धत्वमिति चेन् संबद्धत्वमित्यत्रापि संबन्धेन विशिष्टत्वोक्तावात्माश्रयता । विशेषणव्यावृत्तसंबन्धाधारत्वोक्तौ को दोष इति चेन् व्यावृत्तशब्देन विशिष्टत्वोक्तावात्माश्रयता प्रथमः । विशेषणविशेष्ययोः प्रत्येकं विशिष्टत्वाप-

धूमादिशब्दप्रतीतधूमादिलिङ्गादनुमानमभ्यादिषु जायते तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थः । तर्हि तावदेवेति । लिङ्गाद्यजन्यत्वमित्यनेन शब्दव्यतिरिक्तप्रमाणजानं व्यावर्त्यते । प्रमितिशब्देन चाप्रमितिजानं लिङ्गाद्यजन्यं प्रमाणं शास्त्रमित्येवास्तु वृधेतरदित्यर्थः । इदानीमवयवशो विचार्यमाणमपि विचार्यत एवेदं लक्षणमित्यभिसंधायाह—**रश्चायमिति** । ननु शाब्दप्रमाणविचारावसरे किमिति शब्दजिज्ञासेति प्रकृतानुपयोगिशङ्का वारयति—**यद्विज्ञानादिति** । शास्त्रप्रमाणत्वेन च विवक्षितमिति शेषः । किं पदं किं वा वाक्यं दृष्टव्येन विवक्षितम् । नाद्य इत्याह—**न तावदिति** । पदं स्मारकान्न विशेष्यते कुत अभ्यधिकाभावाद्युत्पत्तिसम्यगृहीतादर्थाभ्यधिकार्थबुद्धेः पदेभ्योऽभावादितरथाऽगृहीतसगतिकस्यापि बोधकत्वप्रसङ्गादिति वार्तिकार्थः । द्वितीयं दूषयति—**नापीति** । तत्र वाक्यलक्षणं विकल्पयति—**किं पदेत्यादिना** । प्रथमेऽतिव्याप्तिमाह—**गौरश्व इति** । अर्थस्यैकत्वेति । एकार्थप्रतिपादकत्वावच्छिन्नत्वमित्यत्र यदिदमर्थस्यैक्यं यच्च तादृगर्थप्रतिपादकत्वविवरणलघ्वैतादृगर्थविषयप्रतिपत्तिजनकत्वान्तर्गतविषयत्व यच्चैवविधयर्मेणावच्छिन्नत्वं तदेतन्नित्यं दुर्निरूपमित्यर्थः । एकत्वसंख्यावदर्थप्रतिपादकत्वमित्याद्यं पक्षं दूषयति—**गौरश्व इति** । तेषामपि पदार्थानां प्रत्येकमेकत्वसंख्यावच्छिन्नत्वादित्यर्थः । अव्याप्तिमेव विवृणोति—**नह्येकत्वेति** । द्वितीयतृतीययोरपि प्रथमपक्षोक्तमतिव्याप्तिमाह—**न द्वितीयतृतीयाविति** । एवमेकत्वं खण्डयित्वा विषयविषयित्वे **त्रपक्ष-**मिथ्यात्ववादोक्तखण्डनं स्मारयति—**विषयेति** । अवच्छिन्नत्वं खण्डयति—**किंचेदमिति** । विशिष्टत्वं निर्वर्त्तकं पूर्ववादी—**विशेषणेनेति** । किमिदं विशेषणसंबद्धत्वं किं विशेषणसंबन्धविशिष्टत्वं किं वा तत्संबन्धाधारत्वम् । आद्ये प्राह—**संबद्धत्वमिति** । द्वितीयं शङ्कते—**विशेषणव्यावृत्तेति** । तत्र दोषत्रयं यथाक्रममाह—**व्यावृत्तेति** । विशेषणव्यावृत्तेत्यत्र व्यावृत्तत्वं विशिष्टत्वमिति वक्तव्यं तथाचात्माश्रयः । द्वितीयं चाह—**विशेषणेति** । यदिहि विशेषणसंबन्धाधारो विशिष्टं तदा विशेषणमपि विशिष्टं स्यात् विशेष-

त्तिः द्वितीयः । संबन्धस्य च विशिष्टत्वाभावः तृतीयस्तस्य संबन्धान्तराभावाद्भावे वानवस्था ।

किंच विशेषणविशेष्यतत्संबन्धेभ्यो विशिष्टं भिन्नमभिन्नं वा । नाद्यः । अनुपलम्भ-पराहतत्वात्, दण्डिनमानयेत्युक्तेन्यस्यैवानयनप्रसङ्गाच्च । नापि द्वितीयः । त्रयाणामपि प्रत्येकं विशिष्टत्वात् । दण्डादीनामन्यतमानयने दण्डी समानीत इति व्यवहारप्रसङ्गात् । किंचेदं विशेषणं नाम यद्विशेषितं तत्त्वान्तरं स्यात् व्यावर्तकमिति चेत्किं व्यावृत्तेर्भेदस्य जनकमुत तत्प्रतीतेः । नाद्यः । असंभवात् । नहि कठोरकुठारधारया तरोरिव देवदत्तस्य दण्डकुण्डलादिना विधीयते द्वैधीभावः । नापि द्वितीयः । नयनादेरपि भेदप्रतीतिजनकस्य विशेषणत्वप्रसङ्गात् । तदपि कचित्कस्यचिद्भवत्येव विशेषणमिति चेद्वन्त तर्हि वस्तुमात्रमित्येव विशेषणलक्षणमस्त्वलमनया ग्रन्थकथाकन्थया । अस्तु तर्हि विषयी-क्रियमाणतया व्यावृत्तिबुद्धिजनकं तद्विशेषणलक्षणमिति चेत् । मैवम् । विशेष्येपि प्रस-ङ्गान् । तदन्यत्वे सतीति विशेषणाददोष इति चेन्न । उपलक्षणेपि प्रसङ्गान् । विशेषण-सिद्धौ तदुपजीविनो विशेष्यस्य सिद्धिस्ततश्च ततोऽन्यत्वेन विशेषणसिद्धिरिति परस्परा-

षणविशेष्यसंबन्धस्य द्विष्टत्वेन विशेषणस्यापि तदाश्रयत्वादित्यर्थः । तृतीयं दूषणमाह—संबन्धस्येति । संबन्धाधारत्वं च यद्यपि विशिष्टत्वाद्विशेषणविशेष्यसंयोगस्य संभवति तथापि समवायस्य तत्र संभवति । स्वाश्रयत्वाभावादित्येव चानवस्थानात् । अस्त्येव तस्यापि विशिष्टत्वं रूपसमवायो रससमवाय इत्यतोऽव्याप्ति-रित्यर्थः ।

इदानीं विशिष्टस्वरूपमपि दुर्निरूपमित्याह—किंचेति । न केवलमनुपलम्भः व्यवहारविरोधश्च स्यादि-त्याह—दण्डिनमिति । द्वितीयेपि किं त्रितयमपि यथायथं विशिष्टमुत मिलितम् । आद्ये प्राह—त्रया-णामपीति । द्वितीयेपि किं मिलितमिति तदेवाभिधीयते किं वा तदन्यत् । प्रथमे पूर्वोक्तमेव दूषणम् । अति-रिक्तपक्षे त्वनुपलम्भपराहति । इदानीं विशेषणानिरूपणादपि तत्संबन्धविशिष्टमित्यनुपपन्नमित्याह—किंचे-दमिति । व्यावर्तकत्वमित्यत्र कृतं किं व्यावृत्तिजनकत्वमर्थं किं वा प्रत्यायकत्वमिति विकल्प्याद्यं दूषयति —नाद्य इति । असंभवमेव विवृणोति—नहि कठोरेति । यथा हि कठोरकुठारधारया वृक्षस्य द्वैधीभाव-क्रियते न तथा देवदत्तस्य दण्डकुण्डलादिना विष्णुमित्राद्भेद क्रियते तत्पूर्वमभेदप्रसङ्गादित्यर्थः । द्वितीये नयनादावतिव्याप्तिस्तस्यापि व्यावृत्तिज्ञापकत्वादित्याह—नापि द्वितीय इति । नेयमतिव्याप्तिः, तस्यापि चाक्षुषं रूपं रसनाग्राह्यं रस इत्यादिव्यवहारविशेषणतया लक्ष्यत्वादिति शङ्कते—तदपीति । उत्तरो निग-दव्याख्यात । विशेषणलक्षणान्तरं शङ्कते—अस्तु तर्हीति । येयं व्यावृत्तबुद्धिविशेषणेन जन्यते तथा विषयीक्रियमाणं सव्यावृत्तिबुद्धिजनकं यत्तद्विशेषणं तथाच न चक्षुरादावतिव्याप्तिः । नहि घट पटाद्यावृत्त इति बुद्धेश्चक्षुरादिविषयीभवतीत्यभिप्रायः । अस्यातिव्याप्तिमाह—मैवमिति । नीलमुत्पलमित्यादौ नैत्य-विशिष्टानुपलब्धेपि तद्विषय एव तज्जनकं च प्रत्यक्षप्रतीतिवादतस्तस्यापि विशेषणत्वं स्यादित्यर्थः । उपलक्षणेपीति । अस्ति हि मयूराधिकरणं श्रीसुन्दरदेवमन्दिरमित्यत्र मयूरस्यापि तद्विषयतया तज्जनकत्वमित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः । अथ नियमेन विषयीक्रियमाणतया तज्जनकं विशेषणं न तदुपलक्षणस्यास्ति असतोऽप्युपलक्षणतया तत्र तस्यासंभवादिति ब्रूयात्तं प्रति दूषणान्तरमाह—विशेषणेति । विशेष्याद-न्यत्वे सत्युक्तविधं विशेषणमिति हि लक्षणमभिधीयते, नचैतद्युक्तम् । परस्पराश्रयापातात् । यद्धर्मविशिष्टं गृह्णाति तदिति वा विशेषणव्यावर्त्यमिति वा विशेष्यलक्षणम् । आद्ये परस्पराश्रयः, विशिष्टत्वस्याद्याप्य-

श्रयता एतेन 'स्वबुद्ध्या रज्यते येन विशेष्यं तद्विशेषण'मिति भट्टपादीयमपि लक्षणं परा-
स्तम् । परस्पराश्रयताया दर्शितवान् ।

यत्पुनरुदयनेनोदीरितं—'सामानाधिकरण्येन प्रतीयमानं विशेषणं व्यधिकरणतया
प्रतीयमानमुपलक्षण'मिति तदयसन् । विकल्पासहत्वान् । किमार्थिकं सामानाधिक-
रण्यं विवक्षितमुत शाब्दम् । नाद्यः । असंभवान् । नह्यस्ति दण्डदेवदत्तयोः शौक्यपट-
योश्चैकाधिकरण्यम् । तयोः प्रतिनियताधिकरणत्वान् । दण्डित्वदेवदत्तत्वयोरैकाधिकरण्य-
मस्ति दण्डिन एव देवदत्तत्वादिति चेत्तर्हि तयोरेवास्तु विशेषणविशेष्यभावो ननु दण्ड-
देवदत्तयोः । नहि दण्ड एव दण्डी । न द्वितीयः । तत्किमेकविभक्तिकानेकपदाभिधे-
यत्वमुत भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः । न प्रथमः । असंभवादेव ।
नहि विशेषणविशेष्यभावेन प्रसिद्धयोर्दण्डदेवदत्तयोर्दण्डो देवदत्त इत्येकविभक्तिकानेक-
पदाभिधेयत्वमस्ति । नापि चरमः । दण्डीदेवदत्त इत्यत्रैवाददर्शनान् । नहि यथा शुक्लः
पट इति शुक्लगुणं पटत्वं च निमित्तीकृत्य पदद्वयं पटे प्रवृत्तं तथा दण्डित्वं दण्डं वा
निमित्तीकृत्य दण्डपदं देवदत्ते प्रवृत्तं येन सामानाधिकरणता स्यात् । दण्डित्वं निमित्ती-
कृत्य दण्डिशब्दो देवदत्ते प्रवृत्त इति चेत्प्रवर्ततां नाम ननु तद्विशेषणम् । दण्डविशिष्ट-
रूपत्वात्तस्य । किंच जटी तापसो जटाभिस्तापस इति वैकल्पिकप्रतिभासमात्रेण विशेषे-

सिद्धे । द्वितीयेपि परस्पराश्रय एव, विशेषणस्याद्याप्यसिद्धेरिति भावः । उक्त परस्पराश्रयं लक्षणान्तरेण्यति-
दिशति—एतेनेति । विशेष्यं येन पदार्थेन स्वबुद्ध्या रज्यते स रज्जको विशेषणम् । नहुपलक्षणस्योपरज्जक-
त्वमस्ति तदस्थत्वादिति निष्कर्षार्थः । अस्यापि विशेष्यगर्भत्वात्तु देवदत्तोन्याश्रयत्वमित्याह—परस्परेति ।

विशेषणोपलक्षणयोस्तात्पर्यपरिशुद्धावुदयनेनोक्तं भेदमनूय निराचष्टे—यत्पुनरिति । सामानाधिक-
रण्येनेति । जटी तापस इतिवदित्यर्थः । विशेषणविशेष्ययोरैकाधिकरणत्वरूपसामानाधिकरण्यमसिद्धमि-
त्याह—नाद्योऽसंभवादिति । तदेव विवृणोति—नह्यस्तीति । प्रतिनियतेति । दण्डस्य पुरुषावि-
करणत्वात्पुरुषस्य भूतलाधिकरणत्वादेवं शौक्यस्य पटाधिकरणत्वान्नटस्य च तन्त्वधिकरणत्वादिति भिन्ना-
धिकरणत्वादित्यर्थः । यद्यपि दण्डदेवदत्तयोर्नैकाधिकरण्यं तथापि दण्डित्वदेवदत्तत्वयोरस्त्यैकाधिकरण्यमिति
शङ्कित्वा परिहरति—तर्हीति । दण्डदेवदत्तयोर्विशेषणविशेष्यभावः प्रसिद्धः लोके ननु दण्डित्वदेवदत्तत्व-
योरतस्तयोः सामानाधिकरण्यमनुयोगीत्यर्थः । अथ धर्मद्वारा धर्मिणोरपि मतिस्तदापि दण्डदेवदत्तयोरेव ।
ननु दण्डदेवदत्तयोर्दण्डित्वस्य दण्डधर्मत्वात् दण्डस्य च दण्डित्वाभावादित्याह—नहि दण्ड एव
दण्डीति । एवं विशेषणविशेष्ययोरार्थः सामानाधिकरण्यमिति पक्षं दूषयित्वा शाब्दमिति पक्षं दूषयति—
न द्वितीय इति । एकस्मिन्नर्थे वृत्तिः पर्यवसानम् । असंभवेवाह—नहीति । तथासति दण्डो देवदत्त-
नैत्यमुत्पलमिति प्रयोगः स्यात् चेतदस्तीत्यर्थः । द्वितीयेऽव्याप्तिमाह—दण्डी देवदत्त इति । विशेषणी-
भूतदण्डवाची दण्डशब्दो न देवदत्तपदेन सामानाधिकरणः । यश्च दण्डिशब्दः सामानाधिकरणं नोक्तैर्दण्ड-
वाचक इत्यर्थः । एतदेव पर्यनुयोगपरिहाराभ्यां विशदयति—दण्डित्वमित्यादिना । किंच सामानाधि-
करण्येन प्रतीयमानत्वं वैयधिकरण्येन प्रतीयमानत्वं चेति योयं विशेषो विशेषणोपलक्षणयोः स तावन्नार्थ-
कृतः, एकस्यैवार्थस्योभयथापि प्रतिभामान्, तस्मात्प्रतीतिकृत एवेति वक्तव्यं तथाच सर्वोपि धर्मधर्मिवर्ग-
प्रतीतिमात्रवैचित्र्यं स्यात्, सर्वस्यापि विशेषणोपलक्षणान्तर्भावात्, तथाच बुद्धिवैचित्र्यमेवार्थवैचित्र्यं ननु
तदतिरिक्तमिति योगाचारमते निपात इत्याह—किंच जटीत्यादिना । उक्तदूषणं लक्षणान्तरेण्यति-

षणोपलक्षणव्यवहारमङ्गीकुर्वाणः सर्व एवायं मानमेयादिव्यवहारो बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्म्या-
दिभावेन न बहिःसदसत्त्वमपेक्षत इति सौगतमतानुप्रवेशमात्मनस्तार्किकमन्यो नालोच-
यते । एतेन संबद्धमेव व्यावर्तकं विशेषणमसंबद्धमपि व्यावर्तकमुपलक्षणमित्यपि परास्तम् ।

अस्तु वा भवदिच्छया यत्किञ्चनावच्छेदकमवच्छिन्नं च तथापि किं तत्पदमिति वि-
वेचनीयं यत्समुदायो वाक्यम् । ननु प्रसिद्धिमिद्धमेव सुप्तिङन्तं पदमिति किमिह विवे-
चनीयमिति चेन्मैवम् । एकैकस्य मिलितस्य वा लक्षणत्वे सुबन्तेपि तिङन्तस्य तिङन्तेपि
सुबन्तस्योभयोरुभयत्र चाव्याप्तेः । उभयान्यतरदिति चेन्न । अन्यतरशब्देनैकैकस्य मिलि-
तस्य वाभिधाने पूर्वदोषानुषङ्गात् । उभयान्यान्यदिति चेन्न । उभयशब्देनोभयत्वसं-
ख्याविशिष्टत्वविवक्षायामन्यशब्देन चान्यत्वाधिकरणत्वविवक्षायामुभयोरपि तत्संभवेन
पूर्वोक्तदोषानतिवृत्तेः । अपि च सुप्तिङन्तं पदमिति यत्र सुप्तिङौ स्तस्तत्पदं यत्र वा तौ
विधित्सितौ तत्पदम् । नाद्यः । विभक्तिसत्त्वस्य विशेषणत्वेऽव्ययानां लुप्तविभक्तिकाना-
मपदत्वप्रसङ्गात् । उपलक्षणत्वे च प्रातिपदिकस्यापि पदत्वं भाविनापि विनाशेन विनाशी
घट इतिवद्भाविनापि विभक्तिसत्त्वेनोपलक्षितत्वोपपत्तेः । अत एव न द्वितीयः । एतेन
विभक्त्यन्ता वर्णाः पदमित्यपि निरस्तम् ।

दिशति—एतेनेति । व्यावर्तकत्वानिरुक्तेरित्यर्थः । अत्र चैवकार उपलक्षणव्यावर्तकः । अपिस्त्वव्याप्ति-
व्यावर्तकः ।

एवमवच्छिन्नत्वं दूषयित्वा पदसमुदाय इत्यत्र पदपदार्थं दूषयति—अस्तुवेति । अनवसरशङ्कां निराचष्टे
—यत्समुदाय इति । पाणिनीयं पदलक्षणमुद्गावयति—नन्विति । तत्र 'स्वौजसमौट्ठस्वाभ्यभिष्टे-
भ्याभ्यस्यस्वसिभ्याभ्यस्यसोसाम्भ्योस्तु'विति सूत्रोक्तसप्तविभक्त्यात्मकैकविंशतिवचनानां प्रत्याहारन्यायेन सुबिति
निर्देशः । तिङिति च 'तिसृश्चित्तिथ्यस्थमिष्वम्मास्ताताज्ञासाथाध्वमिद्धहिमहिडि'तिसूत्रोक्ताष्टादशरूपाणां नि-
र्देशः । एतद्विभक्तिवर्गद्वयान्तं शब्दरूपं पदमित्यर्थः । तदेतदूषयति—मैवमिति । किमेतत्पदमात्रलक्षणं
किं वा तद्विशेषलक्षणम् । नान्य । पदमात्रलक्षणस्य पृष्ठत्वात्सामान्यलक्षणासिद्धौ विशेषास्तिद्वेष्टे । प्रथमे-
त्वव्याप्तिरेकैकस्य लक्षणत्वे सुबन्तत्वस्य तिङन्तेऽभावात्तिङन्तत्वस्य च सुबन्तेऽभावात् । मिलितस्य लक्षणत्वे
चोभयत्राव्याप्तिरेकैकस्योभयान्तत्वाभावादित्यर्थः । अनुगतरूपसिद्धौ शङ्कते—उभयान्यान्यदिति । दूष-
यति—नेति । उभयत्वसख्याविशिष्टादेतस्माद्यदन्यद्विश्वं तदन्यत्वाधिकरणं यदेतदुभयं तत्त्वमिह लक्षणे
विवक्षितोर्थः । नचेदमुभयसाधारणमिति प्रत्येकमिलितविकल्पतद्दोषौ च समानावित्यर्थः । उभयान्यान्यश-
ब्दानां च साधारणार्थविवक्षया सर्वत्रातिव्याप्तिरित्यपि द्रष्टव्यम् । इदानीं तदन्तत्वातिरुक्त्यापि लक्षणं
दूषयति—अपि चेति । किमयं बहुव्रीहिस्तद्गुणसविज्ञानः किं वाऽतद्गुणसविज्ञान इत्यर्थः । आद्येपि किं
विशेषणतया विभक्तिसत्त्वं विवक्षितमुपलक्षणतया वा । नाद्यः । अव्यापनादित्याह—नाद्यः । विभक्तीति ।
ज्ञात्वा ज्ञातुमित्यादीनि तावत्पदत्वेन प्रसिद्धानि नचैतेषु विभक्तिसत्त्वमस्ति, 'अव्ययादासुप' इति विभक्ति-
लोपात् कृन्मिजन्त क्त्वातो मुन् कसुन' इति चाव्ययसज्ञा विधानादितरथाऽकार्यभोजीत्यादिष्वपि लुप्तविभ-
क्तिकेष्वव्याप्तिरिति भावः । उपलक्षणत्वपक्षं दूषयति—उपलक्षणत्वेचेति । प्रातिपदिकग्रहणं धातोरप्यु-
पलक्षणम् । ननु तदानीमविद्यमाना विभक्ति प्रातिपदिकस्य कथमुपलक्षणमिति तत्राह—भाविनापीति ।
नाशोपलक्षितसत्तायोगित्वमनित्यत्वमित्यत्र तदानीमविद्यमानेनापि नाशेनोपलक्षणदर्शनात् । एवं विनाशी
घट इत्यत्रापीति भावः । विधित्सिताविति पक्षं दूषयति—अत एवेति । प्रातिपदिकमात्रस्यापि पदत्वप्रसङ्गा-
दित्यर्थः । उक्तदूषणं लक्षणान्तरेत्यतिदिशति—एतेनेति । विभक्तेर्विभक्त्यन्तत्वस्य चानिरूपणादित्यर्थः ।

ननु शाब्दप्रतीत्यजन्यशाब्दप्रतीतिजनकं वर्णात्मकं पदमिति लक्षणं अत्र च शाब्द-
प्रतीतिजन्यशाब्दप्रतीतिजनकं वाक्यं प्रथमविशेषणेन व्यावर्त्यते द्वितीयेन च प्रत्यक्षा-
नुमानादावतिव्याप्तिर्व्युद्स्यते वर्णात्मकत्वविशेषणेन चादृष्टेश्वरादि । तदिहाधुनिकलक्षणे न
कोपि दोष इति चेन्मैवम् । विकल्पासहत्वान्, तत्किं शब्दशब्देन पदं विवक्षितमुत वा-
क्यम् । नाग्रिमः । पदस्याद्याप्यसिद्धेः । न पश्चिमः । पदासिद्धौ तस्याप्यसिद्धेः । ना-
प्याकाङ्क्षासंनिधियोग्यतावन्ति पदानि वाक्यमिति तृतीयः पक्षः । आकाङ्क्षायाः पुरुषध-
र्मस्याचेतनेषु पदेष्वभावात् । आकाङ्क्षा हि जिज्ञासा, उक्तं हि—‘अन्वितस्याभिधानार्थमुक्ता-
र्थघटनाय वा । प्रतियोगिनि जिज्ञासा या साकाङ्क्षेति गीयत’ इति ।

योग्यतापि किं पदानामेव सहप्रयोगयोग्यत्वमुतान्योन्यान्वययोग्यार्थत्वम् । नाङ्कः । वह्निना
सिञ्चेदित्यादावपि सहप्रयोगदर्शनात् । नापि द्वितीयः । वाक्याभासेपि प्रसङ्गान् । नद्यास्तीरे
फलानि सन्तीति विप्रलम्भकवाक्यस्थपदानामप्यन्योन्यान्वययोग्यार्थकत्वान् । अन्यथा

आधुनिकरीत्या पदलक्षणमुद्भावयति—**नन्विति** । शब्दजनिता या प्रतीतिस्तयाऽजन्यत्वे सति शाब्द-
प्रतीतिजनकं वर्णात्मकं च यत्तत्पदमित्यर्थः । स्वयमेव विशेषणत्रयस्य कृत्यमाह—अत्र चेत्यादिना ।
पदसमुदायात्मकं वाक्यमतः । समुदायिपदविषयप्रत्यक्षप्रतीतिजन्यं तच्छाब्दप्रतीतिजनकं च वाक्यार्थप्रती-
तेरपि शाब्दत्वादतस्तद्व्यवच्छेदाय तयाऽजन्यत्वविशेषणमित्यर्थः । शाब्दप्रतीत्यजन्येत्यत्र प्रतीतिविशेषणीभूत-
शब्दशब्देन पदमभिधीयते वाक्यं वेति विकल्पाद्यमात्माश्रयत्वेन दूषयति—**नाग्रिम इति** । द्वितीयं
दूषयति—**न पश्चिम इति** । पदसमुदायो हि वाक्यमतः पदासिद्धौ वाक्यमप्यसिद्धमित्यर्थः । वाक्ये
चातिव्याप्तिः । तस्यापि वाक्यजन्यप्रतीत्यजन्यत्वे सत्युक्तविशेषणत्वात् । वर्णसमुदायरूपपदसमुदाये च
वाक्ये वर्णात्मकत्वमप्यस्त्येवान्यथा पदस्यापि वर्णात्मकताभावप्रसङ्गादिति । नच शब्दत्वजातीयाजन्यशब्द-
त्वजातीयजन्यप्रतीतिजनकवर्णसमुदायः । पदमिति युक्तम् । प्रथमविशेषणेन सर्वशब्दत्वजातीयविवक्षाया
तदजन्यत्वविशेषणं द्वितीयेन व्याहृतम् । द्वितीये वाक्येतिव्याप्तिः । तस्यापि यन्किञ्चिन्पदाजन्यत्वे सत्यु-
क्तरूपत्वादिति । किं पदसमुदायो वाक्यमित्यादिना त्रिधा वाक्यलक्षणं विकल्प्याद्यै द्वौ दूषितौ इदानीं
तृतीयं दूषयति—**नाप्याकाङ्क्षेति** । किमत्र योग्यतासन्निधिवदाकाङ्क्षाधिकरणत्वं विवक्षितमुत तद्विषयत्वम् ।
नान्य । विषयविषयिभावस्य खण्डितत्वात् । आद्येऽसिद्धिमाह—**आकाङ्क्षाया इति** । **अन्वितस्येति** ।
वृक्ष इत्यत्रान्वितस्याभिधानार्थं विश्वजिता यजेतेत्यादावुक्तार्थयागस्य घटनाय प्रतियोगिनि जिज्ञासा या पुंसः
आकाङ्क्षेति गीयत इत्यर्थः । एतच्चोभयं विविच्य दर्शितमभिहितान्वयवादे ।

योग्यतामपि विकल्प्य दूषयति—**योग्यतेति** । किं पदगता पदार्थगता वेत्यर्थः । आद्येऽतिव्याप्तिमाह—
वह्निनेति । तयोरपि सहप्रयोगं योग्यतास्त्येवेतरथा तत्कार्यसहप्रयोगो न स्यादित्यर्थः । वाक्येनान्ये समु-
नमेव दर्शयति—**नद्यास्तीर इति** । ननु बाध्यमानस्य तदर्थस्य कथमन्वययोग्यतेति तत्राह—**अन्यथेति** ।
अयं भावः । अत्र किं प्रमाणान्तरवाधादन्वयो नास्तीत्युच्यते किंवा तद्योग्यतैव नास्तीति । आद्ये प्रकृतदो-
षापरिहारः । अन्वयाभावेपि योग्यतानपायात् । नहि यावद्योग्यत्वं कार्यदर्शनमस्ति नियमेन कार्यानिष्पत्ते-
रिति चेन्न । असिद्धे, आप्तवाक्ये तेषामेवान्वयदर्शनात् । एतेन योग्यताभावपक्षोऽपि प्रत्युक्तः । नचाप्तवा-
क्यस्थपदार्थेभ्यो नाप्तवाक्यस्थपदार्था अन्य एवेति वाच्यं तथा सति तेषामन्वयायोग्यत्वस्याप्यसिद्धेः क्व दृष्टं

प्रामाणिकवाक्येपि तेषामनन्वयापत्तेः । प्रमाणान्तरविरोधादिह पदार्थानामन्वययोग्यता नास्तीति चेन्न । संसर्गाभावेपि संसर्गयोग्यस्वभावस्याखण्डितत्वात् ।

अस्तु वा यत्किंचिद्विचारितरमणीयं पदं तत्समूहश्च वाक्यं तथापि कुत्र प्रमाण-
मिति विवेचनीयम् । ‘शब्दो मानं विवक्षायां ज्ञानेऽर्थे वा भवन्भवेत् । नाद्यौ तद्व्यभि-
चारित्वान्नान्यः संगत्योगतः’ ॥ ३१ ॥ न तावद्देवदत्त गामभ्याजे’ति पदनिचयस्तद्वि-
वक्षायां तज्ज्ञाने वा लिङ्गतया मानं व्यभिचारित्वात् । भ्रान्तस्य पिपासोः पानीयविव-
क्षायां कुकुदं देहीति प्रयोगदर्शनात् । अन्यथा जानतोपि विप्रलम्भस्यान्यथाप्रयोगदर्श-
नाच्चाप्तवाक्यमेव तयोर्लिङ्गं नेतरदिति चेत् । अस्तुतर्हि तदर्थस्यैव प्रतिपादकत्वं तस्य
तेनाव्यभिचारात् । किंच वाक्यं वाक्यार्थेनाविशेषितज्ञानविवक्षयोर्मानमुत विशेषितयोः ।
नाद्यः । व्यवहाराभावप्रसङ्गात् । द्वितीये तु तद्विशेषणभूतोऽर्थः केनाधिगत इति वा-
च्यम् । न तावत्प्रत्यक्षेण । नदीतीरे फलसत्तायाः श्रोतुरिन्द्रियासन्निकृष्टत्वात् । नानुमा-
नेन । तद्व्याप्तलिङ्गाभावात् । नाप्येतद्वगतिः स्मृतिः । पूर्वमननुभूतत्वात् । नाप्युत्प्रेक्षा ।
तस्याः प्रत्यक्षानुमानयोरनन्तर्भावात् । नापि संशयः । कोटिद्वयानवलम्बित्वात् । नापि

तेषामन्वययोग्यतास्तीति संगतिग्रहणाभावादबोधकता च । अख्यातिवादिनापि च पदार्थबोधाङ्गीकारात्-
स्मादस्त्येवानाप्तवाक्ये व्यभिचार इति एतदेव चोद्यपरिहाराभ्या विशदयति—**प्रमाणान्तरेत्यादिना ।**

एवंतावच्छब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेर्धे बुद्धिः शाब्दमिति लक्षणे शब्दविज्ञानादित्यंशो दुर्निरूप इत्युक्तमिदानीं
तदपेक्षार्थविज्ञानमित्यत्रार्थशब्दार्थोऽपि विचारासह इत्याह—**अस्तुवेत्यादिना ।** मानंभवन्शब्द किं
वक्तुविवक्षायां पदार्थसंसर्गविषयिण्या लिङ्गतया भवेत् यथाहु सौगता —‘वक्तुरभिप्रायं तु सूचयेयु’रिति ।
किंवा वक्तुप्रयोगमूलभूतज्ञाने लिङ्गतया यथा वैशेषिकादयः । उपलक्षणं चैतत् रागाभिप्रायङ्गोरपि । किंवा
वाक्यार्थे स्वभावत एव यथा मीमांसका । न तावदाद्यौ । ताभ्यां शब्दस्य व्यभिचारात् । नाप्यन्य । पदा-
र्थेषु संगत्यसम्भवेन तत्संसर्गरूपवाक्यार्थेपि प्रामाण्यायोगादिति समग्रह्योक्तयोजना । इममेव संग्रहं विवृणोति
—**न तावदित्यादिना ।** विवक्षाय्यभिचारमुदाहृत्य ज्ञानव्यभिचारमुदाहरति—**अन्यथा जानतोपीति ।**
तदुक्तं भट्टपादै ‘अन्यथा सविदानोपि विवक्षत्यन्यथा यत । तस्मादेकान्ततो नास्ति पुंवाक्यात्तद्व्या गति’-
रिति । ननु नास्माभिः शब्दमात्रं विवक्षाज्ञानयोः प्रमाणमित्युच्यते अपित्वाप्तवाक्यं तस्य च न ताभ्यां
व्यभिचार इति शङ्कित्वा परिहरति—**अस्तु तर्हीति ।** अनाप्तवाक्येष्वर्थव्यभिचारदर्शनेन खलु विवक्षाज्ञा-
नयोः प्रामाण्यमाश्रीयते तत्रापि चेदाप्तवाक्यत्वेन विशेषणमर्थे एव किमिति तर्हि तादृशं वाक्यं प्रमाणं न
स्यादस्ति हि तेनापि तस्याव्यभिचार इत्यर्थः । इतोपि विवक्षाज्ञानयोः प्रामाण्यं न संभवतीत्याह—**किंच**
वाक्यमित्यादिना । किं ज्ञानविवक्षामात्रयोर्वैक्यं प्रमाणमुत तत्तद्वाक्यार्थविशेषितज्ञानविवक्षयोरित्यर्थः ।
आद्यमसम्भवेन दूषयति—**व्यवहारेति ।** नहि ज्ञानमात्रविवक्षामात्रप्रतिपत्त्या गवानयनादौ प्रवृत्तिः सम्भ-
वतीत्यर्थः । द्वितीये तु ते वाक्यार्था ज्ञाता न वा । आद्ये किमन्यतस्तेषां ज्ञानं शब्दत एव वा । न तावद-
न्यत इत्याह—**न तावत्प्रत्यक्षेणेत्यादिना ।** इन्द्रियासन्निकृष्टत्वाद्वाक्यप्रयोगसमय इति शेषः । ननु
स्मृतिरेव सा अतः सस्कारादेव प्राप्तेति तत्राह—**नाप्येतद्वगतिरिति ।** उत्प्रेक्षापक्षेपि न तावत्स्मृतिः ।
निरस्तत्वात् । अनुभवपक्षे तु प्रमाणं न वा । आद्ये प्राह—**प्रत्यक्षेति ।** द्वितीयेपि संशयो विपर्ययो वा ।

विपर्ययः । तत्र प्रवृत्तस्य तत्प्राप्त्यभावप्रसङ्गात् । शब्दादेव तु तदधिगमे परस्पराश्रयता अनुमावैयर्थ्यं च ।

अनधिगमे तु तद्विशिष्टज्ञानानुमानायोगः । नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिरिति न्यायात् । नापि तृतीयः । अर्थेन शब्दसंगत्यभावान् । शब्दार्थयोरेकदेशकालत्वनियमाभावात् । वाच्यवाचकलक्षणः संबन्धोस्तीति चेत् । वाचकत्वं नाम तद्विषयप्रतीतिजनकत्वं वाच्यत्वं तज्जन्यप्रतीतिविषयत्वं तदेवासति संबन्धे कथं स्यादिति पर्यनुयोगे तस्मादेव तद्ववृत्तीति श्रुवाणः पण्डितगोष्ठीषु कथं नापत्रपेन् । अन्तरेण च संबन्धं शब्दस्यार्थविशेषप्रतीतिजनकत्वेध्यक्षानुमानयोरपि संबन्धसमर्थनवैयर्थ्यापातः । कस्य चायं शब्दो वाचकः किं जातेरुत व्यक्तेः किं वा जातिविशेषितायाः व्यक्तेः । नाद्यः । विशेषविषयव्यवहाराभावप्रसङ्गात् । अथ जातावेवावसितमंगनिकानि पदान्यनाकलितविशेषायास्तस्या बोद्धुमशक्यत्वात्तत्रापर्यवसितव्यापाराणि विशेषानपि बोधयन्तीति मतं तदपि न । विकल्पासहत्वात् । तथाहि । प्रथमं जातिमात्रमवबोध्यापर्यवसानादनन्तरं विशेषमवबोधयन्ति किं वान्तर्भावितविशेषामेव जातिम् । नाद्यः । पदबुद्ध्योर्विरम्यव्यापाराभावान् । द्वितीयेपि विशेषेषु पदानां शक्तिरस्ति न वा । अस्ति चेज्जातिरेव शब्दार्थ इत्यभ्युपगम-

नोभावपीत्याह—**नापि संशय इति** । अस्तु तर्हि शब्दादेव तदधिगम इति नेत्याह—**शब्दादेवेति** । यदा शब्दतोर्थं ज्ञात्वा तद्व्यावृत्तविवक्षा वा ज्ञानं वा शब्देन लिङ्गभूतेनानुमीयते ताम्या चार्थानुमानं तथा-चार्थज्ञाने विवक्षाज्ञानं विवक्षाज्ञाने चार्थज्ञानमिति परस्पराश्रय इत्यर्थः । किञ्च प्रथमत एवार्थप्रतीतौ तद्विवक्षया पुनस्तदनुमानं च वृथेत्याह—**अनुमानेति** । अथवा न परस्पराश्रयः । अर्थव्यावृत्तविवक्षया पुनरर्थानुमानाभावाद्यवहारस्य प्राथमिकार्थप्रतीत्यैवोपपत्तेरिति यदि परो ब्रूयात्तं प्रत्याह—**अनुमानेति** । तर्हि प्राथमिकमर्थमतिरिक्तं विवक्षानुमानमनर्थकं तावन्मात्रादेव व्यवहारसिद्धमित्यर्थः ।

एवं त्रायमानार्थव्यावृत्तविवक्षाज्ञानयोः प्रामाण्यमिति पक्षे दूषयित्वाऽज्ञायमान इति पक्षं दूषयति—**अनधिगम इति** । अर्थे प्रमाणं शब्द इति तृतीयं पक्षं दूषयति—**नापि तृतीय इति** । अर्थेनेति । पदार्थेन संगत्यभावात् पदनिचयस्य न पदार्थसमूहे प्रामाण्यमित्यर्थः । ननु माभूदेकदेशादनियमलक्षणः संबन्धः वाच्यवाचकलक्षणस्त्वस्ति संबन्ध इति शङ्कते—**वाच्येति** । संबन्धव्यतिरेकेणार्थस्य वाच्यत्वं शब्दस्य वाचकत्वं वा न भवति तत्र तस्यैव संबन्धोक्तावात्माश्रय स्यादिति परिहरति—**वाचकत्वमित्यादिना** । गोष्ठीषु सद स्तित्यर्थः । असंबन्धस्यैव वाच्यत्वं वाचकत्वं वेत्याशङ्क्यातिप्रमक्तिः स्यादित्याह—**अन्तरेणेति** । अस्तु वा वाचकत्वं तथापि कस्य वाचक शब्द इति विकल्प्य दूषयति—**कस्य चायमित्यादिना** । यद्यप्याकृत्यधिकरणे नियोगेन विकल्पेन द्वे वा सहसमुच्चितं संबन्ध समुदायो वा विशिष्टा चैक्यापि वेति वार्तिककारैर्बहव पक्षा उपन्यस्ताः । तथापि तेषामत्यन्ताभासत्वात्तैरेव निरस्तत्वाच्च स्मरणाचार्येणेह नोपन्यस्य निरस्यन्ते । जातिमात्रे गृहीतसगतिकस्य व्यक्तावपर्यवसानवृत्त्या बोधकत्वमिति प्राभाकररीत्या पूर्ववादिनोक्तं विकल्प्य दूषयति—**तथाहीति** । यदिदमपर्यवसानाद्यक्तिबोधनं तत्किं जातिप्रतीते पश्चात्किं वा जाल्या सहैवेत्यर्थः । आद्यमसम्भवेन निरस्यति—**नाद्य इति** । बुद्धिग्रहणं दृष्टान्तार्थं द्वितीयेपि किं व्यक्तावशक्त शक्तौ वा । नाद्य । अशक्तस्य तद्व्यक्तावभावात् । द्वितीयेपि व्यक्तिरपि शब्दवाच्येत्यपसिद्धान्तापत्तिरित्याह—**द्वितीयेपीति** । ननु व्यक्तावशक्तमेव पदं कथं तर्हि तत्र बुभुत्पत्तिर्ल-

भङ्गप्रसङ्गः । अस्तु तर्हि जातिरेव वाच्या व्यक्तिस्तु तदविनाभावाल्लक्ष्येति चेन्मैवम् । अविनाभावासिद्धेः । किं गोत्वजातेर्व्यक्तिमात्रेणाविनाभावः किं वा गोव्यक्त्या । नाद्यः । गोत्वजातेर्घटादिव्यक्तिभिरविनाभावाभावात् । न द्वितीयः । आत्माश्रयत्वात् । गोत्वजातिविशिष्टायां गोत्वस्य वर्तनाङ्गीकारात् । विशिष्टस्य लक्ष्यत्वे विशेषणभूताया जातेर्लक्ष्यत्वप्रसङ्गात् । एतेन सास्त्रावता विशेषेणाविनाभाव इत्यपि प्रत्युक्तम् । किंच सापि शक्तिरनधिगता न कार्याय पर्याप्तेति तदधिगतैरवस्थाश्रयणीया न च सा शक्या विशेषाणामानन्त्याद्वाभिचाराच्च । नास्ति चेद्वाधातः, तत्रासमर्थानि बोधयन्ति च तानीति । अपि च जातिरेव शब्दार्थ इति नियमे कालाकाशदिगादिशब्दानामवाचकत्वप्रसङ्गात्कालाकाशादौ कालत्वादिजातेरभावात् । यत्र संभवति तत्र जातिरितरत्र तु व्यक्तिरिति व्यवस्येति चेन्न । पाचकादिशब्दानामुपाधिपरत्वस्वीकारात् । अस्तु तर्हि त्रितयं शब्दार्थ इति चेन्न । जातिशब्दार्थत्वदोषाणामुपाधिष्वपि तुल्यत्वात् । नच त्रितयस्य मिलितस्यैकैकस्य वा शब्दार्थत्वप्रयोजकता । व्यभिचारित्वात्, अन्यतमत्वस्य च खण्डितत्वात् । एतेन व्यक्तेरपि शब्दार्थता प्रत्याख्याता । आनन्त्यव्यभिचारयोस्तत्रापि तुल्यत्वात्

क्षणयेति शङ्कते—अस्तु तर्हीति । जातिव्यक्तयोः साधारण्येनासाधारण्येनोभयथापि चाविनाभावोऽसिद्ध इत्याह—मैवमित्यादिना । ननु जातिमात्रस्य न व्यक्तिमात्रेणाविनाभावः किंतु तद्विशेषेणेति द्वितीयं पक्षं दूषयति—न द्वितीय इति । यदि गोत्वविशिष्टाया व्यक्तिौ गोत्वस्याविनाभावस्तर्हि तत्रैव सा वर्तत इति वाच्यं तथा चात्माश्रयत्वमित्याह—आत्माश्रयत्वादिति । उपलक्षणं चैतज्जाते, जाल्याविनाभावादात्माश्रयान्तरस्यापि । किंच गोत्वविशिष्टव्यक्तेरविनाभावाल्लक्ष्यत्वे तद्विशेषणजातेरपि लक्ष्यत्वमित्यभिधेयशून्यता शब्दस्य स्यात्तदभावे च लक्षणापि न संभवेदिति नैरर्थक्यमेव शब्दसामान्यस्य समर्थितं स्यादित्यभिसंधिराह—विशिष्टस्येति । ननु सास्त्रावता विशेषेण गोत्वजातेरविनाभावः न गोत्वविशिष्टेन तथाच नात्माश्रयतेति तत्राह—एतेनेति । सोपि हि गोत्वविशिष्ट एवेति पूर्वोक्तदूषणद्वयं स्यादित्यर्थः । अनन्त व्यभिचाररूपो वा पूर्वोक्तदोषः । किंच ययाकयापि भवत्वविनाभावः तथापि तासु व्यक्तिषु बोधनसामर्थ्यमस्ति न वा अस्तिचेदगृह्यमाणा वा गृह्यमाणा वा । आद्ये प्राह । किंच सापीति । अनधिगतलक्षणापरिकर प्रत्यपि बोधकत्वप्रसङ्गाच्चेत्यपि द्रष्टव्यम् । द्वितीये प्राह—नच सेति । ननु नास्त्येव तादृशी शक्तिरभिधेयनिष्ठत्वाच्छक्तेरिति तत्राह—नास्ति चैतदिति । व्याघातमेव दर्शयति—तत्रेति । किंच सर्वशब्दानां जातिरर्थः । उत यत्र संभवति तत्रेति मतम् । नाद्य इत्याह—अपिचेति । नह्येकैव्यक्तिषु कालादिषु जातिरस्तीति तद्वाचकशब्दानां नैरर्थक्यप्रसङ्ग इत्यर्थः । द्वितीयं शङ्कते—यत्रेति । एतदव्यापकमुभयव्यतिरिक्तस्योपाधेरपि क्वचिच्छब्दार्थत्वाश्रयणादित्याह—न पाचकादीति । अव्याप्तिद्वयं परिहरन्शङ्कते—अस्तु तर्हीति । त्रितयं जातिर्व्यक्तिरुपाधिश्चेत्यर्थः । एतदपि न संभवति, उपाधेः शब्दार्थतायां जातिवदुपहितेषु व्यक्तिष्विव प्रवृत्त्यसंभवादेस्तुल्यत्वादित्याह—न जातीति । किंच त्रितयमपि किं मिलितं शब्दार्थं किं वककम् । नाद्यः । प्रत्येकस्थले तदभावात् । द्वितीयोऽसिद्धः । एकैकस्थले तदितरयोरभावादेव । अथान्यतमं शब्दार्थं स्यान्नान्यतमस्य त्रितयातिरिक्ततया दुर्वचत्वस्याधस्तात्क्रियासममिहारेणोदाहृतत्वादित्याह—अन्यतमत्वस्य चेति । तदेवं जातिः शब्दार्थ इति प्रथमः पक्षः प्रतिक्षिप्तः । द्वितीयं दूषयति—एतेनेति । लक्षणादिपक्षोक्तदोषविशेषमतिदिश्यमानं विशदयति—आनन्त्येति । जातिविशेषिता व्यक्तिः शब्दार्थः इति

विशिष्टस्यापि व्यावृत्तत्वाविशेषाच्चक्रेरिव तस्यापि शब्दार्थता निरसनीया । अथ जातिवैशिष्ट्यं सर्वत्रानुगतमेव शब्दार्थस्तदापि जातेः शब्दार्थतायामुक्तं दूषणं न प्रत्युद्भिद्येत ।

किञ्च वाच्यत्वमर्थस्य धर्मो वाचकत्वं च पदस्य तथा च प्रतिवस्तु नियते वाच्यत्वे वाचकत्वे च संवन्धवाच्योक्तिः कुतस्स्या । एतेन साङ्केतिकः शब्दार्थयोः संवन्ध इत्यपि परास्तम् । सङ्केतस्यापि जातौ व्यक्तौ विशिष्टे वाभिहितन्यायेन दुर्ग्रहत्वान् । तस्माच्छास्त्रं शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेयं बुद्धिरिति लक्षणमलक्षणम् । तथाप्रवाक्यं शब्दप्रमाणमिति नैयायिकानामपि । ‘आप्तोदीरितवाक्येषु मालतीमाधवादिषु । व्यभिचारात् तद्युक्तमाप्तत्वस्यानिरुक्तिः’ ॥ ३२ ॥ स्वकपोलकल्पितमालतीमाधवादिवाक्येषु प्रामाण्याभावादतिव्याप्तिः । नहि पुराण एव मन्नाटकनाटिकादिप्रबन्धविरचनमात्रेणानाप्तो भवति भवभूतिः । उक्तं चैतदुन्वेकेन ‘यदाप्तोपि कस्मैचिदुपदिशति न त्वयाननुभूतार्थविषयं वाक्यं प्रयोक्तव्यं यथाङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते इति तत्रार्थव्यभिचारः स्फुट’ इति । कश्चायमाप्तो नाम यथादृष्टार्थवादीति चेन्न । भ्रान्तवाक्येपि प्रसङ्गात्प्रमाणदृष्ट इति विशेषणेपि प्रमाणदृष्टस्य प्रमादादिनान्यथाकथनेपि प्रसङ्गान् । प्रमाणेन यथादृष्टं तथावादीति चेन्मैवम् । एकदेशे तथाभूतवादित्वेऽप्यंशान्तरेऽन्यथाभूतवादिन्यपि प्रसङ्गान् । यावत्प्रमाणदृष्टं तावत् एव वक्ताप्र इति चेन्न । अज्ञातसंदिग्धानुवादादिवाक्यप्रयोक्तृनाप्तत्वप्रसङ्गान् । अथ निर्दोष आप्त इति चेन्मैवम् । आप्तानामपि कचिद्रागादिदोषसं-

तृतीयपक्षेपि व्यक्तिपक्षोक्तदूषणमतिदिशति—**विशिष्टस्यापीति** । ननु न जातिविशिष्टा व्यक्ति शब्दार्थयेनानन्यादिदोषः स्यात्किन्तु सर्वविशिष्टेष्वनुगतं यज्जातिवैशिष्ट्यं तदेव शब्दार्थ इति तदपि न । तस्यापि जातिवदेवानुगतत्वापावृत्तेषु प्रवृत्त्यभावादेस्तादवस्थ्यादित्याह—**अथ जातीत्यादिना** ।

यस्तु वाच्यवचकत्वमेव संवन्ध इत्युद्भाव्य दूषित पक्षं तत्रैव सिद्धान्तलोकितेन दूषणान्तरमाह—**किञ्चेति** । संवन्धद्वयवर्त्यको हि संवन्धो नाम न चैतत्तथैतीदं संवन्ध एव न भवेदित्यर्थः । अत्र नैयायिका प्राहुः—‘साङ्केतिक शब्दार्थयोः संवन्ध इति । तदपि दूषयति—**एतेनेति** । अतिदिश्यमानमेवाह—**संकेतस्यापीति** । एव मीमांसकानां शब्दप्रमाणलक्षणे दूषणमुपसहरति—**तस्मादिति** । नैयायिकसमतमपि लक्षणं दूषयति—**तथेति** । लक्षणमलक्षणमित्यनुपज्यते । अस्यातिव्याप्तिमिदं च श्लोकेनाह—**आप्तेति** । अनैकान्तिकता विवृणोति—**स्वकपोलेति** । नन्वौत्प्रेक्षिकार्थं वच्मि भासवाक्यान्यतो नातिव्याप्तिरिति तत्राह—**नहि पुरेति** । नाटकादिकाव्ययोगान्ता नाटकविशेषा । भवभूतिरुन्वेक । एतदेवग्रन्थान्तरस्थेन तद्वचनेन समतयति—**उक्तं चैतदिति** । तत्र ह्यननुभूतार्थवाक्यस्योदाहरणत्वेनोच्यमानमायद्भुत्यग्रादिवाक्यमाप्तोक्तवाक्यमेवेत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः—**आप्तत्वस्यानिरुक्तिः** इत्येतद्विवृणोति—**कश्चायमिति** । भ्रान्तवाक्य इति । सोपि हि यथा स्वेन दृष्टं तथैव वक्तीत्यर्थः । ननु प्रमाणदृष्टार्थवक्ताप्तो नाम ततो भ्रान्ते नातिव्याप्तिरिति तत्राह—**प्रमाणदृष्टेति** । ननु न प्रमाणदृष्टस्य वदनमात्रं विवक्षितं येनान्यथावदनमादायातिव्याप्तिः स्यात्किन्तु यथा दृष्टं तथैव वदनमिति शङ्कते—**प्रमाणेनेति** । अत्र किं प्रमाणदृष्टस्य तथावदनमात्रं विवक्षितमतिरिक्तावदनमपि वा आद्ये प्राह—**मैवमेकदेशेति** । द्वितीयशङ्कते—**यावदिति** । तर्ह्यव्याप्तिरित्याह—**अज्ञातेति** । नहि तेषां प्रमाणदृष्टत्वं, व्याघातादित्यर्थः । किमिदं निर्दोषत्वं किं सर्वविषये किं वा कचिद्दोषराहित्यम् । आद्येऽन्यामिमाह—**मैवमाप्तानामिति** । कचिद्रागादिदोष-

भवात् । यत्र विषये यो निर्दोषः स तत्राप्त इति चेन्न । यत्तच्छब्दयोर्विशेषविषयत्वेनासाधारण्यादव्याप्तेः । तस्मादाप्तवाक्यमागम इत्यप्यलक्षणम् । यथार्थवाक्यं शब्दप्रमाणमित्यपि न । यथार्थत्वस्य प्रमितिलक्षणनावसर एव खण्डितत्वात् । एतेन समयबलेन 'सम्यक्परोक्षानुभवसाधनशब्द'मिति भूषणस्यापि लक्षणमपास्तम् । ऊर्ध्वीकृततर्जन्या दशसंख्यानुमाने शङ्खध्वनौ चानुविधेयपुरुषाभिप्रायानुमापके व्यभिचारात् । समयसम्यक्त्वयोश्च पूर्वमेव निरासात् । तदेवं शब्दलक्षणमपि दुर्भणमिति सिद्धम् ।

तथार्थापत्तिलक्षणमपि । अन्यथानुपपन्नदर्शनादुपपादके बुद्धिरर्थापत्तिः । यथाजीवतो देवदत्तस्य गृहान्तरभावमवलोक्य बहिरवस्थानज्ञानम् । नन्विदमनुमानमेवास्तु देवदत्तो बहिरस्ति जीवनवत्त्वे सति गृहेऽभावात् संप्रतिपन्नवदिति चेन्मैवम् । देवदत्तप्रतियोगिकाभावस्य गृहाधिकरणतया देवदत्तधर्मत्वाभावात् । गृहनिष्ठाभावप्रतियोगित्वं हेत्वर्थ इति चेन्मैषम् । यदा जीवन्नस्ति कचिद्देवदत्त इत्याप्तवाक्यादनिर्द्धारितदेशविशेषनिष्ठतया देवदत्तसत्तावगता ग्रामाद्बहिरवस्थितेनैव चैत्रेण सच तदागत्य गृहान्तस्तदभाव-

वतोन्यत्र यथार्थवदनमप्याप्तवाक्यं न स्यादित्यव्याप्तिरिति भावः । द्वितीये त्वतिव्याप्तिर्यत्र कचिदोषरहितस्यान्यथा वदनेपि प्रसङ्गात् । ननु यत्र यो दोषरहितः स तत्राप्तो नान्यत्रेति शङ्किते परिहरति—**यत्तच्छब्दयोरिति** । साधारणविषयत्वे च पूर्वोक्तातिव्याप्तिरित्यपि द्रष्टव्यम् । **यथार्थत्वस्येति** । प्रमात्वव्यञ्जकखण्डनसमय इत्यर्थः । भासर्वज्ञोक्तलक्षणमुद्भाव्य दूषणमतिविशति—**एतेनेति** । अनुमानादिव्यावृत्त्यर्थः समयग्रहणम् । प्रत्यक्षव्यावृत्त्यै परोक्षग्रहणम् । सशयादिव्यावृत्त्यै सम्यग्रग्रहणम् । स्मृतिव्यावृत्त्यर्थमनुभवग्रहणम् । यत्र हि वणिजा समयबलेनोर्ध्वीकृता तर्जन्यङ्गुलिर्दशसंख्यामनुमापयति तत्रानुमाने त्वदुक्तलक्षणमतिपतेदित्यर्थः । अतिव्याप्त्यन्तरमाह—**शङ्खध्वनौ** चेति । अनुविधेय प्रभुः । तत्रापि हि प्रभो सेनोद्योगपरावृत्त्याद्यभिप्रायं समयबलेन शङ्खध्वनिं सैनिकानामनुमापयतीत्यर्थः । एवमधिकं दर्शयित्वातिदिष्टांशं विशदयति—**समयेति** ।

तदित्थं प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दा प्रमाणानीत्यक्षपादसूत्रपरिगणनाक्रमेण प्रमाणचतुष्टयं खण्डितम् इदानीं भाट्टप्राभाकराभिमतार्थापत्तिं खण्डयति—**तथेति** । दुर्भणमित्यनुवर्तते । तत्र तावदार्थापत्तिलक्षणं दर्शयति दूषणाय—**अन्यथेति** । प्रत्यक्षादिव्यवच्छेदार्थमनुपपन्नदर्शनादित्युक्तम् । अनुपपद्यमानविषयनिर्विकल्पकदर्शनात् । यत्सविकल्पकं तत्सदृशं स्मरणं वा भवति तद्व्यवच्छेदार्थमुपपादक इत्युक्तम् । तत्र द्विविधार्थापत्तिः—दृष्टार्थापत्तिः श्रुतार्थापत्तिश्चेति । तत्र प्रथमामुदाहरति—**यथा जीवत इति** । अत्र हि जीवतो देवदत्तस्य बहिरवस्थानं विनानुपपद्यमानगृहाभावदर्शनात्तदुपपादकबहिरवस्थानज्ञानमर्थापत्तिरित्यर्थः । तत्रैव वैशेषिकादेरनुमानान्तर्भाववादिनो मतमाशङ्क्य मीमांसकः पार्थक्यं समर्थयते—**नन्वित्यादिना** । अस्ति हि मैत्रस्य जीवनवत्त्वेपि गृहेऽभावस्य बहिरवस्थानस्य च परस्पर व्याप्तिरिति भावः । मीमांसकः परिहरति—**मैवमिति** । अत्र जीवनवत्त्वे सति गृहेभावादिति कोऽर्थः किं गृहनिष्ठाभावाधिकरणत्वादिति किं वा गृहनिष्ठाभावप्रतियोगित्वादिति । आद्येऽसिद्धिः । नहि गृहाधिकरणश्चैत्रप्रतियोगिकोऽभावश्चैत्रं वर्तत इति सभावति अतोऽपक्षधर्मत्वादसिद्धो हेतुरित्यर्थः । देवदत्तग्रहणं चैत्रोपलक्षणम् । द्वितीयं शङ्कते—**गृहनिष्ठेति** । दूषयति—**मैवमिति** । अत्रानुमानाप्रवृत्तिं दर्शयितुं भूमिकाः परिशोधयति—**यदा जीवन्निति** । यः खल्वनुमाता चैत्रं तेनैव चैत्रेण यदा ग्रामाद्बहिरेव जीवन्नस्ति कचिद्देवदत्त इत्याप्तवचनादनिर्द्धारितदेशविशेषनिष्ठतया देवदत्तोवगतो भवति पुनश्च स एव चैत्रो ग्रामं प्रविश्य गृहमागत्य गृहान्तश्च तस्य जीवतोऽभाव-

मालोक्य बहिःसत्त्वमनुमिमीत इति वाच्यम् । तच्चानुपपन्नम् । साधारणदेशमात्राव-
स्थानविषयस्यागमस्यार्थापत्त्या यावन्न बहिर्देशसत्ताविषयत्वं परिकल्प्यते तावदागमाप-
वाधितविषयतयानुमानस्यानुत्थानान् । कल्पिते तु बहिर्देशविषयत्वेऽनुमानात्प्रागेवार्था-
पत्तिर्लब्धप्रमेयेति कृतमनुमानेनेति भाट्टाः प्रतिपेदिरे । तन्निदमसुन्दरम् ।

‘आगमस्य बहिर्देशविषयत्वस्य कल्पनान् । प्रागेव देवदत्तस्य गृहेऽभावो मितो न वा
॥ ३३ ॥ आद्येनुमानं तेनैव निष्प्रत्यूहं प्रवर्तताम् । द्वितीये कल्पकाभावादार्थापत्त्युदयः
कुतः’ ॥ ३४ ॥ भाट्टानामप्याप्रवाक्यस्य बहिर्देशविषयत्वकल्पनात्प्रागेव देवदत्तस्याभावः
प्रमितोऽप्रमितो वा । प्रमितत्वे तत् एवानुमानोदयादलमर्थपत्तिप्रकल्पनादुच्यमनेन ।
द्वितीये तु कल्पकाभावान् कुतोर्थापत्तेरुदयः । इयाम्नु विशेषः । प्रत्यक्षाभाववादिनो
मते प्रत्यक्षस्यागमाद्वलीयस्त्वादागममवगणय्यापि प्रत्यक्षाधिगतगृहाभावलिङ्गेन भवति ब-
हिर्देवदत्तसत्त्वानुमानमभावप्रमाणाधिगम्यत्वे पुनरभावस्यागमादुर्वलतया तद्विरोधिगृहा-
भावस्यैव प्रमातुमशक्यतया नार्थापत्तिः प्रसरति सदुपलम्भकप्रमाणप्रत्यस्तमय एवाभा-

मवलोक्य बहिः सत्त्वमनुमिमीत इति वक्तव्यम् । इतरथा आप्रवाक्याजीवनसात्रानधिगमे जीवनवत्त्वे स-
तीति विशेषणमिद्विप्रमङ्गान्, गृहाभावमात्रस्य बहिर्भावेनाविनाभावमात्राच्च । प्रत्यक्षस्य च साधारण्येनाप्र-
वृत्तेरनुमानस्य च लिङ्गाभावादत्राप्तवाक्येन सामान्येन जीवनमवगम्य पश्चादनुमिमीत इति वक्तव्यमिति यो-
जना । भवत्वेवमेतावताऽनुमानाभावे किमायातमिति तत्राह—**तच्चेति** । यत्खल्व्वाप्तवाक्य सामान्येन
स्थितिमवबोधयति तस्य किं गृहाद्विषयताया ह्युपायमनुमानमिदं प्रवर्तते अह्युपाया वा । न तावद-
ह्युपायम् । तदाद्यागमस्य गृहेऽपि स्थितिबोधकत्वसम्भवेन तद्विरुद्धबहिरवस्थानानुमानस्य कालात्यापदिष्टत्वा-
दित्यर्थः । अथ ह्युपाया तत्राह—**कल्पिते न्विति** । गृहेऽभवावेदकप्रमाणस्य सामान्येन स्थितिबोधका-
गमस्य च योऽयं विरोधस्तयानुपपत्त्यागमस्य बहिर्भावविषयत्वकल्पनाद्वार्थापत्तिर्नाम तत्प्रवृत्तो चानुमानं नि-
ष्फलमित्यनुमानोपपत्तिरर्थपत्तेश्च पार्थक्यमिति भाट्टानां समर्थनप्रकार इत्यर्थः । अत्र सिद्धान्ती दृषयितुमु-
पक्रमते—**तदिदमित्यादिना** ।

आगमबाधपरिहारार्थमर्थापत्तिरपेक्षणीयेति हि तेनाभिहितं तत्रार्थापत्तिप्रवृत्तिरित्येकैवागमबाधं परि-
हरन्ननुमानप्रवृत्तिं दर्शयति—**लोकद्वयेन—आगमस्येति** । सामान्येन प्रवृत्तागमस्य बहिर्विषयत्वकल्पना-
त्प्रागेव गृहाभावः केनचित्प्रमाणेन प्रमितो न वा । यदि प्रमितस्तर्हि तेनैवागमस्य निरुद्धत्वादनुमानं निर्विघ्नं
प्रवर्तता किमर्थापत्त्या । अथ न प्रमितो गृहाभावस्तर्हि कयानुपपत्त्यागमस्य बहिर्विषयत्वं कल्प्यत इत्यनुमा-
नवदार्थापत्तेरनुदय एवेति श्लोकयोजना । श्लोकौ विवृणोति—**भाट्टानामित्यादिना** । गुडजिह्विकया चे-
दमनुमानस्यार्थापत्तिस्मानयोगक्षेमत्वमुक्तं वस्तुतस्तु भवदार्थापत्त्युदयात्तार्किकानुमानोदयस्याधिक्यमस्तीत्याह
—**इयांस्त्विति** । प्रत्यक्षत खलु गृहाभावस्तार्किकमतेविगम्यते दृश्याभावत्वान् प्रत्यक्षसिद्धे सत्त्वमभा-
गम तृणाय सत्त्वैव प्रवर्तते आदित्यवर्णाद्यागममिव परमात्मन्यरूपत्वानुमान भवता त्वागमादुर्वलमेव गृहाभाव-
ग्राहिप्रमाणमित्यर्थापत्तेरुदय एव विचारणीय इत्यर्थः । तदुक्तं तत्त्वकौमुद्या ‘प्रमाणेन निश्चितस्य गृहेऽमत्त्वस्य
पाक्षिकतया साशयिकेन गृहसत्त्वेन प्रतिक्षेपायोगादिति । तस्माद्गृहाभावेन सिद्धेन बहिर्भावोऽनुमीयत इति
युक्तमिति च । योग्यानुपलब्धेरागमादिर्दौर्बल्येहेतुमाह—**सदुपलम्भकेति** । मतोभावस्योपलम्भकानि यानि
प्रमाणानि तेषां प्रत्यस्तमयेऽनुदय एवाभावप्रमाणप्रवृत्तेरङ्गीकारादितरथा सघटे भूतले निमीलितलोचनस्या-

वप्रमाणप्रवृत्त्यङ्गीकारात् । यथाहुः “प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते वस्तुसत्ताव-
बोधार्थं तत्राभावप्रमाणतेति” । किञ्च यद्यस्य कल्पकमिष्यते तत्तेनाविनाभूतमिष्यते न
वा । आद्ये भङ्ग्यन्तरेण भवतायनुमानमेवाभिहितमिति न प्रमाणान्तरावकाशः । द्वितीये
प्यनियतमेव यत्किञ्चित्कल्पयेदिति नार्थापत्तिप्रमेयसिद्धिः । अनुपपद्यमानस्योपपादकासत्त्वे
विरोधो गमक इति नानुमानमिति चेन्मैवम् । अनुपलब्धेरप्यनुपलभ्यमानसत्त्वे विरोध
एवाभावगमक इत्यभावमानापह्नवप्रसङ्गात् । धूमोपि धूमध्वजस्यासत्त्वे विरोधादेव तद्ग-
मक इत्यनुमानविलयापत्तेश्च । यत्र कार्यकारणभावं विनाऽविनाभावादेव गमकत्वं रस-
रूपादौ तत्र भवत्येवानुमानं लब्धावकाशमिति चेन्न । तत्रापि रूपासत्त्वे रसस्य विरोधा-
देव गमकत्वोपपत्तेः ।

कश्चायं विरोधः किं प्रमाणयोः १ उत प्रमाणत्वेनाभिमतयोः २ अनिर्णीतप्रामाण्या-
प्रामाण्ययोर्वा ३ सामान्यप्रवृत्तप्रमाणेन विशेषप्रवृत्तप्रमाणार्थवाधसंशयो वा ४ तर्कयोरेव
वा ५ । ‘तदसिद्धिरिति व्याप्तिः सक्तिः सप्रतिसाधने । असंभवोऽतर्कता च दोषास्तेषां
क्रमादमी ॥’ ३५ ॥ न तावदाद्यः । उभयोः प्रामाण्ये विरोधस्य विरोधे वा प्रामाण्य-

भावनिर्णयप्रसङ्गादिति भावः । अत्र च वार्तिकसमतिमाह—**यथाहुरिति** । वस्तुमत्त्वं वस्तुतत्त्वम् । भावरू-
पतेति यावत् । तदवबोधार्थमित्यर्थः । भङ्ग्यन्तरेणायनुमानतामर्थापत्तेरनुदयं च विकल्पपूर्वकमाह—**किं-
चेति । कल्पकमिति** । गृहाभावादीत्यर्थः । **तेनेति** । कल्पयेन वहिर्भावेनेत्यर्थः । स्यान्मतं कल्पकस्य
कल्पयेन या व्याप्तिः सानुमित्युत्पादिका । यस्तु कल्पकस्य कल्पयासत्त्वे विरोधः सार्थापत्तिजनक इति कार-
णभेदादनयोर्भेदः । स एव च विरोधोत्र गमक इति नानुमितित्वमिति शङ्कते—**अनुपपद्यमानस्येति** ।
तदेतदनिष्टान्तरापत्त्या दूषयति—**मैवमिति** । एव सत्यनुपलब्धिलक्षणपष्ठप्रमाणमर्थापत्तिरेव स्याच्छक्यते
हि तत्रायनुपलब्धेरनुपलभ्यमानघटसत्त्वे संति यो विरोधः स एव गमक इति वक्तुमित्यर्थः । अनुमानाप-
ह्नवश्च स्यादित्याह—**धूमोपीति** । अनुमानस्यासाधारणं विषयं दर्शयन्नन्तरदोष परिहरति पूर्ववादी—
यत्रेति । कारणाभावे हि कार्यस्य विरोधः । नच रसरूपादावकार्यकारणभूते स इत्यभिमानः पूर्ववादिनः ।
तत्रापि विरोधं सभावयन्नुक्तदूषणं संस्मारयति सिद्धान्ती—**नेति** ।

एवमुपपादकोपपाद्ययोर्विरोधोर्थापत्तिरित्यत्र प्रमाणान्तरेष्वपि भावादतिव्याप्तिरुक्ता । इदानीं विरोधानि-
रूपणादसिद्धिरेवेति दर्शयिष्यन्विरोधं विकल्पयति—**कश्चायमिति** । **सामान्यप्रवृत्तेति** । सामान्येन
प्रवृत्तं यत्प्रमाणं जीवन्देवदत्तं क्वचिदस्तीति तेन विशेषे प्रवृत्तं यत्प्रमाणं गृहाभावग्राहि तदुर्थस्य गृहाभावस्य
बाधेऽस्ति नवेति योऽयं संशयः स चेत्यर्थः । एवं विकल्प्य श्लोकेन सगृह्णाति दूषणानि—**तदसिद्धिरिति** ।
प्रमाणयोर्विरोधे एवासिद्धः अन्यतरस्याप्रमाणत्वात् । इतरथा वस्तुन एव द्वैरूप्यापत्तेरित्यर्थः । द्वितीये दूष-
णमाह—**अतिव्याप्तिरिति** । प्रमाणत्वेनाभिमतिर्नाम किं प्रमाणत्वेन भ्रान्तिः किं वा ज्ञानमात्रम् । उभ-
यथाऽप्यनुमानासौ गमनादतिव्याप्तिरित्यर्थः । तृतीये दूषणमाह—**सक्तिः सप्रतिसाधने इति** । सप्रति-
साधनेप्यनिर्णयमानप्रामाण्याप्रामाण्ययोरुभयोर्विरोधोर्थापत्तेरुदयप्रसक्तिः ततश्चातिव्याप्तिरित्यर्थः । चतुर्थे
प्राह—**असंभव इति** । नहि यद्यत्र विशेषतः प्रमितं तस्य तत्रैव विपरीतप्रमाणविषयत्वसंशयः सम्भवति
स्थाणुवनिर्णयेपि पुरुषत्वसंग्राहकप्रमाणप्रवृत्तिसंशयापातादित्यर्थः । पञ्चमे दूषणमाह—**अतर्कताचेति** ।
मिथो विरोधेन तर्काभासतापातादित्यर्थः । एवमेते दोषास्तेषां पक्षाणां क्रमाद्दृष्ट्या इति श्लोकयोजना ।
सप्रहं विवृणोति—**नतावदित्यादिना** । विरोधस्यासिद्धेरित्युपरितनेनान्वयः । अनुव्यवसायद्वारा मानस-

स्यैवासंभवादसिद्धेरन्यथा वस्तुनो द्वैरूप्यापत्तेः । नापि द्वितीयः । अभिमतशब्देन भ्रमाभिधाने ज्ञानमात्रविवक्षायां वा भ्रमज्ञानयोः प्रमाणत्वेन गृहीतयोर्विरोधाद्विभिन्नविषयत्वकल्पनाया अर्थार्थपत्तित्वप्रसङ्गान् । नापि तृतीयः । वायुर्वाह्यकरणाप्रत्यक्षः अरूपिद्रव्यत्वात् कालादिवन्, वायुः प्रत्यक्ष उपलभ्यमानस्पर्शाधिष्ठानत्वान् घटादिवदित्यनिर्णीत-प्रामाण्याप्रामाण्ययोरनुमानयोर्विरोधेऽप्यर्थार्थपत्तेरुदयप्रसङ्गान् । नापि चतुर्थः । असंभवान् । नहि यद्यत्र विशेषतः प्रमितं तस्य तत्रापि तद्विपरीतप्रमाणविषयत्वमंशय । न खलु स्थाणुरयमिति निश्चयेऽपि स्थाणुर्वा पुरुषो वेति संशेरते जनाः । नापि पञ्चमः । मिथोविरोधेन तर्कयोरेवाभासत्वान् ।

किंचोपपादकेन येन विनानुपपद्यमानत्वं तत्प्रमितं न वा । प्रथमे गृहीतग्राहिकार्थापत्तिर्न प्रमा स्यात् । द्वितीये तु विशेषणामिद्वे, तद्विशेषितानुपपद्यमानार्थाप्रतीतौ कल्पकाभावान्नार्थार्थपत्तिरुदयमासादयेत् इत्यलमतिविस्तरेण ।

अभावाख्यं प्रमाणमपि दुर्निरूपम् । एवं हि वर्णयन्ति—योग्यानुपलब्धिकरणकमर्था-

प्रत्यक्षत्वं सभवति तथेश्वरप्रत्यक्षत्वमेव सर्वस्येत्यप्रतिद्विविशेषणता स्यादिति बाह्यकरणग्रहणम् । रूपादिव्यावृत्त्यर्थं द्रव्यग्रहणम् । घटादिव्यवच्छेदार्थमहपिग्रहणम् । द्वितीयेऽयम्मादिबाह्यकरणप्रत्यक्षत्वं मा' यम् । परमाप्वा-दिव्यभिचारवारणायोपलभ्यमानपदं तदुक्तं न्यायकुमुदात्रलौ—'अनियम्यस्य नायुक्तिर्नानियन्तोपपादकः । न मानयोर्विरोधोऽस्ति प्रसिद्धे चायसौ सम' इति ।

प्रकारान्तरेणार्थापत्तिं दूषयति—किंचोपपादकेति । येन हि देवदत्तबहिर्भावेन विना गृहाभावो नोपपद्यते स किं प्रमितो न वा । आद्येऽर्थार्थपत्तिवैयर्थ्यमित्याह—प्रथम इति । द्वितीये प्राह—द्वितीयेतिवत्यादिना । अन्यथानुपपत्तिदर्शनं हि कल्पकम् । अन्यथेति च कोऽर्थः । बहिर्भावव्यतिरेकेणेति । तथाच बहिर्भावेऽज्ञाते तद्विशेषितं तदन्तरेणानुपपद्यमानत्वमपि न ज्ञातमिति कल्पकाभावादनुदय एवार्थापत्तेरित्यर्थः । तदुक्तं श्रीहर्षकविभि—'यतोऽन्यन्व तन्मिद्वेरेण तदेसिद्धे'रिति । एतेन श्रुतार्थापत्तिरपि प्रत्याख्याता वेदितव्या । अनुपपद्यमानवाक्यैकदेशदर्शनेन वाक्यैकदेशकल्पनं हि सा । तथाहि । पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते इति वाक्यैकदेशश्रवणाद्रात्रौ भुङ्क्ते इति वाक्यैकदेशकल्पनं न चैषा प्रयुज्यते पूर्वोक्तन्यायेनानुमानताया दुष्परिहरत्वात् । किंच नात्र वाक्यमन्तरेण वाक्यस्यानुपपत्तिः । नन्वस्त्येवानुपपत्तिः । शौन्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव पूरणीया । नहि पचतीति पदं प्रत्यक्षौदनेन निराकाङ्क्षमपि त्वोदनपदादिह पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते इति वाक्यस्याकाङ्क्षा रात्रौ भुङ्क्ते इत्यनेनैव पूरणीयेति न तस्य वाक्यस्य संपूर्णक्रियाकारकतया निराकाङ्क्षत्वेन दृष्टान्तवैषम्यात् । अथ पीनो न भुङ्क्ते इत्यभोजनेन नान्वेति भोजनकार्यत्वात्पीनताया इति मतं हन्त तर्हि नेयमाकाङ्क्षा अपि तु योग्यताविरहः । नच सोऽयस्ति । त्रैकाल्यभोजननिषेधे हि स भवेत् । नह्यभुक्त्वा क्षणमपि पीनस्तिष्ठति इति । न वात्र तथा निषेधः । दिवा न भुङ्क्ते इति विशेषनिषेधान् । यदि तु विशिष्टकार्यदर्शनाद्रात्रिभोजनानुमानमनुमान्यमहेतव तदा तु न रात्रिभोजनवाक्यकल्पनावकाशः । तदेतदखिलमितिना सूचयन्नुपसहरति—इत्यलमतिविस्तरेणेति ।

इदानीं भाटाभिमतभावप्रमाणं दूषयति—अभावाख्यमिति । तदभिमतं लक्षणं तावद्दर्शयति—एवं तर्हीति । विषयविषयाविनाभूतव्यतिरिक्तोपलब्धिकारणं सपत्तिर्योग्यता तत्सपत्तौ सत्या योग्यमर्थोपलब्ध्यभावस्तत्करणकं पदार्थाभावज्ञानं तदभावप्रमाणम् । माटवेदान्तिनोहि ज्ञानमेव मुख्यं प्रमाणम् । प्राकट्यस-

भावज्ञानमभावः यथेह भूतले घटो नास्तीति ज्ञानं न चेदं प्रत्यक्षं इन्द्रियसंनिकर्षाजन्य-
त्वान् । नह्यभावेनेन्द्रियसन्निकर्षः संयोगः समवायो वा संभवति । तयोर्भावधर्मत्वान् ।
नापि विशेषणविशेष्यभावः । तस्यापि मूलसंबन्धगर्भतया तन्निवृत्तौ निवृत्तेः । अन्तरे-
णापि मूलसंबन्धं विशेषणविशेष्यभावाङ्गीकारेपि तस्य प्रत्यक्षाङ्गतायाः पुरैव निरासात् ।
नचेदमनुमानादावन्तर्भवति । चक्षुरादिवदनुपलब्धेरज्ञायमानाया एव करणत्वात् । अ-
न्यथानुपलब्धेरन्यनुपलब्ध्यन्तरोपलभ्यमानतायामनवस्थानादिति ।

तदयुक्तम् । केवलानुपलम्भस्य व्यभिचारनिवारिणी । योग्यता चेत्कुतो न स्यादनु-
मानमभावधीः ॥' ३६ ॥ अनुपलम्भमात्रस्य सुषुप्त्यादावभावज्ञानाजनकतया तद्व्यभि-
चारवारणाय योग्यानुपलब्धिरिति विशेष्येतेति चेत्तर्हि योग्यानुपलब्धेरधूमादिवदव्यभि-
चारितयः सभावज्ञानजनकत्वोपपत्तौ कुतः प्रमाणान्तरता । नचाज्ञायमानतया करणत्वेनानु-
मानाद्गर्हिभावः, अन्यथानवस्थाप्रसङ्गादिति वाच्यम् । स्वतःसिद्धसाक्षिप्रसादादेवोपलब्धि-

वेदनयोश्च फलत्वमक्षादौ त्वौपचारिक प्रमाणव्यवहारस्तेनाभावज्ञान प्रमाणमित्यर्थः । शाब्दानुमानिकाभाव-
ज्ञानव्यवच्छेदायानुपलब्धिकरणकमित्युक्तम् । अयोग्यस्यानुपलब्धिमात्रादभावमात्रव्यवच्छेदार्थं योग्यपदम् ।
उदाहरति—यथेति । नन्वज्ञातकरणजत्वात्प्रत्यक्षमेतदिति तत्राह—नचेदं प्रत्यक्षमिति । ननु सयुक्त-
विशेषणतालक्षणसन्निकर्षात्प्रत्यक्षमेतदिति तार्किकास्तत्कथं पृथक्प्रमाणमिति तत्राह—नह्यभावेत्यादिना ।
नन्वस्त्येव विशेषणविशेष्यभावसंबन्ध इति तत्राह—नापि विशेषणेति । सबद्धयोर्हि दण्डदेवदत्तयोः
पटशौक्ल्ययोर्वा विशेषणविशेष्यभावो दृष्ट इति भावः । ननु मूलसंबन्ध विनैव निर्घटं भूतलमित्यभावभूतल-
योर्विशेषणविशेष्यभावो भवद्भिरेवाङ्गीकृत इति तत्राह—अन्तरेणापीति । पुरैवेति । प्रत्यक्षवर्त्मिकानु-
मानमात्रप्रविलयप्रसङ्गापत्तेर्बहुश उक्तत्वादित्यर्थः । नचासबद्धस्यापि प्रत्यक्षत्वे को दोष इति वाच्यम् । अ-
तिप्रसङ्गस्यैव दोषत्वात् । नच तत्परिहारिका दृश्यानुपलब्धिर्भविष्यतीति वाच्यम् । तथासति तावन्मात्रस्यैव
करणत्वेनेन्द्रियवैयर्थ्यात् । नचान्वयस्यापि शुक्ले पटे कार्पण्याभावप्रमितिप्रसङ्गः । प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियेणैवाश्रय-
ग्रहणस्याप्यङ्गत्वात् । नच व्योम्नि स्पर्शाभावाग्रहणप्रसङ्गः । प्रमाणान्तरनिबन्धनत्वात्तद्ग्रहणस्य । अत एव स्पर्श-
माणदेवदत्तकुण्डलादौ देवदत्ताभावग्रहणेपि नानुपपत्तिरिति । अस्तु तर्ह्यनुमान एवास्यान्तर्भावस्तथा च
सौगतैरनुपलब्धिलक्षणं लिङ्गान्तरं स्वीक्रियत इति तत्राह—नचेदमिति । ज्ञायमानकरणं ह्यनुमानमियं तु
न तथैत्यर्थः । अथ किमिति ज्ञायमानतयैव करणं न भवेत्तत्राह—अन्यथेति । अयमर्थः । अनुपलब्धेरभा-
वत्वेन प्रत्यक्षत्वं निरासात्तद्विशेषमानसप्रत्यक्षत्वं दूरोत्सारितम् । नित्यानुमेयत्वाच्च ज्ञानस्य न दृश्यप्रतियो-
गिकत्वमत एव 'ज्ञानविकल्पानामध्यात्मभावाभावसंवेदना'दिति सूत्रमप्यनवकाशं, तस्मादनुपलब्धिरेवानुप-
लब्धिसंवेदनेपि शरणम् । तथाच तत्र तत्रापि तथैत्यनवस्था स्यादिति ।

—एतन्समर्थितमभावप्रमाणं दूषयति सिद्धान्ती—तदयुक्तमिति । अस्य तावदनुमानान्तर्भावं श्लोकेन
दर्शयति—केवलेपि । अत्र तावदनुपलम्भमात्रस्याभावबोधने सुषुप्त्यादौ व्यभिचारात्तन्निवारणाय योग्य-
तालक्षणविशेषणं प्रक्षिप्यते भवद्भिस्तथाच धूमादिवदव्यभिचारेणाभावबोधकत्वात्तज्जन्याभावधीरनुमानं कुतो
न स्यात्किंतु स्यादेवेति योजना । एतदेव विवृणोति—अनुपलम्भेति । नन्वव्यभिचारेण ज्ञातकरणत्वान्ना-
नुमानमित्युक्तमिति तत्राह—नचेति । स्यादयं दोषो भवन्नये अस्मन्मते तु स्वप्रकाशसाक्षिवेद्यत्वाद्वृत्तिरूप-
ज्ञानतदभावयोर्नाज्ञातकरणत्वं नायनवस्थेत्याह—स्वतःसिद्धेति । ननु तावत्साक्षिचैतन्ये सिद्धे सत्यं

वदनुपलब्धेरपि सिद्धावनवस्थादुस्यताऽभावान् । अन्यथानवस्थायास्तथापि दुरुत्तरत्वान् । तथाहि अनुपलब्धेः सर्वथानवगतत्वे तत्करणत्वस्य दुरधिगमत्वात्तदधिगतिरवश्याश्रयणीया । सापि चेदनुपलम्भान्तरात्सिद्धयेत्तदपि तथैवेति कथं नानवस्था । एवं तत्र तत्र प्रमाणानुपन्यासे तत्तदनुपलम्भसत्ताया एवासिद्धिः । प्रपञ्चितं चैतत्पुरस्तात् ।

भवतु वा भिन्नेवानुपलब्धिरनुमानात्तथापि नाभावः प्रमितिकरणम् । विकल्पासहत्वान् । तथाहि । किमुपलब्धेः प्रागभावोनुपलब्धिरुत प्रध्वंसः किं वान्योन्याभावोत्यन्ताभावो वा नाद्यः । दृष्टनष्टे घटे उपलब्धिप्रागभावाभावेऽप्यभावप्रमितिदृष्टेः । नापि द्वितीयः । प्रागभावात्यन्ताभावप्रमित्यनुत्पत्तिप्रसङ्गान् । प्रतियोग्युपलब्धेरसंजातत्वादेव तत्प्रतियोगिकप्रध्वंसभावान् । नापि तृतीयः । सत्यपि घटोपलम्भे तदभावप्रतीतिप्रसङ्गान् । नापि चतुर्थः । दृष्टनष्टाद्यभावे प्रमित्यनुदयापत्तेः । एतेनोपलम्भसंमर्गाभावः काम्यप्रमित्यपि निरस्तम् । तत्रापि प्रागभावादिविकल्पानामप्रतिबद्धप्रसरत्वान्, अन्यतमत्वेऽखण्डनस्य पूर्वमेव कृतत्वान् । नचानुपलब्धेः करणत्वम् । अवान्तरव्यापारानिरूपणान् । नच प्रतियोगिस्मरणमधिकरणग्रहणं वा तद्व्यापारः । ततस्तयोर्भावविषययोरनुपलम्भाजन्यत्वान् ।

परिहारो भागी तदेव दुर्लक्षीरमदृशं प्रमाणाभावाविति तत्राह—अन्यथेति । सर्वथाऽज्ञायमानानुपलब्धे प्रमितिकरणत्वमपि दुर्भणमिति कदाचिदपि तस्मिन्निवश्याश्रयणीया तथाच त्वदुद्धारितानवस्थकृत्वा त्वय्येव प्रतिकृत्वा स्यादिति साक्षिणैव तवापि रक्षा विधातव्येति खण्डलकार्थः । वक्ष्यते च साक्षिसिद्धौ प्रमाणगणश्चतुर्थपरिच्छेदे । पुरस्तादिति । ईदृशानवस्था स्वप्रकाशवादादौ प्रपञ्चिततरेत्यर्थः ।

एवं प्रौढवादेनानुमानान्तर्भाव उक्त इदानीं भवतु वानन्तर्भावस्तथापि नैतस्य प्रमाणत्वं प्रमाणाघातं सहेते इति प्रामाणिकप्रपञ्चरुचीन्माहान्प्रत्याह—भवतु वेत्यादिना । उपलब्धिप्रागभावलक्षणानुपलब्धेर्नाभावप्रमितिनियन्ति, तदभावेऽपि घटोपलब्धिप्रध्वंससमयेऽभावप्रमितिर्दर्शनादित्याह—नाद्य इति । उपलब्धिप्रध्वंसोऽभावप्रमितिकरणमिति पक्षं दूषयति—नापि द्वितीय इति । कारणतिष्ठ कार्यसंमर्गाभावो हि प्रागभावः नच तत्प्रमितिसमये प्रतियोग्युपलब्धिप्रध्वंसोस्ति, उपलब्धेरसंजातत्वान् । प्रमितिर्यप्रतियोग्युपलब्धिरभिप्रेता । नच तादृशप्रतियोगिप्रमितिरेस्ति, नित्यमविद्यमानार्थत्वादिति भावः । एवमत्यन्ताभावेऽपि । उपलब्ध्यन्योन्याभावपक्षं दूषयति—नापीति । नहि घटोपलब्धिरेव घट इति घटोपलब्धिसमयेऽपि तदन्योन्याभावस्य सत्त्वान् घटाभावप्रमिति स्यादित्यर्थः । उपलब्ध्यत्यन्ताभावपक्षं दूषणमाह—दृष्टेति । दृष्टः सन्नष्टो यो घटस्तदभावस्य प्रमितिर्न स्यात् । घटोपलब्धेर्जातत्वेन तदत्यन्ताभावाभावादित्यर्थः । आदिशब्दादनुपपन्नग्रहणम् । ननुपलब्धिप्रध्वंससंमर्गाभावोनुपलब्धिरभावप्रमितिकरणं तेन न पूर्वोक्तदोषः, प्रागभावादिव्यभिचारेऽपि संमर्गाभावस्याव्यभिचारादिति तत्राह—एतेनेति । अतिदेशं विशदयति—तत्रापीति । किं संमर्गप्रागभावः किं वा तत्प्रध्वंस इति विकल्पजालस्य तुल्यत्वादित्यर्थः । अस्तु तर्हि प्रागभावाद्यन्यतम इति तत्राह—अन्यतममेवेति । एवमनुपलब्ध्यनवधारणान्न सा अभावप्रमितिकरणमित्युक्तमिदानीं भवतु या काचिदनुपलब्धिस्तथापि तस्या करणत्वं न भवति तल्लक्षणरहितत्वादित्याह—न चेत्यादिना । व्यापारवद्धि कारणं कारणं तद्विशेषश्च करणमतो व्यापाराऽभावेऽनुपलब्धे करणत्वं न स्यादिति भावः । ननु किमिति व्यापाराभाव यावता प्रतियोगिस्मरणमधिकरणग्रहणं वा व्यापारोस्त्विति तत्राह—नचेति । ननु यद्यपि भावविषययोरधिकरणग्रहणप्रतियोगिस्मरणयोः स्वविषयजन्यतया संस्कारजन्यतया चानुपलब्ध्यजन्यत्वं, तथापि तद्व्यापारत्वं किं न स्या-

तज्जन्यस्तज्जन्यजनको व्यापार इति हि तद्विदः । केवलानुपलम्भस्य तदजनकत्वेपि योग्यताविशिष्टस्यास्त्येव तज्जनकता तत्तद्विनाभूतेतरप्रमाकरणसाकल्यं हि योग्यतेत्यङ्गीकारादिति चेत् तर्हि भावप्रमितीनामिन्द्रियादिसहकृतभावानुपलम्भकारणजन्यतया तासु तासु प्रमास्वसाधारणकरणत्वप्रवादः प्रत्यस्तमित्यान् ।

कश्चायमनुपलम्भः, किं प्रमाभावः किं वा ज्ञानमात्राभावः । नाद्यः । इदं रजतमिति रजतारोपम्यले रजताभावप्रमित्यजनके रजतप्रमाभावेऽतिव्याप्तेः । अन्यथा रजतारोप एव न स्यात् । नापि द्वितीयः । शङ्खधवलमप्रतिसंधानवतः पीत इति भ्रमानुदयप्रसङ्गात् ।

अपिच यत्राभाव एव लक्षणतो दुर्निरूपः कुतस्तत्रेदं प्रमाणमिदं प्रमेयमिति विचारवतारः । तथाहि । कोयमभावः भावादन्वयो वा १ भावत्वानधिकरणं वा २ भावविरोधी वा ३ भावेन स्वभावप्रत्यासन्नो वा ४ नास्तीति प्रत्ययविषयो वा ५ प्रतियोगिसापेक्षनिरूपणो वा ६ अस्तीति बुद्धेरविषयो वा ७ निर्विकल्पकबुद्धेरविषयो वा ८ भावलक्षणरहितो वा ९ । नाद्यः । भावस्यापि भावादन्वत्वेनातिव्याप्तेः । न द्वितीयः । अनधिकरण-

दित्यत आह—**तज्जन्य इति** । तेन करणेन जन्यत्वे सति तत्करणजन्यक्रियाजनको य असौ तद्व्यापार इत्यर्थः । ननु नास्माभिरनुपलम्भमात्रस्य करणत्वमभिप्रेयते येन तद्व्यापारश्चिन्त्येतापि तु योग्यतावतोनुपलम्भस्य तादृशस्य चान्तर्भूतभूतलदिरूपत्वेन तज्जन्याधिकरणग्रहणादिव्यापारकत्वादस्त्येव करणत्वमिति शङ्कते—**केवलं** इति । योग्यतया व्यापारवत्ता दर्शयन् तत्स्वरूपमाह—**तत्तद्विनाभूतेति** । तस्माद्विपयान्तद्विनाभूताद्विषयसन्निकर्षादेश्चेतरद्यत्प्रतियोगिप्रमितिकरणं तत्साकल्यं योग्यता तथा च तत्तज्ज्ञानान्यवान्तरव्यापाराणि भविष्यन्तीत्यभिप्राय । तदेतदतिप्रसक्त्या दूषयति—**तर्हीति** । अस्ति हि घटप्रत्यक्षात्पूर्वक्षणेऽनुपलम्भः । अस्ति च प्रतियोगिप्रमापकमिन्द्रियादिसाकल्यम् । नच विषयसत्ताऽपराधीयात् भावप्रमिति प्रत्यनुगुणत्वादिति सर्वत्र तत्तदिन्द्रियादिसहितानुपलब्धिरेव करणम् । तथाचेन्द्रियादेः करणत्वप्रसिद्धिर्विरुद्धेत्यर्थः ।

एवमनुपलब्धे करणत्वं न 'सम्भवीत्युक्तमिदानीमनुपलब्धिरेत्यत्र नचा समस्यमानोपलम्भशब्देन प्रमितिर्वा ज्ञानमात्रं वाभिधीयते, उभयथाप्यनुपपत्तिरिति दूषयति—**कश्चायमिति** । **इदं रजतमिति** । अस्ति हि तत्र प्रतियोगिरजतप्रमित्यभावः । अस्ति च योग्यता, इन्द्रियादेर्विद्यमानत्वादितरथाधिष्ठानस्याप्यग्रहणप्रसङ्गात् । अथ च न रजताभावप्रमित्युदय इत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः । अथ कथमभावप्रमित्यनुदयस्तत्राह—**अन्यथेति** । न्ह्यारोप्याभावप्रमितावपि तत्रारोपः सम्भवति । अतिप्रसङ्गादिति भावः । द्वितीयेप्यतिव्याप्तिमाह—**शङ्खधवलमेति** । यदाहि कश्चिद्धवलः शङ्ख इति चेतसा शङ्खधवलिमानमनुसदधाति तदापि पीतपित्तोपहृतनयनतया पीतः शङ्ख इति ध्राम्यति तत्र धवलिमानुसंधानसमये पीतज्ञानं नासीत् । ज्ञानद्वययौगपद्याभावात् । ततश्च योग्यतोपेतपीतोपलम्भाभावस्तदानीमस्ति नास्ति च पीतशङ्खाभावप्रमित्युत्पत्तिः । **अनधिकरणे** भ्रमदर्शनात् । अतस्तावकलक्षणं तत्रातिव्याप्तमित्यर्थः ।

इदानीमेतत्प्रसङ्गादभावमात्रस्यैवानिरूपितता दर्शयितुमुपक्रमते—**अपिचेत्यादिना** । अभाव इत्यत्र नञस्तदन्यत्वतदभावत्वतद्विरोधित्वार्थाभिप्रायेण विकल्पत्रयोत्थानम् । इतरेतु पङ्क्तिः पक्षा वैवक्षिका । **स्वभावप्रत्यासन्न इति** । नहि भूतलघटाभावयोरन्यः सबन्धः प्रत्यासत्तिः । सबन्धान्तराभावादित्यर्थः । **न द्वितीय इति** । भावत्वानधिकरणत्वं नाम किं तदधिकरणत्वाभावः किं वा तदधिकरणत्वान्यत्वम् । द्वितीये भावेऽतिव्याप्तिः । नहि भावत्वाधिकरणत्वमेव भावः । प्रथमे ग्राह—**अनधिकरणेति** । एतेन समवाया-

पदेनाधिकरणत्वाभावविवक्षायामाश्रयत्वान् । न तृतीयः । किञ्चिद्भावविरोधस्य भावेऽपि सद्भाववदतिव्याप्तेः, सर्वभावविरोधित्वस्याभावेऽप्यभावेनासंभवित्वान् । न खलु घटाभावः सर्वभावविरोधी, सति घटाभावे विश्वाभावप्रसङ्गान्, विरोधिशब्देन च तादात्म्यासहिष्णुत्वविवक्षायां भावेऽपि भावान् । नापि चतुर्थः । समवायादावपि भावान् । नापि पञ्चमः । इह भूतले घटो नास्तीति घटभूतलयोरपि विशिष्टाभावबुद्धिविषयत्वान्, अनुगताकारानिरूपणाच्च । नापि षष्ठः । ह्रस्वदैर्घ्यादिवपि भावान् । न सप्तमः । घटस्याभावोऽस्तीत्यभावस्याप्यस्तिप्रत्ययविषयत्वेनासंभवित्वान् । नाप्यष्टमः । ब्राह्मणत्वादिवपि भावान् । “संस्थानेन घटत्वादि ब्राह्मणत्वादि जन्मतः । कचिदाचारतश्चापि सम्यग्राजानुपालितान् ॥ तैलाद्भूतं विलीनं च गन्धेन च रसेन च ॥” इत्यादिन्यायेन तेषामपि सविकल्पकमात्रविषयत्वान् । नच नवमः । राहित्यशब्देनाप्यभावाभिधानादाश्रयत्वापत्तेः । किञ्च किञ्चिद्भावलक्षणरहितत्वे च भावेऽपि प्रसङ्गः, सर्वभावलक्षणरहितत्वशब्देन च सर्वभावलक्षणत्वानधिकरणत्वविवक्षायामेकैकस्यापि भावस्य तत्त्वादतिव्याप्तिः । सर्वभा-

न्यत्वे सत्यसमवाय्यभाव इति नानमनोहरलक्षणमपि निरस्तम् । असमवायित्वविवेचने एव यथोक्तदूषणप्रचारादिति । भावेऽपीति । गोत्वाश्वत्वादावित्यर्थः । अभावस्य सर्वभावविरोधित्वाभावमेव विवृणोति—**न खल्विति** । किञ्चेदं भावविरोधित्वं किं भावघातकत्वं किं वा भावामहस्थायित्वं किं वा भावतादात्म्यराहित्यम् । त्रिधापि भावेऽप्यतिव्याप्तिरित्यभिप्रायः—**विरोधिशब्देन चेति । समवायेति ।** नहि समवायस्य समवायिन्या स्वभावव्यतिरेकेण प्रत्यासत्त्यन्तरमस्ति । अनवस्थादिदोषात् । आदिशब्देन च प्रमेयत्वादि गृह्यते । **इह भूतल इति** एकं हीनं ज्ञानं भूतलघटघटिताभावग्राहीति तयोरप्येतत्प्रत्ययविषयत्वादतिव्याप्तिरित्यर्थः । किञ्च प्रतीतिविषयत्वं नाम प्रतीतिश्च विषयश्च, तौ परस्परं व्यावृत्ताविति अनुगतलक्षणाभावादतिव्याप्तिरित्याह—**अनुगतेति** । निर्विकल्पकबुद्धिर्विषयत्वमिति पक्षं दूषयति—**नाप्यष्टम इति** । ब्राह्मणत्वादीनामपि न निर्विकल्पकबुद्धिविषयत्वं व्यञ्जकविशेषप्रतीत्यभावे तेषामप्रतीतेरतोतिव्याप्तिरित्यर्थः । एतदेव मट्टवार्तिकेन द्रवयति—**संस्थानेनेति** । संस्थानं कम्बुग्रीवादिलक्षणं तत्सहकृतमिन्द्रियं च घटत्वादेर्ग्राहकमित्यर्थः । जन्मतः अविष्टुतब्रह्मचर्यो ब्राह्मणः स्यादित्यादिविशेषणात्, कचिच्च गुधिष्ठिरप्रभृतिसम्यग्राजानुपालितादाश्रयान्, विलीनं घृतं गन्धेन च रसेन च तैलाद्भेदेन जायत इति शेषः । भावलक्षणरहितो वेति पक्षं दूषयति—**नच नवम इति** । अन्यत्वाभिधाने च भावेऽपि भावादतिव्याप्तिरित्यपि द्रष्टव्यम् । भावलक्षणशब्देन सर्वभावलक्षणमभिधीयते किञ्चिल्लक्षणं वा । द्वितीये ग्राह—**किञ्च किञ्चिद्वेति** । प्रथमेऽपि भावानां यानि सर्वाणि लक्षणानि तदनधिकरणत्वं विवक्षितं भावलक्षणानां ये सर्वेऽभावास्तदधिकरणत्वं वा । आद्ये ग्राह—**सर्वभावेति** । सर्वभावलक्षणत्वमिति च बहुव्रीहिः । सर्वभावलक्षणवत्त्वमिति यावत् । एकैकभावस्य सर्वभावलक्षणवत्त्वाभावादतिव्याप्तिरभावलक्षणस्येत्यर्थः । द्वितीये दूषणमाह—**सर्वेति** । भावलक्षणानां ये सर्वेऽभावास्तदधिकरणमित्यभिधाने च तत्तल्लक्षणाभावेऽप्यस्ति, नहि तत्तदभावानां सर्वाभावाधिकरणत्वम्, स्वाधिकरणत्वाभावादित्यर्थः । अथ एकैकभावलक्षणाभावा अपि बहवोऽस्तत्तल्लक्षणाभावान्तराधिकरणत्वात्तदभावानामप्यस्त्येव सर्वाभावाधिकरणत्वमिति मतं तथापि न सर्वाभावाधिकरणत्वम्, स्वाधिकरणत्वाभावादेव । अथ तत्तदभावविशेषाधिकरणत्वं लक्षणं तर्हि तेषामेव विशेषाणां स्वाधिकरणत्वा-

बलक्षणाभावाधिकरणत्वाभिधाने च तेष्वेव लक्षणाभावेष्वापत्तिः । तेषां स्वाधिकरण-
त्वाभावात् । तेष्वभावान्तराभ्युपगमे चाननुगमप्रसङ्गः ।

किंचेदं भावत्वं यदनधिकरणत्वमभावः, किमस्तीतिप्रत्ययविषयत्वं १ नास्तीतिप्रत्य-
याविषयत्वं वा २ प्रतियोग्यनपेक्षनिरूपणत्वं वा ३ निर्विकल्पबुद्धिविषयत्वं वा ४ षड्-
लक्षणलक्षितत्वं वा ५ षड्लक्षणान्यतमलक्षणलक्षितत्वं वा ६ । नाद्यः । घटस्याभावो-
स्तीत्यस्तिप्रत्ययविषयत्वेनाभावेऽतिव्याप्तेः । न द्वितीयः । भूतले घटो नास्तीति प्रत्ययवि-
षयस्यापि घटादेर्भावत्वात् । न तृतीयः । प्रतियोग्यपेक्षनिरूपणे द्रव्यदीर्घत्वादावव्याप्तेः ।
न चतुर्थः । निर्विकल्पबुद्धेः प्रागूर्ध्वमपि घटादेर्भावात् । तदत्यन्ताभावानधिकरणत्वे
चात्यन्ताभाव एवातिव्याप्तिः । तत्राप्यत्यन्ताभावान्तराभ्युपगमे लक्षणस्याननुगमः । न
पञ्चमः । षड्लक्षणलक्षितत्वस्य प्रत्येकं द्रव्यादिष्वभावेनाव्याप्तेः । न षष्ठः । अन्यतम-
त्वस्य प्रागेव निरस्तत्वात् ।

कश्चायं प्रागभावः, विनाशभाव इति चेन्न । विनाशिशब्देनोत्पत्तिमदभाववत्त्वाभि-
धाने लक्षणस्यासंभवितात् । नहि प्रागभावस्य घटव्यतिरेकेणोत्पत्तिमानन्योऽभावो नि-
वृत्तिरन्यस्यानुपलम्भात् । ‘अपोह्यमाने चाभावे भाव एवावशिष्यते’ इत्यभ्युपगमाच्च ।
नन्वनिवृत्ते प्रागभावे घटजन्मन एवासंभवादन्वैव निवृत्तिरभ्युपेया । नच वार्तिकवच-

भावेनैकविशेषाधिकरणत्वविवक्षायामितरेषु लक्षणाननुगतिः । एवमितरविशेषविवक्षायामपीत्यव्याप्तिरि-
त्याह—अभ्युपगम इति ।

किंच भावलक्षणानामेव दुर्निरूपत्वात्तदधीननिरूपणाभावोपि दुर्निरूप इति हृदि निधाय भावलक्षणमपि
खण्डयति—किंचेदमिति । यदनधिकरणत्वमिति । यल्लक्षणानधिकरणत्वमित्यर्थः, अस्यैवानन्तरं
प्रकृतत्वात् । षड्लक्षणेति । द्रव्यादीनां षण्णा यानि लक्षणानि तैर्लक्षितत्वं चेत्यर्थः । नास्तीति प्रत्यया-
विषयत्वमिति द्वितीयपक्षेऽव्याप्तिमाह—भूतले घट इति । ननु निर्विकल्पकबुद्धिविषयत्वं न तद्विषयत्वा-
त्यन्ताभावानधिकरणत्वं विवक्षितं तेन न प्रागूर्ध्वप्रयुक्ताव्याप्तिरिति तत्राह—तदत्यन्तेति । योयमत्यन्ता-
भावो लक्षणत्वेनाभिहितस्तस्मिन्नेव खानधिकरणेतिव्याप्तिरित्यर्थः । उत्तरो ग्रन्थोनन्तरमेव कृतोपपादः । न
पञ्चम इति । षण्णा यानि लक्षणानि न तैरेकैकलक्षितत्वमित्यव्याप्तिरित्यर्थः । अस्तु तर्हि षष्ठः, तथा च
शिवादित्यमिश्रेणोक्तमिति तत्राह—न षष्ठ इति । एवं भावलक्षणानिरूपणादपि तन्मुखेनाभावनिरूपणं न
संभवति प्रकारान्तरेण निरूपणं पुरस्तादेव निरस्तम् ।

एवमभावमात्रलक्षणं खण्डयित्वा तद्विशेषलक्षणमपि खण्डयति—कश्चायमिति । प्रध्वंसेतिव्याप्तिपरि-
हाराय विनाशिग्रहणम् । घटादिनिवर्तनायाभावग्रहणम् । अत्र किं विनाशिशब्देन विनष्टो घट इत्यादिष्विवो-
त्पत्तिमदभाववत्त्वमभिधीयते किं वाऽभाववत्त्वम् । चरमे प्रध्वंसादावतिव्याप्तिः । तस्याप्यभावप्रतियोगि-
त्वात्—आद्यस्त्वंसंभवीत्याह—विनाशिशब्देनेति । प्रागभावस्य निवृत्तिरित्यन्वयः । अत्र किं प्रत्यक्षात्
घटव्यतिरेकेणाभावनिवृत्तिः स्वीक्रियते उपपत्तिबलाद्वा । नाद्य इत्याह—अनुपलम्भादिति । तदुक्तं
तात्पर्यटीकायामाचार्यवाचस्पतिना—‘नो खल्वभावाभावो नाम कश्चिदन्यो भावान्नापि भावाभावोन्योऽभा-
वा’दिति । मष्टान्प्रत्याह—अपोह्यमान इति । द्वितीयपक्षमुद्भावयति—नन्विति । किं निवृत्ते प्रागभावे
घट उत्पद्यते उत्तानिवृत्ते । न तावदनिवृत्ते । विरोधिनि सति विरोध्यनुदयात् । तस्मान्निवृत्ते सतीति वक्त-
व्यम् । तथाच घटोत्पत्ते प्राचीना काचन प्रागभावनिवृत्तिरभावरूपिणी स्वीकरणीया अतः कथमसंभवो

नविरोधः । निवृत्त्या प्रागभावेऽपोह्यमाने तत्प्रतियोगी घटादिरवशिष्यत एवेत्ययोगव्य-
वच्छेदपरत्वान् । अन्यथाऽभावापहवमात्रेण भावशेषे प्रागभावसमये प्रध्वंसस्यासंभवान्,
प्रध्वंससमये च प्रागभावस्याभावाद्भावावशेषः प्रसज्येत इति चेन्मैवम् । त्वदुक्तेन न्या-
येनानिवृत्ते प्रागभावे तन्निवृत्तेरपि जन्मासंभवात् । तत्र तत्र निवृत्त्यन्तराभ्युपगमे चान-
वस्थापातात्तस्मादुभयत्रानुपपत्तिराम्येऽपि घट एव स्वप्रागभावनिवृत्तिरित्यङ्गीकरणीयम् ।
कल्पनालाघवान् । तथाचासंभवित्वदोषस्तदवस्थ एव । अस्तु वा प्रागभावस्य घटादन्यैव
निवृत्तिस्तथापि प्रध्वंसेतिव्याप्तिस्तस्यापि विनाशित्वान् । नच ध्वस्तस्योन्मज्जनापत्तिः ।
प्रध्वंसवदेव तत्तत्प्रध्वंसमालाया अपि प्रध्वस्तभावविरोधित्वान् । तवापि कथमन्यथा प्राग-
भावोन्मज्जनप्रसङ्गपरिहारः ।

यत्पुनरुक्तं लीलावतीकारेण 'असंभवद्विरुद्धधर्मसंसर्गप्रत्यभिज्ञानवाधितत्वान् कल्पना-

लक्षणस्येत्यर्थः । अयोगेति । यदि ह्यपोह्यमानेऽभावे भाव एवेति यथाश्रुतोन्वयः स्यात्तदा विरोधः ।
नचैवमन्वयोऽपि तु भावोऽवशिष्यत एवेति । तथाच भावोदयमात्रप्रतिपादनपरत्वात् निवृत्तिनिराकरणप-
रतेत्यर्थः । ननु भावावशेष एव चेद्विधित्मितस्तर्हि निवृत्त्यवशेषादपि भावावशेषः सिध्यति तद्रूपत्वाद्भाव-
स्यात् पृथगभिधानवैयर्थ्यमिति तत्राह—अन्यथेति । नाभावापहवमात्रं भावशेषः । यदि हि भावाकारे-
णावशेषो न तस्माभावापहवमात्रं स्यात्तदा भावावशेष एव स्यात् । न पुन प्रागभावध्वंसावस्थातोतिरिक्त-
कश्चित्प्रकारः । यत प्रागभावसमयेऽपि प्रध्वंसापहवरूपघटस्य विद्यमानत्वात्प्रध्वंससमये च प्रागभावापहव-
रूपघटस्य विद्यमानत्वादभावापहवरूपो घट सर्वदास्तीति नोदकाहुरणसमर्थघटसिद्धिरित्यर्थः । अथवाऽभा-
वापहवमात्रत्वे भावस्य प्रागभावध्वंसावस्थायामपि घट स्यात् एकैकनिवृत्तेरेकैकावस्थायामपि विद्यमानत्वा-
दित्यर्थः । एतेन प्रागभावस्यैव निवृत्तिर्घट इत्यपि निरस्तम् । नदेतस्मिद्वान्ती दूषयति—मैवमिति । न
तावद्विरोधिनित्वत्वावेव विरोध्युदय इति व्याप्तिः । निवृत्तेरपि प्रागभावानिवृत्तावुत्पत्त्यसंभवेन निवृत्त्यन्तव-
स्थाप्रसङ्गात् । तस्मादनिवृत्ते एव च प्रागभावे विरोध्युदय इति वक्तव्यम् । तथाच तद्वदेव घटोऽनुत्पत्तुं
शक्नोतीति नेयमुपपत्तिः काचन प्रत्युत घटरूपैव निवृत्तिः कल्पनालाघवादाश्रयणीया तथाचासंभवित्वमि-
त्याह—त्वदुक्तेनेत्यादिना । असंभवमुपेक्षयतिव्याप्तिमाह—अस्तुवेति । ननु नास्ति प्रध्वंसस्य प्रध्वंस-
येनातिव्याप्तिः स्यात् प्रध्वंसस्यापि प्रध्वंसे घटप्रागभावध्वंसरहितकालस्य घटकालत्वेन घटोन्मज्जनप्रसङ्ग इति
तत्राह—नच ध्वस्तस्येति । यथा हि प्रथमध्वंसो घटविरोधी एवं तत्प्रध्वंसमालापि घटविरोधिन्येव
तत्कस्य हेतोरुत्तरोत्तरध्वंसानामपि ध्वंससमानविरोधित्वान्पूर्वपूर्वप्रतियोगिव्यावृत्तस्वध्वंसविरोधित्वान् । इत-
रथा घटसंसर्गनिषेधे घटस्य निषेधो न स्यादिति घटनित्यतानित्यतयो प्रसङ्गात्ततो नोन्मज्जनापत्तिरिति
भावः । अतश्चैवमेवाङ्गीकर्तव्यमितरथा घटध्वंसे घटप्रागभावोन्मज्जनप्रसङ्गात्, घटध्वंसस्य प्रागभावध्वंसध्वं-
सत्वात्, घटानवच्छिन्नकालस्य घटप्रागभावव्याप्तत्वाच्चेत्याह—तवापीति । नच प्रागभावोन्मज्जनमस्येवेति
वाच्यम् । तथासति घटोत्पत्तेरवश्यंभावेनोद्भूतकुटवृत्तान्तापातादिति भावः । उक्तं च लीलावतीकारेण 'प्राग-
भावनिवृत्तिनिवृत्तौ तदुन्मज्जनापत्तिरिति चेन्न । ध्वंसस्यापि तद्विरोधित्वादिति । यदत्र तेनैवोक्तम्—एवं सति
ध्वंसोपि नश्येत् कृतकत्वात् प्रागभावोपि जायेत विनाशित्वादिति ।

प्रागभावप्रध्वंसयोरुत्पत्तिविनाशावाशङ्क्य नासंभवद्विरुद्धधर्मसंसर्गप्रत्यभिज्ञानप्रतिक्षिप्तत्वादिति तदनुवदति
—यत्पुनरिति । अस्ति हि घटोत्पत्तेः प्रागूर्ध्वं च नासीत् घटो न भविष्यति घट इति नास्ति च घट इति
वा । स एवायं प्रागभावः । स एवायं प्रध्वंस इत्येव वाऽवाधिताभावप्रत्यभिज्ञानम् । इदं च ज्वालाप्रत्यभि-
ज्ञानवदमानमित्यत उक्तम्—असंभवद्विरुद्धधर्मसंसर्गेति । न सभवी विरुद्धधर्मसंसर्गो यद्विषये तत्प्र-

लाघवाच्च न प्रागभावप्रध्वंसयोरुत्पत्तिविनाशा'विति तदसत् । कपालचूर्णरजःप्रभृतीनां संभवद्विरुद्धधर्मसंसर्गाणां भिन्नतयैव प्रत्यक्षत्वात् त्वदुक्तप्रत्यभिज्ञाया असिद्धेः, प्रत्यक्ष-सिद्धे च भेदे कल्पनालाघवन्यायस्यानवसरदुःस्थत्वात् । तथाच पौराणिकमुदाहरणम्— 'मही घटत्वं घटतः कपालिका कपालिकाचूर्णरजस्ततोणु'रिति । उत्पत्तिमानभावो ध्वंस इत्यप्यलक्षणम् । पिण्डादेर्घटप्रागभावत्वेनास्मदभिमतस्योत्पत्तिमत्त्वात्तदतिरिक्तस्य चानुप-लब्धेः ।

तादात्म्यप्रतियोगिकोऽभावोऽन्योन्याभावः इत्यपि न । घटपटयोस्तादात्म्यस्यैवाप्रमि-तत्वेन प्रमितनिषेधनियमवादिनस्तन्निषेधस्याशक्यत्वात्, प्रमिते घटे प्रमितपटत्वप्रतिषेधे च भूतले घटनिषेधवत्संसर्गाभावापत्तेः । प्रतियोग्यनिष्ठो नित्योऽभावोन्योन्याभाव इत्यपि न, विकल्पानुपपत्तेः । प्रतियोगिशब्देन किमन्यदुच्यते किवा निरूपको विरोधी वा । नाद्यः । धर्मिणोऽपि स्वस्मादन्यत्वेनासंभवितात् । धर्मिव्यतिरिक्ते न वर्तत इति विवक्षि-तमिति चेन्न । अत्यन्ताभावेतिव्याप्तेः । यत्र यत्र वर्तते तस्यैव धर्मितया ततोऽन्यत्र त-स्यावृत्तेः । न द्वितीयः । धर्मिणोपि निरूपकतया तत्रावृत्त्यसंभवात् । धर्मिव्यतिरिक्त-

त्यभिज्ञानं तथोक्तम्, एकाभावेनैव व्यवहारोपपत्तावनन्ताभावकल्पनाया गौरवं चेत्याह—कल्पनेति । दूषयति—तदसदिति । अत्र तावदुत्तरोत्तरकपालादिरेव पूर्वपूर्वघटादेः प्रध्वंस पूर्वपूर्वपिण्डादिरेवोत्तरघ-टादेः प्रागभाव इति च वक्ष्यति । तथाच तेषां कपालप्रभृतीनां परस्परविरुद्धानामेवोपलभ्यमानत्वात् उवा-लाप्रत्यभिज्ञानवदाभासोयमित्यर्थः । कल्पनागौरवं परिहरति—प्रत्यक्षेति । कपालादीनां घटादिध्वंसरूपाणां नानात्वे विष्णुपुराणसमतिमप्याह—मही घटत्वमिति । मही घटत्वं प्रतिपद्यते, एवं यावदणु । अस्य च 'जनैः स्वकर्मस्तिमितात्मदृष्टिभिरालक्ष्यते ब्रूहि किमत्र वस्त्व'त्युत्तरार्थः । अयमर्थः एवमागमापायितया स्व-कर्मस्तिमितात्मदृष्टिभिर्जनैर्विकारजातमालक्ष्यते अतः किमत्र विकारजाते वस्तु ब्रूहि न किमपीत्यर्थः । प्रध्वं-सलक्षणमपि दूषयति—उत्पत्तिमानिति । यत्तद्वक्ष्यतीत्युक्तं तदाह—पिण्डादेरिति । तथाच प्राग-भावेतिव्याप्तिरित्यर्थः ।

एवंप्राक्प्रध्वंसाभावौ दूषयित्वान्योन्याभावं दूषयति—तादात्म्येति । भेदखण्डनप्रस्तावोक्तं स्मारयत्य-धिकविवक्षया—घटपटयोरिति । ननु घटे पटत्वमेव निषिध्यता तथाच नाप्रसिद्धप्रतियोगितेति तत्राह—प्रमिते घट इति । लक्षणान्तरं शङ्कते—प्रतियोगीति । अत्यन्ताभावव्यावृत्त्यर्थं प्रथमं विशेषणं नि-त्यत्वं चेदमुत्पत्तिविनाशरहितत्वम् एतच्च प्रागभावप्रध्वंसयोर्यभिचारवारणार्थम् । नित्यभावव्यावृत्त्यर्थमभाव-पदम् । यत्तदधिकविवक्षयेत्युक्तं तद्दर्शयिष्यन्विकल्पयति—प्रतियोगिशब्देनेति । धर्मिणोऽपीति । अन्यत्वं चेत्प्रतियोगित्वं तथासत्यन्योन्याभावादित्यर्थालभ्यते तस्य प्राधान्येन प्रकृतत्वात् । तथाच प्रतियो-ग्यनिष्ठ इति कोऽर्थः, अन्योन्याभावव्यतिरिक्ते न वर्तत इति, तथाचाभावस्य धर्मिण्यप्यवृत्तिप्रसङ्गेन नित्यमस-भवेत्यलक्षणमित्यर्थः । नन्वन्यत्वमेव न प्रतियोगित्वं किंतु धर्मिणोऽन्यत्वम्, तथाच धर्मिव्यतिरिक्ते न वर्तत इति लक्षणार्थ इति शङ्कते—धर्मिव्यतिरिक्त इति । तत्र यद्यपि नित्यत्वविशेषणात्प्रागभावादौ न गच्छति तथाप्यत्यन्ताभावे गच्छत्येव तस्यापि धर्मिव्यतिरिक्ते वृत्तिव्याघातान्नास्ति अस्ति च नित्यत्वमित्यभिप्रेत्य दूष-यति—अत्यन्तेति । निरूपकत्वं प्रतियोगित्वमिति पक्षेऽप्यसंभव एव धर्मिणोपि निरूपकतया तत्रावृत्तेर-संभवादित्याह—न द्वितीय इति । न निरूपकत्वमात्रं प्रतियोगित्वं किं तर्हि धर्मिव्यतिरिक्तत्वे सति, तथाच नासंभव इति शङ्कते—धर्मिव्यतिरिक्तेति । किं धर्म्यन्यत्वं धर्मिव्यतिरिक्तत्वं वा धर्मित्वानधि-

निरूपकावृत्तित्वं विवक्षितमिति चेन्न । धर्मिणोऽपि धर्म्यन्तरादन्यत्वान् । धर्मित्वानधि-
करणे न वर्तते इति चेन्न । असंभवित्वान्, निर्धर्मकस्य वस्तुनोऽसंभवेन प्रतियोगिनोऽपि
धर्मित्वान् । नापि तृतीयः । विरोधस्य दुर्घटतायाः पूर्वमेवाभिहितत्वान् । अस्तु वा यः
कश्चिद्विचारितरमणीयः प्रतियोगी तथापीदं भवान्पृष्ठो व्याचष्टां किमेको जगत्स्यो-
न्याभावः किं वा बहवः । ‘सर्वस्य प्रतियोगित्वादुर्लभा तदनिष्टता । द्विधायात्माश्रय-
त्वाच्च न स्वशब्दो विशेषणम् ॥ ३७ ॥’ अन्योन्याभावस्य सर्वत्रैकत्वे सर्व एव धर्मी
सर्व एव प्रतियोगीति कथं तदनिष्टता संभवेत्, बहुत्वेपि यत्किंचिदपेक्ष्य धर्मिणोऽपि प्रति-
योगित्वात्तदनिष्टत्वासंभवस्तदवस्थः । स्वप्रतियोग्यनिष्ठ इति च विशेषणं स्वशब्दाभिधे-
यस्यान्योन्याभावस्याद्याप्यसिद्धेः कथं नात्माश्रयः । एतेन प्रतियोगिनिष्ठोऽभावोऽन्यन्ता-
भाव इत्यपि निरस्तम् । प्रतियोग्यनिरूपणान् । प्रतिपादितन्यायेन सर्वस्य प्रतियोगित्वे-
नान्योन्याभावस्यापि प्रतियोगिनिष्ठतया विशेषणवैयर्थ्यान्, प्रागभावप्रध्वंसयोरपि तत्सं-
भवादतिव्याप्तेश्च ।

किंचाभाव एव दुर्निरूपः, कुतस्तत्र तत्प्रमाणलक्षणभेदाद्भेदचिन्तावतारः । तथाहि ।
यादृशो भूतलादौ धर्मिणि घटाभावोऽभ्युपेयते तादृशस्यैवाभावव्यवहारनिदानत्वमस्तु

करणत्वं वा, आद्ये प्राह—**धर्मिणोपीति** । तथाचासंभवस्तदवस्थ इत्यर्थः । द्वितीयमाशङ्क्यासंभवेन दूष-
यति—**धर्मित्वेति** । असंभवमेव विवृणोति—**निर्धर्मकस्येति** । विरोधिप्रतियोगीति पक्षं दूषयति—
नापि तृतीय इति । पूर्वमेवेति । किं सर्वाभावेन यत्किंचिदभावेन वेति विकल्प्य पूर्वमेव दूषितत्वा-
दित्यर्थः । एवं प्रतियोग्यनिरूपणात्प्रतियोग्यनिष्ठत्वं दुर्निरूपणमित्युक्तम्, इदानीं तदुपेक्ष्य प्रकाशान्तरेण
प्रतियोग्यनिष्ठतादुर्घटता व्युत्पादयति—**अस्तुवेत्यादिना** । एकत्वे बहुत्वेच यथाक्रमं दूषणं सगृह्णाति
श्लोकेन—**सर्वस्येति** । यद्येको जगत्स्योन्याभावस्तदा सर्व एव तस्य धर्मी सर्व एव प्रतियोगी घटप्रति-
योगिकपदधर्मिकान्योन्याभावस्यैव घटेऽपि वर्तमानत्वात्तथाच धर्मिनिष्ठत्वमेव प्रतियोगिनिष्ठत्वमिति प्रतियो-
ग्यनिष्ठता दुर्लभा स्यात् । अथ बहवोऽन्योन्याभावस्तथापि प्रतियोगिमात्रानिष्ठत्वं वा स्वप्रतियोग्यनिष्ठत्वं वा
तदाभिप्रेयते । आद्यस्त्वमभवी । धर्मिणोऽपि यत्किंचित्प्रति प्रतियोगित्वेन तदनिष्टताव्याप्तात्तान् । द्वितीये
चात्माश्रयत्वप्रसङ्गात् । स्वशब्दो न विशेषणमिति द्विधाप्येकत्वे बहुत्वे च दुर्लभा तदनिष्टत्वेति श्लोकयोजना ।
विवृणोति—**अन्योन्येति** । अनवस्था चान्योन्याभावानेकत्वे स्यात्स्वरूपत्वे चानेकत्वमिदं । एतेन सर्वत्र तद-
न्यत्वविशेषणं प्रतिक्षिप्तं मन्तव्यम् । अत्यन्ताभावलक्षणेऽप्युक्तं दूषणमतिदिशति—**एतेनेति** । अतिदिश्यमानं
विशदयति—**प्रतिपादितेति** । प्रतियोगिग्रहणं यत्किंचिन्निष्ठान्योन्याभावव्यावृत्त्यर्थं, न च तेनास्मि तद्व्याव-
र्त्तयेत् तस्यापि यत्किंचित्प्रतियोगिनि व्यात्यन्ताभावप्रतियोगिनि वा वर्तमानत्वादतो व्यर्थविशेषणता । अति-
व्याप्तिश्च तत्रैवेति भावः । अतिव्याप्त्यन्तरं चाह—**प्रागभावेति** । तदधिकरणस्यापि यत्किंचित्प्रतियोगि-
त्वादिति भावः ।

एवमभावलक्षणं दुर्निरूपणमित्युक्तम्, इदानीं लक्ष्याभावे किंचित्प्रमाणमपि नास्तीत्याह—**किंचेति** ।
ननु भूतले घटो नास्तीत्यबाधितबुद्धिबोध्योऽभावः कथमपहोतुं शक्यत इति तत्राह—**यादृश इति** ।
अभ्युपेयते, भवद्भिरिति शेषः । स्यादेतत्संघटेपि भूतले किमिति घटो नास्तीति बुद्धिर्नोदेति भूतलस्वरूपस्य
तदापि भावान् । अथ केवलभूतले किमिदं कैवल्यां घटराहित्यमिति चेत्सोऽयं ‘निन्दामि च पिबामि चे’ति

किमतिरिक्ताभावकल्पनया । अस्ति तावद्भावाभावोदासीनमाश्रयस्वरूपम् । अन्यथा कीदृशोऽभावः संबध्येत न तावद्भाववति । भावाभावयोरविरोधापत्तेः । नाप्यभाववति । आत्माश्रयत्वादनवस्थाप्रसङ्गाच्च । ननु किमिदं प्रतिकूलतर्कमात्रमुत विपर्ययपर्यवसायितयोदासीनाश्रयस्वरूपोपस्थापकम् । नाद्यः । अनुग्राह्यप्रमाणविरहिणस्तर्कस्य साधनबाधनानङ्गत्वान् । न द्वितीयः । संबध्यते चाभाव इति विपर्ययपर्यवसानस्याभावमनिच्छतोऽसिद्धेः । सघटं भूतलमिति भावव्यवहारस्यापि प्रतिक्षेपकतया स्वव्याघातकरत्वेन जात्युत्तरतापत्तेः । तथाहि । किं भाववति भावः किं वा तदभाववतीति विकल्पदूषणयोस्तत्रापि तुल्यत्वादिति चेन्मैवम् । अस्याः प्राभाकरविभीषिकाया लोकप्रसिद्धभावाभावव्यवहारिणं मायावादिनं प्रत्यनुत्थानात् । तथाह्यवधीरितसत्त्वासत्त्वानां हेत्वादीनां लोकप्रसिद्धं स्वरूपमात्रमुपादाय सर्वोयं मायावादिनः प्रमाणप्रमेयव्यवहारः कस्तत्र परवादिप्रसिद्धं विपर्ययपर्यवसानमाश्रित्य प्रत्यवतिष्ठमानस्योपलम्भसंभवः । एतेन भावव्यवहारप्रतिबन्दिग्रहः परास्तः । तत्रापि दुर्घटतायाः स्वीकृतत्वात् । तदेवमवधीरितभावाभावभूतलदेरुपलम्भादेवाभावव्यवहारसंभवे तदतिरिक्ताभावाभ्युपगमो निष्प्रमाणक एव ।

ननु कथं निष्प्रमाणकता ? चक्षुश्चाक्षुषभावातिरिक्तग्राहकमिन्द्रियत्वाद् घ्राणवत्, निर्घटं

न्याय नूतनयति राहित्यस्यैवाभावत्वादिति तत्राह—अस्ति तावदिति । इदं यादृश इत्यस्य विवरणं, सच न घटरहिते नापि घटवति किंतु यत्र घटाभावसंबन्धः स्वभावतोऽन्यतो वा भवद्विरभिमन्यते तस्मिन्नित्यर्थः । एतादृशं रूपं विपर्ययबाधकैरङ्गीकारयति—अन्यथेति । अथ सोऽभावोऽन्यस्तेन नात्माश्रयतेति तत्राह—अनवस्थेति । अत्र लीलावतीपतिरेताभिरेव युक्तिभिः पूर्वपक्षमारचय्य राद्धान्तयावभूव । नैवम् । विचारासहत्वात्, किमेतत्परिपन्थितर्कमात्रमित्यादिना तदुद्भावयति दूषयितुं—नन्वित्यादिना । विपर्ययपर्यवसायिता दूषयति—न द्वितीय इति । अत्र हि यदि भूतलौदासीन्यं न स्यादभावो न संबध्येत इति तर्कः, संबध्यते चाभावस्तस्मादस्यौदासीन्यमिति च विपर्ययः । नचाभावमनिच्छतः संबध्यते चायमिति वक्तुं शक्यमभावस्यैवाप्रमितत्वेनाप्रसिद्धविशेषणतापार्तादिति भावः । प्रतिक्षेपकतामेव दर्शयन् जात्युत्तरता तर्कस्य विवृणोति—किं भाववतीति । न तावद्भाववति भूतले भावो वर्तते । आत्माश्रयात्, अनवस्थानाच्च । नाप्यभाववति विरोधात् तस्माद्भावाभावोदासीनमेव भूतलं भावाश्रय इति वक्तव्यं तथाच तदेव भावव्यवहारालम्बनमस्तु कर्तुं तदतिरिक्तभावकल्पनयेति सुवचत्वात् । जात्युत्तरमिदमित्यर्थः । एवमनूदितं दूषयति सिद्धान्ती—मैवमित्यादिना । यस्य प्राभाकरस्य प्रमाणसिद्धमेव साधनं दूषणाङ्गं न प्रतीतिसिद्धमिति मतं तं प्रत्येषा विभीषिका स्यान्नास्मान्प्रतीत्यर्थः । अस्यैव प्रपञ्च उत्तरो ग्रन्थः । यन्तु भावप्रतिक्षेपकत्वाज्जात्युत्तरमिति तर्कः, व्याघातकत्वाभावात्प्रत्युतानुगुणमेवेत्याह—एतेनेति । एवं त्रिचतुरकक्षाविश्रान्तलोकप्रसिद्धिमादाय विपर्ययपर्यवसानसंभवेन दृढतरैस्तर्कैस्तात्त्विकाभावप्रतिक्षेपं प्रपञ्चितमुपसंहरति—तदेवमिति ।

—मानमनोहरकारीयमनुमानमभावसिद्धानुदाहरति—ननु कथमित्यादिना । अत्रातिरिक्तत्वमनधिकरणत्वं तथासति चाक्षुषभावत्वानधिकरणत्वं चाक्षुषत्वानधिकरणत्वाद्वा भावत्वानधिकरणत्वाद्वा । आद्ये ग्राहकत्वं व्याहृतमिति भावत्वानधिकरणमभावस्तच्चाक्षुषत्वं चेत्यभावसिद्धिः । दृष्टान्ते चाक्षुषत्वानधिकरणं गन्धमादाय साध्यसिद्धिः । अप्रसिद्धविशेषणतानिबृत्त्यै चाक्षुषग्रहणम् । अनुमानान्तरं चाह—निर्घटमिति । अत्राप्येतद्विज्ञानालम्बनभावत्वानधिकरणत्वमेतज्ज्ञानालम्बनत्वानधिकरणत्वाच्च संभवति एतद्विज्ञानस्य तादृशालम्बनत्वव्याघातात्तस्माद्भावमात्रत्वानधिकरणमेवैतद्विज्ञानालम्बनमभावः सिद्धः । दृष्टान्ते त्वेतद्विज्ञा-

भूतलमिति विज्ञानमेतद्विज्ञानालम्बनभावमात्रातिरिक्तालम्बनमेतद्भावमात्रालम्बननिर्विकल्पकेतरज्ञानत्वात्सघटं भूतलमिति ज्ञानवदिति प्रमाणे जाग्रतीति चेत् । मैवम् । भावातिरिक्तग्राहकं भावातिरिक्तालम्बनमिति च तात्त्विकपदार्थान्तरस्य प्रसाधनमुन व्यावहारिकस्याहोस्वित्साधारणस्य । आद्ये दृष्टान्तस्य साध्यविकलता । इतरयोश्च मिद्विमाधनता । तदेवं प्रमाणलक्षणानां दुर्निरूपत्वादविचारितरमणीयं एवायं प्रमाणव्यवहार इति मिद्वम् ।

करणस्वरूपानिरूपणाच्च प्रमितिकरणं प्रमाणमित्यपि न । तथाहि । किं कारकान्तरेऽचरितार्थं कारकं करणम् १ उतायोगव्यवच्छेदेन फलसाधनं २ कर्तृव्यापारगोचरो वा ३ व्यापारवत्त्वे सति फलाव्यभिचारि वा ४ चरमव्यापारं वा ५ अनन्तरफलं वा ६ यद्भावात्कर्तृकर्मणी क्रियां न जनयतस्तद्वा ७ । नाद्यः । कुठारादौ कारकान्तरे

नालम्बनत्वानधिकरणत्वमादाय साध्यसिद्धिः । अत्र चाप्रतिद्विविशेषणतानिबृत्त्यर्थमेतज्ज्ञानपदम् । निर्घटं भूतलमिति ज्ञानस्यालम्बनभूतो यो भूतलात्मकोऽभावस्तन्निष्ठगुणसामान्यादिश्च तन्मात्रालम्बनं यन्निर्विकल्पकं तद्व्यतिरिक्तत्वे सति ज्ञानत्वादिति हेत्वर्थः । एतद्विज्ञानालम्बनीभूतभूतलादिनिर्विकल्पकव्यभिचारनिरासार्थं निर्विकल्पकेतरेत्युक्तम् । घटादिव्यवच्छेदाय ज्ञानपदम् । एतच्च साध्यविकल्पकं दूषयति—**मैवमित्यादिना** । तथा चक्षुश्चाक्षुपभावग्राहकत्वे सत्यतिरिक्तग्राहकत्वानधिकरणं बाह्येन्द्रियत्वान् प्राणवत्, निर्घटं भूतलमिति ज्ञानमेतद्भावालम्बनत्वे सत्यतिरिक्तालम्बनत्वानधिकरणमेतद्भावालम्बनत्वे सत्यतिरिक्तालम्बनान्यत्वान् । एतद्भावमात्रविषयनिर्विकल्पकवदिति सप्रतिसाधनत्वमपि द्रष्टव्यम् । एव प्रमाणखण्डनप्रसङ्गे दण्डकमूत्रोक्ता बहवः पदार्थाः खण्डिताः । तथाहि । भावाभावखण्डने प्रवानमलनिवर्हणन्यायेन प्रमेयजातं खण्डितं सदाय-दृष्टान्तावयवनिर्णया अपि प्रागेव खण्डिताः प्रमाणखण्डनेन प्रामाणिकत्वेनाभ्युपगतत्वलक्षणसिद्धान्तोपि खण्डित उपरिष्टाच्च क्वचित्खण्डयिष्यन्ते । तत्र प्रमाणखण्डनप्रघट्टकस्याद्वैतागमाविरोधोपयोगं दर्शयति—**तदेवमिति** । अत एव न वास्तवाद्वैतपरागमस्य तद्विरोध इति मिद्वमिति शेषः । ‘मुक्तेषु मानैर्निजलक्षममूच्चैर्मुक्तेषु मानैः खरतर्कसाथैः । मुक्तेषु मानैः प्रतिवादिषु स्वैर्मुक्तेषु मानैः श्रुतिगन्धर्वैः’ ॥

प्रमाकरणं प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणम् । तच्च प्रमाणखण्डनेन पूर्वं खण्डितमिदानीं करणखण्डनादपि तद्वर्त्मलक्षणं खण्डितमेवेति मन्वानं करणलक्षणं खण्डयति—**करणेति** । च. समुच्चये, न केवलं प्रमितेरनिरूपणादपितु करणानिरूपणाच्चैत्यर्थः । तत्र प्रमाणतोर्थप्रतिपत्ताविति भाष्यं व्याचक्षणेनोद्योतकराचायेणोपलब्धिहेतुः प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणमुक्त्वा प्रमातृ-प्रमेययोरतिव्याप्तावाशङ्किताया तद्वेदनाय तदर्थं निर्वेदता यानि लक्षणान्युक्तानि तान्युद्भावयति—**कारकान्तरेत्यादिना** । कर्तुः खल्लयमननिपतनव्यापाराविष्टकुठाररूपकरणं निष्पादयत कारकान्तरेस्ति चरितार्थत्वम्, एवं कर्मणोपि करणव्यापारस्य कर्मविषयतया कर्माभावे करणाभावात् । अत्रि-करणमपि कर्त्रादिषूपक्षीणम् । नहि निरधिष्ठानं छिनत्ति तद्वारा च करणेऽपि तेन कर्तृकर्मधिकरणव्यवच्छेदार्थं कारकान्तरेऽचरितार्थमिति विशेषणम्, अत्र च सप्रदानापादानयोर्व्यवच्छेदाय सार्वत्रिक इति विशेषणं द्रष्टव्यम् । तेह्यसार्वत्रिके दानपतनयोरेव सप्रदानापादानापेक्षणादिति वा तयोरपि कारकान्तरे चरितार्थत्वम् । नहि प्रतिगृहीत्रभावे दातृस्योप । नापि वृक्षाद्यभावे तद्देशस्थपर्णादिमिद्धिरिति व्यापारव्यवच्छेदार्थं कारकग्रहणम् । **अयोगेति** । नहि जातु साधकतमे करणे सति फलानिष्पत्तिस्तेन च कर्त्रादिव्यावृत्तिः । सत्स्वपि तेषु फलानिष्पत्तिसम्भवात् । व्यापारस्य कर्तृकर्मणोश्च निरासाय व्यापारवत्त्वे सतीत्यादिविशेषणद्वयम् । कर्त्रादिव्यावृत्त्यर्थं चरमेति विशेषणम् । **यद्भावादिति** । कर्तृकर्मणो क्रियानिर्वर्तकत्वाभावप्रयोजकभावप्रतियोगि वेल्यर्थः । आद्येऽव्याप्तिमाह—**कुठारादाविति** । नन्वकरणमेव करादिस्तेन तदगमनं न

चरितार्थस्य हस्तादेरकरणत्वप्रसङ्गात् । नच तदकरणमेव । करेण कुठारेण देवदत्तश्छि-
नन्तीति करकुठारयोः करणत्वप्रसिद्धेस्तुल्यत्वात् । अन्यथा कर्मकर्तृकरणसंप्रदानापादा-
नाधिकरणेष्वनन्तर्भावाद्दस्तादेः सप्तमकारकत्वाङ्गीकारापत्तेः । कारकान्तर इत्यत्रान्तर-
शब्देन करणं वा कर्तृकर्मणी वा विवक्ष्येते । न तावत्करणम् । करणस्यैवाद्याप्यसिद्धेरा-
स्माश्रयत्वात् । नेतरे तयोरेवातिव्याप्तेः । नहि कर्ता कर्तरि चरितार्थः, नापि कर्मणि
कर्म । तयोः करणे चरितार्थत्वाङ्गीकारात् । नापि द्वितीयः । सामग्र्यामतिव्याप्तेः ।
तस्यां सत्यां नियमेन फलस्य भावात् । अपूर्वादिव्यवहितफलस्य यागादेरकरणत्वापत्तेश्च ।
न तृतीयः । कर्तुरात्मनः प्रयत्नाख्यव्यापारकर्मणि शरीरे तद्व्यापाराकरणे लक्षणस्य स-
द्भावात् । साक्षादिति विशेषणे च आत्मनो मनश्चालनव्यापारे मनसः करणत्वप्रसङ्गः ।
नच तत्र मनः ऋणम् । तद्व्यापारे कर्मतयैवावस्थानात् । हस्तादिव्यापारव्यवधानेन क-
र्तृव्यापारगोचरे कुठारादावव्याप्तेश्च । न चतुर्थः । कर्तुरपि करणत्वप्रसङ्गात् । तस्यापि
करणादिव्यापारवतः फलाव्यभिचारित्वात् । अव्यवहितफलादर्शनान्न तस्य फलाव्यभि-
चारितेति चेन्न । हस्तादेर्यागादेश्च व्यवहितफलस्याकरणत्वापातात् । एतेन पञ्चमषष्ठ-

दोषायेति तत्राह—**नच तदिति** । इतोपि हस्तादे करणत्वं वक्तव्यमित्याह—**अन्यथेति** । एवं समुदाये
दूषणमुक्त्वाऽव्यविवेचनेनापि दूषयति—**कारकान्तर इत्यत्रेति** । अत्रान्तरशब्दोऽविशेषवचनोऽन्य-
वचनो वा । आद्ये वैयर्थ्यम् । नहि कारकमात्रे चरितार्थं किंचिदस्ति यद्व्यवच्छेद्यते । द्वितीये किं कस्मादन्यत्किं
कर्त्रादेरन्यत्करणं विवक्ष्यते किंवा करणादतिरिक्तकर्तृकर्मणी इत्यर्थः । **करणस्यैवेति** । एवं तदार्थः सप-
द्यते—करणकारकेऽचरितार्थं कारकं करणं तथाचात्माश्रयत्वमित्यर्थः । कर्तृकर्मणोरचरितार्थं कारकं करणमिति
द्वितीयपक्षे दूषणमाह—**तयोरेवेति** । अथ तयो कर्तृकर्मणो क्व चरितार्थतेति तत्राह—**तयोरिति** ।
नच कर्तरि चरितार्थत्वमपि कर्तृव्यापारविषयतया कर्मवदस्यापि तत्र चरितार्थत्वात् । नन्नाधिकव्यापारत्वा-
दचरितार्थता । तदतिरूपणात् । अयोगव्यवच्छेदेनेत्यादिवितीयलक्षणं दूषयति—**नापि द्वितीय इति** ।
सामग्र्या फलेनायोगव्यवच्छेदं दर्शयति—**तस्यामिति** । नच सापि करणमेव । निर्व्यापारत्वात्, करणादिसा-
क्यरूपत्वाच्च । अव्याप्तिं चाह—**अपूर्वादीति** । सति भवत्येवेति ह्ययोगव्यवच्छेदः । नचायमपूर्वव्यवधा-
नेन विलम्बितफलसाधनस्य यागस्यास्तीत्यर्थः । कर्तृव्यापारगोचर इति तृतीयं पक्षं दूषयति—**न तृतीय
इति** । य. खत्वात्मनः शरीरचलनाय प्रयत्नः तस्य तावच्चलनक्रियाक्रियाविशिष्टं वा शरीरं विषयः । नच
तस्मिन्चलने तयोः करणत्वम् । प्रथमे स्वस्यैव स्वं प्रति करणत्वापातात् । द्वितीयेपि भविष्यत पूर्वकालीन-
क्रियायां करणत्वापातादित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः । ननु न कर्तृव्यापारमात्रगोचरत्वं विवक्षितमपित्वव्यवहितो यः
कर्तृव्यापारस्तद्गोचरत्वम् । नच प्रयत्नस्तादृशस्त्यात्मनः सन्निकर्षव्यापारव्यवहिततया तथात्वाभावादिति
तत्राह—**साक्षादिति चेति** । यदि च साक्षाद्विषयत्वं तदा कुठारादावव्याप्तिरपि स्यात् । नहि कुठारस्य
साक्षादात्मव्यापारविषयत्वमस्तीत्याह—**हस्तादीति** । नच हस्तस्यापि कत्रन्तर्भावः, हस्तेनेत्यप्रयोगापाता-
दिति भावः । साक्षाद्यापार्यमनं प्रभृतिक्रियायामपि करणतापत्तिरित्यपि द्रष्टव्यम् । व्यापारवत्त्वे सतीत्यादि-
चतुर्थं पक्षं दूषयति—**न चतुर्थ इति** । कर्तरि लक्षणं वर्तयति—**तस्यापीति** । ननु खानन्तरक्षणफल-
वत्त्वं फलाव्यभिचारित्वं नचैतत्कर्तुं सार्वत्रिकमस्तीति शङ्कते—**अव्यवहितेति** । तर्ह्यव्याप्तिरित्याह—
न हस्तादेरिति । चरमव्यापारमनन्तरफलमिति पक्षयोरप्युक्तदूषणमतिदिशति—**एतेनेति** । कर्तुरपि

विकल्पावप्यपास्तौ चतुर्थपक्षोक्तदोषानुपपन्नादेव । नापि सप्रमोऽदृष्टेश्चरेच्छादेरपि करण-
त्वप्रसङ्गान् । तद्भाव एव क्रियानिष्पत्तेः । तदेवं करणानिरुक्तेः प्रमाकरणं प्रमाणमित्य-
लक्षणम् ।

अथाधुनिकनीत्या कर्तृत्वानधिकरणत्वे सति प्रमासार्वत्रिकं कारकं प्रमाकरणम् ।
नच कर्तृत्वानिरुक्तिः । प्रयत्नात्यन्ताभावानधिकरणत्वस्य तत्त्वान् । नापि सार्वत्रिकत्वानि-
रुक्तिः । प्रमाकारकाप्रमाकारकावृत्तिप्रमाकारकनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वस्यैव सार्व-
त्रिकत्वपदेनाभिलापान् । नच कारकत्वानिरुक्तिः व्यापारवत्कारणं कारकमिति निर्वच-
नान् । नच व्यापारानिरुक्तिस्तज्जन्यस्तज्जन्यजनको व्यापार इति हि तन्निरुक्तेरिति म-
तम् । मैवम् । सर्वस्योदीरितखण्डनालङ्घनाऽजङ्घालत्वान् । तथाहि । न तावत्प्रयत्नात्य-
न्ताभावानधिकरणत्वं विकल्पासहत्वात् । प्रयत्नात्यन्ताभावः किमेकोऽनेको वा । एकत्वे
तत्रैवातिव्याप्तिः । तस्य तदनधिकरणत्वेऽपि कर्तृत्वाभावान् । नापि भावत्वे सतीति वि-
शेषणाददोषः । भावत्वस्य प्रागेव निरस्तत्वान् । अत्यन्ताभावानामनेकत्वेऽपि सर्वप्रयत्ना-
त्यन्ताभावानधिकरणत्वं लक्षणमुत यत्किञ्चित्प्रयत्नात्यन्ताभावानधिकरणत्वम् । न प्रथमं ।
लक्षणस्यासंभवित्वान् । स्वप्रयत्नात्यन्ताभावानधिकरणत्वेऽपि चेतनान्तरप्रयत्नात्यन्ताभावा-

करणत्वापातान् विशेषणत्वे हस्ताद्यव्यापनादित्युक्तदोषसाम्यादित्यर्थः । यदभावादित्यादिसप्तमपक्षेतिव्याप्ति-
माह—अदृष्टेति । कर्तृकर्मणोरतिव्याप्तिश्च, तयोरपि स्वाभावे क्रियाजनकत्वाभावात् । सोपयोगं करणख-
ण्डनमुपसहरति—तदेवमिति ।

ननु कथं करणानिरुक्तिर्जरद्रीतेरनिर्वाहेऽपि नूतनरीतेरपरिहृतत्वादिति शङ्कते—अथेति । इदं चानीश्व-
रप्रमाणस्यैव लक्षणम् । कर्मकारकव्यावृत्त्यर्थं सार्वत्रिकग्रहणम् । नहि सर्वा प्रमा कर्मजन्या, अनुमित्यादि-
ष्वभावात् । सार्वत्रिककर्तृव्यावृत्त्यर्थं कर्तृत्वानधिकरणेत्युक्तम् । तदेवावयवश उपपादयति दूषणवैशद्याय—
नच कर्तृत्वेत्यादिना । सुपुत्तिप्रलयादावव्याप्तिनिवृत्त्यर्थमत्यन्ताभावानधिकरणत्वग्रहणम् । कारकस्य
प्रमाया सार्वत्रिकता निर्वक्ति—**प्रमाकारकेति ।** प्रमाकारकेषु वर्तमानत्वे सत्यप्रमाकारकवृत्तित्वं यत्तद-
नधिकरणत्वे सति प्रमाकारकनिष्ठात्यन्ताभावं प्रत्यप्रतियोगित्वमित्यर्थः । प्रमाकारकनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियो-
गित्वं प्रमेयत्वादेरप्यस्तीति तत्परिहाराय प्रमाकारकेत्यादि । तस्य सर्ववृत्तित्वेन प्रमाकारकेन्द्रियादिवृत्तिन्वे
सत्यप्रमाकारकदोषमिदिवृत्तित्वादतस्तद्राहित्यविशेषणेन तन्निवृत्तिः । तावन्मात्रोचौ च प्रमाकारकैकदेशवृत्तिषु
तत्कादाचित्कवृत्तिषु चाप्रमाकारकमात्रवृत्तिषु चातिव्याप्तिः स्यात्तदर्थं प्रमाकारकनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियो-
गित्वग्रहणम् । अथ किमिदं कारकत्वं यद्विशेषस्येदं सार्वत्रिकत्वं निरुच्यते इति तत्राह—**नचेति ।** कार-
कव्यापारे कारणलक्षणवति कारकत्वपरिहाराय व्यापारवदित्युक्तम् । अथ व्यापार एव क इति तत्राह—
नच व्यापारेति । तेन कारकेण जन्यत्वे सति तत्कारकजन्यक्रिया प्रति जनकश्च य स व्यापार इत्यर्थः ।
तज्जन्यजनकत्वं कारकाणामस्तीति तन्निवृत्त्यर्थं तज्जन्य इत्युक्तम् । क्रियायामेवातिव्याप्तिपरिहाराय तज्जन्य-
जनक इत्युक्तम् । एवमुपपाद्य दूषयति—**मैवमिति ।** उदीरितखण्डनाया लङ्घनाऽजङ्घालत्वात्, अजवत्वा-
दित्यर्थः । उदीरितखण्डनमेव यथायथं दर्शयति—**तथाहीत्यादिना ।** तत्रैवातिव्याप्तिः । प्रयत्नात्यन्ता-
भावस्यैकत्वेन स्वाधिकरणत्वाभावादित्यर्थः । ननु बहव एवात्यन्ताभावास्ततश्च तस्यात्यन्ताभावान्तरव-
त्त्वान्नातिव्याप्तिरिति तत्राह—**अत्यन्ताभावानामिति ।** असंभवित्वमेव दर्शयति—**स्वप्रयत्नेति ।**

धिकरणत्वात् । न चरमः । प्राचीनदोषानुपज्ञात् । किंचैकदेशवृत्तीनां संयोगविभागशब्दात् विशेषगुणानामव्याप्यवृत्तित्वं नाम स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वमित्युपगच्छतां कथमात्मनः प्रयत्नात्यन्ताभावानधिकरणत्वं संभवेत्, प्रयत्नात्यन्ताभावस्यापि तत्रैव वृत्तेः । नच स्वतन्त्रः कर्तेत्यपि युक्तम् । स्वातन्त्र्यातिरुक्तेः । तथाहि । किं कारकान्तरनिरपेक्षतया फलजनकत्वं स्वातन्त्र्यं किं वा कारकाप्रयोज्यत्वे सति तत्प्रयोक्तृत्वम् । नाद्यः । असंभवात् । नहि करणादिनिरपेक्षस्य कर्तुः फलसाधकता दृष्टचरी । न द्वितीयः । सेश्वरवादे सर्वचेतनानामीश्वरप्रयोज्यत्वात् । अनीश्वरवादेपि राजादिप्रेरितभृत्यादेरकर्तृत्वापत्तेः । नच तत्र शरीरादेरेव प्रेर्यत्वं नात्मन इति वाच्यम् । चेतनविशिष्टस्य शरीरस्य प्रेर्यतया चेतनस्यापि प्रेर्यत्वात् । प्रेरकत्वं च तदनुकूलप्रयत्नाधारत्वम् । तच्चेतनस्य जीवविषयमस्येव । नचेतनस्य तिरिक्तकारकाप्रयोज्यत्वम् । अनीश्वरवादे विशेषणवैयर्थ्यात्, भृत्यादेस्तु पूर्वोक्तन्यायिनाकर्तृत्वप्रसङ्गाच्च । प्रमात्वानिरुक्तेरेव तद्विशेषितसार्वत्रिकत्वानिरुक्तिः । तज्जन्यस्तज्जन्यजनको व्यापार इत्यपि न । तच्छब्देन सर्वस्य कारणस्याभिधाने लक्षणस्यासंभवितात् । नह्येको व्यापारः सर्वकारणजन्यः सर्वकारणजन्यजनको वा ।

नह्येकस्यैव सर्वपुरुषप्रयत्ना संभवन्ति, सर्वसर्वशक्तित्वप्रसङ्गादित्यर्थः । प्राचीनेति । यत्किञ्चित्प्रयत्नात्यन्ताभावानधिकरणत्वमेकैकप्रयत्नात्यन्ताभावेष्वास्ति स्वस्वाधिकरणत्वाभावादतोतिव्याप्तिस्तदवस्थेत्यर्थः । किंच त्वदर्शनपराहतं चेद कर्तृलक्षणमित्याह । किंचेति । यदिदं संयोगादीनामव्याप्यवृत्तित्वं भवद्विराद्रियते तन्नाशवृत्तित्वम् । निरशत्वादात्मादीनाम्, साशेष्यप्रत्यक्षतापत्तेः । तस्मात्तत्रैव वृत्तिस्तत्रैवावृत्तिरिति स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वमेवाव्याप्यवृत्तित्वमिति मन्तव्यम् । तथाचात्मैव प्रयत्नात्यन्ताभावाधिकरणमिति तदनधिकरणत्वलक्षणकर्तृत्वमसंभवेवेति खण्डलार्थः । प्रसङ्गात्कर्तृत्वलक्षणान्तरमपि दूषयति—**नचेति । तत्प्रयोक्तृत्वं** कारकप्रयोक्तृत्वमित्यर्थः । कुठारादिकारकप्रयोक्तृरि हस्तादावतिव्याप्तिवारणाय कारकाप्रयोज्यत्वविशेषणम् । असंभवमेव विवृणोति—**नहि करणादीति** । द्वितीयेपि तार्किकमतेऽस्मदादिकर्तृत्वव्याप्तिरित्याह—**सेश्वरेति** । तेष्वव्याप्तिरिति शेषः । अथानीश्वरवादिन प्रति किं दूषणमिति तत्राह—**अनीश्वरेति** । तत्रापि भृत्यादिषु कर्तृत्वव्याप्तिरित्यर्थः । ननु तत्र कर्तुर्मात्मनो न प्रेर्यत्वमुभयत्र किं तर्हि शरीरस्यैवातो नाव्याप्तिरिति तत्राह—**नच तत्रेति** । न तावदीश्वरादि शरीरमात्रं प्रेरयति तस्यासमर्थत्वात्तत्र तत्तत्चेतनविशिष्टं शरीरं प्रेरयतीति वक्तव्यं तथाच विशेषणीभूतचेतनस्यापि प्रेर्यत्वमस्त्येवेत्यर्थः । जीवस्य निष्क्रियत्वेनेश्वरस्य तत्प्रेरकत्वं कथं स्यादिति तत्राह—**प्रेरकत्वं चेति** । शूलशरीरप्रेरणानुकूलभृत्यप्रयत्नजननानुकूलप्रयत्नवत्त्वं राज्ञो भृत्यप्रेरकत्वं यथा लोके तथा जीवप्रयत्नजननानुकूलं चेदं प्रयत्नवत्त्वमीश्वरेऽप्यस्तीति जीवप्रेरकत्वमीश्वरस्य संभवतीति भावः । अस्ति च साक्षादेव प्रेरकत्वमित्याह—**तदनुकूलेति** । ईश्वरनरेश्वरादिषु तत्तज्जीवानुगुणप्रयत्नाधारत्वादस्ति तद्रूपं प्रेरकत्वमित्यर्थः । एतेन निष्क्रियस्य जीवस्य कथमीश्वरप्रेर्यत्वमिति प्रत्युक्तम् । ननु तर्हीश्वरव्यतिरिक्तकारकाप्रयोज्यत्वं स्वातन्त्र्यं विवक्षितं तथाच नाव्याप्तिरिति तत्राह—**नचेतरेति** । ईश्वरप्रयोज्यत्वसंग्रहार्थं हीदं विशेषणम्, नच तदनीश्वरवादिना मीमांसकानामस्ति यदर्थं विशेषणमित्याह—**अनीश्वरेति** । भवतु तं प्रति दूषणं मा प्रति किं दूषणमिति तत्राह—**भृत्यादेरस्त्विति** । यच्च प्रमासार्वत्रिकत्वनिर्वचनं कृतं तदपि दूषयति—**प्रमात्वानिरुक्तेरिति** । व्यापारलक्षणमपि दूषयति—**तज्जन्य इति** । अत्र किं तच्छब्देन कारककारणमात्रमभिधीयते तद्विशेषो वा । नाद्यः । असंभवादित्याह—**तच्छब्देति** । असंभवं विवृणोति—**नह्येक इति** । द्वितीये

कारणविशेषाभिधाने तु लक्षणस्याननुगमः । तदेवं प्रत्यक्षादिप्रमाणानां दुर्निरूपत्वाज्ज-
गत्कारणब्रह्मात्मतत्त्वप्रतिपत्तिपराणां वेदान्तवचसां न तद्विरोधगन्धोपीति सिद्धम् ।

ननु तथापि न ब्रह्मणो जगत्कारणत्वम् । परमाणूनामेव जगत्समवायिकारणत्वात् ।
ननु परमाणव एव न सन्ति प्रमाणविधुरत्वात् । न तावदणुपरिमाणतारतम्यं कचिद्वि-
श्रान्तम् । परिमाणतारतम्यत्वात् । महत्परिमाणतारतम्यवदित्यनुमानं मानम् । अणुप-
रिमाणशब्देनाणुनिष्ठपरिमाणविवक्षायां त्वदभिमताणूनामेव सिद्धौ तत्परिमाणस्य तत्तार-
तम्यस्य वा प्रसिद्धत्वादाश्रयासिद्धेः । तेषु परिमाणतारतम्यानङ्गीकाराच्च । महत्त्वापकर्ष-
तारतम्यस्य च कचिद्विश्रान्तिसाधने त्रसरेणुष्वेव तद्विश्रान्तिसिद्धेः सिद्धसाधनत्वात् ।
'जालान्तरगते भानौ योणीयो दृश्यते रजः । परं तत्परमाणूनां परिमाणं प्रचक्षते' । इति
ब्रह्माण्डपुराणे दर्शनादिति चेन्मैवम् । त्रसरेणुः सावयवश्चाक्षुषद्रव्यत्वान्महत्त्वे अति क्रि-
यावत्त्वाद्वा घटवदिति सावयवत्वानुमाने महत्त्वापकर्षस्य तत्र विश्रान्त्यनुपपत्तेः ।

प्राह—कारणविशेषेति । तच्छब्देन कारणविशेषाभिधाने करणान्तरव्यापाराणां तज्जन्यत्वाभावात्तज्जन्य-
जनकत्वाभावाच्चाव्याप्तिरस्यदिति भावः । एवं सामान्यतो विशेषतश्च प्रमाणानां दुर्निरूपताप्रतिपादनस्या-
विरोधोपयोगमाह—तदेवमिति । अत्र चेश्वरो द्रव्योपादानवृत्तिद्रव्यत्वावान्तरजातिमानश्रावणविशेषगु-
णवत्त्वात्तन्त्वादिवदिति तार्किकं प्रति तथा विप्रतिपन्नं कार्यद्रव्यमात्मोपादानकम् उपादानवत्त्वादात्मघटसङ्गवत् ।
नच विमतमात्मानुपादानकं द्रव्यत्वादात्मवदिति सत्प्रतिपक्षता । अनुपादानकत्वस्यैव तत्रोपाधित्वात् । नच
समवायिगतविशेषगुणस्य कार्यं समानजातीयारम्भनियमोपि, चित्रपटारम्भकनीलपीततन्तुषु तदभावादित्या-
दितर्कात्तदनुगृहीतागमाच्च ब्रह्मणो जगत्कारणत्वमवगन्तव्यम् ।

जगत्कारण ब्रह्मात्मतत्त्वमित्युक्तमसहमाना. परमाणुकारणवादिनो वैशेषिकनैयायिकादयः प्रत्यवतिष्ठन्ते
—ननु तथापीति । तत्किं परमाणूनामेव जगत्कारणत्वम् तथाच गतर्माश्वरस्य निमित्तकारणत्वेनेत्यप-
राद्धान्तस्तत्राह—समवायिकारणत्वादिति । उपादानत्वमेव हि भवता ब्रह्मण निपाधयिषितम् इतर-
स्यास्याभिरप्यङ्गीकृतात् । नच तच्छक्यसाधनं परमाणूनामेव तत्त्वादित्यर्थः । ननु लोकसिद्धं वा परमाणु-
कारणत्वमादाय ब्रह्मकारणत्वं निराक्रियते वादिसिद्धं वा । नायं । तत्र विप्रतिपत्त्यभावप्रसङ्गान् । न द्वितीयः ।
तत्र कस्यचिदपि प्रमाणस्यासमावितत्वात् । वादिनामपि प्रामाणिकतया समाविते हि श्रान्तिर्भवति इतरथा-
तिप्रसङ्गादित्याक्षिपति—नन्विति । न सन्तीति । पृथ्वीत्वादेर्नित्यवृत्तित्वमूर्तनित्यवृत्तित्वादेरसमावित्वात् ।
प्रामाण्याभावादिति तन्नित्यवृत्तित्वज्ञानस्य श्रान्तत्वादित्यर्थः । किमणुगतपरिमाणतारतम्यमत्र पक्षः
किं वा महत्त्वस्य यदिदमाकाशाद्यपेक्षयापकर्षतारतम्यं तद्वा । नायं इत्याह—अण्विति । त्वदभिमता-
णूनामिति परमाणूनां व्युत्क्रान्ता चेत्यर्थः । न केवलं परं प्रति त्वा प्रत्यग्याश्रयासिद्धिः । नह्यणुषु तारतम्यं
परिमाणस्यास्ति नापि व्युत्क्रान्तपरमाणुपरिमाणयोः । नित्यत्वमात्रं हि परिमाण्डल्यस्य परमाणुपरिमाणस्य व्युत्क्र-
कपरिमाणाद्विशेष इत्यभिप्रेत्याह—तेष्विति । द्वितीयं शङ्कते—महत्त्वेति । ननु कथं त्रसरेणुभिरर्थान्त-
रता यतस्ततोप्यपकृष्टमहत्त्वस्य कचित्समावनाया विरोधाभावादिति चेन्न । पुराणवचनविरोधादित्याह—
जालेति । जालं वातायनम् । भानुः किरणः । तत्र हि परमाणूनां परं परिमाणं प्रचक्षते इति दर्शनात्
ततोपकृष्टमेतदस्तीति भावः । अत्र तार्किकः सिद्धसाधनता परिहरन् महत्त्वापकर्षतारतम्यमेव पूर्वानुमानप-
क्षतया परिगृह्णाति—मैवमिति । रूपादावनैकान्त्यपरिहाराय द्रव्यग्रहणम् । आत्मादावनैकान्तिकनानिवृत्त्यै
चाक्षुषग्रहणम् । परमाणवो विभुद्रव्याणि च द्वितीये हेतुगतविशेषणान्या व्यवच्छिद्यन्ते । एवं त्रसरेणुसावयव-

पृथिवीत्वं नित्यवृत्ति घटवृत्तिजातित्वे सति पटवृत्तिजातित्वात्सत्तावत् । अयं घट एतदतिरिक्तानित्यमूर्तातिरिक्तमूर्तान्यः प्रमेयत्वात्पटवदिति प्रयोगसंभवाच्च । नच निरवयवयोः संयोगाभावादसमवायिकारणाभावे कथं कार्यद्रव्यारम्भकत्वमिति वाच्यम् । परमाण्वसिद्धौ तत्पक्षीकारेणासंयोगित्वस्य साधयितुमशक्यत्वात्, सिद्धौ च धर्मिग्राहकप्रमाणवाधात्, द्रव्यत्वेन घटादिवत्संयोगित्वानुमानाच्च । नच सावयवत्वमुपाधिः । अर्थतः पक्षेतरत्वात् । कार्यद्रव्यत्वं वा समवेतत्वे सति द्रव्यत्वं वा सावयवत्वम् । तथाच

त्वानुमाने तदवयवानां ततोप्यणुतराणां संभवाच्च त्रसरेणुषु तद्विश्रान्ति, यद्यपीदं द्र्यणुके चरितार्थं तथापि महदारम्भकत्वेन तन्नुवत्तेषामपि सावयवत्वानुमानात्तदवयवभूतपरमाणुसिद्धिरितिभावः ।

इदानीं साक्षात्परमाणुसाधकं सर्वदेवीयमनुमानमाह—**पृथिवीत्वमिति** । जातित्वे सतीत्युक्ते संयोगत्वकर्मत्वादावनैकाग्रतस्तन्निवृत्त्यर्थं घटवृत्तीत्युक्तम् । तथापि घटत्वेऽनैकान्तिकस्तदर्थं पटग्रहणम् । पटत्वेऽनैकान्तिकतानि वृत्त्यर्थं घटग्रहणम् । महाविद्यानुमानमप्याह—**अयं घट इति** । एतद्वटातिरिक्तत्वे सति यदनित्यं मूर्तं तत्त्वानधिकरणं यन्मूर्तं ततोऽन्यं । मूर्तान्य इत्युक्ते पटान्यत्वेनार्थान्तरता तदर्थं मूर्तातिरिक्तमूर्तान्य इत्युक्तम् । तथाच व्याहृतिर्मूर्तत्वानधिकरणत्वमूर्तत्वयोर्व्याघातात् । ततश्च ततोऽन्यत्वसाधनेऽप्रसिद्धविशेषणता । अतिरिक्तपदेनानधिकरणत्वस्य विवक्षितत्वात् । इतरथार्थान्तरताया दुष्परिहरत्वात्तदर्थमनित्यमूर्तातिरिक्तैत्युक्तम् । तथाप्यप्रसिद्धविशेषणता । परमाणुसिद्धिव्यतिरेकेणानित्यमूर्तत्वानधिकरणमूर्तस्यासिद्धेः । तत्परिहारायैतदतिरिक्तपदम् । अनित्यमूर्तत्वानधिकरणमूर्तस्याप्रसिद्धत्वेऽप्येतदतिरिक्तत्वेऽस्यनित्यमूर्तत्वानधिकरणस्यैतस्य घटस्य प्रसिद्धत्वात्तदन्यत्वस्य च पटादौ प्रसिद्धेः । तेन नाप्रसिद्धविशेषणतासाध्यवैकल्ये, पक्षे त्वेतदतिरिक्तानित्यमूर्तत्वानधिकरणत्वमेतदतिरिक्तत्वानधिकरणत्वाद्वा नित्यमूर्तत्वानधिकरणत्वाद्वा । आद्ये तादृशमूर्तादन्यत्वमस्य व्याहृतम्, तादृशमूर्तस्य तत्त्वेन स्वस्यैव स्वस्मादन्यत्वाभावात् । द्वितीयेऽनित्यमूर्तत्वानधिकरणमूर्तत्वं मूर्तत्वानधिकरणत्वाच्च संभवति व्याघातादेव । ततो नित्यत्वानधिकरणं मूर्तं परमाणुमादाय तदन्यत्वमस्य सिद्ध्यतीति परमाणुसिद्धिः । नित्यमूर्तं परमाणुरिति तल्लक्षणादित्यर्थः । स्यादेतन्निरवयववास्तावत्परमाणवोऽभ्युपगम्यन्ते तथाह्यन्यावयविनमारम्भानुभूयमानोऽयमवयवविविधभागो यत परावर्तते सहि परमाणुरिति अन्यथा सुमेरुसर्पेपयोरनन्तावयवतया समानपरिमाणत्वप्रसङ्गात् । नच निरवयवयोः संयोगोऽस्ति । अन्याप्यवृत्तित्वात्तस्य । निरवयवे च यदि वर्तते किं तत्र व्यामुयात् यदि च न व्यामुयात्कं वर्तते, विमतमसंयोगि निरवयवत्वात्, रूपादिवदिति प्रयोगाच्च । तस्मादङ्गीकृतेष्वपि परमाणुषु तेषां परस्परसंयोगाभावात्तदसमवायिकारणकद्र्यणुकादिप्रक्रमेण जगत्समवायिकारणत्वाभावाच्च तद्वाहिप्रमाणविरोधो वेदान्तानाम् । तथाचैकैकैरेव परमाणुभिरस्युक्तैर्द्र्यणुकाधारम्भः, तथासति तदुत्पन्नकार्यस्य विनाशहेत्वभावान्नित्यता स्यात्, असमवायिकारणनाशात्समवायिनाशाद्वा खलु द्रव्यनाशः । तत्र संयोगलक्षणासमवाय्यनङ्गीकारेऽणूनाच्च नित्यत्वात् द्र्यणुकादेर्नाशो न स्यात् । नित्यत्वे चान्यावयवविपर्यन्ते नित्यतापत्त्या घटविनाशो नोपलभ्येतेति तत्राह—**नचेति** । निरवयवपरमाण्वनङ्गीकारेऽङ्गीकारे वा संयोगित्वमप्रत्याख्येयमित्याह—**परमाण्विति** । एवं बाधकं परिहृत्य तत्संयोगित्वे प्रमाणमाह—**द्रव्यत्वेनेति** । एतेन पूर्वानुमानस्याद्रव्यत्वमुपाधिरित्युक्तम् । ननु सावयवत्वप्रयुक्तं घटादौ संयोगित्वमिति व्याप्यत्वासिद्धौ हेतुरिति तत्राह—**नचेति** । सावयवत्वमेव विवेचयन्नर्थतः पक्षेतरतां दर्शयति—**कार्येति** । आकाशादिगुणादिश्रोभयत्र विशेषणद्वयव्यावर्त्यम् । तदयमर्थः । यथाह्यङ्कुरादि सकर्तृकं कार्यत्वाद्वटादिवदित्यत्र शरीरिजन्यत्वस्योपावित्त्वोद्भावेन जन्यत्वमात्रस्य घटादौ साध्यव्याप्तौ सिद्धाया शरीरिग्रहणं पक्षीकृताङ्कुरादौ साधनव्याप्तिपरिहारार्थमिति पक्षेतरत्वम् । एवं द्रव्यत्वमात्रस्यैव संयोगित्वव्याप्तौ सिद्धाया कार्यत्वं समवेतत्वं वा विशेषण

द्रव्यत्वेनैव साध्यव्याप्तौ सिद्धायां कार्यपदस्य समवेतपदस्य च जन्यत्वेन सकर्तृकत्वानुमाने शरीरिजन्यत्वोपाधौ शरीरिपदस्येव साधनाव्यापकत्वमात्रप्रयोजनस्योपादाने कथं न पक्षेतरता । साध्यव्याप्तौ सत्यां साधनाव्याप्त्यर्थं यत्र विशेषणमुपादीयते स पक्षेतर इति तल्लक्षणात् । नच द्वितीयसंयोगासंभवात्प्रथिमानुपपत्तिर्दोषः ।

अणुके प्रथिमाभावसाधने दोषाभावान् । तस्याणुत्वान् । अणुके तु कारणबहुत्वादेव महत्त्वोपपत्तिः अणुकानां सावयवत्वेन संयोगोपपत्तिश्च । नचावयविन एवाभावात्तदारम्भानुपपत्तिः । एकस्थूलनीलावभासो बाह्ये प्रमा प्रमात्वाद्वृत्तदर्शनवदित्यवयविसिद्धेः । नचार्थान्तरता । विकल्पासहत्वान् । तथाहि । किं परमाणुसमूहालम्बनत्वमभिप्रेतमुतावयवसंहतिगोचरत्वम् । नाद्यः । परमाणूनामतीन्द्रियाणामस्मदादिप्रत्यक्षगोचरताऽयोगान् । नापि द्वितीयः । अवयवानामनेकत्वादेक इतिप्रत्ययगोचरत्वासंभवान् । समुदायस्यैकत्वाददोष इति चेन्न । तस्यावस्तुत्वाद्, वस्तुत्वे च तस्यैवावयवित्वात् संज्ञामात्रे विवादः स्यात् ।

यत्प्रकाशते तज्ज्ञानं यथा ज्ञानं, प्रकाशते च विवादाध्यासितमित्यनुमानात्सर्वस्य वि-

पक्षीकृतपरमाणुषु साधनव्याप्तिपरिहारार्थमतः पक्षेतरत्वमिति । ननु पक्षमात्रव्यावर्तक पक्षेतरं नाम न पुनरित्थंभूत इति तत्राह—साध्यव्याप्ताविति । ननु निरशस्य संयोगे सत्येकपरमाणुना संयुक्ते परमाणौ परमाण्वन्तरसंयोगो न स्यात् संयुक्तप्रदेशातिरिक्तप्रदेशान्तराभावात्तावन्मात्र एव च द्वितीयसंयोगे तदारब्धकार्ये प्रथिमा न स्यादिति तत्राह—नचेति ।

अत्र तदारब्धकार्यशब्देन अणुकं वा अणुकं वा विवक्ष्यते किं वा चतुरणुकमिति । प्रथमे त्विष्टापत्तिरित्याह—अणुक इति । द्वितीये प्राह—अणुक इति । कारणबहुत्वाद्वा कारणमहत्त्वाद्वा प्रचयविशेषाद्वा महत्त्वमुत्पद्यते तत्र कारणमहत्त्वप्रचययोरभावेऽपि कारणबहुत्वात् अणुके महत्त्वमुत्पद्यते । नहि अणुकाभ्यां अणुकोत्पत्तिर्येन तदारब्धे महत्त्वं न स्यादपितु बहुभिर्बहुणैरिति भावः । यच्च द्वितीयसंयोगाभाव उक्तः सोपि अणुकेषु नास्तीत्याह—अणुकानामिति । नन्वस्तु संयोगाद्युपपत्तिः परमाणूनां तथापि न तदारब्ध किञ्चित्, नहि परमाणुसङ्घातव्यतिरेकेणावयवी नाम कश्चिदास्ते युक्तियुक्त, तस्मात्सन्तु नाम परमाणव तथाप्यारम्भकल्पनानुपपत्तिरिति तत्राह—नचावयवीति । अवयविसद्भावे विज्ञानवादिनं प्रत्युक्तं मानमनोहरीयमनुमानमाह—एकेति । एकमिति स्थूलमिति नीलमिति च योयमवभासो बाह्ये विज्ञानाद्बहिर्भूते प्रमेत्यर्थः । सौगतेनये विज्ञानस्य स्वग्राहकतयाऽर्थान्तरतानिवृत्त्यै बाह्यग्रहणम् । ननु भवतु बाह्यप्रमात्व तथाप्यवयविसिद्धिं कुत यतो बहिरपि परमाणूनेव वा तन्वाद्यवयवान्वावलम्बतामियं बुद्धिरिति तत्राह—नचार्थान्तरतेत्यादिना । परमाणूनामिति प्रत्यक्ष. खल्वयं प्रत्यय. स्थूलाद्याकारः । नच परमाणूनां प्रत्यक्षयोग्यत्वम् । सूक्ष्मत्वाच्च न स्थूलप्रत्ययविषयत्वमिति न तैरर्थान्तरतेत्यर्थः । अवयवसमूहालम्बनत्वं दूषयति—नापि द्वितीय इति । ननु नावयवमात्रं विषयः किंतु तत्समुदायः सचैक इति शङ्कते—समुदायस्येति । अवस्तुत्वादिति । यस्य ह्यवयव्येवानिष्टं स कथं समुदायव्यतिरिक्तं वस्तुभूतं समुदायमङ्गीकुर्यादित्यर्थः ।

एवमर्थान्तरताया परिहृताया विज्ञानवादी दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यं शङ्कते—यत्प्रकाशते इति । प्रकाशमानत्वं ज्ञानस्वभावत्वेन रूपादिज्ञानेषु व्याप्तं तद्रूपादिरपि प्रकाशमानो विज्ञानस्वभाव एवेति ज्ञानस्व-

ज्ञानमात्रत्वसिद्धौ साध्यविकलो दृष्टान्त इति चेत् । न, उभयवादिसंप्रतिपन्नस्य धर्मिणो-
भ्युपगमेऽपसिद्धान्तापत्तेः । अनभ्युपगमे चाश्रयासिद्धिः । यत्प्रकाशते तदुभयवादिसि-
द्धैकविज्ञानमात्रं, प्रकाशते च विवादाध्यासितमिति ज्ञानाद्वैतप्रसञ्जकतयाऽऽभाससमान-
योगक्षेमत्वाच्च । नच कम्पाकम्पावृतत्वानावृतत्वरक्तत्वारक्तत्वलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गात्तदा-
श्रयस्यैकत्वानुपपत्तिः । अवयवानां कम्पे तदावरणे तद्रक्तत्वे चावयविनोऽतद्रूपत्वेनैकस्य
विरुद्धधर्मसंसर्गासिद्धेः । नचावयवावयविनोश्चलाचलयोर्युतसिद्धिप्रसङ्गः । विकल्पा-
सहत्वात् । किं भेदो युतसिद्धिः १ किंवा पृथगाश्रयाश्रितत्वं २ पृथक्क्रियावत्त्वं वा ३
परस्परसंयोगविभागवत्त्वं वा ४ । न प्रथमः, अवयवावयविनोर्भेदाभ्युपगमेन सिद्धसाध-
नत्वात् । अत एव न द्वितीयः । अवयविनोऽवयवाश्रयत्वेप्यवयवानां स्वारम्भकावयवा-
श्रितत्वात् । न तृतीयः । पृथक्क्रियावत्त्वस्योभयोरिष्टत्वात्, एकद्रव्यं कमेति सूत्राच्च ।
न चतुर्थः । चलाचलयोरपि घटहिमाचलयोः परस्परसंयोगविभागानधिकरणत्वात् ।

अवयवावरणेऽवयविनोऽनावरणे पूर्ववत्कृत्स्नप्रतीतिः स्यादिति चेत्, सत्यं कृत्स्नः
प्रतीयत एव तस्यैकत्वात् । तथात्वे द्विहस्तत्वादि किमिति न प्रतीयत इति चेत् तदुचि-

भावत्वावगते रूपज्ञानस्यापि बाह्यविषयत्वमसिद्धमित्यर्थः । अत्रहि प्रकाशते रूपमिति पक्षीकृतं रूपमुभया-
भिमतमनभिमतं वेति विकल्प्य दूषयति—**नेति** । ज्ञानातिरिक्तरूपाद्यभ्युपगमेऽपराद्धान्त इत्यर्थः । आभा-
ससमानयोगक्षेमता चाह—**यत्प्रकाशत इति** । अस्ति ह्यत्राप्येकस्मिन्विज्ञानं तन्मात्रत्वप्रकाशमानत्वयो-
र्याप्तिरित्यर्थः । ननु तथापि तर्कविरुद्धत्वाच्छङ्कितोपाधित्वमनुमानस्य तथाहि वृक्षे कासुचिच्छाखासु कम्प-
मानासु तदंशेवयवी कम्पते अपरास्वकम्पमानासु तदंशे न कम्पते नचैतदेकस्मिन्वृक्षावयविनि घटते । नहि
संभवति तदेव कम्पते न कम्पते चेति । तथा घटादिष्वप्यर्थमात्रियते नार्थं तथा पटादावप्यर्थरक्तमरक्तम-
र्थं दृश्यते । नचैतदेकस्मिन्संभवति विरोधात् तस्मान्नास्त्येवावयवीति तत्राह—**नच कम्पेति** । अवय-
वेभ्यो विभिन्नत्वावयवी । नच तस्मिन्विरुद्धधर्मसंसर्गः । भागानिष्ठत्वात् कम्पादीनां विरुद्धधर्माणाम-
वयवी तु यथानुभवं कम्पत एव वा आवृत एव वा विपरीतमेव वा, न पुनरुभयाधिकरणमित्यर्थः । स्यादे-
तत् यद्यवयवचलनादावप्यवयवी न चलनादिमान् तर्हि घटचलनेप्यचलितपटवद्युतसिद्धतावयवावयविनो-
प्राप्नोति तथाच न समदाय इति तत्राह—**नचावयवेति** । विरुद्धधर्मवत्त्वेपि न युतसिद्धिरिति विकल्प-
पूर्वकमाह—**विकल्पासहत्वादित्यादिना** । अतएवेत्यतिदिष्टं सिद्धसाधनत्वं विवृणोति—**अवयविन इति** ।
पृथक्क्रियावत्त्वं युतसिद्धत्वमिति तृतीयपक्षेपि सिद्धसाधनतामाह—**पृथक्क्रियावत्त्वेति** । अवय-
वेऽन्यत्कर्म अवयविन्यप्यन्यदेवेत्यत्र वैशेषिकसूत्रमपि प्रमाणयति—**एकद्रव्यमिति** । एकमेव द्रव्यं सम-
वायिकारणं यस्मै कर्मणस्तदेकद्रव्यं न पुन सयोगादिवदनेकवृत्तीत्युक्तम् । परस्परसंयोगविभागवत्त्वं युतसि-
द्धिरिति चतुर्थं पक्षं दूषयति—**न चतुर्थ इति** । तत्रहि चलाचलत्वेन संयोगविभागवत्त्वमापादनीयं नचै-
तच्छक्यापादनं न्याप्तेरभावेन प्रशिथिलमूलत्वादिति भावः ।

यत्त्वावृतत्वानावृतत्वविरुद्धधर्मसंसर्गो नास्ति अवयवावरणेप्यवयविनोऽनावृतत्वानुभवादित्युक्तम् अवयवानां
कम्पेऽपीत्यत्र, तत्र बाधकं शङ्कते—**अवयवेति** । केयं कात्स्न्येन प्रतीतिः—किमवयवविस्वरूपस्यानवशेषेण
प्रतीति किं वा हस्तवित्तस्यादिमत्तया प्रतीति । आद्यामिष्टापत्त्या दूषयति—**सत्यमिति** । एकं खल्वव-
यवी न पुनरवयववदनेक स चेत्प्रतीयते प्रतीति एव कात्स्न्येनेति नायमनिष्टप्रसङ्ग इत्यर्थः । द्वितीया शङ्कते
—**तथात्व इति** । सहकारिवैकल्यादिति परिहरति—**तदुचितेति** । अवयव्युत्पादका एव येऽवयवा-

तावयवसन्निकर्षस्य तत्प्रतीतिहेतोरभावान् । रक्तत्वं तु महारजनादेरेव द्रव्यान्तरस्य नाप्यवयवानामिति दूरनिरस्तो विरुद्धधर्मसंसर्गः, तथापि तत्संयोगाद्रक्तिमप्रतीतिः सर्वत्र किं नस्यादिति चेन्न । संयोगस्याव्याप्यवृत्तित्वान् । नन्ववयवेषु वर्तमानोऽवयवी किं वा कार्त्तर्येण वर्तते उतैकदेशेन । नाद्यः । शृङ्गेणापि स्तनकार्यकरणप्रसङ्गान्, अवयविनः कार्येणान्वयान् युगपदनेकत्र वृत्तावनेकवृत्तिरूपादिवदनेकत्वप्रसङ्गाच्च । नापि द्वितीयः । आरम्भकावयवव्यतिरिक्तैकदेशाभावान् । भावे वानन्तावयवतया मेरुसर्पपयोस्तुल्यपरिमाणतापत्तेः अवयवावयविनोर्दूरविप्रकर्षप्रसङ्गाच्चेति चेत् । मैवम् । विकल्पस्यानवसरदुःस्थत्वान् । नह्येकस्मिन्नेवावयविनि समस्तोऽसमस्तो वेति विकल्पः कल्पतैः । बहूनां हि समस्तताऽसमस्तता वा संभवेत् । किंचायं वृत्तिविकल्पः स्वसिद्धां व्याप्तिमवलम्ब्योत्तिष्ठत्युत परसिद्धाम् । नाद्यः । सौगतैः सर्वस्य क्षणिकत्वेनाश्रयाश्रयिभावानभ्युपगमान् । वेदान्तिभिरपि कार्यस्य कारणे कल्पितत्वमभ्युपगच्छद्विर्वृत्तेरनभ्युपगमान् । नापि द्वितीयः । तेनाप्यनङ्गीकारात् ।

यद्वर्तते तत्संयोगेन समवायेन वा वर्तते इति परोङ्गीकरोति ननु कार्त्तर्यैकदेशाभ्याम् ।

स्तेषामिन्द्रियेण य सन्निकर्षं सोप्येतस्यैकहस्तादे प्रतीतावुचितो हेतुस्तस्याभावादित्यर्थः । यस्तु रक्तत्वा-
रक्तत्वलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्ग उक्तस्त परिहरति—रक्तत्वं त्विति । यद्धि पाकादिवशादुत्तर पटेन सयुक्तं
कुसुम्मादिद्रव्यान्तर तद्धर्म एव रक्तत्वादि न पटधर्म नापि तन्तुधर्म, पर तत्संयोगान्पटस्थरक्तताप्रती-
तिरित्यरक्तैकस्वभावत्वात्पटस्य दूरनिरस्तो विरुद्धधर्मसंसर्ग इत्यर्थः । स्यादेतन् भवतु हरिद्रादिसंयोगान्पटे
रक्तप्रतीतिस्तथापि किमिति न सर्वात्मना पटे रक्तिमप्रतीति एकः खल्ववयवी तेन सयुक्त इति तस्माद्रक्त-
प्रतीतिविषयत्वतद्रहितत्वलक्षण एवायं विरुद्धधर्मसंसर्गोऽस्त्विति शङ्कते—तथापीति । परिहरति—नेति ।
यद्यप्येक एवावयवी तथापि द्रव्यान्तरसंयोगस्तस्मिन् सर्वस्मिन्वर्ततेऽपित्वव्याप्यवृत्तिर्यावति च स वर्तते भव-
त्येव रक्तप्रतीतिरियमप्यस्तीत्यर्थः । एवं विरुद्धधर्मसंसर्गे परिहृतेपि वृत्तिविकल्पापुपपत्त्याशङ्कितोपाधिता
शङ्कते—नन्वित्यादिना । ननु किमिति शृङ्गेण स्तनकार्यप्रसक्तिं नच शृङ्गस्य स्तनत्वमस्तीति तत्राह—
अवयविन इति । अन्वयो जनकतया सवन्धित्वम् । अत्रैव दूषणान्तरमाह—युगपदिति । क्रमेणाने-
कत्र वर्तमानदेवदत्तादिव्यवच्छेदाय युगपद्रहणम्, यदिहि प्रत्यवयवं परिसमाप्य वर्तते तदा प्रतिद्रव्यं परि-
समाप्य वृत्तिरूपादिवदनेकत्वमपि स्यादित्यर्थः । ननु किमित्यारम्भकव्यतिरेकेण वृत्त्यर्थमप्यवयवा न स्यु-
कोशावयवेषु वर्तमानासे कोशावयवव्यतिरिक्तावयवत्वदर्शनादिति तत्राह—भावे चेति । तदाहि तेष्वव-
यवेषु तद्वृत्त्यर्थमवयवान्तराणि कल्पेरन् एवं तेषु तेष्वपीत्यनन्तावयवा स्युपरयान्तिमावयवेषूपपत्तदोपापा-
तात्, तथाच सुमेरुसर्पपयोरनन्तावयवत्वं समानमिति परिमाणसाम्यमपि स्यादविश्रान्ततामन्तमपरिमाणा-
धिकरणेषु परिमाणवैषम्यस्यावयववेषम्यनिमित्तताव्याप्तेरित्यर्थः । अत्रैव दूषणान्तरमाह—अवयवेति ।
प्रथमावयवावयविनोर्मध्येऽनन्तावयवव्यवधानादित्यर्थः । एव वृत्तिविकल्पदोषं परिहरति—मैवमिति ।
एकस्मिन्नपुपपत्तिमेव व्यतिरेकनियमेन दर्शयति—बहूनामिति । किंच यद्यत्र वर्तते तत्कार्त्तर्यैकदेशेन
वेति किं सोगतसमये नियति किं वा वेदान्तदर्शने आहो महर्शनेनैवं प्रसज्यते, न सर्वथापीत्याह—किंचा-
यमित्यादिना ।

ननु सौगतवेदान्तिदर्शनयोर्वृत्त्यनङ्गीकारादेव युक्तस्तत्प्रयुक्तनियमेप्यनादर कर्तुं भवता तु वृत्तिमङ्गीकु-
र्वता काचिन्नियतिरङ्गीकरणार्थेवेति तत्राह—यद्वर्तते इति । सवन्धे एव नियतिर्न कार्त्तर्यादावित्यर्थः ।

अस्तु वा कात्स्न्येन वृत्तिस्तथापि न शृङ्गेण स्तनकार्यकरणप्रसङ्गः । तत्तदवयवविशिष्टस्यै-
वावयविनस्तत्तत्कार्यप्रसवसमर्थत्वात् । सर्वश्रायं प्रसङ्गहेतुराश्रयासिद्धः । अवयविनो-
ङ्गीकारादङ्गीकारे वा धर्मिग्राहकप्रमाणबाधः । परसिद्धेन परस्यानिष्टापादनमिति चेत् ।
न । परस्यापि प्रमाणतः सिद्धावसिद्धौ च पूर्वोक्तदोषद्वयानतिवृत्तेः । अस्येवेतरस्यापि
कल्पनाकल्पितो धर्मीति चेत् । न । कल्पनायाः सर्वत्राव्याहृतप्रसरतयाऽऽश्रयासिद्ध्या-
दिदोषप्रमोषप्रसङ्गात् । तदेवं परमाणूनामेव व्युत्पादिक्रमेण निश्चितनिखिलजगत्का-
रणतोपपत्तौ न ब्रह्मणस्तत्कारणत्वकल्पनावकाश इति ।

अत्रोच्यते—‘अर्थान्तरत्वादायस्य परस्योपाधिमत्त्वतः । अन्यस्याभासतुल्यत्वात्प्रति-
साधनरोधनात्’ ॥ ३८ ॥ यत्तावन्महत्त्वापकर्षतरतमभावस्य क्वचिद्विश्रान्तिसाधनं तद-
र्थान्तरं त्रसरेणुष्वेव तस्य विश्रान्तेः । नच चाक्षुषद्रव्यत्वात् महत्त्वे सति क्रियावत्त्वाद्वा
तेषामपि सावयवत्वानुमानात्तत्र विश्रान्त्यनुपपत्तिः । आद्यस्य योगिचक्षुर्गोचरेषु परमा-
णुष्वनैकान्तिकत्वान् । नचास्मदादीति विशेषणोपादानाददोषः । परमाणूनामिदानीमेव
साधनीयतया तद्व्यावृत्त्यर्थं विशेषणस्य वैयर्थ्यात् । द्वितीयेपि महत्त्वे सतीति विशेषणस्य

ननु किमिति न प्रसङ्गः यावताऽवयविन एव कार्यकरत्वादापतत्येवेति तत्राह—**तत्तदवयवेति** । यथाह-
वयविनोन्वयव्यतिरेकौ तथा तत्तदवयवोपेततयापीत्यर्थः । किञ्च यद्येकदेशेन वर्तेत यदि वा कात्स्न्येन यदि
वावयवेभ्योऽतिरिच्येत तर्हीदमिदं स्यादिति यदिदं प्रसङ्गं तत्राश्रयभूत कश्चिदवयवी स्वीकृतो न वा
उभयथाप्यनुपपत्तिरित्याह—**सर्वश्रायमिति** । प्रसङ्गहेतु प्रसङ्गको हेतुरित्यर्थः । अनङ्गीकारेऽप्याश्रयासि-
द्धिपरिहारः शङ्कते—**परेति** । परस्यापि किं प्रमाणतः सिद्धं त्वया धर्मीक्रियते उत प्रतीतिमात्रसिद्धम् ।
आद्ये धर्मिग्राहकप्रमाणबाधः नहि परप्रमाणमप्रमाणं भवति वस्तुनोनन्यथाभावात् । द्वितीये त्वाश्रयासि-
द्धिरिति परिहरति—**न परस्यापीति** । ननु किमित्याश्रयासिद्धिर्धर्मिग्राहकप्रमाणबाधो वा यावता कल्पित
कश्चिदवयवी ममाप्यस्त्येवेति शङ्कित्वा अतिप्रसक्त्या परिहरति—**न कल्पनाया इति** । उपपादितोयमर्थो
मिथ्यात्ववादे । पूर्वपक्षमुपसहरति—**तदेवमिति** ।

तत्र तावत्परमाणुसाधकतया शङ्कितानुमानेषु दूषणानि श्लोकेन संगृह्णाति—**अर्थान्तरत्वादिति** । अ-
णुपरिमाणतारतम्यमित्यनुमाने व्युत्पादार्थान्तरता । यत्तु पृथिवीत्वस्य नित्यवृत्तित्वानुमानं तत्राह—**पर-
स्येति** । यत्तु मृदाविद्यानुमानमुक्तं तत्राभाससमानयोगक्षेमता सत्प्रतिपक्षतां चाह—**अन्यस्येति** । सप्रहं
विवृणोति—**यत्तावदित्यादिना** । कश्चायं तरतमभावः—न तावत्संख्या । परिमाणेऽसम्भवात् । नापि
जाति महत्त्वानुत्वाभ्या परापरभावाभावात् । अभावत्वं त्वेतादृशानां पुरैव निवारितम् । ततश्चाश्रयासिद्धि-
रपि दुस्तरा । यत्तु व्युत्पादकानामपि सावयवत्वानुमानद्वारार्थान्तरत्वं परिहृतं तत्राह—**नचेति** । अत्र किं
चाक्षुषत्वमात्रं विवक्षितं किवाऽयोगिचाक्षुषत्वम् । आद्ये भवतामनैकान्तिकता स्यादित्याह—**आद्यस्येति** ।
परमाणुष्वित्युपलक्षणं कालादीनामपि । द्वितीयं दूषयति—**नचेति** । अत्र तावद्वाहना कालाकाशदिशा-
मप्यस्मादादिचाक्षुषत्वात्तद्व्यावृत्त्यर्थं न स्यात्तस्माद्योगिनामेव प्रत्यक्षपरमाणुव्यावृत्त्यर्थमिदं विशेषणं तथाच वैय-
र्थ्यम् । योग्यनङ्गीकारादपि भाट्टान्प्रति वैयर्थ्यमित्यर्थः । द्वितीयं सावयवत्वसाधकं दूषयति—**द्वितीयेति** ।
निरवयवपरमाणुषु क्रियावत्त्वनैकान्तिकतापरिहारार्थं महत्त्वे सतीति विशेषणम् । तथाच वैयर्थ्यमित्यर्थः ।
भवतु वा सावयवत्वं तथापि कथमर्थान्तरताऽभावः । नहि व्युत्पादौ महत्त्वापकर्षविश्रामसंभवः । तत्र

परमाण्वसिद्धौ वैयर्थ्यात् । यत्तु पृथिवीत्वस्य नित्यवृत्तित्वानुमानं तत्र पृथिवीव्यतिरिक्ता-
धेयत्वमुपाधिः सत्ताया अपि नित्यवृत्तित्वानङ्गीकारात् साध्यविकलश्च दृष्टान्तः ।

अयं घट एतदतिरिक्तानित्यमूर्तातिरिक्तमूर्तान्य इत्यनुमानमाभाससमानम्, अयं
घट एतदतिरिक्तानित्यसावयवातिरिक्तसावयवान्यो मेयत्वादित्यपि प्रयोगस्य सुवचत्वान् ।
पृथिवीत्वमनित्यमात्रवृत्तिः पृथिवीमात्रवृत्तित्वान् घटत्ववदिति प्रतिप्रयोगसंभवाच्च ।
नच पृथिवीनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगिजात्यन्यत्वमुपाधिः । व्यतिरेकव्याप्त्यसिद्धेः, साध्या-
व्यापकत्वात् सत्ताद्रव्यत्वयोरपि नित्यवृत्तित्वासंप्रतिपत्तेः । नच निरवयवेषु संयोगसंभवः
येनासमवायिकारणसंपत्त्या द्रव्यारम्भः संभाव्येत ।

महत्त्वस्यैवाभावात् । परस्योपाधिमत्त्वत इत्येतद्विचित्रोक्ति—यत्त्विति । सत्ताया नित्यवृत्तिरपि पृथिवीत्व-
रहितवृत्तित्वमुपाधिः, नच पक्षेतरता आकाशादेर्विपक्षस्य व्यावर्त्यस्य सत्त्वात् । वेदान्तिमते साध्यवैकृत्यं चाह
—सत्ताया इति । आकाशादिप्रपञ्चस्य नित्यत्वाभावान्सत्ताया कल्पितत्वात् आत्मन्तश्च सद्रूपतया तत्र
सत्तावृत्त्यभावादित्यर्थः ।

अन्यस्येत्येतद्विचित्रोक्ति—अयं घट इत्यादिना । अत्र हेतदतिरिक्तानित्यसावयवातिरिक्त सावयवो-
ऽयमेव वा घटोऽनित्यत्वानधिकरणसावयवो वा कश्चित् । प्रथमेऽन्यत्वमेव तत् घटस्य व्याहृतमिति ततो-
ऽनित्यत्वानधिकरणस्य सावयवस्य कस्यचिदयन्यस्य सिद्धिप्रसङ्ग इत्यर्थः । नचानित्यद्रव्यस्यैव सावयवत्वं
स्यादनित्यसावयवत्वानधिकरणसावयवान्यत्वानुमानं व्याधानादेव नोदेतीति वाच्यम् । मूर्तस्यानित्य-
ताव्याप्त्या त्वदनुमानेपि व्याघातसाम्यात्परिच्छिन्नपरिमाणमात्रमेव मूर्तत्वमित्युक्ते द्रव्यन्वे सति द्रव्यस-
मवेतत्वमेव सावयवत्वं न पुनरनित्यत्वगन्ध इत्यपि वक्तुं शक्यमिति भावः ॥ १ ॥ तथायं घट एतद्वत्त्वे
सति एतदतिरिक्तानित्यमूर्तत्वानधिकरणमूर्तान्यो न भवति मेयत्वात्पटवदिति प्रकरणसमता ॥ २ ॥ तथा
त्वद्धेतुः स्वस्वेतरवृत्तित्वानधिकरणसमस्तहेतुदोषाधिकरणनिष्ठधर्मवान् मेयत्वात् ॥ ३ ॥ तथा नित्यत्वं स्व-
स्वेतरवृत्तित्वानधिकरणमूर्तनिष्ठत्वरहितनिष्ठधर्माधिकरणं मेयत्वात् ॥ ४ ॥ तथा निरवयवत्वं स्वस्वेतरवृत्ति-
त्वानधिकरणमूर्तनिष्ठत्वरहितनिष्ठधर्माधिकरणं मेयत्वात् ॥ ५ ॥ इत्यादिमहाविद्याभिरेवार्थतः सत्प्रतिपक्षता
केन वार्यते, तथैव यस्यकस्यचिदुपाधितामुद्भाव्य तन्साये समत्वादिविप्रतिपत्तावप्येतथैव रीत्या समर्थनीयम्,
तथा हेत्वादिकमपि पक्षीकृत्य वैपरीत्यमनुमातव्यं परमाण्वनदीकारेण्येवमनुमानसंभव इष्यते तथा रीत्यन्तर-
रपि । नचैतेपा तर्कविद्याविरोधादिदोषः शक्यशङ्कः । विमतान्यनुमानानि स्वस्वेतरवृत्तित्वानधिकरणसकलदू-
षणरहितनिष्ठधर्माधिकरणानि मेयत्वात् ॥ ६ ॥ इत्यपि शक्यप्रयोगत्वात् । नच मयाप्येवं वैपरीत्यमनुमातुं
शक्यमिति वचनीयम् । ततोऽप्येवं वक्तुं शक्यत्वात् । एवं हि महाविद्याकोविदाः प्राहुः श्रमादुपरमेपि न दोष
इति । ननु तथापि महाविद्याप्रामाण्यं सिद्धमेवेति चेत् अप्रामाण्यमपि सिद्धमेव । तदित्थम् 'स्वपरपक्षा-
णामेषा पारिप्लवावहा । आरादेव परित्याज्या महाविद्याभिसारिका' ॥ १ ॥ सप्रतिमाधनता विचित्रोक्ति—
पृथिवीत्वमिति । एतच्चोभयोरन्यनुमानयोः समानम् । **नच पृथिवीनिष्ठेति** । सकलपृथिवीनिष्ठा या
जातयः पृथिवीनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगिजातयः तदन्यत्वमुपाधिरिति नच वचनीयमित्यर्थः । कुत इत्यत
आह—**व्यतिरेकेति** । यत्र हि पृथिवीनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगिजातित्वं तत्र नित्यवृत्तित्वमिति व्यतिरेक-
व्याप्तिः कुत्र गृह्यते न तावत्सत्ताद्रव्यत्वयोरद्वैतवादिनस्तयोरपि नित्यवृत्तित्वासंप्रतिपत्तेः । अतः साव्याव्या-
पकत्वादनुपाधिरित्यर्थः । यत्तु निरवयवस्यापि परमाणोः संयोगसमर्थनं कृतं तदूपयति—**नचेति** । ननु
परमाणुसंयोगाक्षेपस्य जगत्कारणत्वाभावे क उपयोग इति तत्राह—**येनेति** । अवयवसंयोगः स्वत्ववयव्यु-
त्पत्तावसमवायिकारणं स हि लघुप्रत्यासन्न तदिह परमाणूनां तदभावे कारणत्रयाभावाद्भज्येतैव व्युत्पा-
दारम्भ इत्यर्थः ।

परमाणुपक्षीकारासंभवेऽपि संयोगित्वं सावयवमात्रवृत्ति संयोगिमात्रवृत्तित्वात् घट-
त्ववदिति संप्रयोगोपपत्तेः । नच द्रव्यत्वेन संयोगित्वानुमानम्, उभयवादिसिद्धस्य धर्मि-
णोऽभावात् । नच संयोगित्वं निरवयववृत्ति संयोगिनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वान्मेय-
त्ववदिति सप्रतिसाधनता, संयोगिव्यापिनि सावयवत्वधर्मे परस्यानैकान्त्यात् । नच
द्वितीयसंयोगानुपपत्तिरदोषः, पार्थिवाप्यपरमाण्वोः संयुक्तयोः सजातीयान्वन्तरसंयो-
गात् व्युत्पत्तौ द्वितीयसंयोगस्यावश्याभ्युपेयत्वान्, कारणाकारणसंयोगेन कार्या-
कार्यसंयोगस्येष्टत्वाच्च । नचावयवी कश्चित्संभवति यः परमाणुभिरारभ्यते, नचैकस्थूल-
नीलावभासो बाह्ये प्रमेयानुमानात्तत्सिद्धिः । यादृगवयवानामवयवव्यावर्तकताभ्युपेयते
तेषामेवैकस्थूलनीलावभासगोचरत्वोपपत्तेरर्थान्तरत्वात् ।

नचानेकेषामेकप्रत्ययविषयत्वानुपपत्तिः । एकप्रावरणाद्यर्थक्रियाहेतुत्वोपाधौ बहूना-
मपि तन्तूनामेकप्रत्ययत्वोपपत्तेः । दृश्यतेहि बहूनामपि वर्णानामेकार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वा-
धावेकं पदमिति बुद्धिगोचरता कम्पाकम्पावरणानावरणरक्तारक्तत्वलक्षणविरुद्धधर्मसंस-

परमाणुव्यक्तिमात्रपक्षीकरणमाशङ्क्य पूर्ववादिना यदूषणमुक्तं तदनङ्गीकारपरास्तमिति वदन् सयोग्यन्तर-
स्यानुमानमारचयति—**परमाण्विति** । नच द्रव्यत्वेनानैकान्तिकता, तस्यापि पक्षतुल्यत्वात् । प्रतिप्रयो-
गमाशङ्क्य दूषयति—**नच द्रव्यत्वेनेति** । ननु किमित्युभयासिद्धेर्वैयर्थ्यभावस्त्वद्वीत्या संयोगित्वमेव पक्षी-
कृत्य शक्यप्रयोगत्वादिति तत्राह—**नच संयोगित्वमिति** । संयोगिनिष्ठघटत्वादिव्यावर्तनायात्यन्ताभा-
वपदम् । यस्य हि सावयवमेव संयोगीति मतं तन्मते सावयवत्वानैकान्तिकमित्यर्थः । किञ्च संयोगित्वं
गुणादिवृत्ति संयोगिनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वान्मेयत्वादिवदिति शक्यानुमानत्वादाभाससमानयोगक्षेम-
त्वम् । यच्च द्वितीयसंयोगाभावो न दोषाय प्रथिमानुपपत्तेरदूषणत्वादित्युक्तं तत्राह—**नचेति** । माभूत्प्रथि-
मानुपपत्तिर्दोषः । द्वितीयसंयोगानुपपत्तिरेव दोषः अपसिद्धान्तापत्तेरित्याह—**पार्थिवाप्येति** । यदाहि पा-
र्थिवपरमाणोरप्यपरमाणौ संयोगो जायते तदनन्तरं च पार्थिवस्यान्येन पार्थिवेन आप्यस्याप्यन्येनाप्येन
संयोगो जायते तदा पार्थिवाभ्यां पार्थिवव्युत्पत्तिरिति द्वयं युगपदारभ्यते इति भवता
समयः । ततश्च पार्थिवाप्यपरमाण्वो प्रथमं संयोगः संयुक्तयोरेव पुनः सजातीयानुभ्या संयोगनिष्पत्तिरिति
तदनुपपत्तिर्दोषाथैवेत्यर्थः । अथेयमपि प्रक्रिया माभूत्किं नश्छिन्नमिति तत्राह—**कारणेति** । अयमर्थः ।
संयोगजसंयोगप्रकरणे हेतुस्माद्वाभ्या बहुभ्यश्चैकस्य संयोगस्योत्पत्तिमुक्त्वा पुनरेकस्मात्संयोगाद्वयो संयो-
गोत्पत्तावित्युदाहृतं भवद्वाप्यकृता ‘यदा पार्थिवाप्ययो’ रित्यारभ्योक्तप्रकारेण व्युत्पत्तिमुक्त्वा ततो
‘यस्मिन्नेव काले व्युत्पत्तौ कारणगुणक्रमेण रूपाद्युत्पत्तिस्तस्मिन्नेव काले इतरेतरकारणाकारणगतात्संयोगा-
दितरेतरकार्यकार्यगतौ संयोगौ युगपदुत्पद्येते’ इत्यन्तेन उपपत्तिरपि तैरेवोक्ता—‘किं कारणं कारणसंयो-
गिना हि कार्यमवश्यं संयुज्यते इति हि न्यायः’ इति । तस्मात्त्वयोदिता द्वितीयसंयोगानुपपत्तिरनिष्ठापत्तिरे-
वेति । यन्नावयवविसाधनं पूर्ववादिना कृतं तदपि दूषयितुं क्रमते—**नचावयवीत्यादिना** । यच्च मानम-
नोहरीयमनुमानं तत्र बाह्यविषयत्वव्यवयवैरर्थान्तरतामाह—**नचैकस्थूलनीलेत्यादिना** ।

नन्ववयवानामनेकत्वादेकबुद्धिविषयत्वानुपपत्तिरिति तत्राह—**नचानेकेषामिति** । यथाहि बहूनामपि
वर्णानां बहूनामपि पदानामेकपदार्थादिवुद्धिजनकत्वोपाधावेकं पदमेकं वाक्यमिति बुद्धिविषयत्वं न पुनस्ता-
दृशं कश्चिद्वर्णाद्यतिरिक्तोर्थः, तथेहाप्येकार्थक्रियोपाधौ बहूनामेव तन्तूनामेकबुद्धिविषयत्वं किमिति न सम्-
वतीत्यर्थः । नच परमाणूनामप्रत्यक्षत्वात्प्रत्यक्षबुद्ध्यविषयत्वमिति वाच्यम् । तादृशपरमाणूनामेवासिद्धेः ।

गर्दवयविन एकत्वानुपपत्तेश्च । नचावयवानां तथात्वेप्यवयविनोऽतथात्वम् । तथात्वे सति युतसिद्धिप्रसङ्गात् । नच युतसिद्धेरनिरुक्तिः । घटपटयोरिव द्रव्ययोः समवायायोग्यत्वस्य युतसिद्धिपदेनाभिलापात् । नच युतसिद्धत्वे भागभागिव्यवहारगोचरत्वानुपपत्तिः, पदवाक्यादिवदुपपत्तेः ।

यत्तुक्तं नावयविनोऽवयवानां वा रक्तत्वं किंतु महारजनादिद्रव्यस्यैव तत्संयोगस्याव्याप्यवृत्तित्वादेव रक्तारक्तत्वव्यवहारो विभागश्च सिद्ध्यतीति तदसन् । अव्याप्यवृत्तित्वस्यानिरुक्तेः । तर्हि प्रदेशवृत्तित्वमुत स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वम् । नाद्यः । आरम्भकप्रदेशातिरेकेणावयविनः प्रदेशान्तराभावान्, प्रदेशवृत्तित्वे संयोगस्यावयविनः सर्वत्र संयोगानधिकरणत्वप्रसङ्गान्, प्रदेशतद्वतोभिन्नत्वान् । न द्वितीयः । भावस्य स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वे भावाभावविरोधोच्छेदप्रसङ्गान् । प्रतियोगिसमानदेशकालत्वेत्यन्ताभावस्यान्योन्याभावत्वप्रसङ्गाच्च । नच नेदमिह नेदमिदमिति विलक्षणबुद्धिवेद्यत्वाद्भेदः ।

विरुद्धधर्मसंसर्गलक्षणतर्कविरोधमपि समर्थयते—**कम्पेति** । पूर्वाक्ते पूर्वपक्षाशयं निराचष्टे—**नचावयवानामिति** । ननु युतसिद्धत्वमेव विकल्पपूर्वं दूषितं तत्राह—**नच युतेति** । नात्र भेदादियुतसिद्धिरापादिता घटपटयोर्द्रव्ययोर्यादृशी युतसिद्धिः समवायायोग्यत्वात्मिका सैवात्र चलाचलत्वादिनापादनीयेति चलचलयोरपि द्रव्यगुणयोस्तदयोग्यता नास्तीति द्रव्ययोरित्युक्तम् । इत्थमेवच युतसिद्धिरभ्युपेया भवतापि, इतरथा नित्यानित्यसाधारणयुतसिद्धेरभावात् पृथगाश्रयाश्रयित्वस्य परमाणादिष्वभावात् पृथग्गतिमत्त्वस्य च गुणादावभावादननुगति स्यात् । नवानुगतनिमित्ताऽसभवे साधारणशब्दता युक्ता । नचैवंविधयुतसिद्धिर्गुणादावपि शक्यप्रसङ्गना कम्पादेस्तत्रापि समानत्वादिति वचनीयम् । इष्टत्वात् । नचाप्रमितस्य समवायस्य निषेधानुपपत्तिः । शुक्तिजततादात्म्यवद्भ्रान्तिसिद्धस्यापि निषेधोपपत्तेः । एवं च यदाह किरणावलीकारः—‘तस्माद्युतसिद्धिमजानमेव शब्दसिद्धिमात्रेण परो ध्वनयतीति तं दान्मन्येव परावर्तितम् । ननु यदि युतसिद्धिस्तर्हि घटपटवदेव भागभागिव्यवहारो न स्यादिति तत्राह—**नच युतसिद्धत्व इति** । नहि पदादीनां वर्णादीनां वा युतसिद्धिरस्ति अथाप्यस्ति भागभाग्यादिव्यवहार पञ्चावयवं वावयमित्यादिष्वेवमिहापीत्यर्थः ।

रक्तारक्तत्वयोरपि तदुक्तं परिहारमनूद्य दूषयति—**यत्तुक्तमित्यादिना** । संयोगस्याव्याप्यवृत्तितया हि तदधीनरक्तारक्तव्यवहारस्य व्यवस्था क्रियते तदसत्, अव्याप्यवृत्तितया दुर्निरूपत्वादित्याह—**अव्याप्येति** । कोऽयं प्रदेश किमारम्भकावयवव्यतिरिक्ताः केचिदवयवा किं वा त एव । आद्योऽसम्भवीत्याह—**नाद्य इति** । द्वितीये प्राह—**प्रदेशेति** । प्रदेशेभ्य आरम्भकावयवेभ्यो विभिन्नोवयवी तथाच प्रदेशवृत्तित्वेन संयोगस्य न कचिदप्यवयविना संयोगित्वमिति द्रव्यत्वव्याहति । तस्य तद्व्याप्यत्वात् कारणसंयोगस्य कार्यसंयोगोपजनननियमाच्चेति भावः । **भावस्येति** । संयोगाख्यस्येत्यर्थः । किंचैवंसति रक्तत्वतदत्यन्ताभावयोरेकस्मिन्नेवावयविनि वृत्तिरित्युक्तं भवेत्तथाच स एव दुरात्मा विरुद्धधर्माध्यासो दुरुद्धरः स्यात् । न भावाभावयोर्विरुद्धत्वं किंतु तद्विशेषगोत्वादेरश्वत्वादाविति चेत्, नूनं पितृभ्यां शिक्षितोऽपि कथमन्यथा भावाभावयोर्विरोधमननुमन्य तदाप्रातयोर्विरोधमनुमन्यसे, अस्ति चात्राभाणक ‘पिण्डमुत्सृज्य कर लेडी’ति । इममेव विरोधोच्छेदप्रसङ्गं बाधकं संयोगतदत्यन्ताभावयोरेकत्र वृत्तौ बाधकमपश्यते श्रीवल्लभाय व्याचक्षीत । किंच संयोगादावत्यन्ताभावस्य प्रतियोगिसमानाधिकरणत्वेन्योन्याभावतैवास्य स्यात् स्वप्रतियोगिसमानाधिकरणनिषेधत्वस्यान्योन्याभावलक्षणत्वादित्याह—**प्रतियोगीति** । अत्र लीलावतीकारेणममेव दोषमाशङ्क्य समादधे ‘नेदमिदं नेदमिहेति विलक्षणबोधवेद्यत्वादिति तदूषयति—**नचेति** । न बुद्धिवैलक्षण्यमात्रमर्थसा-

असति प्रमेयवैलक्षण्ये बुद्धिवैलक्षण्यासंभवात् । नच प्रतियोगिनिष्ठानिष्ठत्वेन विशेषः । तस्याभावप्रकरण एवापाकरणात् । किंचावयवेष्ववयवो व्यासज्य वर्तते यथा द्वित्वादि किं वा प्रत्येकं परिसमाप्य यथा पराभिमतता जातिः । आद्ये बहुत्वसंख्यादिवदेव समस्तावयवानामग्रहणे न गृह्येत । द्वितीये जातिवदेव पट इति प्रत्ययः प्रत्यवयवं स्यात् तस्यैव च कार्यान्वयात् शृङ्गेणापि स्तनकार्यकरणप्रसङ्गः । स्तनाद्यवयवविशिष्टस्यैव तत्तत्कार्यकरणत्वान्नातिप्रसङ्ग इत्यपि न वाच्यम् । यादृशसंस्थानेष्ववयवेष्ववयवी समवेत इष्यते तेषामेव तत्तत्कार्यकरणत्वोपपत्तेरवयविनो वैयर्थ्यप्रसङ्गात् ।

किंचावयविनः प्रत्यवयवं परिसमाप्य वृत्तौ कतिपयावयवनाशेपि जातिवदसाववतिष्ठेत । समवायिकारणमन्तरेण कथमवस्थानमिति चेत्तर्हि प्रत्यवयवं परिसमाप्यवृत्तावपि सकलसमवायिकारणसहित एवावतिष्ठेत तथाच शृङ्गेणापि स्तनकार्यप्रसङ्गः पूर्वोक्त एवानुवर्तते, तत्तदवयवविशिष्टस्यैव तत्र तत्र भावात् । प्रत्यवयवं निखिलावयवोपलम्भश्च स्यात्तदित्थं वृत्तिविकल्पस्य परसिद्धव्याप्त्युपजीवित्वात्स्वसिद्धां परसिद्धां वेति विकल्पो-

वकमतिप्रसङ्गादपि त्वबाधितम् । नचेह तल्लक्षणाद्यभावेन दुर्निरूपभेदत्वादित्यर्थः । ननु प्रतियोगिनिष्ठत्वमस्त्यत्यन्ताभावस्य अन्योन्याभावस्य तु तन्नास्ति नित्यत्वेन तु प्राक्प्रध्वंसयोर्व्युदास इत्ययमेवास्तु तयोर्विशेष इति तत्राह—**नच प्रतियोगीति** । प्रतियोगित्वानिरुक्तेर्यत्किंचित्प्रतियोगित्वस्यप्रतियोगित्वविवक्षयोरनुपपत्तेश्चेदमभावखण्डन एव निरस्तमित्यर्थः । यत्तु वृत्तिविकल्पेन दूषणं पूर्वपक्षावसर उक्तं तदपि समर्थयते—**किंचेत्यादिना** । व्यासज्य परिसमाप्येत्यर्थः । आदिशब्दात्रित्वादित्रिपृथक्त्वादिसयोगविभागाश्च गृह्यन्ते । **पराभिमततेति** । स्वपक्षे हि जातावेव व्यक्तीना कल्पितत्वाद्वास्तवजातेरभावाच्चेत्यर्थः । एतच्च द्वित्वादावपि समानम् । स्यादेतद्बहुत्वं नाम त्रित्वाद्यभिधीयते तच्चापेक्षाबुद्धिजन्यं तथाच समस्तावयवग्रहणाभावेऽपेक्षाबुद्धिलक्षणनिमित्तकारणाभावात् बहुत्वमेव नास्ति कस्याग्रहणं दृष्टान्त्यते तस्मादयुक्तमिवैतत् यद्बहुत्वसंख्यावदिति निदर्शनदानम् । मैवं युक्तंचैतत् । नह्युत्पादिकापेक्षाबुद्धिरेव बहुत्वज्ञानमपितूत्पन्नाया पश्चाद्भावविज्ञानान्तर, तथा च तदर्थमप्याश्रयग्रहणमपेक्षणीयम् । यथाहु —‘आश्रयग्राहकैरिन्द्रियैर्घटत्वसंख्यादिज्ञान’मिति । तथाच तदवस्थबहुत्वाग्रहणं शक्यं दृष्टान्तयितुम् । नच समस्तावयवग्रहणं क्वचिदपि सभवंतीत्यग्रहणमेव नित्यमवयविनः स्यादिति भव । प्रत्यवयवं परिसमाप्य वृत्तिपक्षे दोषमाह—**द्वितीय इति** । यथाहि प्रतिव्यक्तिगौर्गौरिति जातिः, प्रतीयते एवं प्रतितन्तु पट पट इति प्रतीयेत नचैवमस्तीत्यर्थः । ननु न शृङ्गेण स्तनकार्यप्रसक्तिः, तत्तदवयवविशिष्टस्यैवावयविनः कार्यकरत्वोक्तेरिति तत्राह—**स्तनादीति** । हेतुमाह—**यादृशेति** । यदि ह्यवयविनमभ्युपेत्यावयववैशिष्ट्यं प्रार्थ्यते तर्हि तैरवयवैरस्तु तत्तत्कार्यनिर्मुक्ति कृतमितरेण, तत्र च पारिप्लवपरिहारायोक्तं **यादृशसंस्थानेष्विति** ।

अस्मिन्नेव पक्षेऽनिष्ठान्तरं चाह—**किंचेति । जातिवदिति** । यथा कतिपयव्यक्तिनाशेपि व्यक्त्यन्तरमवलम्ब्य जातिर्जावत्येवमित्यर्थः । स्यादेतत् विषम उपन्यास नित्या हि जातिरतः कतिपयव्यक्तिनाशेपि युक्तं तस्या व्यक्त्यन्तरावलम्बनेनाप्यवस्थानम् । अत्र त्ववयवैरारभ्योऽवयवी, ततश्चैकतरनाशेपि समवायिकारणस्य तन्तुसयोगलक्षणासमवायिकारणस्य च नाशात्कथमस्यावस्थानमिति शङ्कते—**समवायीति** । एवं तर्हि प्रत्यवयवं परिसमाप्यवृत्त्यवयविनः सकलसमवायिकारणमपि प्रत्यवयवं वर्तते इतरथा समवायिकारणव्यतिरेकेण तत्र वृत्त्ययोगात् । तथाच शृङ्गेपि स्तनादिसमस्तावयवा सन्ति स्तनादावपि च शृङ्गादय इति पूर्वोक्तपारिप्लवो वज्रलेपायते इति परिहरति—**तर्हीति** । तत्रैव हेतुस्तत्तदवयवेति । दूषणान्तरं चाह—**प्रत्यवयवमिति** । यत्तु स्वरमतयोर्व्याप्त्यसिद्धा विकल्पानुत्थानमुक्तं तद्दूषयति—**तदित्थमिति** ।

ऽनवसरदुःख एव । नच सर्वस्यास्य प्रसङ्गस्यावयविनः प्रमाणसिद्धावसिद्धौ च धर्मिग्राहकप्रमाणबाधाश्रयासिद्धिदोषौ यतः—‘प्रमितत्वस्य वैयर्थ्यात्सिद्धस्यैवाश्रयत्वतः । देहात्मतावन्नियमालक्षणेन व्यवस्थितेः ॥’ ३९ ॥ प्रसिद्धतामात्रेणाश्रयत्वोपपत्तौ प्रमाणविशेषणवैयर्थ्यात् । नचैवमवयविनः शशविपाणतुल्यता । अपरोक्षप्रतीतिगोचरत्वेनार्थक्रियाकारितया च तद्वैलक्षण्यात् । नच कल्पनाकोशस्य निरङ्कुशप्रसरतयाऽतिप्रसङ्गः, देहात्मभाववत्प्रतिनियमोपपत्तेः । नहि देहादावात्मभावः कल्पित इति घटादावपि कल्प्यते । नच कल्पितोपि सोर्धक्रियाकारीति भवति शुक्तिरजताद्यर्थक्रियाकारी । एवमनभ्युपगमे कथायामप्रवृत्तिरेव स्यादुभाभ्यां धर्मिणः प्रमाणसिद्धत्वेनानङ्गीकारान् । तवापि प्रतिपक्षस्य प्रमितावप्रमितौ च निषेधानुपपत्तेश्च । उभयवादिसंप्रतिपन्नलक्षणैरेव धर्मिहेतुदृष्टान्ततदाभासव्यवस्थोपपत्तौ सत्यत्वानङ्गीकारेऽप्यतिप्रसङ्गाप्रसङ्गान् । एकस्यानेकवृत्तेरवयविनो निरासेनैव संयोगविभागद्वित्वद्विपृथक्त्वसामान्यादयोपि परास्ता वेदितव्याः ।

बहुत्वगोत्वादावित्यर्थः । दूषणान्तरमप्यनूद्य दूषयति—**नच सर्वस्येति** । न दोषा इत्युक्तं तत्र हेतुमाह **प्रमितत्वस्येति** श्लोकेन । सिद्धत्वे प्रमितत्वाभावापराधेनाश्रयत्वाभावाददर्शनात्प्रमितत्वविशेषणं व्यर्थमतः सिद्धस्यैवाश्रयत्वं युक्तम् । ननु कल्पितश्चेदवयवी किमित्यवयवेऽपि कल्प्यते न पुनरन्यत्र शुक्तिरजतादिकल्पनावचानर्थक्रियाक्षमो वा किं न स्यादिति तत्राह—**देहात्मतावन्नियमादिति** । यथा देह एवात्मत्वं कल्प्यते ननु घटादौ तत्कस्य हेतोरनुभवादेव । यथा च कल्पितत्वाविशेषेऽपि देहात्मत्वादेरेवार्थक्रियाक्षमत्वं न रजतादेरेवमत्रापीत्यर्थः । कथं तर्हि तत्त्वनिर्णयार्थं कथाप्रवृत्तिः न ह्याभासवर्जनमनाभाससाधनदूषणस्वीकारश्च विना कथाप्रवृत्तिः । इतरथा आभासप्रयोक्तुरिवानाभासप्रयोक्तुरपि पराजयः स्यादाभासप्रयोक्तुरपि चेतस्त्वज्जयः स्यादिति तत्राह—**लक्षणैश्चेति** । यद्यपि कल्पितत्वं समानं तथापि सत्तासत्ताभ्युपगमव्यतिरेकेणोभयसंप्रतिपन्नलक्षणस्वरूपमादायाभासानाभासव्यवस्थायां सिद्धायामनाभासैर्व्यवहर्तव्यम् आभासा वर्जनीया एवं निर्बोद्धविजयः इतरस्य तु पराजय इति व्यवहारनियमबन्धः एव कथाङ्गं ननु धर्म्यादिसत्ता । इतरथाऽसद्वादिना परस्परं जयपराजयाव्यवस्थापातात् । नचासत् आभासानाभासद्विविधं न घटत इति वचनीयं सत्त्वव्यतिरेकेणाऽपि लक्षणवत्त्वतद्राहित्याभ्यामनाभासाभासव्यवस्थोपपत्तेः । तल्लक्षणरहितस्तद्वदवभासमानो हि तदाभासः । इतरथा सत्त्वाविशेषाद्भवतामप्याभासानाभासविवेकाभावापातार्थिभावः । श्लोकं विवृणोति **प्रसिद्धतेति** । देहात्मतावदित्येतद्विवृणोति—**नच कल्पनाकोशस्येति** । कोशो भाण्डागारम् । द्वितीयनियमं विवृणोति—**नच कल्पितोपीति** । अथ किमित्यत्यन्तसत्त्वमेव नाश्रीयते किमिति वा शशविषाणादिविलक्षणतया सोपाख्यतया प्रतीतिमात्रमाश्रीयते इति तत्राह—**एवमिति** । अवश्यं तावत्सद्वादिना अनिर्वचनीयवादिनं प्रति सत् एव कथाङ्गत्वमित्येतत्प्रसाधनायैवोदासीनमदसत्त्वाभ्युपगमं—किञ्चित्साधनमेकस्या कथायामुरीकरणीयम् । इतरथा प्रथममेव मतिकर्दमे कथानारम्भप्रसङ्गादनवतीर्णकथापथं प्रमे च साधकबाधकप्रयोगायोगात् । तथाच कथान्तरेऽपि तादृश एव धर्म्यादित्वोपपत्तौ वृथा तदनुपयोगिसदसदादिकथेत्यर्थः । तदुक्तं श्रीहर्षकविभि—‘पूर्वसबन्धनियमहेतुत्वे तुल्य एव न । हेतुतत्त्वबहिर्भूतसत्त्वासत्त्वकथावृत्तेति । आस्ता वायं वस्तुवृत्तविचारः । तेषु तेषु पूर्वपक्षेषु प्रतिषेधायानूद्यमानेष्वायुष्मतैव तावदेवा रीतिशश्रयणीया । नचरोपशब्दग्रहणम् । अन्यत्राप्रमितस्य तवारोपेऽनारोहान् । अत्यन्तालीकस्य च नभोमलिनवदनुपादेयतयाऽपरोक्षप्रतिभासायोगादित्यभिप्रेत्याह—**तवापि प्रतिपक्षस्येति** । तुरीयं चरणं विवृणोति—**उभयवादीति** । अवयविन्युक्तन्यायं संयोगादिव्यतिदिशति—**एकस्येति** । आदिशब्देन त्रित्वादिगृह्यते । ‘अनवधिविद्धमप्यबोधविद्धैरनुधिषणैरधिरोपिताणुभावम् । अननुमतिनिरूपणं त्रिलोकीनिकरपरप्रकृति प्रणौमि विष्णुम् ।’

संयोगादिस्वरूपानिरुक्तेश्च । तथाहि । किमप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगः १ अनित्यः संबन्धो वा २ जन्यत्वविशेषितो वा ३ अव्याप्यवृत्तित्वविशेषितो वा ४ द्रव्यासमवायिकारणवृत्तिगुणत्वावान्तरजातीयो वा ५ । सर्वथापि नोपपद्यते । ‘अन्योन्यसंश्रयापत्तेरतिव्याप्तिप्रसङ्गतः । अव्याप्तेरजसंयोगे द्रव्यत्वाद्यनिरूपणात् ॥’ ४० ॥ न तावदाद्यः । अप्राप्तिशब्देन संयोगाभावविवक्षायामाश्रयत्वात् । संबन्धाभावविवक्षायां तन्तुपटयोः संबन्धेऽतिव्याप्तेः । नहि पटोत्पत्तेः प्राक्पटस्य तन्तुभिः संबन्धोस्ति संबन्धिनः पटस्यैवाभावात् । समवायस्य नित्यत्वादसत्यपि संबन्धनि स भवतीति चेत् तर्हि पटस्य कारणेषु तन्तुषु सदा समवायात्प्रागपि सत्त्वप्रसङ्गः तथा तन्त्वादीनामपि कारणानामिति न किञ्चित्कादाचित्कं स्यात् । अथापि कार्यविशेषितः प्राक् नास्तीति चेत् तर्ह्यप्राप्तयोः प्राप्तिरिति सोपि संयोगः स्यात् । अप्राप्तयोः सतोरिति विशेषणाददोष इति चेत् । न । सदसतोः संबन्धासंभवेन सिद्धस्यैव पटस्य समवाय इत्यवश्याभ्युपेयत्वात्, पूर्वदोषानतिवृत्तेः, अजसंयोगेऽव्याप्तेश्च । स एव नास्तीति चेत् । न । आकाशादिकमात्मना संयुज्यते संयोगित्वात् घटवदिति प्रमाणसिद्धत्वात् । नच मूर्तत्वादिरत्रोपाधिरस्ति । व्यतिरेका-

इदानीं प्रसङ्गात्संयोगादिकमपि खण्डयति—**संयोगादीति** । न केवलमवयवविवदनेकवृत्तित्वात्संयोगादेरनुपपत्तिः, स्वरूपानिरुक्तेष्वेति चार्थः । अत्र समवायनिवृत्तये चतुर्षु पक्षेष्वप्यद्यं विशेषणं द्रव्येति । द्रव्यं प्रत्यक्षसमवायिकारणं यदेतद्वृत्तिर्या गुणत्वावान्तरजाति संयोगत्वाख्या तदधिकरणं वेत्यर्थः । रूपत्वादिकमादाय रूपादावतिव्याप्तिपरिहारायाद्यं विशेषणम् । सत्तामादाय द्रव्यकर्मणोरतिव्याप्तिपरिहाराय गुणत्वावान्तरजातीयग्रहणम् । तत्रैव वर्तमानावान्तरजातीय इत्येवाभिधानेपि गुणत्वजातिमत्तया रूपादावेवातिव्याप्तिस्तद्व्यावृत्त्यर्थं गुणत्वग्रहणम् । अनुपपत्तिहेतून् श्लोकेन सगृह्णाति—**अन्योन्येति** । अप्राप्तयोरित्यत्र किमप्राप्तशब्देन संयोगाभाववान् संबन्धाभाववान् वा विवक्ष्यते । प्रथमे संयोगसिद्धौ लक्षणसिद्धिर्लक्षणसिद्धौ संयोगसिद्धिरित्यन्योन्याश्रय संयोगस्याद्याप्यसिद्धेरित्याह—**अन्योन्येति** । द्वितीये तन्तुपटादिसमवायेऽतिव्याप्तिः । उत्पत्तेः प्रागसंबन्धयोरेवावयवनिर्णयः समवायसंबन्धेऽतिव्याप्तिः । समवायनित्यत्वेपि प्राक् तदीयत्वाभावेन तस्याप्राप्तयोः प्राप्तिर्त्वादित्याह—**अतिव्याप्तीति** । प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थेषु च दूषणमाह—**अव्याप्तेरजसंयोग इति** । नह्यजसंयोगस्य विभुमात्रवर्तिनोऽनित्यत्वं जन्यत्वमव्याप्यवृत्तित्वं वा संभवति ततस्तत्राव्याप्तिरित्यर्थः । पञ्चमे दूषणमाह—**द्रव्यत्वादीति** । संप्रहं विवृणोति—**न तावदित्यादिना** । आह्माश्रयग्रहणमन्योन्याश्रयस्याप्युपलक्षणम् । ननु माभूत्संबन्धिनः पटस्य पूर्व भावः तथापि तत्संबन्धस्य समवायस्य नित्यतया प्रागपि सत्त्वान्नातिव्याप्तिरिति शङ्कते—**समवायस्येति** । तत्र किं तन्तुपटविशेषित एव समवायः प्रागप्यस्ति किं वा स्वरूपेणैव । नाद्यः । कार्यसंसर्गस्य नित्यतापत्त्या कापिलमतानुमतिकलङ्कलेपापातादित्याह—**तर्हीति** । द्वितीयमाशङ्क्य दूषयति—**अथापीत्यादिना** । ननु तर्ह्यप्राप्तयोः प्राप्तिरित्येतावन्न लक्षणमपित्वप्राप्तयोः सतो प्राप्तिरिति तथाच किरणावलीकार—‘अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोग’ इति भाष्यं व्याचक्षाणः । प्राह—‘विद्यमानयोरप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोग’ इति । तथाच न पूर्वातिव्याप्तिः, पटस्य विद्यमानत्वाभावादिति शङ्कित्वा पुनरपि तत्रैवातिव्याप्तिमापाद्याह—**अप्राप्तयोरित्यादिना** । एतेनैतदपि निरस्तं यथाहोदयनः—‘समवायस्त्वप्राप्तयोर्न संभवत्येव जातः संबन्धोऽस्येत्येककालतावगमा’दिति । अव्याप्तेरित्येतद्विवृणोति—**अजसंयोग इति** । अजसंयोगसमवायखण्डनावसरोक्तमेवानुमानं स्मारयति—**आकाशादिकमात्मनेति** । कृतोपपादनाश्च तत्रैवैते ग्रन्थाः । ननुक्तस्य पुनः कथनं

सिद्धेः । यदमूर्तं तदात्मना न संयुज्यते यथा रूपमिति व्यतिरेकः । तत्र चासंयोगित्वस्यैवोपाधितया व्यतिरेकासिद्धेः । मूर्तत्वं चावच्छिन्नपरिमाणाधिकरणत्वं ततश्च परिमाणाधिकरणत्वेनैव व्याप्तिसिद्धेरवच्छिन्नविशेषणस्य पक्षमात्रव्यावृत्तिप्रयोजनस्य पक्षेतरता । अत एव न द्वितीयतृतीयौ । अजसंयोगाव्याप्तेः, क्रयादिजन्यस्वस्वामिसंबन्धादिष्वतिव्याप्तेश्च । तेषां जन्यत्वादित्यत्वाच्च नैते संबन्धाः स्वत्वस्वामित्वादीनां द्विष्टत्वाभावादिति चेत्तत्किमिदानीं विशेषणविशेष्यभावोपि न संबन्धः तथाच सुव्याहृतं विशेषणविशेष्यभावसंबन्धादभावसमवाययोर्ग्रहणमिति । अपिचैवं समवायोपि संबन्धो न स्यात् । घटः पटेन संयुक्तः पटश्च घटेनेतिवत्तन्तुपु पटः समवेतः पटे च तन्तवः समवेता इति तुल्यरूपव्यवहाराभावात् । तन्तुपटौ संबद्धावित्यस्यैव व्यवहार इति चेत्समं समाधानम् । स्वस्वामिनौ संबद्धाविति व्यवहारात् । नापि चतुर्थः । अजसंयोगाऽव्याप्तेः । नहि निरवयवेषु नित्येषु सन्ति प्रदेशाः यानव्याप्यायमेकदेशे वर्तेत । नापि पञ्चमः । द्रव्यस्यासम्प्रदायिकारणानां जातेश्चानिरुक्तौ तद्विशेषितलक्षणासिद्धेः ।

अपि च 'संयोगस्यापृथक्त्वेपि व्याहारव्यवहारयोः । समवाय इवोत्थानाद्वृथा सामान्यकल्पना ॥' ४१ ॥ यथा तत्तत्संबन्धनिरूपणाधीननिरूपणोपि समवायस्तत्रतत्रैको नित्यश्च संयोगोपि तथा किं न स्यात् । तद्भेदव्याहारव्यवहारयोः समवायवदुपपत्तेः । तेन जातेरसंभवाद्गुणत्वावान्तरजातीय इतीदं लक्षणमेव न संभवति । नन्वन्यतरकर्मणोभय-

वृथा, नाधिकार्थत्वात् । कस्तर्ह्यधिकोर्थस्तमाह—मूर्तत्वं चेति । अत्र हि परिमाणाधिकरणत्वमित्येतावतैव संयोगानर्हगुणादिव्यावृत्ते पक्षीकृततत्तुल्यविभुद्रव्यमात्रव्यावर्तकावच्छिन्नविशेषणवत्त्वादयं पक्षेतर इत्यर्थः । अत एवैतस्य विवरणमजसंयोगेति । श्लोकोक्तामतिव्याप्तिं चाह—क्रयादीति । आदिशब्देन मूलस्वामिसंबन्धादयो गृह्यन्ते । तत्र लक्षणं च नयति—तेषामिति । समाना चेयं प्रथमेपि । स्वस्वाम्याधाराधेयादिषु विशेषणसमवेपि संबन्धरूपविशेष्यभावादतिव्याप्तिपरिहारं शङ्कते—नैत इति । द्विष्टत्वे चोभयत्राप्यवशिष्टबुद्ध्युत्पत्तिप्रसङ्गादिति भावः । तदिदमपसिद्धान्तेन दूषयति—तत्किमिति । किं चोभयत्र तुल्यबुद्ध्यजनकतयोभयनिष्ठत्वाभावेन स्वस्वाम्यादीनामसंबन्धत्वमभिमन्यमानस्य समवायोपि संबन्धो न स्यात्तस्यापि तदजनकत्वादित्याह—अपि चैवमिति । तुल्यरूपव्यवहारसङ्गावं शङ्कते—तन्तुपटाविति । समाधानसाम्यमेवाह—स्वस्वामिनाविति । एतेन कार्यं संबन्ध संयोग इति लीलावत्यपि निरस्ता । अव्यायवृत्तिः संबन्ध इति चतुर्थपक्षमव्याप्या दूषयति—नापि चतुर्थ इत्यादिना । द्रव्यासमवायिकारणेत्यादिशिवादित्यमिश्रलक्षणं दूषयति—नापीति । द्रव्यानिरुक्ते प्रागेवोक्तत्वात्कर्मखण्डनसमये चाऽसमवायिकारणत्वस्य निरासात् गुणलक्षणखण्डनाज्जातिखण्डनाच्च तद्वर्धितमिदमपि लक्षणं खण्डितमित्यर्थः ।

इदानीं गुणत्वावान्तरजातिरित्यंशोप्यसिद्धस्तथाविधजातौ प्रमाणाभावादित्याह—अपिचेति । तत्र संयोगानेकत्वे सत्यनुगतव्यवहारान्यथानुपपत्ति संयोगत्वसामान्यकल्पिका । अनेकत्व च प्रत्यक्षाद्वा घटसंयोगः पटसंयोग इति भिन्नशब्दप्रयोगाद्वा बुद्धिभेदाद्वा । नाद्यः । तत्रासप्रतिपत्तेः । द्वितीयतृतीययोः समवायवदेकत्वेप्युपाधिवशादन्यथासिद्धेरिति श्लोकेनाह—संयोगस्येति । श्लोकं व्याख्याय संयोगत्वखण्डनस्य प्रकृतोपयोगं दर्शयति—तेनेति । यात्वजसंयोगेऽव्याप्तिश्चतुर्षु पक्षेषूदीरिता तत्र सिंहावलोकितेन परिहारं शङ्कते—नन्वन्यतरेत्यादिना । स्थिरेण चलस्य संयोगोऽन्यतरकर्मजः यथा स्थाव्वादिना इयेनादेः चलयोः

कर्मणा संयोगेन वा संयोगस्य जन्म तथाच नित्यात्कारणत्रितयजन्यत्वं व्यावर्तमानं तस्य संयोगत्वमपि व्यावर्तयति तत्कथमजसंयोगसिद्धिरिति चेत् हन्त तर्हि कारणबहुत्वात्कारणमहत्त्वात्प्रचयविशेषाच्च महदिति महत्त्वस्य कारणत्रितयजन्यत्वेन व्याप्तावासादिषु तद्व्यावर्तमानं महत्त्वमपि व्यावर्तयेत् । तथा संयोगे संबन्धत्वमनित्यत्वेन व्याप्तिमिति समवायस्यापि संबन्धस्य नित्यता न स्यात् । ज्ञानस्य चास्मदादिषु शरीरेन्द्रियादिसाधनाधीनत्वादीश्वरे तद्विरहिणि तद्व्यावर्तेतेति भवतैव स्वसमयः सकलोपि व्याकुलीकृतः स्यात् ।

अथ कारणनिवृत्त्या कार्यस्य निवृत्तिर्न नित्यस्य अव्यापकनिवृत्तावव्याप्यनिवृत्तेरयोगादित्युच्येत तदितोपि दीयतां दृष्टिः तस्मान्न संयोगः संभवी नापि विभागः । स हि प्राप्तिपूर्विका अप्राप्तिः किंवा संयोगविरोधी गुणः अथ वा संयोगावृत्त्यनित्यमात्रवृत्तिदि-

संयोग उभयकर्मजन्य , यथामल्लयोर्मेघयोर्वा कारणाकारणसंयोगात्कार्याकार्यसंयोग संयोगज तथाचोक्त-कारणत्रितयजन्यत्वेन व्याप्तं संयोगत्वं तदव्यावृत्तौ व्यावर्तत इत्यजस्य संयोगत्वं व्याहृतमित्यर्थः । संयोगविशेष्य कारणत्रयजन्यत्वेन व्याप्तिर्न तु संयोगमात्रस्यातो न व्याहृतिरिति प्रतिबन्दीग्रहणपूर्वकं परिहरति—**हन्ततर्हि**त्यादिना । क्वचित्कारणबहुत्वात्कार्यं महत्त्वमुत्पद्यते यथा व्यणुके यथा वा समानपरिमाणप्रशिथिलावयवसंयोगवत्तन्तुभिरारब्धयोः पटयोरन्यतरस्मिन्बहुतन्त्वारब्धक्वचित्कारणमहत्त्वात् । यथा व्यणुकादुपरितनेषु यथा वा समानसंख्याकैरप्रचयवत्तन्तुभिरारब्धयोः पटयोरन्यतरस्मिन्स्थूलदीर्घतन्त्वारब्धे तथा प्रशिथिलावयवसंयोगरूपप्रचयविशेषादपि क्वचिन्महत्त्वमुत्पद्यते यथा समपरिमाणैः समसंख्यैश्च तन्तुभिरारब्धयोः पटयोरन्यतरस्मिन् तथा चैतेषु कारणत्रितयजन्यत्वेन व्याप्तिमिति नित्येष्व्वात्मादिषु महत्त्वं न स्यादित्यर्थः । स्थलान्तरयोरपि प्रतिबन्दिद्वयं सुबोधेन ग्रन्थेन गृह्णाति—**तथेति** ।

विशेषमादर्शयन् प्रतिबन्दीमाभासयति पूर्ववादी—**अथेति** । कारणनिवृत्त्या या निवृत्तिः सा कार्यस्यैव तस्य तेनैव व्याप्तेः न नित्यस्य तस्य तेनाव्याप्तेः । तथापि निवृत्तावतिप्रसङ्गादित्यर्थः ५ नायं विशेषः । अस्मत्पक्षेऽप्यस्य समानत्वादतो नाभास प्रतिबन्दीति परिहरति—**तदितोपीति** । तत्तर्हि इतोऽप्यत्रापीत्यर्थः । ‘संयोगत्वनिरासेन तद्रूपलक्षणभाषिणौ । वित्रासितौ सर्वदेववादिवागीश्वरावपि ॥’ गुणत्वावान्तरजात्या द्रव्यासमवायिकारणजातीयः संयोग इति प्रमाणमजरीकारः । घटजनकतदवयवनिष्ठगुणत्वावान्तरजातीय संयोग इति च मानमनोहरकारः । अनित्यः संबन्ध इति च तदीयं लक्षणं पूर्वमेव दूषितम् । यथाप्रतिज्ञं विभागं दुर्निरूपयति—**नापीति** । तत्र प्रशस्तपादसर्वदेवशिवादित्यस्मिन्श्रकक्षीकृतलक्षणाभ्यामुद्भावयति—**स हि प्राप्तिपूर्विकेत्यादिना** । विन्ध्यमेवोः संयोगाभावोऽप्यप्राप्तिरिति तन्निवृत्तये प्राप्तिपूर्विकेति विशेषणम् । संयोगविरोधिर्न संयोगप्रागभावप्रध्वंसयोरप्यस्तीति गुणग्रहणम् । बुद्ध्यादिव्यावृत्तयै संयोगग्रहणम् । **संयोगावृत्तीति** । गुणत्वावान्तरजातीय इत्युक्ते रूपत्वादिकमादाय रूपादावतिव्याप्तिस्तदर्थं जातिरेव विशेषणद्वयेन विधेयते । दिग्वृत्तिर्गो गुणस्तद्वृत्तिर्या गुणत्वावान्तरजातिस्तदधिकरणमित्यर्थः । तेन रूपादयो व्यावर्तिता । रूपत्वादीनां तदभावात् । तथापि संख्यापरिमाणपृथक्त्वेष्वतिव्याप्तिस्तज्जातीनामपि तथात्वादत उक्तमनित्यमात्रवृत्तीति । नहि संख्यात्वादिजातिरनित्यमात्रे वर्तते एकत्वैकपृथक्त्वयोर्नित्यवर्तिनो परममहत्त्वस्य च नित्यतया तज्जातेरपि नित्यवृत्तित्वात् । तथापि संयोगेऽतिव्याप्तिः संयोगत्वजातेरेवभूतत्वाद् उक्तं **संयोगावृत्तीति** । संयोगावृत्त्यनित्यमात्रवृत्तिजातीय इत्युक्ते घटादावतिव्याप्तिस्तदर्थं गुणत्वावान्तरपदम् । गन्धत्वादिनिवृत्तयै दिग्वृत्तिवृत्तीति पदम् । गुणत्वावान्तरत्वं च गुणत्वसाक्षाद्भाष्यत्वं तेन च द्वित्वादिसामा-

गृह्यवृत्तिगुणत्वावान्तरजातीयः । सर्वथापि न घटते । 'आत्माश्रयादतिव्याप्तेरयोगाच्च-
भिचारतः । विशेषणाप्रसिद्धेश्च न विभागः प्रसिद्ध्यति' ॥ ४२ ॥ तत्र न तावदाद्यः ।
विकल्पासहत्वात् । अप्राप्तिशब्देन विभागोभिलष्यते किं वा संबन्धाभावः । विभागाभि-
धाने त्वात्माश्रयत्वम् उत्तरत्र संयोगप्रध्वंसेऽतिव्याप्तिः । न द्वितीयः । विरोधशब्देन सहा-
नवस्थानाभिधाने लक्षणस्यासंभवित्वान्, वध्यघातकयोरेकाश्रयत्वस्य स्वेनैवाभ्युपगमात् ।
निवर्तकत्वविवक्षायां च तन्निवर्तकादृष्टेश्चरेच्छादावतिव्याप्तिः । समानाधिकरणो निवर्तको
गुणो विवक्षित इति चेत् । न । आत्मनःसंयोगनिवर्तकादृष्टेऽतिव्याप्तेः । कर्मजन्यत्वे
सतीति विशेषणाददोष इति चेत् । तस्यापि तीर्थयात्रादिकर्मजन्यत्वान् । कर्मसमानाधि-
करणः संयोगविरोधी गुणो विभाग इति चेत् । संयोगविभागयोरसिद्धौ कर्मणोऽप्यसिद्धेः,
संयोगविभागासमवायिकारणं कर्मेति कर्मलक्षणाङ्गीकारान्, संयोगस्य चासिद्धौ तद्विरो-
धित्वस्याप्यसिद्धेः, कर्मण एव च पूर्वसंयोगनाशकत्वोपपत्तौ विभागाभ्युपगमवैयर्थ्याच्च ।
कथं तज्जनकस्य तन्निवर्तकत्वमिति चेन्मैवम् । प्राचीनकर्मजनितसंयोगस्योत्तरकर्मणा नि-

न्यानतिव्याप्तिः । दूषणानि सगृह्णाति—आत्माश्रयेत्यादिना श्लोकेन । प्राप्तिपूर्वकाऽप्राप्तिरित्यत्राप्ता-
प्तिशब्देन विभागो वा संबन्धाभावो वा विवक्ष्यते, प्रथमे प्राह—आत्माश्रयादिति । उत्तरत्र संयोगप्र-
ध्वंसेतिव्याप्तिरित्याह—अतिव्याप्तेरिति । द्वितीये दूषणमाह—अयोगाच्चभिचारत इति । अत्र हि
विरोधशब्देन किं सहानवस्थानमभिमतं निवर्त्यनिवर्तकत्व वा । आद्येऽसंभवः । वध्यघातकयोरेकाश्रितत्वा-
ङ्गीकारान् । उत्तरत्र त्वदृष्टादावतिव्याप्तिरित्यर्थः । तृतीये दूषणमाह—विशेषणेति । संयोगस्य पूर्वमेव
दूषितत्वादुपजात्योरपि खण्डितत्वाच्च तद्विशिष्टलक्षणमप्यसंभवीत्यर्थः । श्लोकं विवृणोति—तत्र न ताव-
दित्यादिना । ननु न सहानवस्थानमत्र विरोधः, येनायोगोऽसंभवः स्यात् किंतु वध्यघातकभावः । तथाच
प्राप्तिपूर्विकाप्राप्तिर्विभाग इति भाष्यं व्याचक्षाण किरणावलीकारं 'ऽप्राप्तिर्विरोधिगुण इत्यर्थः, अथ प्राप्ति-
संयोगस्तेन सह हि देशकृत कालकृत स्वरूपकृतो वास्य विरोधः सर्वं चेत्तदनुपपन्नमित्यत उक्तं प्राप्तिपूर्वि-
के' त्येव सहानवस्थानभावापोद्यः प्राह, तथाच प्राप्तेर्व्यतोविभागस्य घातकत्वं दर्शितं तेन संयोगघातको
गुणो विभाग इति संक्षेप इति तत्राह—निवर्तकत्वविवक्षायां चेति । व्याख्यानरीतिरेवेयं चतुरा ननु
रीतिमल्लक्षणमतिव्याप्तत्वादिति भावः । एतेन व्यभिचारत इति पदं व्याख्यातम् । अत्र मानमनोहरकारः प्राह—
'संयोगसमानाश्रयत्वे सति संयोगनाशको विभाग' इति तदेतच्छङ्कते—समानाधिकरणे इति । आत्म-
मनसो संयोगस्य निवर्तकं यददृष्टं तच्च संयोगेन समानाश्रयमित्यतिव्याप्तिरित्याह—नामेति । अदृष्टेति-
व्याप्तिपरिहाराय विशेषणान्तरं शङ्कते—कर्मसमानाधिकरण इति । अदृष्टस्य कर्मासमानाधिकरण्यं
विभावात्मनि कर्माभावादित्यर्थः । कर्मणोऽप्यसिद्धेरित्युपलक्षणम्, अवयवविभागादुत्पद्यमानस्योवयवविभा-
गस्य संयोगविरोधिनः कर्मसमानाधिकरण्यभावादित्यतिव्याप्तिरित्यपि द्रष्टव्यम् । अथ किमिति संयोगाद्यधीनता
कर्मनिरूपणस्य येन तदसिद्धावमिदिरस्येति तत्राह—संयोगेति । तथाच विभागसिद्धौ कर्मसिद्धिस्तस्मिद्धौ
च विभागसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयतेति भावः । संयोगविरोधित्वप्रयुक्त्या अन्योन्याश्रयमाह—संयोगस्य चेति ।
यच्चेदं विभागस्य संयोगविरोधित्वं निवर्तकत्वरूपमभिमतं लक्षणावयवत्वेन तदेव तावदसिद्धम् अन्यत एव
संयोगनिवृत्तिसिद्धेरित्याह—कर्मण एवचेति । प्राचीनेति । येन हि कर्मणा संयोग उत्पन्नः न तेन
तस्य निवृत्तिरित्युत्तरकर्मणा । नच तदसिद्धिः संयोगनाशकोत्तरप्रथमविभागजनककर्मणस्तत्वाप्यभिमतत्वा-
दिति भावः । ननु न कर्मणः, संयोगनाशकत्वसंभवः तथाह्यङ्गुलितरुमयोगस्तावदङ्गुलितवर्तिनते कर्मं त्वङ्गुलि-

वृत्तेः । नाङ्गुलिकर्मणस्तत्संयोगनाशकत्वम्, व्यधिकरणस्य निवर्तकतायामतिप्रसङ्गादिति चेत् । न । स्वाश्रयाश्रितसंयोगस्यैव नाशकत्वेनातिप्रसङ्गाभावात् । विरोधिनः समानाधिकरणस्यैव नाशकत्वोपपत्तावसति बाधके यावत्संयोगवृत्तिसामानाधिकरण्यस्य सङ्कोचो-
नुपपन्न इति चेन्न । उभयवादिसिद्धकर्मण एवान्वयव्यतिरेकवतस्तन्नाशकत्वोपपत्तौ गुणा-
न्तरकल्पनागौरवस्यैव बाधकत्वात् ।

नच विभक्तप्रत्ययादेव तत्सिद्धौ कल्पनैव नास्तीति वाच्यम् । हिमवद्विन्ध्ययोरिव सं-
योगाभावमात्रादेव विभक्तप्रत्ययोपपत्तेः ।

ननु स्फुटद्वेणुदंलशब्दात्तदसमवायिकारणतया विभागोऽवगम्यते, सहि न वंशदलद्व-
मात्रे तस्मात्रे वा वर्तते तस्योभयवृत्तित्वात्तथा चैकत्र वर्तमानेन कथमुभयनिष्ठसंयोगनिवृत्तिर्व्यधिकरणत्वा-
त्तथापि तथात्वेऽतिप्रसङ्गादेतदेव शङ्कते—**नाङ्गुलीति** । यद्यप्यन्यतरनिष्ठेन कर्मणोभयनिष्ठसंयोगस्य न
सर्वात्मना सामानाधिकरण्यं तथा अन्यतराधिकरणमादायास्ति सामानाधिकरण्यम् । तथाच तदाश्रितसंयोग-
निवर्तकत्वेयुभयनिष्ठसंयोगोऽर्थान्निवर्तते । नाप्यतिप्रसक्तिरिति परिहरति—**न स्वाश्रयेति** । तत्र सामाना-
धिकरण्यं चेदवश्यं मन्तव्यं तर्हि सर्वथा सामानाधिकरण्यमयुत्सर्गप्राप्तं नासति बाधके शक्यत्यागम् ।
तथाचोभयनिष्ठो विभाग एव स्वीकर्तव्यः न कर्म, अतादृशत्वादिति श्रीवल्लभस्तदुद्भावयति—**विरोधिन**
इति । असति बाधक इत्यसिद्धिः, गौरवस्य बाधकत्वादिति परिहरति—**उभयेति** ।

ननु न कल्प्यते स. येन गौरवं दोषाय अपितु विभक्त इति प्रत्यक्षादेव तत्सिद्धिरिति तत्राह—**नचेति** ।
यथाहि हिमवद्विन्ध्ययोः प्राप्तेरभावात्तत्पूर्विकाप्राप्तिरूपविभागाभावेऽपि संयोगाभावमात्रमादाय विभक्त इति
प्रत्ययशब्दयोः प्रवृत्तिस्तद्वददावपि स्यादिति नेयं प्रतीतिस्तत्प्रत्ययिकेत्यर्थः । एतेन भाष्यकारोक्तं विभागे
प्रत्यक्षं प्रत्युक्तं मन्तव्यम् । मनोहरस्तु तादृशस्थले प्रतीतिरेव नास्ति शब्दप्रयोगस्तु गौण इत्याह—तदसत् ।
एतादृशानुभवपरिहारपारिजातस्य प्रकृतेः सुलभत्वात् । तात्पर्यटीकाकारकिरणावलीकारौ त्वङ्गुलिकर्मणोद्गु-
लितरुसंयोगनाशकत्वमङ्गीकृत्यापि हस्ततरुसंयोगनाशानुपपत्त्या विभागं समर्थयामासतु । तथाहि । हस्ता-
दीना निष्क्रियत्वात् तद्गतकर्मतत्संयोगनाशकं नचाङ्गुलिगतं कर्मैव तस्य हस्ततरुनिष्ठत्वाभावेनातिव्यधिकर-
णत्वात् । नचाङ्गुलितरुसंयोगनाशात्पाणितरुसंयोगनाशो भविष्यतीति वाच्यम् । कर्मज कर्मतरुसंयोगं प्रत्यङ्गु-
लितरुसंयोगस्याकारणत्वात्, अकारणनाशस्य विनाशकत्वेऽतिप्रसङ्गात् । तस्मात्कर्मजनितविभागजविभागप-
रपरया निष्क्रियकरशरीरतर्वादिसंयोगपरपरा विनश्यतीत्यनिच्छन्नपि गलपादुकयाङ्गीकारयितव्य इति तत्रापि
स्वाश्रयेत्यादिग्रन्थेनैवोक्तं देयम् । योजना तु स्वस्य कर्मणो य आश्रयोद्गुल्यादिस्तदाश्रितश्च यो हस्तादिरव-
यवी तस्य यस्तर्वादिभिः संयोगस्तस्यैव नाशकत्वाश्रयणं वैयधिकरण्येऽतिप्रसङ्गाभावादिति । अपिचान्नैतद्व-
क्तव्यम् । कथं हस्तादीना निष्क्रियत्वावगम इति, हस्तस्याकम्पमानत्वादिति चेन्न । अङ्गुलिचलनमनु करचलन-
स्यावश्यकत्वात्तदितरावयवेषु चलनाभावादवयवी न चलतीति चेत्किं समस्तावयवचलन एवावयविनि-
चलनोत्पत्तिरिति चेद्वन्तं समस्तावयवसंयोग एवावयविसंयोगोपीति न हस्तादेः संयोग एवास्ति कस्य
विनाशाय विभागः कल्प्यते, तस्माद्यथावयवसंयोगानन्तरमवयविसंयोगनियम एवं कर्मण्यपि । इयास्तु-
विशेषः । तत्र संयोग एव संयोगान्तरोत्पादकः अत्र तु तत्रास्ति कित्ववयवकर्मात्पादकवदवयविन्यपि कर्मो-
त्पादकानि सन्ति नह्यस्ति सभवोवयवेषु गुरुत्वं द्रवत्वं संयोगो वा नपुनरवयविनीति तस्मात्स्वकर्मणैव हस्ता-
दिसंयोगोपि निवर्तते इति नानेन मिषेणापि विभागमिधुकस्य पादप्रसार इत्यलम् ।

ननु यद्यपि विभक्तप्रत्ययबलान्न विभागसिद्धिस्तथापि न कल्प्यत्वम् । शब्दलक्षणकार्येण तदनुमानात् ।
उक्तं हि भाष्यकृता 'विभागः शब्दहेतुश्चेति' । तत्र विभागस्यैवावसंतिपत्तेः । यद्यपि न तेन कारणविभा-
गानुमानं सम्भवति, तथापि शब्दात्तदनुमानं भवतीति लीलावतीकारः शङ्कते—**नन्वित्यादिना** । स्फुटतो

यस्ययोगनाशापेक्षवंशदलाकाशसंयोगजन्यः संयोगजन्यस्य शब्दस्य संयोगनिमित्तकारणतोपलम्भात्, भेर्याकाशसंयोगजन्यस्य शब्दस्य भेरीदण्डसंयोगनिमित्तकतावदिति चेत् । न वायुदलसंयोगनिमित्तकत्वोपपत्तेः । न च सर्वत्रातीन्द्रियवायुसंयोगकारणताप्रसङ्गः । भेरीदण्डसंयोगस्यान्वयव्यतिरेकवतः कारणतोपपत्तौ तत्कल्पनानुपपत्तेः । अन्यथा तत्रापि पलाशादौ शुक्लशुक्लशब्दो वेगवदनिलपलाशसंयोगनिमित्तो न स्यात् ।

कर्म संयोगातिरिक्तसमवायिकारणं संयोगातिरिक्तत्वे सत्यसमवायिकारणत्वाद्रूपवदिति मानमनोहरकारोक्तमनुमानमिति चेन्न । कर्ममात्रपक्षीकारे वेगाख्यसंस्कारजनकतया सिद्धसाधनत्वात्, वेगाजनककर्मपक्षीकारे च सप्रतिसाधनता, कर्म संयोगातिरिक्तद्विष्टगुणासमवायिकारणत्वात्यन्ताभावाधिकरणं, संयोगासमवायिकारणत्वात् संयोगवदिति प्रतिप्रयोगान् । वेदान्तिनं प्रति दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वाच्च । विवर्तवादाश्रयणेन तैः कार्ये गुणान्तरमनभ्युपगच्छद्भिः कारणगुणानां कार्ये गुणासमवायिकारणत्वानङ्गीकारान् । नापि तृतीयः । विशेषणाप्रसिद्धेः । 'संयोगस्य निरस्तत्वादुणानामनिरूपणान् । जातेश्च

वेणुकाण्डादुत्पद्यमानशब्दादित्यर्थः । तस्य विभागजत्वं परिशेषयति—**सहीति** । वंशदलद्वयस्य य संयोगस्तन्नाशापेक्षो यो वंशदलस्याकाशस्य संयोगस्तज्जन्यो न भवतीत्यर्थः । अत्र च निमित्ततयापि विभागाननुप्रवेशाय वंशदलद्वयसंयोगनाशापेक्षेत्युक्तम् । एष हि तेषामभ्युपगम वंशदलविभागान्निमित्तकारणाद्वंशदलाकाशविभागदसमवायिकारणान्महाकाशप्रदेशे समवायिकारणे प्रथम शब्द उत्पद्यते इति । तत्र वंशदलसंयोगनाश एव निमित्तकारणमपि भवत्वित्यर्थः । कुतस्तेन न जन्यत इति तत्राह—**संयोगजन्येति** । य खलु संयोगासमवायिकारणक शब्द स संयोगनिमित्तकारणकोपि दृष्टः । यथा भेर्याकाशसंयोगासमवायिकारणादुत्पद्यमानशब्दस्य भेरीदण्डसंयोगो निमित्तः, नचेह तथास्ति तस्मान्नान्यथोपपत्तिरित्यर्थः । दूषयति—**न वायुदलेति** । अभ्युपगम्यते च वायुवंशदलयो संयोगो निमित्तमित्यर्थः । नन्वेव सति भेरीदण्डसंयोगस्यापि क्वचिन्निमित्तता न स्यात् तत्रापि वायुदलसंयोगस्य सुवचत्वादिति तत्राह—**नचेति** । तत्रान्वयव्यतिरेकौ स्तः, नचेह तथेति भावः । अथाप्यतीन्द्रियकल्पनैवातिप्रसज्येति ब्रूयात्तं प्रत्याह—**अन्यथेति** । पलाश पत्रं, शुक्लशुक्लेति शब्दानुकार । एतेनैतन्निरस्तम्, यदाह श्रीवल्लभ—'तस्य स्पर्शादिगम्यतया तदनुपलब्धेरभावावधारणा'दिति शब्दोपलम्भस्यापि तथात्वात् ।

एवं भाष्यकाराद्यभिमतमनुमानं दूषयित्वा मनोहरीयमनुमानं दूषयितुमुद्भावयति—**कमेति** । संयोगेन सिद्धसाधनतानिवृत्त्यै संयोगातिरिक्तैत्युक्तम् । संयोगजनकसंयोगेनैकान्तिकतानिवृत्त्यै हेतावपि विशेषणं द्रव्येति । व्याप्तिपरिहारायासमवायिकारणत्वादित्युक्तम् । यत्तत्संयोगातिरिक्त स विभागं, अन्यस्यासमवादित्यर्थः । अत्र किं कर्ममात्रं पक्षः, किं वा वेगाजनक कर्म, आद्ये प्राह—**कर्ममात्रेति** । द्वितीये प्राह—**वेगेति** । प्रतिसाधनमेव दर्शयति—**कमेति** । संयोगजनकत्वेन बाधपरिहाराय संयोगातिरिक्तैत्युक्तम् । तथापि वेगजनकत्वाद्बाधः स्यात्तदर्थं द्विष्टग्रहणम् । द्रव्यविशेषासमवायित्वेनार्थान्तरतानिवृत्त्यै गुणग्रहणम् । स्वविषयज्ञानजनकतया बाधपरिहारार्थमसमवायिकारणेत्युक्तम् । विभागजनकत्वेनार्थान्तरतापरिहारार्थमत्यन्ताभावग्रहणम् । द्वित्वाद्यसमवायिकारणैकत्वादावनैकान्तिकतापरिहाराय हेतौ संयोगग्रहणम् । अथ कथं वेदान्तिनं प्रति साध्यविकलता यावता तेनापि कार्ये रूपादि स्वीक्रियते एव तत्राह—**विवर्तेति** । सत्यम् । अर्थघटादिकार्येपि रूपं स्वीक्रियते एव नतु तद्रूपान्तरम्, तस्य कारणविवर्ततया नतोन्यत्वेनाप्यनिवचनीयत्वादित्यर्थः । संयोगावृत्तीत्यादिलक्षणविशेषणाप्रसिद्धिमुक्त्वा श्लोकेन विवृणोति—**संयोगस्येत्यादिना** ।

१ द्रव्येतीलस्य स्थाने संयोगातिरिक्तत्वे इति पाठो भानि. २ अयेन्यस्य स्थाने अयेति पाठः, अथवा "सत्यम् । अर्थ" इत्यस्य स्थाने सत्यमात्येति पाठो भानि.

दुर्निरूपत्वात्स्यादसंभवि लक्षणम् ॥ ४३ ॥' नापि द्वित्वं संभवति । तत्किमिमौ द्वाविति प्रत्यक्षतः सिद्धयेदुतानुमानतः, नोभयथापि—'प्रत्यक्षस्यान्यथासिद्धिः स्यादेकत्वसमुच्चये । अनुमाप्याश्रयासिद्धिसाध्यवैकल्यदूषिता' ॥ ४४ ॥ इमौ द्वाविति प्रत्यक्षं तावदेकैक-समुच्चयविषयतयाप्यन्यथोपपद्यमानं नापरं द्वित्वमवगमयितुमर्हति । ननु समुच्चयमात्रविषयमिदं प्रत्यक्षं तद्विशेषविषयं वा । नाद्यः । तस्यावैचित्र्ये द्वित्वत्रित्वादिव्यवहारवैचित्र्य-विरोधात् । नापि द्वितीयः । विकल्पानुपपत्तेः । सहि समुच्चितैकत्वभेदाद्वा तद्गतधर्मभेदाद्वा । न प्रथमः । एकतायाः सर्वत्र तुल्यत्वात् । न चरमः । आरोपितस्य वा पारमार्थिकस्य वा द्वित्वत्रित्वादेरनङ्गीकरणे तद्गतधर्मभेदासिद्धेरिति चेन्मैवम् । द्वित्वत्रित्वादिजनकापेक्षाबुद्धिविषयेपि विकल्पसाम्यात् । अपेक्षाबुद्धेरैकत्वगुणसमुच्चयमात्रविषयत्वे द्वित्वत्रित्वादिसंख्याभेदोत्पादकता न सिद्धयेत् । समुच्चयस्य सर्वत्राविशेषात् । आरोपित-द्वित्वत्रित्वादिविशेषितैकत्वसमुच्चयालम्बना बुद्धिर्द्वित्वादिजनिकेति चेत् । न । तथाभूताया एव बुद्धेर्द्वित्वादिव्यवहारजनकत्वोपपत्तौ द्वित्वाद्युत्पादकत्वकल्पनावैयर्थ्यात् ।

आरोपितस्यानारोपपूर्वकत्वनियमाद्वित्वादेः कचित्सत्यतापत्तिरिति चेत् । न । शुक्तिर-

अथ प्रतिज्ञातं द्वित्वं दूषयति—**नापीति** । लक्षणं तस्य खण्डयिष्यते । प्रमाणं तावद्दूषयति—**तत्रैकादिव्यवहारहेतुः । संख्येति** । भाष्ये व्यवहारशब्देन ज्ञानाभिधाना—'देकं द्वे त्रीणीत्यादिप्रत्यक्षविषयसंख्ये'त्युदयनादिभिरभ्यवायि । अपरैर्'वृणुकपरिमाणमसमवायिकारणजन्यं भावकार्यत्वात्कटव'दित्यनुमानमगायति तदुभयमपि विकल्प्य दूषयति—**तत्किमित्यादिना** । एकत्वसमुच्चय एव विषये प्रवर्तमानतयेमौ द्वाविति प्रत्यक्षस्यान्यथासिद्धिरनुमानमप्याश्रयासिद्धिसाध्यवैकल्याभ्या दूषितं स्यादिति श्लोक विवृणोति—**इमावित्यादिना** । तत्र लीलावतीकारेण द्वाविति प्रत्यक्षस्यैकत्वसमुच्चयाविषयत्वमुपपादितमुद्भावयति—**नन्विति** । **तस्यावैचित्र्य इति** । एकत्वसमुच्चयमात्रस्य द्वित्वादिव्यवहारस्थले विशेषाभावाद्यवहारविशेषो न स्यादित्यर्थः । समुच्चयविशेषविषयमिति द्वितीयपक्षेपि समुच्चैतव्यैकत्वस्वरूपकृतविशेषाद्वा तदाश्रितद्वित्वत्रित्वादिधर्मविशेषाद्वा । नोभयमपीत्याह—**विकल्पेति** । प्रथमे खल्वसिद्धि नह्येकत्वस्वरूपे विशेषोस्ति तादृशो येन द्वित्वादिविलक्षणव्यवहार स्यादित्याह—**एकताया इति** । द्वितीये त्विष्टसिद्धि, तस्यैव विशेषस्य द्वित्वत्वेनेष्टेरित्याह—**न चरम इति** । **आरोपितस्येति** । एकत्वसख्याया गुणत्वेन द्वित्वादेर्गुणस्य तत्र 'वृत्त्ययोगात् । **पारमार्थिकस्येति** तु सख्याया पदार्थान्तरत्ववाद्यभिप्रायेण, तस्मिन्माक्षेपं प्रतिबन्धू परिहरति—**मैवमित्यादिना** । एवं हि भवता द्वित्वोत्पत्तिवर्णनं—प्रथमं द्रव्यद्वयगतं यदेकत्वसख्याद्वयं तद्विषयं ज्ञानमेकमेकमुत्पद्यते सापेक्षाबुद्धिर्नाम निमित्तकारणं तदपेक्षं चैकत्वसख्याद्वयमसमवायिकारणं स्वाश्रयद्रव्यद्वयं समवायिकारणं द्वित्वमुत्पादयति एवं त्रित्वादिष्वेकत्वत्रयादीति । तदत्र येयमपेक्षाबुद्धिस्तस्याः किमेकत्वसमुच्चयमात्रं विषय किं वा तद्विशेषः । नाद्यः । तादृशबुद्धेः सर्वत्र समानतया द्वित्वत्रित्वादिदारिद्र्यवापत्तेः । नापि द्वितीयः । समुच्चितैकत्वस्वरूपकृतविशेषाभावात् । धर्मान्तराभ्युपगमेयनारोपितमारोपितं वा । नाद्यः । द्वित्वानवस्थाप्रसङ्गात्, उत्तरोत्तरद्वित्ववैयर्थ्याच्च । विषयवैचित्र्याभावेपि स्वभाववैचित्र्याद्विचित्रकार्यजनकत्वमिति चेत् । न । अतिप्रसङ्गापत्तेः । तस्मादारोपितद्वित्वमेव तस्या विषयः तथाच तादृगेव घटादिष्वपि द्वित्वबुद्धेर्विषय इति वृथा तव द्वित्वकल्पनेति सकलितार्थः ।

इमामेवार्थस्थिति पर्यनुयोगपरिहाराभ्या परिद्वयति—**आरोपितेत्यादिना । न शुक्तीति** । उक्तमेतद्यथाक्वचिदपि सत्त्वमन्तरेणानाद्यनिर्वचनीयाविद्यावशादेतद्विभ्रमोद्भव इति प्रथमपरिच्छेदेऽनिर्वचनीय-

जतादिसंसर्गवत्कचित्सत्यताऽभावेऽपि भ्रान्तिविषयत्वोपपत्तेः । नापि द्वितीयः । व्यणुकपरिमाणं जन्यासमवायिकारणजन्यं कार्यत्वात्पटवदित्यनुमानस्याश्रयासिद्धत्वान् । व्यणुकतत्परिमाणयोरस्माभिरनङ्गीकारान्, पटस्यापि तन्तुसंयोगासमवायिकारणजन्यत्वासंप्रतिपत्तेर्दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्याच्च ।

‘विवादाध्यासितो बुद्धिजन्यगुणयोराश्रयः द्रव्यत्वादात्मवदिति मानमनोहरोदीरितमनुमानं मानमिति चेत् । न । अर्थान्तरत्वान्, सर्वस्यापि घटपटादेरीश्वरबुद्धिजन्यरूपादिगुणाश्रयत्वान् । अनित्यबुद्धिजन्यत्वस्य विवक्षितत्वाददोष इति चेन्न । *घटपटादिगतरूपादेरप्यस्मदादिज्ञानेच्छाप्रयत्नजन्यत्वेन पूर्वदोषानतिवृत्तेः । परमाणूनामेव पक्षीकरणे तेषामस्मदादिप्रत्यक्षागोचरत्वान् । तेषु बुद्धिजन्यगुणाधिकरणत्वसाधनेनार्थान्तरतेति चेन्न तेषामेवासंमतत्वेनाश्रयासिद्धत्वान्, चेतनत्वस्योपाधित्वाच्च । न चेश्वरे साध्याव्याप्तिस्तस्यापि त्वन्मते तद्बुद्धिजन्यसंयोगविभागाश्रयत्वान् । निर्गुणात्मवादिनं प्रति दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वाच्च ।

ख्यातो । आस्ता तु मामकी रीति आयुष्मन्तैव तावच्छुक्तिरजनसंसर्गषु तत्तदत्यन्ताभावप्रतियोगिषु चात्यन्तमसत एव प्रतिभासोऽभ्युपगम्यत इति भावः । अथ तादृशबुद्धिर्ज्ञायमाना व्यवहार प्रवर्तयेत्स्वमत्तया वा । नान्त्योऽतिप्रसङ्गात् । नायः । विषयानिरूपणे बुद्धेरेव तावदनिरूपणादिति चेत् । तदिदं बलीवर्दील्लनमन्तरेण भारोल्लङ्घनं, यत् स्वप्रकाशज्ञानवादिनोऽस्मान्विहाय जडज्ञानवादिषु भवादृशेष्वेवविधविकल्प कल्पितशुक्तिरजतादिष्वपि वा कथंकारमित्यात्मनैवात्मा पर्यनुयुज्यताम् । तत्र बाधितत्वाद्यथानयाम्बित्तिचेदत्रापि किमुक्तानि साधकानि लक्षणानि मन्यसे गुणसमवायादिखण्डनानि वा विस्मरामि । तदेवं न प्रत्यक्षं द्वित्वे प्रमाणमित्युक्तम् । अनुमानानि दूषयति—**नापीति** । परिमाणमात्रपक्षीकारेण परमाण्वादेषु बाधः स्यान्नदर्थं व्यणुकपरिमाणग्रहणम् । यत्तज्जन्यव्यणुकपरिमाणासमवायिकारणं तद्वित्वम् । परमाणुद्वयगतद्वित्वादिव्यणुकपरिमाणोत्पत्तिरिति भावः । आश्रयासिद्धिमेव विवृणोति—**व्यणुकेति** । साध्यवैकल्यं चाह—**पटस्यापीति** । अनैकान्तिकं चाप्यव्यणुकरूपादौ । अथ जन्यपदं विहायेदमनुमानं तदापि पारिमाण्डन्यस्यैव तदसमवायिकारणत्वप्रसाधकतयार्थान्तरत्वम् । नच तस्य नित्यपरिमाणत्वात्परममहत्त्ववदनारम्भकतानुमानम् । परमाणुद्वित्वस्यापि विषयादिवित्ववदनारम्भकत्वप्रसङ्गात् । व्यणुकपरिमाणं परिमाणजन्यं, बहुत्वप्रचयाजन्यत्वे सति कार्यपरिमाणत्वान्महत्त्ववदिति सत्प्रतिपक्षत्वाच्च ।

अनुमानान्तरमुद्गावयति—**विवादेति** । रूपादिभिरर्थान्तरतानिवृत्त्यै बुद्धिजन्यग्रहणम् । आत्मव्यतिरिक्तद्रव्यजातं च पक्षः । आत्मनश्च बुद्धिजन्येच्छायाधारतया सपक्षत्वं तत्तथापेक्षाबुद्धिजन्यतयानेकत्वसद्व्यानेकपृथक्त्वकथासिद्धिरित्यर्थः । इत आरभ्याश्रयामिद्वन्वादित्यन्तो ग्रन्थो निगदव्याख्यातः । ननु कथं चेतनत्वस्योपाधित्वं यावतेश्वरे नित्यज्ञानादिमति साध्यसमव्याप्तिर्नास्ति तत्राह—**नचेश्वर इति** । साध्याव्याप्तिः साध्यसमव्याप्त्यभावः । यद्यपि न तस्मिन् ज्ञानादयो बुद्धिजन्यास्तथापि संयोगविभागौ ईश्वरबुद्धिजन्यौ कार्यत्वात् । तथाच साध्यसमव्याप्तिरिति भावः । नचानित्यबुद्धिजन्यगुणाधिकरणत्वविवक्षाया साध्यसमव्याप्तिर्नास्तीति वचनीयम् । ईश्वरस्यायनित्ययोगिवुद्धिजन्यद्वित्वाद्यधिकरणत्वान् । उक्तं चैतदधस्तात् । दूषणान्तरं चाह—**निर्गुणेति** । वेदान्तिमते बुद्धिधर्मा इच्छादयो नात्मनो गुणास्ततश्चात्मनि साध्यवैकल्यमिति भावः ।

अपि चापेक्षाबुद्धिव्यङ्ग्यत्वे द्वित्वस्य कं दोषं पश्यसि येन तज्जन्यतामङ्गीकुरुषे । एकत्व-
बहुत्वस्याप्यपेक्षाबुद्धेः प्रागेव सिद्धौ तत्प्रतीतिसमकालमेव द्वित्वप्रतीतिप्रसक्तिर्दोष इति
चेत् । न । व्यञ्जकाभावादेव तदप्रतीत्युपपत्तेः । नच समानाश्रयसमानेन्द्रियग्राह्यसमानजा-
तीयगुणानां विचित्रव्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वानुपपत्तिः । महत्त्वदीर्घत्वयोरिव तदुपपत्तेः । नहि
महत्त्वप्रतीतिर्दीर्घ्यप्रतीतिवद्भ्रमपेक्ष्य जायते तत्प्रतीतेरनुप्रतियोग्यपेक्ष्यत्वात्ततो न द्वित्व-
स्यापेक्षाबुद्धिजन्यतापि ।

नचैकत्वसंख्यासमुच्चयोपि द्वित्वम् । एकत्वस्यापि स्वरूपातिरेकेण दुर्निरूपत्वात् । नच
स्वरूपाणां भिन्नत्वादिकमेकमित्यनुगतप्रत्ययानुपपत्तिः, एकत्वसंख्यास्वीकारेपि तस्याः प्रति-
द्रव्यं भिन्नतया द्रव्येष्वेकमेकमिति प्रत्ययानुपपत्तेस्तुल्यत्वात् । एकत्वसंख्याविशिष्टतया
चैकमिति प्रत्ययविषयत्वे रूपादौ संख्यायां चैकमिति मतेरभावप्रसङ्गाच्च । तत्र स्वरूपत
एवैकत्वव्यवहारेऽन्यत्रापि तथाभावप्रसङ्गात् । एकत्वसंख्याविशिष्टे चैकत्वसमवायस्यानवस्था-
दिदोषादयुक्ततया यादृक्स्वरूपे संख्यासमवायस्तादृशस्यैकव्यवहारविषयतोपपत्तौ संख्या-
स्वीकारवैयर्थ्यात् । नचैवं जात्यपलापानिष्टप्रसङ्गोऽद्वैतवादिनाम् । इष्टत्वात् ।

एवमनुमानतोपि न द्वित्वाधिगतिरित्युक्तम्, इदानीं यद्वाध्यकारप्रभृतिभिः परिकल्प्यते तस्या खत्वेक-
त्वंभ्योनेकविषयबुद्धिसहितेभ्यो निष्पत्तिरित्यादिनापेक्षाबुद्धिजन्यत्वं द्वित्वस्य तदसगतमित्याह—अपिचेति ।
नन्वयं दोषः यदेकत्वबहुत्वस्यापि यावद्भव्यभावित्वेऽपेक्षाबुद्धेः प्रागपि तत्प्रतीतिप्रसक्तिरिति शङ्कते—
एकत्ववदिति । नायं दोषः, यावद्भव्यभावित्वेनोपि तद्व्यङ्ग्यतया तदनुविधानोपपत्तेरिति परिहरति—व्यञ्ज-
केति । यत्त्वत्रोदयनमानमनोहरकाराभ्यां बाधकमुक्तं तदुपपत्ति—नचेति । समानाश्रयाणामपि गन्धर-
सादीनां विचित्रव्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वमस्तीत्यतः समानेन्द्रियग्राह्याणामित्युक्तम् । समानाश्रयाणां समानेन्द्रि-
यग्राह्याणामेकत्वमहत्त्वादीनां विचित्रव्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वमस्तीत्यतः उक्तं समानजातीयानामिति । महत्त्वदी-
र्घत्वयोर्व्यभिचारमेव स्फोरयति—नहीति । यथाहि समानेन्द्रियग्राह्यसमानदेशसमानधर्मापन्नयोर्महत्त्वदीर्घ-
त्वयोर्हस्वाणुलक्षणविलक्षणप्रतिभेगिप्रतीतिव्यङ्ग्यत्वमेवमत्रापि द्वित्र्यादिसंख्यानामित्यर्थः । अथ तत्र मह-
त्त्वदीर्घत्वगतजातिवैलक्षण्यान् समानजातित्वमिति मतं तर्हि अत्राप्येकत्वद्वित्वादजातिभेदोस्तीति समं समा-
धानम् । ननु यदि न गुणान्तरं द्वित्वं तर्ह्येकत्वसमुच्चयरूपद्वित्वमेवमस्तु नच द्वित्वादिसमानाकारापत्तिः, सैक-
मिदं सैकमिदं सैकैकमित्येकत्वसमुच्चयतारतम्येनापि तद्व्यवहारोपपत्तेरिति तत्राह—नचैकत्वेति । अङ्गी-
कृत्य पूर्वमेकत्वसमुच्चयं तद्विषयतयाऽन्यथासिद्धिर्द्वित्वप्रत्ययस्योक्तेति न विरोधः ।

एकत्वसंख्यैव दुर्निरूपा कुतस्तत्समुच्चयरूपद्वित्वादिरित्येकत्वसंख्या दूषयति—एकत्वस्यापीति । यदत्रोद-
यनश्रीवल्लभावृत्तुस्तदूषयति—नच स्वरूपाणामिति । स्वीकृतायामप्येकत्वसंख्याग्रामयं दोषोऽपरिहार्यः,
तस्या अपि प्रतिद्रव्यं विभिन्नत्वादित्यर्थः । ननु ताखनुगतमेकत्वसंख्यावैशिष्ट्यमुपाधिमादायानुगतिसमर्थन-
मिति तत्राह—एकत्वसंख्येति । किंच यत्रेयमेकत्वसंख्या वर्तते तत्किमेकमनेकं वा । नान्यत् । विरो-
धात् । आद्ये तदप्येकत्वं किमेकत्वसंख्या स्वस्वरूपं वा । आद्येऽनवस्था स्वाश्रयत्वं वा स्यात् । तस्माद्याद-
वस्वरूपे सा वर्तते तादृक्स्वरूपादेव सर्वत्रैकत्वव्यवहारोस्तु मुधाधिकार्थस्वीकार इत्याह—एकत्वेति । न-
न्वेवं गोत्वाश्वत्वाद्योपि तत्तदाश्रयस्वरूपमादाय शक्योद्भारा । यदाह लीलावतीकारः—‘जातेरपि विल्ला-
पत्तेरिति तत्राह—नचैवमिति । यत्वेकत्वसंख्यायां मानमनोहरोक्तमनुमानं तद्भेदखण्डनसमय एवैकपृ-
थक्त्वदूषणप्रसङ्गेनानूय दूषितम् ।

‘नच प्रमाणं संख्यायामप्येकत्वादिवुद्धयः । गुणादिष्वपि तद्भावात् तद्वाधस्यानिरूपणात्’ ॥ ४६ ॥ नच संख्यायामपि प्रमाणं पश्यामः । न चैकत्वादिवुद्धयः प्रमाणम् । संख्याभावेपि चतुर्विंशतिर्गुणाः, पञ्चकर्माणि, द्विविधं सामान्यमित्यादिवदुपपत्तेः । नच तत्र गौणः प्रयोगः । मुख्ये बाधानिरूपणात् । नहि निपुणमतयोपि निरूपका न चतुर्विंशतिर्गुणा, न पञ्चकर्माणीति बाधमध्यवस्यन्ति । तदेवं द्वित्वादिसंख्यायां प्रमाणाभावात् ब्रणुकपरिमाणासमवायिकारणवृत्तिगुणत्वावान्तरजातीया संख्या तादृग्वृत्तिसंख्यात्वावान्तरजातीयं द्वित्वमित्यादिलक्षणमसंभवित्वदोषेण परास्तम् ।

तथा जातिरपि—‘प्रत्यक्षादनुमानाद्वा न जातिः सेद्धुमर्हति । व्यञ्जकैरन्यथासिद्धेस्तद्वृत्तेष्वनिरूपणात्’ ॥ ४७ ॥ नतावद्गौरीत्यभिन्नाकारग्राहिप्रत्यक्षं जातौ प्रमाणम् । विकल्पासहत्वात् । तत्किमेकव्यक्तिवच्चत्यन्तरे गौरित्यवभासः उत व्यक्तीनामेकगोस्वभाववभासः एकधर्मवत्तयावभासो वा । नाद्यः । एकव्यक्तेर्गोस्वभाववच्चत्यन्तरस्यापि गोस्वभावत्वादेवान्तराणां सामान्यमनेकोदकभाजनेष्वयं चन्द्रोयं चन्द्र इति वदवभासोपपत्तेः । ननु व्यक्तिमात्रं गौरितिसतिगोचरो गोव्यक्तिर्वा नाद्यः । तुरगादिव्यक्तावपि तत्प्रसङ्गात् । नेतरः जातिस्वीकारापत्तेरिति चेन्न । सास्त्रादिमव्यक्तेस्तन्मतिगोचरत्वान् ।

एवमेकत्वसंख्याऽनिरुक्तिमुक्त्वा संप्रति संख्यामात्र एव प्रमाणं नास्तीत्याह—**नच प्रमाणमिति** । एकादिव्यवहारहेतु सख्येति हि तैरेकाद्यभिज्ञाव्यवहारस्य विषयतया हेतुरित्येकादिवुद्धयः प्रमाणमुच्यन्ते ताश्चाप्येकत्वादिवुद्धयः संख्याया न प्रमाणं, तद्वहितेष्वपि गुणादिषु तादृग्वुद्ध्युपपत्तेः । नच तत्र भ्रान्तत्वं गौणत्वं चेत्याह—**तद्वाधस्येति** । संप्रहं विवृणोति—**नचेति** । ननु तथापि तल्लक्षणेपु किं दूषणमिति प्रमाणाभावादसंभव इत्याह—**तदेवमित्यादिना** । रूपादावतिव्याप्तिपरिहाराय ब्रणुकपरिमाणासमवायिकारणवृत्तीत्युक्तम् । ब्रणुकस्य यत्परिमाणं तदसमवायिकारणं यत्परिमाणुगतद्वित्वं तद्वर्तिनी या गुणत्वावान्तरजातिस्तदविकरणमित्यर्थः । सत्तागुणत्वं समादाय द्रव्यादिष्वतिव्याप्तिस्तद्वारणाय, गुणत्वावान्तरजातीयग्रहणम् । **तादृग्वृत्तीति** । ब्रणुकपरिमाणासमवायिकारणवृत्तीत्यर्थः । एतच्च त्रित्वादिव्यवच्छेदाय । एतेन द्विपृथक्त्वाद्यपि व्याख्यात, तत्राप्यपेक्षाबुद्धिमादाय अर्थप्रत्याख्यानस्य व्यञ्जकत्वसमर्थनस्य भवचत्वान् । एकपृथक्त्वे चानुमानं भेदखण्डने एव दूषितम् ।

नच पृथक्त्वमात्रे पृथगिति बुद्धिः प्रमाणं, रूपादिष्वपि समानत्वादिति अवयविखण्डनन्यायेन संयोगविभागद्विपृथक्त्वसामान्यादीन्यपि दुर्निरूपाणीत्युक्तम् । तत्र सामान्यव्यतिरिक्तेषु दुर्निरूपतोपपादिता । संप्रति तत्रापि तामुपपादयति—**तथा जातिरपीति** । षट्पदार्थखण्डनसमये तु सामान्यलक्षणानि खण्डितानि अत्र तु प्रमाणं स्वरूपनिरुक्तिश्च खण्ड्यते इत्युपनिरुक्तिः । **तद्वृत्तेश्चेति** । तस्या जातेर्व्यक्तिषु वृत्तिप्रकारस्याप्यनिरूपणादित्यर्थः । श्लोकं विवृणोति—**न तावदिति** । कोयमभिन्नाकारग्रह, किमेकव्यक्तौ यथा गौरिति प्रतीतिस्तथा व्यक्त्यन्तरेपि गौरिति प्रतीतिमात्रं किं वा सर्वव्यक्तीनामेकगोस्वभावत्वप्रतीतिरुत व्यक्तीनामेकगोत्वलक्षणधर्मवत्त्वप्रतीतिरिति विकल्पयति—**विकल्पेति** । प्रथमेतु न जातिसिद्धिर्व्यक्तीना तन्मात्रवृत्तिगोस्वभावमात्रसमर्पकतयानुगतार्थासमर्पकत्वादित्याह—**एकव्यक्तेरिति** । तत्रैकव्यक्तावेव गौरिति बुद्ध्युदयबलाद्गोत्वजातिसिद्धिः पूर्ववादी समर्थयते—**नन्वित्यादिना** । न व्यक्तिमात्रं तद्वृद्धिविषय, नापि गोत्वविशिष्टव्यक्ति, किंतु सास्त्रादिमती ततो नोक्तदूषणमिति परिहरति—**न सास्त्रादीति** । भवतापि स्वीक-

अन्यथा व्यक्तिमात्रस्य गोत्वव्यञ्जकत्वं गोत्वव्यक्तेर्वेति प्रत्यवस्थानस्य जातावपि तुल्य-
त्वात् । नापि द्वितीयः । सर्वत्र गोस्वभावस्यैकस्यानिरूपणात् । निरूपणे वा जातिस्वीकारवैय-
र्थ्यात् । नापि तृतीयः दण्डी दण्डवानितिवद्गोत्वी गोत्ववानिति प्रत्ययाभावात् । सास्त्रादिम-
त्त्वधर्मस्यैकस्य सर्वत्रप्रतिभासोस्तीति चेत्, कृतं तर्हि जात्या तत एवानुवृत्तव्यवहारो-
पपत्तेः । किञ्च जाति स्वीकुर्वता तद्व्यञ्जकं किञ्चिद्वाच्यं तदपि कुत्र वर्तत इति पर्यनुयोगे
यत्र जातिस्तत्र वर्तत इत्युक्तावन्योन्याश्रयता । उभयोर्वा कुत्र वृत्तिरिति पर्यनुयोगे यदि
व्यञ्जकान्तरमभ्युपगच्छेत्तदानवस्था, यदि न तदोभयोरपि वस्तुमात्रवृत्तितया सर्वत्र सर्वा
जातिर्वर्ततेति जातिसाङ्कर्यप्रसङ्गः । यत्र यत्प्रतीयते तत्र तद्वर्तत इति प्रतीतिचरणशर-
णत्वेपि व्यञ्जकाङ्गीकरणवैयर्थ्यम् । प्रतीतिमात्राच्च तथात्वाङ्गीकारे नभोनीलिमादेरपि
तथात्वापातः । अबाधितप्रतीतिर्व्यवस्थापकत्वाङ्गीकारे वेहापि युक्तिबाधस्य सुवचत्वेन न
तादृशप्रतीतेरपि व्यवस्थापकता । किञ्च जातिस्वीकारवादिनापीयं जातिरियं जातिरित्यनु-
वृत्तप्रत्ययसिद्धये कश्चिदुपाधिरेष्टव्यः तथाच सार्वत्रिकः स एवानुवृत्तप्रत्ययकारणमस्तु
तदलं जातिकल्पनादुर्व्यसनेन । तदेवं न प्रत्यक्षं जातौ क्रमते ।

अस्तु तर्हि गन्धवन्तो गन्धवद्गन्धावृत्तिगन्धवद्गन्धवृत्त्यवृत्त्यन्यधर्मवन्तः । तथा शैत्यवन्तः

तन्व्येयं रीतिरित्याह—अन्यथेति । गोत्वव्यक्तेरिति । गोत्वविशिष्टव्यक्तेर्गोत्वव्यञ्जकत्वे स्वस्यैव स्वव्य-
ञ्जकतयात्माश्रयप्रसङ्ग इत्यर्थः । सर्वव्यक्तीनामेकगोस्वभावत्वावभास इति द्वितीयपक्षं दूषयति—**नापि
द्वितीय इति** । नहि सर्वव्यक्तीनामेकगोस्वभावत्व भवद्भिरभ्युपगम्यते, जातिव्यक्तयोर्भेदाङ्गीकारात् । **नि-
रूपणे वेति** । एकशब्दप्रयोगानुपपत्त्या चैकस्वभावाङ्गीकारे वा तादृशस्वरूपेणैवानुगतव्यवहारसिद्धेर्व्यावृत्त-
स्वरूपाणामस्वरूपतया द्वैतवादिनामेव विजय स्यादित्यर्थः । एकधर्मवत्त्वावभास इति तृतीयं पक्षं दूषयति
—**नापि तृतीय इति** । प्रतीतिरेवेयमसिद्धा । नहि गौरिति प्रतीतिव्यतिरेकेण गोत्वग्राहिप्रत्ययोस्ती-
त्यर्थः । यद्यपि गोत्वस्य धर्मत्वग्राहिणी प्रतीतिर्नास्ति तथापि सास्त्रादिमत्त्वं नामैकानुगतो धर्मः प्रतीयते
अतस्तद्व्यञ्जकजातिसिद्धिरिति शङ्कते—**सास्त्रादीति** । किञ्च सास्त्रादिमत्त्ववलक्षणव्यञ्जकधर्मोपि दुर्निरूप इत्याह
—**किञ्च जाति स्वीकुर्वतेति । सर्वत्रेति** । यदि सास्त्रादिमत्त्वं गोत्वं चोभयं भाववस्तुमात्रे वर्तत
तदा सर्वस्य सास्त्रादिमत्त्वं गोत्वं च स्यादिति विरोधविशेषोच्छेद जातिसकरश्च कार्यकारणभावव्यवस्थिति-
श्चेत्यादिदोषा प्रादुष्युरिति भावः । ननु प्रतीतिरेव तत्सत्त्वव्यवस्थितौ शरणं नच सा सर्वव्यक्तिषु गोत्वाव-
ग्राहिण्यस्ति तत्कथमुक्तदोष इति तत्राह—**यत्र यदिति** । जातीना व्यञ्जकस्वीकारोपि वृथा, यत्र या प्रती-
यते तत्र सास्तीति तत्रापि वस्तुं शक्यत्वादित्याह—**व्यञ्जकेति** । अथ माभूत् व्यञ्जकाभ्युपगमः किमेता-
वतेति तर्हि वक्तव्यं—प्रतीतिमात्रात्तदङ्गीकार उताबाधितप्रतीतेः । नाद्यः । अतिप्रसङ्गात् । न द्वितीयः ।
असिद्धेरित्याह—**प्रतीतिमात्रेत्यादिना** । किञ्च जातिवादिनोपि जातिष्वपीयं जातिरियं जातिरित्यनुवृत्त-
प्रतीतिनिर्वाहक कश्चिदर्थोस्ति नवा । अन्ये तद्वद्द्रव्यादिष्वपि प्रतीत्युपपत्तिः । आद्ये सा न जातिरनव-
स्थापातादपराद्धान्ताच्च, तस्मादुपाधिरेव स मन्तव्यः, तथाच तयाविधोपाधिभिरेव सर्वत्रानुगतिसिद्धेर्न
जातिकल्पनोपयोग इत्याह—**किंचेत्यादिना** ।

एवं प्रत्यक्षं जातौ प्रत्याख्याय कुलार्कपण्डितोन्नीतमनुमानमुद्भावयति दूषयितुं—**तर्हीति** । गन्धवत्स्व-
गन्धवत्सु च ये वर्तन्ते धर्मास्तेषु गन्धवद्गन्धवृत्तित्वं नाम धर्मः तदत्यन्ताभाववान्, तथा गन्धवत्सु वर्तमाना
सन्तस्तेषु न वर्तन्ते ये धर्मास्तेषु गन्धवद्गन्धवृत्तित्वं नाम धर्मस्तदनधिकरणो यो धर्मस्तद्वन्त इति योजना ।

शीतवदशीतावृत्तिशीतवद्वृत्त्यन्यधर्मवन्तः प्रमेयत्वाज्ज्वलनादिवदित्यनुमानैः पृथिवी-
त्वजलत्वादीनां सिद्धिः । विवादाध्यासितानि द्रव्यगुणकर्माणि सामान्यवन्त्यनित्यत्वाद्गो-
वदित्यनुमानेन सत्तायाश्च सिद्धिरिति चेत् । न । प्रथमप्रयोगेषु तत्तज्जातिव्यञ्जकगन्ध-
वत्त्वशीतस्पर्शवत्त्वादिधर्मैरेवार्थान्तरत्वात् ।

जात्यनङ्गीकारवादिनं प्रति गोवदिति दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वाच्च । किञ्च सर्वसर्व-
गता जातिरुत व्यक्तिः सर्वगता । नाद्यः । विकल्पासहत्वान् । किं सर्वसर्वगतत्वं नाम—
सर्वत्र संयोगस्तादात्म्यं वा समवायो वा संबन्धान्तरं वा । 'अद्रव्यत्वान्न संयोगः
साङ्कर्यान्नेतरावपि । पदार्थान्तरतापत्तेर्नान्यसंबन्धसंभवः' ॥ ४८ ॥ न तावज्जातेः सर्व-
व्यक्तिसंयोगोऽद्रव्यत्वात् । न तादात्म्यसमवायौ, सर्वव्यक्तिषु सर्वजातीनां तादात्म्ये समवाये

अत्रच गन्धवद्वृत्तिधर्मवन्त इत्युक्ते प्रमेयत्वादिभिरर्थान्तरता तदर्थमगन्धावृत्तीत्युक्तम् । गन्धवदगन्धावृ-
त्तिधर्मवन्त इत्युक्ते घटत्वपटत्वादिभिरर्थान्तरता तदर्थं गन्धवद्वृत्त्यवृत्त्यन्येत्युक्तम् । घटत्वादीनां च गन्ध-
वद्वृत्तादिवृत्तित्वे सति गन्धवत्पटावृत्तित्वेन तद्वाहित्वाभावात् । गन्धवद्वृत्त्यवृत्त्यन्यधर्मवन्त इत्युक्ते च प्रमे-
यत्वादिभिरर्थान्तरता तदर्थमगन्धावृत्तीत्युक्तम् । तावति चागन्धवत्सु साध्यानुगमादप्रमिद्विविशेषणता ।
अत उक्तं गन्धवदिति । गन्धवदगन्धावृत्तित्वं चावृत्तित्वाद्वाऽगन्धवन्मात्रवृत्तित्वाद्वा गन्धवन्मात्रवृत्तित्वाद्वा ।
प्रथमद्वितीयौ गन्धवत्सु व्याहृतौ । तृतीयोपि कतिपयगन्धवद्वृत्तिर्वा समस्तगन्धवद्वृत्तिर्वा । प्रथमो द्वितीय-
विशेषणेन व्याहृत । द्वितीयस्तु सिद्ध्यन्ननुगतजातिरूप सिद्ध्यतीत्यभिमान । अगन्धवन्मात्रवृत्तिभिश्चेतरत्र
साध्यसिद्धिः । उदकत्वजातावपि समानामेव रीतिमाह—तथा शैत्यवन्त इति । व्याख्यानं तु पूर्ववत् ।
उभयत्र हेतूदाहरणे निर्दिशति—प्रमेयत्वादिति । एवमुष्णस्पर्शान्तो नीरूपस्पर्शवन्तश्च पक्षीकृत्य तेज-
स्त्ववायुत्वे समर्थनीये । तथा सालादिमत पक्षीकृत्य गोत्वादिसमर्थनीयम् । सत्तायामनुमानमाह—वि-
वादेति । कार्यवर्गश्चात्र पक्षः । तदतिरेषु तु तद्वारा निदि- । एकसामान्यवत्त्वं चात्र साध्यम् । तथा कर्म
शावलेयवृत्तिजातिमत्कार्यत्वात् शावलेयवदित्याद्यपि द्रष्टव्यम् । एवमनुमानान्युपन्यस्य यथाकर्म दूषयन् व्य-
ञ्जकैरन्यथासिद्धेरिति श्लोकभागं विवृणोति—न प्रथमेति । अन्ति हि गन्धवत्त्वशीतस्पर्शवत्त्वादीनामप्यु-
क्तरूपत्वं सर्वं तन्मात्रवृत्तित्वादित्यर्थान्तरमित्यर्थः । एतेन व्यञ्जकैरन्यथासिद्धेरिति विवृतम् । गन्धवत्पक्षी-
कारे कथं तस्य गन्धवत्त्वस्य सभव आत्माश्रयादतो नार्थान्तरतेति चेन्न । पाकजरूपवत्त्वादिनार्थान्तरगन्वात् ।
अपिच कुत आगतोय देवानां प्रियं यो ह्युपलक्षणन्यायेन गृहीतधर्म एव निबन्धः । बधूमिलगीतमाशास्ते
तत्किं पाकजरूपादिमन्त इत्यशक्यपक्षीकरणं ब्रवीति । भवतु भवतो निबन्धस्तथापि नैतादृशेप्यात्माश्रये कि-
चिदुपपत्तिः, उत्पत्तिज्ञप्त्योरप्रतिबन्धकत्वात् तस्य चादूषणत्वात्, इतरथा केवलान्वयिविलयप्रमद्वान् । नच
जातिपदप्रक्षेपाददंष्ट्रे, आकाशादौ दुःखसाध्यत्वात् । वर्तते तेषां पक्षतुल्यता सिद्धान्ते क्षेमार्था तन्मात्सा-
धूक्तमर्थान्तरत्वादिति ।

सत्तासाधकानुमाने दूषणमाह—जातीति । यस्य हि जातिमात्रमेव प्रामाणिकं न सप्रतिपन्नं तस्य कथं
गोत्वसप्रतिपत्तिरत साध्यवैकल्यमप्रमिद्विविशेषणत्वं चेत्यर्थः । तद्वृत्तेश्चानिरूपणादित्येतद्विवृणोति—किंचे-
ति । सर्ववस्तुषु सर्वगतत्वं विकल्प्य दूषणानि सगृह्णाति—अद्रव्यत्वादित्यादिना । न सर्वत्र जाते-
संयोगः । सर्वगतत्वमद्रव्यत्वात् । सर्ववस्तूनां द्रव्यत्वाभावान्नेतरावपि । कुत । साकर्यात् । यदि हि सर्वत्र
गोत्वादित्तादात्म्यं समवायो वा स्यात् तदा गवाश्चादिवस्तूनां तज्जातीनां च सङ्करः स्यादित्यर्थः । सुबोधम-
वशिष्टं श्लोकं विवृणोति—नतावदित्यादिना । ननु किमिति सर्वत्र तज्जातिप्रतीतिं यावना विद्यमानाना-

१ सर्वसर्वगतेत्यस्य स्थाने सर्वगतेत्येव एकमवशब्दरहितः पाठो भवति । एवमग्रेऽपि मूले, टीकायां च ।

वा सर्वस्य सर्वात्मताप्रतीतिप्रसङ्गात् । व्यञ्जकाभावान्न तथेति चेत् । न । तादात्म्यस-
मवायस्वीकारे शाबलेयादिव्यक्तिवदेव तद्व्यञ्जकताया अपि दुर्निवारत्वात् । स्वभावभेदा-
त्कस्यचिदेव व्यञ्जकत्वं न सर्वस्येति चेत् । न । सिद्धे प्रमाणतः सर्वत्र संबन्धे स्वभा-
वभेदालम्बनं नतु स्वभाववादपादप्रसारिकयैव वस्तुसिद्धिरन्यथास्येव पवनादावपि रूप-
संभेदः स्वभावभेदादेवाप्रतीतिरित्यनर्गलगलगर्जनस्य कः प्रतीकारः स्यात् । नापि संब-
न्धान्तरम् । षट्पदार्थातिरिक्तपदार्थस्वीकारप्रसङ्गात् । नापि पिण्डसर्वगता जातिः ।
प्रत्यग्रजायमानखण्डमुण्डादिपिण्डेषु पिण्डान्तरस्थिताया जातेः संबन्धाभावप्रसङ्गात् ।
नहि सा पिण्डान्तरादुत्प्लुत्यान्तानुप्रविशति । निष्क्रियत्वात् । तत्परित्यागे च पूर्वपिण्डे
तद्व्यवहाराभावप्रसङ्गात् । नचांशाभ्यामुभयत्र वृत्तिः । अनंशत्वात् । स्वसामग्रीवशा-
दुपजायमानैः पिण्डस्तज्जात्यालिङ्गित एवोत्पद्यत इति चेन्न । पिण्डोत्पत्तेः प्राक् तत्र
तस्या अभावात् । भावे च सर्वसर्वगतत्वापत्तेः । तदुक्तं बाह्यैः 'नायाति नच तत्रासी-
दस्ति पश्चान्न चांशवत् । जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्तति'रिति । सर्वपिण्डप्रलये
च घटत्वादिजातेरुच्छेदप्रसङ्गः । संबन्धिविगमेपि तस्याः स्वरूपेणावस्थानमिति चेत् ।

मपि व्यञ्जकाभावादप्रतीतिसम्भवेनासङ्करादिति शङ्कते—व्यञ्जकेति । यथाहि शाबलेयादिव्यक्तयो गोत्व-
जातेर्व्यञ्जकास्तत्कस्यहेतोस्तासु तस्यास्तादात्म्यं समवायो वास्तीति, तद्वदिह यदि सर्वव्यक्तिषु तस्यास्तयोरन्य-
तरदस्ति तदा तासामेवाभिव्यञ्जकत्वादपरिहार्यैव सङ्करापत्तिरिति परिहरति—**नतादात्म्येति । न सिद्धे
प्रमाणत इति ।** यदिहि प्रमाणत सर्वत्र जातिसद्भावावगम स्यात् तदा विद्यमानायास्तस्या अप्रतीतौ
स्वभावभेदो नियामकः स्यात् । खमूलप्रमाणं विनैव स्वभावभेदकल्पनमतिप्रसङ्गीत्यर्थः । उत्तरार्धं विवृणोति
नापीति । अस्तु तर्हि व्यक्तिसर्वगता जातिः । यथाहुः भाष्यकारा — 'व्यक्तिसर्वगत'मिति । तत्राह—**नापि
पिण्डेति ।** यदि हि व्यक्तिसर्वगता तदा सर्वत्र जाते पिण्डे गोत्वजाति किं व्यक्त्यन्तरस्थोपसर्पति तत्र-
स्था वा । नाद्य इत्याह—**नहि सेति ।** भवतु वोटपत्त्यागमनं तथापि किं सर्वात्मना व्यक्त्यन्तरादुत्पत्तित्वं श-
तो वा । नोभयथापीत्याह—**तत्परित्यागेचेत्यादिना । न पिण्डोत्पत्तेरिति ।** नहि पिण्डवदेव सा-
प्युत्पद्यते, नित्यत्वात्, न ततः प्रागपि च तत्रास्ति कथं तदालिङ्गनमुत्पद्यमानव्यक्तेरित्यर्थः । अथ
तत्राप्यस्ति तर्हि सर्वसर्वगतत्वापत्तिरित्याह—**भावेचेति ।** एतेन तत्रस्था चेति पक्षोपि निरस्तः । बाह्या
बौद्धाः । व्यक्त्युत्पत्तिसमये तावन्न व्यक्त्यन्तरादायाति, निष्क्रियत्वात् । नच तत्र व्यक्त्युत्पत्तिप्रदेशे व्यक्त्यु-
त्पत्तेः पूर्वं सा जातिरासीत्, व्यञ्जकाभावात् । तथापि तथात्वे सर्वसर्वगतत्वापत्तेः । नच पश्चादस्ति उत्प-
द्यते, अनित्यत्वप्रसङ्गात् । यदा च व्यक्त्यन्तरादायातीति पक्षस्तदापि नाशवत्, येन व्यक्त्यन्तरमपरित्यज्य
व्यक्त्यन्तरमुपक्रमेत । नच पूर्वतनमाधार जहाति येन निरशं सदव्यक्तौ वर्तेत, पूर्वतनाश्रये तदव्यवहा-
राभावप्रसङ्गादिति सामान्यवादिना महाव्यसनसन्ततिः । अहो इत्यनुकम्पायामिति कीर्तिवार्तिकार्थः । किंच
भवतु यथातथा जातेवृत्तिः तथापि किमाश्रितैकस्वभावा आश्रितानाश्रितस्वभावा वा । प्रथमे घटत्वादिजा-
तीना प्रलयसमये समस्तघटादिविघटनादाश्रयरहिततयोच्छेदप्रसङ्ग इत्युक्त्वा द्वितीयं शङ्कते—**संबन्धिवि-
गमेपीति ।** एवंविद्यजातिस्तावन्न केनापि प्रमाणेनोपस्थापिता । यदि भवदनुभवमनुरुध्याभ्युपगच्छेम तदा
रूपादेरपि केन विषमबुद्धिनोन्नीतनीत्या नित्यानित्यतासमर्थनमभ्युपेतव्यम् प्रसङ्गोत्पत्तिः । तदेवं परमाणु-
निराकरणमारभ्य प्रसक्तानुप्रसक्तया प्रदर्शितसयोगाद्यनिरूपणत्वस्य ब्रह्मकारणत्ववादेवेदन्तविरोधनिरासो-

न । आधारविगमेत्याधेयावस्थाने रूपादेरपि तथावस्थितेर्नित्यत्वप्रसङ्गः । तदेवमणूनां तत्संयोगस्य तदनेकत्वस्य जातेश्चानिरूपणादनेकैः परमाणुभिः संयोगसचिवैः समानजातीयैर्ब्रह्मणुकादिक्रमेण सर्वं कार्यद्रव्यमारभ्यत इति मनोरथमात्रम् ।

किंच 'परमाणुबहुत्वेन महत्त्वारम्भसंभवान् । त्र्यणुके ब्रह्मणुकारम्भप्रक्रियापि न सिद्ध्यति' ॥ ४८ ॥ ब्रह्मणुकादिप्रक्रमप्रक्रियापि न प्रमाणपथमवतरति, अणुभिरेव त्र्यणुकाद्युत्पत्तेरुपपत्तेः । नन्वेवं सति त्र्यणुके महत्त्वं न स्यात् । परमाणुपरिमाणस्य नित्यपरिमाणतयाऽनारम्भकत्वान्, प्रचयस्य निरवयवेष्वनाशङ्कनीयत्वादिति चेत् । न । कारणबहुत्वादेव त्र्यणुकादौ महत्त्वोपपत्तेः । नच परमाणुगतानेकत्वं संख्यानारम्भिका, तद्वत्तद्वित्वस्यापि ब्रह्मणुकपरिमाणानारम्भकत्वप्रसङ्गान् ।

नन्ववयविनां परमाणुपादानकत्वे कपालशर्करादीनामनारब्धत्वात्परमाणूनां चादृश्य-

पयोगमाह—तदेवमित्यादिना । संयोगसचिवैरिति । समानजातीयानेकद्रव्याणि समवायिकारणानि द्रव्योत्पत्तौ तत्संयोगस्त्वसमवायिकारणमिति हि तेषा मतमित्यर्थः ।

एवं परमाणूनारम्भकत्वमेव नास्ति तेषा तत्संयोगस्य चासंभवादित्युक्तम् । यद्यपि भवतु नाम तेषामारम्भकत्वं तथापि ब्रह्मणुकारम्भो वृथा प्रमाणप्रयोजनयोरभावादिनीदमिदानीमुपपाद्यते—किंचेत्यादिना । तत्र वैशेषिकाः प्राहुः—'परमाणवः साक्षात्तमहद्ब्रह्मणुकारम्भका आरम्भकपरमाणुत्वात् घटोपगृहीतपरमाणुवत् । नच साध्यविकलो दृष्टान्तः । तत्रापि साक्षाद्घटारम्भकत्वे घटध्वंसानन्तरं न किंचिद्दृश्यते । तथा त्रसरेणुवदनुपलब्धरेखे परेषा घटे संस्थानविशेषानिपत्तिर्व्यञ्जकाभावात् घटत्वानुपलब्धिप्रसङ्गश्च कपालादीनामनारब्धत्वात्, तस्मात्परमाणुभिरतीन्द्रियमेव किञ्चिद्व्यवधानेनारभ्यते । किंच महत्त्वरहितद्रव्यस्य न तावच्चाक्षुषत्वं परमाणुवत्, नच परमाण्वारब्धे महत्त्वसंभवः, कारणबहुत्वकारणमहत्त्वप्रचयविशेषैर्हि महत्त्वमुत्पद्यते तत्र न तावत्कारणबहुत्वं परमाणुद्वयेनारम्भात्, अणुत्वादेव न कारणमहत्त्वं, निरवयवत्वादेव न प्रचयविशेषः, ब्रह्मणुकारब्धस्य तु त्रसरेणोर्महत्त्वादेव युक्तं चाक्षुषत्वं तस्य च न परमाणुद्वयवद्ब्रह्मणुकद्वयमारम्भकं, तथासति तदारब्धेपि महत्त्वासंभवासम्भ्यात् । तस्मात्कारणबहुत्वादेव त्रसरेणोर्महत्त्वं तथाच बहुभिरेव ब्रह्मणुकैर्ब्रह्मणुकमारभ्यत इति त्र्यणुकमहत्त्वानुपपत्तिरपि ब्रह्मणुकसाधिके'ति । तदेव श्लोकेन दूषयति—परमाण्विति । तत्र तावत्परमाणूना सहसा महद्दारम्भे बाधकं स्वयमेवाशङ्क्य दूषयिष्यति । तथाच ब्रह्मणुकमङ्गीकृत्यापि कारणबहुत्वादेव त्र्यणुके महत्त्वं प्रार्थनीयं तद्बहुभिः परमाणुभिरेवोपपाद्यं वृथान्तशाले ब्रह्मणुककल्पनेति भावः । श्लोकं विवृणोति—ब्रह्मणुकादीति । ननु किमिति महत्त्वं न स्यात्परमाणुपरिमाणैरेवारम्भसंभवादिति तत्राह—परमाण्विति । विप्रतिपन्नमनारम्भकं नित्यपरिमाणत्वात् परममहत्त्ववदित्यर्थः । निरवयवेष्विति । प्रशिथिलावयवसंयोगो हि प्रचयः नच स निरवयवेषु संभवतीत्यर्थः । नच परमाणुगतेति । अत्र किं नित्यगतसंख्यात्वादनारम्भकत्वमनेकत्वसंख्यात्वाद्वा । नाद्यः । परमाणुषु द्वित्वस्यानारम्भकत्वप्रसङ्गात् । नापि द्वितीयः । ब्रह्मणुकगतबहुत्वस्याप्यनारम्भकत्वप्रसङ्गादिति भावः । एतेनाचाक्षुषत्वं प्रत्युक्तम्, महत्त्वादेवोपपत्तेः ।

यत्तु स्वयमेवाशङ्क्य निराकरिष्यतीत्युक्तं तत्करोति—नन्विति । इयमनुपपत्तिरणुकारम्भेऽपि संमाना । यथा ब्रह्मणुकारब्धत्र्यणुकध्वंसे ब्रह्मणुकशेषतया न किंचिद्दृश्यते तथावयविनोपि ब्रह्मणुकारभ्यत्वे न किंचिद्दृश्येतेति नेयं ब्रह्मणुकसाधिकेत्यर्थः । ननु नास्माभिर्ब्रह्मणुकैरेवाव्यवधानेन पटारम्भोऽन्युपगम्यते येनायमनन्तरो दोषः स्यात् किंतु त्र्यणुकादिक्रमेण, तथाचोत्तरोत्तरनाशेपि पूर्वपूर्वस्य प्रत्यक्षत्वं घटते, त्र्यणुकविनाशे

त्वादवयविनाशे न किञ्चिद्दृश्येतेति चेन्न । व्यणुकारभ्यत्वेऽपि प्रसङ्गस्य तुल्यत्वात् । व्यणु-
कचतुरणुकादिक्रमेणारम्भमात्रायं प्रसङ्ग इति चेत् । न । चतुर्भिर्द्व्यणुकैश्चतुरणुकवत्
व्यणुकसहस्रारब्धकार्येनाशेऽपि प्रसङ्गस्य तुल्यत्वात् । तस्माद्व्यणुकसद्भावे न किञ्चिन्मान-
मस्ति । ननु व्यणुकं कार्यद्रव्योपादानकं महत्त्वे सति कार्यत्वात् घटवत् । तथारम्भक-
द्रव्यसंख्यापकर्षतारतम्यं कचिद्विश्रान्तं तरतमभावत्वात्परिमाणतरतमभाववत् । नचैक-
त्वसंख्यायामेव विश्रान्तौ सिद्धसाधनता । तथासत्येकद्रव्यस्यैव द्रव्यारम्भकत्वप्रसङ्गात् ।
नचैकद्रव्यारब्धं द्रव्यम् । कार्यद्रव्यस्यानाशप्रसङ्गात् । कारणविभागस्य कारणविनाशस्य
च तन्नाशहेतोरभावात् । ततो व्यणुकसिद्धौ न परमाणूपादानकत्वं व्यणुकस्येति चेत् ।

न । प्रथमप्रयोगे महदुपादानकत्वस्योपाधित्वात् । ननु परिमाणावान्तरसामान्यस्य मह-
त्वाद्यवान्तरसामान्यव्यतिरिक्तस्य कार्याकार्यवृत्तित्वं महत्त्वे दृष्टमतोऽणुत्वस्यापि कार्या-
कार्यवृत्तित्वसिद्धौ कार्याणुपरिमाणाधिकरणव्यणुकसिद्धिरिति चेन्न । ह्रस्वत्वदीर्घत्वयो-
रनैकान्त्यात्, तयोः कार्यैकवृत्तितयाऽकार्यवृत्तित्वानङ्गीकारात् । नच तद्व्यतिरिक्तत्वे

त्वन्वस्यादर्शनमनुगुणमेवेति शङ्कते—**व्यणुकेति** । स्यादेवं यद्येवमेवेति भवता नियम, नत्वेतदस्ति,
चतुर्भिर्द्व्यणुकैश्चतुरणुकारम्भवद्व्यणुकसहस्रेणाप्येककार्यारम्भोऽनुमन्यत एव भवता । तथाच तत्रैवोक्तानुपपत्ति
समानेत्याह—**न चतुर्भिरिति** । नच चतुरणुकमपि व्यणुकचतुष्टयारब्धमणुशब्दार्थाभावादप्यारब्धे ह्यणुषु
चाणुशब्दप्रयोग व्यणुकव्यणुकयोस्तथा तद्दर्शनात् परमाणुव्यतिरिक्तयो । ननु किमिति मानाभाव यावता
किरणावलीकारोक्तमस्यनुमानमिति शङ्कते—**ननु व्यणुकमिति** । आकाशादौ व्यभिचारवारणाय कार्य-
त्वादित्युक्तम् । इच्छादिनित्यद्रव्यगुणैः स्वाभिमतव्यणुकेन च व्यभिचारवारणाय महत्त्वे सतीत्युक्तम् । सिद्ध-
साधनतानिवृत्त्यै प्रतिज्ञाया कार्यपदम् । **तथारम्भकेति** । तन्त्वारब्धपूर्वपूर्वारम्भकद्रव्येषु यदिदं सख्या-
पकर्षस्य तारतम्यं तत्कचिद्विश्रान्तम् । नथाश्रयासिद्धिर्यतोस्ति तावद्धटानुप्रविष्टपरमाणुसख्यापेक्षया तदव-
यवकपालमनुप्रविष्टपरमाणुसख्यापकर्ष इतरथा घटकपालयोर्गुह्यत्वादिसाम्यापातात्, नचायमपकर्षोऽनवधि,
एकत्वादपकृष्टसख्याभावात्, नचैकत्वमेव तदवधिरित्यर्थान्तरता, तस्यारम्भकद्रव्यसंख्यात्वाभावात्,
नह्येकद्रव्यारम्भकम्, तथा सति सयोगलक्षणासमवायिकारणाभावात् विनाशहेत्वभावान्नित्यतापाताच्च ।
तस्मात्परमाणुगतद्वित्वं विश्रान्तिभूमि । तथाच यत्परमाणुद्वयारब्धं कार्यं तद्व्यणुकमिति भावः ।

तदेतद्बुध्यति—**न प्रथमेति** । घटादौ कार्योपादानकत्वे त्वदुक्तहेतुर्न प्रयोजक किन्तु महदुपादानकत्व-
माकाशादौ व्यतिरेकसिद्धेर्न पक्षेतरतेति भावः । वस्तुतो नायमुपाधिर्महत्पदवैयर्थ्यात् । दूषणं तु सप्रतिसाधनं
वक्ष्यते । अपिच घटत्वमत्रोपाधिर्नच साभ्याव्यापकता । व्यणुकघटान्यतरत्वे सति कार्यद्रव्योपादानकत्वे
घटत्वस्योपाधित्वात् साधनावच्छिन्नसाभ्याव्यापकोपाधिवत् । तथाच साभ्याव्यावृत्तिसिद्धिः, तदन्यतरत्वा-
व्यावृत्तेरशक्यत्वात्, सर्वानुमानभङ्गप्रसङ्गश्चान्विचनीयवादिनो न वचनीयः । श्रीवल्लभस्त्वैतुग्राहकतर्काभा-
वात्साभ्याव्याप्तिः पूर्वस्य नास्ति प्रत्युत बाधकापत्तिश्चेति मन्वानो बाधकमुक्तवान्, तमनुवदति—**ननु परि-**
माणेति । परममहत्त्वादेषु व्यभिचारनिरासायोक्तं महत्त्वाद्यवान्तरेति । प्रयोगशरीरं तु—अणुत्वसामान्यं
कार्याकार्यवृत्ति परिमाणत्वसाक्षाद्व्याप्यजातित्वान्महत्त्ववदिति भावः । नच साभ्याविकलता । महत्त्वस्याकाशा-
दिषु घटादिषु च वर्तमानत्वात् । तथाच यत् कार्यमणुत्वाविकरणं परिमाणं तदधिकरणं व्यणुकं यच्च नित्य-
परमाणुपरिमाणं तदधिकरणं परमाणुरित्यर्थः । अनैकान्तिकतामेव दर्शयति—**तयोरिति** । अस्तु तर्हि
ह्रस्वत्वदीर्घत्वव्यतिरिक्तत्वे सति इति विशेषणं तत्राह—**नचेति** । ननु यदिदमणुत्वं प्रतिसाधने पक्षीक्रियते

सतीति विशेषणान्नैकान्तिकता । तथापि प्रतिसाधनसद्भावान्, तथाह्यणुत्वं कार्या-
कार्यवृत्ति न भवति महत्त्वव्यतिरिक्तत्वे सति परिमाणावान्तरजातित्वाद्भ्रस्वत्वादिवन्
भवन्मतमाश्रित्य प्रयोगसंभवान्, त्रसरेणुनित्यत्ववादिनं भाट्टं प्रति हेतोर्विशेष्यासिद्धेश्च,
द्वितीयप्रयोगे च सिद्धसाधनता, त्रसरेणुयुगलादौ संख्यापकर्षतारतम्यविश्रान्त्युपपत्तेः ।
तदेवं परमाणुभिरारब्धे त्र्यणुकादौ महत्त्वोपपत्तेर्न त्र्यणुकादिप्रक्रमप्रक्रियासिद्धिः ।

किञ्च 'परिमाणस्य सिद्धत्वे तदारम्भविचारणा । नाद्यापि सिद्धस्तद्भावोऽभावाल्लक्ष-
णमानयोः' ॥ ५० ॥ परिमाणमेव न निरूपणपथमवतरति कुतस्तदारम्भचिन्ता तल्लक्ष-
णप्रमाणयोरनिरूपणान्, तथाहि किं मानव्यवहारकारणं परिमाणम् १ उत द्वित्वासम-
वायिकारणकवृत्तिगुणत्वावान्तरजातीयम् २ आहोस्विदसमवायिकारणत्वानधिकरणनित्या-
कारावृत्तिवृत्तिगुणत्वावान्तरजातिमद्वा ३ परिमाणत्वजातिमद्वा ४ । नाद्यः । अदृष्टेश्वरा-
देरपि मानव्यवहारकारणस्य परिमाणत्वप्रसङ्गान् । विषयतयेति विशेषणाददोष इति
चेन् । न । परिमाणत्वजातेरपि तथात्वापत्तेः । जातिमत्त्वे सतीति चेन् । न । द्रव्येऽपि
प्रसङ्गात् । परिमाणत्वजातिमत्त्वे सतीति चेन् । न । तावन्मात्रस्यैव लक्षणत्वोपपत्तौ

तत्तावन्न वेदान्तिन सिद्ध, परमाणुत्र्यणुकयोरसिद्धौ तत्परिमाणतत्सामान्ययोरसिद्धतरत्वादिति तत्राह—
भवन्मतमिति । अथवा महत्त्वव्यतिरिक्तत्वे सतीति विशेषणं व्यर्थम् । आकाशादीनामपि कार्यत्वादात्म-
नश्च परिमाणानधिकरणतया महत्त्वस्यापि कार्यकवृत्तिवेनोक्तसाध्यवत्त्वादिति तत्राह—**भवन्मतमिति** ।
यच्च प्रथमानुमाने महत्त्वे सति कार्यत्वादित्युक्तं तत्र विशेष्यासिद्धिर्माह—**त्रसरेण्विति** । आरम्भकद्रव्य-
संख्येत्यादिद्वितीयानुमानेपि दूषणमाह—**द्वितीयेति** । द्वित्वं ह्यारम्भकसंख्यापकर्षविश्रान्तिभूमि तच्च त्र्य-
णुकगतमपि सभवति तत परारम्भकस्याद्याप्यसिद्धिरित्यन्तरमित्यर्थः । प्रपञ्चितं त्र्यणुकदूषणमुपसहरति
—**तदेवमिति** ।

यस्य च महत्त्वस्योत्पत्त्यनुपपत्त्या त्र्यणुककल्पनं तदेवासिद्धं, परिमाणमात्रस्य दुर्निरूपत्वे तद्विशेषमह-
त्त्वस्य दुर्निरूपत्वादित्याह—**किञ्चेत्यादिना** । अभावादिति च्छेदः । श्लोकं विवृणोति—**परिमाणेति** ।
द्वित्वमसमवायिकारणं यस्य त्र्यणुकपरिमाणस्य तद्वित्वासमवायिकारणकं तद्वृत्तिगुणत्वावान्तरजातिस्तद्वदि-
त्यर्थः । रूपादिव्यवच्छेदाय प्रथमं विशेषणम् । द्रव्यादिव्यवच्छेदाय द्वितीयम् । **असमवायिकारणेति** ।
असमवायिकारणत्वानधिकरणं नित्यश्च य आकाशवृत्तिगुण तद्वृत्तिर्या गुणत्वावान्तरजातिस्तदीयं चेत्यर्थः ।
अत्रापि रूपादिक्रमादाय रूपादिष्वतिव्याप्तिनिरासार्थमाकाशवृत्तिवृत्तीत्युक्तम् । तथापि द्वित्वादिप्रतिव्याप्ति-
स्तदर्थं नित्यग्रहणम् । एतेन सयोगविभागशब्दा अपि व्यवच्छिन्ना । तथाप्येकत्वपृथक्त्वयोरतिव्याप्तिस्तदर्थ-
मसमवायिकारणत्वानधिकरणेत्युक्तम् । नहि परममहत्त्वस्य किञ्चित्प्रत्यक्षसमवायिकारणत्वमस्ति । एकत्वादेश्च
द्वित्वादेरसमवायिकारणत्वाधिकरणत्वान्निरासः । ननु यद्यपि सर्वोत्पत्तिमन्निमित्तकारणादृष्टेश्वरादेरस्ति मान-
व्यवहारकारणत्वं तथापि न विषयतया, तादृशकारणत्वं चात्र विवक्षितमिति शङ्कते—**विषयेति** । 'गुणत्वं
सति मानव्यवहारकारण'मित्युदयनस्तदपि गुणत्वखण्डनेन निरसनीयम् । यद्यपि परिमाणत्वजाते परिमाण-
विशेषणतया व्यवहारविषयत्वमस्ति तथापि जातिमत्त्वे सतीति विवक्षितं, नच जातौ जातिरस्तीति नाति-
व्याप्तिरित्याशङ्क्य तर्हि तदाधारद्रव्येऽतिव्याप्तिरित्याह—**न द्रव्येपीति** । न जातिमत्त्वमात्रं विवक्षितं किंतु
परिमाणत्वजातिमत्त्वं तेन न द्रव्यादिष्वतिव्याप्तिरिति शङ्कते—**परिमाणत्वेति** । परिमाणत्वजातियोगीत्ये-
तावदेवास्त्वित्यर्थः । ओमिति च न वाच्यम्, अन्यपक्षत्वेन दूष्यमाणत्वादिति भावः । शिवादित्यमनोहर-

व्यर्थविशेष्यत्वापातात् । नापि द्वितीयः । द्वित्वस्य तदसमवायिकारणत्वस्य चानन्तरमेव निरस्तत्वात् । किञ्च विशिष्टजातिमत्त्वं ज्ञाततया तद्व्यवहारकारणं वक्तव्यं तच्च किञ्चिदुपसंग्राहकपुरस्कारेणैव सर्वलक्ष्यव्यक्तिनिष्ठतयाधिगन्तव्यम्, अन्यथा व्यक्त्यन्तरे तथा-प्रथाऽभावेन तद्व्यवहाराभावप्रसङ्गात् । तथाच तेनैवानुगतव्यवहारोपपत्तौ कृतं विलक्षण-लक्षणपरीक्षाप्रयासेन । नापि तृतीयः । उक्तदोषानुषङ्गात् । नापि तुरीयः । जातिव्यञ्जकस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात् । शक्यत्वे वा पूर्वोक्तदोषानुषक्तेश्च । तदेवं न लक्षणनिरुक्तिर्नापि प्रमाणम् । नहि मानव्यवहार एव तत्र प्रमाणम्, तस्यानिरुक्तेः, तथाहि कोऽयं मानव्यवहारः किं हस्तवितस्यादिव्यवहारः १ किं बाणुमहदादिव्यवहारः २ असर्वगतत्वव्यवहारो वा ३ परिमितत्वव्यवहारो वा ४ । सर्वथा नोपपद्यते । अव्याप्तेः । अणुत्वमहत्त्वाद्यसिद्धौ तद्विशेषितव्यवहारासिद्धेरसर्वगतव्यवहारस्याविभुत्वेनापि संभवात् । परिमितत्वव्यवहारस्य दशपलपरिमितमित्यादौ गुरुत्वेनापि दर्शनात्, यादृगाश्रयेऽणुमहदादिपरिमाणसमवायः परेणाङ्गीक्रियते तादृगाश्रयविशेषादेव तद्व्यवहारोपपत्तौ तदतिरिक्तपरिमाणकल्पनायां कल्पनागौरवाच्च ।

अस्तु तर्ह्यनुमानं मानमनोहरकारोक्तं 'विवादाध्यासितं द्विष्टगुणानसमवायिकारणानित्यविशेषगुणव्यतिरिक्ताद्विष्टगुणाश्रयः द्रव्यत्वाज्जलाणुवत् । अत्र च जीवाकांशौ पक्षी-

योरभिमतलक्षणं दूषयति—**नापीति** । यानि च जातिपुरस्कारेण प्रवृत्तानि लक्षणानि तेषां साधारणदूषणमाह—**किञ्चेति** । व्यवहारोपि लक्षणप्रयोजनं सच ज्ञातादितरथातिप्रसङ्गात् असत्त्वप्रसङ्गाच्च, केवलव्यतिरेकित्वाल्लक्षणस्य, तथाचैवंविधजातिमत्त्वमपि लक्षणं ज्ञातमेव व्यावर्तकमित्यर्थः । ततः किमिति तत्राह—**तच्चेति** । एतादृशमेवंविधजातिमत्त्वं न त्वनीदृशमिति यदि ज्ञानं तद्यदि व्यक्तिपुरस्कारेण तदा तद्रूपस्यान्यत्राभावेन तत्र तद्धेतुव्यवहारो न स्यात्, तथाच सर्वव्यक्तिनिष्ठमेकरूपसंग्राहकं पुरस्कृत्य स इति वक्तव्यमित्यर्थः । प्रथा प्रतीतिः । ततो वा किमित्यत्राह—**तथाचेति** । विलक्षणजातिविशिष्टं यल्लक्षणं तत्परीक्षणप्रयासेन कृतमलमित्यर्थः । असमवायिकारणेत्यादितृतीयलक्षणं दूषयति—**नापीति** । **अशक्यत्वादिति** । पूर्वोक्तलक्षणानां दूषितत्वादिति भावः । ननु मानव्यवहारः किमिति न प्रमाणमिति तत्राह—**नहीति** । **अव्याप्तेरिति** । हस्तवितस्यादीनामेकैकस्थैकैकस्मिन्भावात्परमाणौ परममहति वाऽभावादव्याप्तिरिति प्रथमपक्षे दूषणम् । द्वितीये दूषणमाह—**अणुत्वेति** । परिमाणमात्रासिद्धौ तद्विशेषोऽसिद्ध इति भावः । सकलपरिमाणानुगतित्वं लक्षणस्य द्रष्टव्या । तृतीये दूषणमाह—**असर्वेति** । विभुत्वाभावमादायापि घटत इत्यर्थः । अत्रापि व्यापकपरिमाणेऽव्याप्तिर्द्रष्टव्या । चतुर्थे दूषयति—**परिमितेति** । कल्पनागौरवं च सर्वपक्षसाधारणदूषणमाह—**यादृगेति** ।

एवं प्रत्यक्षं निराकृत्यानुमानमुद्वाह्य निराकरोति—**अस्तु तर्हीति** । अद्विष्टगुणाश्रय इत्युक्ते एकत्वैकपृथक्त्वाश्रयत्वेनार्थान्तरता तदर्थं द्विष्टगुणानसमवायिकारणेत्युक्तम्, तथापि शब्देन ज्ञानादिगुणैश्वर्यान्तरता तदर्थमनित्यविशेषगुणव्यतिरिक्तैत्युक्तम् । द्विष्टगुणानसमवायिकारणानित्यविशेषगुणव्यतिरिक्तगुणाश्रय इत्युक्ते संयोगविभागाजनकौ यौ घटादिनिष्ठौ संयोगविभागौ तदाश्रयत्वेन सिद्धसाधनता अतः उक्तमद्विष्टेति । द्विष्टगुणानसमवायिकारणानित्यगुणव्यतिरिक्ताद्विष्टगुणाश्रय इत्युक्ते कार्यद्रव्येषु व्यभिचारस्तेषामनित्यगुणमात्राश्रयत्वेनानित्यव्यतिरिक्तगुणाश्रयत्वाभावादत उक्तं विशेषगुणेति । ईश्वरे व्यभिचारवारणायानित्यग्रहणम् । अत्र च विवादाध्यासितपदेन विवक्षितं दर्शयति—**अत्रचेति** । तथाचानित्यविशेषगुणानामेव तथा-

क्रियेते । तथेश्वरो नित्यविशेषगुणव्यतिरिक्तानसमवायिकारणाद्विष्टगुणाश्रय आसत्वाज्जीववदिति चेत् । न । 'आद्यस्योपाधिमत्त्वेन साध्याभावान्निर्दर्शने । द्वितीयस्योभयत्रापि प्रतिसाधनरोधनात्' ॥ ५१ ॥ प्रथमानुमाने मूर्तत्वस्योपाधित्वान् । नच पार्थिवपरमाणौ साध्याव्याप्तिः । तत्रापि द्विष्टगुणानसमवायिकारणानित्यविशेषगुणव्यतिरिक्ताद्विष्टगुणानां परत्वापरत्ववेगादीनां सद्भावात् । नचेश्वरे मूर्तत्वस्योपाधेः साध्याव्याप्तिः, तस्य वेदान्तिभिर्निर्गुणत्वाङ्गीकारान्, द्वितीयप्रयोगेऽपि दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यान् । गुणानां नित्यत्वासिद्धावप्रसिद्धविशेषणत्वाच्च । सप्रतिसाधनं चेदं प्रयोगद्वयं, विवादाध्यासितमुक्तविशेषणविशेषितसाधारणगुणाश्रयो न भवत्यमूर्तत्वादूपादिवदिति प्रयोगोपपत्तेः । नचाद्रव्यत्वमुपाधिः तद्व्यतिरेके पृथिव्यादिषु मूर्तत्वस्यैवोपाधित्वान् । तदेवं परिमाणस्यासिद्धेर्न तदारम्भविचारणायवकाशं लभते ।

नच कारणगुणपूर्वकतानियमः । रूपादीनां परिपक्वे लौहित्यस्याकारणगुणपूर्वस्यापि दर्शनात् । ननु निवृत्तः श्यामो घटोऽन्य एव च लोहितस्तत्रोत्पन्नः, तथाहि श्यामत्व-

भूतानां सत्त्वेनोभयेपामपि पक्षत्वाद्विक्कालयोर्विशेषगुणशून्यतया नित्यविशेषगुणपदस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गेन पक्षन्वासम्भवात् जीवाकाशयोरेव पक्षत्वं दिक्कालयोस्तु पक्षतुल्यतयावस्थानमिति भावः । अनुमानान्तरमपि तदीयमाह—**तथेति** । अत्राप्यद्विष्टगुणाश्रय इत्युक्ते एकत्वादिनार्थान्तरता तदर्थमनसमवायिकारणेत्युक्तम् । तथापि ज्ञानादिनार्थान्तरता तदर्थं नित्यविशेषगुणव्यतिरिक्तेत्युक्तम् । द्वित्वादिभिरर्थान्तरतापरिहारायाद्विष्टग्रहणम् । सामान्यादिभिरर्थान्तरतापरिहाराय गुणग्रहणम् । अनयोर्दूषणं सगृह्णाति—**आद्यस्येति** । द्वितीयस्य निर्दर्शने साध्याभावादित्यन्वयः । श्लोकं विवृणोति—**प्रथमेति** । यदत्र तेनैवोक्तं 'नच स्पर्शवत्त्वमूर्तत्वे उपाधी, पवनपार्थिवपरमाणुव्यभिचारादिति तदूषयति—**नचेति** । साध्याव्याप्तिः साध्येनोपाधेर्व्याप्यभावः, साध्याधिकवृत्तिरिति यावत् । साध्याव्याप्तिरिति साध्यसमव्याप्त्यभावो विवक्षितः । ननु विश्वेश्वरे नित्यज्ञानादेरुक्तपक्षत्वेन साध्यवत्त्वमस्ति नचास्ति मूर्तत्वमुपाधिरतः साध्याव्यापक इति तत्राह—**नचेश्वरे इति** । तत्र साध्यमपि नास्तीत्यर्थः । किंचात्र द्विष्टविशेषगुणपदयोरुपाधिकता अनसमवायिकारणपदेनानित्यव्यतिरिक्तपदेन वाऽनभीष्टव्यावृत्तिसिद्धे । अर्थान्तरता च, शब्दज्ञाननित्यतामादायापि विश्रामात् । ईश्वरान्यामूर्तान्यत्वस्य समव्यापकस्योपाधित्वाच्च । **साध्यवैकल्यादिति** । निर्गुणान्मवादित्वाद्देदान्तिन इत्यर्थः । नित्यविशेषगुणेत्ययमयंशो मा प्रत्यसिद्ध इत्याह—**गुणानामिति** । उभयत्रापीत्यादिकं विवृणोति—**साधनमिति** । जीवाकाशौ द्विष्टगुणानसमवायिकारणानित्यविशेषगुणव्यतिरिक्ताद्विष्टसाधारणगुणाश्रयत्वानधिकरणं, तथेश्वरोप्युक्तविशेषणविशिष्टसाधारणगुणाश्रयत्वानधिकरणम् । उभयत्रामूर्तत्वादिति हेतुरवगन्तव्यः । **तद्व्यतिरेक इति** । एवं हुपाधेर्व्यतिरेको वक्तव्यः, विप्रतिपन्नमेवविधेगुणाश्रयः द्रव्यत्वात् पृथिवीवदिति । तत्र मूर्तत्वमुपाधिरतः साध्यव्याप्तिर्नास्तीत्यर्थः । किंच श्रोत्रमात्रग्राह्यधर्मवत्त्वेन शक्यमाकाशे प्रकरणसमत्वं सपादयितुमात्मनि च मनोमात्रग्राह्यधर्मवत्त्वेन शब्दो वा ज्ञानादिकं वा दृष्टान्तः । परिमाणखण्डनस्य परिमाणकारणत्वनिराकरणोपयोगमाह—**तदेवमिति** ।

यच्च 'कारणगुणप्रक्रमेण कार्ये गुणारम्भ' इति वैशेषिकैः परिभाष्यते तदयमुक्तम्, पाकजप्रक्रियायामेव नियमस्याशक्यसमर्थत्वादित्याह—**नच कारणेति** । योहि परिपक्वो घटस्तस्य पाकसमये रूपान्तर तावदुत्पद्यते नच तस्य कारणगुणपूर्वकत्वं पूर्वघटस्यानष्टत्वात् । स्थित एव तस्मिन्नूपान्तरस्याग्निसंयोगात्परमुत्पत्तेरित्यर्थः । ननु स्थित एव घट इत्यसिद्धं नष्टत्वादामघटस्येति शङ्कते—**नन्विति** । ननु स एवायं घट इति प्रत्यभिज्ञानात् घटैक्यावगमे कथं तस्य निवृत्तिरित्यत आह—**तथाहीत्यादिना** । नष्टघटरूपेणार्थान्तरता-

माश्रयविनाशादेव नश्यति कार्यगतरूपत्वात् नष्टपटरूपवत् । तथा लौहित्यमाश्रयोत्पत्त्य-
नन्तरमेवोत्पद्यते कार्यगतरूपत्वात्कार्यलोहितपटरूपवदित्यनुमानतस्तद्भेदसिद्धेः । नच
विनाशो हेतोरभावः । स्पर्शवद्देगवदनिलसंचलनबलेन प्रज्वलज्ज्वलनस्य ज्वालाकलापस्यैव
घटावयवसङ्घातविघटनहेतुत्वात् । अन्यथानलावयवानामन्तरनुप्रवेशासंभवेन पिठरजठरसं-
चारिसलिललौल्लनतण्डुलविच्छेदनयोरसंभवप्रसङ्गात् । मृदुकठिनतालक्षणविरुद्धधर्मसंस-
र्गोपलब्धेश्च तद्भेदावगतौ कथं न कारणगुणपूर्वकता रूपादीनामिति चेत् । मैवम् । ‘त-
त्त्वेन प्रत्यभिज्ञानात्तदाधेयानिपाततः । संख्याप्रमाणयोरैक्यादन्यथापाकसंभवात्’ ॥ ५२ ॥
स एवायं घट इति प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षविरोधात्, उपरिस्थितशरावादीनामपातात्, तद्देश-
त्वतत्संख्यतातत्परिमाणतोपलब्धेश्च । अन्तःपाकस्यापि सच्छिद्रत्वादवयविनां स्फटिका-
न्तरिन्द्रियरश्मिप्रवेशवदुपपत्तेः । अन्यथा सलिलस्यन्दनबहिःशैत्योपलम्भयोरभावप्रस-

परिहारायैवग्रहणम् । परमाणुगतरूपेऽनैकान्तिकतापरिहाराय कार्यग्रहणम् । कार्यगतसत्तादिव्यावृत्त्यै
रूपग्रहणम् । एवमावधत्वंस प्रसाध्य कार्यगुणानां कारणगुणपूर्वकत्वनियमार्थं लोहितघटस्योत्पत्तावयवनुमा-
नमाह—**तथा लौहित्यमिति** । लोहिततन्त्वारब्ध पटो लोहितपट । पटग्रहणं चोपलक्षणार्थम् । एवं
किरणावलीकारोदीरितानुमानविरोधाद्ब्रह्मभेदाधिगतौ प्रत्यभिज्ञा ज्वालाप्रत्यभिज्ञावद्भ्रान्तेत्यर्थः । नन्वत्र
मुशलप्रहारादिरसमवायिकारणसंयोगनाशहेतु पाकावस्थायां नास्ति तत्कथं विनाश, अनुमानद्वयं तु शङ्कि-
तोपाधिव्याधिव्याहृतं भविष्यतीति तत्राह—**नच विनाश इति** । स्पर्शवान्वेगवांश्च योऽनिलस्तस्य संच-
लनेन यो प्रज्वलज्ज्वलनस्तस्य यो ज्वालाकलापस्तस्येति विग्रहः । अयमभिसंधिः । घटादिपार्थिववय-
विना तेजसयोगे सत्यस्याद्याघातान्नोदनात् वा परपरया तदारम्भकेषु परमाणुषु कर्माण्युत्पद्यन्ते तेभ्यो
विभाग विभागेभ्यो द्रव्यारम्भकसंयोगनाशस्ततश्च द्यणुकमारभ्यान्त्यावयवविपर्यन्तं द्रव्याणां विनाश तस्मिन्
विनष्टे परमाणुष्वभिसंयोगादौष्ण्यापेक्षाद्रूपरसगन्धस्पर्शानां विनाश पुनरन्यस्मादभिसंयोगादौष्ण्यापेक्षात्पा-
कज्ञरूपादयो जायन्ते तदनन्तरं च भोगिनार्मदृष्टापेक्षादात्माणुसंयोगादणुषु कर्मोत्पत्तौ तेषां परस्परसंयोगाद्ब्रह्म-
णुकादिप्रक्रमेण कार्यद्रव्यमुत्पद्यते तत्र च कारणगुणप्रक्रमेण रूपाद्युत्पत्तिरिति पीलुपाकवादिप्रक्रिया । तथाच
स्पर्शवद्देगवदभिसंयोगो द्रव्यासमवायिकारणसंयोगनाशहेतुरिति । नन्वविनष्ट एव कार्यद्रव्ये रूपादिमात्रस्यैव
निवृत्तिरपरस्य चोत्पत्तिः किं न स्यादिति तत्राह—**अन्यथेति** । अथवा तादृशज्वालासपको बहिष्ठावय-
वानां न पुनर्घटान्तरादियवानां तत्कथमान्तरावयवसंयोगनाश इति तत्राह—**अन्यथेति** । उल्ललन ऊर्ध्वच-
लनम् । विरुद्धधर्मसंसर्गादपि द्रव्यान्तरमेवावसीयत इत्यभिप्रेत्याह—**मृद्विति** । तदेतदूषयति—**मैवमिति** ।
स एवायमिति प्रत्यभिज्ञानात्तावदामपकावस्थयोरैक्यमवगम्यते ततस्तद्विरुद्धतया कालात्ययापदिष्टमनुमानजा-
तमित्यैक्यमेव युक्तम् । **तदाधेयानिपाततः** । यदि हि पाकसमये चुल्लयादीनां विनाशोत्पादौ स्याता तदा
तदन्तराकाले सदुपरिस्थितस्थाल्यादीनां निपातः स्यान्मुद्रादिप्रहारे तथादर्शनात् । इतश्चैक्यमेव युक्तं
संख्याप्रमाणयोरैक्यात् यावन्तो यत्परिमाणाश्च घटा आमपाके निक्षिप्तास्तावन्तस्तत्परिमाणा एव च घटा-
पक्ता अपि दृश्यन्ते । अपूर्वोत्पत्तौ हि कतिभिश्चित्परमाणुभिरधिका वा अधिकपरिमाणा वा किमिति नार-
भ्यन्ते । यत्तु पाकानुपपत्तिर्वाधिकोक्ता तत्राह—**अन्यथेति** । द्रव्यविनाशव्यतिरेकेणापि सच्छिद्रत्वादवय-
विद्रव्याणां ज्वलनावयवानामान्तरेण्यनुप्रवेशासंभवेन पाकोपपत्तेरिति संग्रहश्लोकार्थः । तस्मिन् विवृणोति—
स एवेत्यादिना । यथाहि सलिले विनष्टेषु बुद्बुदेषु बुद्बुदान्तराणां चोत्पत्तौ न तद्देशत्वादिनियमस्तथेहापि
स्यात् पूर्वस्य विनाशात्, न त्वेवमस्तीत्याह—**तद्देशत्वेति** । अथ किमिति सच्छिद्रतावयविनामिति तत्राह-
अन्यथेति । यथाहि सलिलस्यन्दनादिमात्रात् तद्वदनाशस्त्वयाङ्गीक्रियते तथा दहनानुप्रवेशेपि सच्छिद्रेषु

ज्ञात । मृदुकठिनतालक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गस्याप्यन्तरेणावयविनाशं छायातपविनिहितपट-
वदुपपत्तेः । नच वेगवद्द्रव्याभिघातमात्रादवयविनाशः । प्रबलपवनाभिमुखनिहितघटा-
देरपि विनाशापत्तेः ।

नियतहेतुभावकुलालादिव्यतिरेकेण घटजन्मासिद्धेश्च । अन्यथा शब्दे सुखादयोऽप्याश्र-
यविनाशविनाश्याः, कार्यत्वे सति विशेषगुणत्वात् घटरूपादिवदित्यपि स्यात्, प्रत्यभि-
ज्ञाविरोधस्तु प्रकृतेऽपि समानः । नचैवं पिठरकुहरसंचारितण्डुलानामनलसंपर्केऽप्यनाशप्र-
सङ्गः । परिमाणभेदस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वाद्विरोधिप्रत्यभिज्ञाभावाच्च । नच स एवायमिति
प्रत्यभिज्ञाविरोधः प्रदीपेऽपि तुल्यः । न्यूनाधिकपरिमाणभेदस्य तत्र प्रत्यक्षेणोपलम्भान्
तैलवर्त्यमिसंयोगानां च प्रतिक्षणं भेदेन सामग्रीभेदाच्च कार्यभेदोपपत्तेः, तत्र प्रत्यभि-
ज्ञायाः सादृश्यविषयतयान्यथासिद्धेः । नचैकत्र प्रत्यभिज्ञाया अन्यथासिद्धौ सर्वत्र
तथाभावः । बाधाबाधाभ्यां तद्व्यवस्थोपपत्तेरन्यथातिप्रसङ्गान् ।

तस्मात्कारणगुणप्रक्रमो न विदुषां परितोषायेति सिद्धम् । कारणत्वानिरुक्तेश्च ।

पाकोपपत्तेर्न द्रव्यनाश इति भावः । विरुद्धधर्मसंसर्गं परिहरति—मृदुकठिनेति । यद्यपि छायातपविनि-
हितपटस्यापि पाको वैशेषिकैरङ्गीक्रियते, तथापि न विरुद्धसंस्पर्शवत्त्वेनावयविनो भेदोभिमतः, अवयविने
एकत्वेन प्रत्यभिज्ञानादिति भावः । यस्तु द्रव्यविनाशहेतुरुक्तः सोऽप्यन्यथासिद्धत्वादसिद्ध इत्याह—नचेति ।

अथ तेजस एवायं स्वभावः यत्पूर्वव्यूहविनाशेन व्यूहान्तरोत्पादनं, तथाहोदयन—‘इदं हि तेजसो
वेगातिशयः स्पर्शातिशयो वे’त्यादि । तदसत् । मुशलाभिघातेन तदभावप्रसङ्गात् । तेजस इत्येतदपि चानै-
कान्तम् । नहि चाक्षुषं चान्द्रं वा तेजो घटादि पाचयतीत्यनुमन्यन्ते । तस्माद्यत्र प्रबलं विनाशप्रत्यायकमस्ति
तत्र विनाशो नान्यत्रेत्यमेव पन्थाः, नतु तेजस्त्वमिति युक्तमुत्पत्त्याम् । किंच घटाद्युत्पत्तौ कुलालादयश्च-
ेतनविशेषाश्चक्रचक्रवरादयश्च हेतवो लोकप्रसिद्धास्तदभावे कथमामपाके कलशाद्युत्पत्तिः, नियतहेतुव्यतिरे-
केण च तदुत्पत्तावैकस्मिकतापातादित्याह—नियनेति । यदि चैवमवावित्प्रत्यभिज्ञापरिप्रापितेऽपि वस्तु-
तत्त्वेऽनुमानाभासदुर्मदेन कश्चिदनाश्यासी स्यात्तमिति प्रसङ्गाङ्कुरेण वक्ष्यति—अन्यथेति । आश्रयविनाश
आश्रयोत्पत्तेरयुपलक्षणार्थः, तथाचाभाससमानयोगक्षेमं प्रथमानुमानमिति भावः । अथ तत्र प्रत्यभिज्ञा-
विरोधमेव पुरो निदध्यात्तत्राह—प्रत्यभिज्ञेति । स्वमते त्वतिप्रसक्तिं परिहरति—नचैवमिति । प्रत्य-
भिज्ञाप्रामाण्येऽप्यतिप्रसक्तिं वारयति—नचेति । तत्र सप्रतिपन्नं द्रव्यान्यत्व, सामग्रीभेदश्च, अतस्तत्र युक्ता
सादृश्यविषयतयान्धासिद्धिः, इह तु न तथा बाधकमस्ति, प्रत्यभिज्ञात्वेन च बाधकानुमानमिति प्रसङ्गापरा-
द्धान्ताभ्यां वस्तुमिल्यर्थः । एवमपि न्यायपदवीपरिप्रापितमश्रद्धान् किरणावलीकारोऽनुमिमे ‘घटादिद्रव्ये-
ष्वमिसंयोगाः नियमेन द्रव्यारम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागजनकक्रियाहेतवः अमिसंयोगत्वान्मूपांमिसंयोगव-
दि’ति । तदसत् । उदकाकाशाद्यमिसंयोगेनैकान्त्यात्, पार्थिवाग्निसंयोगत्वादिति विशेषणं विपक्षे बाध-
काभावात् शङ्कितप्रयोजकता, प्रत्यभिज्ञाविरोधश्च निर्वहते । अन्यदपि तदीयमनुमानद्वयमाचार्येण प्रत्यभि-
ज्ञाविरोधातिप्रसङ्गाभ्यां निरस्तमेवेत्यलम् ।

उपसहरति—तस्मादिति । किंच कारणत्वमेव यदा दुर्निरूपणं तदा कारणविशेषतया परमाज्वाद्यनु-
मानमसंभवि, नच जात्युत्तरता, ब्रह्मणः कारणत्वानङ्गीकारात्, वियदादिविवर्ताधिष्ठानमात्रत्वात्, नहि शु-
क्त्यादि रजतं प्रति कारणमिति प्रसिद्धिरस्ति, अधिष्ठानत्वमप्यनिर्वाच्यप्रतियोगिकत्वादिनिर्वाच्यमेव मृदादावपि
चि ४०

तथाहि किमिदं कारणत्वं किं पूर्वकालभावित्वं १ किं वा नियतप्राक्कालसत्त्वं २ सहकारिवैकल्यप्रयुक्तकार्याभाववत्त्वं वा ३ अन्वयव्यतिरेकवज्जातीयत्वं वा ४ सामर्थ्येकदेशत्वं वा ५ व्यापारवत्त्वं वा ६ यदनभ्युपगमे नित्यसत्त्वासत्त्वयोरन्यतरप्रसक्तिस्तद्वा ७ । नाद्यः । रासभस्यापि धूमादिकारणत्वप्रसङ्गात् । न द्वितीयः । 'कालस्याहेतुतापत्तेर्नाधितोन्योन्यसंश्रयात् । स्वात्मवृत्तेरयुक्तत्वान्नियतत्वानिरुक्तिः' ॥ ५३ ॥ कालाव्याप्तेः कालस्य कालान्तराभावात् । नचौपाधिकं कालस्य पौर्वापर्यम् । इतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गात् । कालपौर्वापर्यं उपाधिपौर्वापर्यं तत्पौर्वापर्यं कालस्य तथात्वमिति । उपाध्यन्तराधीनमुपाधेः पौर्वापर्यं नतु कालाधीनमिति चेत् । न । युगपदनन्तोपाध्यवस्थानप्रसङ्गात् । नचैवमस्त्विति वाच्यम् । प्रमाणाभावात्, व्यवहारस्य मायामयत्वेनोपपत्तेः, कल्पकाभावाच्च । अन्यथा तुदुपाधेरेवातीतादिव्यवहारोपपत्तौ कालापलापप्रसङ्गात् । उपाधिभेदेपि किञ्चिदुपाधिविशिष्टस्य कालस्यान्योपाधिविशिष्टे काले न वृत्तिर्येन कालस्य पूर्वकाले भावित्वं स्वात्मनि वृत्तिविरोधात् । नहि कुण्डलिनि देवदत्ते स एव दण्डविशिष्टो वर्तते । काचेयं नियतिः किं तस्मिन्सत्येव भावः १ अनन्यथासिद्धत्वं वा २ तत्तत्कार्यानुगुणतया प्राक्कालसत्त्वं वा ३ तस्मिन्सति भाव एव वा ४ । नाद्यः । रासभस्यापि धूमविशेषं प्रति नि-

निरूप्यमाणं कारणत्वमेवंविधाधिष्ठानत्वमेव । एतादृशाधिष्ठानत्वविवक्षया च 'स कारणं करणाधिपाधिप, कारणत्वेन चाकाशादिष्वित्यादिश्रुतिसूत्रभाष्यादौ ब्रह्मणि कारणशब्दप्रयोग इति हृदि निधाय कारणत्वं खण्डयति—**कारणत्वेति** । कारणत्वानिरुक्तेश्च न कारणगुणप्रक्रमो विदुषा परितोषायेत्यन्वयः । अङ्कुराजनलक्षणकार्याभाववत्त्वमतत्कारणस्याप्यस्तीत्युक्तम्—**सहकारीति** । जातीयपदं व्यक्तिसंग्रहार्थम् । **यदनभ्युपगम इति** । नित्यसत्त्वासत्त्वयोरन्यतरप्रसक्तिनिवारकं चेत्तर्था । यस्य मृदादेः कारणत्वेनाभिमतस्यानभ्युपगमे निर्हेतुकतया भावत्वे सति खादिवत् घटादेः सत्त्वमभावत्वे सति शशविषाणादिवदसत्त्वं च प्रपद्यते तन्मृदादिकारणमिति भावः । **रासभस्यापीति** । अकारणस्यापि गर्दभादेर्धूमादिपूर्वभावित्वमस्तीति तस्यापि धूमादिकारणत्वप्रसङ्गादतिव्याप्तिरित्यर्थः । नियतप्राक्कालसत्त्वमिति द्वितीयपक्षेपि दूषणानि श्लोकेन सगृह्णाति—**कालस्येति** । नहि कालस्य कालभावित्वमस्ति कालस्यैकत्वेन कालान्तराभावात् । अथौपाधिकं कालभेदोस्ति तथाचोपाधिपौर्वापर्याभ्यामुपहितकालपौर्वापर्यमिति तत्राह—**नाधित इति** । नाप्युपाधितं पौर्वापर्यं कुत, अन्योन्यसंश्रयात् । उपाध्यन्तरेपि पौर्वापर्यं किमुपाध्यन्तूरात् किंवा पूर्वापरकालसंबन्धात् । नाद्यः । अनवस्थानात्, तैरेव चार्थेषु पूर्वापरदिव्यवहारसिद्धेः, कालवैयर्थ्याच्च । द्वितीयेऽन्योन्याश्रयः । कालपौर्वापर्यादुपाधिपौर्वापर्यम् उपाधिपौर्वापर्याच्च कालपौर्वापर्यमित्यर्थः । यद्विच किञ्चिदुपाधिविशिष्टकालेनोपाध्यन्तरविशिष्टकालसवन्धादस्ति कालपौर्वापर्यमिति मतिः । तदा विशेष्याश आत्माश्रयत्वं स्यात्तच्चायुक्तं लोके तथाऽदर्शनादित्याह—**स्वात्मेति** । तव नियतत्वानिरूपणाच्च न तद्विशिष्टलक्षणमित्याह—**नियतत्वेति** । श्लोकं विवृणोति—**कालाव्याप्तेरित्यादिना** । स्वात्मवृत्तेरित्येतद्विवृणोति—**उपाधिभेदेपीति** । स्वात्मवृत्तिविरोधमेवोपपादयति—**नहि कुण्डलिनीति** । अन्यदूषणं विवृणोति—**काचेति** । प्राक्कालसत्त्वमाकाशादेरप्यस्तीति कार्यानुगुणतयेत्युक्तम् । नच प्रथमचतुर्थयोः पौनरुक्त्यम् । धूमाग्नोरन्ययोगव्यवच्छेदेऽप्ययोगव्यवच्छेदाभावात् । **रासभस्येति** । यद्यपि धूमजातीयस्य रासमे सत्येव भाव इति नास्ति, तथापि तदानीमुत्पन्नधूमविशेषस्यैवंभावोस्तीत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः । एतदेव विशदयति—

यतत्वापत्तेः, स्वसत्तायां सत्यामेव जायमानधूमविशेषं प्रति तस्यापि नियतत्वान् । न द्वितीयः । रासभाकाशादेरपि तथात्वापत्तेः । स्वकारणसत्त्वेन नित्यविभुतया च तेषां सन्निधिर्नैतन्नन्यथासिद्ध इति चेत्, तत्किं स्वकारणसन्निधिप्रयुक्तसन्निधीनि बीजधरणी-धामसलिलानीत्यकारणान्येवाङ्कुरोत्पत्तौ किं वा शब्दसुखाद्युत्पत्तौ नित्यविभुस्वभावा वि-यदात्मादयः । नापि तृतीयः । प्राक्कालसत्त्वातिरिक्तानुगुणत्वस्याप्यनिरूपणान् । न च-तुर्थः । बीजादेरकारणत्वप्रसङ्गात् । नहि तस्मिन्सति भाव एवाङ्कुरादेः ।

सहकारिमध्यमध्यासीने तस्मिन्सति भवत्येवेति चेत् । मैवम् । रासभस्यापि कदाचित्सहकारिमध्यमध्यासीनतासंभवान् । सहकारिवैकल्यप्रयुक्तकार्याभाववत्त्वं कारणत्वमिति तृतीयोपि न । 'हेतुसाकल्यरूपायां सामग्र्यां तदसंभवात् । कारणत्वानिरुक्तौ च सहकार्यनिरूपणात्' ॥ ५४ ॥ सामग्र्या अकारणत्वप्रसङ्गान् तस्याः सहकारिवैकल्यप्रयुक्तकार्याभाववत्त्वाभावात् सहकारिसकलताया एव सामग्रीत्वान् । किंच सहकरोतीति सहकारि कारणान्तरं तथा च कारणत्वस्यैवाद्याप्यनिरुक्तेरात्माश्रयः । नापि चतुर्थः । 'जातेरहेतुतापत्ते रासभेऽतिप्रसक्तितः । गगनादिषु चाव्याप्रेरन्वयादेरयोगतः' ॥ ५५ ॥

स्वसत्तायामिति । अनन्यथासिद्धत्वमिति पक्षेपीदमेव दूषणमाह—न द्वितीय इति । नन्वनन्यथासिद्ध इति कोर्थ अन्यथासिद्धो न भवतीति, तथाच कारणत्वं निश्चितत्वं वा विना सिद्धो निष्पन्नो ज्ञातो वा न भवतीत्युक्तं भवति, नचैवं रासभ आकाशो वा, एकस्य स्वकारणप्रयुक्तसन्निधिवत्त्वात्परस्य च विभुतयाऽवर्जनीयसन्निधित्वं ततो नातिव्याप्तिरिति शङ्कते—**स्वकारणसत्त्वेनेति ।** तत्किं स्वकारणप्रयुक्तसन्निधि-विभुत्वे एव वान्यथासिद्धिं किं वाभ्यामनुमीयमाना काचित् । नोभयथापि, बीजादीनामङ्कुराद्युत्पत्तावाकाशादीना च शब्दाद्युत्पत्तावुक्तरूपत्वभावेपि अनन्यथासिद्धत्वादिति दूषयति—**तत्किमित्यादिना ।** धाम तेजः । तत्तत्कार्यैर्भादि तृतीयपक्षं दूषयति—**नापीति । अनिरूपणादिति ।** यथा काललक्षणकारणेपि सम्भवति तथा निरुक्तेरशक्तेस्तन्निरूप्यमानुगुण्यमपि दुर्निरूपणमतो सिद्धिरित्यर्थः । प्राक्कालसत्त्वमात्रस्य रास-भाकाशादावप्यविशिष्टत्वादित्यपि द्रष्टव्यम् । सति तस्मिन्भवत्येवेति चतुर्थपक्षेऽव्याप्तिमाह—**बीजादेरिति ।**

ननु यद्यपि बीजमात्रस्यैवंविधनियमो नास्ति तथापि सहकारिममेतस्यास्ति कदाचिदपि च तदन्वयो यत्र तत्र प्रतिनियतमुच्यते इति शङ्कते—**सहकारीति ।** तत्र किं सहकारिमभ्यानेवेश एवैवंविधनियमोऽतिरिक्तो वा । नान्त्य, अनिरुक्ते । आद्येऽतिव्याप्ते । गर्दभादेरपि धित्यादिसहकारिमभ्यानेवेश एवैवंविधनियममात्रेणाङ्कुर प्रतिनियतत्वापातादिति दूषयति—**मैवमिति ।** एव नियतत्वखण्डनेन द्वितीयं कारणलक्षणं दूषयित्वा तृतीयं दूषयति—**सहकारीति ।** तत्रापि दूषणानि सगृह्णाति—**हेत्विति ।** कारणपौष्कल्यरूपा या सामग्री सापि तावद्बीजादिवत्कारणमेव । अथच तत्र लक्षणं न संभवति तस्या सत्यां सहकारिवैकल्यस्यैवासंभवात् । किंच सहकरोतीति सहकारी कारणविशेषः तथा केनेत्यपेक्षाया च कारणेनेति वचनीयं तथाचात्माश्रयत्वमित्यर्थः । विवृणोति—**सामग्र्या इति ।** अन्वयव्यतिरेकवज्जातीयत्वमिति चतुर्थं पक्षे दूषणानि सगृह्णाति—**जातेरित्यादिना ।** नहि जातेर्जातिरस्ति येन तज्जातीयतया कारणता तस्याः स्यादित्यव्याप्तिः । किंच सत्त्वादिकमादाय गर्दभादेरपि बीजादिजातीयतयाङ्कुरादिकारणतापातादित्यव्याप्तिः । अथ द्रव्यत्ववान्तरजात्या साजालं विवक्ष्येत तदाकाशादावभावादव्याप्तिः, व्यतिरेकाभावाच्चेत्यपि द्रष्टव्यम् ।

जातेरकारणत्वप्रसङ्गात् जातेर्जातिमत्त्वाभावात् द्रव्यत्वादिना रासभादेरप्यन्वयव्यतिरेकवद्ब्रह्मादिजातीयत्वेन धूमादिकारणत्वप्रसङ्गात् । द्रव्यत्वावान्तरजातीयत्वं विवक्षितमिति चेन्न । कालाकाशदिशामकारणत्वप्रसङ्गात् । तेषां द्रव्यत्वावान्तरजातिविधुरत्वात् । कौ चेमावन्वयव्यतिरेकौ किं कालत उत देशत उतोभाभ्याम् । आद्ये काले तदभावादव्याप्तिः । द्वितीये तु देशे तदभावः । न तृतीयोपि । उभयोरप्युभयाभावात् ।

सति भावोऽसत्यभाव एव ताविति चेन्न । तदभावेपि तृणारणिमणीनां दहनहेतुत्वाङ्गीकारात् । तेषामेकैकाभावेपि दहनदर्शनात् । तत्रापि तज्जन्यदहनानामवान्तरजातिभेदान्न व्यभिचार इति चेन्न । जातिभेदे प्रमाणाभावात् । न तावत्प्रत्यक्षप्रमाणम् इन्द्रियसन्निकर्षमात्रेण सुनिपुणैरप्यनुपलभ्यमानत्वात् । ननु तृणारणिमणिप्रभवत्वज्ञानसंस्कृतेन्द्रियसंनिकर्षाधिगम्योयं जातिभेदः विशिष्टमातृपितृप्रभवत्वज्ञानसंस्कारसचिवलोचनगोचर इव ब्राह्मणत्वमिति चेत् । न । तेषां व्यभिचारादेव जनकत्वासिद्धेः । जातिभेदालिङ्गितव्यक्तिविशेषं प्रति न तस्य व्यभिचार इति चेन्न । सिद्धे जातिभेदे जनकत्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ च जातिभेदसिद्धिरिति तरेतराश्रयत्वप्रसङ्गात् ।

. ननु कार्यविशेषेण तृणादिकारणविशेषप्रभवाणां बहूनां वैजात्यानुमानमस्तु । तथाहि प्रदीप एव प्रासादोदरव्यापकं प्रभामण्डलमारभते न तथा ज्वालाजटिलोपि वह्निर्नतरां च कारीष इति कुसुमाञ्जलिकार इति चेन्न । एकजातीयत्वप्राहिप्रत्यक्षप्रतिहतस्यानुमानस्यानुत्थानात् । न च प्रत्यक्षयोग्यं वैजात्यम् । प्रत्यक्षव्यक्तिवृत्तिसामान्यस्याप्रत्यक्ष-

तथान्वयव्यतिरेकयोरपि कालतो देशतो वा दुर्निरूपणादयुक्तमिदं लक्षणमित्यर्थः । सप्रहं विवृणोति विज्ञदग्रन्थेन—जातेरिति ।

ननु न देशत कालतो वान्वयव्यतिरेकावभिमतौ किं तर्हि तस्मिन्सति भावोऽसत्यमप्य एवेति यौ नियमौ ताविति शङ्कते—सतीति । तृणादिषु नियमाभावं विवृणोति—तेषामिति । नहि दहनस्तृणाभावे न जायते, मणेरपि जायमानत्वात् । नापि मणेरभावेऽभावः, अरणेरपि जायमानत्वात् । अथ च तेषामन्वयव्यतिरेकौ स्त कारणत्वप्रसिद्धेरतोऽव्याप्तिरित्यर्थः । अत्र कुसुमाञ्जलिकारेण तृणादिप्रभवाम्निष्वयवान्तरवैजात्यमभ्युपगम्य कारणवैचित्र्ये कार्यवैचित्र्यं समर्थितं तथाच तत्तद्विशेषं प्रति तृणादीनामुक्तनियमोस्तीति शङ्कते—तत्रापिति । प्रत्यक्षतो वैजात्यमनुपलब्धिपराहतमित्याह—सुनिपुणैरिति । ननु यद्यपीन्द्रियसन्निकर्षमात्रात् जायते तथाप्यभिव्यज्जकान्तरसचिवप्रत्यक्षेण शक्यं ज्ञातुमिति दृष्टान्तदर्शनपूर्वकं शङ्कते—नन्विति । तत्र वक्तव्यं किं तृणादिप्रभवत्वमग्निमात्रदर्शनादवगम्यते किं वा जातिभेदाऽऽलिङ्गिताभिदर्शनात् । आद्येऽसिद्धिः । अग्निमात्रं प्रति तेषां परस्परव्यभिचारादित्याह—न तेषामिति । द्वितीयं शङ्कते—जातिभेदेति । तर्ह्यन्योन्याश्रयः प्रथमतोऽग्निषु जातिभेदे ज्ञाते तद्दर्शनात्तृणादिप्रभवत्वज्ञानं तज्ज्ञानाच्च जातिभेदज्ञानमिति परिहरति—न सिद्ध इति ।

ननु न प्रत्यक्षेण जातिभेदाधिगतिः किंतु लिङ्गेनेति शङ्कते—नन्विति । कार्यविशेषमेव समर्थयते—तथाहीति । कारीषो गोमयेनोद्भवः । प्रदीपप्रभामण्डलं कारीषादिकारणाद्विभिन्नजातीयकारणजन्यं तद्विभिन्नजातीयकार्यत्वाद्वदवदित्यनुमानाज्जातिभेदसिद्धिरित्यर्थः । नन्वतीन्द्रियजातिभेद एवानुमीयते तेन न प्रत्यक्षपराहतिस्तत्राह—नचेति । यदि हि प्रत्यक्षाश्रयापि जातिरप्रत्यक्षा, घटत्वादे प्रत्यक्षत्वे कुत

त्वायोगात्, प्रासादोदरव्यापिप्रभामण्डलादिकार्यभेदस्य तत्तत्सहकारिभेदादन्यथोपपत्तेश्च, एकजातीयेपि मृदादौ तत्तत्सहकारिसाहित्येन तत्तद्विजातीयघटशरावादिकार्योपलब्धेः । एकजातीयादपि घटाद्विजातीयानां रूपादीनामुत्पत्तेरभ्युपगमाच्च । नापि पञ्चमः सामग्र्या दुर्निरूपत्वेन तदेकदेशस्यापि दुर्निरूपत्वात् । तथाहि 'अतिव्याप्तेः स्ववृत्तित्वाद्भेदेऽभेदेऽयसंभवात् । कार्यस्य हेतुभिः सिद्धेर्वृथा साकल्यकल्पना' ॥ ५६ ॥

किं वस्तूनां साकल्यं सामग्री किं वा कारणानाम् । नाद्यः । अकारणसाकल्येपि प्रसङ्गात् । द्वितीये कारणत्वस्याद्यानिरुक्तेरात्माश्रयः । कारणसाकल्यं च कारणानां स्वरूपमतिरिक्तं वा । आद्ये व्यस्तेभ्योपि कार्यमुत्पद्येत । द्वितीये नित्यत्वे साकल्यस्य सदा कार्योत्पादः, अनित्यत्वेपि व्यस्तानामेव साकल्यकारणत्वे साकल्यस्यापि सदातनत्वेन कार्यस्यापि सदात्पादः । समस्तानां हेतुत्वे चात्माश्रयः अनवस्था वा । साकल्यजनकेभ्य एव च प्रधानकार्योत्पत्तेः किमजागलस्तनायमानेन साकल्येन । एतेन, कारणानामन्योन्यवैशिष्ट्यं सामग्रीति प्रत्यादिष्टम् । न च कारणसन्निधिः सामग्री । तदनिर्वचनान् । न तावदेककालत्वं सन्निधिः । काले तदभावान् ।

नाप्येकदेशत्वं देशे तदभावान् । नोभयं उक्तदोषानुषङ्गात् । नापि संयोगसमवायौ

आश्वास, व्यञ्जकस्य च पूर्वमेवोन्मूलितत्वादिति भावः । विपक्षे बाधकविधुरत्वाच्छङ्कितोपाधिना च कार्यभेदस्य प्रकारान्तरेणाभ्युपपत्तेरित्याह—प्रासादेति । न केवलमुपपत्तिर्दृश्यते च तत्र तत्र एकजातीयात्सहकारिभेदमुताद्विलक्षणद्रव्यस्य विलक्षणगुणस्य चोत्पत्तिस्ततश्चानैकान्तिकतेत्याह—एकजातीयेत्यादिना । सामग्र्येकदेशत्वमिति पक्षं दूषयति—नापि पञ्चम इति । तत्र सामग्रीदूषणानि सगृह्णाति—अतिव्याप्तेरित्यादिना । किं वस्तूनां साकल्यं सामग्री किं वा कारणानाम् । आद्ये अङ्कुराद्यजनकानामपि शिलाशकलादीनामपि साकल्यस्याङ्कुरादिसामग्रीत्वप्रसङ्गादितिव्याप्तिः । द्वितीये कारणज्ञानात्सामग्रीज्ञानं सामग्रीज्ञानाच्च कारणज्ञानमित्यन्योन्याश्रयादित्यर्थः । किंच तत्साकल्यं कारणेभ्यो भिन्नमभिन्नं वा । भिन्नत्वे नित्यं चेत्सदा कार्यजन्मप्रसङ्गः । अनित्यत्वेपि व्यस्तेभ्यः समस्तेभ्यो वा तस्य नोत्पत्तिसंभवः । आद्ये कार्यसामस्यस्यो सदा जन्मप्रसङ्गः । द्वितीये साकल्यात्साकल्योत्पत्तिरित्यात्माश्रयात् । अभिन्नत्वे तु प्रत्येककारणेभ्योपि कार्योत्पत्तिप्रसङ्गात् तावन्मात्रत्वात्साकल्यस्य, तथाच सदा कार्यजन्मप्रसङ्गः ।

किंचोत्पन्नायाः सामग्र्या उत्पादकानि यानि कारणानि तैरेव कार्योत्पत्तिसिद्धे वृथा तेषां साकल्यकल्पनेति श्लोकार्थं विवृणोति—किं वस्तूनामित्यादिना । व्यस्तानामेवेति । यदि व्यस्तान्येव कारणानि साकल्यमुत्पादयन्ति तदा बीजादेरनित्यत्वेपीश्वरादेरनित्यतया सदा साकल्योत्पादात्कार्यस्यापि सदातनता स्यादित्यर्थः । ननु न व्यस्ता अपितु सर्वे सभूय साकल्यं जनयन्तीति तर्हि साकल्यात्साकल्यमुत्पद्यते इति वचनीयं तथाचाभेदे भेदे चात्माश्रयानवस्थे स्यातामित्याह—समस्तानामिति । समुदिताममित्यपि द्रष्टव्यम् । उत्तरार्धं व्याचष्टे—साकल्येति । सामग्रीलक्षणान्तरेषु क्लृप्तदूषणमतिदिशति—एतेनेति । तत्रापि वैशिष्ट्यं भिन्नमभिन्नं वेत्यादिदोषाणां समानत्वादित्यर्थः । ननु कारणानां योय सन्निधिः सैव सामग्री नेत्याह—नचेति । तयोरिति । यदि हि कारणानां संयोगः सामग्री तदा संयोगस्येतरकारणं संयोगाभावात्सामग्र्यन्तः पातित्वाभावेनाकारणत्वं स्यादेवं समवायेपीत्यर्थः ।

ननु कारणानामस्ति कश्चिच्चरमो व्यापारो यदनन्तरं कार्यमुत्पद्यते सा सामग्रीति तत्राह—नापीति ।

तयोरेवाकारणत्वप्रसङ्गात् । नाग्येककार्यकारणत्वं सन्निधिः । कार्यकारणभावस्यैवाप्रसिद्धेरात्माश्रयात् । नापि कारणानां चरमो व्यापारः सामग्री, व्यस्तानां समस्तानां वा तज्जनकत्वे पूर्वोक्तदोषानुषङ्गात् । अपिच व्यापारे जनयितव्ये कारकाणि व्यापारवन्ति निर्व्यापाराणि वा । आद्येऽनवस्था । द्वितीये कार्यमेव प्रधानं तथा कुर्वन्तु कृतमन्तरा व्यापारेण । व्यापारस्य च सव्यापारस्य जनकत्वेऽनवस्था निर्व्यापारत्वे च कारकाणामेव तथात्वमस्तु किं व्यापारेण । यदनन्तरं कार्यं भवत्येव सा सामग्रीति चेत् न विभागानन्तरं पूर्वसंयोगनाशस्यावश्योत्पत्तेर्विभागस्यापि तथा सामग्रीत्वप्रसङ्गात्, एवं कर्मणो विभागेऽन्यतन्तुसंयोगस्य च पटे तत्त्वप्रसङ्गाच्च । नापि षष्ठः । ‘व्यापाराव्यापनादात्माश्रयत्वादनिरुक्तितः । समवायेऽस्य हेतुत्वे पूर्वदोषानुषङ्गतः’ ॥ ५७ ॥ चरमव्यापारस्य व्यापारान्तरविधुरस्याकारणत्वप्रसङ्गात् । तज्जन्यस्तज्जन्यजनको व्यापार इति जनकत्वमन्तर्भाव्य व्यापारनिरुक्तेरात्माश्रयत्वाच्च । व्यापारवत्त्वं च व्यापारसमवायित्वमुत तज्जनकत्वम् । नाद्यः । यागादेः स्वर्गाद्यकरणत्वप्रसङ्गात् । ध्वस्तस्य यागादेरपूर्वादिव्यापारासमवायित्वात् । नेतरः । आत्माश्रयत्वात् । नापि सप्तमः । ‘असिद्धेः प्रतिबन्धस्य नृशृङ्गादावभावतः । सत्त्वे सतीति चायुक्तं दृष्टान्तादेरसिद्धितः’ ॥ ५८ ॥ निर्हेतुकस्य नित्यसत्त्वासत्त्वाभ्यां प्रतिबन्धासिद्धौ नित्यसत्त्वासत्त्वयोरन्यतरप्रसङ्गस्य दुर्वचत्वात् । अहेतुकत्वेपि प्रागभावस्य नित्यसत्त्वासत्त्वाभावात् शशविषाणस्य नित्यसत्त्वाभावाच्च ।

इमं पक्षं प्रकारान्तरेणापि दूषयति—**अपिचेत्यादिना** । यश्चायं चरमो व्यापारः कारणानां सोपि किं सव्यापारतया जनको निर्व्यापारतया वेति विकल्पः दूषयति—**व्यापारस्येति** । सामग्र्या लक्षणान्तरशङ्कने—**यदनन्तरमिति** । कार्यं कारणे हि सत्येव भवतीति नियमः नत्वसत्येवेति ततो नातिव्याप्तिरिति भावः । तदेतदतिव्याप्त्या दूषयति—**न विभागानन्तरमित्यादिना** । तत्त्वप्रसङ्गादिति । सामग्रीत्वप्रसङ्गादित्यर्थः । व्यापारवत्त्वमिति षष्ठे पक्षे दूषणानि सगृह्णाति—**व्यापारेत्यादिना** । व्यापारस्य व्यापारवत्त्वाभावादकारणत्वप्रसङ्गेनाव्याप्तिः । किञ्च जनकत्वमन्तरेण व्यापारस्य दुर्निरूपत्वादात्माश्रयत्वं स्यात् । किञ्चास्य व्यापारवत्त्वानिरुक्तितश्चासिद्धिर्लक्षणस्य, तथाहि—व्यापारसमवायित्वं व्यापारजनकत्वं वा व्यापारवत्त्वमिति मतुर्पोऽर्थः । उभयत्र समवाये हेतुत्वे च पूर्वदोषानुषङ्गतं अव्याप्तिरात्माश्रयत्वं च पूर्वदोषः । तथाहि यागादेरपूर्वसमवायित्वाभावादव्यापारवत्त्वप्रसङ्गादव्याप्तिः । जनकत्वपक्षे च कारणत्वस्याद्याप्यसिद्धेरात्माश्रय इति श्लोकार्थः । विवृणोति—**चरमेत्यादिना** । अथ किमिति यागादेः स्वर्गाद्यकरणत्वं तत्राह—**ध्वस्तस्येति** । यदनन्युपगमे नित्यसत्त्वासत्त्वयोरन्यतरप्रसक्तित्वमिति सप्तमे पक्षे दूषणानि सगृह्णाति—**असिद्धेरित्यादिना** । यदि हि हेत्वभावस्य नित्यसत्त्वासत्त्वाभ्यां व्याप्तिरवधार्यते ततस्तद्व्यञ्जकत्वं स्यान्न त्वेतदस्तीत्याह—**असिद्धेः प्रतिबन्धस्येति** । तस्यैवोपपादनं—**नृशृङ्गादावभावत इति** । आदिशब्देन प्रागभावो गृह्यते । तथाहि निर्हेतुत्व तु शशविषाणेऽस्यैव च नित्यसत्त्वं नास्ति तथा प्रागभावे निर्हेतौ नास्ति नित्यसत्त्वं विनाशित्वादतो नास्ति व्याप्तिरित्यर्थः । ननु सत्त्वे सति निर्हेतुकत्वमाकाशादौ नित्यसत्त्वेन व्याप्तमिति तत्राह—**सत्त्वे सतीति चायुक्तमिति** । तत्र हेतुर्दृष्टान्तादेरिति । स्वभाववादिनं प्रत्याकाशादेरसिद्धेर्व्याप्त्यसिद्धिरिति भावः । एतमेव श्लोकं व्याचष्टे—**निर्हेतुकस्येत्यादिना** । प्रतिबन्धासिद्धेरेव विवरणम्—**अहेतुकत्वे इत्यादिना** ।

ननु भावत्वे सत्यहेतुकत्वस्य सदातनत्वे व्याप्तिराकाशादौ सिद्धेति चेत् न । अस्याव्याप्तेः स्वभाववादिनं प्रत्यसिद्धेः, भूतचतुष्टयतत्त्ववादिना तेनात्माकाशादीनामनभ्युपगमात् । विपर्ययपर्यवसानाच्च प्रसङ्गस्य । नहि यद्भावत्वे सति सदा सत्त्वानधिकरणं तत्सहेतुकमित्युपसंहारस्थलमस्ति, लोकायतिकं बौद्धं प्रति कार्यकारणभावस्यैवाद्याप्यसिद्धेः । ननु विमतं सहेतुकं प्रागभाववत्त्वाद्यन्निर्हेतुकं न तत्प्रागभाववदात्मवदिति वेदान्तिनं प्रति प्रयोग इति चेन्न । हेतुशब्दार्थानिरुक्तौ सहेतुकत्वस्याप्यसिद्धेरप्रसिद्धविशेषणत्वात् । कारणानिरुक्तौ च व्यापारवत्कारणं कारकमिति कारकलक्षणमप्यपास्तम् । तदेवं कारणलक्षणं दुर्भणम् ।

तथा कार्यलक्षणमपि तत्किं कारणाधीनस्वात्मलाभं १ प्रागभावोपलक्षितसत्तायोगि वा २ प्रागभावप्रतियोगि वा ३ प्रागभाववद्वा ४ प्रागसत्त्वे मृत्युत्तरकालमवन्धि वा ५ । सर्वथा न निरूपणपथमवतरति—‘अनिरुक्तेरतिव्याप्तेरव्याप्तेस्तदसंभवान् । अतिप्रसङ्गतोऽव्याप्तेर्मेतुवर्थानिरूपणान् ॥’ ५९ ॥ न तावदाद्यः । कारणस्यानिरुक्तौ तदधीनस्वात्मलाभस्याप्यनिरुक्तेः । न द्वितीयः । आत्मादीनामपि कार्यत्वप्रसङ्गान् । घटादौ सत्ताया एव प्रागभावेनोपलक्षितत्वात्तस्याश्च तत्र भावान् स्वप्रागभावोपलक्षितसत्तायोगित्वमिति लक्षणविवक्षायामननुगम एव । सत्ताविरहिणः प्रध्वंसस्याकार्यप्रसङ्गाच्च । न तृतीयः । प्रतियोगिशब्देनैकदेशानवस्थानाभिधाने लक्षणस्यासंभवित्वान्, कार्यतत्प्रागभावयोः कारणे वृत्तेः, एककालानवस्थाने तु कालस्यापि कार्यत्वप्रसङ्गात्, कालस्य कालान्तराभावेन प्रागभावेनैकस्मिन्कालेऽनवस्थानात्, घटादेरपि कार्यस्य यत्किञ्चित्प्रागभा-

उत्तरार्थस्य शङ्कामाह—**नन्विति** । दृष्टान्तादेरित्यादिशब्दसङ्गृहीत दूषणमाह—**विपर्ययेति** । यद्धि निर्हेतुकं तद्धि भावत्वे सति सदासत्त्वाधिकरणं स्यादिति तर्कः । तस्य चैवं विपर्यय यद्भावत्वे सति सदा सत्त्वानधिकरणं तत्सहेतुकमिति । नचैवं निर्हेतुकवादिन सप्रतिपन्नस्थलमस्तीत्यर्थः । वेदान्तिनं प्रति व्यतिरेकव्याप्तिं दर्शयन्कारणत्व समर्थयति—**नन्विति** । ममापि तावन्न तात्त्विकमस्ति हेतुत्वं प्रामाणिकमतस्तद्भ्रमसाध्यमप्रसिद्धमित्यर्थः । प्रसङ्गात्कारकलक्षणमपि दूषयति—**कारणानिरुक्ताविति** ।

कार्यकारणात्मको ह्ययं द्वैतवर्गस्तत्र कारणस्य दुर्निरूपत्वान्न तद्वर्गप्राहकप्रमाणैर्विरोधोऽद्वैतश्रुतीनामित्युक्तमिदानीं कार्यवर्गस्य दुर्निरूपतया तद्विषयप्रमाणैर्विरोधो नास्तीति दर्शयितुं कार्यत्वं खण्डयति—**तथा कार्येति** । स्वात्मलाभः सत्तायोगित्वम् । अभावप्रतियोगित्वमभाववत्त्वम् । उत्तरकालसत्त्वं चेत्येतत्सर्वं नित्यस्याप्यस्तीति तद्व्यवच्छेदार्थं पञ्चस्वपि पक्षेषु प्रथमविशेषणानि श्लोकेन दूषणानि सगृह्णाति—**अनिरुक्तेरित्यादिना** । प्रथमपक्षे कारणानिरुक्तौ तदधीनात्मलाभत्वमप्यनिरुक्तमित्यसिद्धिः । द्वितीये त्वात्मादेरपि कार्यत्वप्रसङ्गः । घटादिप्रागभावोपलक्षितसत्तायोगित्वादेकत्वात्सत्ताया इत्यतिव्याप्तिः । अथ स्वप्रागभावोपलक्षितसत्तायोगित्वं विवक्षितं तत्राह—**अव्याप्तेरिति** । स्वशब्दार्थाननुगमादव्याप्तिरित्यर्थः । पूर्वोक्तातिव्याप्तितादवस्थं च तृतीये दोषमाह—**तदसंभवादिति** । तत्रहि प्रागभावप्रतियोगित्वं किं प्रागभावेनैकदेशानवस्थानं किं वैककालानवस्थायित्वम् । आद्येऽसंभवः । प्रागभावकार्ययोरेकस्मिन्कारणे वृत्ते । द्वितीये प्राह—**अतिप्रसङ्गत इति** । अस्ति हि कालस्यापि प्रागभावेनैककालानवस्थानम् । काले वृत्त्यभावादित्यर्थः । तथा प्रागभावेत्यत्र यत्किञ्चित्प्रागभावः प्रागभावत्वेन विवक्षितः, स्वप्रागभावो वा । आद्ये

वेन सहावस्थानादसंभवदोषस्तदवस्थः । स्वप्रागभावेन सहानवस्थाने चात्मादेरपि कार्य-
त्वप्रसङ्गः । तेषां प्रागभावाभावेन तेन सहानवस्थानात् । न चतुर्थः । मतुबर्थस्याधिकर-
णार्थतायामात्मादेरपि कार्यत्वप्रसङ्गात् । तेषामपि सुखादिकार्यप्रागभावाधिकरणत्वात् ।
प्रतियोगिपरत्वे पूर्वदोषानुषङ्गात् । न पञ्चमः । उत्तरकालस्याकार्यत्वप्रसङ्गात् । तस्यो-
त्तरकालसंबन्धित्वाभावात् । अथ नोत्तरकालः कार्यं नित्यत्वात्तस्येति चेत् । न । प्रागभा-
वस्यापि कार्यत्वप्रसङ्गात् । तस्य प्रागसद्रूपत्वात्, किञ्चिच्चापेक्ष्योत्तरकालसंबन्धित्वाच्च ।
प्रागसत्त्वशब्देन प्रागभाववत्ता विवक्षितेति चेत् । न । मतुबर्थानिरूपणात्, कालसंबन्ध-
पदस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च । एतेन नियतोत्तरक्षणवर्ति कार्यमित्यपि परास्तम् । कारणानिरुक्तौ
तदपेक्षया नियतोत्तरक्षणवर्तित्वस्यानिरूपणात्, कालानिरूपणाच्च । न पूर्वोत्तरक्षणभावः
कारणकार्यभावः । तथाहि—‘प्रत्यक्षागोचरत्वेन परत्वादेरलिङ्गतः । स्वरूपतोऽनिमित्त-
त्वादुपाधौ निष्फलत्वतः ॥ ६० ॥ दिवाकरपरिस्पन्दपिण्डसङ्गतिसंभवात् । व्यापिन-
श्चेतनादेव कथं कालः प्रसिद्ध्यति’ ॥ ६१ ॥

न तावत्काले प्रत्यक्षं प्रमाणम् । द्रव्यग्राहकयोश्चक्षुस्पर्शनयोस्तस्मिन् रूपविरहिणि
स्पर्शविधुरे चाप्रवृत्तेः, मनसश्च बाह्येन्द्रियनिरपेक्षस्य बहिरप्रवृत्तेरननुभवाच्च । नाप्यनु-
मानम् । तत्प्रतिबद्धलिङ्गाभावात् । परापरयौगपद्यायौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययाः प्रत्येकं लि-

प्राह—अव्याप्तेरिति । घटादेरपि यत्किञ्चित्प्रागभावेन सहावस्थानात्तेष्वव्याप्तिरित्यर्थः । द्वितीये त्वात्मा-
दावतिप्रसङ्गं वक्ष्यति, स्वशब्दार्थाननुगमीदव्याप्तेः । चतुर्थे प्राह—**मनुबर्थेति** । किं प्रागभावाधिकरणत्वं
प्रागभाववत्त्वं किं वा तत्प्रतियोगित्वम् । आद्ये सुखादिप्रागभावाधिकरणात्मादावतिव्याप्तिः । द्वितीये तु
तृतीयपक्षोक्तदोष इति भावः । पञ्चमपक्षेऽव्याप्तिमनुषङ्गयिष्यति विशदग्रन्थेन । सग्रहं विवृणोति—**नता-
वदित्यादिना** । यत्तद्वक्ष्यतीत्युक्तं तदाह—**स्वप्रागभावेनेति** । यच्चानुषङ्गयिष्यतीत्युक्तं तदाह—**उत्त-
रकालस्येति** । तस्मिन्नेव पक्षेऽतिप्रसङ्गान्तरमाह—**न प्रागभावस्येति** । **वैयर्थ्येति** । प्रागभाववत्त्व-
मित्युक्ते क्वातिव्याप्तिर्योत्तरकालसंबन्धपदेन व्यावर्त्तयेत्यर्थः । एतेनेत्यस्यैव विवरणं—**कारणानिरुक्ता-
विति** । नहि किञ्चिदपेक्षया नियतत्वमपि विवक्षितमतिप्रसङ्गादिति भावः । तत्र काले प्रमाणं दृष्यति
श्लोकेन—**प्रत्यक्षेति** । न तावत्प्रत्यक्षप्रमाणं, रूपादिरहितद्रव्यत्वेन बाह्यत्वेन च बहिरन्त करणागो-
चरत्वात् । नाप्यनुमानं, परत्वादेस्तलिङ्गतत्वाभावात् । ननु तज्जन्यत्वात्परत्वादेः किमिति न तलिङ्गतत्वं तत्राह
—**स्वरूपत इति** । किं कालस्वरूपमात्रं परत्वादिनिमित्तं किं वा तद्विशेषः । नाद्यः । कालस्याविलक्षणत्वेन
विलक्षणपरत्वादेस्ततोनुपपत्तेः । न द्वितीयः । स्वतो विशेषाभावात् । अथौपाधिकस्तत्राह—**उपाधौ नि-
ष्फलत्वत इति** । तैरेवोपाधिभिः परत्वादिव्यवहारसिद्धेर्विफला कालकल्पनेत्यर्थः । ननु दिवाकरपरिस्प-
न्दभेदास्तावदुपाधयः नच तेषां पिण्डैः साक्षात्संबन्धः परिस्पन्दक्रियायां दिवाकरवर्तित्वात्, नचासंबन्धानां
पिण्डेषु व्यवहारजनकत्वमतिप्रसङ्गात्, अतस्तत्संबन्धकतया कालकल्पनेति तत्राह—**दिवाकरेति** । य-
खलु विभुरात्मा परमेश्वरस्तत एव दिवाकरपरिस्पन्दानां पिण्डानां च संगतिसंभवान्न तत्सिद्ध्यर्थमपि काल-
कल्प्य इति श्लोकयोरर्थः ।

यथाकर्मं विवृणोति—**नतावदित्यादिना** । परत्वादेरलिङ्गत इत्यस्य शङ्कामाह—**परापरेति** । तत्र
परापरादिषट्कं किं कालगुणतया स्वसमवायित्वेन तं कल्पयति किं वा तदसमवायिकारणतया किं वा तन्नि-
मित्तकतया । नाद्यः । कालस्य विभुतया पञ्चमात्रगुणतया च तद्गुणकत्वाभावात् । नापि द्वितीयः । द्रव्य-

ङ्गमिति चेत् । न । तेषां निरुपाधिककालनिबन्धनत्वे प्रत्ययवैलक्षण्यानुपपत्तिप्रसङ्गान् । तपनपरिस्पन्दभेदलक्षणोपाधिकवलितकालाधीनत्वे तूपाधिभिरेव तत्सिद्धेः कृतं कालकल्पनया ।

ननु 'तरणिपरिस्पन्दभेदानां युवस्थविरादिपिण्डैः स्वतः संबन्धासंभवेन दिवसमामादिविशिष्टप्रत्ययजनकत्वायोगात्पिण्डचण्डरोचिःपरिस्पन्दयोः परंपरासंबन्धसंपादकः कालः स्वीकर्तव्यः । सच संबन्धः संयुक्तसंयोगिसमवायात्मा । नच तत्र पृथिव्यादिचतुष्टयं हेतुः तस्य तपनपिण्डाभ्यां नियमेन संसर्गाभावान् । नच दिनकरनिकरस्तथा । तदभावे गृहनिखातनिध्यादिषु मासाद्यवच्छेदप्रतीतेः । नचाकाशात्मानौ तथा । विशेषगुणवत्त्वात् पृथिव्यादिवन् । नचाव्यापकत्वमुपाधिः । एकस्य व्यापकस्य संबन्धोपनायकत्वे व्यापकान्तरस्य तदहेतुतया व्यतिरेकव्याप्तौ साध्याव्यापकत्वेनानुपाधित्वान् । ततः परिशेषात्पिण्डसंयुक्तः कालस्तपनेनापि संयुज्यमानस्तत्समवेतपरिस्पन्दानां परम्परया पिण्डसंबन्धहेतुः सिद्ध इति लीलावतीकारः ।

स्यासमवायिकारणत्वाभावात् । गुणकर्मणोरेव हि तत्त्वान् । नापि तृतीय । अपेक्षाबुद्धेरेव निमित्तत्वोपपत्तेः । भवतु वा यथातथापि किं कालमात्रं निमित्तं तद्विशेषो वा । नाद्य इत्याह—**न तेषामिति** । द्वितीयेपि किं स्वतो विशेष औपाधिको वा । नाद्य । अत्राद्वान्नात् । द्वितीये प्राह—**तपनेति** । भेदो विशेषः ।

अत्र श्रीवृद्धभोदीरितकालसमर्थनारीतिमुद्रावयति तन्निवर्तकतयोत्तरश्लोकमवतारयितुं—**नन्वेति** । तरणि सूर्यः । अनुभूयते तावदन्वयव्यतिरेकाभ्यां तरणिपरिस्पन्दविशेषाणां युवस्थविरादिपिण्डेषु मामादिविचित्रबुद्धिजननद्वारेण तदुपहितेषु परत्वापरत्वादिवुद्धिजनकत्वं नच तैरसंबद्धानां तत्र बुद्धिजनकत्वं नच साक्षात्संबन्धो रविपरिस्पन्दानां पिण्डैरस्त्यतः तत्संबन्धकतया कश्चिदष्टव्यविलक्षणो द्रव्यविशेष स्वीकर्तव्यः, तस्य च काल इति सङ्गतिः । ननु स्वीकृतेपि तस्मिन्किं तपनपरिस्पन्दां पिण्डेषु समवयन्ति तस्मात्कल्पितोऽयसत्कल्प इति तत्राह—**सच संबन्ध इति** । यद्यपि न साक्षात्संबन्धस्तथापि पिण्डसंयुक्तालसंयोगवति तपने समवेतानां परिस्पन्दानां संयुक्तसंयोगसमवायोक्तिः संबन्ध अतः स्वसंयुक्तवति धर्माणां स्वसंयुक्तवत्स्वन्तरे सकामकः कश्चित्कालनामा स्वीक्रियते इत्यर्थः । ननु तथापि कथं तस्य नवमत्वं यावता पृथिव्यादिभिरेवायमर्थः शक्यसंपादन इति तत्राह—**नच तत्र पृथिव्यादीति** । तेषु नावन्नित्यवर्गस्य परमाणुतया अतिदूरवर्तितपनपिण्डयोर्न संबन्धकत्वम् अनित्यवर्गस्यानवस्थिततया सकलवत्त्वसंसर्गाच्च न नियमेन संबन्धकत्वमित्यर्थः । ननु सवितृकिरणैरेव सवितृपिण्डसंबन्धैर्यं संबन्धः संप्रप्यतामिति तत्राह—**नच दिनकरेति** । निखातवस्तुषु किरणसंबन्धाभावेपि मासादिविशिष्टप्रतीतेस्तत्रापि रविपरिस्पन्दसंबन्धसंपादनक्षमः कश्चित्कल्प इत्यर्थः । ननु तर्ह्यकाश आत्मा वा संबन्धसंपादकौ भवेतन्तयो सर्वेसंसर्गतया सर्वोपपत्तिस्तत्राह—**नचाकाशेति** । तथेति संबन्धोपनायकौ । काले व्यभिचारवारणाद्विशेषेत्युक्तम् । ननु पृथिव्यादिष्वेवंविधसंबन्धानांपादकत्वं न विशेषगुणवत्त्वप्रयुक्तं किं तर्ह्यव्यापकत्वप्रयुक्तं ततस्तद्वाद्यत्तौ किमिति न संबन्धकत्वमनयोरिति तत्राह—**नचाव्यापकत्वमिति** । अयमर्थः—त्वयापि तावदाकाशात्मनोरन्यतरस्यैव हेतुत्वं मन्तव्यं लाघवादानुगतिलाभाच्च तथाच व्यापकस्याप्येकस्य संबन्धकत्वे यत्राव्यापकत्वं नास्ति तत्रासंबन्धकत्वमपि नास्तीति व्यतिरेकव्याप्तिरशक्यममर्थनेति नायमुपाधिरिति, तदित्यम् । प्रसक्तप्रतिषेधमन्यत्राप्रसङ्गं चोक्त्वा शिष्यमाणे सप्रत्ययं दर्शयिष्यन्परिशेषमुपसहरति—**तत इत्यादिना** । नच दिगेव सास्त्विति वचनीयम् । कालविप्रतिपत्तुर्दिश्यपि समानत्वान्तिद्वत्वेपि तत्कृतपरत्वापरत्वव्यवहारादेस्तत्कृतस्य विलक्षणत्वादिति ।

१ निकर इत्यस्य स्थाने कर एव पाठो भानि निशब्दरहितः वस्तुतः करनिकर इति पाठः ।

मैवम् । उभयवादिसंप्रतिपन्नात्सैनैव वस्तूनामुपाधिसंबन्धसिद्धेरतिरिक्तद्रव्यकल्पनायां कल्पनागौरवप्रसङ्गात् । नच विशेषगुणवत्त्वादात्मनः पृथिव्यादिवदुपाधिसंबन्धानुपनायकत्वम् । विशेषगुणवैधुर्येण मनोवदेव भवदभिमतकालेऽप्युपाध्यनुपनायकत्वप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात् । अव्यापकत्वोपाधेस्त्वयैव निवारितत्वात् । ननूपाधिसंबन्धोपनायकत्वेनैव कालसिद्धेस्तत्पक्षीकारेण तद्विपर्ययप्रसज्जने धर्मिग्राहकप्रमाणबाधस्तदसिद्धावाश्रयासिद्धिरिति चेन्न । प्रतिवादिप्रसिद्धतामात्रेणैवाश्रयतोपपत्तेरसकृदुपपादितत्वात् । विशेषगुणविधुरत्वं तरणिस्पन्दसंसर्गोपनायकवृत्ति न भवति विशेषगुणशून्यमात्रवृत्तित्वात् मनस्त्ववदिति कालवादिनं प्रति प्रकारान्तरेणापि निरुक्तिसंभवाच्च । नच परत्वापरत्वगुणासमवायिकारणसंयोगाश्रयतया कालसिद्धिः । परत्वापरत्वयोरेवासिद्धेः । नच परापरत्वव्यवहारानुपपत्त्या तत्सिद्धिः । प्रचुराप्रचुरतरणिपरिस्पन्दान्तरितजन्मत्वैर्नैव तत्सिद्धेः ।

एतन्निरासपरंतया द्वितीयं श्लोकं योजयति—**मैवमित्यादिना** । पूर्ववाद्यनुशयमुन्मूलयति—**नच विशेषगुणेति** । न तावद्विशेषगुणवत्त्वानुपनायकत्वयोर्व्यभिचारे किञ्चिद्वाधकमस्ति तस्मात्साधर्म्यसमेयम् । अथैवमपि न प्रतिबुध्यसे तर्हि विशेषगुणराहित्यस्यानुपनायकत्वस्य चास्ति साहचर्यं मनसीति तावककालस्याप्यनुपनायकतापात इति व्याहृतिभार वहत्वयं वावदूकवादिगर्दभ इत्यभिसविराह—**विशेषगुणवैधुर्येणेति** । ननु न विशेषगुणविधुरत्वमनुपनायकत्वे प्रयोजकं किं तर्ह्यव्यापकत्वं कालस्तु तद्विपरीत इति तत्राह—**अव्यापकत्वेति** । अत्रापि हि पूर्ववदव्यापकत्वनित्यनिवृत्तावनुपनायकत्वस्याकाशादौ व्यभिचारेण साध्याव्यापकत्वादित्यर्थः । ननु यदीदमभिधीयते विशेषगुणवतामेवेदमनुपनायकत्वं तर्हि विशेषगुणरहितत्वादेव कालस्यापि मनोवदनुपनायकत्वं स्मादिति प्रसज्जनं प्रसाधनं वा कालमधिकृत्य तदयुक्तं, कालसिद्धावसिद्धौ च तदनुपपत्तेरिति शङ्कित्वा परिहरति—**न प्रतिवादीति** । एतेनेदमपास्तं यदाह—‘स एव यदि गगनमात्मा वान्यधर्मेणान्यदवच्छिन्द्यात्काश्मीरवर्तिना कुङ्कुमरागेण कर्णाटकचक्रवर्तिकरकमलमवच्छिन्द्यात् । नच कालेऽप्येव प्रसङ्गः । तस्यासिद्धिर्वाश्रयासिद्धेः, सिद्धौ वा परापरनियतधर्मोपसकामकत्वस्वभावेनैव सिद्धेरिति देहात्मवादिवत्प्रतीतिमात्रसिद्ध्याश्रयतोपपत्तौ दोषद्वयानास्कन्दनादिति । किञ्च कालमङ्गीकृत्यापि स्वभाव एव शरणं तदीश्वरस्यैवास्त्वयं स्वभावः वृथातिरिक्तकल्पना । किञ्चोभयसंप्रतिपन्नं किञ्चित्पक्षीकारेण कालपक्षीकारव्यतिरेकेणैव विशेषगुणशून्यस्योक्तधर्मानुपनायकत्वस्य शक्यानुमानत्वात्क्षुद्रतरोर्यं दोष इत्याह—**विशेषगुणेति** । सत्तादौ व्यभिचारनिवारणाय मात्रप्रहणम् । असिद्धिपरिहाराय विशेषपदम् । ननु याविमौ परत्वापरत्वगुणावनुभूयेते एतयोस्तावदसमवायिकारणेन केनचिद्भूतव्यं भावकार्यत्वात्तच्च गुणः कर्म वा स्यात् तत्राप्यभ्यगतत्वेन प्रत्यासत्त्यभावान्न रविपरिस्पन्दः, अव्यवस्थितत्वाच्च, न रूपादि । नाप्येकत्वादि द्वित्वादि, वैषम्यात् । नच कारणनिष्ठपरत्वादि, अपेक्षाबुद्धिजन्यत्वात्, तस्मात्कालविशेषपिण्डयोः संयोगादसमवायिकारणात् समवायिकारणेषु पिण्डेष्विमावुत्पद्येते दिग्विशेषपिण्डसंयोगाच्च दिक्कृतौ । यथा-हुर्भाष्यकृत—‘परेण कालप्रदेशेन संयोगात्परत्वमुत्पद्यते अपरेण कालप्रदेशेन संयोगादपरत्वस्योत्पत्तिरिति तस्मादेतयोरसमवायिकारणभूतसंयोगाश्रयतया कालसिद्धिरिति तत्राह—**नच परत्वापरत्वेति** । ननु कथं परत्वापरत्वरसिद्धिर्यावता यद्विशिष्टे द्रव्ये परमपरमिति बुद्धौ जायेते ते परत्वे इति लक्षणप्रमाणयोर्भावान् तत्राह—**नच परेति** । यस्य हि यदपेक्षया भूयोभिस्तरणिपरिस्पन्दैरन्तरितं जन्म तत्तदपेक्षया परं यस्य च यदपेक्षया स्तोकरणिपरिस्पन्दान्तरितं जन्म तत्तदपेक्षयाऽपरमिति व्यवहियते इत्युपाधितोऽप्युपपन्नत्वान्नातिरिक्तगुणकल्पिकेयमित्यर्थः । अत एव च पूर्वोत्पन्नत्वं परत्वंपश्चादुत्पन्नत्वमपरत्वमिति भासवैज्जमते लीलावतीकारेण यद्वृषणमुक्तं—‘पूर्वपश्चाद्भावस्य परापरतिरिक्तस्य निर्वक्तुमशक्यत्वा दिति, तदपि

अन्धैथा परत्ववन्मध्यमत्वस्यापि गुणान्तरस्य स्वीकारः स्यादिति भूषणभाषितदूषणप्रसङ्गात् ।

नच तरणिपरिस्पन्दानां प्राचुर्यमल्पत्वं च न संख्याभेदो नापि परिमाणविशेषो निगुणे कर्मण्यसंभवादिति वाच्यम् । भवन्मते परत्वापरत्वहेतुभूताया अपेक्षाबुद्धेर्यद्विषयनिबन्धनं वैचित्र्यं तस्यैवास्माभिः प्रचुरारूपतरणवदेनाभिलाषान् । अपेक्षाबुद्धेः स्वभावभेदादेव वैचित्र्यव्यवहारहेतुत्वं न विषयभेदापेक्षयेति चेन् । मैवम् । परापरबुद्धोरण्यन्तरेणैव विषयवैचित्र्यं स्वभावभेदादेव तथाविधव्यवहारहेतुत्वप्रसङ्गान् । तथा नीलपीतादिबुद्धीनामपीति तथागतानां त्वयैवदत्तः स्वहस्तः स्यात्तदेवं न कालमद्भावसिद्धिः ।

‘इन्द्रियानधिगमत्वान्नाध्यक्षं नानुमा दिशि । वर्णैरर्थान्तरत्वेन साध्यासिद्धिर्नि-

परिहृतम् । पूर्वापरयोरुपरोक्षनात्तरणिपरिस्पन्दप्राचुर्यात्पन्वमात्रेणैव समर्थनादिति । अतश्चैवमैवाश्रयणीयम् । इतरथा मध्यमोयमिति व्यवहारान्मध्यमत्वमपि कश्चिद्बुधः स्यात् । नहितत्रोक्तगीतिमन्तरण जरणमित्याह—अन्यथेति ।

लीलावतीकारस्तु संयोगाल्पत्वभूयस्त्वे विकल्प्य दूषयावभूव । तदानीमत्राप्युद्राव्य दूषयति—**नच तरणीति** । अत्रार्थं तावद्युवानमवधि कृत्वा स्थविरे विप्रकृष्टा बुद्धिरुत्पद्यते स्थविरमवधि कृत्वा यानि च सन्नि-कृष्टा बुद्धिरुत्पद्यते इत्यपेक्षाबुद्धित परत्वादिसंभवमभ्युपगच्छता परत्वापरत्वजनकबुद्धो परम्पर विशेषो वक्तव्यः । सच विषयगतप्रचुराप्रचुरतरणिपरिस्पन्दान्तरितजन्मव्यतिरेकेण दुर्निरूपस्ततो यादृश प्राचुर्याप्राचुर्ये तवाभिमतं तादृशमेव ममापीत्यर्थः । ननु न विषयविशेषकृतो बुद्धीर्विशेषः किंतु स्वरूपसामर्थ्यनिबन्धनः, यथाह श्रीवत्सल — ‘अपेक्षाबुद्धेर्विषयवैचित्र्यमन्तरेणापि विचित्रकार्यजनशीलत्वेन विलक्षणफलजनकत्वाविरोधा’दिति तदेतदुद्भावयति—**अपेक्षेति** । एवंविधं स्वभाववैचित्र्यं परापरबुद्धोरेव कत्यता लाघवादावश्यकत्वाच्च वृथा तदतिरिक्तबुद्धिकल्पनापीत्याह—**मैवमिति** । अतिप्रसङ्गदर्शनपूर्वकमपराद्धान्तप्रसङ्गं चाह—**तथा नीलेति** । तथागता बौद्धा । भवेता वा यथातथा परत्वापरत्वे तथापि तदसमवायिकारणनयोगाश्रय परमेष्ठे एव प्रागुपपादितरीत्या घटते इति वृथा कालकल्पना । नचातिप्रसङ्गः । कालवदेव पदार्थविशेष एव तत्प्रवर्तकत्वात् । किंच परपरात्मकस्तावन्न सवन्धो भवन्नये तस्मात् रविपरिस्पन्दपिण्डस्वभावव्यतो ह्यसौ स्वीकृतेपि काले न तत्संयोगमात्रात्परत्वादिगुणोत्पत्तिरविशेषात् उपहिंसकालसंयोगाधीनत्वेऽयुपाधिकालयोरुपाधिपिण्डयोर्वा न साक्षात्संबन्धः । नच मयुक्तसंयोगसमवायात्मक कश्चिन्संबन्धो भवन्नये भावाभावान्तर्गततया शक्यनिरूपणः । तस्माद्यथा समवायाभावयोः स्वभावादेव संबन्धव्यवहारजनकत्वमेवं तरणिपरिस्पन्दानामेव स्वभावविशेषवशात् पिण्डेषु परत्वापरत्वव्यवहारजनकत्वमस्तु कृतमन्तर्गलेऽजागलस्तनायितकालकल्पनयेति । एतेन परत्वापरत्वासमवायिसंयोगाश्रयो विभुः कालः, परापरयौगपद्यादिप्रत्ययलिङ्ग कालः, निर्यं परत्वापरत्वासमवायिकारणीभूतसंयोगाश्रयो द्रव्यनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिजातिमत्त्वरहितः परत्वजनकसंयोगवान्कालः, इत्यादीनि श्रीवत्सलप्रशस्तपादशिवादित्यमिश्रादिकल्पितकाललक्षणान्यपि प्रतिक्षिप्तानि मन्तव्यानि, परत्वादिजनकसंयोगस्यान्मन्येवोपपादनेन विशेषणासिद्धिरिति ।

अनुमानानि तु समनन्तरमेव दिक्खण्डने पुरा निरस्यन्ते इदानीं दिशो निराकुर्वन्तत्र प्रमाणानि श्लोकेन दूषयति—**इन्द्रियेत्यादिना** । न तावदध्यक्षं तत्र मानम् । पूर्ववदस्या अपीन्द्रियायोग्यत्वात् । नाप्यनुमानादिभिस्तत्सिद्धिः । तेषां सर्वगतवर्णसाधनेनाग्रथान्तरतापातान् । केपुचिद्बुद्धान्तेषु साध्यविकलता, एतच्च वक्ष्यमाणदूषणानामप्युपलक्षणम् । आदिग्रहणेनान्यथानुपपन्निरामवचनं गृह्यते । सावतार श्लोकं विव्रणोति

दर्शने' ॥ ६० ॥ एतेन दिगपि व्याख्याता । तस्या अप्यनध्यक्षत्वादलिङ्गत्वाच्च । 'ननु पूर्वापरदक्षिणोत्तरादिदशप्रत्ययाः सन्ति तत्कथं लिङ्गाभाव इति चेत् । न । तेषां निरुपाधिदिगालम्बनत्वे सर्वत्र सर्वप्रत्ययप्रसङ्गात् । दिशां दशत्वप्रसङ्गे नवैव द्रव्याणीति व्याघाताच्च । नचात्मत्वेन संग्रहवद्दिशामपि दिक्त्वेन संग्रहाददोषः । शब्दलिङ्गानामपि भिन्नतया तत्कारणाकाशस्याप्यानन्यप्रसङ्गात्, आकाशत्वेन संग्रहस्य तत्रापि तुल्यत्वात् । नच तथैवास्तु को दोष इति वाच्यम् । आकाशकालदिशामेकैकत्वादपरजात्यभावे पारिभाषिक्यस्तास्ताः संज्ञा आकाशं कालो दिगिति भाष्यविरोधात् ।

सुरशिखरिशिखरपरिभ्रमन्मार्तण्डमण्डलप्रथमसंयोगाद्युपाध्युपधाने तेनैव पूर्वादिप्रत्ययानामन्यथासिद्धत्वात् । उपहितदिगालम्बनत्वे च परस्पराश्रयत्वात् । पूर्वादिप्रत्ययबलादुपाध्युपहितदिक्सिद्धिः । तत्सिद्धौ च तदालम्बनपूर्वापरादिप्रत्ययसिद्धिरिति

—एतेनेत्यादिना । ननु सन्ति पूर्वापरादिप्रत्यया प्रत्यात्मवेदनीयाः नच तेषां मूर्तद्रव्यनिबन्धनत्वं, तेषामसार्वत्रिकत्वादनुगतविचित्रव्यवहारानुपपादकत्वात् पूर्वादिप्रतीत्यनुपपत्तेश्च । नच विभुद्रव्यान्तरनिबन्धना, तेषामविचित्रतया विचित्रव्यवहारानुपपत्तेः । ततस्तेभ्योतिरिक्तं किञ्चिदेषामालम्बनं दिगभिधानं कल्प्यमिति शङ्कते—**ननु पूर्वेति** । तत्र किं निरुपाधिका दिगेपामालम्बनं किंवा तत्तदुपाध्युपहिता । अनौपाधिकपक्षेऽप्येकानेका वा । आद्ये । पूर्वादिदिशा व्यवस्था न स्यात्, अविचित्रविषयत्वादित्याह—**न तेषामिति** । अथ पूर्वादिप्रत्ययविषयासकराय विभिन्ना दिशः कल्प्येरस्तत्राह—**दिशामिति** । यत्तु लीलावतीकारेणोक्तम्—**अनेकत्वेपि तत्क्रियोपनायक काल संयोगोपनायिका दिक् नच नवैवेति विरोधः** आत्मनामानन्त्येभ्यात्मत्ववदविरोधादिति तत्र कालसंग्रहोपाधिं पुरस्तादेव निरस्तम् । दिक्संग्रहोपाधिमपि पुरा निराकरोति । अत्रानुपगम्यानुपाधिवेवं संग्रहेतिप्रसक्तिमाह—**नचात्मत्वेति** । यदिहि पूर्वादिप्रत्ययवैलक्षण्येन दिग्भेदकत्पनं तर्हि तारतरत्वादिरूपेण शब्दलिङ्गागमपि भिन्नतया गगनमपि किं विभिन्नं न स्वीक्रियते शक्यते हि तत्रानुपाधिपुरुषोपधानेन नवत्वव्याकोपपरिहार इत्याह—**शब्दलिङ्गानामपीति** । गुडजिह्विकायामेव विश्वसन्तं डिम्भकं प्रत्याह—**नच तथैवेति** । भाष्यं प्रशस्तपादीयम् । तथा काललिङ्गाविशेषादेकत्वं सिद्धं, दिगलिङ्गाविशेषादञ्जसैकत्वेपीति च तत्र तत्र भाष्यमुदाहरणीयम् ।

एवमनौपाधिकपक्षं दूषयित्वौपाधिकपक्षमाशङ्क्य तत्रानुपाधेर्निष्फलत्वत इत्येतदतिदिशति—**सुरशिखरीति** । सुरशिखरी मेरुपर्वतः । तथाहि दिगलिङ्गाविशेषात् दिशः एकत्वेपि दिशः परमर्षिभिः श्रुतिस्मृतिलोकसव्यवहारार्थं मेरुप्रदक्षिणमावर्तमानस्य भगवतः सवितुर्ये सयोगास्तेषां सयोगानां लोकपालपरिगृहीतदिक्प्रदेशानामनूवर्थाः प्राच्यादिभेदेन दशविधसंज्ञा कृता इति भाष्यात्सन्ति दशोपाधयः प्रागञ्चनमवागञ्चनं प्रत्यगञ्चनमुदगञ्चनमिति मेर्वपेक्षया सति चत्वारोपाधयः, तथा तदन्तरालाश्चत्वारः, तथा नक्षत्रलोकाद्यपेक्षयाभिमुख्यं पृथिव्यादेः पृथिव्यावपेक्षयाभिमुख्यं नक्षत्रलोकादेरिति द्वावुपाधी । तदेतैर्दशभिर्दिशो दशत्वं न स्वभावतः इति यद्यभिमतं तर्हि तैरेवोपाधिभिः पूर्वापरादिप्रत्यया पदार्थेषूपपद्यन्ता कृतमन्तरा दिशेत्यर्थः । किंचौपाधिकत्वेऽप्येतेषां प्रत्ययानां किं दिङ्मात्रं विषया उपधिमात्रं वा उपहितदिग्वा । नाद्यः । विचित्रत्वात् । नोत्तरः । दिव्यैथर्यात् । तृतीये दूषणमाह—**उपहितेति** । परस्पराश्रयं विवृणोति—**पूर्वापरेति** । अयमर्थः—तत्र किं पूर्वापरादिबुद्ध्य एव दिक्षु लिङ्गमन्यद्वा, द्वितीये वक्ष्यति । प्रथमे तु ज्ञायमानतया तासां लिङ्गत्वं तत्रापि न रूपादिबुद्धिभिरिव चक्षुरादेरेताभिर्दिशामनुमानं तथासति दिग्विषयत्वाभावप्रसङ्गात् । तथाच दिग्विषयाभिरैताभिरवगताभिर्दिशामनुमाने विषयविशिष्टबुद्धिलक्षणलिङ्गज्ञानात् दिगनु-

लिङ्गान्तरेण तत्सिद्धौ पूर्वापरादिप्रत्ययवैयर्थ्यात् । उपाधीनामादित्यादिगतत्वात् पूर्वापरप्रत्य-
यालम्बनवस्तुभिः स्वरूपतः प्रत्यासत्तिशून्यानां संवन्धापादकवस्त्वन्तरस्य स्वीकारे दिक्-
सिद्धिरिति चेत् । न । तदुभिमत्कालेनैव तदुपपत्तेः ।

नच कालकृतपरत्वापरत्ववैलक्षण्यादस्य दिक्कृतत्वम् । दिक्कल्पनामन्तरेणैव व्यवहर्तुः
स्वेन संयुक्तपृथिव्यादिभिर्हस्तदण्डादिसंयोगानामल्पीयस्त्वभूयस्त्वाभ्यामेव विशिष्टपराप-

मिति दिग्ज्ञाने च विषयविशिष्टबुद्धिलक्षणलिङ्गज्ञानं नहि तद्विषयज्ञानव्यतिरेकेण तद्विशिष्टबुद्धि शक्यज्ञाने-
तीतरेतराश्रयत्वमिति दिग्ज्ञानाच्च दिग्ज्ञानमित्येतदपि कौतुकान्तरम् । यत्तु वक्ष्यतीत्युक्तं तदाह—**लि-
ङ्गान्तरेति** । यत्तुपाधिमादायान्यथासिद्धिरुक्ता ता परिहरति पूर्ववादी—**उपाधीनामिति** । तथाहि—
पूर्वादिवुद्ध्यस्तावन्न दिङ्मात्रविषया किं त्विदं पूर्वमिदमपरमिति घटादिवस्तुविषया तत्रापि न तन्स्वरूपमात्र-
विषया घटस्वरूपव्यतिरेकेण्यस्य पटादिष्वपि विद्यमानत्वात् घटस्वरूप एव च पूर्वादिविचित्रव्यवहारानुप-
पत्तेश्च । तस्मात्पदार्थान्तरविशिष्टघटादिस्वरूपनिबन्धना । विशेषणानि च मेरुप्रदेशे महत्तरदिमप्रथमसयो-
गादय । नच ते घटादिषु समवयन्त्यादित्यमेरुनिष्ठत्वात् ततस्तेषां घटादिष्वपसकामक कश्चिदेष्टव्यः सच न
मूर्तवर्गः तस्योभयत्राननुसन्तानत्वादाकाशात्मानौ त्वतिप्रसङ्गिनौ विशेषगुणवन्तौ च तस्माद्भाषक सूर्यसुमेरु-
राजप्रदेशसंयोगभेदानां स्वसंयुक्तसमवेतानां स्वसंयुक्तवस्त्वन्तरे सकामकं तस्य च दिगिति सन्ना कालस्य
क्रियासकामकत्वात्सा चेत्तरेभ्यो भिद्यते एवंविधसंयोगसकामकत्वात् न यदेवं न तदेवं यथा पृथिव्यादीति
तत्सिद्धिरित्यर्थः । दूषयति—**न त्वदभिमतैति** । शक्यमत्रापि कालोन्मूलनवदाकाशमात्मानं वादायान्य-
थासिद्ध्या दिशोऽप्युन्मूलनं कर्तुं विशेषगुणवत्त्वं च तत्रैव कृतसमाधानम्, अथापि भवतु नाम भवतु श्रद्धानु-
सारेण विशेषगुणरहितमेव व्यापकं किञ्चित् तथापि त्वत्कल्पितकालत एव तत्सिद्धेर्न तद्विलक्षणकल्पनेत्यर्थः ।

ननु कालकृतपरापरत्वादिलक्षणे परत्वापरत्वे तावदनुभूयेते अस्तिहि नित्येष्वपि परमाणुषु दिक्कृतपर-
त्वापरत्वव्यवहारः । अनित्येष्वपि कालतस्त्वनित्येष्वेव तथा कालतोऽपरेपि दिक्कृतपरत्वं कालत परेच दिक्क-
तमपरत्वमतस्तदसमवायिकारणसंयोगस्य विलक्षणस्याश्रयतया दिक्कृतसिद्धिरिति शङ्कित्वा परिहरति—**नच-
कालकृतेति** । नायं व्यवहार परत्वापरत्वकल्पकः किं तर्हि यदर्थस्य यदपेक्षया प्रमातु संयुक्तसंयोग-
बाहुल्यं तत्तत् परं यस्य तु यदपेक्षया प्रमातु संयुक्तसंयोगाल्पत्वं तत्ततोऽपरमिति ताभ्यामेवान्यथासिद्ध-
त्वादित्याह—**दिक्कल्पनामिति हस्तदण्डादीति** । व्यवहर्तुर्देवदत्तस्य संयुक्तपृथिव्यादिनापि हस्तदण्डा-
दिसंयोगाद्दशहस्तेन दण्डेन दशदण्डो निवर्तनमित्यादिशास्त्रोक्तपरिमाणज्ञापकास्तेषां संयुक्तपिण्डापेक्षया अ-
ल्पीयस्त्वभूयस्त्वाभ्यामित्यर्थः । यत्तु किरणावलीकारेणैवमाशङ्क्योक्तं 'न तदपेक्षया प्रमातर्यपि परापरप्रत्य-
क्षप्रसङ्गात् संयोगबाहुल्यादेरविशेषात् भवति हि यावत्सर्वानि मत्तो वाराणसी तावति वाराणस्या अहमपि
ननु सा किञ्चिदपेक्ष्य मत्त परापरेतिवदहमपि तस्या परोऽपरोवे'ति तदसत् । परत्वापरत्वोत्पावप्यस्य
प्रसङ्गस्य तुल्यत्वात् । तथाहि—संयोगात्पत्वबहुत्वे पिण्डवत्प्रमातर्यपि समाने इति किमिति तयो प्रमात-
र्यनुत्पत्तिः पिण्ड एव वा किमित्युत्पत्तिः । अथ ब्रूयात्कारणशक्तियमादेव नियमोपपत्तिः भेर्याकाशसंयो-
गस्योभयाश्रयत्वाविशेषेपि नभस्येव शब्दो न भेर्यामिति वदति संयुक्तसंयोगाल्पत्वबहुत्वाविशेषेपि प्रमेय एव
परत्वापरत्वेन प्रमातरीति सर्वमुपपन्नमिति । तदप्यसत् । यद्धि संयुक्तसंयोगाल्पत्वबहुत्वविशेषावच्छिन्नस-
ंयोगाधिकरणत्वेन प्रतिसन्धीयते तत्र परापरत्वव्यवहारः न प्रमातरि तस्य तथाप्रतिसन्धीयमानत्वाभावात्,
यदातु सोपि तदधिकरणत्वेनानुसन्धीयते तदा भवत्येव तत्रापि तद्व्यवहारः वागणसीन परोहमिति । यत्तु

रव्यवहारोपपत्तेः । नचाल्पीयस्त्वभूयस्त्वयोः संख्यारूपगुणत्वे परिमाणविशेषत्वे च संयोगाख्यगुणाधिकरणत्वासंभवादनुपपत्तिः । भवदभिमतपरत्वापरत्वजनकसन्निकृष्टविप्रकृष्टलक्षणापेक्षाबुद्धिविषयसंयोगाल्पीयस्त्वभूयस्त्वयोरपि तुल्यत्वात् ।

यच्च दिक्कालयोः प्रसाधनाय प्रमाणमुक्तं लीलावतीकारेण—‘महत्परिमाणसामान्यं विशेषगुणशून्यद्रव्याधिकरणानेकव्यक्तिवृत्ति परिमाणतारतम्यविश्रान्तिविषयनिष्ठजातित्वाद्-गुणत्ववत् अस्ति हि विशेषगुणशून्यानेकमनोगतानेकाणुपरिमाणनिष्ठताणुत्वजातेः, तथा-विवादाध्यासितानि मूर्तद्रव्याणि युगपद्विशेषगुणशून्यानेकद्रव्यसंसर्गाणि द्रव्यत्वादात्मवदिति, तदयुक्तम् ।’ अन्तरेणापि दिक्कालौ व्यापकपञ्चाशद्वर्णद्रव्यप्रसाधनेनार्थान्तरत्वात् । वेदान्तिनं प्रति दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वाच्च, मनसो विशेषगुणशून्यत्वे हि तद्रताणुत्वस्य विशेषगुणविधुरद्रव्याधिकरणानेकव्यक्तिवृत्तित्वम्, आत्मनश्च युगपद्विशेषगुणशून्यद्रव्यसंसर्गित्वं च भवेत्तच्च वेदान्तिनं प्रत्यसिद्धं मनसोपि विशेषगुणवत्त्वात् । नच तत्र मानाभावः, मूर्तत्वस्यैव तत्त्वात् । नच विशेषगुणवत्त्वे द्रव्यारम्भकत्वमुपाधिः घटादिष्वन्यावयविषु व्यभिचारात् । नच द्रव्यारम्भकवृत्तिद्रव्यत्वावान्तरजातिमत्त्वमुपाधिः ।

लीलावतीकारेणोक्तं—‘किं पुन सयोगस्य भूयस्त्वमल्पत्वं चे’त्यादि तदनूय निषेधति—**नचाल्पीयस्त्वेति** । भवतापि ह्यपेक्षाबुद्धिवैषम्यात्तज्जन्ययोरनयोवैषम्यमभ्युपेयते बुद्धिवैषम्यं च संयुक्तसयोगबहुत्वाल्पत्वलक्षणविषयवैषम्यात् । अत्रापि विप्रतिपत्तायुक्तमुत्तरं कालखण्डने तस्मात्तद्विकल्पस्तन्निराकरणं च ज्ञान्युत्तरमित्यर्थः ।

एवं चिरतनप्रमाणं दूषितमिदानीमाधुनिकोन्नीतं दिक्कालसाधकानुमानजातमनूय निराकरोति—**यच्चेति** । अणुत्वे सिद्धसाधनतावारणाय महत्परिमाणसामान्यमित्युक्तम् । विशेषगुणशून्यं यद्रव्यं तदधिकरणा यान्नेकव्यक्तिर्महत्परिमाणानि तद्वृत्तित्वर्थः । द्रव्याधिकरणानेकव्यक्तिवृत्तित्युक्ते गगनात्मघटादिवृत्त्यनेकमहत्परिमाणनिष्ठतासाधनेनार्थान्तरता स्यात् तदर्थं विशेषगुणशून्येत्युक्तम् । अनेकव्यक्तिप्रहणेन च तदधिकरणविशेषगुणशून्यद्रव्यानेकत्वसिद्धौ कालदिशो सिद्धिः । परिमाणवृत्तित्वेन सिद्धसाधनतानिवृत्त्यै द्रव्याधिकरणपदम् । घटत्वादिनिवृत्त्यै विश्रान्त्यादिविशेषणम् । ज्ञानत्वादिनिवृत्त्यै परिमाणेति । दृष्टान्ते साध्यप्रसिद्धिर्दर्शयति—**अस्ति हीति । विवादाध्यासितेति** । शरीरेन्द्रियव्यतिरिक्तमूर्तद्रव्याणीत्यर्थः । द्रव्यसंसर्गाणि इत्युक्ते गगनसंसर्गितयार्थान्तरता तदर्थमनेकद्रव्येत्युक्तम् । तथापि घटादिसंसर्गितयार्थान्तरता तदर्थं विशेषगुणशून्येत्युक्तम् । तथापि क्रममुक्तसंसर्गितयार्थान्तरता तदर्थं युगपदित्युक्तम् । तेषां क्रमेणैवमुच्यमानानां युगपद्विशेषगुणशून्यताभावात् युगपत्संसर्गाणीति वा साध्यम् । तदालोकान्तरं प्रतिष्ठमानैर्मनोभिः क्रमेण सबध्यमानं धृतिव्यादिना सिद्धसाधनतानिवृत्त्यर्थं युगपदिति पदम् । बाधपरिहारार्थं विशेषपदम् । मनोभिः संसर्गेण चात्मसु साध्यसिद्धिः । एतदूषणपरतया वगैरर्थान्तरत्वेनेत्येतदवतारयति—**तदयुक्तमित्यादिना** । अधिकातमिदमपौरुषेयवादे यद्वर्णानां नित्यत्वं विभुत्वं च । नच तेषां विशेषगुणा सन्ति । नादानामन्यधर्मत्वादन्यस्य चाभावादतस्तद्वृत्तितासाधनेनापि विश्रान्तेरर्थान्तरता प्रथमे । द्वितीयेपि तत्संसर्गसाधनेनार्थान्तरतेत्यर्थः । उभयोरपि दृष्टान्ते साध्यवैकल्यमाह—**वेदान्तिनं प्रतीति** । तदेव विवृणोति—**मनस इति । मूर्तत्वस्येति** । विप्रतिपन्नं विशेषगुणवन्मूर्तत्वात् घटवदित्यनुमानेन मनसो विशेषगुणसिद्धिरित्यर्थः । अत्रोपाधिसाशङ्का निरस्यति—**नचेति** । विशेषगुणवत्स्वप्यन्यावयविषु द्रव्यारम्भकत्वं नास्ति तत्त्वव्याघातादतः साध्याव्यापकत्वादनुपाधिरित्यर्थः । उपाध्यन्तरं निरस्यति—**नच द्रव्यारम्भकेति** ।

आलोकाशयोर्व्यभिचारात् । नच बाह्येन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वम् । भवद्भिमतानि व्यभिचारात् । न वा भूतात्मनोरन्यतरत्वमुपाधिः । वेदान्तिनं प्रति तमसि साध्याव्याप्तेः । 'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिरित्येतत्सर्वं मन एवे'ति मनसो विशेषगुणवत्त्वश्चुतेश्च । नच कामादीनां निमित्तकारणत्वान्मनसस्तथात्वव्यपदेशः । मुख्ये बाधकाभावात् निमित्तनैमित्तिकत्वमात्रेण सामानाधिकरण्यश्रवणानुपपत्तेश्च । नहि भवति कुलालो घट इति सामानाधिकरण्यम् ।

एतेन मानमनोहरप्रयोगोप्यपास्तः । विवादाध्यासितं कार्यं विशेषगुणरहितद्रव्याभ्यां जन्यते कार्यत्वाद्दन्तःकरणद्वयसंयोगवदिति तत्रापि दृष्टान्तस्य साध्याविकलत्वान्, विवादाध्यासितं विशेषगुणरहितद्रव्यैर्जन्यत इति बहुवचनप्रक्षेपेणापि प्रयोगसंभवादतिरिक्तद्रव्यसाधकतयाऽऽभाससमानयोगक्षेमत्वाच्च । नच दृष्टान्तासिद्धिरनेकान्तःकरणाधिकरणपेक्षाबुद्धिजन्यबहुत्वस्यैव दृष्टान्ततोपपत्तेः, विवादाध्यासितं विशेषगुणरहितद्रव्याभ्यां न जन्यतेन्तःकरणाकार्यत्वादाकाशवदिति सत्प्रतिपक्षत्वाच्च । नचाकार्यत्वमुपाधिः । वेदान्तवादिभिराकाशस्यापि कार्यताङ्गीकारान् । तदेवं कालानिरूपणान्न तत्कृतः

द्रव्यारम्भकेषु वर्तमाना या द्रव्यत्वावान्तरजातिस्तद्वत्त्वम् । नच मनोगतमनस्त्वजातिर्द्रव्यारम्भकवृत्तिजातिरतो न साधनव्याप्तिं नाप्यन्यावयवेषु साध्याव्याप्तिः । पृथिवीत्वस्योक्तरूपस्य तत्रापि भावादिति भावः । तथापि साध्याव्याप्तिः, आकाशे विशेषगुणवत्त्वेपि द्रव्यत्वावान्तरजातेरभावान्, आत्मनि तु विशेषगुणवति तत्सत्त्वेपि द्रव्यारम्भकवृत्तित्वाभावादित्याह—**आत्मेति** । उपाध्यन्तरं दूषयति—**नचेति** । अस्ति च तन् गगनेपीति भावः । तथापि भवन्मते विशेषगुणवत्त्वेन स्वीकृतात्मनि साध्याव्याप्तिः, तद्गुणानां मानसप्रत्यक्षत्वादित्याह—**भवदिति** । अस्तु तर्हि भूतात्मनोरन्यतरत्वं तथाचाकाशात्मनोरपि तदस्त्येवेति तत्राह—**न वा भूतेति** । उपपादितं खल्वेतत्तमोवादे यद्विशेषगुणवत्ता तममोस्तीति, अतः साध्यवत्त्वेपि तस्मिन् भूतात्मनोरन्यतरत्वमिति साध्याव्याप्तिरित्यर्थः । अत्र श्रुतिमपि प्रमाणयन् विशेषगुणानपि तदीयान्निष्ठते काम इति—ननु कामादिमन एवेत्यत्र न गुणगुणिभावेन शुद्धो घट इतिवत्सामानाधिकरण्यं विवक्षितं किं तद्व्याप्त्यगुणानामेव सता निमित्तकारणत्वात्तत्प्रयुक्तमिति तत्राह—**नच कामादीनामिति** । न तावन्निमित्तकारणकार्ययोः कुलालो घट इति सामानाधिकरण्यं दृष्टव्यम् । अथापि तच्छूमादिना कल्प्येत यदि मुख्ये बाधकं स्यान्नत्वेतदस्तीत्यर्थः ।

एवं श्रीवल्गुमानं निरस्य मानमनोहरीयमनुमानं दूषयति—**एतेनेति** । अत्र घटादि पक्षं सृष्टादिद्रव्येनार्थान्तरतानिष्ठित्यर्थं विशेषगुणशून्यग्रहणम् । अदृष्टेश्वरेच्छादिभिरर्थान्तरताव्यावृत्त्यै द्रव्यग्रहणम् । एतेनेत्येतद्विवृणोति—**तत्रापीति** । किञ्चानयैव रीत्या विशेषगुणरहितं दशममपि शक्यमाधनमित्याभाससमानयोगक्षेममित्याह—**विवादेति** । ननु विशेषगुणरहितद्रव्यैर्जन्यत इत्यत्र नास्ति दृष्टान्तः, नहि बहुभिरन्तःकरणैरेकः संयोगो जन्यत इति वैषम्यमुक्तं तेनैवेति तत्राह—**नच दृष्टान्तेति** । अनेकान्तःकरणधिकरणमपेक्षाबुद्धिजन्यं च यद्बहुत्वं तस्य दृष्टान्ततोपपत्तेरित्यर्थः । नच निमित्तकारणेति विशेषणे निस्तारस्तदनुमाने साध्यवैकल्यापातात् । सत्प्रतिपक्षता चाह—**विवादाध्यासितमिति** । अत्रापि तेनोक्तमकार्यत्वस्योपाधेरिति दूषयति—**नचाकार्यत्वमिति** । परत्वापरत्वखण्डनेन च परमाणुपरत्वजनकसंयोगाश्रयो दिगित्यादीनि तन्मुखेन शिवादित्यमिश्रोक्तानि दिग्लक्षणानि खण्डितान्येव । एवं कालखण्डनप्रस्तावेन दिक् खण्डिता कालखण्डनस्य तु कारणखण्डनोपयोगमाह—**तदेवमिति** । अथ किमिति पृथिव्यादीनि न खण्डितानि । न । खण्डितत्वात् । तथाहि गन्धवती पृथिवीत्यादीनि गुणद्वारा यानि लक्षणानि तानि गुण-

पूर्वापरीभावः कार्यकारणभावः भेदाभेदविकल्पानुपपत्तेश्च । तथाह्यत्यन्तभिन्नयोरश्वम-
हिषयोरिव नोपादानोपादेयभावः तथात्यन्ताभेदेऽपि पूर्वसिद्धस्योपादानत्वादसिद्धस्य चो-
पादेयत्वात् एकत्र युगपत्सिद्धत्वासिद्धत्वविरोधादेव तदनुपपत्तेः । अस्तु तर्हि भिन्नाभि-
न्नयोः कार्यकारणभावः, अत्यन्ताभेदे भेदे च तदनुपपत्तेर्दर्शितत्वात् सामानाधिकरण्यानु-
पपत्तेश्च नहि भवति घटः पट इति सामानाधिकरण्यम् । नापि घटो घट इति ।

दृश्यते च मृद्घटः शुक्लः पटः गौः शावलेय इति सामानाधिकरण्यं ततो भेदाभेदसि-
द्धिरिति चेन्न । 'भेदेऽप्ययुतसिद्धत्वादुपादानत्वसंभवात् । तस्यापि दुर्निरूपत्वात्समवाया-
द्यसंगतेः ॥ ६३ ॥' अन्तरेणापि भेदाभेदौ जन्यजनकयोरयुतसिद्धतयैवोपादानोपादेयतो-
पपत्तेर्भेदाभेदवादिनाप्ययुतसिद्धतायास्तन्नियामकत्वेनावश्याभ्युपेयत्वात् । नहि यत्रैव का-
र्यकारणभावस्तत्रैव भेदाभेदाविति शक्यं कल्पयितुम् । अतश्चावश्याभ्युपेयैवायुतसिद्धि-
रिति तत एवार्थापत्तेरन्यथासिद्धिः ।

वद्व्यमितिवद्व्याद्या खण्डितप्रायाणि पृथिवीत्वादिजातिखण्डनेन तत्प्रमाणदूषणेन च गन्धसमानाधिकरण-
द्रव्यत्वावान्तरजातिमती पृथिवी स्नेहसमानाधिकरणद्रव्यत्वावान्तरजातिमदुदकमित्यादीनि जातिपुरस्कारेण
शिवादित्यमिश्रप्रभृतिभिरुत्प्रेक्षितान्यपि निरस्तानि । शब्दस्य च विभुत्वनित्यत्वसाधनात् तदधिकरणतयाका-
शमिरुक्तिः । सुखादीनां च साक्षिवैद्यत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्सुखादिप्राहकमिन्द्रियं मन इति मनोलक्षणासिद्धिः ।
ज्ञानरूपत्वसमर्थनात्सुखादीनामन्तःकरणगुणत्वात्प्रज्ञानाद्याधार आत्मेत्यात्मलक्षणानिरुक्तिरिति खण्डिता-
भ्येव नवापि द्रव्याणि । इदानीं कार्यकारणभावं प्रकारान्तरेण दूषयति—**भेदाभेदेति** । भिन्नयोरपि कलश-
कुलालयोः कार्यकारणभावोक्तीत्यत उक्तं—**नोपादानेति** । नचात्यन्तभिन्नयोरपि समवायवशादुपादानो-
पादेयभाव इति वाच्यम् । समवायभावयोरत्यन्तभेदे किमिति मृद्घटयोरैव तमापादयति नाश्वमहिषयोरि-
त्यत्र निरुत्तरत्वात् स्वभाववशादिति चेत्, प्रमाणमन्वेषणीयमन्यथानुपपत्तिरिति चेदन्यथैवोपपत्तेः । अत्य-
न्ताभेदपक्षेऽपि विरुद्धधर्माध्यासादसंभवमाह—**तथेति** । उभयानुपपत्तिः समाधिसुर्भेदाभेदवादी शङ्कते—
अस्तु तर्हि । इतश्च भेदाभेदः कार्यकारणानामित्याह—**सामानाधिकरण्येति** । नन्वात्यन्तभेदेऽपि
किमिति सामानाधिकरण्यानुपपत्तिस्तत्राह—**नहीति** । नच भेदेयाधाराधेयभावादुपपद्यत इति वचनी-
यम् । कुण्डं दधीत्यपि प्रसङ्गात् । अभेददर्शनमाह—**नापि घटो घट इतीति** ।

एवं भेदेऽभेदेऽयनुपपद्यमानसामानाधिकरण्यस्य कार्यकारणगुणगुणिजातिव्यक्तिस्थलेषु सद्भावं दर्शयंस्तदुप-
पादकभेदाभेदमानयति—**दृश्यतेचेति** । उपलक्षणं चैतद्विशिष्टस्वरूपाशाश्वस्थलयोरपि । अत्र किं कार्य-
कारणभावमात्रं भेदाभेदगमकमुपादानोपादेयभावो वा । नाद्यः । सल्लिखे कलशस्य तत्प्रसङ्गात् । तथात्वे
वा व्यर्थविशेषणत्वात् । न द्वितीयः । अत्यन्तभेदेऽपि तत्संभवादिति दूषयति सिद्धान्ती—**भेदेपीति**
श्लोकेन । अत्यन्तभेदेऽयुतसिद्धत्वमादायोपादानोपादेयभावसंभवात् उपादानत्वस्य च दुर्निरूपत्वात्तत्र
हेतुः—**समवायाद्यसंगतेरिति** । आदिशब्देन वक्ष्यमाणविकल्पदूषणानि सगृह्यन्ते । समवायित्वे सति
कारणत्वमित्यादिप्रकारं हि तत् । तच्च न संभवति समवायाद्यसंगतेरिति श्लोकार्थः । विवृणोति—**अन्तरे-**
णापीत्यादिना । अयुतसिद्धत्वेऽपि जातिव्यक्त्यादेर्नोपादानोपादेयभाव इत्यत उक्तं—**जन्यजनकयो-**
रिति । नन्वायुतसिद्धिरेवास्माकमसिद्धा समवायानङ्गीकारात्स्वरूपेण दुर्निरूपत्वाच्चेति तत्राह—**भेदाभे-**
देति । दुर्निरूपत्वादिति तावदात्मानं विस्मृत्यामिहितं किं वा भवन्मते सुनिरूपं समवायस्तु यद्यपि नाङ्गी-
क्रियते तथापि भेदाभेदनियामकतयायुतसिद्धिराश्रयणीया इतरथा अनयोरैव नान्ययोरिति नियमाभावापा-
तादित्यर्थः । ननु कार्यकारणभाव एव नियामकोऽस्तु किमयुतसिद्धेति तत्राह—**नहि यत्रैवेति** । नित्ययो-
रग्यत्मात्मत्वयोर्भेदाभेदाङ्गीकारादिति भावः ।

नचान्तरेण भेदाभेदावयुतसिद्धिरेव न सिद्ध्यतीति वाच्यम् । अत्यन्तभिन्नयोरप्या-
स्माकाशयोर्भाट्टैरपीष्टत्वात्, उपादानोपादेयभावानिरूपणाच्च । तत्किं, समवायित्वे सति
कारणत्वम् १ उत कार्याधारत्वम् २ जन्येनायुतसिद्धत्वे सति जनकत्वं वा ३ द्रव्यत्वविशे-
षितं वा ४ आहोस्वित्कार्याकारेण परिणतत्वम् ५ अथवा कार्यविभ्रमाधिष्ठानत्वम् ६ नाद्यः ।
समवायस्यानङ्गीकरणान्निराकृतत्वाच्च । न द्वितीयः । कुण्डबदरयोराधाराधेयभावेऽपि
तददर्शनात् । स्वजन्याधारत्वं तदिति चेन् । न । स्वजन्यघटाद्याधारे कुलालादावतिव्या-
प्तेराधारानिरुक्तेश्च । न तावदिहेति प्रत्ययविषयत्वं, तत्रेति प्रत्ययाव्याप्तिः । नापि समवा-
यित्वम् । शशे विपाणाभावः कुण्डे बदरमित्यादावव्याप्तेः । नापि संयोगित्वम् । गुणादौ
तदसंभवात् । संयोगिनोरुभयोरन्योन्याधारत्वप्रसङ्गाच्च । नापि पतनप्रतिबन्धकत्वम् ।
गुणादावव्याप्तेः । अत एव नाधेयापेक्षया महत्परिमाणवत्त्वमपि, करतलनिहितमहत्तर-
तूलपिण्डादावसंभवाच्च । नापि तृतीयः । ज्ञानेच्छादीनां परस्परोपादानत्वप्रसङ्गान् ।
अस्ति हि तत्र जनकस्य ज्ञानजन्येनेच्छादिनाऽयुतसिद्धत्वम्, आलैकाश्रयतया पृथगाश्र-

तत्रायुतसिद्धत्वसिद्ध्यर्थमेव भेदाभेदोस्तु तत्राह—नचेति भाट्टैरिति । जातिव्यक्तिकार्यकारणगुणगु-
णिविशिष्टस्वरूपाशाशिरूपपञ्चसु स्थलेषु हि तैर्भेदाभेदोऽङ्गीक्रियते, न सर्वत्र । न चैतेषामन्यतमत्वमाकाशा-
त्मनोरथचायुतसिद्धिरस्ति, नित्यत्वेन स्वगतत्वेन च पृथगाश्रयाश्रितत्वपृथगगतिमत्त्वलक्षणद्विविधयुतनिर्दे-
रभावादित्यर्थः । तस्यापि दुर्निरूपत्वादित्येतद्विवृणोति—उपादानेति । निमित्तकारणासमवायिनोर्व्यवच्छे-
दार्थं समवायित्वे सतीत्युक्तम् । आधारत्वं जात्यपेक्षयाप्यस्ति नच ता प्रत्युपादानत्वमित्यत उक्त—कार्या-
धारत्वमिति । जन्येनेत्यस्यापीदमेव प्रयोजनम् । जन्येन घटेनायुतसिद्धत्वं घटादेरप्यस्ति नच तदुपादा-
नमित्यत उक्तं जनकत्वमिति । कुलालादिनिवृत्त्यै जन्यग्रहणम् । ज्ञानेच्छादीनामपि परस्परमिदमस्तीति तद्व्यन-
च्छेदाय विशेषणं क्षिपति—द्रव्यत्वेति । साध्यमतावलम्बनेन पञ्चमः । कार्यलक्षणोपि भ्रमः तदधिष्ठा-
नत्वं चेति वेदान्तिमतवालम्बनेन षष्ठः पक्षः । समवायस्येति । य खलु कार्यकारणयोर्भेदाभेदादी
भाट्टस्तेन समवायो नाङ्गीक्रियतेऽतस्तद्विशेषितलक्षणं तस्यासिद्धमित्यर्थः । नैयायिकं प्रत्याह—निराकृत-
त्वादिति । कार्याधारत्वमुपादानत्वमित्यतिव्यापकं बदरकार्यं प्रत्याधारेपि कुण्डे तदुपादानत्वाददर्शनादित्याह
—कुण्डबदरयोरिति । ननु कार्याधारत्वमात्रं लक्षणं किंतु स्वकार्यं प्रत्याधारत्वं न बदराणां कुण्डकार्य-
त्वमित्यभिप्रेत्याशङ्कते—स्वजन्येति । तथाप्यतिव्याप्तिः, धृतोदकुम्भस्य स्वजन्यकुम्भाधारत्वेपि कुम्भो-
पादानत्वाभावादित्याह—न स्वजन्यघटेति । नन्विह गवि गोत्वमिदं पटे शौक्ल्यमिहमृदि घट इत्यादौ
समवायाश्रय एवाधारस्तद्वहितेषु तु गौणः आधारशब्दप्रयोग इति तत्राह—नापि समवायित्वमिति ।
नच तत्र गौणता द्वैपरीत्यस्यापि सभवादिति भावः । अस्तु तर्हि संयोगित्वं तथाच कुण्डे बदरमित्यादिसृ-
हीतमिति तत्राह—नापि संयोगित्वमिति । न केवलमव्याप्तिरतिव्याप्तिश्चेत्याह—संयोगिनोऽस्ति ।
यदि हि संयोगित्वमात्रमाधारार्थं तदा तदुभयोरपि समानमिति घटे भूतलं बदरे कुण्डमित्यपि स्यात् नचै-
वमस्तीत्यर्थः । श्रीवल्लभीयमाधारत्वं दूषयति—नापि पतनेति । नहि निर्गुणानां निष्क्रियाणां च गुणा-
दीनां पतनमस्ति येन तदाधारता द्रव्यस्य स्यात् । गुणादेश्च गुणत्वाद्याधारता च न स्यादिति भावः । अत
एवेति । गुणादावसंभवादेव । यदि हि गुणस्य गुणत्वादेर्वा परिमाणवत्त्वं स्यात् तर्ह्येव तदपेक्षया तदाधारद्र-
व्यादेर्महत्परिमाणवत्त्वं स्यात् नत्वेतदस्तीत्यर्थः । अव्याप्त्यन्तरं चाह—करतलेति । एवं कार्याधारत्व-
मिति पक्षं दूषयित्वा जन्येनायुतसिद्धत्वे सति जनकत्वमिति पक्षं दूषयति—नापि तृतीय इति । ज्ञाने-
च्छादौ लक्षणं वर्तयति—अस्तिहीति । द्रव्यत्वविशेषितं वेति पक्षं दूषयति—नापि चतुर्थ इति ।

यित्वलक्षणयुतसिद्ध्यभावात् । नापि चतुर्थः । व्यर्थविशेष्यत्वापत्तेः । नहि द्रव्यमुपादानमित्यभिहितेऽस्ति कचिदतिप्रसङ्गः येन जन्येनायुतसिद्धत्वमिति पदान्तरमुपादीयेत । नापि पञ्चमः निरवयवेष्वालाकाशादिष्वव्याप्तेः । नद्यालाकाशं वा ज्ञानेच्छादिरूपेण शब्दरूपेण वा परिणमते कात्स्न्यैकदेशविकल्पासहत्वात् । तन्त्वादीनामपि पटाद्याकारेण गुणकर्माद्याकारेण वा परिणामादर्शनात् नहि द्रव्यं गुणः कर्म वा भवति, तदाश्रयत्वात् । नापि षष्ठः । प्रपञ्चसत्यत्वादिभिरनङ्गीकारात् । तदेवमुपादानोपादेयभावानिरूपणान्न तदन्यथानुपपत्त्या भेदाभेदसिद्धिः ।

नापि सामानाधिकरण्यानुपपत्तिः, विकल्पासहत्वात् । तथाहि—किं शाब्दस्य सामानाधिकरण्यस्यानुपपत्तिरुतार्थिकस्य । नोभयथापि 'युक्तेः शब्दनिमित्तानामेकाधिकरण-

कार्याकारेण परिणतत्वमिति पक्षं दूषयति—नापि पञ्चम इति । अथ किमित्यात्मा ज्ञानादिरूपेण आकाशश्च शब्दरूपेण न परिणमत इति तत्राह—कात्स्न्यैकदेशेति । अयमर्थः—किमाकाशः सर्वात्मना परिणमत एकदेशेन वा । नाद्य । आकाशविनाशेनानित्यतापातात् । न विनाशस्तस्यैव शब्दत्वादिति चेत् किं कारणव्यापारवैयर्थ्यं समर्थयितुमध्यवसितोसि । अभिव्यक्तौ सार्थक्यमिति चेत् सत्यमस्तीयं किवदन्ती कापिलानां तत्र त्वदभिव्यक्तावपि किमुत्पादकतया कारणचक्रसार्थक्यमभिव्यञ्जकतया वा । ज्ञाद्ये घटकुटी-प्रभातायितम् । द्वितीये त्वनवस्थेति न किंचिदेतत् । नचोत्पत्तिप्रतिबन्दी, अनङ्गीकारात् । एकदेशपरिणामे तु किमवयव एकदेश किं वान्यत् किंचित् । नाद्य । निरवयवत्वात् । न द्वितीय । अप्रसिद्धत्वात् । भवतु वा यथातथा तथापि किमेकदेश आकाशादभिन्नो भिन्नो वा । नाद्य । पूर्वदोषात् । न द्वितीय । आकाशस्यापरिणामात् । भिन्नाभिन्नं तदिति चेत्सत्यं यदि विरोधो न स्यात् विरुद्धं तु तत् । अथाविरुद्धौ कौचन वमौ भेदाभेदाभिधानौ रूपरसाद्विषु मध्ये कयो कश्चिद्वेदाभेदनामाभिधीयते तथापि पर्यनुयुक्तयोः पक्षयोः क. परिगृहीत स्यात् । नोभयमिति चेत्, अतिकमनिर्वचनीयं हन्त शब्दाकारेणाकाशो विवर्तत इति निरवयवं निर्वेद किमिति परिणामभाषया दुर्भगया भास्करगोत्राभिसारिकया, एतेन परिणामपक्षं प्रत्याक्षीत । तदेवं कात्स्न्यैकदेशविकल्पासहत्वादाकाशादीनां न परिणाम, अथच कारणप्रसिद्धिरस्ति शब्दादिप्रतीत्यव्याप्तिरित्यर्थः । न केवलं निरवयवेषु परिणामानुपपत्तिः सावयवेष्वपीत्याह—तन्त्वादीनामपीति । तत्रापि हि कात्स्न्यपक्षे तन्तुर्विनाशान्निरुपादानरूप पट स्यात् । स्यादेकदेशपक्षेपि भेदाभेदविकल्पकल्पान्तवातनिर्मूलनोन्मूलनमिति भव । आश्रयाश्रितप्रतीतिविरोधश्चेत्याह—नहि द्रव्यमिति । द्रव्यं यत्तन्त्वादि तद्गुणः कर्म वा नहि भवतीत्यन्वयः । घटादिकार्यस्याप्युपलक्षणमिति आश्रितत्वप्रतीतेस्तत्राप्यविशेषात् । कार्यविभ्रमाधिष्ठानत्वमिति षष्ठं पक्षं दूषयति—नापीति । य. खलु कार्यकारणभावनिर्वक्ता नचासावनिर्वचनीयवादीति भावः ६

द्वे ह्यनुपपत्ती भेदाभेदसाधनाय कीर्तिते एकोपादानोपादेयभावानुपपत्ति अपरा तु सामानाधिकरण्यानुपपत्ति । तत्र प्रथमे दूषणं प्रसारितमुपसहस्य द्वितीयं दूषयति—नापीति । तत्र भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे प्रवृत्तिरूपशाब्दसामानाधिकरण्यस्यैकाविकरणत्वलक्षणार्थिकसामानाधिकरण्यस्य बाल्यन्तभेदेऽनुपपत्तिः श्लोकद्वयेन दर्शयति—युक्तेः शब्दनिमित्तानामित्यादिना । शौक्यपटत्वादीनामेकपटाधिकरणत्वादेव शाब्दसामानाधिकरण्योपपत्तेर्न शाब्दसामानाधिकरण्यं गुणगुण्यादिभेदाभेदप्रसाधकमिति प्रथमश्लोकयोजना । 'तथाऽऽर्थमपि सामानाधिकरण्यमस्य न साधकं, (कुत) धर्माणामेकनिष्ठत्वमात्रेणैवोपपत्तिः' । तथाहि धर्मधर्मिणोस्तावत्सामानाधिकरण्यमेव नास्ति अभेदानुभव इति सामानाधिकरण्यानुभवोऽत्र

त्वतः । शाब्दं न तावद्धटते भेदाभेदप्रसाधकम् ॥ ६२ ॥ धर्माणामेकनिष्ठत्वमात्रेणैवोपपत्तितः । अभेदानुभवाभावादार्थ नैवास्य साधकम् ॥ ६३ ॥ शुक्लः पट इत्यादौ शाब्दसामानाधिकरण्यस्य प्रवृत्तिनिमित्तयोरेकाधिकरणसंबन्धादेवोपपत्तेः धर्मधर्मिभेदाभेदयोरौदासीन्यात् । आर्थिकस्यापि धर्मयोरेकाधिकरणतालक्षणस्यात एवोपपत्तेः । धर्मधर्मिणोरभेदानुभवस्यासंप्रतिपत्तेश्चासाधकत्वान्, गुणो द्रव्यं कर्म द्रव्यं जातिर्व्यक्तिरिति सामानाधिकरण्यानुभवाभावात् ।

भिन्नाभिन्नमित्यत्र भिन्नशब्देन स्वरूपभेदस्याभिन्नशब्देन तदभावस्याभिधाने च भावाभावयोर्युगपदेकत्र परस्परविरोधेनासंभवान् । अभेदे च शुक्लः पट इत्यादिषु द्वितीयबुद्धिव्यपदेशयोः पौनरुक्त्यापत्तेः । नच भेदस्यापि भावात्सार्थकता अभेदस्यापि भावेवैयर्थ्यस्यापि संप्रतिपन्नांश इव दुष्परिहरत्वान् । हेत्वभावे फलाभावादौत्सर्गिकाद्धेतुभावे फलभावस्य तदुपवादतया वलीयत्वान् । अन्योन्याभावतदभावयोर्भिन्नाभिन्नशब्दाभ्या-

विवक्षितो नह्यस्त्यनुभवो रूपं पट इति वा चालन पट इति वा । तथा धर्मयोरैकाधिकरण्यमेव सामानाधिकरण्यं नाम । तथाच धर्मधर्मिणोर्भेदेपि तत्संबन्धादेव तदधिकरणत्वोपपत्तेरिति द्वितीयश्लोकयोजना । तत्रार्थं विवृणोति—**शुक्ल इत्यादिना** । धर्मधर्माति धर्मधर्मिणोर्या भेदाभेदौ तयोरौदासीन्यादित्यर्थः । द्वितीयं विभजते—**आर्थिकेति । अत एवेति ।** धर्मधर्मिसंबन्धादेवेत्यर्थः । अभेदानुभवाभावादित्यर्थं विवृणोति—**धर्मेति** । अत्राप्यभेदानुभवः सामानाधिकरण्यानुभव **असाधकत्वात्**, भेदाभेदानुभवस्येति शेषः । अनुभवाभावमेव विवृणोति—**गुण इति** ।

इदानीं भेदाभेद इत्यस्यैव तावदव्याहत कश्चिदर्थो दुर्भेदः कुत्र प्रमाणाचिन्तेत्यभिसंबिराह—**भिन्नेत्यादिना** । अत्र किं भिन्न इत्यनेन स्वरूपभेदो विवक्ष्यते अभिन्न इत्यनेन तदभावः, किंवा भिन्न इत्यनेनान्योन्याभाववत्वमभिप्रेयते अभिन्न इति च तदभावः अथवा भिन्न इति स्वरूपभेदवत्त्व अभिन्न इति चेत्-
रेतराभावराहित्यमभिधीयते इति । नाद्य इत्याह—भिन्नशब्देन स्वरूपभेदस्येति । तदा हि स्वरूपत्वमस्वरूपत्वं च भेदाभेदशब्दार्थः स्यात् तच्च विरुद्धं अविरुद्धत्वेपि धर्मिणोपि स्वापेक्षया तथात्वापातान् । पटश्चापटश्चेत्यव्यवस्थितिरेव पदार्थैरास्थिता स्यादितिभावः । किंच यदि शैल्यपटयोः स्वरूपभेदो नास्ति तदा शुक्ल इति पदेन यावानर्थोभिहितः तावानेव पट इत्यपीति पटबुद्धेस्तच्छब्दस्य च पौनरुक्त्यं भ्यान् बुद्धेश्च पौनरुक्त्यं वैयर्थ्यमेव शब्दस्य च पौनरुक्त्ये सह प्रयोगानुपपत्तिः । नच व्याख्याया मूढप्रबोधन्मर्थमयं सहप्रयोगः । नियमेन व्युत्पन्नान्प्रत्यपि प्रयोगात् । यदि च शुक्लपदस्य पट एवार्थः, तदा शुक्लो घट इत्यत्र घटस्यापि तत्त्वेन पटघटाद्वैतापात एषं सर्वत्रेति जितमस्माभिः । ननु भेदोपि धर्मधर्मिणोरस्तीति कथं नैरर्थक्यमिति तत्राह—**नचेति । संप्रतिपन्नांश इवेति पटः पट इत्यत्रेवेत्यर्थः** । ननुभयहेतुसद्भावे कोयमाग्रहो वैयर्थ्यं स्यादिति तत्र नैरर्थक्यमेवेति विनिगमनाया हेतुमाह—**हेत्वभाव इति** । औत्सर्गिकं खल्विदं यद्धेतुभावे फलाभाव इति इतरथा तयोः प्रागभावयोरनौदनोरनिवर्त्यतया नित्यमनुपपत्तिरेव कार्यस्य स्यात् तस्मात्तदुभयबाधको हेतुभावे फलभावोऽपवादः तदिहापि गुणगुणिना भेदपक्षे गुणज्ञानहेतुसद्भावेपि गुणज्ञानहेत्वभावात्तज्ज्ञानलक्षणफलाभावस्यौत्सर्गिकस्याभेदपक्षे गुणज्ञानहेतुरूपगुणज्ञानहेतुभावाद्गुणज्ञानलक्षणकार्यभावोपवादोऽवलीयानिति नैरर्थक्यमेव युक्तमित्यर्थः । द्वितीयपक्षे पूर्वमेव दूषणमाह—**अन्योन्येति** । समानोऽन्योन्याभावतदभावयोरन्येकोपाधौ विरोधः । अविरोधे गवाश्वत्वयोरश्वगोत्वयोश्च घटपटत्वयोः पटघटत्वयो-

मभिधाने विरोधपौनरुक्त्ये पूर्वोक्ते एव पुनरुपावर्तते । ननु भेदशब्देन स्वरूपभेदस्याभेदशब्देनेतरेतराभावरहितस्य वाभिधानादविरोध इति चेत् । मैवम् । इतरेतराभावस्यैवोच्छेदप्रसङ्गात् । स्वरूपभेदे विद्यमानेपि तदविरोधितया यदि कचिदितरेतरभावः स्यात् तर्हीतरेतरभावस्यैव निरङ्कुशप्रसरतयेतरेतराभावविरह एव जगति स्यादित्यद्वैतवाद एव भेदाभेदवादिना समर्थितः स्यात् ।

तदेवं भेदाभेदादिपक्षेषु कार्यकारणभावस्य दुर्निरूपत्वात्, स्वरूपतोपि विचारागोचरत्वात्, अनाद्यविद्यातद्विलसितः सकलोप्ययं प्रपञ्च इति तद्वाहिप्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधाभावाद्वेदान्तवाक्यं निरपवादमेवाद्वितीये ब्रह्मण्यपरोक्षज्ञानं जनयतीति निरवद्यम् । इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यज्ञानोत्तमपूज्यपादशिष्यश्रीचित्सुखमुनिविरचितायां तत्त्वप्रदीपिकायां लक्षणभङ्गो नाम द्वितीयः परिच्छेदः समाप्तः ॥ २ ॥

श्चेत्येतादृशस्थलेष्वपि भेदाभेदापातात् जगति विरोध एवोच्छिद्येत । नच तथा प्रमाणाभावादानुच्छेद इति वाच्यम् । अत्रापि तदसप्रतिपत्ते । किंच मद्बचनमेवात्र किमिति प्रमाणं न स्यात् । अथ विरुद्धार्थत्वादित्प्रमाणं नाप्रमाणप्रतीतेर्विरोधस्यैवाभावात् । एतेन विरुद्धमिति न क्व सप्रत्ययो यत्प्रमाणपथमवचरतीत्यादि तदपि प्रत्युक्तम् । माता मे बन्ध्येतिवद्विन्नाभिन्नमित्यपि व्याहृतार्थत्वादिति तथान्योन्याभावतद्वाहित्ये पूर्ववत्पौनरुक्त्यं चेत्यर्थः । तृतीयं शङ्कते नन्विति । तत्र तावत्स्वरूपभेदस्येतरेतरभावस्य च विरोधोक्ति नवा यद्यस्ति तदा स्वरूपभेदे सतीतरेतरभावेन न भवितव्यम् गत्यन्तराभावादित्यसम्भवेवाय पक्षः । अथ नास्ति विरोधस्तदा कचिदपीतरेतरभावो न स्यात् स्वरूपभेदस्यातत्प्रयोजकत्वे प्रयोजकान्तरानिरूपणादित्यभिप्रेत्य परिहरति—मैवमिति । एतदेवोपपादयति—स्वरूपभेद इत्यादिना ।

वादार्थोपसंहारपूर्वकं परिच्छेदार्थमुपसहरति—तदेवमित्यादिना । भेदपक्षे, अभेदपक्षे, भेदाभेदपक्षे च कार्यकारणभावस्य दुर्निरूपत्वात्स्वरूपतश्च कार्यकारणभावस्य दुर्निरूपत्वात्सकलोप्यं कार्यकारणरूपव्यणुकपरमाणात्मकतया भावाभावभेदैश्च प्रमाणप्रमेयभेदेन च द्रव्यगुणादिभेदैश्च नैयायिकवैशेषिकप्रभृतितात्त्विकैः परिकल्पितो द्वैतप्रपञ्चं शुक्तिरूपादिवदनिर्वचनीयाविद्याविलसितः । अविद्येति च अविद्याविद्यानचैतन्यमप्युपलक्ष्यते । तद्विलसितस्तद्विवर्तः । इति हेतौ । यस्मादेवं अत इति योजना । अपरोक्षेति—चोत्तरवादे बीजाकम्प । 'भेदो द्रव्यादिषट्कं क्षणनिधनमतं षट्प्रमाणान्यभावो भावः पश्चात्पराणुर्ह्यवयविसहितश्चान्ययोगो वियोगः । द्वित्वाद्विर्जातिमानं व्यणुकपरिमिता पाकजप्रक्रियाथो हेतुत्वं कालकाष्ठे जनिमदपि भिदा भेदवादो निरस्तः ॥ १ ॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीप्रत्यक्षप्रकाशपूज्यपादशिष्यस्य प्रत्यक्षस्वरूपभगवतः कृतौ तत्त्वप्रदीपिकाट्टीकाया नयनप्रसादिन्या द्वितीयः परिच्छेदः समाप्तः ॥ २ ॥

तृतीयः परिच्छेदः ।

श्रीकृष्णाय नमः ॥ ननु कथमपरोक्षज्ञानजनकता शब्दस्य । तथासत्यपरोक्षप्रमिति-
करणतया प्रत्यक्षान्तर्भावप्रसङ्गात्, धर्माधर्मप्रतिपादकवाक्येष्वदर्शनाच्च । नच दशम-
स्त्वमसीति वाक्यमुदाहरणम् । तत्रापि केवलशब्दस्यापरोक्षज्ञानजनकत्वादिन्द्रियसन्नि-
कर्षस्यापि दशमशरीरगोचरस्य तत्र भावान् । नच सत्यपीन्द्रियसन्निकर्षे तस्यादावदर्श-
नान् पश्चाद्वाविशब्दजनिततैव तस्येति निश्चेतुं शक्यम् । रत्नतत्त्वाधिगमेपि तथात्वप्रस-
ङ्गात् । तथाहि—सत्यपीन्द्रियसन्निकर्षे अनधिगत रत्नतत्त्वपरीक्षाशास्त्रः पुष्परागादिभेदं
न प्रत्यक्षतः प्रतिपद्यते, अधिगतशास्त्रार्थस्तु नत्तत्त्वं प्रतिपद्यते नचैतावता शास्त्रं तत्र प्र-
त्यक्षप्रमितिजनकमभ्युपेयते ।

यत्पुनरिह कैश्चिदुच्यते—विमतं शाब्दज्ञानमपरोक्षमपरोक्षविषयत्वात्सुखज्ञानवदिति ।
तत्र किमिदमपरोक्षत्वं शाब्दज्ञानस्य किं साक्षात्कारत्वजातिमत्त्वमपरोक्षव्यवहारहेतुत्वं वा ।
नाद्यः । अयं घट इति शब्देऽनैकान्तान् । प्रतिपत्तिव्यवधानमन्तरेण तद्विषयत्वमपरोक्षविषयत्व-

ॐ श्रीगणेशाय नमः ॥ किं त्रैलोक्यसरोवरस्य नचिरादुन्निद्रमेकाम्बुजं किं वा योगिमनःसरोरुहवनप्रो-
द्धोदको भानुमान् । किं वा सस्रतिसूरतप्तजनतामोदे सुधादीधितिर्द्वेसौ विविधं विभावितवपु श्रीसुन्दर
पातु व ॥ १ ॥ इति स्म निर्वैकथ निरूपित समस्तवेदान्तवचोभिरद्वयम् । अथ स्वतः सिद्धविमुक्तये नयै-
रुपायविज्ञानशरीरचिन्तनम् ॥२॥ अनेन च हेतुहेतुमल्लक्षणः परिच्छेदयोः सवन्धोपि दर्शितः । अविरोद्धतया
साध्येवधृते हि साधनान्वेषणावकाश इति । अपरोक्षज्ञानं जनयतीत्युक्तममृश्यमाणा वैशेषिकादयो मीमांस-
काश्च केचिन्मण्डनमिश्रप्रभृतयः प्रत्यवतिष्ठन्ते—ननु कथमिति । न केवलं शब्दत्वहान्या प्रत्यक्षत्वोप-
त्तिर्बाधिका अनुपैलब्धिपराहतिश्चेत्याह—धर्माधर्ममिति । ननु यद्यपि ज्योतिष्टोमादिवाक्येष्वदृष्टं तथापि
विषयविशेषप्रयुक्त्या तत्र तथात्वं किं न स्यात्, यथा दशमस्त्वमसीत्यत्र । सच भ्रान्तिविभ्रान्तचेता परि-
त्यक्तमात्मानं दशमतया वाक्यादेव साक्षात्करोति कश्चिदित्यत्राह—नच दशम इति । यथाहि रत्नतत्त्वा-
दावुपदेशसहितं प्रत्यक्षमेव साक्षात्कारहेतुर्न केवलं शब्दस्तथेहापीत्यर्थः । प्राप्ताप्राप्तविवेकेन शब्दस्यैव कर-
णतामाशङ्क्य रत्नतत्त्वप्रतिबन्धा परिहरति—नचेत्यादिना । तत्रापि प्राप्ताप्राप्तविवेकमाभ्यमाह—तथा-
हीति । अनधिगतं रत्नतत्त्वपरीक्षाशास्त्रं येन पुसा स तथोक्तः । पुष्परागो रत्नविशेषः । -

न्यायरत्नदीपावलीकृतामनुमानमुद्गावयति—विमतमिति । ज्योतिष्टोमादिवाक्ये बाधसिद्ध्योः परिहा-
राय विमतमित्युक्तम् । तत्त्वमस्यादिशब्दजनितज्ञानमित्यर्थः । प्रत्यक्षेणार्थान्तरतानि वृत्तयैः शब्दग्रहणम् ।
अयं घट इतीति । अस्ति ह्ययं घट इति शब्दस्य पुरोवर्त्यपरोक्षघटविषयत्वम् । अथ न साक्षात्कार-
त्वजातिज्ञानवृत्तितात्तस्या इत्यर्थः । नन्वपरोक्षविषयत्वादिति हेतोरयमर्थः—यज्ज्ञानव्यवधानमन्तरेण तद्वि-
षयत्वमिति । नच शब्दस्य तथात्वमस्ति । तद्विषयज्ञानजननद्वारा हि शब्दादीनामर्थविषयत्वम् । नच ज्ञानस्य
ज्ञानजननद्वारा अर्थविषयत्वम् । तत्कुतोऽनैकान्तिकतेति शङ्कते—प्रतिपत्तीति । तथाप्यनैकान्तिकमि-
त्याह—अयमिति । अग्रिमत्त्वात् परोक्षः । पर्वतागोऽपरोक्षः । नह्यानुमानिकज्ञाने साक्षात्त्वजातिरिति
भावः । ननु परोक्षाविषयत्वे सत्यपरोक्षविषयत्वं हेतुः । नचानुमानिकज्ञानमेव मनो नातिव्याप्तिरिति शङ्कते

मिति चेन्न । अयं पर्वतोऽग्निमानिति परोक्षापरोक्षविषयानुमानिकज्ञाने व्यभिचारात् । अपरोक्षमात्रविषयत्वं विवक्षितमिति चेत् । न । सुखेच्छायां व्यभिचारात् । तज्जनकज्ञानस्य तद्विषयत्वादिच्छायास्तद्विषयत्वमुपचर्यते इति चेत् । मैवम् । तथाप्यविद्यायां व्यभिचारात् । स्वतोऽपरोक्ष आत्मैवाविद्याया आश्रयो विषयश्चेति भवद्भिरभ्युपगमात् । नापि द्वितीयः । अविद्यायामेव व्यभिचारात् । तस्या अपरोक्षात्विषयत्वेपि तद्विपरीतव्यवहारहेतुतया तद्व्यवहारहेतुत्वाभावात् ।

अपरोक्षव्यवहारहेतुत्वमेव हेतुरिति चेन्न । साध्याविशिष्टत्वप्रसङ्गात्, प्रतिप्रयोगसंभवाच्च । विवादाध्यासितः शब्दः अपरोक्षज्ञानजनको न भवति शब्दत्वात्, ज्योतिष्टोमादिवाक्यवदिति । अत्रोच्यते—‘साक्षात्करणहेतोरप्यप्रत्यक्षत्वसंभवात् । दशमस्त्वमसीत्यादौ शब्दादेव तदुद्भवात्’ ॥ १ ॥ यत्तावदुक्तमपरोक्षप्रमितिकरणत्वे प्रत्यक्षान्तर्भावः स्यादिति तत्र ब्रूमः—अभ्युपगम्यते हि परेणापि योगिमनसो बाह्यविषयापरोक्षप्रमितिकरणता, तथापि, न बाह्यप्रत्यक्षान्तर्भावस्तस्याभ्युपेयते एवं शब्दस्यापरोक्षप्रमितिजनकत्वेपि प्रत्यक्षान्तर्भावो माभूत् । अथ तत्र बाह्यप्रत्यक्षान्तर्भावे चक्षुरादीनामन्यतमत्वं योगिमनोन्यत्वे सति बाह्यप्रत्यक्षप्रमितिकरणत्वं वा प्रयोजकं हन्तेहापि तर्हि स्वतोपरोक्षब्रह्मात्मविषयशब्दान्यत्वे सत्यपरोक्षप्रमितिकरणत्वं प्रत्यक्षान्तर्भावे प्रयोजकमस्तु, सिद्धे शब्दस्यापरोक्षप्रमितिकरणत्वे तद्व्यावृत्त्यर्थं विशेषणं युक्तं तदेव तु कथमिति चेन्, दशमस्त्वमसीत्यादिवाक्येषु दर्शनादिति ब्रूमः ।

—अपरोक्षमात्रेति । तथापि सुखेच्छाया व्यभिचारः । तस्या अपरोक्षसुखविषयत्वेपि साक्षात्वानधिकरणत्वादित्याह—न सुखेच्छायामिति । इच्छाया सविषयत्वमौपचारिकं मुख्यं च विवक्षितमिति शङ्कते—तज्जनकेति । ननु कथमपरोक्षविषयत्वमविद्याया येनानैकान्तिकतेति तत्राह—स्वत इति । भवद्भिरिति एकजीववादिभिरित्यर्थः । अपरोक्षव्यवहारहेतुत्वमपरोक्षत्वमिति द्वितीये पक्षेऽप्यविद्याया व्यभिचारस्तत्र हेतुसद्भावेपि साध्याभावादित्याह—नापि द्वितीय इत्यादिना ।

नन्वपरोक्षविषयत्वादिति हेतोरयमर्थः—यदपरोक्षव्यवहारहेतुत्वादिति, तथाच नाविद्याया विपरीतव्यवहारजनिकायामनैकान्त्यमिति शङ्कते—अपरोक्षेति । परिहरति—न साध्येति । सत्प्रतिपक्षं चेदमनुमानमित्याह—प्रतिप्रयोगेति । ज्योतिष्टोमादिवाक्येषु सिद्धसाधनतापरिहाराय विवादेति विशेषणम् । बाधसाध्यवैकल्ययोः परिहारायापरोक्षेति विशेषणम् । साक्षादिति । अत्र किं बाधकवशाच्छब्दस्यापरोक्षज्ञानजनकत्वं नैव्यतेऽदर्शनाद्वा । नायं । तदसिद्धे । नतावत्प्रत्यक्षान्तर्भावो बाधकः । नहि साक्षात्कारिज्ञानहेतुतामात्रेण प्रत्यक्षत्वं संभवति । शब्दव्यतिरिक्तत्वे सति तादृशस्य तत्प्रयोजकत्वात् । ननु दृष्टे शब्दस्य तद्वेतुत्वे प्रयोजकसंकोचो युक्तस्तदेव कथमिति तत्राह—दशम इति । ननु तत्रापीन्द्रियमेव करणमित्युक्तं तत्राह—शब्दादेवेति । श्लोक विवृणोति—यत्तावदित्यादिना । अत्र प्रत्यक्षविशेषप्रयोजके प्रतिबन्दी गृह्णाति—अभ्युपगम्यते हीति । विशेषणं दर्शयन्नाभासतां प्रतिबन्ध्या । शङ्कते—अथ तत्रेति । अनीश्वरप्रत्यक्षेषु चेदं प्रयोजकगवेषणमिति द्रष्टव्यम् । नायं विशेषः । प्रकृतेष्वेवं शब्दसंकोचत्वादिति परिहरति—हन्तेति । उत्तरार्थस्य शङ्कामाह—सिद्ध इति । एतत्परिहारहेतुत्वेन तृतीयपादमवतारयति—दशम इति ।

ननु तत्रापीन्द्रियसहितस्यैव तद्धेतुत्वं न केवलस्येत्युक्तमिति चेन्, अत्रापि तर्हि मनः-
सहायस्यैव शब्दस्यापरोक्षप्रतीतिहेतुतास्तु । ननु तत्रेन्द्रियस्यैव करणत्वं शब्दस्य तु सह-
कारितामात्रमिति चेन्न । शब्द एव करणमिन्द्रियं सहकारीति वैपरीत्यमेव कुतो न स्यान्
अन्वयव्यतिरेकयोस्तूभयत्राविशिष्टत्वात् । तथापि विनिगमनायां को हेतुरिति चेन्,
कचिद्बहुलतमे तमसि कचिच्च लोचनविरहिणोपि वाक्यादृशमोक्षीत्यपरोक्षप्रमितिदर्शन-
मेवेति वदामः । भवत्वेवं तथापि ब्रह्मसाक्षात्कारे करणं मन एव 'मनसैवेदमाप्तव्य'मि-
त्यादिश्रुतेः । 'यन्मनसा न मनुते, अप्राप्य मनसा सहे'त्यादिश्रुतेश्चानधिकृतमनोविषय-
त्वादिति चेन्मैवम् । 'तद्धेत्यादिश्रुतेः कापि मनसः तदयोगतः । शब्दत्वानुमितेर्वाधा-
व्यभिचारादनुत्थितेः' ॥ २ ॥ 'तद्धास्य विजिज्ञौ तमसः पारं दर्शय'तीति चोपदेशमात्रा-
देवापरोक्षप्रमित्युपपत्तिप्रतिपादनान् । नन्वेतानि वचनान्यागमाचार्योपदेशयोर्न साक्षा-
त्कारहेतुतां प्रतिपादयन्ति । साक्षात्कारहेतोर्मनसः सहायताप्रतिपादनपरत्वेनाप्युपपत्तेः ।
अन्यथा श्रवणोत्तरकालयोर्मनननिदिध्यासनयोर्विधानानर्थक्यान्, श्रवणैव साक्षात्का-
रोत्पत्तेः, श्रुतवेदान्तानामपि पूर्ववत्संसारानुवृत्तिदर्शनाच्चेति चेन् । मैवम् । असंभावना-
विपरीतभावनाख्यस्य चित्तविक्षेपलक्षणस्य च प्रतिबन्धस्य निरासद्वारेण मनननिदिध्या-
सनयोः फलोपकार्यङ्गतयापि श्रवणं प्रति विधानोपपत्तेः, पूर्ववत्संसारित्वोपलब्धेः

चतुर्थपादस्य शङ्का दर्शयति—**ननु तत्रापीति** । तत्र किं शब्दः करणमिन्द्रियं तु सहकारीत्यभिधीयते
किं वा गुडजिह्विकयेन्द्रियस्यैव करणत्वं शब्दः सहकारीत्यभिधित्सुतम् । आद्ये प्रकृतेऽप्यस्त्येवेन्द्रियं सहाय-
मित्याह—**अत्रापीति** । तथाच शब्दस्य करणत्वं न व्याहतमिति भावः । द्वितीये शङ्कते—**ननु तत्रेति** ।
तदेतद्विनिगमनेन दूषयति—**न शब्द एवेति** । विनिगमनायां शब्द एव करणमिति निर्णय इत्यर्थः ।
हेतुं दर्शयति—**कचिदिति** । लोचनविरहिणः सलोचनस्यापि गाढान्वकारनिरुद्धतया अव्यापृतलोचनस्य
शब्दादेवापरोक्षज्ञानदर्शनमेव नियामकमित्यर्थः । उपलक्षणं चैतत्स्पर्शनव्यापाराभावस्यापि । भवत्वेवं दृश-
मस्त्वमसीत्यादौ प्रकृते तु न युक्तं श्रुतिविरोधादिति शङ्कते—**भवत्वेवमिति** । आदिशब्देन 'हृदा मनी-
षया मनसाभिरुक्तं दृश्यते त्वम्यया बुद्धे'त्यादिश्रुतयो गृह्यन्ते । ननु 'यन्मनसा न मनुते' इत्यादिषु मनसा
पुरुषो यद्ब्रह्म न मनुते' तथा वाचो मनसा सहाप्राप्य यतो निवर्तन्त इति मनोगम्यत्वमपि निषिद्धं तत्कथं
मन एव करणमिति तत्राह—**यन्मनसेति** । अनधिकृतमनः असंस्कृतमनः । सिद्धान्ती परिहरति—
मैवमिति । 'तद्धास्य विजिज्ञौ'वित्यादिश्रुतेस्तावदुपदेशमात्रादपरोक्षज्ञानजन्मावसीयते, नचैतां श्रुतयो
मनः प्रति सहायतामुपदेशस्य दर्शयन्ति, न तु करणतामिति युक्तं, मनसः कचिदपि साक्षात्कारहेतुत्वायो-
गात् । यत्तु शब्दत्वादित्यनुमानमुक्तं तत्राह—**शब्दत्वेति** । उक्तश्रुतिविरुद्धतया कालात्ययापदिष्टत्वाद्दृश-
मस्त्वमसीत्यादौ व्यभिचाराच्च शब्दत्वादित्यनुमितेरनुत्थितेरित्यर्थः । श्लोकं विवृणोति—**तद्धास्येति** ।
अस्याचार्यस्योपदेशेन तदुपदिश्यमानं ब्रह्म विजिज्ञौ विशेषेण विज्ञानवान् शिष्य इत्यर्थः । **तमसः** शोका-
दिकारणाज्ञानस्य **पारम्** अन्तम् । निरवधं ब्रह्म दर्शयति—**अदर्शयदित्यर्थः** । मनननिदिध्यासनविधानत्वेन श्र-
वणं न साक्षात्कारहेतुरित्याह—**अन्यथेति** । इतोपि न श्रवणरूपोपदेशमात्रासाक्षात्कारोत्पत्तिरित्याह—
श्रुत इति । तत्र तावच्छ्रवणं प्रति फलोपकार्यङ्गतयोपयोग मनननिदिध्यासनयोर्दर्शयति सिद्धान्ती—**मैव-**
मित्यादिना । यद्यपि चित्तगतमलक्षणप्रतिबन्धो यद्वादिभिः शुद्धाध्यायकैर्निवारितः तथापि दृष्टस्य विक्षे-
पलक्षणप्रतिबन्धस्य ताभ्यां निरासः अनुयाजादिवच्च फलोपकार्यङ्गतयोत्तरकालत्वमपि न विरुध्यत इति
भावः । अनुपपत्त्यन्तरं परिहरति—**पूर्ववदिति** । नहि प्रतिबन्धे सति कार्यानुत्पादकत्वं कारणता वि-

प्रतिबद्धविज्ञानपुरुषविषयत्वात् । मनसैवेदमाप्तव्यमित्यादिश्रुतेश्चिन्तैकाग्र्यस्याङ्गताप्रतिपादनपरत्वात् ।

मनसश्च नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावब्रह्मात्मसाक्षात्कारहेतुत्वस्यादृष्टचरतया तत्र शब्दस्य सहकारित्वकल्पनानुपपत्तेः । तथात्वे श्रवणादीनामेव वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । सुखादीनां साक्षिवेद्यत्वादात्मनश्च स्वयं प्रकाशत्वात् मनसः कचिदपि साक्षात्कारहेतुत्वासंप्रतिपत्तेः । भावनासहायस्य तु मनसो गरुडादिसाक्षात्कारप्रमित्यनुत्पादकत्वात् । तदपरोक्षस्य च विधुरपरिभावितकामिनीसाक्षात्कारवद्विभ्रमत्वात् । अप्रमारूपसाक्षात्कारस्यापि साक्षिरूपतया मानसत्वाभावात् । इह च 'भिद्यते हृदयप्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः, तमसः पारं दर्शयति, भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः, तरति शोकमालवित्, योस्माकं अविद्यायाः परं पारं तारयसि, मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते, तरत्यविद्यां वितता'मित्यादि-श्रुतिस्मृतिषु ब्रह्मविद्याया एवाविद्यानिवर्तकत्वश्रवणात् पारिशेष्यात्तत्कारणं वेदान्तवाक्यमिति निश्चीयते ।

श्रूयतेच—'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तं, तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि, वेदान्तविज्ञान-मुनिश्चितार्था'इति । अत्र हि वेदान्तवाक्यजन्यज्ञानस्य विज्ञानमिति विशेषणेन विशेष-विषयत्वप्रतिपादनात् निश्चयहेतुत्वे सिद्धेऽपि सुशब्दविशेषणेनापरोक्षनिश्चयहेतुत्वप्रतिपाद-

हन्ति । उक्तं च सूत्रकृता—'ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनादिति भावः । या तु श्रुतिर्मनस साक्षात्कारकरणत्वे प्रमाणमुक्ता तामन्यथयति—मनसैवेति ।

यत्तु तदेत्यादिश्रुतीनामुपदेशस्य मनःसहायताप्रतिपादकतयाऽनुपपत्तेरिति तत्राह—मनसश्चेति । अदृष्टचरतयेति । श्रुत्यादिष्विति शेषः । बाधकान्तरं चाह—तथात्व इति । इदानीं कापि मनसस्तद-योगत इत्येतद्विवृणोति—सुखादीनामिति । एनेन साक्षात्कारहेतुतया क्लृप्तस्य मनसः सभवे शब्दस्य तत्कल्पनानुपपत्तेरिति वाचस्पतिमिश्रैरुदीरितमपोदितं मन्तव्यम् । ननु कथं साक्षात्कारहेतुत्वासंप्रतिपत्तिर्यावता भावनापरिपाकसहकृतमनसो दृष्टं गरुडादिसाक्षात्कारहेतुत्वमिति तत्राह—भावनेति । किं तर्हि तदित्यत आह—तदपरोक्षेति । पूर्वं साक्षात्कारहेतुत्वमङ्गीकृत्य प्रमितिहेतुत्वं नास्ति इत्युक्तमिदानीं तदपि न मनोजन्यमित्याह—अप्रमेति । एतेनाप्रमारूपसाक्षात्कारहेतोर्मनसः कचिदप्रमाहेतुत्वेनापि भवितव्यं नयनादिवदिति पर्याययोगोपि परास्तः । प्रस्तुतस्थले च प्रमारूपसाक्षात्कार एवाविद्यानिवृत्तिक्षम श्रुतिभिरव-गम्यते तत्रच मनसः करणत्वनिषेधात्करणान्तरानिरूपणाच्च वेदान्तवाक्यमेव करणमित्याह—इह चेत्यादिना । अथवात्रापि साक्षिरूप एव साक्षात्कारोऽविद्यानिवर्तकः अतस्तत्करणत्वेन शब्दकल्पनमपि मनोव-देवायुक्तमिति तत्राह—इहचेति । 'मामेव, तरत्यविद्या'मिति स्मृती । शोककारणाविद्यामित्यर्थः ।

वेदादेव परमेश्वरज्ञानमित्यत्र साक्षादेव श्रुतिरस्तीत्याह—श्रूयते चेति । तं बृहन्तम् अपरिच्छिन्नं परमेश्वरं अवेदवित् अवेदज्ञः पुरुषो न मनुते, अपितु वेदज्ञ एव जानातीत्यर्थः । अत्र च वेदशब्देन तदेकदेशा वेदान्ता विवक्ष्यन्ते । अथवा सप्रपञ्चनिष्प्रपञ्चप्रतिपादकतया सर्व एव विवक्षिताः । उपनिषत्त्वेव वेद्यत इत्यौपनिषदः । वेदान्तजनितं विज्ञानं वेदान्तविज्ञानम् । नन्वत्र साक्षात्कारः कथं लभ्यते नापि विज्ञानमित्युपसर्गबलात् तस्य विशेषेण ज्ञानमिति निश्चयमात्रपर्यवसितत्वादिति तत्राह—अत्रेति । चकारस्तूपप-

नाच्चायेमर्थो निश्चीयते । यत्पुनः शब्दत्वादित्यनुमानं तच्छ्रुतिविरुद्धतया कालात्ययाप-
दिष्टम्, दशमस्त्वमसीत्यादिवाक्येऽनैकान्तं च । 'प्रतिप्रयोगयोगाच्च विपक्षे बाधसंभवान् ।
तस्याभाससमानत्वाच्छब्दादेवापरोक्षधीः' ॥ ३ ॥ प्रतिप्रयोगश्च अपरोक्षत्वं तत्त्वमसी-
त्यादिवाक्यजन्यज्ञानवृत्ति अपरोक्षज्ञाननिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वान् ज्ञानत्ववन् । नच
परोक्षत्वं तद्वृत्तिपरोक्षज्ञाननिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वादिति सप्रतिसाधनता । सिद्ध-
साधनत्वात् । इष्यते हि तस्यासंभावनाविपरीतभावनाप्रतिवद्धान्तःकरणे पुरुषे परोक्ष-
ज्ञानजनकत्वम् ।

'तद्धास्य विजिज्ञा'विति श्रुतिविरुद्धतया कालात्ययापदिष्टत्वाच्च । नचापरोक्षत्वम-
ग्निहोत्रादिवाक्यजन्यज्ञानवृत्ति अपरोक्षज्ञाननिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वान् ज्ञानत्वव-
दित्याभाससमानयोगक्षेमता । विपक्षे बाधकतर्काभावेन तस्याप्रयोजकत्वान् । किं वाक्या-
प्रामाण्यानुपपत्तिर्बाधिका उतानुष्ठानानुपपत्तिः स्वर्गादिफलसिद्धिर्वा । न्यद्यः, अनुमा-
नादिब्रह्माप्रामाण्योपपत्तेः । न द्वितीयः, परोक्षनिश्चयादायनुष्ठानसिद्धेः । न तृतीयः,
अनुष्ठानादेव फलसिद्धेः । इह त्वाप्तविज्ञानस्य मोक्षसाधनत्वश्रुत्यन्यथानुपपत्तिरेव वा-
धिका । तथाहि—'ब्रह्मविदाप्नोति परं, ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति, तरति शोकमात्मवि'-
दिति वेदान्तवाक्यजनितात्मविज्ञानान्मोक्षः श्रूयते सच सविलासाज्ञाननिवृत्तिलक्षणः,
संसारस्य दुर्निरूपत्वेनाविद्यारूपत्वात्, तस्य चाहं कर्ता भोक्तेत्याद्यपरोक्षविभ्रमलक्षणस्य
परोक्षज्ञानान्निवृत्त्यनुपपत्तेः ।

त्येदमुपसर्गसामर्थ्यं समुच्चिनोति । ता चोपपत्तिं वक्ष्यति । उत्तरार्धं विवृणोति—यत्पुनरिति । दूषणान्तर-
चानुमानस्य श्लोकेनाह—प्रतिप्रयोगेति । अपरोक्षत्वमित्यादिप्रतिप्रयोगसंभवात् । नन्वपरोक्षत्वस्यातिह्ये-
त्रादिवाक्यजन्यज्ञानवृत्तित्वमप्येवं शक्यानुमानमित्याभाससमानतेति तत्राह—तस्याभाससमानत्वा-
दिति । तत्र हेतु विपक्षे बाधसंभवादिति । श्लोकं विवृणोति—प्रतिप्रयोगश्चेति । ज्ञानवृत्तीत्युक्ते प्रत्य-
क्षवृत्तितया अर्थान्तरता तदर्थं वाक्यजन्यज्ञानवृत्तीत्युक्तम् । तथापि विवक्षितासिद्धिः । वाक्यान्तरमादाया-
प्युपपत्तेरित्यत उक्तं—तत्त्वमस्यादीति । असिद्धिनिवृत्त्यर्थं हेतावपरोक्षग्रहणम् । सविकल्पकत्वादिना
वेदान्तवाक्यजन्यज्ञानानिष्ठेन व्यभिचारनिरासार्थमत्यन्ताभावग्रहणम् । द्वितीयेपि शाब्दावृत्त्यनुमितित्वादि-
निवृत्त्यर्थमत्यन्ताभावग्रहणम् । असिद्धिनिवृत्त्यर्थं च परोक्षग्रहणम् । सिद्धसाधनतामेव विवृणोति—
इष्यते हीति ।

अथ ब्रूयाद्भवदभिमतज्ञानवृत्तित्वमनुमेयमिति तत्राह—तद्धास्येति । तस्याभाससमानत्वादित्यस्याशङ्कां
पठति—नचापरोक्षत्वमिति । विपक्षे बाधकमेव विकल्पयति—किं वाक्येत्यादिना । यदि ह्यपरो-
क्षज्ञानजनकं न भवेत् तर्ह्यप्रमाणं स्यादिति तावन्न बाधकम् अनुमाने व्यभिचारादित्याह—अनुमानेति ।
विपक्षे बाधसंभवादित्येतद्विवृणोति—इह त्विति । श्रूयता नाम ततः किमिति तत्राह—सचेति । यथा
चाज्ञाननिवृत्तिर्मोक्षः तथा चतुर्थपरिच्छेदे वक्ष्यते । ननु संसारनिवृत्तिर्मोक्षः किमिदमुच्यते अविद्यानिवृत्ति-
रिति तत्राह—संसारस्येति । तथापि वाक्यजन्यज्ञानस्यापरोक्षत्वं विना किमनुपपन्नं तत्राह—तस्य
चेति । दिङ्मोहादौ तथा दर्शनादिति भावः । एतेन योपपत्तिर्वक्ष्यतीत्युक्ता सापि प्रदर्शिता ।

ब्रह्मणि च सकलकरणागोचरे प्रमाणान्तरेण प्रत्यक्षज्ञानानुत्पत्तेर्वाक्याच्चापरोक्षज्ञानानुत्पत्तावनिमोक्षः स्यादिति विपक्षे बाधकतर्कसंभवान्नाभाससमानतानुमानस्य, तस्माच्छब्दादेवापरोक्षज्ञानात् कैवल्यमिति सकलमनाविलम् । ननु कथं ज्ञानात्कैवल्यं तस्य स्वर्गादिफलकर्मशेषतया स्वतन्त्रफलसाधनत्वाभावात्, देहव्यतिरिक्तासत्तत्त्वविज्ञानव्यतिरेकेण पारलौकिककर्मणि प्रवृत्त्ययोगात्, फलश्रुतेश्चापापश्लोकश्रवणवदर्थवादत्वात् । तथाचाहुः—‘आत्मा ज्ञातव्य इत्येतन्मोक्षार्थं न च चोदितम् । कर्मप्रवृत्तिहेतुत्वमात्रज्ञानस्य लक्ष्यते । विज्ञाते चास्य पारार्थ्ये पापिनामफलश्रुतिः सार्थवादी भवेदेव न स्वर्गादेः फलान्तर’मिति । देहव्यतिरिक्ताज्ञानस्य कर्मप्रवृत्त्युपयोगित्वेऽप्यशनायाद्यतीतब्रह्मविज्ञानस्य न तच्छेषत्वमनुपयोगादधिकारविरोधाच्चेति चेन्मैवम् । आज्यावेक्षणव्रीहिप्रोक्षणादिवददृष्टद्वारेणोपपत्तेः । नचाधिकारविरोधः । तथाभूतब्रह्मविदामपि यमनियमादौ प्रवृत्तिवत्कर्मप्रवृत्त्यविरोधात् । जनकोद्दालकप्रभृतीनां तथाभूतानामपि कर्मणि प्रवृत्तिदर्शनाच्चेति

नन्वपरोक्षज्ञानमपि मनसैवोत्पद्यतामिति तत्राह—**ब्रह्मणीति । प्रत्यक्षेत्यपरोक्षज्ञानं विवक्षितम् ।** वा दार्थ्यमुपसहरश्चतुर्थं पादं व्याचष्टे—**तस्मादिति ।** ज्ञानात्कैवल्यमित्युक्तमसहमानं कर्ममीमांसक आक्षिपति—**ननु कथमिति ।** ननु कथमात्मज्ञानस्य कर्मशेषता तद्विधकप्रमाणाभावात्, नह्यात्मज्ञानेन कर्मं कुर्यादिति काचिच्छ्रुतिरस्ति विनियोक्ती, नापि लिङ्गमसमर्थत्वात्, नापि वाक्यं पदद्वयसमभिव्याहाराभावात्, नापि प्रकरणं साकाङ्क्षविधिसन्निध्यभावात्, नापि स्थानं कर्मसन्निधावपठ्यमानत्वात्, नापि समाख्या सज्ञा-साम्याभावात्, ततः कथं कर्मशेषत्वमिति तत्राह—**देहव्यतिरिक्तेति ।** यद्यपि श्रुत्यादीनि न सन्ति तथापि सामर्थ्यलक्षणमस्ति लिङ्गं विनियोजकं भस्मीभूयमानदेहस्य पारलौकिकफलोपभोगासमवादिति भावः । ननु मोक्षाख्यं फलमात्मज्ञानस्य श्रूयते ततः श्रुताधिकारस्य कथमन्यशेषत्वमिति तत्राह—**फलश्रुतेरिति ।** यथाहि—‘यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति यस्य खादिर’ सुबो भवति छन्दसामेव रसेनावद्यती’त्यादौ पर्णमयीत्वाद्याश्रित्य श्रूयमाणापापश्लोकादिश्रवणमर्थवादः तत्कस्य हेतोः परार्थत्वात् । नह्यत्र साक्षात्फलश्रवणमस्ति कामशिरस्कत्वाभावात् । कीर्तनमात्रं ह्येतत् । तथाच रात्रिसत्रवद्विपरिणेतव्यम् । नच स्वशेषिफलेनैव निराकाङ्क्षपर्णमयीतायाः फलान्तरापेक्षास्ति यदर्थं विपरिणेतव्यम् । नच वाक्यं क्रतुसंबन्धे बोधनपरमपि भवति तस्मादर्थवादः एवैतत् प्रतिबद्धफलश्रवणं, तथेहापि स्वशेषिकर्मफलेनैव निराकाङ्क्षमात्मज्ञानस्य न ब्रह्मैव भवतीत्यादिवर्तमानोपदेशविपरिणामापेक्षेत्यर्थः । तथाह परमर्षि—‘द्रव्यगुणसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्या’दिति । अत्र वार्तिककारसमतिमप्याह—**तथाचाहुरिति ।** अचोदितत्वे हेतुः **कर्ममिति ।** फलान्तरश्रवणस्य गतिमाह—**विज्ञात इति । न स्वर्गादेरिति ।** स्वर्गादेः सकाशात्फलान्तरमपि नास्तीत्यर्थः । स्यादेतत् द्विविधं ह्यात्मज्ञानमेकं स्थूलदेहमात्रव्यतिरिक्ततया अपरं सूक्ष्मदेहमात्रकारणाविद्यातिरिक्ततया तत्र प्रथमं कर्माङ्गं भवति इतरत्तु न तथा, अनुपयोगात् प्रत्युताधिकारविरोध एव । नाहं भोक्तैवमिममन्यमानः कथं भोक्ता स्यात्, नाहं कर्तैवमिममन्यमानो वा कथं कर्ता स्यादिति शङ्कते—**देहव्यतिरिक्तेति ।** अशनायादीत्यादिशब्देन ब्राह्मण्यादिजातिराहित्यं गृह्यते तेन चाधिकारान्वयः प्रतिषिध्यते तत्रानुपयोगं परिहरति—**आज्यावेक्षणेति ।** दृष्टोपयोगाभावेऽप्यदृष्टोपयोगोऽस्ति शास्त्रैकगम्यत्वादस्येत्यर्थः । अधिकारविरोधं परिहरति—**नचाधिकारेति ।** यथाहि तथाविधाभिमानेपि यमादौ प्रवृत्तिर्विहितत्वात्तथा कर्मण्यपि विहितत्वादेव प्रवर्तितव्यं शास्त्रेण च तथाविधाभिमाने विद्यमानेपि प्रवृत्तिरुपदिश्येत को विरोधः प्रत्युत प्रत्युत एव तदकरणे स्यादिति भावः । अस्ति चात्र लिङ्गं यदात्मज्ञाने विद्यमानेपि कर्मप्रवृत्तिर्न विरुध्यते इत्याह—**जनकेति ।** सिद्धान्ती समाधत्ते—**अत्रेति ।** आद्यपादं विवृणोति—

चेत् । अत्रोच्यते—‘अभावाच्छ्रुतिलिङ्गादेरुपयोगानिरूपणान् । अधिकारविरोधाच्च कर्माङ्गं नास्मत्त्वधीः’ ॥ ४ ॥ न तावदैन्द्रा गार्हपत्यमुपतिष्ठत’ इतिवदात्मविज्ञानस्य कर्माङ्गत्वे श्रुतिरस्ति ।

नच यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति श्रुतिः तस्याः प्रकृतोद्गीथविद्याविषयत्वात् । श्रद्धादिवत्सार्वत्रिकं किन्नस्यादिति चेत् । तथाप्युपासनानुष्ठानस्यैव तदङ्गतास्तु उपासनाप्रकरणे पाठात् । नापि बर्हिर्देवसदनं दामीतिवच्छ्रुतसामर्थ्यलक्षणं लिङ्गमस्ति न चोद्दालकादीनां कर्मणा सहात्मविज्ञानसद्भावे लिङ्गं किं प्रजया करिष्यामः किमर्थं वयमध्येष्यामह इति च वैपरीत्यस्यापि दर्शनान् ।

नच ‘यस्य पर्णमयी जुहूर्भवती’तिवद्वाक्याद्विनिर्माणः । पर्णमयीत्वादिवदात्मनोऽन्यभिचरितक्रतुसंबन्धाभावात्, तस्य लौकिकवैदिककर्मसाधारण्यात् । नचात्मज्ञानं कर्म-

न तावदित्यादिना । यथा ‘ह्येन्द्रा गार्हपत्यमुपतिष्ठत’ इत्येन्द्रा न कदाचन स्तरीरसात्युचो गार्हपत्यमिति गार्हपत्योपस्थाने तृतीयया विनियोगः किञ्चित्प्रति हि शेषत्वं तृतीययावगम्यते तच्च किञ्चित्किमित्यपेक्षाया गार्हपत्यमिति विशेषसमर्पणं गार्हपत्यमिति च द्वितीयया किञ्चित्प्रति शेषित्वं गार्हपत्यस्य प्रतीयते ऐन्द्रीपदेन च शेषविशेषः समर्प्यते अत एव च न वाक्यगम्यत्वशङ्कापि न तथेहात्मज्ञानस्य कर्मशेषवबोविका काचन विनियोजिका श्रुतिरस्तीत्यर्थः ।

ननु ‘यदेव विद्यया करोति’ श्रद्धया आस्तिक्यबुद्ध्या उपनिषदां गृहस्यविज्ञानेन च करोतीति विद्याया कर्मण्यस्ति विनियोग इति तत्राह—**नचेति ।** अत्र तावत्सर्वविद्यानां सर्वकर्मसु विनियोगो न यथाश्रुतिप्रतिपिपादयिषितः । अशक्यत्वात् । तस्माद्योग्यविषये सङ्गच्छन्ती श्रुतिः प्रकरणमनुर्योद्गीथविद्याविषयनया च तिष्ठते तेन नात्मविद्यामास्कन्दत इत्यर्थः । एतद्वैवाक्षेपसमाधानाभ्यां दर्शयति—**श्रद्धादिवदित्यादिना ।** यथा स्वविशेषितश्रद्धामात्रस्य सर्वकर्माङ्गत्वमेवं विद्यामात्रस्यापि कर्ममात्रगोपता किं न स्यादित्यर्थः । **तदङ्गतेति ।** सा विद्या अङ्गं यस्योपासनानुष्ठानस्य तत्तदङ्गं तद्भावास्तदङ्गता । अत्रापि हि न श्रद्धामात्रमुपयोगिं नहि कारीरीश्रद्धा ज्योतिष्टोमोपयोगिनी तस्माद्योग्यतावशेन विनियोक्तव्यम् । तथाच पूर्वोक्तप्रकरणपाठने कारणाभावाद्द्विधात्वाविशेषेणात्मविद्याग्रहेऽपि तत्प्रकृतोपासनायामेवं शेषत्वं तत्रापि ‘सत्यकाम सत्यसक्त’ इत्यादिविद्यानां दहराद्युपासनानुष्ठानशेषत्वं निर्गुणविद्यापि परोक्षाभावनोपयोगिनी अपरोक्षा तु न किञ्चित्प्रति तत् परमनुष्ठानाभावादिति विवेक्तव्यम् । उक्तश्चायमर्थो व्याकरणाधिकरणे भट्टपादे—‘सर्वत्रैव हि विज्ञानं सस्कारत्वेन गम्यते । पराङ्गं चात्मविज्ञानादन्यत्रैवधारणं’ति । **नापीति ।** तथाहि ‘बर्हिर्देवसदनं देवानां सदनभूतं बर्हिर्देवमुष्टिविशेष दामि खण्डयामीति । बर्हिर्देवनप्रकाशनसमर्थमन्त्रस्य सामर्थ्यलक्षणलिङ्गेन बर्हिर्देवने विनियोगः, न तथेह किञ्चित्छ्रुतिसामर्थ्यमस्तीत्यर्थः । श्रुतिसामर्थ्यलक्षणलिङ्गाभावेऽपि लिङ्गान्तरमस्तीत्याशङ्क्य विपरीतलिङ्गस्यापि भावादिसमनिर्णायकमित्याह—**नचोद्दालकेति ।**

स्यादेतत् आत्मा तावदव्यभिचरितक्रतुसंबद्ध तत्सबन्धि चेदमात्मज्ञानं तदिह मा भूता लिङ्गश्रुती वाक्यमेवास्ति कर्मणि विनियोजकं, यथाहि—‘पर्णमयीताया सिद्धरूपतया फलजननाय क्रियासबन्धसाक्षाद्वाया जुह्वा जुहोती’ति नियतप्रकृतिद्रव्यसाक्षाद्वाव्यभिचरितक्रतुसंबद्धजुहूद्वारा वाक्येन कर्मसु विनियोगः । तद्वदिति तत्राह—**नच यस्येति ।** व्यभिचारमेवाह—**तस्येति ।** नच देहव्यतिरिक्तात्मज्ञानं वैदिककर्माव्यभिचारीति वाच्यम् । कारीर्यादावभावेन तस्यापि व्यभिचारसाम्यादिति भावः । प्रकरणाद्विनिर्माण निराचष्टे—**नचात्मज्ञानमिति ।** सन्निधिपठितैर्ह्याकाङ्क्षा भावनायाः पूर्यत इत्युत्सर्गः । यथा दर्शपूर्णमासप्रकरणपठितसमि-

प्रकरणे श्रुतं येन प्रयाजादिवत्कर्माङ्गतामश्नुवीत् । नापि स्थानं, कर्मसंनिधावपठ्यमानत्वात् । नापि समाख्या, संज्ञासाम्याभावात् । नचात्मज्ञानस्य कर्मण्युपकारप्रकारो निरूप्येत । देहव्यतिरिक्तात्मज्ञानस्योपयोगेऽप्यशनायाद्यतीतात्मविज्ञानस्य तत्रानुपकारित्वात् । नचाज्यावेक्षणादिवददृष्टद्वारेणोपयोगः । स्वप्रकरणपठितसंसारनिवृत्तिलक्षणदृष्टफलनिराकाङ्क्षस्यादृष्टफलकल्पनानुपपत्तेः । नच क्रियाकारकफलशून्यमद्वैतमात्मानं विजानतः कर्मणि प्रवृत्तिरुपपद्यते । नच यमनियमादिप्रवृत्तिवदविरोधः । यमनियमादावप्यपरोक्षात्मविज्ञानवतो विधितः प्रवृत्त्यनङ्गीकारात् । 'तस्य कार्यं न विद्यते, ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः' नैवास्ति किञ्चित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्वविदिति स्मरणात् । भिक्षाटनादावपि व्युत्थानदशायां यदृच्छयैव प्रवृत्तेः । नचैवं कर्मणि प्रवृत्तिः नियतदेशकालतया तस्य विधानात् ।

एतेन ज्ञानकर्मणोः समुच्चयोपि निराकृतो वेदितव्यः विरोधादेव । उक्तं हि 'यद्धि यस्यानुरोधेन स्वभावमनुवर्तते । तत्तस्य गुणभूतं स्यान्न प्रधानादुणो यत' इति । अपिच

दादिभि कल्पनागौरवेण फलवत्सन्निधावित्यादिन्यायेनेतिकर्तव्यतासाकाङ्क्षप्रधानभावनाभिलाषपोषणम् । नच पूषाद्यनुमन्त्रणवदात्मज्ञानस्य स्वप्रकरणसमवायः । कर्मप्रकरणसमवायो वा येनासंनिहितमपि, तत्रोपयुज्येत, नच स्वप्रकरणपठितैरङ्गजातैर्निराकाङ्क्षस्य कर्मणः कचिदप्यपेक्षास्तीति भावः । स्थानसमाख्ययोस्तु सभवं एव नास्तीत्युपेक्षा कृता । उपयोगानिरूपणादित्येतद्विवृणोति—**नचात्मज्ञानस्येति** । यस्त्वदृष्टद्वारेणोपयोग उक्तस्तत्राह—**नचाज्यावेक्षणेति** ।^१ उत्तरार्धं विवृणोति—**नच क्रियाकारकेत्यादिना** । उत्पन्नात्मापरोक्षस्यापि स्वभाववशाद्यमादीनामनुवृत्तिर्घटते नैवं कर्मणामिति भावः । ज्ञानिनो विधेयव्यापाराभावे स्मृतीराह—**तस्येति** । स्यादेतत् भवतु निवृत्तिरूपाणां विविच्यतिरेकेणाप्यनुवृत्तिः । भिक्षाटनादौ प्रवृत्तिरूपे का वार्ता । नहि तदौदासीन्यात्मकमिति तत्राह—**भिक्षेति** । यथा ह्यनियतदेशकालधुधाधीनतयाऽनियतवृत्तिर्भिक्षाहरणादि, नैवं कर्म तस्य 'प्राचीनप्रवणे वैश्वदेवेन यजेत सायंप्रातरग्निहोत्रं जुहोती'त्यादिनियतदेशकालतया विधानादित्यर्थः । एतेन 'भ्रान्त्या चेन्नैकिकं कर्म वैदिकं च तथा वदे'ति भास्करदुर्हारादिपि चिकित्सितः । भ्रान्त्यविशेषेऽप्यवान्तरविशेषस्य दर्शितत्वादिति ।

एवं तावद्विद्यायाः कर्मशेषतानिरासेन कैवल्यफलता प्रसाधिता, इदानीं भवतु विद्यायाः कैवल्यसाधनता तथापि कर्मसमुच्चिताया एव न केवलाया इति समुच्चयवादिनो मतं निराकुर्वन् ज्ञानिनः कर्मणि प्रवृत्त्यनुपपत्तिमुक्ता तत्राप्यतिदिशति—**एतेनेति** । अतिदिश्यमान विशदयति—**विरोधादेवेति** । द्वेधा हि समुच्चय संभवति समप्राधान्येन वा पञ्चागवत्, गुणप्राधान्येन वा प्रयाजदर्शपूर्णमासवत् । तत्रापि ज्ञानं गुणः कर्म प्रधानमिति वा विपरीतं वा । तत्र वक्ष्यमाणप्रकारेण ज्ञानकर्मणो साध्यसाधनभावावगमात् न समसमुच्चयो गुणप्रधानपक्षेऽपि परपरया ज्ञानं प्रति कर्मणा गुणभावोऽभ्युपगत एव । यत्तु कर्म प्रधानं ज्ञानं गुण इति तत्र स्वरूपविरोधादिति भावः । अत्रैव सुरेश्वराचार्यसंमतिमाह—**उक्तं हीति । न प्रधानादिति** । प्रधानमस्तीति प्रधानात् प्रधानविद्याजक स तस्य गुणो न भवति यत इत्यर्थः । यत्कर्मप्रवृत्तिविधातकं ज्ञानं तत्र कर्म प्रति गुणो भवतीति भावः । विभिन्नविरुद्धफलत्वाच्च न गुणगुणिभाव इत्याह—**अपिचेति** । नह्यविद्यास्तमयात्मकस्य नित्यप्रत्यग्भूताविकार्यनामधेयातिशयनिर्दोषात्ममात्रस्य मोक्षस्य ज्ञानोत्पाद्यत्वं संभवति भवनेनेव पिण्डस्य । नाप्याप्यत्वं दोहनेनेव पयसः । नापि विकार्यत्वमभिषवेणैव सो-

१ सप्रति मूले रमृतिद्वयदर्शनात्स्मृती आह इति पाठो भाति.

उत्पत्त्याप्तिविकृतिरसंस्कृतयः कर्मणः फलं विद्यायाः पुनरविद्यास्तमयस्तत्कथमनयोः साहित्यम् ।

नहि शुक्तिकाशकलं सकलमाकलयतः कलधौतविभ्रमनिवृत्तिः स्नानाऽऽचमनादिकर्मा-
पेक्षया विलम्बते । तदेवं लौकिकेन न्यायेन ब्रह्मात्मसाक्षात्कार एव तदविद्यानिवृत्तिहेतु-
रित्याख्येयम् । श्रुतिस्मृतिषु कर्मणो निर्वाणकारणतानिराकरणाच्चैतदवसेयम् । श्रूयते हि
'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय, न कर्मणा न प्रजया न धनेन,
नास्त्यकृतः कृतेन, एतावदरे खल्वमृतत्व'मित्यादि । स्मर्यते च 'ज्ञानादेव तु कैवल्यं प्रा-
प्यते येन मुच्यते । कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते । तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति
यतयः पारदर्शिनः ॥' इति । नन्वेतानि वचनानि केवलानामेव कर्मणां कैवल्यसाधनत्व-
निराकरणपराणि समुच्चितानां तूपपद्यते तत्साधनभावः, तथाच 'अन्धं तमः प्रविशन्ति
येऽविद्यामुपासते । ततो भूय एव ते तमो य उ विद्यायां रता'इत्येकैकनिन्दापुरःसरं
'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते' इति
ज्ञानकर्मणोः समुच्चितयोर्मोक्षसाधनत्वप्रतिपादनात् ।

तथाहि संसारनिवृत्तिर्ब्रह्मप्राप्तिश्च मुक्तिः, तत्र विद्येतरत्वेनाविद्यामूलत्वेन वा अविद्याशब्द
वाच्यानां कर्मणां मृत्युपदवेदनीयकर्मक्षयद्वारेण संसारनिवृत्तावुपयोगः ब्रह्म त्वात्सरूपतया

मस्य । नापि सस्कार्यत्वं प्रोक्षणेनेव व्रीहीणाम्, एतावदेव च कर्मफलमतः कर्मफलविलक्षणमेव ज्ञानफल-
मित्यर्थः ।

इदानीमुत्पन्नस्य ज्ञानस्याविद्यानिवर्तने कर्मापेक्षैव नास्ति ततो ज्ञानं प्रधानं कर्म गुण इति प्रयाजदर्शपूर्ण-
मासवत्समुच्चय-इति पक्षोपि न सम्भवतीति लौकिकन्यायेन दर्शयति—नहि शुक्तिकेति । कलधौतं रज-
तम् । निर्वाणो मोक्ष । एतदिति । ज्ञानकर्मणोरेकफलता नास्तीति 'तमेव' तं विदित्वैवेत्यपि योज्यम् ।
अतिमृत्युमेति । मृत्युं जन्ममरणात्मकसंसारमत्येतीत्यर्थः । अयनं मार्गः । देनच गन्तव्यमुपलक्ष्यते ।
क्षेमप्राप्तये ज्ञानव्यतिरेकेणान्यो मार्गो नास्तीत्यर्थः । अकृतो नित्यो लोकः कृतेन कर्मणा नास्ति
न लभ्यते इत्यर्थः । अमृतत्वममृतत्वसाधनम् एतावत् यन्मयोक्तमात्मज्ञानं नात परमस्तीत्यर्थः ।
पारदर्शिनः ससारावसानरूपात्मतत्त्ववेदिन इत्यर्थः । अत्र च समुच्चयवादी प्रदर्शितवचनानामन्यथासि-
द्धिमाह—नन्वित्यादिना । नन्वविशेषेण प्रवृत्तिनिषेधस्य केवलधर्मपरतया सकोचः किनिवृन्धन इति
समुच्चयश्रुतिबलादित्याह—तथाचेति ।

नन्वत्र मृत्युतरणेऽविद्याया उपयोगः अमृतप्राप्तौ च विद्याया तत्कथमनयोरेकफलतया समुच्चयोऽत्र
प्रतीयते इति तत्राह—तथाहीति । नहि ब्रह्मप्राप्तिमात्रमपवर्गं तस्य पूर्वमपि विद्यमानत्वेन साधनो-
त्थानवैयर्थ्यात् । नाप्यविद्यानिवृत्तिमात्रम् । अभावरूपस्यापुरुषार्थत्वात् । तस्मादविद्यानिवृत्त्युपलक्षितब्रह्म-
प्राप्तिरपवर्गः तत्रचोभयमपि साधनमित्यर्थः । अस्त्येवं तथापि कर्मणः किमायातं समुच्चये अविद्यया मृत्यु-
तरणं प्रतीयत इति तत्राह—तत्र विद्येतरत्वेति । अन्यत्वं नजोर्यः कारणवाची वा कार्ये लक्षणया प्रवर्तत
इत्यर्थः । तथापि कथं कर्मणः संसारनिवर्तकत्वं यावता मृत्युतरणमेव तेन प्रतीयते तत्राह—मृत्युपदेति ।
कर्मभिस्तु कर्मक्षयस्तद्वारा च मोक्षोपयोगः ज्ञानेन तु साक्षादविद्यानिवृत्तिरिति ज्ञानोपयोगमाह—ब्रह्मत्विति ।

नित्यप्राप्तमविद्यामात्रतिरोहितं कण्ठगतचामीकरवत् । न तत्राविद्यानिवृत्तेरधिकं कार्य-
मस्तीति अविद्यानिवृत्तौ विद्यायाः उपयोगः । तदिदमुक्तं—‘विद्ययाऽमृतमश्नुते’ इति ।
यत्पुनः परेषां व्याख्यानं देवताज्ञानमिह विद्याशब्देन विवक्षितं तस्य कर्मणा समुच्च-
योऽनेन वाक्येन कथ्यत इति । तदयुक्तम् । प्रक्रमाननुगुणत्वात्, ईशावास्ये परमात्मनः
प्रक्रान्तत्वात् । तथाच श्रुतिः—‘तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृतैजसश्च सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष
आत्मा सम्यक्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्य’मिति स्पष्टमेव समुच्चयं प्रतिपादयति । स्मृतिरपि—
‘तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम् । तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥’
तत्प्राप्तिहेतु ज्ञानं च कर्म चोक्तं महामुने । यथान्नं मधुसंयुक्तं मधुचान्नेन संयुतम् । एवं
तपश्च विद्या च संयुक्तं भेषजं महद्दित्यादिका । तेन च वाचनिकसमुच्चयानुसारेण
कर्मनिन्दापराणां वाक्यानां केवलकर्मविषयतैवेति निश्चीयते ।

नच मोक्षस्य साक्षाज्ज्ञानं साधनं कर्माणि तु पापापाकरणद्वारेण ज्ञानसाधनानीति
वचनानां व्यवस्था । ‘कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय’इत्यादेस्तु लाङ्गलेन वयं
जीवामह इतिवत्पारंपर्येणापि तत्साधनपरत्वोपपत्तेरिति युक्तम् । साक्षान्मोक्षसाधनत्वेन
प्राप्तस्य कर्मणः साधनसाधनत्वग्रहणे प्राप्तान्वयबाधप्रसङ्गात् ।

‘नान्यः पन्था’इत्यादेस्तु निषेधस्य केवलकर्मविषयतयान्तरेणापि प्राप्तान्वयबाधसंको-

‘अमृतमश्नुते’ इति प्रतिबन्धकाविद्यानिवृत्तिर्विवक्ष्यत इत्यर्थः । अत्र सिद्धान्त्यन्ययोजनामुद्गाढयति
पूर्ववादी—यत्पुनरिति । प्रक्रममेव दर्शयंस्तदननुगुणता दर्शयति—ईशावास्य इति । अत्र
हीष्ट इतीदं परमेश्वरः तेन परमेश्वरेणेशा वास्यमाच्छादनीयं व्यायम् । वस निवास इत्यस्माद्धातोर्ण्यति
वास्यमिति रूपम् । कारणं हि कार्यं स्वस्मिन् वर्तयति । इदं सर्वमिति परमात्मैवोपक्रान्तस्तद्विरुद्धं च मन्ये
देवतृविज्ञानाश्रयणमित्यर्थः । तेनैतीति । यस्तैजसो योगी ब्रह्मवित्पुण्यकृच्च भवति असौ तेनोत्तरमार्गेणैति
गच्छतीति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्त्वयोरेकपुरुषसबन्धकीर्तनात् ज्ञानकर्मणो समुच्चयोवसीयत इत्यर्थः । सत्यतपो-
ब्रह्मचर्याणां च सम्यग्ज्ञानेन समुच्चयोपि कचित्प्रतिपाद्यत इत्याह—सत्येनेति । पराशरदक्षस्मृतिपर्यालो-
चनयाप्येवमेवावसीयत इत्याह—स्मृतिरपीति । एवं निन्दावचनानां केवलकर्मविषयतायामुपपादितं
हेतुमुपसहरति—तेनेति ।

स्यादेतत् ज्ञानमेव साक्षान्मोक्षसाधनं कर्माणि तु पापलक्षणप्रतिबन्धापाकरणद्वारेण ज्ञानसाधनानि, ‘धर्मेण
पापमपनुदती’ति श्रुते । तद्वारा च मोक्षसाधनमतः साक्षादभावपराणि निन्दावचनानि समुच्चयवचनानि तु
साधनतया पारंपर्येण समुच्चयपराणि इत्यस्तु व्यवस्थेति तत्राह—नच मोक्षस्येति । ननु ‘कर्मणैव हि
संसिद्धिर्मा’त्यादीनि कर्मणामपि साक्षान्मोक्षसाधनता दर्शयन्तीति तत्राह—कर्मणैवेति । यथाहि सा-
क्षात् जीवनसाधनौदनादिसाधने लाङ्गलादौ लाङ्गलेन वयं जीवामह इति जीवनसाधनत्वव्यपदेशस्तद्वदि-
त्यर्थः । नच युक्तमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—साक्षादिति । वचनतत्त्वावत्साक्षात्साधनत्वं प्राप्तं तस्य बाधो-
ऽयुक्तं रागतं प्राप्तं हि बाध्यते न शास्त्रतः प्राप्तम् । तुत्यं हि साप्रदायिकम् । इतरथा षोडशप्रहणादा-
वपि विकल्पानवकाशप्रसङ्गात्, निषेधस्य निषेधसापेक्षतया दुर्बलत्वाच्चेति भावः ।

ननु ‘नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाये’त्यादिवचनान्यपि ज्ञानव्यतिरिक्तं मोक्षसाधनं वारयन्ति तथाच, कर्म-
णामपि मोक्षसाधनत्वे तेषु प्राप्तान्वयबाधः समान एवेति तत्राह—नान्यः पन्था इति । यदिदं ज्ञानव्य-
तिरिक्तसमस्तनिवारकवचनस्य तद्देशे केवलकर्मविषये व्यवस्थापनं नायं बाधोऽपि तु संकोचः श्रुतार्थस्य

चेनोप्युपपत्तेः । नच वाच्यमन्वयबाध एवात्र युक्तः 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विवि-
दिषन्ति यज्ञेन दानेन, धर्मात्सुखं च ज्ञानं च ज्ञानान्मोक्षोधिगम्यते, योगिनः कर्म कु-
र्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये, कपाये कर्मभिः पक्के ततो ज्ञानं प्रवर्तते' इत्यादिश्रुतिस्मृति-
वाक्यैः कर्मणां मोक्षसाधनसाधनत्वेन विनियोगादिति ज्ञानस्यैव कैवल्यसाधनत्वे 'ततो
भूय एव ते तमो य उ विद्यायां रता' इति केवलविद्यानिन्दानुपपत्तेः । नच समुच्चयपक्षे
'नान्यः पन्था विद्यते, न कर्मणा, नास्त्यकृतः कृतेनै'ति कर्मनिषेधानुपपत्तिः । तद्वचनानां
षड्यागवत्साक्षात्समप्रधानतया साधनतानिषेधपरत्वान् । अभ्युपगम्यते हि व्यवधानेन
कर्मणां मोक्षसाधनत्वम् । व्यवधानत्वं च करणोपकारो, न तदुत्पादकत्वम् ।

नचैवमपि कर्मसाध्यत्वे मोक्षस्यानित्यत्वदोषः 'तद्यथेहे'त्यादिश्रुतेः यत्कृतकं तदनि-
त्यमिति न्यायाच्चेति युक्तम् । बन्धप्रध्वंसे कर्मणामुपयोगान् बन्धप्रध्वंसस्य कृतकत्वेपि
नित्यत्वात्, अन्यथा नष्टानष्टिप्रसङ्गान् । 'वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' इत्यत्र
सन्वाच्येच्छायाः करणसंबन्धानुपपत्तावधेन जिगमिषतीत्यादाविबोभयेवादिसंप्रतिपन्नेप्य-
माणवेदोत्पत्तावेव कर्मणां करणत्वावगमान् । न कर्मणा करणोपकारकत्वम् । करणे सु-
ख्यार्थायास्तृतीयाश्रुतेः करणोपकारकत्वे भङ्गप्रसङ्गादिति न वाच्यम् । 'यज्ञेन विविदिष-

सर्वथा परित्यागाभावादित्यर्थः । अत्र यदानन्दबोधाचार्यरुक्तं तदनूय दूषयति—नच वाच्यमित्यादिना ।
अन्वयबाधे हेतुमाह—तमेतमित्यादिना । अत्र हि वेदानुवचनोपलक्षितब्रह्मचर्याश्रमकर्मणा यज्ञदानो-
पलक्षितगार्हस्थ्यश्रमकर्मणा तपउपलक्षितवानप्रस्थाश्रमकर्मणा च विविदिषन्तीति वेदनेच्छाया वेदने वा
विनियोगः प्रतीयते तत्रापि वेदन इति तत्त्वम् । इच्छाया विषयसौन्दर्यज्ञानाधीनत्वान्नाथा धर्माज्ञानमिति
चात्मनोऽन्त करणस्य शुद्धये कर्म कुर्वन्तीति च 'कर्मभिः कपाये पक्के' इति च ज्ञानं प्रति चित्तशुद्ध्यादिव्यापारेण
विनियोगाच्छेपैव व्यवस्थाया दर्शितत्वात्प्राप्तान्वयबाध एव युक्त इति भावः । नच वाच्यमित्युक्तं तत्र
हेतुमाह—ज्ञानस्यैवेति । यदि हि केवलविद्यैव विविदित्वा ततस्तन्निन्दा नोपपद्येत्यर्थः । पूर्वं कर्मनि-
षेधवचनानां केवलकर्मविषयतया गतिरुक्ता संप्रति गत्यन्तरमप्याह—नच समुच्चयेति । ननु यदि न
समुच्चयस्तर्ह्यभ्युपगतहानिरिति तत्राह—अभ्युपगम्यते इति । नन्वस्माभिरपि साधनसाधनतया व्यव-
धानमेवाङ्गीक्रियते तत्किमधिकमाचरितमायुष्मतेति तत्राह—व्यवधानत्वं चेति । प्रयाजादिवन्द्यामङ्ग-
त्वं ननुप्रोक्षणादिवदित्यर्थः ।

ननु यद्यपि समप्रधानतया मोक्षसाधनत्वं नास्ति, तथापि करणोपकारकत्वे करणतिकर्तव्यनयोरेकविषय-
तया कर्मसाध्यत्वं मोक्षस्य स्यात् । नच तद्युक्तम् । 'यत्कृतकं तदनित्य'मिति न्यायानुग्रहीततया 'तद्यथेह
कर्मचितो लोक' इत्यादिश्रुत्यवगतानित्यत्वापातेनापुनरावृत्तित्वव्याघातादिति तत्राह—नचैवमपीति ।
हेतुमाह—बन्धेति । तत किमिति तत्राह—बन्धप्रध्वंसस्येति । ननु करणोपकारकत्वकल्पनमात्रयुक्तं
'तमेत'मिति श्रुतौ साधकतमार्थतया तृतीयया करणत्वप्रतिपादनादित्यानन्दबोधाचार्योक्तमुद्राव्य दूषयति—
वेदानुवचनेनेति । करणसंबन्धानुपपत्ताविति उपसर्जनं ह्येषा या सन्वाच्येच्छा । नचायं लिङाद्यर्थवद्वा-
च्यार्थं येन प्रत्ययार्थप्राधान्यं स्यात् 'प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थ सह ब्रून् सनोऽन्यत्रे'ति च न्यायः । तदुपसर्ज-
नमेपा नचोपसर्जनेनान्वयो युक्त 'नोपसर्जनं पदं पदान्तरेण संबध्यते' इति न्यायात् । तस्मान्प्रधान-
वेदनेनैव संबध्यत इत्यर्थः । अश्वेनेति । यथा ह्यश्वेन जिगमिषतीत्यत्राश्वस्य गमनं प्रत्येव साधनता,
ननु गमनेच्छा प्रतीयत्यर्थः । अथ करणोपकारकत्वेऽपि साधनत्वात्तृतीया किं न स्यादित्यत्राह—करण इति ।
नच वाच्यमित्युक्तं तत्र हेतुं दर्शयन्करणोपकारकपरतया वाक्यं योजयति—यज्ञेनेति । नन्वत्र विविदिष-

न्ती'त्यत्रापूर्वत्वाद्विधिपरवाक्ये विध्यवच्छिन्नभावनारूपवाक्यार्थानुप्रवेशेनैव पदार्थानां परस्परसंबन्धात्, तस्याश्च भावनाया मोक्षभाव्यावच्छिन्नत्वात्, धात्वर्थस्य च स्वतोऽसमीहिततया भाव्यत्वानुपपत्तेः । ततश्चान्यार्थप्रवृत्तभावनामाव्यत्वलक्षणकरणभाव एव धात्वर्थस्य ।

तथाच लब्धश्रौतधात्वर्थकरणायां भावनायां यज्ञादीनां करणत्वेनानुप्रवेशानुपपत्तेस्तदपेक्षितकरणोपकारद्वारेण तेषां संबन्धः ततश्च यज्ञादिभिरुपकृत्येति वाक्यार्थः संपद्यते । नच शमादीतिकर्तव्यतानिराकाङ्क्षत्वात् भावनाया यज्ञादीनां विधेयधात्वर्थकरणत्वेनैवान्वय इति वाच्यम् । उभयोरपि प्रयाजानुयाजादिवदगृह्यमाणविशेषतयेतिकर्तव्यत्वेनैवान्वयोपपत्तेः । तदेवं बाधकाभावात्साधकसद्भावाच्च कर्मसमुच्चितमेव ज्ञानं मोक्षसाधनमिति तदिदमनु-

न्तीति वर्तमानोपदेशाद्विधायकमेवेदं न भवति तत्राह—अपूर्वत्वादिति । यथा 'ह्याश्विनं गृह्णाति मैत्रावरुणं गृह्णातीत्याहौ 'वचनान्यपूर्वत्वा'दिति न्यायेन विधिपरतया विधिविभक्तित्वेन परिणामः कृतः, यथा च 'समिधो यजती'त्यदावपूर्वत्वादेव लिङ्परिग्रहः कृतः, एवमत्रापि भावः । विध्यवच्छिन्नेति । प्रधानेन हि गुणानामन्वयः भावना च प्रधानमिति तयैवेतरेषामन्वयः पश्चाच्चारुणाधिकरणन्यायेन तमेवान्वयं निर्वोदुं योग्यतावशेन परस्परं पाष्ठीकोन्वय इत्यर्थः । अस्तु प्रकृते किमायातमिति तत्राह—तस्याश्चेति । विविदिषन्तीत्यत्राख्यातविशेषलिङा शाब्दभावनाभिधीयते, आख्यातविशेषेण च पुरुषप्रयत्नरूपार्थभावनान्प्यभिधीयते, साच किं भावयेत्, केन भावयेत्, 'केवेतिकृत्येति भाव्यकरणेतिकर्तव्यतालक्षणीशत्रयवती प्रतीयते, एतदाकाङ्क्षात्रयपूरकतयैव चेतरेषामन्वयः । तत्रच रात्रिसत्रन्यायेनार्थवादिकमोक्षो भाव्यत्वेनान्वेतीत्यर्थः । ननु कथं मोक्षस्य भाव्यत्वं यावता समानपदोपात्ततया श्रौतस्य धात्वर्थस्य भिन्नपदोपात्ततया वाक्यप्राप्तात् प्राकरणिनामोक्षाद्वलीयस्त्वेन तस्यैव भाव्यत्वमिति तत्राह—धात्वर्थस्यचेति । अयमर्थः—चेतनसमीहास्पदं हि फलं तस्माधनविधायिना चानेन वाक्येन भवितव्यम्, उपदेशत्वात् । तथा भवतु नाम समानपदोपात्तो धात्वर्थः तथापि दुःखात्मकत्वेनासमीहास्पदत्वाच्च तस्य भाव्यत्वम् । अपिच न फलस्य वाक्यार्थत्वम् । इष्टसाधनरूपभावनया हि लिङादिनाभिधीयते तथाचेष्टमपि भाव्यमभिहितमेव तेन पदान्तरेण तु पर तस्यैव विशेषसमर्पणम् । अत एव 'ज्योतिष्टोमेने'त्यादौ तृतीयायोगश्च तस्मात्समानपदोपात्ताद्धात्वार्थात्समानप्रत्ययोपात्तमोक्ष एव बलीयान् । यथाहुः—समानप्रत्ययश्रुत्या बलीयस्या हि बाध्यत इति तस्मान्मोक्षस्यैव भाव्यत्वं न धात्वर्थस्येति कथं तर्हि धात्वर्थस्यान्वय इत्याशङ्क्य करणतयेत्याह—ततश्चेति । अन्यार्थस्वर्गमोक्षाद्देशेन प्रवृत्ता या भावना तया चान्तराले भाव्यत्वलक्षणो यः करणभावः स एव धात्वर्थस्य भवति, अत्र 'च फलव्यवच्छेदार्थमन्यार्थपदम् । कुठारादेरपि द्वैधीभावाद्युद्देशेन प्रवृत्तपुरुषप्रयत्नभाव्यत्वमेव हि करणत्वं तदत्रापि समानमित्यर्थः ।

तथापि यज्ञादेरितिकर्तव्यत्वे किमायातमिति तत्राह—तथाचेति । लब्धं श्रौतं समानपदश्रुतिसिद्धं धात्वर्थलक्षणं करणं यया भावनया सा तथोक्ता । अत्रोपपत्तिभिन्नपदोपात्तस्य समानपदोपात्तादुर्बलत्वादिति भावः । अन्वयप्रकारमेवाभिनयति—ततश्चेति । अत्र 'शान्तो दान्त'इत्यादिवाक्यपरिप्राप्तशमादीतिकर्तव्यतानिराकाङ्क्षत्वात्तद्वारेणाप्यनुप्रवेशो न युक्तः तथाच तृतीयानुसारेण कारणकरणतयैवैषामन्वय इत्यानन्दबोधाचार्याः, तन्निषेधति—नचेति । भावनया हि साक्षादन्वयः श्रेयान् तथाच प्रकरणेन शमादिवदेव यज्ञादीनामपीतिकर्तव्यतयैवान्वय इत्यभिमानः । पूर्वपक्षिणा एवमुपपादितं समुच्चयं दूषयति सिद्धान्ती—तदिदमिति । यज्ञादेस्तृतीययैव तावद्विधेयभावनानां प्रति करणत्वं प्रतीयते तद्यदि साक्षाच्च संभवति तर्हि परंपरयापि करणत्वमेव श्रेयः श्रुतिलोभात् इतरथा प्रकरणलोभेन श्रुतिबाधः स्यात् नच तद्युक्तं श्रुत्यपेक्ष-

न्दरम् । 'यज्ञादेः करणत्वेन श्रुत्यैव प्रतिपादनात् । शेषत्वाधिगतावेव प्रक्रमस्याप्युपक्ष-
यात् ॥' ५ ॥ विविदिषन्ति यज्ञेन दानेनेति तृतीयाश्रुत्या विधेयविज्ञानकरणत्वेन यज्ञादेः
प्रतिपादनात् तेषां फलोपकार्यङ्गत्वकल्पने श्रुतिबाधप्रसङ्गान् । नच प्रकरणप्रमाणेन प्रया-
जानुयाजादिवदगृह्यमाणविशेषतयेतिकर्तव्यतात्वमेव यज्ञादीनां शमादिवदिति वाच्यम् ।
प्रकरणस्य सामान्यतः शेषत्वबोधनेनैव चरितार्थत्वात्तद्विशेषं प्रति श्रुत्यादीनामेव प्रमाण-
त्वात् । तस्माद्ब्रीहिभिर्भयजेतेत्यादाविव करणशरीरनिर्वर्तकतया च यज्ञादीनां करणत्वं
यज्ञेनेति तृतीयाश्रुत्या निश्चीयते । यज्ञादिभिरुपकृत्येति व्याख्याने साध्याहारयोजनाप्र-
सङ्गान् ।

या ध्वन्तरितत्वात्तस्य । नच प्रकरणस्य श्रुतिविरोधशङ्काप्यस्तीत्याह—**शेषत्वेति** । सामान्यसंबन्धबाधकं हि
प्रकरणं विशेषस्तु श्रुत्यादिभिरेव प्रार्थनीयं क्वचित्तु श्रुतिलिङ्गवाक्यानामप्रवृत्तौ प्रकरणेन विशेषविनियोगः
यथाहु—'असंयुक्तं प्रकरणादिति । श्रुत्यादिनाऽसंयुक्तं प्रकरणाद्विनियुज्यत इत्यर्थः । तस्मान्मानान्यसंब-
न्धबोधिनः प्रकरणस्य न करणतया विशेषसंबन्धबोधकश्रुत्या विरोधः । अत एव नागृह्यमाणविशेषता यज्ञा-
देस्तृतीयाश्रुत्या करणत्वप्रतिपादनात्, शमादेशश्च तदभावादिति भावः । श्लोकं विवृणोति—**विविदिषन्ती-**
त्यादिना । उत्तरार्धे व्याचष्टे—**नच प्रकरणेति** । प्रयाजानुयाजादिवदित्यगृह्यमाणविशेषताया दृष्टान्तः ।
शमादिवदिति चेतिकर्तव्यतायाम् । **श्रुत्यादीनामेवेति** । प्रकरणेनेव शेषगतकर्मत्वकरणत्वादिलक्षणवि-
शेषसिद्धौ तद्विशेषबोधकश्रुत्यादिवैयर्थ्यप्रसङ्गादिति भावः । स्यादेतत् यदि विधेयवात्वर्थकरणतया यज्ञादयो
विधीयन्ते तर्हि भावना प्रति धात्वर्थं नं प्रति यज्ञादय इति वैकल्याद्वैक्यभेद इति चेन्न । विशिष्टविधान-
त्वेन दोषाभावादित्यभिप्रेत्याह—**तस्माद्ब्रीहिभिरिति** । यथाहि ब्रीहिभिरित्यत्र यागलक्ष्यकरणशरीरनि-
र्वर्तकतया भावनान्वयस्तथेहापीत्यर्थः । इदं तु चिन्त्यं कथमुदाहरणमाज्ञप्तमिति, नहि ब्रीहि-
भिर्भयजेतेत्यत्र यान्ते विधीयते येन विशिष्टविधानं स्यात्किंत्वधिकारवाक्यसिद्धयागानुवादेन ब्रीहय एव वि-
धीयन्ते तस्मात्करणकरणतामात्र एवेदमुदाहरणम् । उदाहरणं तु 'सोमेन यजेते'त्यादि । तथाचैकभावना-
वरोधान्न वाक्यभेदप्रसङ्गः । अतएव च यज्ञाद्यनेकगुणा अपि शक्यन्ते विधातुम्, प्राप्तेहि कर्मण्यनेकगुण-
विधानानुपपत्तिः । यथाहु—'प्राप्ते कर्मणि नानेको विधातुं शक्यते गुणः' । अप्राप्ते तु विधीयन्ते बहवो-
प्येक्यन्नत' इति । तस्मात्सोमेन यजेते'तिवत् 'यज्ञेन विविदिषन्ती'ति विशिष्टविधानम् । अपरेतु 'प्रज्ञा
कुर्वीते'ति हि विज्ञानानुवादेन यज्ञादिगुणो विधीयत इति वदन्ति तत्पक्षे वाक्यभेदो दुष्परिहरः । एतच्च
ज्ञानविधिमङ्गीकृत्योक्तम्, वस्तुतस्तु ज्ञाने नास्त्येव विधि पुरुषेच्छानवीनत्वात् । यथाच ज्ञानविधानं न
घटते तथा कार्यवादे एव प्रपञ्चितम् । तस्मादपरोक्षज्ञानं परमसुखसाक्षात्कारतया फलमनूद्य चित्तशुद्धिद्वारा
तत्साधनत्वेन यज्ञादयो विधीयन्ते नच वाक्यभेदो दोषाय गत्यन्तराभावात् । नच भावनाया वाक्यार्थता
तत्र सगत्यग्रहात् । सिद्धार्थनिष्ठवाक्याना कार्यवाद एव समर्थनात्, प्रवर्तकवाक्यानामर्पणसाधनत्वमात्र
एव विश्रान्तत्वात्, प्रवृत्तेस्त्वर्थसिद्धत्वात् । यथाचेष्टसाधनमेव लिङ्ग्यस्तथा दर्शितं कार्यवादे । शब्दभावना
तु दूरोत्सारिता प्रमाणाभावात् । नहि शब्दस्य सङ्गतिग्रहणम् तत्संस्कारोद्बोधं चान्तरेण शब्दभावना
नाम कश्चिद्व्यापारः सम्भवतीति । किंच त्वत्पक्षे यज्ञादिभिरुपकृत्य वेदनेन मोक्षं भावयेदिति योजनीयम् ।
तथाचाश्रुतमध्याहरणीयम् उपकृत्येत्यश्रुतत्वात् तत्पक्षे तु न किञ्चिदध्याहार्यं तृतीयया करणतायाः
श्रुतत्वादित्याह—**यज्ञेति** ।

नच यज्ञादीनां श्रवणादिवत्साक्षाद्विज्ञानसाधनत्वाभावात् करणत्वानुपपत्तिः । परम्परासाधनेष्वपि लोके वेदेषु करणत्वाभ्युपगमात्, अभ्युपगम्यते हि ज्वालाव्यवधानेनैव काष्ठानां पाके करणत्वम्, अपूर्वव्यवधानेनैव स्वर्गे यागस्य तथेहापि परिपन्थिदुरितशोधनव्यवधानेन यज्ञादेर्विज्ञानकरणतायां न कश्चिद्विरोधः । तदेवं तृतीयाश्रुत्या यज्ञादेर्विज्ञानकरणत्वाधिगतौ सर्वाण्यपि समुच्चयवचनानि परम्परासमुच्चयप्रतिपादनपराणीत्यभ्युपेयम् । नच केवलविद्यानिन्दानुपपत्तिः । ‘निन्दाया देवताज्ञानविषयत्वेऽपि संभवात् । प्रक्रमस्यापि बाध्यत्वाद्वलीयस्या तृतीयया’ ॥ ६ ॥ निन्दाया देवताविज्ञानविषयत्वेनाभ्युपपत्तेः । नच परमात्मोपक्रमविरोधः । ‘यज्ञेने’ति तृतीयाश्रुतेः प्रक्रमाद्वलीयस्त्वेन तद्बाधेयविरोधात् । क्रमसमुच्चयविषयत्वेनाभ्युपपत्तेश्च ।

‘अविद्यया ऋतुं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुत’ इति पौर्वापर्याभिधानात्, ‘सह वेदे’ति च वेदेन एव सहभावश्रवणात्, प्रक्रमानुरोधेनासविद्याविषयत्वेऽप्यपरिपक्वात्मज्ञानविषयतयाभ्युपपन्नत्वात् । एतदुक्तं भवति—विद्यापरिपाकात्प्रागेव ये यथास्वं विहितं नित्यादिकर्म त्यजन्ति तेषामुपात्तदुरितक्षयाभावाद्विहिताकरणनिमित्तप्रत्यवायस्याहरहरूपचीयमानत्वेनाशुद्धान्तःकरणतया परिपक्वात्मविद्यानुदयात् न कैवल्यं, शुभकर्मपरित्यागाच्च नाभ्युदय

ननु यद्यपि तृतीयायां करणत्वं यज्ञादीनां ज्ञानं प्रति श्रूयते तथापि तत्र संभवति, प्रमाणाधीनस्य ज्ञानस्य यज्ञाद्यजन्यत्वात् । नहि प्रत्यक्षादिमध्ये यज्ञादयः किञ्चित्प्रमाणमतो यथाश्रुतार्थासंभवादध्याहृत्यापि योजनं श्रेय इति तत्राह—**नच यज्ञादीनामिति** । यद्यपि साक्षाज्ज्ञानं प्रति न साधनं श्रवणादीनामेव तत्त्वात्, तथापि यज्ञादेः परंपरया संभवति तदप्यभ्यर्हितमेव इतरथा श्रुतिबाधप्रसङ्गात् । नच निर्देशायुक्तिः लोकवैदयोर्दृष्टचरत्वादिति भावः । **परिपन्थीति** परिपन्थिभूतं यदुरितं तत्प्रतिशोधनेन यद्यवधानं तेनेति योजना । एवं श्रुत्यैव साधनसाधनतायां दर्शितत्वात्साधारणसमुच्चयवचनान्येतदानुगुण्येन परंपरया समुच्चये व्यवस्थापनीयानीत्याह—**तदेवमिति** । दुर्बलं हि वाक्यं श्रुतेरिति भावः । यत्केवलविद्यायाः साधनत्वे ‘ततो भूय’ इति तन्निन्दा नोपपद्यते विवृत्तिसतस्य निन्दायोगादिति तच्च श्लोकेन परिहरति—**निन्दाया इति** । अस्वीशावास्ये परमात्मोपक्रमविरोधान्न देवताविज्ञानस्य निन्दा वा समुच्चयो नोपपद्यत इति तत्राह—**प्रक्रमस्येति** । विवृणोति—**निन्देति** । एवमुपासनाविषयत्वेन परिहारोभिहित इदानीमश्नु परमात्मविद्यैवोपक्रमानुसारेण तथापि न विरोधः, उपायोपेयभावेन क्रमसमुच्चयपरतयाभ्युपपत्तेरित्याह—**क्रमेति** ।

न केवलमुपपद्यत इत्येतावन्मात्रमपि त्वेवमेवोपपद्यते इतरथा क्रमश्रुतेरानर्थक्यप्रसङ्गादित्याह—**अविद्ययेति** । ननु परम्परापक्षे सहवेदेति फलं प्रति साहित्यमनुपपन्नमिति तत्राह—**सहेति** । उपायत्वज्ञान एव सहभार्वो ननु फलं प्रतीति भावः । नन्वस्मिन्पक्षे कथं निन्दोपपत्तिः नहि प्रक्रमानुसारेण परमात्मविद्याकर्मणो परंपरया समुच्चयस्वीकारे साक्षात्साधनभूतकेवलविद्यानिन्दोपपद्यत इति तत्राह—**प्रक्रमेति** । **उपपन्नत्वान्निन्दाया** इति शेषः । अयमर्थः—नास्मिन्पक्षेऽविद्यानिवर्तनसमर्थकेवलात्मविद्याविषया निन्दा किं तर्ह्यपरिपक्वात्मविद्याविषया । तथाच—यावत्परिपक्वब्रह्मविद्योदयमाश्रमादिविहितकर्माण्यनुष्ठेयानीति फलिष्यतीति उक्तार्थे ‘ततो भूय’ इति वाक्यं योजयति—**एतदुक्तमिति** । अन्तःकरणशुद्धेः प्रागेवाहृतापातज्ञानोदयमात्र एव कृतार्थमन्याः सन्तो ये यथा विहितानि चित्तशोधकानि कर्माणि त्यजन्ति उभयभ्रष्टाः

इत्यात्यन्तिक एवाधःपात स्यादिति । तत्रैषाक्षरयोजना । विद्यां परिपक्वाज्ञानलक्षणाम्, अविद्यां च कर्मलक्षणां यः सह उपायोपेयभावेन वेद । सोधिकृतः पुरुषोऽविद्यया कर्मलक्षणया विद्योत्पत्तिप्रतिबन्धकं मृत्युपदवेदनीयं पापं तीर्त्वा । विद्यया परिपक्वासाक्षात्कारलक्षणयाऽमृतं निर्वाणम् अश्नुत इति ।

इदमत्राकृतम्—अविद्यापरिपाकाद्यथास्वं कर्मानुष्ठेयं, विद्या तु परिपक्वा कर्मनिरपेक्षैव मोक्षं साधयिष्यतीति । समुच्चयवादिनोपि न तावत्काम्यकर्मणां समुच्चयः तस्य समुक्षुणा परित्यागात् । नापि नित्यनैमित्तिकैः, तत्तदाश्रमविहितानां तेषामुत्कर्षापकर्षवत्त्वात्कर्मभूयस्त्वात्फलभूयस्त्वन्यायेन कैवल्यफले तावद्भ्युपेयाविनि स्वर्गवदपवर्गस्यापि सातिशयत्वेनानित्यत्वादिदोषप्रसङ्गात् तस्माज्ज्ञानमेव कैवल्यसाधनमित्यभ्युपेयम् ।

‘सत्येन लभ्यस्तपसे’त्यत्रापि सत्यादीनां ज्ञानसाधनत्वं, ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वमित्यभ्युपेयम् । विविदिपावाक्ये यज्ञादीनां विज्ञानसाधनत्वस्यावधृतत्वात् । ‘तेनैति ब्रह्मवि-

समुपचितदुरितनिचयाश्चात्यन्तमधः पतन्तीत्यर्थः । एवं निन्दावाक्यं योजयित्वा ‘विद्या चाविद्या चे’त्येतदपि क्रमसमुच्चयपरतया योजयति तत्रैपेति ।

फलितं सकलमर्थं दर्शयति—इदमिति । अथ वा स्वाश्रमविहितं कर्मानुष्ठेयं, विद्या तु केवला मोक्षसाधनमिति विरोध इति तत्राह—इदमिति । चित्तशुद्धिपर्यन्तं यज्ञाद्याश्रमकर्माण्यनुष्ठेयानि शुद्धे तु चित्ते सर्वकर्मसन्ध्यासलक्षणं पारिव्राज्यमास्थितेन साधनचतुष्टयसम्पन्नेन श्रवणाद्यावर्तनीयम् । ततश्च मनननिदिध्यासनशमदमाद्यनेकविधेति कर्तव्यतोपेतपरिनिष्पन्नश्रवणस्यासति प्रतिबन्धे वर्तमानशरीरं एवापरोक्षज्ञानं जायते उत्पन्न त्वपरोक्षज्ञानमन्यानपेक्षमेवाविद्या निवर्तयतीति भावः । एतेन शिखायज्ञोपवीतत्यागोपलभ्यतपारमहंस्यसन्ध्यासोपि समर्थितः । कर्माङ्गभूतानां शिखादीनां शेषिकर्मपरित्यागे सुतर्गा परित्यागात् श्रुतिस्मृतिशक्तेन च ज्ञानाङ्गत्वेन तत्त्यागस्य विधानात् । विचीर्णं चात्रापरिमितमतिभिस्तैस्तैराचार्यैरिति नास्माभिः पराक्रम्यते । किंचेदं समुच्चयवादी प्रष्टव्य —किं काम्यकर्मभिः समुच्चयो नित्यनैमित्तिकैर्वा । नाथ इत्याह—समुच्चयेति । इहामुत्रार्थभोगविरक्तो हि समुक्षुरिति भावः । द्वितीयं दूषयति—नापीति । नहि सर्वेष्वश्रमेषु समानानि कर्माणि । नहि गृहिणो यावन्ति तावन्तीतरेषाम् । उक्तं हि ‘कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहार’ इति । तस्मात्तदुत्कर्षापकर्षाभ्यां साध्यमोक्षेऽपि तौ स्याताम्, इतरथाधिकानुष्ठानस्य व्यर्थत्वेन निर्विकारतयानुष्ठानस्याप्रामाण्यप्रसङ्गात् । अतएव ह्यग्निहोत्रदर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादिफलस्वर्गेषु वैपश्यं कल्प्यते । यथाहुर्यथावादाधिकरणे वार्तिककृत —‘कर्मेणामत्पमहता फलानां च स्वर्गोचर विभागस्थानमाम्यादविभागोपि चोदित’ इति । तस्मादुच्चावचतयाऽनित्यत्वादिदोषो मोक्षस्य स्यात्, नित्यनिरतिशयानन्दात्मकश्च मोक्षः श्रुत्यादिषु प्रसिद्ध इति भावः ।

या चापरा समुच्चये श्रुतिः प्रमाणिता तामपि पारंपर्यपरतया योजयति—सत्येनेति । ननु सत्येन सम्यग्ज्ञानं न ब्रह्मचर्येणैव आत्मा लभ्यत इत्यात्मलाभे समशिष्टानां सत्यादीनां मध्ये कस्यचित्पारंपर्येण कस्यचित्साक्षादिति कल्पने वैरूप्यं स्यादिति तत्राह—विविदिपेति । अनन्यथासिद्धश्रुतिबलादेव वैरूप्यमपि न दोषायेत्यर्थः । श्रुत्यन्तरेण्यन्यथासिद्धिमाह—तेनेति । नेयं श्रुतिः परब्रह्मविषया, तेनैति गच्छति इति

त्पुण्यकृ'दिति ब्रह्मवित्पुण्यकृतोर्मार्गे समुच्चयः, मार्गश्च कार्यब्रह्मगोचरः, 'कार्यं बादरि-
रस्य गत्युपपत्ते'रित्यत्र राद्धान्तितत्वात् । एवं चोदाहृताः स्मृतयोपि कर्मसमुच्चयपरतया
श्रुत्यनुसारेण योजनीयाः । तस्माज्ज्ञानमेव मोक्षसाधनमिति सिद्धम् । इति श्रीचित्सुखा-
चार्यविरचिततत्त्वप्रदीपिकायाः तृतीयः परिच्छेदः ।

मार्गे समुच्चयश्रवणात्परब्रह्मणि च गत्यानर्थक्यादसम्भवाच्च । अविद्यामात्रव्यवहितं तत् अविद्या चेहैव ब्रह्मत-
त्त्वविद्यया प्रविलीना । नच विगलितनिखिलस्थूलसूक्ष्मोपाधिजालस्य व्योमवत्सर्वगतचैतन्यैकरसस्य गमन-
मुपपद्यते । सूर्क्षकारोपि 'पर जैमिनिर्मुख्यत्वा'दिति पूर्वपक्षस्य 'कार्यं ब्रह्म गन्तव्यं बादरिराचार्यो मेने कुत'
अस्यहि ब्रह्मणो गतिरुपपद्यते प्रदेशावच्छिन्नतयोपासनात् । तत्फलस्यापि तादृशत्वादवधृतोपाधित्वाच्चे'ति
सिद्धान्तयावभूव तथा गतेरर्थवत्त्वमुभयथा, अन्यथाहि विरोध इति निर्गुणविद्यासु गत्युपसंहार वारयति ।
तस्मान्न परब्रह्मविषयेयमित्यर्थः । एवं श्रुतीरन्यथयित्वा स्मृतिष्वप्यतिदिशति—**एवं चेति** । तदेवं तृती-
यश्रुत्येति ग्रन्थे साधारण्येनोपसंहारः, इह तु विशेषतः स्मृतीनामित्यजामिता । वादार्थमुपसंहरति—**तस्मा-**
दिति । 'शब्द साक्षात्कारहेतुर्विद्या मुक्तिफलप्रदा । विद्यैव नतु कर्मेति तृतीये त्रितयं गतम् ॥' इति श्री-
मत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यप्रत्यक्षप्रकाशपूज्यपादशिष्यस्य प्रत्यक्षस्वरूपभगवतः कृतौ तत्त्वप्रदीपिकाटीकाया
नयनप्रसादिन्या तृतीयः परिच्छेदः ।

चतुर्थः परिच्छेदः ।

ॐ । कः पुनरयं मोक्षः । न तावद्विषयाकारोपप्लुतविज्ञानसन्तानोपरमः । तज्ज्ञान-
सन्तानस्यात्मरूपतया तदुच्छेदस्यापुरुषार्थत्वात् नहि सर्वतः प्रियतमस्यात्मनः समुच्छे-
दाय वाञ्छा कस्यचिदुपजायते बन्धविमोक्षपर्यायस्य मुक्तिशब्दस्यातदर्थत्वाच्च । नहि
बद्धनाशो मोक्षपदवाच्यः, किंतु सत एव तस्य बन्धविश्लेषः । नापि विधूतविषयाका-
रोपप्लवविशुद्धविज्ञानसन्तानोदयः, विकल्पासहत्वात् । तथाहि—‘किमयं सन्तानिनां
पुरुषार्थः किं वा सन्तानस्य । नाद्यः । तेषां स्वरसपरिनिर्वाणात् । नोत्तरः । तथाविधस-
न्तानोदयेऽपि मुमुक्षोरुपप्लुतसन्तानरूपस्योपरमात् ।

बन्धमोक्षयोर्वैयधिकरण्यापाताच्च । उभयान्वयिनः सन्तानिनः सन्तानस्य वैकस्या-
भावात्, कारणाभावाच्च । भावनाप्रकर्षो हि तस्य कारणमिष्यते तस्य स्थिरैकाधिकरणा-

ॐ श्रीगणेशाय नमः ॥ ‘तृतीये त्रिविधोपायः परिच्छेदे परीक्षितः । तुरीयं तु, तुरीयेस्मिन्मुक्तिनत्वं प-
रीक्ष्यते’ ॥१॥ साधनविचारानन्तरं फलविचाराद्धेतुहेतुमल्लक्षणं सवन्धं परिच्छेदयोरिति स्फुटस्तावच्छून्य-
वादकक्षाकृतमोक्षं निराचष्टे—**न तावदित्यादिना** । विषयाकारैर्नीलपीताद्याकारैरुपप्लुतो दूषितो यो वि-
ज्ञानसन्तानः तस्योपरमो विनाशो मोक्षः । उक्तं हि—‘प्रदीपस्येव निर्वाणं विमोक्षस्तस्य तापिनः’ इति
एवं न संभवतीत्यर्थः । हेतुमाह—**तज्ज्ञानेति** । नहि क्षणिकविज्ञानसन्ततिव्यतिरिक्तं कश्चिदात्मा भव-
द्भिरुपगम्यते तेन सन्तत्युच्छेदो नाम स्वरूपोच्छेद एव नचैवंविधे प्रेक्षावत्प्रवृत्तिः संभवति अफलत्वात् ।
फलिनोऽभावे हि कस्य तत्फलं स्यादिति भावः । किंच मुक्तिशब्दार्थपराहृतश्चायं मोक्षः । नहि बद्धस्य नाशो
मोक्षः मुच्छेदः मोक्षणे इति मुचेर्विश्लेषकर्मणो मुक्तिशब्दव्युत्पत्तेः तस्मात्स्वतः सकाशाद्बन्धस्य विश्लेषो
मोक्षशब्दार्थः न पुनः स्वरूपनाशः नचैवं भवन्मोक्ष इत्याह—**बन्धेति** । एवं माध्यमिकमुक्तिं दूषयेत्वा
योगाचारमुक्तिं दूषयति—**नापीति** । चतुर्विधभावनापरिपाकावसाने यो विषयाकारैरुपप्लवरहितो नाम स एव
विशुद्धानां विज्ञानानां सन्तानोदयस्तद्रूपो मोक्ष इत्यपि नैत्यर्थः । **परिनिर्वाणं** नाशः । स्वरसभङ्गविज्ञानलक्ष-
णसन्तानिनां चिरध्वस्ततया पश्चाद्भावि सन्तानान्तरोदयस्तेषां न पुरुषार्थः फलिनोऽभावे फलाभावादि-
त्यर्थः । **मुमुक्षोरुपप्लुतसन्तानस्येति** समानाधिकरणषष्ठौ । अत्रापि पूर्वोक्तदोषानतिवृत्तिः उपप्लु-
तसन्तानरूपमुमुक्षोर्नष्टत्वादित्यर्थः ।

किंच यस्य बन्धस्तस्य मोक्ष इत्येतदपि न तव मते स्यात् उपप्लुतानुपप्लुतसन्तानयोर्भेदात् तथाच कः प्रवर्तेत
इत्याह—**बन्धेति** । अयोभयसत्तानान्वयी कश्चिदस्ति तथाच सामानाधिकरण्यं बन्धमोक्षयोरिति तत्राह
—**उभयेति** । सन्तानिनस्तावत्क्षणिकत्वादेवाऽननुवृत्तिः सन्तानस्य सन्तानाभावादेकसन्तानापाताच्च
सन्तानाननुवृत्तिरित्यर्थः । किंच त्वत्पक्षे उपप्लुतविज्ञानसन्तानोपरमे विशुद्धविज्ञानसन्तानोभ्ये च कारणमपि
दुर्निरूपमित्याह—**कारणेति** । नन्वस्ति चतुर्विधभावनाप्रकर्षपर्यन्तजनितसाक्षात्कार उपाय इति तत्राह
—**भावनेति** । ततः किमिति तत्राह—**तस्येति** । नह्यन्यत्रानुभवोन्यत्र सस्कारोन्यत्र च तत्फलं स्मृतिरिति
संभवति नहि जातु यद्भदत्तोऽनुभवति विष्णुमित्रश्च तत्सस्कारवान् देवदत्तश्च तस्य स्मर्तेति दृष्टचरम् । तदि-
हानुपायिनः कस्यचिदभावे कः सस्कारः कः वा तत्प्रकर्षः कः च तत्फलं मुक्तिः, स्थिरत्वेऽपि भिन्नाधिकरण-
त्वे न संभवति किमु वक्तव्यमेकस्याप्यभाव इत्यर्थः । ननु सन्तानिषु सन्तान एवानुगतो विशेष आधीयता

भावे विशेषानाधायकत्वात् । सन्तानस्यावस्तुत्वात्, सन्तानिनां च प्रतिक्षणमपूर्ववदुप-
जायमानत्वेनानासादितभावनाप्रकर्षतया विशुद्धविज्ञानजननासामर्थ्यात् । नाप्यात्यन्तिकी
दुःखनिवृत्तिः । अतीतस्य तस्य स्वत एवात्यन्तं निवृत्तत्वेनासाध्यत्वात्, वर्तमानस्य
विरोधिगुणप्रादुर्भावनिवर्त्यत्वात्, अनागतस्य निवर्तयितुमशक्यत्वात् । निवृत्तेरात्यन्ति-
कत्वशब्देन निवृत्तजातीयस्य दुःखस्य तस्मिन्नात्मनि पुनरनुत्पादो विवक्षित इति चेन्न ।
अनुत्पादस्यापि प्रागभावतयानुत्पाद्यत्वात् ।

ननु दुःखात्यन्ताभावो मोक्षः, नच तस्य नित्यत्वादसाध्यत्वं, तत्संबन्धस्य स्वात्मनि
साध्यत्वादशेषकेशहेतुनाशस्य दुःखात्यन्ताभावात्मनोः संबन्धरूपत्वात्, तदुत्पत्तौ दुः-
खात्यन्ताभावस्य तदीयत्वेन व्यवहारात्, तदीयतया व्यवहारहेतुत्वेन च विषयविषयि-
भावादिवदस्यापि संबन्धव्यवहारगोचरत्वात् । तस्य च कृतकत्वेपि ध्वंसत्वादेवाविना-
शित्वात् ।

नचात्यन्ताभावस्य प्रतियोगी दुर्निरूपः मुमुक्षुसमवेततया संभावनोपनीतस्य दुःखस्य

उक्तं हि—‘यस्मिन्नेव हि सतान आहिता कर्मवासना । फलं तत्रैव बध्नाति कार्पासे रक्तता यथे’ति । तत्राह
—संतानस्येति । अत्र तार्किकाः प्राहु—‘योगपरिभावनाभुव परमेश्वरसाक्षात्कारान्नवानामात्मविशेष-
गुणानामात्यन्तिकी निवृत्तिरपवर्ग इति तदूषयति—नापीति । दुःखशब्देन चैकविंशतिप्रकारमपि दुःखं
विवक्ष्यते इन्द्रियषट्कं विषयषट्कं बुद्धिषट्कं शरीरं सुखं दुःखं चेत्येकविंशतिप्रकारं हि दुःखं, तत्र किमतीत-
वर्तमाने निवर्त्येते अनागतं वा दुःखं यथाह पतञ्जलि—‘हेयं दुःखमनागत’मिति । त्रिधापि न संभव-
तीत्याह—अतीतस्येत्यादिना । अशक्यत्वादिति । विद्यमानस्य हि प्रध्वंस इत्यर्थः । पक्षत्रयप्रयु-
क्तदोषपरिहाराय तात्पर्यपरिशुद्धाबुद्धयर्णोदीरितामात्यन्तिकत्वनिरुक्तिमुद्गावयति—निवृत्तेरिति । चेत-
नान्तरे तथाविधोत्पत्तिसंभवेनासम्भवेनिवृत्त्यर्थं तस्मिन्नात्मनीति विशेषणम्, निवृत्तस्यानुत्पादः संसार-
दशायमप्यस्तीति तज्जातीयस्येत्युक्तम्, तथाप्युपायानुष्ठानं व्यर्थमित्याह—अनुत्पादस्यापीति ।

अत्र लीलावतीकारमतमुद्गावयति—ननु दुःखात्यन्ताभाव इत्यादिना । नन्वत्यन्ताभावपक्षे सुत-
रामानर्थक्यमुपायानुष्ठानस्य नित्यत्वेनासाध्यत्वादिति तत्राह—नच तस्येति । ननु भावाभावयोर्न मुख्य-
संबन्धः संभवी, संयोगसम्वाययोरभावात् अथ विशेषणविशेष्यभावस्तथापि तस्य स्वभावानतिरिक्ततया
न साध्यत्वमिति तत्राह—अशेषेति । य एतेऽविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा दुःखहेतवः पञ्च क्लेशस्तेषा-
मशेषाणां निवृत्तिरेव दुःखात्यन्ताभावस्यात्मना संबन्धः सच साध्य इत्यर्थः । नन्वयं संयोगाद्यनन्तभूत-
कथं संबन्धः स्यादप्रसिद्धत्वादिति तत्राह—तदुत्पत्ताविति । नहि संबन्धबुद्धिजनकत्वमन्तरेण सकल-
सबन्धिष्वनूपायि संबन्धत्वं नाम किञ्चिच्छक्यनिरूपणं तदिह यथा ज्ञानार्थयोस्तदीयबुद्धिजनकतया विषय-
विषयिभावसंबन्धः तद्वद्दुःखात्यन्ताभावस्यात्मीयत्वव्यवहारहेतुरसावपि संबन्धः इत्यर्थः । तस्य चेति ।
अशेषकेशहेतुनाशस्येत्यर्थः ।

ननु कस्य दुःखात्यन्ताभावो मोक्षत्वेनाश्रीयते न तावदतीतवर्तमानयोरेतस्मिन्नुत्पन्नत्वेन तदत्य-
न्ताभावस्य तस्मिन्नसम्भवात् । नापि भविष्यतोऽन्यदीयभविष्यदुःखात्यन्ताभावस्य संसारदशायामप्येतस्मि-
न्निवद्यमानत्वेप्येतन्मुक्तेरभावात् । एतदीयभविष्यदुःखात्यन्ताभावोऽस्य मुक्तिरिति चेत् । तर्ह्येतदीयभवि-
ष्यदुःखात्यन्ताभावप्रतियोगिभूतं प्रमितं न वा । आद्ये, तदत्यन्ताभावोस्मिन्न सम्भवत्येव प्रतियोगिसद्भाव-
स्यात्र प्रमितत्वात् । द्वितीये त्वप्रतीतप्रतियोगित्वेनात्यन्ताभावरूपमोक्षस्याप्यप्रामाणिकत्वमिति तत्राह—
नचात्यन्तेति । प्रामाणिकत्वाभावेपि संभावनोपनीतस्य संभवति प्रतियोगित्वमित्यर्थः । संभावनामेवो-

प्रतियोगित्वात्, असति योगाभ्यासे दुरितप्रवाहस्यानागतसमयवर्तिदुःखोत्पादकत्वात्, सर्वत्र चात्यन्ताभावनिरूपणे सामान्यतोवगतस्य विशेषतः समारोपविज्ञानविषयस्यैव प्रतियोगित्वात्, विशेषतस्तु प्रतियोगिसद्भावनिश्चयापेक्षायामत्यन्ताभावनिरूपणव्याघातात्, शशे विषाणं तदीयमन्यदीयं वा नास्तीति पर्यनुयोगस्य सुवचत्वात्, नचास्य समव्ययफलत्वेनापुरुषार्थत्वम्, योगप्रभावात् कायव्यूहनिर्माणेन जीवन्मुक्तिदशायां सकलसुखोपभोगाङ्गीकारात् ।

‘क्षीयन्तेचास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे, ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथे’ति श्रुतिस्मृतिशतेभ्यः सर्वकर्मणां ज्ञानेन विलयावगमात् सुखोपभोगो न युक्त इति न वाच्यम् । तद्वचनानामचिरविनश्वरतामात्रप्रतिपादनपरत्वात् अन्यथा सर्वकर्मणां विनाशाद्विदुषः सद्य एव शरीरपाते जीवन्मुक्त्यभावप्रसङ्गात् । प्रारब्धकार्येतरकर्मणां ज्ञानादेव प्रक्षयो विवक्षित इति चेत् । मैवम् । अकृतप्रायश्चित्तानां कर्मणां दैहारम्भककर्मवद्भोगैकनाश्यत्वनियमात् ‘नाभुक्तं क्षीयते कर्म’ति स्मृतेः । नचानन्यात्कर्मणां भोगेन

पपादयति—असतीति । नन्वप्रामाणिकत्वे कथं तन्निरूप्याभावस्य प्रामाणिकत्वमिति तत्राह—सर्वत्र चेति । अत्यन्ताभावव्यतिरिक्तस्थल एवायं नियम यत्प्रतियोगिनो विशेषतोपि प्रामाणिकतयाभावप्रामाणिकता इत्यर्थः । एतदेव विपक्षे बाधकेन द्रव्यति—विशेषतस्त्विति । यत्र हि शशविषाणं नास्तीत्यादावत्यन्ताभावप्रमितिस्तत्रापि किमन्यदीयविषाणस्य ससर्गो निषिध्यते किं वा एतदीयस्य । नाद्यः । अन्यदीयविषाणस्य शशमस्तकेपि निधातुं शक्यतया तत्संसर्गात्यन्ताभावस्यासम्भवात्, शशमस्तकोत्पन्नविषाणानिषेधप्रसङ्गाच्च । द्वितीये तत्प्रमित्यप्रमित्योक्तदूषणापात इत्यर्थः । स्यादेतत्, अशेषदुःखनिवृत्तिवदशेषसुखनिवृत्तिरपि भवद्भिरङ्गीक्रियते मुक्तौ सुखस्यापि दुःखानुरक्ततया दुःखान्तर्भावाभ्युपगमात् । तथा च समव्ययफलत्वान्न कोपि पुरुषार्थ इत्यप्रवृत्तिरेवात्र प्रेक्षावताम् । यथाहुः—‘व्यसनानि दुरतानि समव्ययफलानि च । अशक्यानि च वस्तूनि नारमेत विचक्षण’ इति । तत्राह—न चास्येति । अत्र तावत्सारदशायां सुखस्याल्पत्वाद्दुःखस्य च बहुलत्वात्तन्निवृत्तिं सुखादयधिकं पुरुषार्थ इति ननु समव्ययफलता तथाऽत्यन्तसुखस्यापि विद्यमानत्वाच्छाभवाहुल्यमेव कुतो व्ययशङ्का कुतस्तत्रा च समव्ययफलतेत्याह—योगप्रभावादिति । जीवन्मुक्तिसहितायाः परममुक्ते पुरुषार्थत्वादिति भावः ।

ननु ज्ञानेन सुखोपभोगो न घटते कर्मनिमित्तत्वात्सुखोपभोगस्य कर्मणा च ज्ञानेन प्रदाहादिति तत्राह—क्षीयन्त इति । परावर इति । परमविद्यातीतम् । अवरं कारणतत्त्वं, तदुभयात्मक इत्यर्थः । कुतो न वाच्यमित्यत आह—तद्वचनानामिति । क्षीयन्त इति कोर्थः । न चिरात्क्षीयन्त इति न पुनस्तत्क्षणमेव भस्मसात्करणं च विनश्वरत्वस्योपलक्षणमित्यर्थः । सद्य शरीरपातं वेदान्ती परिहरति—प्रारब्धेति । तथा च प्रारब्धभोगे कर्मभिः शरीरस्थितिर्घटत इत्यर्थः । नैतद्युक्तम् । अप्रारब्धफलकर्मणामपि भोगव्यतिरेकेण ज्ञानमात्रादनिवृत्तेरिति परिहरति पूर्ववादी—मैवमिति । तत्किं तत्र तत्र प्रायश्चित्तान्नामं वृथेत्यत उक्तं—अकृतप्रायश्चित्तानामिति । भोगो वा प्रायश्चित्तं वा निवृत्तिहेतुरित्यर्थः । विमतानि कर्माणि भोगैकविनाश्यानि अकृतप्रायश्चित्तत्वे सति कर्मत्वात्प्रारब्धफलकर्मवदित्यनुमानविरोधादिति भावः । स्मृतिविरोधमपि दर्शयति—नाभुक्तमिति । ननु भोगेन क्षयवादिनोऽनिर्माक्ष एव अनन्तभवपरपरोपार्जितकर्मणामानन्त्येन भोगावसानाभावात् न शुभकर्मविषयमस्ति प्रायश्चित्तं तस्मान्मोक्षमिच्छतानिच्छतापि ज्ञानमेव कर्मक्षयहेतुरेष्टव्यमिति तत्राह—नचानन्यात्कर्मणामिति । अत्र किमेकस्यानेकविग्रहप्रहणानुपपत्तिर्वा-

प्रक्षयानुपपत्तिः । योगप्रभावादनन्ततदुपभोगसाधनकायव्यूहनिर्माणेन तदुपपत्तेः । नचानियतकालविपाकतया कर्मणां युगपदुपभोगविरोधः । उपभोगानुकूलसहकारिसाकल्यादेव समानविपाकसमयतोपपत्तेः । अतः आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तावपि मुक्तौ न समव्ययफलता ।

नचाननुभूयमानतया दुःखनिवृत्तेरपुरुषार्थत्वम् । विकल्पासहत्वात् । किमनुभूयमानतामात्रं पुरुषार्थत्वोपयोगि यावत् दुःखनिवृत्तिसत्त्वं वा । नाद्यः । चरमे जन्मनि योगप्रभावादनागताया अपि दुःखनिवृत्तेरनुभूयमानत्वसंभवात् । वर्तमानाया अप्यचिरमनुभवोपपत्तेः । तथाहि योगिनश्चरमज्ञानेन सकलविषयेण दुःखतदभावौ युगपत्साक्षात्कृतौ तेनैव विरोधिगुणप्रादुर्भावेण निवृत्ते दुःखे विनश्यदवस्थज्ञानेन वर्तमानापि दुःखनिवृत्तिरनुभूतेति । नापि द्वितीयः । प्रसक्तकण्टकादिदुःखनिवृत्तेरपुरुषार्थत्वप्रसङ्गान्, यावत्सत्त्वमननुभूयमानत्वात् । तथात्वे विषयान्तरावेदनप्रसङ्गात् । नच दुःखाभावस्य सुखशेषतया पुरुषार्थत्वम् । सुखस्यापि दुःखाभावशेषतया पुरुषार्थत्वमिति वैपरीत्यस्यापि वक्तुं सुकरत्वात् । कामनायाश्चोभयत्रापि समानोदयतयोभयोरपि पुरुषार्थत्वोपपत्तेः । प्रयोगश्च—आत्मा कदाचित् ध्वस्ताशेषविशेषगुणः, नित्यत्वे सत्यनित्यविशेषगुणाश्रयत्वात् महाप्रलयावस्थायामाकाशवदिति लीलावतीकारः ।

धिका, अनियतविपाकत्वं, वा । नाद्यः । सौमर्यादिवद्योगप्रभावादुपपत्तेरित्याह—योगेति । नोत्तर । अनियतविपाकत्वं हि कर्मणा सहकारिसपत्ननियमप्रयुक्तं सा च सहकारिसपत्तिरस्य योगप्रभावात्सपत्त्यते अगस्त्यादेरिव पयोनिधिपानादाविति, भवत्येव युगपदुपभोग इत्याह—नचानियतेति । उक्तं हि पतञ्जलिना 'योगप्रभावाद्देते नागस्य इव समुद्रं पायसीति' । उपपादितमसमव्ययफलत्वमुपसहरति—अत इति । ननु दुःखाभावस्य न पुरुषार्थत्वम्, अननुभूयमानत्वात् अनुभवे च नाशेषविशेषगुणोच्छेदज्ञानस्यानुच्छिन्नत्वादिति तत्र तात्पर्यपरिशुद्धानुदयनोक्तं परिहारमाह—नचाननुभूयमानेति । अत्र किं दुःखनिवृत्तेरनुभूयमानत्वमात्रं पुरुषार्थत्वोपयोमि किं वा यावद्दुःखनिवृत्ते सत्त्वं तावन्तं कालमनुभूयमानत्वमिति विकल्पाय आपादकासिद्धिमाह—चरमेजन्मनीति । योगप्रभावादिति । भूतभविष्यद्वर्तमानवेदनादित्यर्थः । ननु कथं वर्तमानायाः सकलदुःखनिवृत्तेरनुभवसंभवः येन हि चरमज्ञानेन दुःखनिवृत्तिरनुभूयते तदपि तावदेकं दुःखं नच तत्समये तस्य निवृत्तिरस्ति नापि तन्निवृत्तिसमये तदनुभवान्तरमस्ति, चरमत्वभङ्गादिति तत्राह—वर्तमानाया अपीति । तस्यैवोपपादनं तथाहीति । विनश्यदवस्थेत्यत्र हृदयम् नित्यद्रव्येष्वश्रयविनाशाभावेन विरोधिगुणप्रादुर्भावेन पूर्वगुणनाशादुक्तं विरोधिगुणप्रादुर्भावेणेति । प्रसक्तेति । यद्यपि कण्टकादिदुःखनिवृत्तिस्त्विदानीमनुभूयते तथापि न यावत्सत्त्वमनुभवः । विषयान्तरसंचाराद्यभावप्रसङ्गादतः प्रशिक्षितमूलतेति भावः । ननु दुःखाभावस्य पुरुषार्थत्वमेव नास्ति, यातु तत्र प्रार्थना सा तस्य सुखशेषतया तत्राह—नचेति । हेतुमाह—सुखस्यापीति । ननु काम्यमानत्वात्सुखस्यैव पुरुषार्थत्वमिति तत्राह—कामनाया इति । आत्मेति । इदानीमुपलभ्यमानविशेषगुणकतया बाधपरिहारार्थं कदाचिदित्युक्तम् । पर्यायेण विशेषगुणध्वंसस्य ससारदशाया सिद्धत्वेनार्थान्तरत्वनिवृत्त्यर्थमशेषग्रहणम् । युगपदिति चात्र विवक्षितम् । सख्यापरिमाणादीनां मोक्षदशायामपि विद्यमानत्वेन बाधपरिहारार्थं विशेषग्रहणम् । पीलुपाकपक्षे घटादिषु विशेषगुणै सहैव ध्वंसमानेषु व्यभिचारनिवृत्तयै नित्यत्वे सतीत्युक्तम् । ईश्वराप्यपरमाण्वादिषु व्यभिचारनिवृत्त्यर्थमनित्यविशेषगुणाश्रयत्वादित्युक्तम् । नित्यगुणादिष्वनैकान्तिकत्वपरिहाराय विशेषगुणग्रहणम् । दृष्टान्ते च शब्दव्यक्तिभेदापेक्षयाऽशेषपदसार्थक्यम् ।

वैक्रमतानुसारिणः पुनरेवं मोक्षलक्षणमाचक्षते—‘एतज्जीवनिष्ठदुःखसमानकाली-
नदुःखध्वंसातिरिक्तैतन्निष्ठदुःखध्वंसोऽस्य मुक्तिरिति । प्रयोगश्च देवदत्तोयमेवंविधदुःख-
ध्वंसवान् दुःखित्वाच्चैत्रवत् । एतन्निष्ठदुःखप्रागभावासमानकालीनैतन्निष्ठदुःखध्वंसोऽस्य
मोक्ष इत्यपरे । एवंविधसाध्येपि दुःखित्वादिति प्रयोगः पूर्ववदेव । अन्ये तु ज्ञानाजन-
कसंस्कारजनकजन्यसाक्षात्कारविषयो दुःखध्वंसो मोक्ष इति मन्यन्ते तत्र साक्षात्कार-
विषयो दुःखध्वंस इत्येतावति लक्षणे सांसारिकदुःखध्वंसेतिव्याप्तिर्माभूदिति ज्ञानाज-
नकेत्यादिना विशेषणेन साक्षात्कारो विशेष्यते । तत्र जन्यपदेनेश्वरसाक्षात्कारो व्याव-
र्त्यते । तस्यापि सकलजनकतया ज्ञानाजनकसंस्कारजनकत्वात् । अस्ति च ज्ञानाजन-
कसंस्कारजनकत्वं चरमसाक्षात्कारस्य दुःखध्वंसविषयस्य तदनन्तरं मुक्तौ ज्ञानान्तरानु-
दयात् ।

दुःखनिवृत्तिरेव मुक्तिरित्यत्र चा‘शरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये’ स्पृशत’इत्यादयो
वेदान्ताः प्रमाणम् । प्रियशब्दाभिधेयस्य सुखस्यापि निराकरणात् । ‘यो वै भूमा तत्सु-

तदेवं दुःखाल्यन्ताभावात्मनो सबन्धरूपोऽशेषकेशहेतुनाशो मोक्ष इति श्रीवल्गुभक्तं दर्शयित्वाऽधुनिक-
रीति दर्शयति—**वक्षेति** । एतज्जीवनिष्ठं यद्दुःखं तेन समानकालीनो यो दुःखध्वंस ततोतिरिक्त तत्त्वान-
धिकरणं य एतन्निष्ठो दुःखध्वंस स एतज्जीवस्य मुक्तिरिति योजना । एतन्निष्ठदुःखध्वंस एतत्संसारदशाया-
मायस्तीत्यतिव्याप्तिपरिहारायातिरिक्त्यन्तं विशेषणम् । जीवान्तरसंसारसमयदुःखध्वंसे तादृश्यतिव्याप्तिपरि-
हारायैतन्निष्ठदुःखध्वंस इत्युक्तम् । असंभवपरिहारायैतज्जीवनिष्ठेत्युक्तम् । घटादिध्वंसव्यवच्छेदार्थं दुःखध्वंसे-
त्युक्तम् । **प्रयोगश्चेति** । अयं देवदत्त एतद्देवदत्तनिष्ठदुःखसमानकालीनदुःखध्वंसातिरिक्तदुःखध्वंसवान्
दुःखित्वात् चैत्रवदित्यनुमातव्यमित्यर्थः । लक्षणान्तरमाह—**एतन्निष्ठेति** । एतद्देवदत्तनिष्ठो यो दुःखप्रा-
गभावास्तेनासमानकालीनो य एतन्निष्ठदुःखध्वंस स एतन्मुक्तिरित्यर्थः । अत्रापि सासारिकैतद्दुःखध्वंसेति-
व्याप्तिपरिहारायैतन्निष्ठदुःखप्रागभावासमानकालीनैत्युक्तम् । संसारदशाया ह्युत्पत्त्यमानदुःखप्रागभावसमान-
कालीनो हि दुःखध्वंसः । अत्रापि प्रयोगं दर्शयति—**एवंविधेति** । अयं देवदत्त एतन्निष्ठदुःखप्रागभा-
वासमानकालीनदुःखध्वंसवान् दुःखित्वात् पुरुषान्तरवदिति प्रयोग इत्यर्थः । **ज्ञानाजनकेति** । ज्ञानाज-
नको यः संस्कारस्तज्जनको जन्यश्च यः साक्षात्कारस्तेन विषयीकृतो यो दुःखध्वंस स मोक्ष इति योजना ।
स्वयमेव विशेषणानां कृत्यमाह—**तत्रेत्यादिना** । ननु भावनासंस्कारस्यायं स्वभाव यत्स्मृतिजनकत्वं
तत्कथं ज्ञानाजनकसंस्कारजनकत्वमतोऽसिद्धिलक्षणस्येति तत्राह—**अस्तिचेति** । प्रयोगस्त्वयं देवदत्त एत-
द्देवदत्तनिष्ठज्ञानाजनकसंस्कारजनकजन्यसाक्षात्कारविषयदुःखध्वंसवान् दुःखित्वात्संप्रतिपन्नवदिति ।

तदेवं दुःखनिवृत्तिरेव मुक्तिरित्यनुमानैरुपपादितं संप्रति श्रुतिमपि तत्र प्रमाणयति—**दुःखेति** । वाच-
त्यवधारणे । अशरीरं च सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशत एवेति दुःखवत्सुखस्यापि प्रतिषेधात् दुःखनिवृत्तिमात्र-
मेव मुक्तिः न पुनः सुखसंप्रतिपत्तिरपीत्यवसीयत इत्यर्थः । स्यादेतत् सन्ति मुक्तौ सुखप्रतिपादिका अपि श्रुत-
यस्ता किं मत्तप्रगीता इति तत्राह—**यो वै भूमेति** । यो नामादिभ्यः प्राणान्तेभ्यः परत्वेन प्रतिपीदितः
सत्याख्यो भूमा तत्सुखम् । भूमशब्दस्य पुल्लिङ्गत्वेपि विधेयसुखापेक्षया तदिति निर्देशः । वै इत्यवधारणे ।
एवं छान्दोग्यश्रुतिमुक्त्वा वाजसनेयकश्रुतिमप्याह—**एष इति** । यः सुषुप्त्यादावपरिच्छिन्न आनन्दं प्रति-
भासते एषोऽस्यात्मनः परम उत्कृष्टं आनन्द इत्यर्थः । ननु किमिति मुख्यार्थः परित्यज्यते असंभवदर्थत्वादि-
वि. ४५

खमेपोस्य परमानन्द इत्येवमाद्यास्तु श्रुतयो दुःखाभावविषयतयोपचरितार्था विषयाजन्य-
सुखस्यादृष्टचरत्वात् । नच सुप्तोत्थितस्य सुखमहमस्वाप्समिति सुखपरामर्शदर्शनाददृष्ट-
चरत्वमसिद्धमिति वाच्यम् । पिताद्युपहतेन्द्रियस्य दुःखमहमस्वाप्समिति परामर्शात्
दुःखस्यापि नित्यताप्रसक्तेः । नच परमप्रेमास्पदत्वादात्मनः सुखरूपतानुमेया । दुःखाभावे
व्यभिचारात् ।

आत्मनः सुखरूपत्वे च मुक्तिसंसारयोरविशेषप्रसङ्गात् । स्वयंप्रकाशस्य निरतिश-
यसुखरूपतया सदावभाससंभवात् । सुखं मे स्यादिति च प्रेमालोके न सुखमहं स्यामिति
तथाचात्मनः सुखरूपत्वे प्रेमास्पदत्वमेव न स्यादिति प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधस्तत्र कुतस्ततः
सुखरूपतानुमानं तस्मात् दुःखनिवृत्तिरेव मुक्तिरिति । अत्रोच्यते—प्रतियोगिहेतुनाशो
न तदत्यन्ताभावस्य तदीयत्वे प्रयोजकः 'लीनशब्दनिदानेपि व्योम्नि तस्यानवस्थितेः ।
रूपाभावव्यवहृतेस्तदभावेपि चात्मनि' ॥ १ ॥ प्रलयदशायामशेषशब्दनिदाननाशेपि आ-
काशे न शब्दार्थान्ताभावः पुनः सर्गे तत्रैव शब्दोत्पत्तेः । प्रतियोगिहेतुनाशाभावेऽप्यात्मनि
रूपात्यन्ताभावव्यवहारात् । नचाभावत्वेपि विषयविषयिभावादिवत् ध्वंसस्य संबन्धरूपता
विषयविषयिभावादेरप्यभावत्वे संबन्धरूपत्वे चासंप्रतिपत्तेः ।

त्याह—विषयेति । नन्ददृष्टचरत्वमसिद्धं सुप्तोत्थितेन परामृश्यमानत्वादिति तत्राह—नच सुप्तेति ।
ननु माभूदर्थपत्तिरनुमान तु भविष्यति तथाहि—आत्मा सुखं परमप्रेमास्पदत्वात्सप्रतिपन्नसुखवत् व्यतिरे-
केण दुःखवदिति वा तत्राह—नच परमप्रेमेति । अस्ति हि दुःखाभावस्यापि परमप्रेमास्पदत्वं, नच तत्र
सुखशेषतयेति वाच्यं वैपरीत्यस्य सुवृत्तत्वात् नच सुखरूपत्वमित्यनैकान्तमित्यर्थः ।

तर्कबाधितत्वं चाह—आत्मन इति । ननु स्वरूपभूतमपि सुखं ससारदशायाम् न प्रकाशते मुक्तौ तु
प्रकाशतेऽतोऽस्ति विशेष इति तत्राह—स्वयंप्रकाशेति । प्रतिज्ञाविरोधलक्षणं निग्रहस्थानमप्याह—सुख-
मिति । पूर्वपक्षमुपसंहरति—तस्यादिति । सिद्धान्तमुपक्रमते—अत्रेति । दुःखात्यन्ताभावस्य स्वरूपतो
नित्यत्वेपि तत्संबन्ध आत्मनि साध्य संबन्धश्च दुःखहेतूनामशेषक्लेशानां नाशस्तस्मिन्सति तदीयत्वव्यवहा-
रादिति हि श्रीवल्लभेनोक्तं तत्र दुःखहेतुनाशो दुःखात्यन्ताभावस्यात्मीयतया व्यवहारे न प्रयोजको व्यभिचा-
रादित्याह—प्रतियोगीति । प्रतियोगिनो दुःखादेर्हेतुभूतक्लेशनाशो न दुःखात्यन्ताभावस्य तदीयत्वे प्रयो-
जक इति योजना । हेतुं श्लोकेनाह—लीनेति । प्रलयावस्थाया ह्याकाशेऽधिकरणे शब्दहेतवोऽसमवायि-
कारणसमवायिकारणनिमित्तकारणानि च कानिचित्प्रलीनानि अथापि शब्दात्यन्ताभावस्य नाकाशसंबन्धो
नहि पूर्वोत्पन्नशब्दध्वंसानुत्पद्यमानशब्दप्रागभावान्तरेण तत्र शब्दात्यन्ताभावोऽस्ति । नच शब्दोपादाना-
काशस्य निमित्तभूतेश्वरादेशे विद्यमानत्वात् प्रलये कथं शब्दकारणाभाव इति वचनीयम् । दुःखेऽप्यात्मादीनां
सत्त्वेन हेतुनाशरूपसंबन्धाभावस्यात्रापि वक्तुं शक्यत्वात् । तदेवमन्वयो नास्तीत्युक्तं व्यतिरेकोपि नास्ती-
त्याह—रूपेति । रूपहेत्वभावस्यात्मन्यविद्यमानत्वेपि रूपात्यन्ताभावव्यवहाराच्चेति श्लोकयोजना । विवृ-
णोति—प्रलयेति । उत्तरार्द्धे विवृणोति—प्रतियोगीति । क्लेशहेतुध्वंसभावेपि परमेश्वरे दुःखात्यन्ता-
भावव्यवहाराच्च । नच तदत्यन्ताभावविवक्षा जीवेवभावात् । नच ससर्गाभावमात्रविवक्षा गगनेव्यभिचा-
रोदीरणादिति । किंच भावविशेषस्यैव संबन्धत्वप्रसिद्धेः प्रतियोगिहेतुध्वंसस्य संबन्धत्वमेव नास्ति । नच
विषयविषयिभावादिदृष्टान्तस्तस्याप्युक्तरूपत्वे विप्रतिपत्तेरित्याह—नचाभावत्वेपीति ।

नच विनाशस्याप्यविनाशिता, कृतकत्वात् । नच ध्वस्ताध्वस्तिप्रसङ्गः, पुरस्तादेव परास्तत्वात् । नच समारोपितप्रतियोगिकत्वे दुःखात्यन्ताभावस्य पारमार्थिकता, स्वप्रसमारोपितद्विरदध्वंसवदस्यापि पारमार्थिकत्वानुपपत्तेः । नच शशविषाणनिषेधप्रतिबन्दीग्रहः, तस्याप्यविचारितरमणीयत्वात् । नच कायव्यूहनिर्माणेन जीवन्मुक्तिदशायामशेषसुखोपभोगाङ्गीकारात् समव्ययफलत्वदोषपरिहारः । विदेहकैवल्ये दुःखानुभववत्सुखानुभवस्याप्यभावात् । नच सर्वकर्मफलोपभोगसंभवः प्रारब्धकर्मेतरकर्मणां ज्ञानान्निवृत्तिश्रवणात् । नचाकृतप्रायश्चित्तानां कर्मणां भोगैकनाशयत्वनियमः । क्षीराक्तैराश्रपत्रैस्तु ज्वरं सद्यो निवारयेदित्यादिना अकृतप्रायश्चित्तानामपि ज्वरादिहेतुकर्मणां निवृत्तिस्मरणात् । नचाकृतप्रायश्चित्तत्वम् । 'एवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते, एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यत' इत्यादिवाक्यशेषे श्रूयमाणपापक्षयस्य रात्रिसत्रन्यायेन ज्ञानफलत्वकल्पनया सगुणासु विद्यासु दुरितक्षयकामो ब्रह्मोपासनं कुर्यादिति भावश्चित्तविधित्वोपपत्तेः । 'उपपातकेषु सर्वेषु पातकेषु महत्सु च । प्रविश्य रजनीपादं ब्रह्मध्यानं समाचरे'दिति स्मरणाच्च । 'सत्येनापि शपेद्यस्तु देवाग्निगुरुसंनिधौ । तस्य वैवस्वतो राजा धर्मस्यार्द्धं निकृन्तती'त्यादिस्मरणात् सुकृतस्यापि भोगैकनाशयत्वनियमानुपपत्तेः ।

यत्तु ध्वसस्य कृतकत्वेपि नित्यत्वसमर्थनं तदूषयति—**नचविनाशस्येति । पुरस्तादेवेति ।** उत्तरोत्तरध्वंसमालाया अन्यस्मिन्नपि ध्वस्तपदार्थे विरोधित्वादिति प्रागभावखण्डने कृतसमाधानत्वादित्यर्थः । यत्तु दुःखात्यन्ताभावस्य सभावनोपनीततया विशेषतः समारोपसिद्धदुःखप्रतियोगिकत्वमुक्तं तदूषयति—**नच समारोपितेति ।** ननु समारोपितद्विरदध्वंसस्यानत्यन्ताभावत्वादप्रामाणिकत्वम्, अत्यन्ताभावस्य त्वयं विशेष यत्प्रतियोग्यप्रामाणिकतयापि प्रामाणिकत्वम् इतरथा शशविषाणनिषेधासंभवादिति तत्राह—**नच शशेति ।** समव्ययफलतामपि समर्थयते—**नच कायेति ।** यद्यपि जीवन्मुक्तिदशायामेतच्छक्यपरिहारः तथापि विदेहकैवल्यावस्थायां दुष्परिहरमेतदित्याह—**विदेहेति ।** एतेनैतदप्यपास्तम् यदाह मानमनोहरः—'योगद्धिसमासदितचिरकालोपभोग्यसुखविशेषपरत्वेप्युपपत्ते'रिति तादृशसुखस्य मुक्तावभावात् । नच जीवन्मुक्तिदशायामपि सर्वकर्मणा फलोपभोगसंभवः येनाधिकसुखोपभोगः स्यादित्याह—**नच सर्वेति ।** येन कर्मणा फल प्रारब्धं तत्कर्म प्रारब्धं कर्म । यदि हि भोगैकविनाश्यानि कर्माणि तत्त्वं ज्ञानान्निवृत्तिर्न श्रूयेत श्रूयते चातो न सर्वकर्मफलोपभोगस्तदेत्यर्थः । यत्तु ज्ञानान्निवृत्तिर्न घटत इत्यप्युक्तं तत्परिहरति—**नचाकृतेति ।** तत्र हेतोरनैकान्तिकतामाह—**क्षीरेति ।** अत्र हि यः क्षीराभ्यक्ताश्रपत्रैर्होमं नासौ प्रायश्चित्तं नापि भोगः अथापि निवर्त्यते ज्वरहेतुकर्म ततो नायं नियम इत्यर्थः । नच तत्र ज्वरस्यैव कार्यस्य नाशः कर्मणस्तु प्रतिबन्धमात्रमेवेति वाच्यम् । तत्कार्यस्यात्यन्तानुत्पत्तौ कर्मसद्भावे प्रमाणाभावात् । अभ्युपगम्य वेदमुक्तं, वस्तुतस्तु कृतप्रायश्चित्तत्वमपि शक्यसंपादमित्यसिद्धिमाह—**नचाकृतप्रायश्चित्तत्वमिति ।** ननु पापक्षयोद्देशेनाविहितस्य कथं प्रायश्चित्तत्वावधारणं तत्राह—**एवं हास्येति ।** ननु वाक्यशेषे श्रूयमाणमपापश्लोकश्रवणवदर्थवाद इति तत्राह—**रात्रीति ।** यथाहि 'प्रतिष्ठन्ति ह वै य एता रात्रीरुपयन्ती'त्यत्र विश्वजिज्ञ्यायेन स्वर्गकल्पनाया गौरवप्रसङ्गात्कामपदविपरिणामेन प्रतिष्ठाकामो रात्रिसत्रं कुर्यादिति कल्पितं तद्वदित्यर्थः । **ज्ञानफलत्वेति ।** ज्ञानं प्रति फलत्वेन कल्पनयेत्यर्थः । साक्षादेव च पापक्षयोद्देशेन ध्यानविधायिका स्मृतिरप्यस्तीत्याह—**उपपातकेष्विति ।** **रजनीपादः** रजन्याश्चतुर्थभागः । नन्वस्तु दुरिते न नियमः सुकृते तु भोगैकविनाशयत्वनियमोस्त्येवेति तत्राह—**सत्येनापीति ।** ननु तर्हि भोगैकविनाशयत्व-

‘नाभुक्तं क्षीयत’ इत्यादेरौत्सर्गिकत्वादपवादं परिहृत्यैव चोत्सर्गस्थितेः निर्गुणब्रह्मविद्यायाश्च सर्वकर्महेतुभूताऽविद्यानिरासिकाया अदृष्टद्वारेणैव तत्कार्यपुण्यापुण्यनिवर्तकत्वोपपत्तेः ।

नच कायव्यूहनिर्माणेन युगपत्सर्वकर्मफलोपभोगसंभवः तत्तत्कल्पमन्वन्तरादिनियतकालोपभोग्यानां युगपदुपभोगे तत्प्रतिपादकशास्त्रस्याप्रामाण्यप्रसङ्गात् । नच प्राप्ताणिमाद्यैश्वर्याणामेव मुक्तिः येन कायव्यूहनिर्माणेन युगपदशेषकर्मफलोपभोगः स्यात् न त्वेवम् । भगवता पतञ्जलिना नियमाभावाभिधानात् । ‘यदानिर्द्धूतरजस्तमोमलं बुद्धिसत्त्वं पुरुषस्यान्यताप्रत्ययमात्राकारं दग्धक्लेशबीजं भवति तदा पुरुषस्य शुद्धिसारूप्यमिवापन्नं भवति, एतस्मामवस्थायां कैवल्यं भवतीश्वरस्यानीश्वरस्य वे’ति । जनकजडभरतविदुरधर्मव्याधपिङ्गलादीनामप्राप्तैश्वर्याणामपि मुक्तिस्मरणाच्च ।

नच युगपद्भोगे सहकारिसाकल्यं भविष्यत्तत्कल्पमन्वन्तरादीनां सहकारिणामिदानीमाहर्तुमशक्यत्वात् । नच प्रसक्तकण्टकादिदुःखनिवृत्तिवन्मुक्तौ दुःखनिवृत्तेर्वर्तमान-

प्रतिपादकवचनस्य का गतिरिति तत्राह—**नाभुक्तमिति** । ननु तथापि निर्गुणज्ञानस्य कथं कर्मनिवर्तकत्वं नहि तदुद्देशेन ध्यानं विधातुमुचितमिति तत्राह—**निर्गुणेति** । नाय शास्त्रैकगम्योर्थं वस्तुवृत्तेनैव तत्सिद्धे नहि रज्जुतत्त्वज्ञानस्य भयकम्पादिनिवर्तकत्व शास्त्रमन्तरेण न बुद्ध्यत इति भावः ।

तदेवं ज्ञाननिवर्त्यत्वाच्च जीवन्मुक्तिदशाया सर्वकर्मफलोपभोग इत्युक्तम् । इदानीमशक्यत्वादपि न सर्वकर्मफलोपभोगसंभव इत्याह—**नच कायेति** । देहदेशादिवत्कालोपि सहकारी सहस्रसंवत्सरादिपरिमितभोग्यस्य तत्र तत्र फलत्वेन श्रवणात् सच न योगीच्छामनुवर्तते, युगपदेव च तस्योपसंहारे तादृशफलप्रतिपादकशास्त्रार्थपरित्यागादप्रामाण्यप्रसङ्गस्तस्येत्यर्थः । किंचाव्यापिका चेयं कल्पना यत्कायव्यूहनिर्माणेन सर्वकर्मफलान्युपभुक्त्वतो मोक्ष इति, अप्राप्ताणिमाद्यैश्वर्याणां कायव्यूहनिर्माणाप्रवीणानामपि योगशास्त्रकृतवचनबलात्तत्तदितिहासपुराणादिगतलिङ्गावगमाच्च मुक्तिविज्ञानात् त्वत्पक्षे च तेषाममुक्तिरेव स्यात् । नच बद्धैकस्वभावा केचन जीवा इति वचनीयम्, तथासति तत्त्वशङ्कया सर्वेषामप्रवृत्त्यापातात् । नच शमदमविषयवैतुष्याद्युपलम्भाच्छङ्कोच्छेदेन विसृज्यप्रवृत्तिरिति वचनीयम् शमदमादेरपि निर्निमित्तमनुत्पत्तेः सनिमित्तत्वे च तन्निमित्तानुष्ठानदशायामेवैषा शङ्का निरङ्कुशा स्यात्तदेतदखिलं ह्यालिख्याह—**नच प्राप्तेत्यादिना । यदा निर्द्धूतेति** । सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति विभूतिपादावसानसूत्रं व्याचक्षाणः परमर्षिराह—**यदेत्यदिः** । रजस्तमोलक्षणे मले निर्द्धूते यस्मिन् बुद्ध्याकारपरिणते सत्त्वगुणे तत्सत्त्वं तथोक्तम् । अत एव पुरुषबुद्ध्योरन्यतैकाकारप्रत्ययमात्रेण परिणतं तथा क्लेशानविद्यादीन् प्रति दग्धो बीजभावो यस्य न पुनरकृतार्थचित्तवत्प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदारक्लेशः कृतभोगविवेकख्यातिलक्षणपुरुषार्थद्वयत्वात् तत्तथोक्तम् एवं यदाभवति चित्ततत्त्वं तदापुरुषशुद्धिसारूप्यमिवापन्नं भवति । पुरुषशुद्धिसदृशशुद्धिसुजावयति । यथाहि पुरुषश्चिन्मात्रतया स्वच्छः तथा सत्त्वमपि तन्मात्राकारत्वाद्भवति निर्मलतया सरूपम् । अथ कैवल्यं भवति कस्य ईश्वरस्य पूर्वोक्तसंयमविशेषैर्ज्ञानक्रियाशक्तिमतः अनीश्वरस्य वा चक्षुरन्तःकरणयो संबन्धसंयमाद्विवेकज्ञानमित्यनन्तरोक्तसंयमाद्विवेकज्ञानवत् इतरस्य वा उत्पन्नविवेकख्यातेरिति तदिहाप्राप्तैश्वर्यस्यापि इतरवदेव मुक्तिः शास्त्रीत्यर्थः ।

यत्तु युगपदुपभोगे सहकारिसाहित्यात्समानविपाकतेति तत्राह—**नच युगपदिति** । यत्तु यावत्सत्त्वमननुभूयमानत्वेपि कण्टकादिदुःखनिवृत्तिवदशेषदुःखनिवृत्तेरप्यनुभवमात्रात्पुरुषार्थत्वं संभवति योगधिसान्मर्थ्याच्च सकलदुःखाभावानुभवसंभव इति तदप्युक्तन्यायेन परिहरति—**नच प्रसक्तेति** । नन्वत्राप्युक्तं

तथा साक्षात्कारसंभवः । अप्राप्तैश्वर्यस्यापि मुक्तिप्रतिपादनेन तदसंभवस्योपपादितत्वात् । नच दुःखाभावः स्वतन्त्रतया पुरुषार्थः सुखाभिव्यक्तिशेषत्वात् । नच विपरिवृत्तिप्रसङ्गः, विकल्पासहत्वात् । किं सुखं दुःखाभावस्योत्पादकमुताभिव्यञ्जकम् । नोभयथापि । आत्मनि समस्तदुःखाभावमनुभवतोप्यकस्मादुपनतविपञ्चीस्वरश्रवणादौ सुखोत्पत्तेः । नच संतापवतः शीतहृदे निमग्नार्धकायस्य सत्येव दुःखे सुखोपलम्भात् न दुःखाभावस्य सुखप्रतिपत्तिशेषतेति वाच्यम् । सुखस्य दुःखाभावैकाभिव्यङ्ग्यत्वनियमानभ्युपगमात् अनुभूयमानो दुःखाभावः सुखमभिव्यनत्तयेवेति नियमात् ।

ननु वैषयिकसुखस्य कण्टकादिनिवृत्तावननुभवात् आत्मनश्च सुखरूपत्वासंप्रतिपत्तेर्नदुःखाभावस्य सुखाभिव्यक्तिशेषतेति चेन्न । आत्मनः सुखरूपत्वस्यानन्तरमेव निवेदयिष्यमाणत्वात् प्रयोगश्चासमीचीनो वेदान्तिनः प्रति हेतोरसिद्धत्वात् दृष्टान्तस्य च साध्यसाधनविकलत्वात् आकाशस्यापि प्रलये लयाभ्युपगमान् । अस्तु तर्हि 'दुःखसंततिरत्यन्तमुच्छिद्यते संततित्वात् प्रदीपसंततिव'दिति किरणावलीकारप्रयोग इति 'चेत् न, पार्थिवपरमाणुरूपादिसंताने त्वन्मते व्यभिचारात् । ननु सर्वमुक्तौ सापि संततिः उच्छिद्यते धर्माधर्माख्यनिमित्तस्य सुखदुःखोपभोगलक्षणप्रयोजनस्य चाभावादिति चेत् । मैवम् । सर्वमुत्तयनङ्गीकारवादिनं प्रति एवं पर्यनुयोगायोगात् । कन्दलीकारलीलावतीकारप्रभृतिभिः कैश्चिद्वैशेषिकविशेषैः सर्वमुक्तेरनङ्गीकारात् केषांचिदात्मनां संसार्येकस्वभावताङ्गीकारात् ।

नचैवं सति सर्वेषां तथाऽऽत्माशङ्कया मोक्षसाधनानुष्ठानप्रसङ्गः । शमदमोपरमवृत्तिश्चादिना मुमुक्षुचिह्नेन श्रुतिसिद्धेन तथात्वशङ्कानिवृत्तेः । वक्रानुमानं पुनः सिद्धसाधन-

वैपरीत्यं किं न स्यादिति तत्राह—**नच विपरिवृत्तीति** । यदिदं दुःखाभावशेषत्वं सुखस्य तत्किं तदुत्पादकतया तदभिव्यञ्जकतया वेति विकल्पोभयथापि व्यभिचारमाह—**आत्मनीति** । **विपञ्ची** वीणा । नहि विद्यमान एव दुःखाभावो वीणापणवादिनादैरुत्पाद्यते । अनुभूयमान एव वाभिव्यज्यत इत्यर्थः । ननु दुःखाभावस्य सुखप्रतिपत्तिशेषताप्युक्ता दुःखानुभवसमयेपि सुखानुभवदर्शनादिति तत्राह—**नच संतापवत इति** । मूर्छादौ सुखानुभवप्रसङ्गवारणायोक्त—**अनुभूयमान इति** ।

स्यादेतत् । यदिदं दुःखाभावेनाभिव्यङ्ग्यतयाभिमतं सुखं तत् किं वैषयिकमुत स्वाभाविकम् । नाद्यः । कण्टकादिदुःखनिवृत्तिसमये चन्दनवनिर्तादिसेवाभावेन तत्सुखस्य तदानीमभावात् । न द्वितीयः । तत्र प्रमाणाभावादिति शङ्केते—**नन्विति** । यत्तु लीलावतीकारानुमानं तदुपयति—**प्रयोग इति** । निर्गुणात्मवादिनो वेदान्तिनो हेतुरसिद्ध इत्यर्थः । साधनवैकल्यं सुबोधम् । आश्रयहीनश्च दृष्टान्तः । **अत्यन्तमुच्छिद्यत इति** । दुःखप्रागभावासमानकालीनध्वंसप्रतियोगिनीत्यर्थः । प्रलयावस्थायां दुःखसन्ततेरुच्छेदस्वीकारात्सिद्धसाधनतानिवृत्त्यर्थमत्यन्तग्रहणम् । **पार्थिवेति** । तत्र हि सन्ततित्वमस्ति नचात्यन्तोच्छिद्धिः सर्गान्तरेषु तेषु रूपाद्युत्पत्तेरित्यर्थः । अत्र तदीयमेव परिहारः समुद्रावयति—**नन्विति** । यदा हि सर्वेषां मुक्तिरिति पक्षः तदा क्रमेण सर्वेषु मुक्तेषु सत्सु निमित्तप्रयोजनयोरभावात्साप्यत्यन्तमुच्छिद्यत इत्यर्थः । स्यादेवं 'यद्येवमेव सर्वैतार्किकाणां समतिः सैव तु नास्तीत्याह—**मैवं सर्वेति** ।

ननु तर्हि कस्यापि मुक्त्यर्थी प्रवृत्तिर्न स्यात्सर्वेषामात्मनि बद्धैकस्वभावत्वशङ्कयेति तत्र श्रीवल्लभीयं परिहारमाह—**नचैवमिति** । सिद्धसाधनतामेव विशदयति—**नहीति** । ज्ञानाजनकसंस्कारेत्यादिपक्षं दूषयति—

त्वादुपेक्षणीयम्, नहि मुक्तस्य दुःखनिवृत्तौ कश्चिद्विप्रतिपद्यते । तृतीयमपि मोक्षलक्षण-
मसंभवित्वदोषेण निरसनीयं योगप्रभावनियमनिराकरणात् अनागतदुःखध्वंसस्य साक्षा-
त्कर्तुमशक्यत्वात् चरमदुःखध्वंसदशायां विज्ञानस्यापि विशेषगुणस्योच्छेदस्याङ्गीकारात् ।
प्रियस्पर्शनिषेधश्रुतिस्तु वैषयिकसुखनिषेधपरा । अन्यथा 'एषोऽस्य परमानन्दः यो वै भूमा
तत्सुख'मिति सुखरूपताप्रतिपादकश्रुतिविरोधात् । नचासामुपचरितार्थत्वं मुख्यार्थं बा-
धकाभावात् । नच नित्यसुखस्यानुपलब्धिर्बाधिका नित्यज्ञानवदुपपत्तेः । सुखस्य विष-
येन्द्रियादिजन्यत्वव्याप्येति । ज्ञानेच्छादेर्जन्यत्वव्याप्तिवदेव निरसनीयत्वात् श्रुत्यवष्टम्भेन
नित्यत्वाङ्गीकारस्योभयत्रापि तुल्यत्वाद्विषयाद्यभावेऽपि सुप्तोत्थितस्य सुखमहमस्वाप्समिति
सुखपरामर्शदर्शनाच्च । नच दुःखपरामर्शस्यापि सत्त्वान्नित्यदुःखरूपत्वमपि तुल्यमिति
वाच्यम् । नित्यदुःखरूपतायामात्मनः परमप्रेमास्पदत्वव्याकोपात् । नच दुःखाभावे
व्यभिचारादिदमर्साधनमिति वाच्यम् । तस्य सुखशेषतया परमप्रेमास्पदत्वाभावात् ।
परमप्रेमास्पदत्वानुपपत्तिरप्यात्मनः सुखरूपत्वे प्रमाणम् ।

आत्मनः प्रेमास्पदतायां न कस्यचिद्विवादः मा न भूवं भूयासमित्यात्मन्याशिषो लौ-
किकपरीक्षकसंमतत्वात् । नचेयमाशीः शरीरोपघातजन्मनो दुःखाद्विभ्यतो नपुनरा-
त्मानमानन्दं मन्यमानस्येति युक्तम् । शरीरोपघातजन्मनो भयस्याप्यात्मनः प्रेमास्पदत्व-
मन्तरानुपपत्तेः, नहि दुःखं दुःखतया भयहेतुरन्यगतस्यापि तथाभावप्रसङ्गात् । “तदेत-

तृतीयमपीति । चरमदुःखध्वंस किमनागत साक्षात्क्रियते किं वा वर्तमान । नाद्य । योगप्रभावनियम-
निरासेनानागतसाक्षात्कारनियमनिराकरणादित्याह—योगेति । द्वितीये प्राह—चरमेति । तत साक्षा-
त्कारविषयो दुःखध्वंस इत्यंशोऽसंभवीत्यर्थः । यातु दुःखनिवृत्तिमात्रमेव मोक्ष इत्यत्र श्रुतिस्मृदाहता तामन्य-
थयति—प्रियस्पर्शेति । मुक्तिदशायामानन्दप्रतिपादकश्रुतिराशेर्मुख्यार्थप्रच्यवनेनोपचरितार्थत्वकल्पनाद्वर-
प्रियस्पर्शनिषेधस्य वैषयिकप्रियस्पर्शतया सकोचमात्रत्वमिति भावः । नित्यज्ञानेति । यथाहि जीवज्ञाने-
च्छाप्रयत्नानामनित्यत्वेऽप्यैश्वर्यज्ञानादेर्नित्यत्वमिन्द्रियादेर्हेतुजातस्य च न ज्ञानादिमात्रं प्रति व्याप्तिः किंतु तद्वि-
शेषं प्रतीतिः भवद्भिः कल्प्यते तत्कस्य हेतो योग्यत्वे सत्यनुपलब्धेरभावात्, अनन्ययासिद्धश्रुतिसमर्पि-
तत्वाच्च, तथात्रापि स्वरूपभूतसुखस्य नित्यत्वेऽप्यविद्यावृत्ततया ससारदशायामुपलब्धुमयोग्यत्वाच्छ्रुतिबलाच्च
नापलापसंभव इति खण्डलकार्थः । अपि चोपलभ्यत एव ससारदशायामपि नित्यसुखमित्याह—विषया-
द्यभावेपीति । यावत्त्रातिप्रसक्तिरुक्ता ता परिहरति—नचेति । परप्रेमास्पदत्वमेव दुःखरूपताया न
घटत इत्यर्थः । अत्र यदुक्तं दुःखाभावेऽपि परप्रेम्णो दर्शनान्न सुखरूपतासाधकं परप्रेमास्पदत्वमिति तत्राह
—नचदुःखेति । निरुपाधिकत्वं हि प्रेम्णः परत्वं नाम तथाच सुखशेषदुःखाभावे कथं परत्वमित्यर्थः ।
एवं परामर्शान्यथानुपपत्त्या सुखरूपत्वमुक्तं, संप्रति परप्रेमास्पदत्वानुपपत्तिरप्यत्र प्रमाणमित्याह—पर-
प्रेमेति ।

इदानीं परप्रेमास्पदत्वस्यैव कल्पकं साधयति—आत्मन इत्यादिना । शरीरेति । शरीरस्य य उप-
घातः हिंसा तज्जन्यं यद्दुःखं तद्व्यादेवेयं प्रार्थनेत्यर्थः । ननु दुःखस्वभावादेव भयजन्मेति तत्राह—नहि
दुःखमिति । परप्रेमास्पदत्वे श्रुतिमप्याह—तदेतदिति । तदेतदात्मतत्त्वं पुत्रादपि प्रियतममित्यादि

प्रेमः पुत्रा” इति प्रेमास्पदत्वश्रुतेश्च । नच दुःखाभावतयात्मनः प्रेमास्पदत्वम् भावरूपत्वात् । नापि तदाश्रयतया दुःखदशायामप्यात्मनि प्रेमोपलम्भात् । नापि तत्साधनतया साधने प्रेम्णो निरुपाधिकत्वासंभवात् । अतएव न सुखसाधनतयापि सुखस्याप्यात्माश्रयतया प्रेमास्पदत्वात् । अतः सकललौकिकवैदिकसुखगोचरप्रेम्णोतिशयो स्वात्मनि प्रेमा निरतिशयसुखगोचरप्रेमसमानत्वात्मन्यवकल्पत इत्यर्थापत्त्यात्मनो निरतिशयसुखस्वभावत्वसिद्धिः । प्रयोगश्च ‘कुम्भः कुम्भेतराचित्कासुखान्यान्यः प्रसाध्यताम् । कुम्भत्वेन यदित्थं तत्तथा कुम्भान्तरं यथा’ ॥ २ ॥ कुम्भोयमेतदितरानात्मासुखान्यान्यः कुम्भत्वात्संप्रतिपन्नकुम्भवत् ।

नच कुम्भोयमेतदितरानात्मादुःखान्यान्यः कुम्भत्वात्संप्रतिपन्नकुम्भवदित्याभाससमानयोगक्षेमता तस्यागमार्थापत्तिबाधितविषयतयानुत्थानात् । किञ्च सुखप्रेम्णोः संबन्ध आत्मनिष्ठः सुखनिष्ठत्वात्संप्रतिपन्नलक्ष्यत्वादिवत् । नच सुखनिष्ठोऽर्कपकर्षादिधर्मैरनैकान्तता, तेषां वेदान्तिभिः सुखनिष्ठतानङ्गीकारात् तत्प्रतीतैरौपाधिकत्वाभ्युपगमात् । नचेदृशसंबन्धोऽनात्मनिष्ठः प्रेमनिष्ठत्वात्सत्तादिवदिति संप्रतिसाधनता । प्रेम-

बृहदारण्यकश्रुतेरर्थः । भवतु तर्हि दुःखाभावत्वादिति तत्राह—नच दुःखेति । अस्तु तर्हि दुःखाभावाश्रयतयेति नेत्याह—दुःखेति । तत्साधनतयेति दुःखाभावसाधनतयेत्यर्थः । अत एव निरुपाधिकत्वादित्यर्थः । सुखस्यापीति । तथापि कथं निरतिशयत्वमित्यत आह—अत इति । अप्रकाशमानस्य पुरुषार्थत्वं न संभवतीत्यत उक्तं—समान इति । आत्मस्वरूपसुखसद्भावे अनुमानमयाह—कुम्भ इति । अत्र कुम्भविशेषः पक्षः । श्लोकं विवृणोति—कुम्भोयमिति । अयं कुम्भः एतत्कुम्भेतरत्वे सत्यनात्मत्वासुखत्वानधिकरणादन्यं कुम्भत्वात्कुम्भान्तरवदित्यर्थः । अत्र च सुखत्वानधिकरणादन्यं इत्युक्ते सुखादन्यत्वेनार्थान्तरता तदर्थमनात्मासुखान्यान्यं इत्युक्तं तथाचाप्रसिद्धविशेषणता अनात्मत्वासुखत्वानधिकरणस्यैकस्यासंप्रतिपत्तेर्नद्यात्मरूपं किञ्चित्संप्रतिपन्नमस्ति सुखं प्रति वादिनः तस्मादप्रसिद्धविशेषणतापरिहारार्थमेतदितरेत्युक्तम् । एतत्कुम्भेतरत्वेन कुम्भान्तरे साध्यप्रसिद्धिः । अस्य हि कुम्भस्यानात्मत्वासुखत्वाधिकरणत्वेऽप्येतदितरत्वे सति तदधिकरणत्वं नास्त्येव एतस्यैवैतदितरत्वाभावात् । पक्षे त्वेतदितरत्वे सत्यनात्मत्वासुखत्वानधिकरणत्वमेतदितरत्वानधिकरणत्वाद्वा अनात्मत्वासुखत्वानधिकरणत्वाद्वा । प्रथमे व्याहृतिः । नह्येतस्मादस्यान्यत्व संभवति द्वितीये त्वेतदतिरिक्तमनात्मत्वासुखत्वानधिकरणं किञ्चिदादाय तदन्यत्वसिद्धिरित्यात्मरूपसुखसिद्धिः ।

नन्वाभाससमानयोगक्षेमोयमात्मस्वरूपभूतदुःखापि कस्यचिदेवं शक्यसाधनत्वादिति तत्राह—नचेति । आगम आनन्दरूपताप्रतिपादकस्तदेतत्प्रेम इति । अर्थापत्तिश्च परप्रेमास्पदत्वानुपपत्तिः । स्वापोत्थितपरामर्शान्यथानुपपत्तिर्वा । सुखरूपतायामनुमानान्तरमयाह—किंचेति । इदं हि सुखरूपता प्रेमरूपता चात्मनः साधयति । तत्रापि प्रेमरूपतोभयवादिप्रतिषिद्धेति सुखरूपतासिद्धिः । ननु ‘ते ये शत’मिति श्रुतौ मानुषानन्दमारभ्योत्तरोत्तरोत्कर्षं श्रूयते प्रतीयते च प्रत्यात्मानुभवेन सुखस्य तारतम्यमिति, तत्राह—तत्प्रतीतेरिति । शुभकर्मोपस्थापितविषयविशेषसंपर्कात्सत्त्वप्रधाना येन्तः करणपरिणामास्ते हि ससारदशायाम् स्वाभाविकानन्दाभिभ्यञ्जकाः । तदवच्छेदाद्विषयतारतम्याच्चेदमानन्दे तारतम्यमध्यस्यत इत्यर्थः । ननु नानात्मनिष्ठत्वमात्रमत्र साध्यं येन प्रेमलक्षणात्मानमादायार्थान्तरता कित्वात्मनिष्ठ एवेति तथाच तदाधारसुखस्याप्यनात्मत्वं सिद्ध्यतीति तत्राह—अनात्मेति । पूर्वपक्षयुक्तं परिहरति—नचेति । नच

निष्ठतयैव सिद्धसाधनत्वादानानिष्ठ एवेति तु साधने दृष्टान्तस्य साध्यविकलता । सत्ता-
देरात्मानानिष्ठत्वस्य परैरङ्गीकारात् । नच नित्यसुखरूपत्वे मुक्तिसंसारयोरविशेषप्रसङ्गः,
तस्याविद्यातिमिरतिरोधानातिरोधानाभ्यां विशेषोपपत्तेः । नचात्मनः सुखरूपत्वे सुखं मे
स्यादिति प्रेमानुपपत्तिः । संबन्धव्यपदेशस्यान्यनिष्ठताव्यावृत्तिपरत्वात् । अन्यासंबन्धि-
सुखसाक्षात्कारे सत्यपि संबन्धाभावापराधेनापुरुषार्थत्वानुपलब्धेः । संबन्धस्य केवल-
व्यतिरेकाभावात् । सुखसंबन्धमात्रस्य पुरुषार्थत्वे परकीयसुखसंबन्धस्यापि तथात्वप्रस-
ङ्गात् । संबन्धे न संबन्धान्तरमभ्युपेयं तथाचानवस्था तस्मादात्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिरेव
मुक्तिरित्युक्तम् । एतेन प्रकृतिपुरुषविवेकदर्शनात्पुरुषस्य स्वरूपावस्थानं मुक्तिरित्यपि
परास्तम् । 'आत्मनो सुखरूपत्वाद्बन्धस्यान्यगतत्वतः । उपचारस्य वायोगात्संबन्धस्यानि-
रूपेणात्' ॥ ३ ॥

सुखसाक्षात्कारस्यैव पुरुषार्थत्वोपपादनादात्मनश्च सुखत्वानभ्युपगमात् न पुरुषस्य
स्वरूपमात्रावस्थानं पुरुषार्थः ।

अपिच यस्य बन्धस्तस्यैव मुक्तिः नच पुरुषस्य बन्धः बन्धस्य बुद्धिगतत्वाङ्गी-

स्वप्रकाशस्य तिरोधानमेव न संभवतीति वाच्यम् । मतद्वयेपि व्याप्त्यसिद्धे । यत्तु प्रेमास्पदत्वमेव सुखरूप-
त्वेन स्यात् सुखैकस्याप्रार्थनीयत्वादिच्छाया आत्मरूपस्योभयानभिमतत्वादित्युक्तं तत्परिहरति—**नचात्मन**
इति । नन्वन्यनिष्ठताव्यावृत्तिवत्स्वनिष्ठत्वमपि पुरुषार्थोपयोगि तथा व्यपदेशस्यापि मुख्यत्वमिति तत्राह—
अन्यासंबन्धीति । योगिन परसुखसाक्षात्कारेपि पुरुषार्थता नास्तीत्यन्यासंबन्धीत्युक्तम् । नच सुखस्य
संबन्धित्वे विद्यमानेप्यन्यासंबन्धित्वाभावापराधेनापुरुषार्थत्वादर्शनात्तदप्यप्रयोजकम् । सुखात्मनोरभेदवादे
संबन्धस्यासमतत्वादुभयसमतान्यासंबन्धित्वस्यैव प्रयोजकत्वे लाघवान्मम स्वरूपमिति वन्मम सुखमिति व्यव-
हारस्यान्यासंबन्धित्वेनैवोपपत्तेः । किं सुखसंबन्धमात्रं पुरुषार्थं किं वा स्वस्य सुखसंबन्धः । नाद्य इत्याह—
सुखसंबन्धेति । द्वितीये प्राह—**संबन्धेति** । वादार्थमुपसहरति—**तस्मादिति** । इदानीं साख्यसं-
मतमोक्षं निराचष्टे—**एतेनेति** । महदादिविकृत्यन्ताकारपरिणामिनी त्रिगुणात्मिका जडा ऋकृति प्रधाना-
परपर्याया साहि प्रकृतिरेव न पुनर्महदादिसप्तकवत् प्रकृतिविकृत्यात्मिका नापि पृथिव्यादिषोडशवत् विकृत्ये-
करूपिणी । पुरुषस्त्वसगोऽनाधेयातिशय परमोदासीनश्चिच्छक्तिः । तयोर्विवेकाग्रहणात्संसारः । विवेकदर्श-
नात्त्वविवेकख्यातिनिवृत्तायुदासीनरूपावस्थानं मोक्ष इति यत्साख्यै समाख्यायते तदप्येतेन दुःखनिवृत्तिमा-
त्रलक्षणमोक्षप्रतिक्षेपेण प्रतिक्षिप्तं मन्तव्यम् । तत्राप्यानन्दानवाप्ते समानत्वादित्यर्थः । एतस्य चान्यान्यपि
दूषणानि श्लोकेन सप्रह्लाति—**आत्मन इति** ।

आद्यप्सदं विवृणोति—**सुखेति** ।

द्वितीयपादं विवृणोति—**अपिचेत्यादिना** । अनाधेयातिशयोदासीनैकरसः स्वच्छः पुरुषः नच तस्य
सुखदुःखोपभोगलक्षण संसारस्तत्प्रयोजकपुण्यापुण्यावेशो वा संभवति । भोक्तृत्वे कर्तृत्वस्यापि तन्मार्गस्या-
शक्यवारणत्वात् कर्तृत्वे च परिणामितया तद्व्याप्तज्ञायाप्यवर्जनीयतया चिच्छक्तिव्याघातेन जगत एव
घोरान्धकाररूपे निपातः स्यात् । तस्माद्येयं बुद्धिः सत्त्वरजस्तमोमयी तत्रैव बन्ध इति वक्तव्यं तथाच बन्ध-
मोक्षयोर्वैयधिकरणमित्यर्थः । स्यादेतत् मोक्षोपि बन्धवद्बुद्धिगत एव न ह्यपूर्वः कश्चिदतिशयो मोक्षाख्यः
पुरुषे आधीयते, विद्यमानो वा कश्चिदाकारो निवर्त्यते असङ्गत्वात् । कथं तर्हि चेतने बन्धमोक्षप्रसिद्धिर्बु-
द्धिगतयोरपि तत्रोपचारात् स्फटिकमणाविवारुणिन्न प्रसूनवर्तिनः, योद्धृगतस्येव विजयस्य राजनि । उक्तं

कारोत् । नचोपचाराद्बुद्धिगतावेव बन्धमोक्षौ पुरुषे व्यपदिश्येते । निमित्ताभावादुप-
चारानुपपत्तेः ।

नच स्वस्वामिभावो निमित्तं सर्वथोदासीनस्य स्वामिभावे दृष्टान्ताप्रसिद्धेः । नच
बुद्धेः स्वत्वमपि अनाधेयातिशयपुरुषेऽनुपकारकत्वात् । नच द्रष्टृदृश्ययोर्योग्यतालक्षणः
संबन्धः मुक्तावपि प्रसङ्गात्, तस्यास्तदाप्यनपायात् । नच पुरुषभेदेन प्रकृतिगतयोग्य-
ताया अपायानपायौ । अनाधेयातिशयतया पुरुषं प्रति प्रकृतिविशेषाभावे तद्व्यवस्थानु-
पपत्तेः, तस्मादनतिशयानन्दस्वभावस्यात्मनोऽविद्यातिरोधानमेव बन्धः विद्यानिमित्तस्त-
दस्तमयो मोक्ष इति सिद्धम् ।

ननु कस्याविद्या किं ब्रह्मणो जीवानां वा नाद्यः । सर्वज्ञस्य तदनुपपत्तेः । न द्वितीयः ।
तेषां परमार्थतः परस्माद्भेदेऽद्वैतव्याघातात् । अभेदे च पूर्वदोषानुषङ्गात् ।

अविद्याकल्पितभेदत्वे चेतरेतराश्रयापातात् । अविद्याधीनो जीवविभागो जीवाश्रया
चाविद्येति । अनुपपत्तिरविद्याया न दूषणमिति चेत् । अनुपपत्त्यभावे 'मुक्तानां ब्रह्मणश्च

हि—'रूपे सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृति । सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण' इति ।
तथा पतञ्जलिनापि—'एवंबन्धमोक्षौ बुद्धिकृतौ बुद्धावेव वर्तमानौ पुरुषे व्यपदिश्येते स हि तत्फलस्य भो-
क्ते' इति । तत्राह—**नचोपचारादिति** । एतेन तृतीय पादो विवृतः । असाधारणसंबन्धं निमित्तीकृत्य
ह्युपचारः प्रवर्तते यथा कौर्यशौर्यादिगुणगणशालिनि बलवर्मणि सिंहशब्दः । नचाल्यन्तविलक्षणयोश्चैतयोरस्ति
तादृशगुणयोग इत्याह—**निमित्तेति** । एतेन तुरीयचरणो विवृतः ।

धनदानादिना ह्युपकुर्वतां वधुधापतिप्रभृतीनां स्वामित्वं दृष्टं युद्धादिनोपकुर्वतां च भृत्यादीनां स्वत्वं, नचेह
द्वयमित्याह—**नच स्वस्वामीत्यादिना** । ननु चिच्छक्ते पुरुषस्य द्रष्टृयोग्यतास्ति जडबुद्धेर्दृश्ययोग्यता,
अतो योग्यतालक्षण एवानयो संबन्धोऽस्त्यलमितरैः । युक्तं चैतत्, इतरधोभयोर्वैयर्थ्यप्रसङ्गादिति तत्राह—
नच द्रष्टृदृश्ययोरिति । एषा योग्यता मुक्तावप्यस्तीत्यनिर्मोक्ष एव स्यादित्यर्थः । अथ ससारावस्थायां
मेव योग्यता न मुक्ताविति ब्रूयात्तत्राह—**तस्या इति** । स्वरूपातिरेकिणी न योग्यता नामास्तीति भावः ।
यदि मुक्तौ सत्यामयोग्यैव प्रकृतिस्तर्ह्येकत्वात्तस्या न किञ्चिदपि तत्र योग्यतेत्येकमुक्तौ सर्वमुक्तिः स्यात् ।
अथैकापि प्रकृतिर्मुक्तं प्रत्येवायोग्या नेतर प्रति । यथोक्तं—'कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वा'-
दिति । तत्राह—**नच पुरुषेति** । तत्र वक्तव्यं किमिमावपायानपायौ मुक्तामुक्तैर्वलक्षणपुरुषविशेषप्रयुक्तौ
किं वा प्रकृतिरेवैवं जानानां तिरोदधाति कंचित्प्रत्यात्मानमिति । तत्र नाद्य इत्याह—**अनाधेयेति** । उत्त-
रस्तु जडत्वात्प्रकृतेरपास्य । एवं पराभिमतं मोक्षं निरस्य स्वसिद्धान्तसिद्धमोक्षमुपसहारव्याजेन दर्शयति—
तस्मादिति ।

अविद्यायां तिरोधानं बन्धो विद्यायां चाविद्यानिवृत्तिर्मोक्ष इत्युक्तं तदेतद्व्यमुपपादनीयम् । तत्राविद्यातिरोधानं
निरूपयिष्यन्नविद्याश्रयविषयावाक्षिप्य समादधात्युत्तरवादेन—**ननु कस्येत्यादिना** । सर्वज्ञस्येति । य-
स्वत्वविद्याश्रयोऽसावज्ञो भ्रान्तो वा दृष्टः, सर्वज्ञस्य च ब्रह्मणो द्वयमपि विप्रतिषिद्धमित्यर्थः ।

ननु यद्यपि वस्तुतोऽभिन्ना ब्रह्मणो जीवा तथाप्यविद्याविकल्पितभेदा ह्येते । तेषामज्ञत्वेपि न ब्रह्मणस्तत्त्व-
मिति तत्राह—**अविद्येति** । जीवविभागे सिद्धे तदाश्रिताऽविद्यासिद्धिः सिद्धाया च तस्या जीवविभागसि-
द्धिरिति तरेतराश्रयत्वमित्यर्थः । मण्डनमिश्रोक्तिमनुवदति—**अनुपपत्तिरिति** । ननु तस्या मुक्तानां ब्रह्मणो
वा अनुपपत्तिरस्तीति नास्माभिः परिकल्प्यते किं तर्हि तन्निष्ठतयाननुभवात्कल्पकाभावाद्देति शङ्कते—

सा किं न स्यात् । ननु न सा मुक्तानां ब्रह्मणश्च भाति नापि कल्प्या । कल्पकाभावात् । मुक्तसर्वज्ञयोरविद्याश्रयत्वव्याघाताच्च । जीवानां तु न सा कल्प्या अहमज्ञ इत्यनुभवसिद्धत्वादिति चेत् । न । अविद्याकल्पितोऽहमज्ञ इत्यनुभवाभावात् । नन्वहमिति प्रतीतिः कल्पिततामविद्याश्रयस्य बोधयति । अहंकृतेः कल्पनामयत्वात् । सुषुप्ततुरीयादौ च सत्यपि चिदात्मनि तदभावात् । अहं ब्रह्मास्मीति सामानाधिकरण्यस्य योयं स्थाणुरसौ पुमानिति-वद्भाधपरत्वात् । अहंशब्दस्य तत्र लक्षण या शोधितत्वं पदार्थविषयत्वाभ्युपगमाच्च अतः कल्पिताश्रयमज्ञानं प्रतीतित एव सिद्धमिति चेत् । न । प्रविलीनाहंकारेण्यत्मनि सुषुप्तादावज्ञानस्य सद्भावाभ्युपगमादन्यथा सुषुप्तिप्रलययोर्मुक्तिप्रसङ्गात् । तस्मादविद्याधीनो जीवविभागस्तदधीना वाऽविद्येति दुर्वारा परस्पराश्रयता ।

नच बीजाङ्कुरसन्तानयोरिव जीवाविद्ययोरनादित्वेन तत्परिहारः । दृष्टान्तवैषम्यात् । तत्र हि बीजाङ्कुरव्यक्तीनामन्योन्यकार्यकारणभावात् तत्सन्तानयोः परस्पराधीनत्वव्यपदेशः, इहतु जीवाविद्याव्यक्तयोरेकत्वात् कार्यकारणभावाभावाच्च कथं तथा व्यपदेशः स्यात् । नन्वात्मनि गुणवत्त्वद्रव्यत्वयोरिवानादित्वेपि प्रयोज्यप्रयोजकभावो जीवाविद्ययोः किं न स्यादिति चेत् । तर्ह्यविद्यावत्त्वजीवत्वयोश्चिन्मात्रं किमधिकरणमुताविद्याविशिष्टम् । अग्रे ब्रह्मण्येवाविद्येति प्राचीनदोषानुषङ्गः । द्वितीये पुनरविद्यावत्येवाविद्येत्यासाश्रयः । ब्रह्मवज्जीवस्यानादित्वे च न ब्रह्मप्रतिबिम्बता ।

नन्विति । ननु कल्पकाभावो जीवेऽपि समान । सत्य, कल्पनायामयं दोष । अनुभूयते तु जीवे इत्याशयवानाह—**जीवानामिति ।** ननु यद्यहमज्ञ इत्यत्राविद्याकल्पिताऽऽश्रयत्वं न केनाप्युल्लिख्यते तथाप्यज्ञ इति प्रतीतिवलाज्ञानाश्रयस्याविद्याकल्पिततास्तीति शङ्कते—**नन्वहमित्यादिना । अहंकृतेरिति ।** अहमिति कृति कारणमहमाकारेण परिणामो यस्मिन् यस्याहकारस्य वेत्यर्थः । अयावदात्मभावित्वाच्च कल्पित इत्याह—**सुषुप्तेति ।** तुरीयं मोक्षावस्था । नन्वहं ब्रह्मास्मीति वाक्येन ब्रह्मसामानाधिकरण्यमहंकारस्योच्यते नच कल्पितस्य वस्तुभूतेनैक्यं सम्भवतीति कथं कल्पितत्वमहंकारस्येति तत्राह—**अहमिति ।** अन्यतरबाधायामपि भ्रान्तिस्थलेषु सामानाधिकरण्यं दृश्यत इत्यर्थः । ननु न तावदिदं वाक्यं बाधमात्रपरम् ऐक्योपदेशपरत्वात् ऐक्यसाक्षात्कारेण ह्यविद्यानिवृत्तिरिति । सत्य, शोधितत्वं पदार्थस्य ब्रह्मैक्योपदेशपरत्वमहंकारस्य । कथं तर्ह्यहंशब्दस्य तत्र प्रवृत्तिस्तत्राह—**अहंशब्दस्येति ।** स्यादेवं यद्यहंकारविशिष्टाश्रितमज्ञानमिति ते मतं स्यात् । नत्वेवं सुषुप्तिप्रलययोरप्यस्ति दण्डायमानमज्ञानमिति हि ते मतम्, नच तदाहंकारोस्ति । विकारस्य तदा प्रविलयात्तदभावे कथं कल्पिताश्रयत्वमज्ञानस्येति दूषयन्ति पूर्ववादी—**न प्रविलीनेति ।**

मण्डनवाचस्पतिमिश्राभिमतपरिहारं दूषयति—**नचेति ।** वैषम्यमेवाह—**तत्र हीति ।** नहि साक्षात्सन्तानयोः स्योन्यस्मादुत्पत्तिः । अनादित्वात् । ततो व्यक्तिद्वारा व्यक्तीनामप्यनेकतया नान्योन्यमुत्पत्तिः । नहि यतो बीजाद्योऽङ्कुरो जायते तदेव बीजं तस्मादङ्कुरात् अपित्वङ्कुरान्तरात् नचेह तथा । नहि प्रतिदिनमन्येन्ये जीवाः नाप्यविद्या तस्मादस्त्येव वैषम्यमित्यर्थः । यद्यप्यनादिवादेकत्वाच्च नान्योन्यमुत्पत्तिर्जीवाविद्ययौर्नाप्यन्योन्यज्ञप्ति एकस्य स्वप्रकाशत्वात् अपरस्य साक्षिवेद्यत्वात् तथाप्यन्योन्यनियम्यत्वं घटत इति दृष्टान्तमवष्टभ्य शङ्कते—**नन्वात्मनीति ।** तर्हि यथागुणवत्त्वद्रव्यत्वयोरेकआत्माधिकरणं तथात्राप्येकमधिकरणं वक्तव्यं तत्किं चिन्मात्रं किं वा अविद्याविशिष्टमिति विकल्प्य दूषयति—**तर्हीत्यादिना ।** दूषणान्तरं चाह—**ब्रह्मवदिति ।**

अथ ब्रह्मैव स्वाविद्यया संसरति स्वविद्यया च विमुच्यत इत्युच्येत, तदा तस्यैकत्वान्न विद्वद्विद्वदुरुशिष्यबन्धमोक्षादिव्यवस्थाः स्युः । तथाहि—यदि नोत्पन्नाविद्या कस्तदा गुरुरात्मान्तराभावाद्, यद्युत्पन्ना कस्तदा शिष्यः सर्वभेदप्रविलयात् । मायाविनिर्मितौ गुरुशिष्यौ स्त एवेति चेन्न । उत्पन्नविद्यस्य मायानुपपत्तेः । शिष्याविद्याविनिर्मितो गुरुरिति चेत् । न । अविद्यानिर्मितस्य जडत्वेन विद्यावत्त्वानुपपत्तेः । दृश्यत एवाविद्यानिर्मितस्य गुरुत्वं स्वप्न इति चेत् । तर्हि शिष्याविद्याविनिर्मितस्य गुरुत्वे तस्य तस्यापि शिष्यस्य स्वीयस्वीयशिष्यं प्रति गुरुत्वेन तत्तदविद्याविनिर्मितत्वान्न कोपि परमार्थः परमात्मतया निरूपितः स्यात् । यच्चाहुः, स्वात्मानमेव कल्पितभेदं गुरुः शास्तीति, तच्चायुक्तम् । तस्य स्वात्मनो मुक्तिं निश्चिन्वतः स्वव्यतिरेकेण तेषामभावं च पश्यतस्तदुपदेशार्थं प्रवृत्त्ययोगात् । प्रवृत्तौ च ‘मन्मुक्त्यैवासि मुक्तस्त्वं मा यत्नं कुरु मुक्तय’ इत्येवोपदेशप्रसङ्गात् ॥

किंचानादौ संसारे कस्यचिन्मुक्तिरासीन्न वा । आद्ये नेदानीं संसारोपलम्भः स्यादात्मान्तराभावात् । द्वितीयेपि कथं भविष्यतीति प्रत्याशा । नच विद्याभावात्पूर्वममुक्तिः । शुक्वामदेवप्रभृतीनामविद्यमाना विद्याऽन्यस्य भविष्यतीति प्रत्याशाऽसंभवान्, गुरुसंप्रदायाभावाच्च । तस्मादेकात्मवादे बन्धमोक्षव्यवस्थानुपपत्तेः पारमार्थिक एवात्मभेदः समाश्रयणीयः । प्रयोगश्च—आत्मा आत्मप्रतियोगिकान्योन्याभाववान् आत्मनिष्ठमिथ्याभेदातिरिक्तभेदवान् लक्ष्यत्वाद्भवत् । ‘नचैको देवः सर्वभूतेषु गूढः’ इत्याद्यागमविरोधः । तस्येश्वरैकत्वप्रतिपादनपरत्वात् । नच तत्र सर्वभूतान्तरात्मत्वविरोधः । तस्यैव नियामकतया

इष्टसिद्धिकारमतमुद्गावयति—अथेति । गुर्वादिविभागाभावमेव प्रपञ्चयति—तथाहीत्यादिना । यद्युत्पन्नविद्यतया गुरोर्माया नास्ति तथापि शिष्यस्याविद्यामस्ति अनुत्पन्नविद्यत्वात्तदविद्याविजृम्भित एव तद्गुरुः । नच कल्पितस्योपदेष्टृत्वानुपपत्तिः स्वाप्नवदुपपत्तेरिति शङ्कते—शिष्याविद्येति । एवं शिष्याविद्याविनिर्मितो गुरुरिति पक्षं दूषयित्वा गुर्वविद्याविनिर्मित शिष्य इति पक्षं दूषयति—यच्चाहुरिति । तस्याप्यविद्यावस्थायामियं कल्पनेति वक्तव्यं साचोत्पन्नविद्यया ध्वस्तेति शिष्यकल्पनैव नास्ति कथमनुशिष्यात् । भवतु तथायविगतपरमार्थत्वाच्छिष्यादितत्त्वं जानन्न पृथक्त्वमुपदिश्येदित्याह—तच्चायुक्तमित्यादिना ।

एवं गुरुशिष्यव्यवस्थानुपपत्तिमुक्त्वा बद्धमुक्तव्यवस्थानुपपत्तिमप्याह—किंचेत्यादिना । ननु पूर्वं विद्यैव नोत्पन्ना तेनोपपन्न संसारः, शुकादीनां तु विद्योत्पत्तिशाल्मर्थवादमात्रमिति तत्राह—नच विद्येति । किंच पूर्वं कस्यचिदपि चेद्विद्या नोत्पन्ना तर्हि गुरुसंप्रदायाभावादद्यापि विद्या नोत्पद्येतेति निर्णयस्यैव सम्भवादिनिर्मोक्षप्रसङ्ग इत्याह—गुरुसंप्रदायेति । तदेवमविद्याश्रयानिरूपणादविद्याधीनो जीवब्रह्मणोर्जीवानां च भेद इत्यसंबद्धम् । अतः पारमार्थिक एवात्मभेद इत्याह—तस्मादिति । घटान्योन्याभावत्वेन सिद्धसाधनतापरिहाराय आत्मप्रतियोगिकेत्युक्तम् । आत्मनोभियत इत्यर्थः । भेदमात्रसत्यत्वेऽप्यनुमानमाह—आत्मनिष्ठेति । अतिरिक्तत्वमनविकरणत्वं, सिद्धसाधनतापरिहारार्थं मिथ्याभेदातिरिक्तेत्युक्तम् । अप्रसिद्धविशेषणतानिवृत्त्यर्थमात्मनिष्ठप्रदम् । ‘नन्वेको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मे’ति सर्वभूतानामन्तरात्मत्वमप्यस्य कीर्त्यते सच क्षेत्रज्ञ एवेति कथमस्येश्वरविषयता इत्याशङ्कान्तर्यामितया तस्यापि तत्संभवतीत्याह—नच तत्रेति । नन्वेक एव तु भूतात्मेति प्रतिभूतभेदेन प्रतिभासमानजीवात्मनामेवैक्य-

सर्वभूतान्तरावस्थानात् । तथाच श्रुतिः—‘य आत्मनि तिष्ठन् य आत्मानोन्तरो यर्मात्मानं वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयत्येष त आत्मानन्तर्याम्यमृत’ इति । ‘एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रव’दिति स्मृतेरपीश्वरपरत्वात्तस्य कायव्यूहनिर्माणेन बहुधाभावस्याप्युपपत्तेः । तत्त्वमसीत्याद्यैकात्म्योपदेशस्य चोपासनपरत्वात् । नचोपासनाविध्यश्रवणादतत्परत्वं शङ्कनीयम् । अपूर्वत्वेन पूषाप्रपिष्टभाग इत्यादाविव विधेः कल्प्यमानत्वात् ।

‘नेह नानास्ति किञ्चने’त्यादेश्वरभेदाभावपरत्वात् । ‘मृत्योः स मृत्यु’मित्यस्य भेददर्शननिन्दया अभेदोपासनाविधिपरत्वात् । ‘द्वासुपर्णा, अजामेका’मित्यादिना च जीवेश्वरयोर्जीवानां च परस्परभेदस्य साक्षादेव प्रतिपादनात् । नच तत्र लोकसिद्धभेदानुवाद इति वाच्यम् । ईश्वरस्यालौकिकत्वादेव तद्भेदस्य लोकतोऽधिगमासंभवात् । जीवभेदस्य च लोकसिद्धत्वे अत्यक्षादिव्यतिरेकेण लोकशब्दार्थानिरूपणात्, प्रत्यक्षादिसिद्धत्वेन जीवभेदस्य प्रामाणिकत्वसिद्धिः ।

सुखदुःखव्यवस्थानुपपत्तिरपि जीवभेदं साधयति । अन्यथैकस्मिन्कस्मिंश्चित्सुखिनि सुखिन एव सर्वे स्युर्दुःखिनि वा दुःखिन इति व्यवस्था न स्यात् । नच पादे मे वेदना शिरसि मे सुखमितिवदुपाधिनिबन्धना व्यवस्था तद्भेदेव शरीरभेदेऽपि भोगानुसंधानप्रसङ्गात् । नच सुखादीनां साक्ष्यत्वेन साक्षिधर्मत्वाभावात् तद्भेदव्यवस्थापकत्वासिद्धिः ।

प्रतिपादिका स्मृतिरस्तीति तत्राह—**एकएवेति** । नन्वीश्वरस्यैकत्वात्कथं तत्र बहुधा दृश्यत इति निर्देशोपपत्तिस्तत्राह—**तस्येति** । ननु तत्त्वगम्भीति प्रकृतिविलक्षणे श्वरात्मता श्वेतकेतूपलक्षितजीवस्य प्रतिपादयति तत्कथं जीवभेदस्तत्राह—**तत्त्वमसीति** । भिन्नेऽपि परमेश्वरे अभेददृष्टिः कर्तव्या योषितीवाग्निदृष्टिरित्यर्थः । **पूषेति** ‘यथाहि तस्मात्पूषा प्रपिष्टभागोऽदस्तकोही’तिवाक्येऽपूर्वत्वात्पूषोद्देशेन पिष्टभागविधि कल्पित एवमत्रापीत्यर्थः । आदिशब्देनोपरिधारणादि गृह्यते ।

श्रुत्यन्तरविरोधं परिहरति—**नेहेति** । यद्यप्येते श्रुती कृतसमाधाने तथाप्यभ्युच्चयत्वेनात्रोपन्यस्येते । न केवलं श्रुत्यविरोधं श्रुतिसिद्धत्वात्मभेद इत्याह—**द्वासुपर्णेति** । अत्र हि द्वाविति जीवेश्वरौ द्वित्वेन निर्दिष्टौ तथा तयोरन्य इत्यनश्नन्नप्य इति च भोक्तृभोक्तृतया परस्परमन्यत्वेन च निर्दिष्टौ । तथा अजामेकामित्यत्रापि तेजोबललक्षणामविद्यामेको जहाति अन्यश्च जुपमाणोऽनुशेते इत्यजशब्दोपात्तजीवभेदं प्रतीयते बद्धाबद्धत्वलक्षणधर्मभेदश्चैत्यर्थः । यद्यपि जीवस्य लौकिकतया तद्भेदं शक्यानुवादः तथापि परमेश्वरस्यालौकिकत्वात् तद्भेदं संभवदनुवाद इति तत्प्रतिपादनपरमिदं वाक्यमित्याह—**ईश्वरेति** । तत्किं जीवभेदप्रतिपादकत्वमुपेक्षितमस्य तथाचाप्रामाणिकभेदत्वाद्भैतसिद्धिरिति तत्राह—**जीवेति** । अस्यानुवादकत्वेऽपि यत्सिद्धमिदमनुवदति तदेव तत्र प्रमाणमित्यर्थः ।

एवमनुमानात्ममाभ्यामात्मभेदं साधयित्वार्थापत्तिमप्याह—**सुखदुःखेति** । ननु यथैकस्मिन्देहे पादशिरप्रदेशनिष्ठतया सुखदुःखव्यवस्थायामपि न भेदः तत्कस्य हेतो औपाधिकभेदमादाय तथा सर्वदेहेष्वप्येक एवात्मा तत्तद्देहोपाधिभेदाच्च शीतादिव्यवस्थेति किं न स्यात्तत्राह—**नच पाद इति** । तर्हि यथा सकलावयवेष्वेकस्य तत्रानुसंधानं तथा सकलक्षेत्रेष्वेकोऽनुसंधीत नचैतदस्तीत्यर्थः । ननु व्यधिकरणमिदमभिधीयते यत्सुखादिव्यवस्थयात्मभेद इति । अन्तःकरणधर्मा हि सुखादयः साक्ष्यत्वात् । नच साक्ष्याणां साक्षिधर्मत्वं तथासति स्वधर्मग्राहकत्वे स्वग्राहकतया स्ववृत्तिविरोधप्रसङ्गादिति तत्राह—**नच सुखादीनामिति** ।

प्रमातृव्यतिरिक्तसाक्षिणो दुर्निरूपत्वात् । तथाहि तस्य द्रष्टृत्वे प्रमात्रन्तर्भावादद्रष्टृत्वे सुखादिसाधकत्वासिद्धेर्ब्रह्मरूपत्वे च संसारदशायामनाविर्भावात् साक्षिप्रत्यक्षं नाम व्यवहाराङ्गं न सिध्येत् । प्रमाणाभावाच्च । न तावत्प्रत्यक्षमत्र प्रमाणं, मानसप्रत्यक्षवेद्यत्वे प्रमात्रन्तर्भावप्रसङ्गात् ।

इच्छादय एतद्ब्राह्मकानित्यज्ञानातिरिक्तप्रत्यक्षवेद्याः अर्थापरोक्षत्वात् रूपादिवदित्यनुमानं प्रमाणमिति चेत् । न । ईश्वरप्रत्यक्षवेद्यतया सिद्धसाधनत्वात् । अनीश्वरवादिनां चेच्छादय एतद्ब्राह्मकानित्यानुमानातिरिक्तानुमानवेद्याः वेद्यत्वादिति साधनादाभाससमानयोगक्षेमत्वात् । अनित्यप्रत्यक्षवेद्यत्वे बाधकाभावाच्च । सुखादिविशिष्टस्यात्मनः स्वाश्रितज्ञानवेद्यत्वे कर्मकर्तृत्वविरोधप्रसङ्गो बाधक इति चेत्, भैवम् । स्वरूपमात्रेण ग्राहकस्य विशिष्टस्वरूपेण कर्मत्वेऽप्यविरोधात् ।

अन्यथा त्वन्मतेऽपि कर्तृत्वकरणत्वयोरेकत्र समावेशो न स्यात् । अभ्युपगम्यते हि केवलाया बुद्धेः करणत्वमात्रविशिष्टरूपेण च कर्तृत्वम् अविद्याविशिष्टस्य साक्षित्वं केवलाविद्यायाश्च साक्ष्यत्वमिति च स्वीकारात् 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् । तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मी'ति चात्मन एव वेद्यवेदकभावश्रवणात् । प्रमाणवत्त्वेन विरुद्धस्याप्यभ्युपगमे प्रकृ-

साक्षी द्रष्टा नवेति विकल्प्याद्यं दूषयति—**द्रष्टृत्व इति** । नहि प्रमात्रतिरिक्तः कश्चिदस्ति सप्रतिपन्नो द्रष्टेति भावः । ननु द्विविधं द्रष्टृत्वं ज्ञानाकारेण परिणामित्वं अलुप्तचिद्रूपत्वं चेति । तत्र पूर्वममुख्यम् अय-
पिण्डस्येव सकान्तान्नेर्दृष्टृत्वम् । उत्तरं मुख्यं बहेरिव तत्र मुख्यो द्रष्टा साक्षी तेन न प्रमाता नापि सुखादिसाधक इति । तर्हि मुक्तिदशायामेवैतादृशमभिव्यज्यत इति व्यवहारनिर्वाहकत्वव्याहतिरित्याह—**ब्रह्मरूपत्व इति** । नच प्रमात्रतिरिक्ते साक्षिणि किञ्चित्प्रमाणमस्तीत्याह—**प्रमाणेति** ।

प्रत्यक्षपक्षे हि न तावद्ब्राह्ममबाह्यत्वात्, आन्तरत्वेऽपि नित्यमनित्यं वा । अनित्यत्वे मानसमेव तदिति तद्वेद्यः प्रमातैव नित्यं च प्रत्यक्षं न जीवेस्तीति भावः । अस्तु तर्ह्यनुमानं साक्षिप्रत्यक्षे प्रमाणमिति शङ्कते—**इच्छादय इति** । प्रत्यक्षवेद्या इत्युक्ते मानसप्रत्यक्षमादायार्थान्तरता तदर्थमनित्यज्ञानातिरिक्तैत्युक्तम् । तथाचानीश्वरवादिनां प्रत्यक्षसिद्धविशेषणता तदर्थमेतद्ब्राह्मकेत्युक्तम् । अनेनैतद्ब्राह्मकानित्यप्रत्यक्षमादाय च साध्यप्रसिद्धिः । पक्षे चैतद्ब्राह्मकानित्यज्ञानत्वानधिकरणत्वमेतद्ब्राह्मकत्वानधिकरणत्वान्न सम्भवति तद्वेद्यत्वेन व्याघातात् तस्मादनित्यज्ञानत्वानधिकरणं किञ्चिन्नित्यप्रत्यक्षमादाय तद्ब्राह्मत्वमिच्छादीना सिध्यतीति नित्यसाक्षिप्रत्यक्षसिद्धिरित्यर्थः । अत्र तार्किक ग्राह—**ईश्वरेति** । अनीश्वरवादी त्वाभाससमानयोगक्षेमतामाह—**अनीश्वरेति** । शक्यते हि नित्यमपि किञ्चिदनुमानमेवं साधयितुमित्यर्थः । विपक्षे बाधकाभावाच्च शङ्किताप्रयोजकतामाह—**अनित्येति** ।

न केवलमस्मन्मत एवेयं गति यत्स्वरूपेण ग्राहकत्वं सुखादिविशिष्टाकारेण ग्राह्यत्वमित्यनुपहितोपहितभेदाश्रयणं, भवतोऽप्येवंविधभेदाश्रयणमेव कञ्चिच्छरणमित्याह—**अन्यथेति** । आत्मैक्याध्यस्तबुद्धिर्हि प्रमाता कर्तेति बोध्यत इत्यर्थः । उदाहरणान्तरमाह—**अविद्येति** । निर्विकल्पचैतन्यस्य सर्वसाक्षित्वादिविकल्पाभावादविद्याविशिष्टस्य साक्षित्वमित्यर्थः । श्रुतिरप्यात्मनो ग्राह्यग्राहकतां दर्शयतीत्याह—**ब्रह्मेति** । ननु तत्र तत्र श्रुत्यादय एव तथात्वे प्रमाणमिति न विरोधः, तर्ह्यत्रापि समानमिति परिहरति—**प्रमाणेति** ।

तेष्वहं सुखीत्यनुभवसद्भावात् नासौ दण्डवारितः । एतेन सुखादिप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्तिरपि साक्षिसिद्धौ प्रमाणमिति परास्तम् । अन्यथाप्युपपत्तेः । नच व्यभिचारिकरणजन्यज्ञानानां चैतन्यरूपमनुगतमनुसंधातारमन्तरेण प्रतिसंधानानुपपत्तिः साक्षिणि प्रमाणम् । ज्ञानानां स्वयंप्रकाशत्वात् तदाश्रयतया सिद्धस्य स्थिरस्यात्मनः पूर्वोत्तरकालीनज्ञानानुसंधानोपपत्तेः । एतेन प्रमातृप्रमाणप्रमेयप्रतीत्यन्यथानुपपत्तिरपि परास्ता त्रिपुटीप्रत्यक्षवादे घटमहं जानामीति त्रितयप्रतिभासोपपत्तेः ।

नापि 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्चे'त्यागमः प्रमाणम् । साक्षादीक्षत इतीश्वरस्य सर्वापरोक्षदर्शिनः प्रतिपादनात् । तदेवं न साक्षिणः सिद्धिः सिद्धावपि न साक्ष्याणां धर्मत्वक्षतिः । “आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्मा” इति साक्ष्याणामपि तद्धर्मत्वस्वीकर्त्तृत्वात् । किंचाकाशो विशेषगुणवद्वापकद्रव्यान्यः द्रव्यत्वाद्वटवदित्यनुमानादपि आत्मनां सुखादिविशेषगुणवत्त्वसिद्धिः ।

तथाच तद्व्यवस्थातस्तेषां नानात्वसिद्धिः । अत्रोच्यते । यत्तावदुक्तं सर्वज्ञत्वाद्ब्रह्मणो नाविद्येति, तदयुक्तम् । यतः—‘स्वरूपतः प्रमाणैर्वा सर्वज्ञत्वं द्विधा स्थितम् । तच्चोभयं

एवं प्रत्यक्षानुमाने साक्षिणि दूषयित्वा अर्थापत्तिं दूषयति—एतेनेति । अन्यथापीति । मानसवेद्यत्वेपि विरोधाभावस्योक्तत्वादित्यर्थः । ननु कथुरादिपरस्परव्यभिचारिकरणैर्जन्यानि यानि ज्ञानानि तेषु जानामि जानामीत्यनुगत कृश्विदनुसंधाता तावत्प्रमीयते । सच स्फुरन्नेवानुसंधातुमर्हति इतरथा जानामीति व्यवहारा निष्पत्तेः । नच तस्य ज्ञानान्तरतः स्फुरणम्, अनवस्थाभयात् । तस्माद्य स्वप्रकाश सकलस्वान्तवृत्त्यनुसंधाता साक्षी सोऽर्थापत्तिसिद्धिः । अथवा यदिदं व्यावृत्तज्ञानेष्वनुसंधानरूपमद्राक्षमित्यादि तत्स्फुरणमन्तरेण न घटते-ऽनुव्यवसायश्च नोत्पन्नस्तत्सत्त्वं च विप्रतिपन्नम् अतस्तत्तद्वृत्तिसाधकसाक्ष्यार्थापत्तिसिद्धि इति तत्राह—नच व्यभिचारीति । अत्र स्फुरन्मनुसंधात्रा हि भवितव्यं तच्च सविदाश्रयत्वेनापि संभवति । नचानवस्था तस्य स्वप्रकाशत्वादिति प्राभाकर परिहरति—ज्ञानानामिति ।

तार्किकपक्षे तु पूर्वोक्तरीत्या वृत्तिविरोधपरिहारेण मानसप्रत्यक्षमादाय परिहर्तव्यम् । आगमं साक्षिणि निषेधयति—नापि साक्षीति । चेता चेतन इत्यर्थः । तदस्थेश्वरमादायाप्युपपत्तेरिति भावः । किंच साक्ष्यस्य साक्षिधर्मत्वं न घटत इति वक्तुमेव न शक्यते पञ्चपादीविरोधादित्याह—सिद्धावपीति । साक्षीरूपस्यात्मनो विशेषगुणधर्मवत्त्वेऽप्यनुमानमाह—किंचेति । द्रव्यान्य इत्युक्ते घटाद्यन्यत्वेनार्थान्तरता तदर्थं व्यापकद्रव्यान्य इत्युक्तम् । तथापि कालदिगन्यत्वेनार्थान्तरता तदर्थं विशेषगुणवदित्युक्तम् । यस्माच्च विशेषगुणवतो द्रव्यादाकाशोऽन्यः स आत्मा आकाशस्य पक्षत्वेन तदन्यत्वासंभवात्, घटे त्वाकाशान्यत्वेन साव्यसिद्धिः ।

फलितमाह—तथाचेति । सिद्धान्ती समाधातुमुपक्रमते—अत्रेति । तत्राविद्याया जडनिष्ठत्वं तावन्न संभवति । अविद्येतजजडस्य तज्जृम्भणतया कारणस्य कार्याश्रितत्वायोगादप्रतीतिप्रसङ्गाच्च । नहि सा स्वप्रकाशा । तस्या आश्रयोपि चेज्जडः केनैषा प्रकाशयेत । तस्मात्तन्निष्ठत्वं वक्तव्यं यत्प्रकाशादेषापि प्रकाशत इति चैतन्यनिष्ठत्वमायाति । तत्रापि न जीवाश्रया पूर्वोक्तदोषात् । यथा वक्ष्यते—“अनङ्गीकारपरास्ता” इति । तच्च ब्रह्मपक्षेपि दोषसाम्यं तदसिद्धेरित्यभिप्रेत्य ब्रह्माश्रितत्वपक्षोक्तदूषणानि परिहरति—यत्तावदित्यादिना । स्वरूपत इति । द्वेधा हि सर्वज्ञत्वं संभवति स्वभावभूतप्रज्ञया वा यथा तावकेश्वरस्य, प्रमाणजनितप्रज्ञया वा

विना विद्यासंबन्धं नैव सिध्यति' ॥ ४ ॥ स्वरूपप्रज्ञया चेत्सर्वज्ञत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपगम्यते तदा असङ्गस्य ब्रह्मणो नाविद्यामन्तरेणाशेषार्थसंगतिरिति सर्वज्ञत्वोपपत्त्यर्थमेव साभ्युपगमनीया । प्रमाणतः सर्वज्ञत्वेऽपि प्रमातृत्वस्य प्रमाणप्रमेयसंबन्धस्य चाविचारितरमणीयानाद्यविद्यासंबन्धमन्तरेणासिद्धेः सर्वज्ञत्वमविद्यावत्तामाक्षिपति—नतु प्रतिक्षिपतीति कुतो विप्रतिषेधः ।

ननु प्रकाशरूपस्य कथमप्रकाशरूपाविद्याश्रयत्वं परस्परविरोधिनोस्तमःप्रकाशयोरिवाधाराधेयभावानुपपत्तेरिति चेत् । मैवम् । विकल्पासहत्वात् । किमप्रकाशशब्देन प्रकाशाभावः उत प्रकाशादन्यत् तद्विरुद्धं वा विवक्षितम् । नाद्यः । अविद्याया भावाभावविलक्षणत्वेनाभावत्वानभ्युपगमात् । द्वितीये तु दृष्टान्ताभावः । किं खलु चित्प्रकाशादन्यत्तदाश्रयं न भवतीति मां प्रत्युदाह्रियेत सर्वस्य जडस्य चित्प्रकाशाश्रयत्वाभ्युपगमात् । तदेकाश्रयस्य तेन सह विरोधासंभवान्न तृतीयोपि । नचाविरुद्धत्वादनित्यवृत्तिः । वेदान्तवाक्यजनितेन ब्रह्मैकाकारेण विज्ञानेन तदवच्छिन्नेन वा चित्प्रकाशेन तन्निवृत्त्युपपत्तेः । नच विज्ञानस्य निवर्तकान्तराभावादनित्यवृत्तिः, भावे वा तन्निवर्तकान्तरस्याभ्युपगन्तव्यत्वादनवस्थेति वाच्यम् । कारणनिवृत्त्यैव तन्निवृत्तेरप्यत्र सिद्धत्वात् । नच कार्येण कार-

यथा वा तावकयोगिनामुभयथाप्यविद्यासंबन्धमन्तरेण नोपपद्यते इति श्लोकार्थः । विवृणोति—**स्वरूपेत्यादिना** । यथा दृग्दृश्ययोराध्यासिक एव संबन्धो नान्यस्तथोपपादितं प्रथमपरिच्छेदे सिध्त्वात्वादे । **प्रमातृत्वस्येति** । प्रमाणजनितज्ञानाकारपरिणामी प्रमाता नाम । नच निर्विकल्पकचिन्मात्रात्मनः परिणामसंभवः, नापि केवलजडबुद्धेरनभ्यस्तायाः प्रकाशाभासपरिणामः । तस्मादविद्यात्मनोरितरेतराध्यासविवक्षितं प्रमाता स चेन्द्रियाद्यधिष्ठाता । इतरथा तेषां करणत्वमस्य कर्तृत्वं च नोपपद्यत इति । नच तैष्वहंममाभिमानेहीनस्य तदधिष्ठातृत्वमस्ति परकरणेष्वदर्शनात् । नचासङ्गस्याविद्याध्यासमन्तरेण तादृगभिमानसंभवः । प्रमाणप्रमेययोः संबन्धस्य चाध्यासिकत्वमधस्तादेवोपपादितं तत्प्रमाणजनितमपि सर्वज्ञत्वमविद्यावत्त्वकल्पकमेवेत्यर्थः ।

एवमविद्याश्रयत्वं सर्वज्ञत्वमनुगुणद्धि नतु विरुद्धीत्युक्तं, स्वरूपविरोधमाशङ्क्य परिहरति—**ननु प्रकाशेत्यादिना** । विद्यायाः प्रकाशत्वमभिप्रेत्य नच कोर्थोभिप्रेत इति विकल्प्य अथमेऽसिद्धिमाह—**नाद्य इति** । द्वितीये व्याप्त्यसिद्धिमाह—**द्वितीय इति** । नाविद्याचैतन्याश्रयाचैतन्यान्यत्वाकिति हि तदा साधनीयम् । नचैवं कचिदपि व्याप्तिर्मां प्रति संप्रतिपन्नास्ति प्रत्युत विरुद्धश्चाविद्यातिरिक्तस्य चिदेकायत्तत्वेन व्याप्तेरित्यर्थः । चिदेकाश्रयता मत्वा तस्य मम विरोधपक्षो दूरधृत इत्याह—**तदेकेति** । ननु यदि भाविद्याया विज्ञानेन विरोधस्तर्हि तेन न विनिवर्त्येत्येतेत्यनिर्मुक्तो ब्रह्माश्रयवादिनामिति तत्राह—**नचाविरुद्धेति** । यद्यपि स्वरूपचैतन्यं न निवर्तकमविद्यायास्तदाश्रयत्वात्तत्प्रकाशकत्वात् नित्यनिवृत्तिप्रसङ्गाच्च, तथापि वाक्यजनितब्रह्माकारचित्तवृत्तिफलकारुढचैतन्यं तच्छ्रयोपेता वा चित्तवृत्तिरविद्यानिवर्तिका, बुद्धिर्बो बोधो बोधेर्बुद्धिर्बुद्धिर्वा अविद्यानिवृत्तिहेतुरिति हि वृद्धा इति भावः । **विज्ञानस्येति** । अन्तःकरणपरिणामस्येत्यर्थः । नन्वविद्याकार्येणान्तःकरणपरिणामेन कथं कारणाविद्यानिवृत्तिरविरोधात् । नहि जातु घटेन मृन्निवर्तमाना दृष्टवरीति तत्र लौकिकपरीक्षकाणां बहुश समतत्वादित्याह—**नच कार्येणेत्यादिना** । ननु निमित्तनिवर्तकत्वेऽप्यसमवा-

गस्यानिवृत्तिः । संस्कारेण तज्जनकस्य ज्ञानस्य स्मरणेन तज्जनकसंस्कारस्यान्यशब्दो-
पान्तशब्दस्य च परीक्षकैर्नाशाभ्युपगमात् । लौकिके चारणिप्रभवेनाशुशुक्षणिनाऽरणेः
कदलीफलोद्गमेन वा कदलीकाण्डादेः प्रक्षयदर्शनाच्च ।

ननु भवत्वेवं ब्रह्माश्रया अविद्या तस्याश्च को विषयः किं स्वयमेव ब्रह्म उत द्वैतमु-
भयं वा । सर्वथाप्यनुपपन्नं सर्वज्ञस्य तत्तद्विषयज्ञाने सति तत्र तत्राज्ञानासंभवादिति चेत् ।
मैवम् । मां न जानामि त्वदुक्तमर्थं न जानामीति चावभासमानेपि विषये तस्याः स्वा-
नुभवसिद्धत्वात् । जडस्याविद्यानिर्मितत्वेन तद्विषयविद्यानुपपत्तौ तन्निवर्त्याविद्यायास्त-
त्रासंभवाच्च । जीवश्रयाविद्यापक्षोद्भावितास्तु दोषास्तदनङ्गीकारादेव परास्ताः । यत्तु ब्रह्मण
एवाविद्याश्रयत्वे विद्वद्विद्वदुरुशिष्यबन्धमोक्षव्यवस्था न स्यादिति तदसत् । यावदविद्यं
सर्वव्यवस्थानां स्वप्रवदुपपत्तेः । निवृत्तायां तस्यां न काचिदपि व्यवस्था । नचाविद्यानि-
र्मितस्य गुरोः कल्पितत्वेन विद्यावत्त्वानुपपत्तिः । स्वप्न इव विद्यावत्तयैव कल्पनोपपत्तेः ।

नच गुरोः शिष्याविद्याकल्पितत्वे शिष्याणामपि स्वीयस्वीयशिष्याविद्याकल्पितत्वान्न
कोपि परमार्थः स्यादिति वाच्यम् । विकल्पासहत्वात् । गुरुशिष्यादिशब्दैः किं केन-
चित्परिच्छेदेन कवलीकृतं चैतन्यमभिधीयते किं वा निरस्तसमस्तभेदम् । नाद्यः । परि-
च्छिन्नस्य परिकल्पितत्वादेवाविद्याश्रयत्वानुपपत्तेः । द्वितीये तु सिद्धसाधनं, यस्मादस्मा-
भिरप्येतदेवाभिधीयते । विध्वस्तसमस्तविकल्पं चिन्मात्रमेव ब्रह्म स्वाविद्यापरिकल्पितांस्त-
त्तद्विकल्पान्पश्यत् संसरतीति, तादृशमेव चाकारमभिप्रेत्य गुरुरिति शिष्य इति चाभिल-
ष्यते, ननु परिच्छिन्नं कंचनाकारम् । न चेत्परिच्छिन्नानामविद्या कथं तर्हि मदविद्यानिर्मि-
थिनिवर्तकत्वं न दृष्टमिति तत्राह—अन्यशब्देनेति । अथोपादाननिवर्तकत्वं न दृष्टचरमिति ब्रूयात्तं प्र-
त्याह—कदलीति ।

एवमविद्याश्रयं निरूपय तद्विषयं निरूपयति—ननु भवत्वेवमित्यादिना । ज्ञायमाने विषये अविद्या न
संभवतीत्युक्तं पूर्वपक्षिणा तदसिद्धमित्याह—मां न जानामीति । यथाच ज्ञानाज्ञानयोर्भिन्नविषयताऽस-
ंभवः तथोपपादितं भावरूपाज्ञानवादे । किञ्च विद्याविद्ययोस्तावत्समानविषयत्वं वक्तव्यमितरथातिप्रसङ्गात् ।
नच जगद्विषयिणी विद्या संभवतीति विषयचैतन्यमेवाविद्याया अपि विषय इत्याह—जडस्येति । एवं
ब्रह्माश्रयत्वपक्षोक्तदूषणानि परिहृत्य जीवाश्रयत्वपक्षोक्तदोषाननङ्गीकारेण परिहरति—जीवेति । दूषणा-
न्तरमनूय दूषयति—यत्त्वित्यादिना । तत्र किमनिवृत्तायामविद्याया व्यवस्थाभावः निवृत्ताया वा । आद्ये
प्राह—यवदिति । द्वितीये प्राह—निवृत्तायामिति ।

ननु भवतु स्वप्नैवद्विद्यावतो गुरोः कल्पितत्वं नापि कल्पितस्यार्थक्रियानुपपत्तिस्तथापि परमार्थः कोपि न
निरूपितः स्यात् तत्तच्छिष्याणामपि स्वस्वशिष्यगुरुतया कल्पितत्वादित्युक्तदोषोऽपरिहार्य इति तत्राह—
नच गुरोरिति । शिष्याविद्याकल्पितो गुरुरिति वदतामस्माकं शिष्यशब्देन किमवच्छिन्नचैतन्यमभिप्रेतमि-
त्यबुध्यत भवान् अनवच्छिन्नं वा । आद्येऽनधिगतपराभिंसंधिरायुष्मान् । नह्यस्माभिरविद्याकल्पितस्य चिदव-
च्छेदस्योविद्याश्रयत्वमभ्युपेयते । कस्तर्हि शिष्यशब्दार्थः । अज्ञातमात्रमनवच्छिन्नं चैतन्यमित्यवगच्छतु भवान् ।
द्वितीये विषयप्रसक्तिस्तदेतदभिप्रेत्याह—विकल्पासहत्वादित्यादिना । अनुभवविरोधं शङ्कते—न
चेत्परिच्छिन्नानामिति । यथाहि स्वप्नदृश्यपुरुषाणामज्ञानितया शिष्यगुरोर्दिभेदेन प्रतीयमानानामपि

तत्त्वं मद्विद्यानिर्भितस्त्वमिति वादिप्रतिवादिनोरन्येषां च कोलाहल इति चेत्, भैवम् । विनैव तत्तत्परिच्छेदेष्वविद्यां स्वप्ने इव परस्मिन्नेव ब्रह्मणि गुरुरिति शिष्य इति चायमिति-चाहमिति चैकस्मिन्नेव नानाप्रतिभासः स्वप्नदृशीव चिदात्मनीत्युक्तत्वादित्यलं मतिकर्दमेन । एतेन स्वात्मानमेव कल्पितभेदं गुरुः शास्त्रीत्यत्राभिहितोपालम्भः परास्तः । परमार्थत उत्पन्नविद्यो मुक्तश्च कश्चिच्छास्तीत्यनङ्गीकारात् ।

अविद्यानिर्मिते च गुरौ स्वप्न इव कस्मादित्थं कुरुते कस्मान्नेति पर्यनुयोगायोगात् । यत्पुनरनादौ संसारे न कश्चिदपि मुक्तश्चेद्भविष्यति मुक्तिरिति प्रत्याशा न संभवति, विद्योत्पत्तिरयनुपपन्ना गुरुसंप्रदायाभावादिति तदपि प्रत्युक्तम् । शास्त्रप्रामाण्यादेव भविष्यति मुक्तिरिति प्रत्याशोपपत्तेः । नच गुरुसंप्रदायाभावः, विद्वत्तया परिकल्पितगुरोस्तदुपपत्तेरुक्तत्वात् ।

प्रथमप्रयोगे च पारमार्थिकान्योन्याभावत्वसाधने साध्यविकलो दृष्टान्तः, अद्वैतवादिभिः घटस्यापि वास्तवान्योन्याभावानभ्युपगमात् । व्यावहारिकसाधने च सिद्धसाधनत्वात् । द्वितीयप्रयोगे च कालात्ययापदिष्टता 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढ' इति श्रुत्या बाधात् । नचैषा श्रुतिरीश्वरपराऽप्रसक्तनिषेधप्रसङ्गात् । नहीश्वरस्य प्रतिभूतं भेदो लोकतो

नाज्ञानित्वं किंतु यस्तान्सर्वानवच्छेदान्कल्पयन्पश्यति तन्निष्ठैवाविद्या तन्निवर्तकविद्या च । एवमिहापि सकलकल्पनासाक्षिभूतचैतन्यस्थाविद्ययैव तथाविधकल्पनोपपत्तेर्नायं व्यवहारोऽवच्छेदेष्वविद्याकल्पक इति परिहरति—**मैवं विनैवेति** । एतेन स्वात्मानमेव कल्पितभेदं गुरुः शास्त्रीत्येतदपि समर्थितम् । गुरुशब्देनावच्छिन्नानभिलाषादित्याह—**एतेनेति** ।

यत्तु न पृथगुपदिशेत् उपदिशन्वा मन्मुक्त्यैव मुक्तस्त्वमित्युपदिशेदित्युक्तं तत्राह—**अविद्यानिर्मिते इति । शास्त्रप्रामाण्यादेवेति** । अत्र वामदेवादिमुक्तिप्रतीतेस्तावन्न विरोधः स्वप्न इव मुक्तामुक्तकल्पनायाः संभवात् । नच तत्तच्छास्त्रप्रतिपादिततया स्वप्नैवलक्षण्यमपि मन्तव्यं तत्तच्छास्त्राणामतत्परत्वात् । नच देवताधिकरणन्यायः, अद्वितीयासङ्गचैतन्यब्रह्मविद्यासंबन्धप्रतिपादकश्रुतितदुद्भूतमुक्तिजातविरोधे तद्व्यायानवतारात् । अखिलकल्पनानिवृत्तिस्तु चैतन्ये शास्त्रप्रामाण्यादेव भविष्यति । नच तदप्यतत्परमुक्तौ तात्पर्यलिङ्गावगमात् भवदङ्गीकाराच्च । यथाच सर्वमुक्तिवादिना द्वैतिनामितः पूर्वमसजातापि मुक्तिः, सर्वजीवानां शास्त्रप्रामाण्यादेव भविष्यतीत्यवसीयते ।

अथानुमानात्तत्राध्यवसायस्तदत्रापि तुल्यम् । शक्यते हि योयत्साधनमनुतिष्ठतीति व्याप्तिर्गृहीतुं विभ्रमत्वादिति वा विशेषत इति भावः । यत्त्वात्मभेदे प्रमाणमुक्तम् आत्मा आत्मप्रतियोगिकान्योन्याभाववानिति तत्र पारमार्थिकतद्वत्त्वं साध्यते व्यावहारिकं बोभयथापि दूषणमाह—**प्रथमप्रयोग इत्यादिना** । द्वितीयानुमाने दूषणमाह—**द्वितीयेति** । तत्र तावदात्मना परस्परभेदो न सिध्यति आत्मनि भेदमात्रसार्धनात् तस्य च दृश्यप्रतियोगिकतयाप्युपपत्तेस्तदप्यवस्थिति वदतो भेदखण्डनोक्तदोषा आवर्तनीयाः । भवतु चात्मभेदपरता तथापि कालात्ययापदेश इत्यर्थः । सत्प्रतिपक्षत्वं चास्य मिथ्यात्ववादेऽस्माभिरुपदर्शितम् । ईश्वरेऽप्रसङ्गमेवाह—**नहीश्वरस्येति** । किंच सर्वभूतान्तरात्मत्वव्यपदेशादपि प्रत्यगात्मन एवायमेकत्वव्यपदेशः न तदस्थे-
चि. ४७

वेदतः परीक्षकसंमत्या वा प्रसक्तः । नच तस्यापि नियन्तृतया सर्वभूतान्तरवस्थानं 'य आत्मनि तिष्ठ'न्निति श्रुतेरिति वाच्यम् । आत्मेश्वरभेदाभावस्य तत्र तत्र श्रुतिषु बहुशः प्रतिपादनात् ।

अन्तर्यामिब्राह्मणे च 'नान्योऽतोस्ति द्रष्टा नान्योऽतोस्ति श्रोते'त्यात्मभेदनिराकरणात् 'य आत्मनि तिष्ठ'न्निति चौपाधिकस्यात्मनो घटाकाशस्य महाकाशाधीनत्ववत्त्वानुगतात्माधीनतामात्रप्रतिपादनपरत्वात्, अन्यथा नित्यद्रव्याणां स्वतन्त्रतया परस्पराधाराधेयभावानुपपत्तेरनङ्गीकाराच्च श्रुतेरानर्थक्यप्रसङ्गात् । नच तत्त्वमसीत्याद्युपासनापरं, तथात्वे प्रमाणाभावात् । तथाहि किं प्रमाणान्तरविरोधादुपासनापरमुत स्वार्थे तात्पर्यावगमोपायाभावात् । नाद्यः । जीवब्रह्मणोः प्रमाणान्तरागोचरतया तद्भेदस्यापि प्रमाणान्तरागोचरत्वात् । विम्बप्रतिबिम्बयोरिव भेदावभासोपपत्तेश्च । नापि द्वितीयः । तत्त्वमसीति नवकृत्वोभ्यासा 'दर्शनेन जीवने'ति चार्थवादोपादानादथ ये अन्यथातो विदुरिति भेददर्शननिन्दनादथ संपत्स्यत इति फलश्रवणा 'देकमेवाद्वितीयमैतदात्म्य'मिति चोपक्रमोपसंहारयोरैकरूप्यादपूर्वत्वान्मृदादिदृष्टान्तैश्चोपपादनात् ।

अन्यत्रा 'प्यहं ब्रह्मास्मि' स एष इह प्रविष्टो, योन्यां देवतामुपास्ते स इदं सर्वं भव-

श्वरस्य । यावन्तर्यामितया तदस्थेश्वरपक्षेऽन्यथासिद्धिरुक्ता तामनूय निराचष्टे—नच तस्यापीति । नच वाच्यमित्यन्वयः ।

न केवलं श्रुत्यन्तरे अन्तर्यामिब्राह्मण एवात्मभेदी निराकृत इत्याह—अन्तर्यामीति । ननु तर्हि 'य आत्मनि तिष्ठ'न्नित्यात्मेश्वरयोराधाराधेयभावस्य का गतिरित्यत्राह—य आत्मनीति । यथाहि घटाकाशे महाकाशो वर्तते इति व्यपदिश्यते तत्स्वरूपतया तत्रानुगतत्वादत एव च महाकाशाधीनो घटाकाश इति व्यवहारः, तद्वदत्रायौपाधिकजीवात्मन स्वरूपत्वात्परमात्मा तत्र तिष्ठन्निति तन्नियमयतीति च परमेश्वराधीनताप्रतिपादनार्थो व्यपदेश इत्यर्थः । किंच त्वत्पक्षेपि न मुख्योर्थः सम्भवति नित्यद्रव्ययोः परापरात्मनो परस्पराधाराधेयभावानुपपत्तेः, व्यापित्वाच्च न कुण्डवदन्याय, तस्मादनिच्छतापि नैरर्थक्यपरिहारायोक्तपरिहार स्वीकर्तव्य इत्याह—अन्यथेति । श्रुत्यन्तरस्योक्तान्यथासिद्धि परिहरति—नच तत्त्वमसीति । यदि जीवब्रह्मणोर्भेदः प्रमाणान्तरागोचरस्तर्ह्येकत्वग्राहिप्रमाणैरैक्योपदेशो विरुध्येत न तदस्तीत्याह—जीवब्रह्मणोरिति । ननु परमेश्वरविरुद्धधर्मवत्तया तावत्कर्ता भोक्ता दुःख्यहमिति भेदप्रतीतिरस्ति ततस्तद्विरुद्धोऽयमागम इति तत्राह—विम्बेति । अथवा यदि जीवब्रह्मभेदः प्रमाणान्तरागोचरः कथं तर्हि तत्प्रतिभास इति तत्राह—विम्बेति । न वास्तवभेदसाधिकेयमित्यर्थः तात्पर्यावगमोपायाभावादिति । द्वितीयपक्षेऽसिद्धिः दर्शयन्नुपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्वताफलार्थवादोपपत्तिलक्षणषड्विधतात्पर्यलिङ्गानि दर्शयति—नापि द्वितीय इत्यादिना । अथ य इति । अथ येऽन्यथातो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्तीत्यत्र ये अत उक्ता एव यज्ञानात् व्यतिरेकेणान्यथा भक्तो भिन्न परमेश्वर अहं च तस्माद्भिन्न ससारीति भेदेन परमेश्वरं विदुः तेऽन्यराजानः सन्तस्तदधीनतया स्वाराज्याभावात् क्षय्यलोका भवन्ति अपुनरावृत्तिलक्षणमुक्तिः न प्रतिपद्यन्ते मृत्युरूपं संसारं च प्रतिपद्यन्त इति भेदनिन्दाश्रवणादित्यर्थः ।

एवं छान्दोग्यश्रुतौ लिङ्गादिदर्शयित्वा बृहदारण्यकेऽपि दर्शयति—अन्यत्रापीति । अतोऽयुपासनापर-

तीत्यादिश्रवणादेकत्वे तात्पर्यावगमात् । 'तद्धास्य विजज्ञा'विति 'तरति शोकमात्मवित्'
'तमसः पारं दर्शयति,' 'भिद्यते हृदयग्रन्थि'र्ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती'ति विद्याया अवि-
द्यानिवृत्तिब्रह्मात्मभावफलकत्वश्रवणात् उपासनाविज्ञानस्याप्रमाणत्वादविद्यानिवर्तकत्वा-
योगात् ।

परमार्थतो भिन्नस्यात्मनो ब्रह्मात्मत्वासंभवात्स्थितस्य नष्टस्य वान्यस्यान्यात्मत्वायोगान्
उपासनपरत्वस्य वक्तुमयुक्तत्वात् । 'वेद भवति, विद्वान् न विभेति, पश्यन् प्रति-
पेदे, को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत' इत्यादिना विद्यातत्फलयोः समकालीन-
त्वप्रतिपादनात् विधेयज्ञानापूर्वजन्यत्वे च तदयोगात् 'नेह नानास्ती'त्यत्र च त्वप्रत्यया-
श्रवणेन नानात्वस्यानिपेधात् अप्रसक्तप्रतिषेधप्रसङ्गस्य च पूर्वमेव दर्शितत्वात् । ना-
नाभूतस्य कार्यस्य प्रतिषेधे च कारणादन्यत्र कार्यस्याभावेन वाक्यस्य तन्मिध्यात्वे पर्व-
वसानात् । उपासनाविधिपरत्वस्य निषेधादेव भेददर्शननिन्दायास्तत्परत्वायोगात् ।

द्रासुपर्णेत्यादेश्च लोकसिद्धभेदानुवादकत्वात् लोकसिद्धत्वेऽपि भेदस्य देहात्मभावव-
त्सवितृप्रादेशिकत्वादिवच्च प्रामाणिकत्वाप्रसङ्गात् । व्यवस्थानुपपत्तेश्च दुर्निरूपतया भेदा-
साधकत्वात् । व्यवस्थाशब्देन धर्मभेदमात्राभिधाने दाहपाकादेरिव धर्मिभेदासाधकत्वात् ।
भिन्नाधिकरणधर्मभेदाभिधाने चान्योन्याश्रयत्वात् । परस्परविरुद्धधर्मोक्तौ च विरोधस्य

त्वमस्य नास्तीत्याह—तद्धास्येत्यादिना । ननुपासनापि विद्यैव अतः सापि किमित्यविद्यानिवर्तिका न
भवेत् तत्राह—उपासनेति । ननुपासनाविविधविषयतात्त्विकत्वमप्यपेक्षते योपिदृश्यादावदर्शनात् । क्रियैव
चैषोपासना विधेयत्वान्न प्रमिति, नहि प्रमिति पुरुषाधीनात्मलाभा वस्त्वधीनत्वात्तस्मादुपासना नाविद्या-
निवर्तिकेत्यर्थः ।

इतो'युपासनापरत्वमुक्तमित्याह—परमार्थत इति । किमभिन्नस्यैव सतो जीवस्य ब्रह्मणैक्यमुपासन-
श्रोतृपाद्यते भिन्नस्य वा । नाद्य । अभेदस्य पूर्वमेव सिद्धत्वात् भेदस्य च तत्र भ्रान्तिमात्रतया विद्यैकनिवर्त्य-
त्वात् । द्वितीये तु स्थित एव जीवे ब्रह्मैक्यं नष्टे वा । नोभयथापि । एकत्र विरुद्धत्वादपरत्र स्वरूपनाशेना-
पुरुषार्थत्वादित्यर्थः । इतो'युपासनापरत्वं न घटते यतो विद्योदयसमसमयमेव मोक्षः श्रूयते श्रुतिषु, उपास-
नापरत्वेह्यपूर्वव्यवधानात्तदनुपपत्तेरित्याह—वेद भवतीत्यादिना । 'नेह नानास्ति किंचने'त्यस्यापि सम-
स्तद्वैतनिषेधपरत्वमुपपादयति—नेहेति । व्याख्यातश्चायं मिथ्यात्ववादे ग्रन्थः । भवतु ब्रह्मणि नानाभूतवस्तु-
निषेधस्तथापि कथं मिथ्यात्वसिद्धिर्यावतान्यत्रापि सत्त्वं सभाव्येतेह निषिद्धघटवदिति ब्रूयाह—कारणाद-
न्यत्रेति । यत्तु भेददर्शननिन्दाऽभेदोपासनाविधिपरा नत्वतत्परेत्युक्तं तत्राह—उपासन्नेति ।

यास्त्वात्मभेदे श्रुतयः पूर्वपक्षिणोदाहृतास्तासां कल्पितभेदविषयतयान्यथासिद्धिमाह—द्रासुपर्णेत्यादे-
श्चेति । ननु लोकोपि प्रत्यक्षाद्यन्यतमो निर्धारितविशेष इति तत्सिद्धत्वेऽपि प्रामाणिकत्वमेवापत्तिरिति इत्युक्तं
तदसत् । देहात्मभावादौ व्यभिचारादित्याह—लोकसिद्धत्वेपीति । या तु सुखादिव्यवस्थान्यथानुपपत्ति-
रुक्ता ता परिहरति—व्यवस्थेति । दुर्निरूपतामेव दर्शयति—व्यवस्थाशब्देनेति । अत्र किं भिन्नध-
र्माणां युगपदेकत्रावस्थानानुपपत्तिरधिकरणभेदसाधिका उत भिन्नाधिकरणधर्माणामुक्तविधानुपपत्तिरुत विरु-
द्धधर्माणामुक्तविधानुपपत्तिरिति । अत्रार्थं दूषयित्वा द्वितीयं दूषयति—भिन्नाधिकरणेति । तृतीये प्राह
—परस्परेति । कोऽयं विरोधः सुखादीनां किं सहानवस्थानं किं वा वध्यघातकभावः उत भावाभावरूप-

विचारासहत्वात् सहानवस्थानस्यासिद्धेः एकस्मिन्नप्यात्मनि पादे मे वेदना शिरसि मे सुखमिति युगपत् सुखदुःखयोरनुभवात् । अणुपरिमाणस्य मनसो युगपत्प्रदेशद्वयेन सन्निकर्षाभावेऽपि त्वगिन्द्रियेण व्यापकेन युगपत्संनिकर्षात् ।

तत्त्वप्रदेशावच्छिन्नात्मनःसंनिकर्षस्य च सुखदुःखनिदानत्वाङ्गीकारे सुखदुःखयोर-
णुसत्रतयोपलम्भप्रसङ्गात् । सकलदेहव्यापितया च तयोरनुत्पादप्रसङ्गात् । विनश्य-
दविनश्यतोश्च सुखदुःखयोः सहावस्थानस्य स्वयमेवाङ्गीकारात् । वध्यघातकभावस्य च
'नाजात एकोन्यं हन्ति नाप्यन्याधार'मिति न्यायेन सहावस्थानाक्षेपकत्वात् । व्यवस्था-
याश्च कल्पितभेदाश्रयत्वेनाप्युपपत्तेः । अननुसंधानस्य च शरीरभेदादेवातीतशरीरेष्विव
संभवात् । वर्तमानशरीरेष्वपि निदर्शनाभावादेव योगिनमनङ्गीकुर्वद्भिः अनुसंधानस्य
प्रसञ्जयितुमशक्यत्वात् योगिसद्भावाभ्युपगमेऽपि नयनावच्छिन्नस्यात्मनः शब्दाद्यननु-
संधानवदेकशरीरविशिष्टस्य शरीरान्तरेऽननुसंधानोपपत्तेः ।

उपलक्षितस्य परमात्मनः सर्वज्ञस्य सर्वत्रानुसंधानेऽपि दोषाभावात् । अनुसंधानेऽपि

त्वम् । आद्ये प्राह—**सहानवस्थेति** । ननु कथमणुपरिमाणस्य मनसः शिरपादप्रदेशाभ्यां युगपत्संबन्धः
येन तत्त्वप्रदेशवर्तिसुखदुःखयोर्युगपदुत्पत्तिः स्यादतः समानाविकरणक्रमेणोत्पन्नसुखदुःखयोर्भ्रान्तिरेव यौग-
पद्यप्रतीतिरिति तत्राह—**अणुपरिमाणस्येति** । त्वगिन्द्रियं हि निखिलशरीरव्यापकत्वाद्युगपच्छीतोष्णाभ्यां
सन्निकृष्यते तच्चैकेन मनसाविष्टीयते ततश्चोभयविषयज्ञानोत्पत्तौ युगपत्सुखदुःखयोरुत्पादो न विरुध्यते ।
त्वग्द्वारा च युगपत्संनिकर्षाधिष्ठानादुभयविषयमेकं ज्ञानं सामग्रीसंपत्त्या समुत्पद्यत इत्यर्थः ।

ननु भवतु युगपच्छानं तथापि नैकत्र द्वयोरवस्थानं नहि यावदात्मसुखदुःखोत्पत्तिरनुपलम्भात् किं तर्हि
येन शरीरप्रदेशेन कण्टकादिसंयोगः समजनि तदवच्छिन्नात्मप्रदेशेन मनस्योगात्तत्रैव दुःखादय उत्पद्यन्ते
ततश्च सुखदुःखयोर्भिन्नप्रदेशावस्थितत्वादस्त्वेव सहानवस्थानमिति तत्राह—**तत्त्वप्रदेशेति** । अथवा-
ऽसमवायिकारणमनसंयोगक्रमात् सुखदुःखयोः क्रमोत्पादः किं न स्यादिति तत्राह—**तत्त्वप्रदेशेति** ।
अण्विति । पादादिव्यापितया नोपलभ्येतेत्यर्थः । दूष्णान्तरं चाह—**सकलेति** । मनस्युत्कर्षप्रदेशस्याणुपरि-
माणतया तत्र सुखस्य निखिलशरीरव्यापितया नोपलभ्येतेत्यर्थः । अलं वा विवादेन विनश्यदविनश्यतोर्भवतैव
सहावस्थानमङ्गीक्रियत इत्यु-**विनश्यदिति** । द्वितीयपक्षं प्रतिक्षिपति—**वध्यघातकेति** । नन्वस्त्वेवं
युक्तिपरिनिष्पन्नं पन्थात् अनुभवस्य तु का गतिः न ह्येकस्मिन्सुखिनि सर्वे सुखिनो दुःखिनि वा दुःखिनः
उपलभ्यन्त इति तत्राह—**व्यवस्थायाश्चेति** । अङ्गीकृत्य सहानवस्थानमयं काल्पनिकभेदमादाय परिहारः ।
एतेन भावाभावपक्षोऽपि प्रतिक्षिप्तः । एकस्मिन्नप्यात्मनि सुखादेस्तदभावस्य च भवद्विरेवाङ्गीकारेणाव्यवस्था-
पकत्वात् । नच भङ्गाभावत्वमपि शङ्कामधिरोहति उभयोरपि गुणत्वेनाङ्गीकारात् । यत्तु पादाद्यवयवेष्विव
निखिलशरीरेष्वेकस्यैवानुसंधानं स्यादिति तत्राह—**अननुसंधानस्येति** । नन्वतीतत्वमेव तत्रोपाधि-
ननु शरीरभेद इतरथा वर्तमानानेकशरीराविष्ठातृयोगव्याघ्रस्य तेष्वननुसंधानप्रसङ्गादिति तत्राह—**वर्तमा-
नेति** । मीमांसकानां तावदयं न युक्तः प्रसङ्ग इत्यर्थः । तार्किकान्प्रत्यप्याह—**योगीति** ।

ननु यद्यपि वक्षुरवच्छिन्नस्य शब्दाद्यनुसंधानं नास्ति तथाप्यस्त्येवैकस्तदुपलक्षितोऽनुसंधाता, इतरथा य
एवाहं रूपमद्राक्षं स एव शृणोमीति प्रतिसंधानाभावप्रसङ्गादिति तत्राह—**उपलक्षितस्येति** । परमात्मानु-
सद्धात्येवेत्यर्थः । **ननु** कथं दोषाभावः । यावता चरणतललम्बकण्टकोद्धरणाय पाणितलव्यापारवच्चैत्रगात्रवे-
दनापरिहाराय मैत्रगात्रव्यापारप्रसङ्गस्य दोषत्वादिति तत्राह—**अनुसंधानेपीति** । यथाहि भवता सर्व-

तस्योभोक्तृत्वादेव योगिवदीश्वरवच्च तस्य तत्तच्छरीरदुःखपरिहाराय प्रवृत्तेरप्रसङ्गात् ।
सुखादीनां च साक्ष्याणां साक्षिधर्मत्वाभावेन तद्भेदासाधकत्वात् ।

साक्षिणश्च प्रमाकरणासंनिधानेऽपि सुपुत्रावज्ञानसाधकस्य प्रमात्रन्तर्भावानुपपत्तेः ।
तस्य च जीवात्मान्तर्भावात्साक्षिप्रत्यक्षस्य लौकिकव्यवहाराङ्गत्वोपपत्तेः । नच साक्षिणि
प्रमाणाभावः, यतः 'चैत्ररागः स्वविषयानित्यज्ञानातिरेकिणा । तदध्यक्षेण संवीक्ष्यः प्र-
त्यक्षत्वात्पटादिवत्' ॥ ५ ॥ विवादाध्यासिताः चैत्रेच्छादय एतद्ग्राहकाऽनित्यज्ञानातिरिक्तै-
तत्प्रत्यक्षग्राह्याः एतत्प्रत्यक्षत्वादेतत्प्रत्यक्षघटादिवत् ।

नचाभाससमानयोगक्षेमत्वम्, अनुमानस्य नित्यत्वप्रसाधने लक्षणव्याघातान् ।

व्याख्यापके बुद्धिरनुमानम् । साधनधर्मदर्शनात् साध्यधर्मविशिष्टे बुद्धिरनुमानम् ।
लिङ्गदर्शनात् संजायमानं लैङ्गिकमनुमानं त्रिरूपालिङ्गतोऽर्थदृगित्यादिलक्षणैरनित्यस्यैव
ज्ञानस्यानुमानत्वेन लक्ष्यमाणत्वात्, विपक्षे बाधकाभावाच्च । मानसप्रत्यक्षवेद्यत्वे इच्छादेः
कर्मकर्तृभावस्यैव बाधकत्वात् । नच स्वरूपमात्रेण ग्राहकस्य विशिष्टरूपेण ग्राह्यत्वेऽप्यवि-
रोधः । केवलस्य देवदत्तस्य गन्तृत्वं कुण्डलविशिष्टस्य तु गन्तव्यत्वमिति तत्रापि विरोधा-
भावप्रसङ्गात् । दृश्यते च कर्तुरप्यन्यत्र करणता योधै राजा युध्यते चारेण परसैन्यं

इत्येवमस्य योगिनो वा सर्वत्रानुसधानेऽयप्रवृत्तिस्तत्कस्य हेतो अभोक्तृत्वात् एवमस्मन्मतेपीत्यर्थः । यच्च
साक्ष्यतया सुखादेः साक्षिधर्मत्वाभावाच्चधिकरणतयाऽव्यवस्थापकत्वं पूर्वपक्षिणाशङ्क्य दूषितं तदपि समर्थयते
—सुखादीनां चेति ।

यत्तु साक्षिणोपि द्रष्टृत्वे प्रमात्रन्तर्भाव इतरथा व्यवहारानङ्गत्वमित्युक्तं तत्र द्रष्टृत्वेऽपि प्रमात्रन्तर्भावं प-
रिहरति—साक्षिणश्चेति । प्रमाणैर्यः प्रमिणोति स प्रमातातो नैवमसावित्यर्थः । ननु तर्हि जाग्रदादौ
ज्ञानादिसाधकत्वं तस्य न स्यात् अनुपपत्तप्रमाणव्यापारत्वात् तदानीमतो व्यवहारानङ्गत्व तदवस्थमिति
तत्राह—तस्य न्वेति । अन्तर्भावात्स्वरूपतयेत्यर्थः । साक्षिणि तार्किकं प्रत्यनुमानमाह—चैत्रेति । तद-
व्यक्षेण चैत्रप्रत्यक्षेणेत्यर्थः । इदं च विशेषणं पूर्वोक्तेश्वरप्रत्यक्षेणार्थान्तरतापरिहारार्थं नहीश्वरप्रत्यक्षं चैत्रप्र-
त्यक्षमिति भवतामङ्गीकारः । श्लोकं विवृणोति—विवादेति । अत्राप्यनित्यज्ञानातिरिक्तेति अनित्यज्ञानत्वा-
नधिकरणमित्यर्थः । ईश्वरप्रत्यक्षवेद्यतयार्थान्तरतानिवृत्त्यर्थमेतत्प्रत्यक्षपदम्, मानसप्रत्यक्षवेद्यतया सिद्धसा-
धनतानिवृत्त्यर्थमेतद्ग्राहकेति पदम्, तथाचेच्छादिग्राहकनित्यापरोक्षसाक्षिसिद्धिः, परोक्षादिष्वेतत्प्रत्यक्षाविषयेषु
व्यभिचारनिवृत्त्यै हेतावेतत्पदम् । अतीन्द्रियेष्वव्यभिचाराय प्रत्यक्षपदम् ।

यत्तु नित्यानुमानस्यापि साधकतयाभाससमानयोगत्वमुक्तं तत्राह—नचाभासेति ।

जन्यत्वगर्भमनुमानलक्षणमित्यत्र तार्किकसमतिमाह—व्याप्यादित्यादिना । नच नित्यप्रत्यक्षाभ्युपग-
मेपि प्रत्यक्षलक्षणव्याघातः साक्षात्कारिज्ञानत्वस्य तल्लक्षणत्वादीश्वरप्रत्यक्षस्य तार्किकैरङ्गीकारात् । मोक्षदशायां
भाट्टैरविनाशिनाऽपरोक्षसुखज्ञानस्याङ्गीकारात् । गुरुमतेपि साक्षात्कारिज्ञानत्वस्यैव तल्लक्षणत्वाद्यथाह भाट्ट —
'साक्षात्प्रतीतिः प्रत्यक्ष'मिति । स्वानुमानस्य च विपक्षे बाधकतर्कमाह—मानसप्रत्यक्षेति । तत्र तदुक्तं
साधनं दूषयति—नच स्वरूपेणेति । नायमविरोधनियामक एतस्मिन्विद्यमानेपि कर्तृकर्मत्वयोरेकत्र
देवदत्तादौ विरोधदर्शनादित्यर्थः । यत्तु कर्तृकरणत्वयोरपि बुद्धौ विरोधस्तथापि समान इत्युक्तं तदसत्
लोके तयोर्बहुलमविरोधदर्शनादित्याह—दृश्यत इति । अन्यत्र लोक इत्यर्थः । अत्र हि भटा युद्धकर्तार

कलयतीत्यादिषु । नचाविद्याविशिष्टः साक्षी येन कर्तृकोटिनिविष्टाया अविद्यायाः कर्तृत्वं स्यात् चिद्रूपस्यैवात्मनः साक्ष्यसंबन्धे साक्षित्वेन व्यवहारात् ।

‘यद्वै तन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्य’तीत्यादिश्रुतेः ‘ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्’ ‘तदा-
त्मानमेवावे’दित्यादिना नात्मनः कर्मकर्तृभावो विवक्ष्यते किंतर्हि—वेदान्तवाक्यजनित-
ब्रह्मैकाकारान्तःकरणवृत्तिरूपया विद्यया स्वतःसिद्धस्यैवात्मनोऽब्रह्मत्वभ्रमकारणाविद्या-
निवृत्तिः, तथाचान्तःकरणविशिष्टस्यैव प्रमातृत्वं विशुद्धस्य ब्रह्मणो वृत्तिव्याप्यत्वमिति
कुतस्तत्रैकस्य कर्मकर्तृभावः । नच नित्यबोधमन्तरेण पूर्वापरबुद्धीनामनुसंधानसिद्धिः ।
प्राहकतया सिद्धेर्निराकृतत्वात् । नच ‘साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्चे’ति वाक्यमीश्वरपर-
त्वादात्मनः साक्षित्वे न प्रमाणमिति युक्तम् । मायाविशिष्टरूपे तस्मिन् केवलो निर्गुण
इति विशेषणानुपपत्तेः, तस्मात्सर्वप्रत्यग्भूतं विशुद्धं ब्रह्मात्र जीवाभेदेन साक्षीति प्रति-
पाद्यते ।

नचानन्दादीनां साक्ष्याणां साक्षिधर्मत्वम् आनन्दानुभवयोरारूपरूपत्वात् । नच नि-
त्यत्वं धर्मः विनाशराहित्येनोपलक्षितस्वरूपस्य तथा व्यपदेशात् । विशेषगुणवद्व्यापका-

अर्थ च करणतया निर्दिश्यन्तइत्यर्थः । यात्वविद्यायां कर्तृत्वकर्मत्वप्रतिबन्दी गृहीता तां परिहरति—
नचाविद्येति । नाविद्याविशिष्टस्य साक्षित्वं नाप्युपलक्षितस्य, किंतु तदुपाधिकस्य । अथ कोयं विशेषणो-
पलक्षणोपाधीना भेद । शृणु—कार्यान्वयित्वेन तु भेदकं यत्तद्विशेषणं नैत्यमिवोत्पलस्य । अनन्वयित्वेन तु
भेदकानामुपाधितोपलक्षणताप्रसिद्धा’ तयोरपि यावत्कार्यमवस्थायिभेदहेतोरुपाधिताकादाचित्कतया भेदधी-
हेतुरुपलक्षणं तेन नाविद्याया कर्तृभावे इत्यर्थः ।

१. **यद्वै तदिति** । इयं हि साक्षाद्वैताभावनिबन्धनमदर्शनं स्वरूपतश्च दर्शनं वदतीत्युक्तिः । स्वाभाविकमेव
सकलवभासकचैतन्य तस्य तत्तद्विषयानुपपन्नवशाच्च तत्तद्विषयानुभवत्वं विकल्प्य निदर्शयतीत्यर्थः । या तु
तदात्मानमेवावेदिति ब्रह्मणि कर्तृकर्मत्वप्रतिबन्दी गृहीता ता परिहरति—**ब्रह्म वा इति** । ननु तथापि
कर्मकर्तृत्वाभावे किमायातं यावत्तैकस्यैव वेद्यत्ववेदितृत्वाङ्गीकारादिति तत्राह—**तथाचेति** । नन्वेवं घट-
कुटीप्रमातायितम् अन्तःकरणविशिष्टस्य प्रमातृत्वं स्वरूपेण च कर्मत्वमिति वदतैकस्यैव कर्मकर्तृत्वमौपाधिकश्च
विरोधपरिहार इत्यङ्गीकरादिति । न । तदुभयस्याप्यसिद्धेः । नतावदन्तःकरणविशिष्टतयास्य कर्तृत्वम् । आरो-
पात् । अन्तःकरणगतं हि कर्तृत्वं धर्म्यभ्यासद्वारा चैतन्ये परमारोप्यते नहि दण्डदेवदत्तयोरिव विशेषण-
विशेष्यभावः तस्माद्वारोपितत्वाच्च कर्तृत्वं नापि कर्मत्वं तज्जन्यातिशयताभावात् । अस्तु वा कर्म वृत्तिव्या-
प्यतामात्रेण, तथापि कर्तृत्वाभावादेव वैषम्यमिति अनुसंधानान्यथानुपपत्तिमपि साक्षिणि प्रमाणं समर्थयते
—**नच नित्येति** । **निराकृतत्वात्**स्वरूपप्रकाशवाद इति शेषः । आगममपि समर्थयते—**नच साक्षीति** ।
किमिति न युक्तं तत्राह—**मायाविशिष्टेति** । नहि निर्विकारचैतन्यस्य मायानिवेशमन्तरेण वियदाद्याका-
रविवर्तः संभवतीति भावः ।

तदेवं न साक्षात्सुखादेः साक्षिधर्मत्वमित्युक्तं यत्तु पञ्चपादीवचनमुदाहृतं तत्परिहरति—**नचानन्दादी-
नामिति** । यच्चाकाशं पक्षीकृत्य विशेषगुणवद्व्यापकद्रव्यान्यत्वसाधनेनात्मनो भेदसाधनं तत्परिहरति—
विशेषगुणेति । यस्य हि वेदान्तिनो वियदधिकरणन्यायेनाकाशोऽनुपपद्यते प्रलीयते चेति मतं तन्मते
कल्पान्तरीयाद्विशेषगुणवद्व्यापकद्रव्यादाकाशादन्यत्वमादायाप्यर्थान्तरमित्यर्थः । ईश्वरादन्यत्वमादायाप्यर्थान्त-

न्यत्वसाधनं च प्रतिकल्पं जायमानाकाशभेदैरेव सिद्धसाधनम् अर्थान्तरश्वेश्वरवादिनामीश्वरेण, अनित्यपदप्रक्षेपे च पूर्वोक्त एव दोषः । तथाच सुखादीनामात्मगुणत्वाभावान्न तद्व्यवस्थातस्तद्भेदसिद्धिः । तदेवं स्वाविद्यया ब्रह्मैव संसरति स्वविद्यया च मुच्यत इति एकाविद्यापक्षे न कश्चिद्दोषस्तथा नानाविद्यापक्षेपि ।

ननु नानाजीवानां किमेकाविद्या कल्पिका उत प्रतिजीवं भिन्ना । नाद्यः । एकमुक्तौ सर्वमुक्तिप्रसङ्गतादवस्थेन नानाजीवकल्पनायामपि व्यवस्थानुपपत्तेः । न द्वितीयः । कल्पनागौरवात् । ननु व्यवस्थानुपपत्तौ कल्पिकायां न कल्पनागौरवं दोषः 'प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्प्यानि सुबहून्यपी'ति न्यायादिति चेत्, मैवम् । व्यवस्थीयाः पारमार्थिकत्वे सत्यविद्याकार्यत्वानुपपत्तेस्तत्कल्पनावैयर्थ्यात् । अपारमार्थिकत्वे पुनरेकयैव तस्याः सिद्धेरविद्याभेदकल्पना व्यर्था । अन्यथैकस्याप्यनन्तभेदभानायानन्ताविद्याः कल्पाः स्युः । सन्तु को दोष इति चेत्, तर्हि तामिरेव सर्वकल्पनासिद्धेरात्मान्तरस्य न ताः कल्पाः । नच तेषामप्यज्ञतया भानात् ताः कल्पा इति वाच्यम् । अद्वैतवादिनस्तद्भेदभानस्य प्रामाणिकत्वाभावादप्रामाणिकस्य चैकाविद्यामिरेव सिद्धेर्नान्यस्याविद्याः कल्पनीयाः । किंच यथान्तरेणैवार्थान्तरमविद्यान्तरं च स्वप्ने चराचरं जगत् त्वदविद्यैव ते भाति तथा जाग्रत्यपि किं न भायात् । अपिचोत्पन्नविद्यस्यात्मान्तरमोहस्तत्कार्याणि भान्ति न वा । आद्ये निवृत्ताविद्यस्यापि भेदभाने न भूमलक्षणब्रह्मप्राप्तिः । द्वितीये तु शिष्याद्यभा-

रतामाह—अर्थान्तरं चेति । नन्वनित्यविशेषगुणवद्वापकद्रव्यादन्यत्वं सिद्धाधयिपितं चेश्वरस्तथेति तत्राह—अनित्येति । पूर्वोक्तेति । आकाशेनाऽर्थान्तरतेत्यर्थः । साक्ष्याणां साक्षिधर्मत्वाभावाप्रतिपादनमुपसहरति—तथाचेति । समर्थितमेकजीववादमुपसहरति—तदेकमिति । अत्र चाविद्याशब्देन तदधीनो जीवो लक्ष्यते एकजीवपक्षे इत्यर्थः—नानाविद्यापक्षेपीति । नानाजीवपक्षे इत्यर्थः । एवं हि किमेकाविद्या किं नानाविद्येत्युत्तरग्रन्थसामञ्जस्यम् ।

एवं ब्रह्मस्वभावाविद्यासबन्धाद्यनुरोधेन विशदमतीन्द्रप्रत्येकजीवपक्ष समर्थित, ये तु मन्दमतयो निर्धिष्ठद्वैतवासनास्कन्दनजडतमशेषमुषयो बद्धमुक्तादिव्यवस्थास्थेमनि वद्धास्था नानाजीवपक्षमेव रोचयन्ते तान्प्रति नानाजीवपक्षमप्याक्षेपसमाधानायामभिदर्शयति—नन्वित्यादिना । कल्पकसद्भावात्कल्पनागौरवं न दोषायेति शङ्कते—ननु व्यवस्थेति । किमियं पारमार्थिकी व्यवस्था याऽनेकाविद्या विना नोपपद्यते किं वा कल्पनिकी । पारमार्थिकीव्यवस्थाया नानाविद्यामभ्यर्थयमान श्लाघनीयप्रज्ञो मातापितृमान् । द्वितीये त्वेकाविद्यापि तत्सिद्धिः । अथ कलयगुर्वादीनामनेकत्वात्कल्पिकाविद्याया अपि नानात्वं तद्वैकस्याप्यनेकघटपटादिप्रतीत्यर्थमनन्ताविद्या कलयेरन् तथाग्येकजीवगताविद्यामिरेव तत्सिद्धेरनेकजीवकल्पनावैयर्थ्यादित्याह—मैवं व्यवस्थाया इत्यादिना । अद्वैतवादिन इति । ये ते अज्ञा प्रतीयन्ते तद्भेदस्याप्याविद्यत्वात्सकलकल्पनाकल्पिकाविद्यानामैकचैतन्यगतानामेव कल्पनास्थितिरित्यर्थः । किंच नाविद्यावत्तया व्यवहारमात्रादविद्याभेदकृतिः, नापि दृश्यभेदादविद्याभेदः, स्वप्ने व्यभिचारादित्याह—किंचेति । किंचानेकजीवकल्पनायामपि गुरुशिष्यव्यवस्थानुपपत्तिः समानेत्याह—अपिचेति । किंचानेकजीववादिनापि त्वया त्वद्यतिरिक्तजीवतदज्ञानादिप्रतिभासरतेषां पारमार्थिको नेष्यते तथाच त्वदविद्यानिर्मितत्वं वक्तव्यं त्वदृश्यत्वात् तत्राप्यप्रकाशकत्वात्कल्पकत्वमेव त्वदविद्याया वक्तव्यं तथाचान्यमोहादित्वहानिः त्वन्मोहादित्वसिद्धिश्चेत्याह

नात् गुरोरुपदेशादिक्रिया न भवेत् । किंचैकस्य मोहो मोहान्तराणां तत्कार्याणां च भानहेतुरुक्त कल्पकः । नाद्यः । मोहस्य प्रकाशरूपत्वाभावात् । न द्वितीयः । त्वन्मोह-
कल्पितस्य संप्रतिपन्नत्वन्मोहकल्पितवत् अन्यमोहस्य त्वत्कार्यत्वानुपपत्तेः । नचान्यमो-
हकल्प्यत्वम् क्लृप्तत्वात् ।

नच त्वत्कल्पितस्यान्यमोहस्यान्यमोहकल्पकत्वम् कल्पितत्वात् । रजतादिवन्मोहा-
न्तरतत्कार्याणां च स्वाप्रदृश्यत्वे संप्रतिपन्नवत् तन्मोहत्वं तत्कार्यत्वं च स्यात् । अन्य-
मोहतत्कार्याणां चान्यदृश्यत्वस्यासंप्रतिपन्नत्वात् स्वमोहतत्कार्याणां च स्वदृश्यत्वस्यो-
भयवादिसिद्धत्वात् । नचेन्द्रजालादेर्बहुमोहकल्पितस्य बहुद्रष्टृकस्यैकस्य प्रसिद्धत्वादृष्टान्त-
सिद्धिः । तत्तन्मोहकल्पितस्य तत्तद्दृष्टस्य च भिन्नत्वात् । तदेव मया दृष्टं मयादृष्ट-
मिति संवादस्य चैकरूपभ्रमोत्पादात् तन्निमित्तहर्षशोकादिकार्याणामेकरूपत्वाच्चोपपत्तेरे-
कदृष्टौत्पातिकसंवित्सुत्यादावन्येषां विसंवादादेकमोहकल्पितत्वस्य सिद्धेरेकस्यैव प्रपञ्चस्य
बहुमोहकल्पितत्वे चैकस्य धिया तन्नाशे सर्वमुक्तिरनाशेऽयैकस्याप्यमुक्तिः, नचैकमेव
पुरुषभेदेन नष्टमनष्टं चेति युक्तं विरोधात् । अविरोधे वा तमेव प्रति युगपदेकमेव नष्ट-
मनष्टं च स्यात् । द्विचन्द्रादेश्च युगपन्नष्टानष्टत्वस्यासंप्रतिपन्नत्वात् । भ्रान्तपुरुषभेदेन
तस्यापि भेदात् । तस्मान्नाविद्याभेदो नापि तद्भेदाज्जीवभेदसिद्धिरिति स्थितम् ।

अत्रोच्यते—यस्तावदेकैवाविद्येति पक्षे दोषः सोऽनभ्युपगमादेव परास्तः । ब्रह्मण ए-
वैकस्य तत्तदनाद्यनन्ताविद्यावच्छेदनानन्तजीवनिर्भासास्पदत्वाभ्युपगमात्, सति च क-
ल्पके कल्पनागौरवस्यादोषत्वात्, एकस्यापि च जीवस्यानेकाविद्यासद्भावाभ्युपगमात् ।
इष्टसिद्धिकारैरपि यावन्ति ज्ञानानि तावन्यज्ञानानीत्यनेकाविद्यास्वीकारात् । नन्वपार-

—किंचैकस्येत्यादिना । नन्वन्यमोहेनापि कल्प्यत्वादन्यमोहजन्यत्वमप्यस्ति तत्राह—नचान्येति ।
क्लृप्तत्वात् त्वन्मोहेनेति शेषः । इतरथानवस्थानाद् ।

किंच त्वन्मोहकल्पितस्य मोहान्तरस्य स्वातन्त्र्येणान्यकल्पकत्वमपि नास्तीत्याह—नच त्वत्कल्पित-
स्येति । दूषणान्तरमाह—मोहान्तरेत्यादिना । विमतमोहतत्कार्याणि देवदत्तीयानि दृश्यत्वात्संप्रतिपन्न-
वदित्यर्थः । अयान्यदृश्यत्वाद्वैपरीत्यमपि शक्यानुमानं न हेतुदृष्टान्तयोरसिद्धेरित्याह—अन्यमोहेत्यादिना ।
स्वपक्षे दृष्टान्तसिद्धिमाह—स्वमोहेति । ननु मायाविप्रदर्शितप्रासादादिनिगरणादेर्माहविकल्पितस्यापि बहु-
दृश्यत्ववदत्रायन्यमोहादेरन्यदृश्यत्वं किं न स्यात् तत्राह—नचेन्द्रजालेति । तत्रापि प्रतिपुरुषं भिन्नमेव
दृश्यमित्यर्थः । तर्हि संवादः किनिबन्धन तत्राह—तदेवेति । अथ केन बलेन प्रत्यभिज्ञा बाध्यत इति
अन्यत्रमोहकल्पितस्यासाधारण्यदर्शनादित्याह—एकदृष्टेति । एकमोहकल्पितस्य दृष्टान्तस्य सिद्धिर्वाऽनेन
समर्थ्यते । दूषणान्तरमाह—एकस्यैवेति । स्यादेतद्यस्य मोहो नष्टस्तं प्रति प्रपञ्चोपि नष्ट एव इतर प्रति वा
नष्ट इत्यस्तु, नच विरोधलोभगन्धोपि कल्पितस्याचिन्त्यस्वभावत्वादिति तत्राह—नचैकमेवेति । ननु
बहुदृष्टद्विचन्द्रादावप्येवं भाव इति नेत्याह—द्विचन्द्रेति । अनेकजीवदूषणमुपसंहरति—तस्मादिति ।

समाधातुमुपक्रमते—अत्रेति । ननु तर्हि कल्पनागौरवमुक्तं तत्राह—सति चेति । तर्ह्येकस्याप्यनेका-
विद्याः कल्पयेन् तत्कार्यभ्रमाणां विभिन्नत्वादिति ओमित्याह—एकस्यापीति । एकजीववादिभिरप्ययमर्थो-
ऽङ्गीक्रियत इत्याह—इष्टसिद्धीति । पूर्वपक्ष्याशयमनूय दूषयति—नन्वित्यादिना । नन्वियमपि व्यव-

मार्थिकत्वे भेदभानस्यैकाविद्ययैव तत्सिद्धेरविद्यान्तरकल्पना व्यर्था । न व्यर्था । विद्वद्-
विद्वद्गुरुशिष्यबन्धमोक्षादिव्यवस्थासिद्धेरेव प्रयोजनत्वात् । एकाविद्यापक्षेपि स्वप्न इव व्यव-
स्थासिद्ध्यत्येवेति चेत् तत्किं स्वप्नकल्पकैवाविद्या जाग्रद्व्यवहारकल्पिका उतान्या । आद्ये
प्रबोधे स्वप्नकल्पकाविद्यानिवृत्तौ जाग्रद्व्यवहारोपि सर्वो निवर्तेतेति विनैव ब्रह्मविद्यां मुक्तिः
स्यात् । अनिवृत्तौ वाऽविद्यायास्तत्त्वज्ञानान्निवृत्तौ दृष्टान्ताभावादब्रह्मज्ञानादज्ञाननिवृत्तिर्न
सिध्येत् । ननु तत्त्वावभासविरोधिनोरग्रहणमिथ्याज्ञानयोः शुक्त्यादितत्त्वज्ञानान्निवृत्तेर्दृष्ट-
त्वादब्रह्मतत्त्वावभासविरोधिनोऽज्ञानस्य ब्रह्मतत्त्वज्ञानान्निवृत्तिरवगन्तुं शक्यत इति चेत्,
किमिदमनुमानमाहोस्विदर्थपत्तिरथवा दृष्टान्तदर्शनात्संभावनामात्रम् । आद्ये तेनैवा-
ज्ञानेनानैकान्तता, प्रबोधेपि तस्य निवृत्त्यनभ्युपगमात् । न द्वितीयः । ज्ञाननिवर्त्यत्वम-
न्तरेणैव तत्त्वावभासविरोधित्वस्य स्वप्नाविद्यावदुपपत्तेः । न तृतीयः । स्वप्नाविद्यावद्वैपरी-
त्यस्यापि संभवात् ।

अथ श्रुतिप्रामाण्यात् ज्ञानादज्ञाननिवृत्त्यध्यवसायः तर्हि 'भूयश्चान्ते' विश्वमाये'त्यादि-
श्रुतिप्रामाण्यादनेकान्यज्ञानानि तन्निवृत्त्यश्च क्रमेणेति स्वीक्रियताम् । द्वितीये तु तवाप्य-
नेकाविद्याकल्पनादोषस्तदवस्थः । कार्यभेददर्शनस्य तत्कल्पकस्य भावादोष इति चेत्,
तत्किं भेददर्शनं पारमार्थिकमुत न । आद्ये विरोधान्न कल्पनासिद्धिः । द्वितीये त्वेकैव
तत्सिद्धेर्व्यर्थानेकाविद्याकल्पनेति त्वदुक्ता दोषास्त्वामेवोपहन्युः । कल्पितत्वाविशेषेपि किं-
चिद्व्यावहारिकं यद्देहाद्यात्मभावादिनिवर्तकात्मसाक्षात्कारपर्यन्तमनुवर्तते किञ्चित्प्रातिभा-
सिकं यत्प्रमातृत्वादिव्यवहारे सत्येव निवर्तत इत्यवान्तरभेदसिद्धये अविद्याभेदः कल्प-
नीय इति चेत्, तर्हि—'अविद्या कल्प्यतेऽनेका जाग्रत्स्वप्नविभेदिनी । यथा तथैव क-
ल्प्यन्तामनन्ताः सति कल्पके' ॥ ६ ॥ ममापि मुक्तामुक्तादिरूपेण व्यावहारिकानन्तः

स्यैकाविद्या शब्दस्य सपादेत्याशङ्क्य स्वप्नजाग्रत्प्रतिबन्धा परिहरति—तत्किं स्वप्नेत्यादिना । ननु निवर्ततां
नाम स्वाप्नव्यवहारनिवर्तकप्रबोधेन जाग्रद्व्यवहारोपि किं नश्छिन्नमिति तत्राह—इति विनैवेति । यद्यपि
जागरावस्थाया तद्विरोधिबाधकोदयेपि तस्य न निवृत्तिः । तथापि तत्त्वज्ञानादज्ञानान्निवृत्तावस्ति दृष्टान्तान्तर-
मिति शङ्कते—ननु तत्त्वेति । तेनैवेति । स्वप्नाज्ञानेनेत्यर्थः । तस्यैव विवरणं प्रबोधेपीति । विमतं
तत्त्वज्ञाननिवर्त्यं तत्त्वावभासविरोधित्वात् संप्रतिपन्नवदिति ह्यनुमानं, तच्चेदमनैकान्तिकं जाग्रत्प्रपञ्च इत्यर्थः ।
अर्थापत्तिपक्षं दूषयति—न द्वितीय इति । तत्त्वावभासविरोधित्वं हि तत्त्वज्ञाननिवर्त्यत्वकल्पकम् । एतच्चा-
निवर्त्यत्वेऽप्युपपन्नं जागरप्रपञ्चवदित्यर्थः । स्वप्नाविद्यावदिति स्वप्नजागरकल्पकाविद्यावदिति विवक्षितम् ।
सभावनापक्षं दूषयति—न तृतीय इति । वैपरीत्येपि दृष्टान्तोऽस्तीत्यर्थः ।

न वयं युक्तिबलात्कल्पयाम येनैते दोषा प्रादुष्युः किंतु 'तरति शोकमात्मवि'दित्यादिश्रुतिबलात्तत्त्वज्ञा-
नमज्ञाननिवर्तकमित्यवगच्छाम इति शङ्कते—अथेति । परिहरति—तर्हीति । अत्र हि त्रिश्वशब्दान्माया-
बाहुल्यं पुनः शब्दपर्यायभूय शब्दात् क्रमान्निवृत्तिश्च प्रतीयत इत्यर्थः । तदेवं स्वप्नकल्पकाविद्याव्यतिरिक्ता-
विद्याकल्प्यत्वं जागरस्येति द्वितीयः पक्षः परिशेषितः । संप्रति तस्मिन् स्वप्नाम्यमाह—द्वितीये त्विति ।
उक्तौ चोद्यपरिहारौ विशदौ । ननु स्वप्नजागरयोः कल्पितत्वाविशेषेऽप्यवान्तरवैलक्षण्याद्विलक्षणाविद्यापरिक-
ल्पितत्वमिति शङ्कयित्वापि साम्यं श्लोकेनाह—अविद्येति । तर्हीति च श्लोकसोपकारः । सति कल्पक
इत्येतद्विवरणपूर्वकमुत्तरार्धं विवृणोति—ममापीति । कृतसमाधानमप्याक्षेपमनूय भङ्ग्यन्तरेण समादधाति
चि. ४८

जीवानां शुक्लवामदेवपराशरप्रभृतीनां प्रतिभासनात्तदुपपत्तये तत्तद्धेतुभूतानेकाविद्याभ्युपगमेपि न दोषः । नचाद्वैतवादिनो मानतस्तेषामभानात्, भ्रान्तिसिद्धानां चैक्यैवाविद्याया सिद्धेर्नानन्ताविद्याकल्पना युक्तेति वाच्यम् । विकल्पासहत्वात् । तर्हि तत्त्वावेदकमानस्यागम्यत्वमुत व्यावहारिकस्य । न प्रथमः । जाग्रत्स्वप्नव्यवहारभेदस्यापि तथात्वेन तवाप्यविद्याभेदस्यासिद्धेः । न चरमः । जीवभेदानामनुमानादिव्यावहारिकमानसिद्धत्वस्येष्टत्वात् । एतेन स्वप्ननिदर्शनेनैकाविद्यायैवालमिति प्रत्यवस्थानं परास्तम् । यश्चोत्पन्नविद्यास्याविद्यान्तरतत्कार्याणां भानाभानयोर्दोष उद्भाविताः स परस्यापि तुल्यः, त्वन्मते विदुषां द्वैतमाने भूमङ्गक्षेत्रब्रह्मापत्यभावप्रसङ्गात् । अभाने च 'यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणां भोगेन तदितरे क्षपयित्वाथ संपद्यत' इति सूत्रविरोधात्, अविद्यालेशस्वीकारवैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च । नचाविद्यान्तराणां तत्कार्याणां च तदविद्यात्वं तत्कल्पितत्वं चान्तरेणैव तस्य भानानुपपत्तिः । त्वदभ्युपगताविद्यान्तरतत्कार्ययोरपि पर्यनुयोगसाम्यात्स्वप्नाविद्यातत्कार्याणां जाग्रदविद्यात्वं तत्कार्यत्वं चान्तरेण भानाभ्युपगमात् ।

यच्चाविद्यान्तरतत्कार्याणामन्यदृश्यत्वे संप्रतिपन्नवत्तदविद्यात्वं तत्कार्यत्वं च स्यादिति तदपि जाग्रत्स्वप्नकल्पकाविद्याभेदेनैव व्याख्यातम्, एकपुरुषसंबन्धित्वेपि परस्परं भेदात्, अस्माभिरप्यविद्यानामेव ब्रह्मसंबन्धित्वाभ्युपगमाच्च । इन्द्रजालादिनिदर्शनं च पूर्वोक्तन्यायेन परास्तम् । परकल्पितस्य परं प्रत्यपरोक्षत्वाभावेपि परोक्षतावभाससंभवस्योक्तत्वात् । एतेन सवितृसुषिरनिदर्शनमपि परास्तम् । तत्रापि तद्वचनात्परोक्षत्वोपपत्तेः । तथापि गुरुशिष्ययोः परस्परमपरोक्षत्वाभावे कथमुपदेशः क्रियत इति चेत् । मैवम् । भूतभौतिकप्रपञ्चस्य कृत्स्नस्येश्वरमायाविनिर्मितत्वेपि सर्वापरोक्षत्वोपपत्तेः । 'यतो वा इमानि भूतानी'ति, 'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः, जन्माद्यस्य यत' इति श्रुतिसंस्मृतिसूत्रभाष्यादिभिरस्यार्थस्य प्रति-

—नचाद्वैतेत्यादिना । जाग्रत्स्वप्नेति । यत्तत्त्वावेदकमानागम्यं तदेकाविद्याकल्पिन्नमिति नापि ते व्याप्तिः, जाग्रत्स्वप्नयोर्व्यभिचारिण्यर्थः । व्यावहारिकप्रमाणगम्यत्वमसिद्धमित्याह—न चरम इति । एतेनेति । व्यावहारिकप्रमाणगम्यत्वेनेत्यर्थः । दूषणान्तरमप्यनूद्य साम्येन परिहरति—यावदधिकारमिति । आधिकारिकाणामधिकारनिर्वर्तकाना सहस्राक्षसहस्ररश्मिव्यासवसिष्ठप्रभृतीनां यावदधिकारमेवावस्थिति । अधिकारे तु परिसमाप्ते इहैव कैवल्यं प्राप्नुवन्ति तेषां जीवन्मुक्तिसाधनद्वारा ब्रह्मविद्यायाः पाक्षिकफलत्वनिरासफलमधिकरणं भोगेनेति, इतरे प्रारब्धफले पुण्यपापे भोगेन क्षपयित्वा संपद्यते विदेहकैवल्यं प्राप्नोतीत्यर्थः । यदिचप्रतिबुद्धतत्त्वस्य द्वैतमानमेव न स्यात् तदाविद्यालेशस्वीकारोपि वृथैकजीववादिनामित्याह—अविद्येति । पूर्वपक्षाशयं दूषयति—नचाविद्यान्तराणामिति । एवं वदतोऽव्यवस्थैव स्यात् त्वन्मोहादीनामप्यन्यमोहादित्वस्यैव शक्यसाधनत्वादित्यर्थः । पर्यनुयोगसाम्यमेव दर्शयति—स्वप्नेति । शक्यते हि वस्तुं जागरेपि स्वप्नत्वं दृश्यत्वात्स्वप्नवदिति । अथापि यथातयोरसंकरस्तद्वदत्रापीत्यर्थः ।

यच्चान्यदृश्यत्वे बाधकमुक्तं तदप्यनूद्य दूषयति—यच्चेति । अतिदेशमेव विशदयति—एकपुरुषेति । ननु तथापि तयोरेकदृश्यत्वादेकपुरुषसंबन्धित्वमस्त्येव तद्वद्विद्याविद्यातत्कार्याणामपि स्यादिति तत्राह—अस्माभिरपीति । एकसंबन्धित्वमस्माकमपि सिद्धमित्यर्थः । यत्त्विन्द्रजालादावप्यसाधारण्यमुक्तं तत्पश्येदिति—इन्द्रेति । पूर्वोक्तन्यायमेवाह—परेति । यश्चेन्द्रजालादेरसाधारण्ये दृष्टान्त उक्तस्तमपि दूषयति—पतेनेति । कल्पितस्यैव प्रपञ्चस्यानेकसाधारणत्वगमकश्रुत्याद्याह—यत इत्यादिना । नन्वेतेभ्यः कथं

पादितत्वात् । अन्यथा शुक्तिरजतादिवजीवाविद्यामात्रनिर्मितत्वे जगतो जीवादिकर्तृकत्व-
निरासप्रयासवैयर्थ्यात् । जीवाविद्याकल्पितत्वे चेश्वरस्य जीवानामीश्वरो नियन्तेत्यादिशु-
तिस्मृतीनामप्रामाण्यप्रसङ्गात् । एकस्य प्रपञ्चस्य बहुमोहकल्पितत्वानङ्गीकारादेव तत्रोक्तदो-
षाणां दूरपरास्तत्वात् । स्वीयस्वीयविद्यया च स्वस्वाविद्यानिर्मितकर्तृत्वभोक्तृत्वादेर्वन्धस्य स-
कारणस्य निरासेन नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावाख्यब्रह्मप्राप्तिलक्षणमुक्तेरप्युपपत्तेः । ननु स्व-
स्वाविद्येति कथं जीवनिष्ठत्वेनाविद्या व्यपदिश्यते ब्रह्माश्रयत्वादविद्यानामिति चेत्सत्यम्,
ब्रह्मसंबन्धित्वेपि तासामवच्छिन्नजीवरूपपक्षपातितया प्रतिभानात् ।

दृष्टं हि लोके मुखमात्रसंबन्धिनोपि दर्पणस्य प्रतिबिम्बपक्षपातित्वम्, दृश्यते च घट-
स्याकाशमात्रसंबन्धिनोप्यवच्छिन्नाकाशपक्षपातित्वं तस्मान्न किंचिदवद्यमिति । अपिच
—‘सूत्रभाष्यादिवाक्यानां श्रुतिस्मृतिगिरामपि । मुख्यार्थत्वोपपत्त्यर्थं व्यवस्थैवाभ्युपेय-
ताम्’ ॥ ७ ॥ एवंच सति ‘नेतरोपपत्तेस्तु न शारीरः कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च, परान्तु
तच्छ्रुतेः, कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः, यावदधिकारमवस्थितिः, परा-
भिध्यानात् तिरोहितं ततोह्यस्य बन्धविपर्ययौ प्रकाशादिवन्नैवं परः, असन्ततेश्चाव्यतिकर’
इत्येवमादीनि सूत्राणि तद्व्याख्यानपराणि भाष्याणि च सामञ्जस्येनोपपन्नार्थानि भवन्ति ।

‘तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथा ऋषीणां तथा मनुष्याणां तद्धैतत्प-
श्यन् ऋषिर्वाग्मदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवत् सूर्यश्च, तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं

साधारण्यं प्रतीयत इति तत्राह—जीवाविद्येति । यदिहि कल्पितस्य साधारण्यं न स्यात्तदाऽतत्साधारणा-
भिजैवीभिरविद्याभिः परिकल्पितं स्यात् तथाच सकलनियन्तृसाधारणपरमेश्वरकर्तृकत्वं न भवेत् तथाच त-
त्प्रतिपादकश्रुत्यादिविरोधः । यश्च सूत्रकारभाष्यकाराभ्यां जीवकर्तृकत्वनिरासप्रयासः कृतः सोपि वृथेत्यर्थः ।
दूषणान्तरं चाह—जीवाविद्येति । यस्तु बहुमोहकल्पितत्वे सत्येकमुक्तौ सर्वमुक्तिदोष उक्तस्तमनङ्गीकारेण
परिहरति—एकस्येति । ब्रह्माश्रितसकलसाधारणैकमायाविजृम्भित प्रपञ्च इत्यभिमानः । ननु प्रपञ्चस्य
जीवाविद्याविजृम्भितत्वे जीवगततत्त्वज्ञानादनिवृत्तेरनिर्माक्षापात इति तत्राह—स्वीयस्वीयेति । असा-
धारणप्रपञ्चनिवृत्त्यैव मोक्षं ननु साधारणनिवृत्त्या । विद्यमानोपि मुक्तं प्रति न भूतिः प्रविलीननिखिलकरण-
त्वादन्धं प्रतीव रूपादिरित्यर्थः । स्वस्वाविद्येति निर्देशमाक्षिप्य समादधाति—ननु स्वस्वेत्यादिना ।
अहमज्ञ इति हि प्रतीतिः, ननु ब्रह्माज्ञमिति भावः ।

ननु चिन्मात्रसंबन्धविद्याया कथं जीवपक्षपातित्वं न ब्रह्मपक्षपातित्वमिति शक्यं भक्तुं संबन्धाविशेषा-
दिति तत्राह—दृष्टं हीति । द्वेधाहि सप्रदाय —अविद्याप्रतिबिम्बितचैतन्यं जीव इति वदन् विद्यावच्छिन्नमिति
वा तत्रापक्ष उदाहरणमुक्तं, अवच्छेद उदाहरणमाह—दृश्यते चेति । इदानीं तु जीवातिरिक्तेश्वरमीश्व-
राधीनता च जीवानां तदेकता च सूत्रभाष्यश्रुतिभिः क्रमेण सावयति—अपिचेति । लोकं विवृणोति—
एवंच सतीति । इतरं शारीरः । ‘कर्मकर्तृव्यपदेशा’दिति ‘एतमित प्रेत्याभिसम्भवितास्मै’तिप्राप्तप्राप्तव्य-
तया जीवपरमेश्वरयोः कर्तृकर्मभावनिर्देशाच्च कर्माभूतो मनोमयत्वादिगुणक शाण्डिल्यविद्याप्रतिपादः शारीर
इत्यर्थः ।

ब्रह्मबद्धव्यवस्थायामपि श्रौतलिङ्गमाह—तद्यो य इति । देवानां मध्ये योयो वीप्सया चाधिकारसप्तौ
सर्वेषामपि मुक्तिः, ननु तार्किकाणामिव बद्धैकस्वभावा केचिदिति दर्शितम् । तद्वन्न प्रत्यबुध्यत प्रतिबुद्ध-

दर्शयति भगवान् सनत्कुमारो, ऽभयं वै जनकं प्राप्तोसि, एतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यः प्रवव्राज, तद्भास्यं विजिज्ञावेकशतं ह वै वर्षाणि मघवान् प्रजापतौ ब्रह्मचर्य-मुवास, भृगुर्वै वारुणिः वरुणं पितरमुपससार, स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठाभयार्थाय ज्येष्ठपुत्राय प्राहेत्येवमादिश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणवाक्यानि च मुख्यार्थं ग्रामाण्यमश्रुवी-रन् । तस्मादेकमपि ब्रह्मानेकोपाधिभिरवच्छिन्नं लब्धनानाजीवभावं तत्र बद्धमिव यत्र विद्यया अविद्योपाधिनिवृत्तिस्तत्र मुक्तमिव भवतीति नानाजीववादेऽपि बन्धमुक्तिव्य-वस्थोपपद्यत इति केचिदाचार्याः प्रतिपेदिरे ।

का पुनरविद्यानिवृत्तिः । न तावत्सती, आत्मव्यतिरिक्तत्वे तस्याः सदैवतापत्तेः । अव्य-तिरिक्ते चात्ममात्रत्वे सदानिवृत्तेः संसारानुपलब्धिप्रसङ्गात् । तन्मात्रत्वे चात्मनस्तस्या-ज्ञानजन्यतया पूर्वमभावात् अज्ञानस्य स्वातन्त्र्यप्रसङ्गात् । नाप्यसती, तुच्छत्वे शशवि-षाणादिवत् ज्ञानाधीनत्वासंभवात् । अभावत्वे च तस्य निर्वाच्यत्वे द्वैतापातात्, अनिर्वा-च्यत्वे च तत्कारणाविद्यावस्थानादनिर्मोक्षप्रसङ्गात् । भावस्याभावो निवृत्तिरभावस्य च भावः भावाभावविलक्षणस्याज्ञानस्य कथमभावो निवृत्तिः स्यात् । नाप्यनिर्वचनीया, अविद्या-

वान् । स एव तदभवत् न तु स्वर्गादिष्विव भेदेन भोगमात्रम् । एवं मनुष्यादिष्वपि । एकशतमिति । मघवानिन्द्रः । प्रजापतौ प्रजापतिसकाशे । एकोत्तरशतं वर्षाणि ब्रह्मविद्यार्थं ब्रह्मचर्यमुवास उपितवान् । स ब्रह्मविद्यामिति । स ब्रह्मा ज्येष्ठपुत्रायाथर्वाय । अथर्वशब्दोयमकारान्तः । सर्वविद्याप्रतिष्ठा ब्रह्मविद्या प्राह । स्मृतीतिहासादि बहिरेव द्रष्टव्यम् । अनेकजीववादमुपसहरति—तस्यादिति । उपाययोऽविद्या इव द्वयेन बन्धमोक्षयोरेकानेकपक्षद्वयेऽपि दुर्निरूपत्वं प्रदर्शयते उक्तं हि संप्रदायविद्धि 'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न-बद्धो न च साधकः । न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थते'ति । केचिदाचार्या मण्डनमिश्रवाचस्पतिमि-थूमतावलम्बिनः ।

सत्यज्ञानानन्तानन्दैकरसब्रह्मात्मनोऽविद्या तिरोधानं बन्धं विद्यया तन्निवृत्तिश्च मोक्ष इत्युक्तं तत्र ब्रह्म-ण्यविद्याश्रयत्वविषयत्वोपपादनेन जीवापेक्षाविद्यातिरोधानरूपबन्धविधा निरूपिता । तिरोधानेन हि तत्पूर्वविप-र्यासो विवक्ष्यते । सप्रत्यविद्यानिवृत्तिलक्षणमोक्षतत्त्वं निरूपयत्याक्षेपसमाधानाभ्या—कापुनरित्यादिना । तत्र किं सद्रूपिण्यविद्यानिवृत्तिरसद्रूपिणी वा सदसद्रूपिणी वाऽनिर्वचनीया वा पञ्चमप्रकारा वा आत्ममात्रं वा, सत्त्वपक्षेऽपि किमात्मातिरिक्तानतिरिक्ता वा । प्रथमे प्राह—आत्मेति । द्वितीये प्राह—अव्यतिरिक्तेचेति । तत्रापि वक्तव्यं किमविद्यानिवृत्तेरात्ममात्रत्वम् । आत्मनो वा निवृत्तिमात्रत्वम् । आद्ये प्राह—आत्ममात्रत्व इति । आत्मनः सदादानत्वादित्यर्थः । द्वितीयं दूषयति—तन्मात्रेति । अविद्यानिवृत्तेस्तात्कालिकतया तन्मात्रा-त्मनोऽपि तात्कालिकत्वेन पूर्वमभावादज्ञानस्य साख्यप्रकृतिवत्स्वातन्त्र्यं स्यादाश्रयाभावात् आत्मनित्यत्वादयश्च बहवः कुप्येरन्निति भावः । असत्त्वपक्षं दूषयति—नापीति । तत्रापि किं निरुपाख्यमसत्त्वेनाभिप्रेयते यथा शशविषाणादि किंवा सोपाख्यं यथा घटाभावादि । आद्ये प्राह—तुच्छत्व इति । नह्युत्पत्तिस्तस्य संभव-तीत्यर्थः । द्वितीये प्राह—अभावत्वेति । तत्रापि किं निर्वाच्यमिति पक्षः यथा तार्किकप्रश्नतीनामुतानि-र्वाच्यमिति यथा भवन्नये शुक्तिरजतादि । उभयत्रापि क्रमेण दूषणमाह—तस्य निर्वाच्यत्व इत्यादिना । तत्कारणेति । अविद्याकल्पिते ह्यनिर्वाच्यं नाम तथाच कार्यानिर्वाच्यस्थितौ तदुपादानेनापि स्थातव्यमि-त्यर्थः । नच भावाभावविलक्षणाविद्यायां निवृत्तिरभाव इत्यपि युक्तिसहमित्याह—भावस्येति । भावानि-वृत्तेरेवाभावत्वमभावनिवृत्तेस्तु भावत्वं प्रसिद्धं तदुभयविलक्षणाविद्यानिवृत्तिः कथमभावः स्यात् । एतच्च

तत्कार्ययोरन्यतरत्वापातात् । नचाविद्यातत्कार्ययोरन्यतरत्वे निवृत्तिमत्त्वमुपाधिः । अनिर्वचनीयत्वेन निवृत्तिमत्त्वस्यापि साधनात् । नच निवृत्तेर्निवृत्तिमत्त्वेऽनवस्था । निवृत्तिमत्प्रध्वंसपक्षे प्रध्वंसमालावदुपपत्तेः । प्रध्वंसप्रध्वंस इव प्रतियोगिनो बन्धस्यानुन्मज्जनादेवापुनरावृत्तिश्चुतेरप्यव्याकोपात् । तस्मादनिर्वचनीयत्वे अविद्यातत्कार्ययोरन्यतरत्वं प्रसज्यत एव । नापि पञ्चमप्रकारा सदसद्विलक्षणतया तस्या अप्यनिर्वचनीयत्वप्रसङ्गात्,

सदसद्विलक्षणमनिर्वचनीयमिति लक्षणाङ्गीकारात् । ननु नेदं लक्षणं किंतु ज्ञाननिवर्त्यमनिर्वचनीयम्, नचाज्ञाननिवृत्तिर्ज्ञाननिवर्त्या, ज्ञानजन्यत्वात् । ज्ञानानिवर्त्यापि च सा बाधगोचराऽतो न प्रपञ्चमिध्यात्वसाधनं सव्यभिचारम् 'नेह नानास्ति किंचने'ति प्रतिपन्नोपाधौ निषेधात्मबाधोऽज्ञाननिवृत्तेरपि तुल्य इति चेत् । मैवम् । अज्ञाननिवृत्तेर्ब्रह्मज्ञानरूपतया तज्जन्यत्वाभावात्, 'ज्ञातोऽर्थस्तज्ज्ञप्तिर्वाऽज्ञानहानि'रितिष्टसिद्धिकारैरभिधानात्, 'विद्यैव वाद्वया शान्ता तदस्तमय उच्यते' इति ब्रह्मसिद्धिकारैरप्युक्तत्वात्, ज्ञानजन्यसंस्कारे च ज्ञाननिवर्त्ये व्यभिचारात् । ननु तत्र ज्ञानान्तरेण ज्ञानान्तरजन्यसंस्कारो निवर्तते ननु तेनैवेति वैषम्यमिति चेत् । मैवम् । ईश्वरज्ञानजन्यस्य जगत्सत्त्वज्ञानेनैव निवर्त्यत्वाङ्गीकारात्, उत्पाद्य घटं नाशयिष्यामि इत्यभिसंधानस्थले कुलालज्ञानजन्यघटस्य

भावत्वेपि तुल्यम् । एतेन सदसद्रूपपक्षोपि प्रतिक्षिप्तः, अविद्यायाः सदसद्रूपत्वे हि तन्निवृत्ते. सदसद्रूपता स्यात् । अनिर्वचनीयपक्षं दूषयति—**नापीति** । ननु नानिर्वचनीयत्वस्याविद्यातत्कार्यत्वेन प्रतिबन्धः, निवृत्तिमत्त्वस्य तत्प्रयोजकत्वात् । नच निवृत्तेर्निवृत्तिमत्त्वमस्ति अनवस्थानादपुनरावृत्तित्वव्याकोपाच्च । अतो निवृत्तिमत्त्वं व्यावर्तमानमविद्यातत्कार्यन्यतरत्वमप्यतो व्यावर्तयतीत्यनन्दबोधाचार्येण दूषयति—**नचाविद्येति** । साधनव्यापकत्वादनुपाधिरित्यर्थः । तत्र च बाधकं परिहरति—**नच निवृत्तेरिति** । यथाहि प्रध्वंसध्वंसवादिनामनवस्था न दोष एवमित्यर्थः । अपुनरावृत्तित्वविरोधं परिहरति—**प्रध्वंसप्रध्वंस इति** । यथाह्युत्तरोत्तरं संसाराणामपि प्रथमपदार्थविरोधितया तथाऽनुन्मज्जनं तथाऽविद्यानिवृत्तिमालायाश्चापि प्राचीनाविद्याविरोधित्वादेव तदनुन्मज्जनादपुनरावृत्त्यविरोध इत्यर्थः । पञ्चमपक्षं दूषयति—**नापीति** ।

अथ सदसद्विलक्षणत्वेपि किमित्यनिर्वाच्यता तत्राह—**सदसदिति** । तत्र यत्किञ्च न्यायरत्नावलीकारैस्तदुद्भावयति दूषयितुं—**ननु नेदमित्यादिना** । नन्विदमपि ज्ञाननिवर्त्येव तत्राह—**नचेति** । स्यादेतत् । एवंविधाप्यविद्यानिवृत्तिर्दृश्या तावदभ्युपेयते आत्मव्यतिरिक्तत्वात्तथाच यदि नेयं ज्ञाननिवर्त्या तर्हि दृश्यत्वहेतुरत्रैवानैकान्तिकमिति तत्राह—**ज्ञानानिवर्त्यापीति** । ज्ञाननिवर्त्यत्वमन्यत् ज्ञानबाध्यत्वं चान्यदित्यभिमानः । अथ कथं बाध्यत्वमस्या इति तत्राह—**नेह नानेति** । तदेतदूषयति—**मैवमिति** । नहि विरोध्युद्यमन्तरेण विरोधनिवृत्तिर्नामान्या दृश्यते युज्यते वेत्यर्थः । अत्राचार्यसमतिमुप्याह—**ज्ञातोर्थे इति** । मण्डनमिश्रसमतिमुप्याह—**विद्यैवेति** । तदस्तमयः अविद्यास्तमयः । किञ्च किञ्चात्युपाधाविषयं व्याप्तिर्यज्ज्ञानजातीयजन्यं तत्तज्जातीयेन न निवर्त्यत इति, किञ्च व्यक्तौ । आद्ये व्यभिचारमाह—**ज्ञानजन्येति** । द्वितीयमुद्भावयति—**ननु तत्रेति** । अत्रापि व्यभिचारमाह—**मैवमीश्वरेति** । जगत्संहारेपि सृष्टिवदीश्वरज्ञानं निमित्तमेवेति भावः । अथाप्यनीश्वरज्ञान एवेयं नियतिरिति ब्रूयात् तर्हि तत्रापि व्यभिचारमाह—**उत्पाद्य घटमिति** । एकं हीदं ज्ञानं यदुत्पाद्य नाशयिष्यामीति भावः । यच्च ज्ञाननिवर्त्यत्वज्ञानबाधयोर्भेदमादाय दृश्यत्वहेतोरनैकान्तिकतावारणं तदप्यत्रात्, ज्ञाननिवर्त्यत्वातिरिक्तस्य ज्ञानबाध्यत्वस्यानिरूपणादि-

तेनैव ज्ञानेन निवर्त्यत्वदर्शनाच्च । अज्ञाननिवृत्तेश्च ज्ञानानिवर्त्यत्वे प्रपञ्चमिध्यात्वसध-
नस्य तत्र व्यभिचारात् । ज्ञानानिवर्त्यत्वेपि बाध्यत्वात् न व्यभिचार इति चेत् । न ।
ज्ञाननिवर्त्यत्वमन्तरेण बाध्यत्वस्यानिरूपणात् । सविलासाज्ञाननिवृत्तिर्बाध इत्यङ्गीकर-
णात् । नाप्यात्मैवाज्ञाननिवृत्तिः, आत्मनः सदातनत्वेनाज्ञाननिवृत्तेरपि तथात्वे संसारा-
भावप्रसङ्गात् । आत्मनस्तत्त्वज्ञानसाध्यत्वप्रसङ्गाच्च । ज्ञात आत्मा अज्ञाननिवृत्तिर्न स्वरूपेणै-
वेति चेत् । न । ज्ञानस्य विशेषणत्वे नित्यत्वे च मोक्षदशायामपि अन्तःकरणादेरवस्थान-
प्रसङ्गात् । अनित्यत्वे चाज्ञाननिवृत्तिरूपाया मुक्तेरप्यनित्यत्वापातात् । नच ज्ञानोपलक्षित
एवात्माऽज्ञाननिवृत्तिः । उपलक्षितत्वस्य नित्यत्वानित्यत्वयोः प्राचीनदोषानुपङ्गात् । तस्मा-
न्नाज्ञाननिवृत्तिरूपपन्नेति । अत्रोच्यते—‘निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः । उप-
लक्षणनाशेपि नित्यमुक्तिः पाचकादिवत्’ ॥ ८ ॥ यथा लोके सकारणस्य कलधौतवि-
भ्रमस्य ज्ञाता शुक्तिरेव निवृत्तिः । नच तत्रापि नेदं रजतमित्यन्योन्याभावज्ञानं तन्नि-
वर्तकमिति युक्तम् । अपरिज्ञाते शुक्तिशकले धर्मिप्रतियोगिसव्यपेक्षस्य तस्यैवासंभवात् ।
परिज्ञाते तु तेनैव तदुपपत्तावितरस्य कृष्णकरस्य वैयर्थ्यात् । इदमाकारपरिज्ञानस्य च
भ्रान्तौ विद्यमानस्य तदविरोधात् । तथेहाप्यनृतजडदुःखानात्मद्वैतविरोधिसत्यज्ञानान-
न्दानन्ताद्वयलक्षणं ब्रह्मैव वेदान्तवाक्यजनितब्रह्मैकाकारान्तःकरणपरिणामदर्पणप्रतिबि-
म्बितं सविलासाज्ञाननिवृत्तिरिति युक्तमभ्युपगन्तुम् । नच ज्ञाततालक्षणोपलक्षणनाशे

त्याह—अज्ञानेत्यादिना । अपसिद्धान्तश्चेत्याह—सविलासेति । षष्ठं पक्षं दूषयति—नाप्यात्मैवेति ।
आत्मनित्यत्वव्याहतिश्चेत्याह—आत्मन इति । ज्ञानस्य विशेषणत्व इति । ज्ञात आत्मेत्यत्र वृत्तिरूपं
तावज्ज्ञानं वक्तव्यं स्वरूपज्ञानं प्रति कर्मत्वाभावात्तत्तश्च तद्यदिविशेषणं नित्यं च तदा जन्यस्य कथं नित्यत्वमि-
त्यास्ता तावत् । सन्तानरूपेण चैन्नित्यत्वं तथापि शक्ताकारणान्त करणादेरवस्थानान्न संसारतो विशेष स्यादि-
त्यर्थः । अथैतद्दोषभयादनित्यमेवाङ्गीक्रियते तर्ह्यपुनरावृत्तित्वव्याकोप इत्याह—अनित्यत्वे चेति । ननु
ज्ञानोपलक्षितात्मरूपमविर्द्धनिवृत्तिस्तेन विशेषणपक्षप्रयुक्तदोषद्वयनिवृत्तिरिति तत्राह—नच ज्ञानेति अत्रा-
प्युपलक्षितत्वधर्ममादाय दूषणद्वयं सुवचमित्यर्थः । पूर्वपक्षमुपसंहरति—तस्मादिति । आत्मैवाज्ञानहानि-
रिति पक्षं परिगृह्णुपपादयति—उपलक्षणेति । यथाहि लोके पचनलवनादिक्रियानिवृत्तावपि देवदत्त-
पाचको लावक इति प्रतीयते व्यवहियते तथेहाप्युपलक्षणज्ञातत्वनाशेपि मुक्तिः स्यादिति । श्लोकार्थं विवृ-
णोति—यथालोकः इति । कलधौतं रजतम् । ननु न शुक्तिज्ञानं रजतविभ्रमनिवर्तकं येन ज्ञातशुक्तिरेव
तन्निवृत्तिः स्यादपि न नेदं रजतमित्यन्योन्याभावज्ञानं तथाच ज्ञातान्योन्याभाव एवान्यद्वा तन्निवृत्तिरिति
कथमधिष्ठानमात्रत्वं तन्निवृत्तेरिति तत्राह—नच तत्रापितीति । कुतो न युक्तमित्यत आह—अपरिज्ञात
इति । धर्मितया प्रतियोगितया वा अधिष्ठानस्य पूर्वभावित्वात्तेनैव च तदारोपनिवृत्तेः ससर्गमात्रारोपस्य
चाधस्तादेव निरस्तत्वादन्योन्याभावज्ञानमर्थसिद्धानुवाद इत्यर्थः । नन्विदमाकारं ज्ञानमेवान्योन्याभावज्ञान-
जनकं न शुक्तिज्ञानम् अतो न कृतकरत्वमिति तत्राह—इदमिति । तदविरोधात् भ्रान्त्यविरोधात्तज्जनकत्वं
न संभवतीति शेषः । इममेव न्यायं प्रकृतस्थलेपि योजयति—तथेहापीति । अनन्तेति चानात्मत्वविरुद्धा-
कारनिर्देशः । अप्रत्यग्भूतं हि वस्तुतः परिच्छिन्नं भवेदिति उत्तरार्धं विवृणोति—नच ज्ञातेति । ये त्वमं

त्वेन घटितस्य मुक्तस्याभावप्रसङ्गः पाचकादिवदवस्थानोपपत्तेः । नहि लोके पचनेल-
वनादिक्रियायामतिवृत्तायां देवदत्तः पाचको लावको न भवति न वा तथा व्यवह्रियते ।
एतेनाज्ञाननिवृत्तेरनित्यत्वे पुनरज्ञानस्य संसारस्य चोन्मज्जनापत्तिरित्यादयो दोषाः प्रत्यु-
दस्ताः । शुक्तिशिलादौ ज्ञाननाशेन ज्ञातत्वोपलक्षणनाशेऽपि निवृत्तस्याज्ञानस्य तद्विलासस्य
वा पुनरुन्मज्जनादर्शनात्, पुनरुद्भवतो रजतादिविभ्रमस्याज्ञानान्तराधीनत्वान्, यावन्ति
ज्ञानानि तावन्ति संनिवर्त्यान्यज्ञानानीत्यभ्युपगमात् । इह च 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृ-
त्तिरिति' श्रुतेरशेषाज्ञाननिरासात् पुनः संसारशङ्कातङ्कानवकाशात् ।

तस्मात् 'विगीताज्ञानहानिः स्यात् ज्ञाताधिष्ठानमात्रकम् । तत्त्वाद्यदित्थं तृत्तादृग्यथा-
शुक्त्यादिकं मितम्' ॥ ९ ॥ एवं सति 'यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः, यत्र-
त्वस्य सर्वमात्मैवाभू'दित्याद्याः श्रुतयः सर्वस्य द्वैतजातस्यात्ममात्रतया प्रविलयमुपपादयन्त्यो
मुख्यार्थतामश्रुवीरन् । इतरथा निर्वचनीयस्य पञ्चमप्रकारस्य वा अज्ञाननिवृत्तिरूपस्या-
ङ्गीकारे संसारदृश्यामिव केवलसमात्ररूपेणावस्थानासंभवादुदाहृताः श्रुतय उपचरि-
न्नार्थाः कदाचित् स्युः । तस्मादुत्पन्नास्मिन्नज्ञानस्य ज्ञात आत्मैव सविलासाज्ञाननिवृत्तिरि-
ति स्थितम् ।

ननु ज्ञात आत्मैव चेत्सविलासाज्ञाननिवृत्तिस्तदोत्पन्नविज्ञानस्य शरीरादिप्रतिभासानु-

पक्षं दोषबहुलतया मलीमस मन्यमाना. ग्राहु, अत्रकेचित्परिहारकावुरतया परिहारमाचक्षते—'आत्मैवा-
ज्ञानहानिरिति' । तेषामनुशयमुन्मूलयति—एतेनेति । एतेनेत्येदं द्विशदयति—शुक्तीति । ज्ञानत्ववि-
शिष्टपक्षपरित्यागादेव तत्प्रयुक्तदोषशान्ते पञ्चमप्रकारे च प्रमाणाभावात्परिशेषस्य चैतेनैवोत्पत्तेरनुत्थान-
दिति भावः । ननु पुनरपि तत्रैव विभ्रमदर्शनादुन्मज्जनमस्त्येवेति तत्राह—पुनरुद्भवत इति । नन्वेक-
मेवाज्ञानमिति तत्राह—यावन्तीति । अज्ञा वा प्रदेशा वा अवयवा वस्तुतत्त्वाङ्गीक्रियन्त इति न तस्यै-
वोन्मज्जनमिति भावः । नन्वत्रापि संसारान्तरस्याज्ञानान्तरस्य पुनरुद्भवोस्त्विति तत्राह—इह चेति ।
आतङ्को भयम् ।

ननु भवत्वेवं सभावना किं पुनरत्र प्रमाणमिति तदाह श्लोकेन—विगीतेति । लौकिकं विभ्रमनिवृ-
त्त्यर्थान्तरतापरिहाराय विगीतग्रहणम् । तत्त्वान् अज्ञानहानित्वात् । यथा शुक्त्यादिकमिति तदज्ञानमि-
वृत्तेरुपलक्षणम्, शुक्त्यादिमात्राज्ञाननिवृत्तिर्यथेत्यर्थः । एवमनुग्राहकतर्कस्थलीयानुमानमुक्त्वानुग्राह्यभागम-
याह—एवं सतीति । विजानत पुंसो यस्यामवस्थाया सर्वाणि भूतानि भवन्तीति भूतानि कार्यमात्रम्
आत्मैवाभूत्तत्र तस्यामवस्थाया को मोह क. शोक इति श्रुत्यर्थः । यदि हि पञ्चमप्रकारः स्यात् तदा कथ-
मात्मैवात्मव्यतिरिक्तं समस्तं वस्त्वभूदिति निर्दिश्येत । अथ तस्याप्यारोपितत्वाद्वास्तुदृष्टेर्नीतिमात्रत्वं तत्कि-
मनिर्वचनीया अथ च पञ्चमप्रकारेतिव्याहतं वक्तुमारब्धम्, एवं 'यत्रत्वस्ये'त्यादावपि कदर्थिता उद्विजिताः
पीडिता इति यावत् । वादार्थमुपसंहरति—तस्मादिति ।

तदेवमविद्यानिवृत्तिर्मुक्तिरित्ययमर्थ उपपादितः, इदानीं तत्रैव जीवन्मुक्तिलक्षणान्तरविशेषमुपपादयति
मुक्तिसिद्धये । तथाहि—ज्ञानं ह्यविद्यानिवर्तकं तच्च तदुदयसमसमयमेव भवितुमर्हति अविबिलक्षणत्वेन
कालान्तरफलत्वाभावात्, शुक्त्यादितत्त्वज्ञानेषु समसमयतादर्शनाच्च । तदिह यदि जीवति ज्ञानमुत्पन्नमप्य-
विद्या न निवर्तयेत् का वार्ता कालान्तरे तन्निवर्तते जीवत एव च ज्ञानोत्पत्तिः । इतरथा तदुत्पादककेरणा-

वृत्तिर्न स्यात् । नचाविद्यालेशात् तदनुवृत्तिः, निवर्तकतत्त्वज्ञानोदये तल्लेशस्यापि निवृत्तेः । प्रारब्धकर्मणा प्रतिबद्धं तत्त्वज्ञानं शरीरादिप्रतिभासहेतुमविद्यालेशं न निवर्तयतीति चेत् । मैवम् । कर्मणोऽप्यविद्याकार्यतया तन्निवृत्तौ तन्निवृत्तेः, अनिवृत्तौ च कर्मणस्तत्कार्यस्य च शरीरादेः सत्यत्वप्रसङ्गात् । ‘क्षीयन्ते चास्य कर्माणी’त्यवशेषेणाशेषकर्मणां ज्ञानात् प्रक्षयश्रवणाच्च । नच ‘तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्षयेऽथ संपत्स्य’ इति विदुषो देहयातावधिश्रवणात् प्रारब्धकर्मव्यतिरिक्तकर्मविषयैषा श्रुतिरिति वाच्यम् । तस्याः परोक्षज्ञानविषयत्वात् ।

ननु ‘उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः’ इत्यपरोक्षज्ञानिन एवोपदेष्टृत्वं दर्शयन्नीश्वरस्तत्त्वदर्शिनामपि शरीरादेस्तद्धेतूनां च कर्मणामवस्थानं सूचयतीति चेन्मैवम् । ज्ञानिन इति परोक्षनिश्चयवतस्तत्त्वदर्शिन इति च तत्त्वदर्शनाभ्यासशीलस्य तत्र प्रतिपादितत्वात् । न चापरोक्षे परोक्षज्ञानविभ्रमः, स्वात्मनि स्वसुखादौ च परकीयानुमानादिज्ञानस्याविभ्रमत्वात् ।

भावेनानुत्पत्तिप्रसङ्गात्तद्यदि मुक्तिरस्ति अस्त्येव जीवन्मुक्तिः । अथ यदि न जीवन्मुक्तिः, तर्हि मुक्तिरिति मुक्तिसिद्ध्यर्थमेवाय विचार विद्यासंप्रदायान्निवृत्तिमतिरथा हि तत्त्वविद सद्यः शरीरपाते शिष्यावप्रतिपादयत्साक्षात्कृततत्त्वस्य चानुपदेष्टृत्वाद्विहीनसंप्रदायतयाऽनिर्मेक्ष एव पर्यवस्येत् । तदुक्तमाचार्यैर्जीवन्मुक्तिप्रकरणे—‘जीवन्मुक्तोस्ति मुक्तिर्यदी’त्यादिना । तत्र तावज्जीवनमुक्तिमाक्षिपति—**नन्वित्यादिना** । अयमर्थः—यद्यात्मातिरिक्ता स्यादविद्यानिवृत्तिस्तदा देहपातानन्तरमपि शक्यसमावनया स्याद्विदुषः शरीरादिप्रतिभासः, यदा तु ज्ञानोपलक्षितात्मैवेति समर्थते तदोपलक्षितात्मन सदातनत्वादुपलक्षणतत्त्वबन्धयोः सतोरुपलक्षणतुल्यनिवृत्तेर्निवृत्तैवाविद्येति वचनीय, तथाच तदा कोडितस्थूलसूक्ष्मकलेवरयुगलविलयाच्छिष्यादिप्रतिभासाभाव इति भावः । नन्वविद्याया कश्चिदेकदेशोऽस्ति ज्ञानेनाप्यनिवर्त्य तन्निबन्धनोऽयं शरीरादिप्रतिभास इति चेत्—**नचेति** । नहि समस्ताविद्याविनोदिविज्ञानमेकदेशोऽसमर्थमिति समवतीत्यर्थः । समर्थस्यापि प्रतिबन्धं शङ्कते—**प्रारब्धेति** । यदि हि प्रारब्धकर्मण स्थितिरेव स्यात्स्यात्तदा कारणवशपरिरक्षणं तदेव हि नास्तीति परिहरति—**मैवं कर्मण इति । सत्यत्वप्रसङ्गादिति** । ज्ञानवाध्यत्व हि मिथ्यात्वमिति भावः । ननु कर्माणि क्षीयन्ते इति सामान्यवचनमिदम् । अस्तिचापराश्रुतिस्तस्य तावदेव चिरमिति विदुषोऽपि शरीरातावधि दूश्यन्ती तथा चैतदनुसारेण प्रारब्धकर्मव्यतिरिक्तकर्मविषये सा व्यवस्थापनीयेति चेत्—**नच तस्य तावदेवेति** । नेयं श्रुतिरपरोक्षज्ञानविषया येन तदेकदेशविषयतया ता सकोचयेदपि तु परोक्षज्ञानविषयेति विरोधश्चैव नास्तीत्याह—**तस्या इति** ।

स्मृतिवलाज्जीवन्मुक्तिः शङ्कयित्वा दूषयति—**नन्वित्यादिना** । स्यादेतत्—भवतु परोक्षज्ञानविषयो ज्ञानिन इति निर्देशः तत्त्वदर्शिन इति कथं तेषु सङ्गत स्यात्, साक्षात्कारो हि दर्शनं नाम तस्मादेतदेव तत्त्वसाक्षात्कारिणां शरीरादिप्रतिभासे प्रमाणमिति तत्राह—**तत्त्वदर्शिन इति चेति** । अत्र हि तत्त्वं द्रष्टुं शीलमेवामिति ताच्छील्ये णिनिप्रत्ययविधानात्तत्त्वदर्शनाभ्यासशीला प्रतीयन्ते । नचापरोक्षज्ञानोदयेऽभ्यासावसर तदर्थोदात्तस्य । तस्मात्परोक्षज्ञानाभ्यासशीलिन इह विवक्षिताः । अतएव तत्समभिव्याहृतज्ञानशब्दोऽपि परोक्षज्ञानविषय इत्यर्थः । ननु परोक्षज्ञानशीलिना तत्त्वदर्शित्वमनुपपन्नम्, अपरोक्षे परोक्षज्ञानस्यायथार्थतया विभ्रमत्वादित्यत्राह—**नचापरोक्ष इति** । स्वात्मा स्वसुखादि च स्वस्य तावदपरोक्षे इतरेषां च तत्रानुमानाच्छब्दाद्वा परोक्षज्ञानमुत्पद्यते नच तद्भ्रान्तम् । अवितथार्थत्वादितरथा प्रतिपाद्याप्रसङ्गात् कथाऽप्रवृत्त्याद्यापात इति भावः ।

कश्चायमेविद्यालेशः किमविद्याया एकदेशः किंवा तदाकारान्तरम् । नाद्यः । अविद्यायाः घटादिवत्सावयवत्वानङ्गीकारात् । नापि द्वितीयः । स्वाकारिनिवृत्तौ तदाकारावस्थानानुपपत्तेः । अस्तु तर्हि संस्कारादेव द्वैतप्रतिभासानुवृत्तिः विनिवृत्तसर्पविभ्रमस्यापि संस्काराद्भयकम्पाद्यनुवृत्तिदर्शनात् । 'तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमवद्धृतशरीर' इति च तन्त्रान्तरेऽप्यभिधानादिति चेन्मैवम् । तस्याप्यविद्याकार्यत्वात्तन्निवृत्तौ तन्निवृत्तेः । अतथात्वे वा सत्त्वे द्वैतसत्यत्वापत्तेः, मिथ्यात्वे च भावरूपकार्यस्योपादानमन्तरेणानुपपत्तेः, निराश्रयत्वानुपपत्तेश्च । नचात्मैवाश्रयः, निरविद्यासंगस्य स्वतः कार्याश्रयत्वानुपपत्तेः । नच स्थितप्रज्ञगुणातीतलक्षणानां जीवन्मुक्तविषयत्वम्, साधकस्यैवावस्थाविशेषं प्राप्स्य तत्राभिधानात् अतो न जीवन्मुक्तिर्युक्तिमतीति ।

अत्र वदामः—'अविद्यालेशशब्देन मोहाकारान्तरोक्तिः । ज्ञानस्य प्रतिबन्धाच्च प्रबलारब्धकर्मभिः' ॥ १० ॥ लेशानुवृत्तौ तज्जन्यकर्मादेरनुवृत्तिः । उत्पन्नात्मावबोधस्य जीवन्मुक्तिः प्रसिध्यति ॥ ११ ॥ एव हि न्यायसुधायामारब्धपादैरूपपादितं संसारमूलकारणभूताविद्या यद्यप्येकैव तथापि तस्याः सन्त्येव बहवः आकारास्तत्रैकः प्रपञ्चस्य परमार्थसत्त्वभ्रमहेतुर्द्वितीयोऽर्थक्रियासमर्थवस्तुकल्पकः तृतीयस्त्वपरोक्षप्रतिभासविषयाकारकल्पकः तत्राद्वैतसत्यत्वाध्यवसायेन समस्तद्वैतसत्यत्वकल्पकाकारो निवर्तते । अर्थक्रियासमर्थप्रपञ्चोपादानमायाकारस्तत्त्वसाक्षात्कारेण विलीयते । अपरोक्षप्रतिभासयोग्यार्था-

एवमविद्यालेशस्थितिरनुपपन्नेत्युक्तम्, इदानीं लेश एवाविद्याया दुर्निरूप इत्याह—कश्चायमिति । अनङ्गीकारादिति । न निरवयवं न मावयवमित्यङ्गीकारात् अद्वयत्वादानादितयावयवानारब्धत्वाच्चेत्यर्थः । मण्डनमिश्रमतमुद्रावयति—अस्तु तर्हि । दृष्टचर चैतदित्याह—विनिवृत्तेति । साध्यसमतिमप्याह—तिष्ठतीति । तदेव दूषयति—मैवमिति । अतथात्व इति । अविद्यानधीनतया अनिवृत्तावित्यर्थः । नन्वविद्याजन्यत्वाभावेपि मिथ्यात्वान्नाद्वैतव्याघात इति तत्राह—मिथ्यात्व इति । भावरूपेभ्यभावक्रिक्षणेत्यर्थः । इदं च प्रवृत्तिसन्निवृत्त्यर्थम् । दूषणान्तरमाह—निराश्रयत्वेति । ननु किमिति निराश्रयतायावता अविद्यासंस्कारस्याप्यविद्याश्रयभूतात्मैवाश्रय संस्काराध्यक्षकसंस्कारयोरेकाश्रयत्वनियमादिति तत्राह—नचात्मैवेति । यथा निरवयवस्यैवाविद्याश्रयत्व तद्वत्संस्काराश्रयत्वं किं न स्यादित्यत आह—कार्येति । अपरिणामित्वादिति भावः । ननु स्थितप्रज्ञलक्षणपरासु गीतासु 'दु खेष्वनुद्विग्नमनाः दु खेषु विगतस्पृह' इत्यादिना तत्त्वसाक्षात्कारिणोपि दु खानुद्वेगं दर्शयति । इतरथा कानुद्वेगं कुर्यात् तथा चतुर्दशाध्यायेपि गुणातीतलक्षणेषु 'प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव । न द्वेष्टि सप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥ तुल्यप्रियाप्रिय' इत्यादिना प्रीत्यादिप्रतिभासोऽवसीयते इति तत्राह—नच स्थितेति । तत्र तावदनुष्ठापकत्वाच्चनस्यैतेषा सपादनपरं शास्त्रं तथाच साधक एवैवंगुणको भवेदित्युच्यते, अथवा अपरोक्षज्ञानादर्वागेव काञ्चिद्वृत्त्यमवस्थां प्राप्नोत्र विवक्ष्यते सर्वथापि न जीवन्मुक्तलिङ्गत्वमित्यर्थः ।

समाधत्ते—अत्रेति । राद्धान्तहृदयं श्लोकाभ्या सगृह्णाति सुखप्रतिपत्त्यर्थम्—अविद्येति । पूर्वार्धेनाविद्यालेशं विशदयति तस्य च ज्ञानोदयेपि स्थितिमुत्तरार्धेन समर्थयते उत्तरश्लोकेन च फलितमाह—लेशेति । अपसिद्धान्तशङ्कानिवृत्त्यै गुरुसंप्रदायप्रदर्शनपूर्वकमविद्याया आकारानाकारिनिवृत्तावाकारस्थितिं च दर्शयन् प्रथमार्धं विवृणोति—एवं हीत्यादिना । आराध्यपादा स्वगुरवः ज्ञानसिद्धिकाराः । पादशब्दश्च पूजार्थस्तत्प्रणीतं च वेदान्तप्रकरणं न्यायसुधा । अपरोक्षेति । अपरोक्षप्रतिभासविषयभूतो य आकारः

भासजनकस्तु मायालेशो जीवन्मुक्तस्यानिवृत्तः समाध्यवस्थायां तिरोहितोऽन्यदा देवा-
भासजगदाभासहेतुतयानुवर्तते । प्रारब्धकर्मफलोपभोगावसाने तु निवर्तते । श्रुतिरपि
'इन्द्रोमायाभिः पुरुरूपईयत' इत्याद्या मायां विविधाकारां दर्शयति । नच लेशस्यापि विरो-
धितत्त्वज्ञानोदयान्निवृत्तिः किं नस्यादिति वाच्यम् । प्रबलैः प्रारब्धकर्मभिर्ज्ञानस्य प्रतिब-
द्धत्वात् । तथाहि—विद्यार्थानि कर्माणि कर्मान्तरारब्धशरीरे फलं जनयन्ति अन्यथा
ज्ञानार्थानामपि कर्मणां भोगार्थत्वप्रसङ्गात् । तथाच शरीरारम्भककर्माण्युपजीव्य ज्ञाना-
र्थानि कर्माणि तदविरोधेन स्वफलं प्रयच्छन्तीति युक्तम् । तथाच तैः प्रतिबद्धशक्तित्वा-
त्तत्त्वज्ञानमविद्यालेशं न निवर्तयति ।

नच कर्मणामप्यविद्याकार्यत्वम् तन्निवृत्तौ निवृत्तिः तज्जनकाविद्यालेशस्यानिवृत्तेः ।
नन्वेवं सतीतरेतराश्रयत्वं तत्त्वज्ञानशक्तिप्रतिबन्धकर्मणामवस्थानादविद्यालेशानुवृत्तिः तद-
नुवृत्तौ च कर्मणामनुवृत्तिरिति, मैवम् । 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति'रित्यत्र भूयोनिवृ-
त्तिरिति विशेषणादुभयविधमायाकारनिवृत्तेराकारान्तरानुवृत्तेश्च मानान्तरेणाधिगमात्,
प्रतीतावितरेतराश्रयत्वाभावात् । 'अन्ते विश्वमायानिवृत्ति'रिति च श्रवणात् । प्रारब्धफ-
लकर्मलक्षणस्य विद्याशक्तिप्रतिबन्धकस्य फलोपभोगेन निवृत्तौ प्रतिबन्धाभावे तत्त्वज्ञा-
नान्निरोधपाविद्यानिवृत्तिरिति प्रतीतेश्च ।

पारमार्थिकत्वार्थक्रियासामर्थ्यरहिततया ज्ञातस्यापि प्रपञ्चस्य शुक्तिरजतादिवत्तत्समर्थकस्तृतीय आकार इत्यर्थः ।
एतेषां च क्रमेण निवर्तकज्ञानशरीराणि दर्शयति—तत्रेत्यादिना । तत्त्वसाक्षात्कारेणेति + अद्वैतात्म-
वस्तुसाक्षात्कारेणेत्यर्थः । ननु यदि साक्षात्कारे जातेषु जीवन्मुक्तस्य समाध्यवस्थायां तिरोहितोऽन्यदा
चोद्बुद्धो वर्तते कश्चिद्भूतः केन तर्हि तस्य निवृत्तिस्तत्राह—प्रारब्धेति । उक्तार्थे श्रुतिमपि प्रमाणयति—
श्रुतिरपीति । इन्द्र परमेश्वरः । इदं परमेश्वर्ये इति भैमसेनिस्मृते । आदिशब्देन 'भूयश्चान्ते विश्वमाया-
निवृत्ति'रित्याद्या गृह्यन्ते । 'माया तु प्रकृति'मित्यादावेकत्वेन प्रतिपादितमायायां मायाभिरित्यादिबहुत्वा-
भिधानुमाकारभेद एव घटत इति भावः । उत्तरार्थं व्याचष्टे—नच लेशस्यापीत्यादिना । इदानीं प्रार-
ब्धकर्मणा ज्ञानापेक्षया प्राबल्यमुपजीव्यतयोपपादयति—तथाहीत्यादिना । नन्वन्यैरेव कृतिभिश्चित्कर्म-
भिर्ज्ञानार्थमेव देहमुत्पाद्य तत्त्वज्ञानमुत्पाद्यता किमिति कर्मान्तरारब्धशरीरोपजीवनं ज्ञानोत्पादकानां तथाच
ज्ञानोत्पत्तौ देहनिवृत्तेर्न जीवन्मुक्तिरिति तत्राह—अन्यथेति । भवतु कर्मान्तरारब्धशरीरे फलजनकत्वमेषां
ततः किमिति तत्राह—तथाचेति । ननु भवतु ज्ञानोत्पादककर्मणा प्रारब्धकर्मपेक्षया दौर्बल्यं ज्ञानस्य तु
किमायातं येनोत्पन्नं ज्ञानं तानि न निवर्तयतीति तत्राह—तथाच तैरिति । उत्पद्यमानमेव तावत्वंशे
प्रतिबद्धशक्तिकं कारणवशादुत्पद्यतामिति भावः ।

यत्तु प्रारब्धकर्मणा निरुपादानतया स्थितिरेव नोत्पद्यते कुतः प्रतिबन्धकत्वमित्युक्तं तत् परिहरति—
नच कर्मणामिति । निरुपादानकत्वमसिद्धमित्यर्थः । ज्ञप्तावितरेतराश्रयं शङ्कते—नन्वेवमिति । नात्र
प्रारब्धकर्मभिरेवाविद्यालेशावंगति श्रुतिवशादपि शक्याधिगमत्वादिति परिहरति—मैवं भूयश्चेति ।
'तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति'रिति श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषदि श्रूयते । अत्र
च भूयोनिवृत्तिर्विश्वमायानिवृत्तिरिति प्रतीयते तत्र विश्वग्रहणेनानेकमायाकारप्रतीतिस्तेषां च क्रमेण निवृत्ति-
र्भूयोनिवृत्तिरिति पौनःपुन्यापरपर्यायक्रियासमभिहारमिधायिना भूयःशब्देनावगम्यते । अन्ते निवृत्तिरित्य-
नेन विदेहकैवल्यावस्थायां विलीयमानः कश्चिदाकारः प्रतीयते । अन्ते विश्वमायानिवृत्तिरिति च
पूर्वमशेषमायाऽनिवृत्तिरिति च प्रतीयते ।

अतएव 'क्षीयन्तेचास्ये'ति सामान्यश्रुतेः प्रारब्धकर्मव्यतिरिक्तकर्मनिवृत्तिपरत्वोपपत्तिः 'तस्य तावदेव चिर'मिति विदुषः प्रारब्धकर्मतत्कार्ययोरवस्थानाधिगमाच्च 'तद्धा विजज्ञा'विति विस्पष्टज्ञानोपजननस्याश्रयवत्प्रतिपादनात् परोक्षज्ञानविषयत्वानुपपत्तेरन्यथा श्रुतवाक्यस्य परोक्षज्ञानस्यावश्यंभावितया तत्प्रतिपादनवैयर्थ्यात् । 'नच ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन्' इति स्मृतिः परोक्षनिश्चयवत्तदभ्यसनशीलस्य प्रतिपादिका, दर्शनशब्देन साक्षात्कारस्यैव रूपादिदर्शनस्येवाभिधानात् । स्वात्मनि चापरोक्षे परोक्षज्ञानस्य विभ्रमत्वान् । नच सुखादिविषयपरकीयानुमानादिज्ञाने व्यभिचारः स्वापरोक्षस्य स्वपरोक्षज्ञानविषयत्वे विभ्रमत्वाङ्गीकारात् ।

नचाकारिनिवृत्तौ तदाकारावस्थानासंभवः, सामान्यविशेषघटितस्यापि वस्तुनो विशेषनिवृत्तौ सामान्याकारावस्थानस्य परीक्षकैरभ्युपगमात् । नच साधक एवावस्थाविशेषप्राप्तः स्थितप्रज्ञो गुणातीतश्च, 'प्रजहाति यदा काम'नित्याद्यभिहितविशेषणानां तत्रानुपपत्तेः । नहि सर्वकामानां विमोकः परमात्मसाक्षात्कारमन्तरेणोपपन्नः । 'रसवर्ज

तदेव प्रारब्धकर्मणा प्रमाणमार्गेण विदेहनिर्वाणावस्थानाधिगमात् 'क्षीयन्त'इति सामान्यश्रुति संकोचमर्हतीत्याह—अतएवेति । ननु 'तस्य तावदेवे'ति श्रुति परोक्षज्ञानविषयतया प्रत्याख्यातेति तत्राह—तद्धास्येति । तेन ह्याश्रयं द्योत्यत इत्यर्थः । ननु परोक्षज्ञानोत्पत्ताविदमोश्रयमस्तु श्रुते. भवति हि मूर्खेष्वनुपपद्यमान परोक्षज्ञानमपि बुद्धिमत्सूक्ष्ममानमाश्रयहेतुरिति. तत्राह—अन्यथेति । अधीतवेदो विदितपदतदर्थसंगतिक श्रवणेऽधिक्रियते नच तस्य परोक्षज्ञानसाधनोत्पत्तिराश्रयहेतुः प्रेत्युत्तानुत्पत्तौ गृह्येव स्यादिति भावः । स्मृतेरन्यथासिद्धि परिहरति—नच ज्ञानिन इति । किचापरोक्ष परोक्षज्ञानं विभ्रान्तमेव । नच परस्य परात्मानुमाने व्यभिचारः । स्वापरोक्षे स्वपरोक्षविज्ञानस्य विभ्रमत्वाव्यभिचारादित्याह—स्वात्मनिचेति । युत्वाकार्यविद्यानिवृत्तावाकारावस्थितिर्न संभवतीत्युक्तं तत्परिहरति—नचाकारीति । अनुवृत्तव्यावृत्तात्मकं हि समस्तं वस्तु भाट्टैरभिप्रेयते यथाहुः—'कार्यरूपेण नानात्वमभेदः कारणात्मना । हेमात्मन्यथाऽभेदः कुण्डलाद्यात्मना भिदे'ति तत्र यथा कटककेयूराद्याकारनाशेनाकारिनिवृत्तावप्याकारान्तरस्यानुवृत्तस्यानिवृत्तिस्तथेत्यर्थः ।

यदिचात्र तार्किको विप्रतिपद्येत तं प्रति सामान्यविशेषयोरत्यन्तभेदस्य समवायस्य च चिरातीतखण्डनस्मारणेन संमतिरनित्यया नचाकारादतिरिक्ताकार्यपि निरूपणसहिष्णु यन्निवृत्त्यास्यापि निवृत्तिरापाद्येत । ननु तथाप्यविद्याया कोयमाकार किमवयव किं वा तद्धर्मः । नोभयथापि । किं तर्हि अविद्यैवावस्थान्तरमापन्ना । विचित्रशक्तिर्ह्यविद्याऽतः प्रारब्धभोगकर्मतत्कारणमात्ररूपेण तिष्ठतीत्यभ्युपेयम् । किञ्च स्थितप्रज्ञत्वेन च गुणातीतत्वेन च जीवन्मुक्तमेव भगवद्गीताप्रतिपादयति न साधकं शमादिसम्पन्नमपि तस्यात्मसाक्षात्काराभावेन तत्प्रयुक्तसकलकामप्रहाणाभावादित्याह—नचेत्यादिना । साधकः फलायोपात्तशमादिसम्पन्नः । अवस्थाविशेषम् उपसर्जनीभूतमनोनाशवासनाक्षयाभ्यासशालित्वरूपम् । अन्तःकरणधर्माणां कामानां निवृत्ति प्रति विविक्तात्मसाक्षात्कार एव हेतुरित्येतदपि तत्रैव दर्शितमित्याह—रसेति । रसः कामः दृष्ट्वा साक्षात्कृत्य ।

रसोप्यस्य परं हृद्वा निवर्तते'इति स्मरणात्, 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृद्भिः श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत'इति श्रुतेश्च । तदेवं श्रुतिस्मृतिपुराणादिष्वानुष्ठेयमाणा जीवन्मुक्तिः प्रद्वेषमात्रेण नापलपितुं शक्यत इति सिद्धम् ॥ इति श्रीगौडेन्द्र-
राचार्यपरमहंसपरिव्राजकाचार्यज्ञानोत्तमपूज्यपादशिष्यश्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्री-
चित्सुखमुनिविरचितायां तत्त्वप्रदीपिकायां चतुर्थः परिच्छेदः ॥ ४ ॥

एतदेव श्रुतिरारण्यकी प्रकाशयतीत्याह—यदेति । फलितमाह—तदेवमिति । इति श्रीमत्परमहंसपरिव्रा-
जकाचार्यप्रत्यक्षप्रकाशपूज्यपादशिष्यस्य प्रत्यक्षस्वरूपभगवत कृतौ तत्त्वप्रदीपिकाटीकायां नयनप्रसादिन्यां
चतुर्थः परिच्छेदः ॥ ४ ॥

